

हिंदी नाटक और रंगमंच

(अ)

पंचम प्रश्न पत्र

विकल्प-द्वितीय

Paper-5

Option-2

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)

M.A. Hindi (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system
or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or
otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK - 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

भारत दुर्दशा

खण्ड 'क' आलोचना

1. भारतेन्दु और उनके युग का नाट्य-साहित्य	8
2. भारतेन्दु के नाटक : कलापक्ष	12
3. भारत-दुर्दशा : कथासार	17
4. भारत-दुर्दशा : कथानक	22
5. भारत-दुर्दशा : नायक	26
6. भारत-दुर्दशा : नाट्य रूप	29
7. भारत-दुर्दशा : भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों का समन्वय	31
8. भारत-दुर्दशा : यथार्थ बोध	34
9. भारत-दुर्दशा : युग-चित्रण	37
10. भारत-दुर्दशा : हास्य, व्यंग्य एवं करुणा	41
11. भारत-दुर्दशा : उद्देश्य/प्रतिपाद्य	46
12. भारत-दुर्दशा : राष्ट्रीयता	53
13. भारत-दुर्दशा : तात्त्विक समीक्षा	55
14. भारत-दुर्दशा : अभिनेयता	62
15. भारत-दुर्दशा : रंगमंचीयता	65
16. भारत-दुर्दशा : चरित्र-चित्रण	69

खण्ड 'ख' व्याख्या

73

अजातशत्रु

खण्ड 'क' आलोचना

1. जयशंकर प्रसाद: व्यक्तित्व एवं कृतित्व	98
2. अजातशत्रु: कथासार	101
3. अजातशत्रु: नाट्यकला	112
4. अजातशत्रु: संवाद योजना	118

5. अजातशत्रु: देशकाल और वातावरण	124
6. अजातशत्रु: अभिनेयता	128
7. अजातशत्रु: प्रतिपाद्य/उद्देश्य	133
8. अजातशत्रु: भाषा-शैली	142
9. अजातशत्रु: रस-योजना	148
10. अजातशत्रु: गीति योजना	152
11. अजातशत्रु: पात्र-योजना	159

खण्ड 'ख' व्याख्या	186
--------------------------	-----

लहरों के राजहंस

खण्ड 'क' आलोचना

1. मोहन राकेश : सामान्य परिचय	236
2. लहरों के राजहंस : वस्तु योजना	242
3. नामकरण की सार्थकता	249
4. प्रतीकात्मकता	253
5. काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता	258
6. प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन	263
7. उद्देश्य/प्रतिपाद्य	270
8. लहरों के राजहंस की आधुनिकता	275
9. अभिनेयता	281
10. रंगमंचीयता	284
11. भाषा-शैली	289
12. संवादीय संरचना	296
13. नंद का चरित्र-चित्रण	303
14. सुंदरी का चरित्र-चित्रण	308
15. श्यामोंग प्रसंग की अर्थकता	313

खण्ड 'ख' व्याख्या	318
--------------------------	-----

अंधायुग

खण्ड 'क' आलोचना

1. धर्मवीर भारती: व्यक्तित्व और कृतित्व	339
2. अन्धायुग की कथा-योजना	342
3. अन्धायुग की प्रवृत्तियाँ	347
4. अन्धायुग: काव्य-रूप	350
5. अन्धायुग में नाटकीयता एवं कवित्व का सामंजस्य या अन्धायुग का नाट्य-काव्य रूप	353
6. अन्धा-युग अभिनेयता	356
7. अन्धायुग के कृष्ण का चरित्र-चित्रण	359
8. अन्धायुग के अश्वत्थामा का चरित्र-चित्रण	364
9. अन्धायुग के युधिष्ठिर का चरित्र-चित्रण	366
10. अन्धायुग के धृतराष्ट्र का चरित्र-चित्रण	370
11. अन्धायुग की गांधारी का चरित्र-चित्रण	374
12. अन्धायुग के संजय का चरित्र-चित्रण	378
13. अन्धायुग के युयुत्सु का चरित्र-चित्रण	380
14. अन्धायुग के विदुर का चरित्र-चित्रण	384
15. अन्धायुग के कृपाचार्य का चरित्र-चित्रण	388
16. अन्धायुग का शिल्प-निधान	391
17. अन्धायुग की अलंकार योजना	394
18. अन्धायुग की प्रतीक-योजना	397
19. अन्धायुग की लय और तुक-योजना	400
20. अन्धायुग का संदेश	402
खण्ड 'ख' व्याख्या	404

एम०ए० हिंदी (उत्तराद्ध)

हिंदी नाटक और रंगमंच

प्रश्न-पत्र-पंचम

विकल्प-द्वितीय

समय: 3 घण्टे

पूर्णांक: 100

- नोट:**
1. प्रथम प्रश्न में से 'खण्ड क' में निर्धारित सभी छः नाट्य-कृतियों में से एक-एक व्याख्या पूछी जाएगी, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं तीन की सप्रसंग व्याख्या करनी होगी। प्रत्येक व्याख्या दस अंकों की होगी और पूरा प्रश्न तीस अंकों का होगा।
 2. खण्ड-क में निर्धारित किन्हीं चार नाट्यकृतियों पर चार आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जायेंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं दो प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न पन्द्रह अंकों का होगा।
 3. षष्ठ प्रश्न में 'खण्ड-ख द्रुत पाठ' से आठ लघूत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं पांच प्रश्नों के (लगभग 250 शब्दों में) उत्तर लिखने होंगे। प्रत्येक प्रश्न चार अंकों का होगा। पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।
 4. सप्तम प्रश्न 'खण्ड ख' के 'पाठ्य विषय' पर आधारित होगा। इसमें दस अति लघूत्तरी अनिवार्य प्रश्न पूछे जाएंगे। परीक्षार्थियों को सभी प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लगभग पचास शब्दों में होना चाहिए। प्रत्येक प्रश्न दो अंकों का होगा, पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।

पाठ्य ग्रंथ

1. भारत दुर्दशा-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
2. अजातशत्रु-जयशंकर प्रसाद
3. लहरों के राजहंस-मोहन राकेश
4. अंधायुग-धर्मवीर भारती

अजातशत्रु

जयशंकर प्रसाद

खण्ड-क

आलोचना

1. जयशंकर प्रसाद : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
2. अजातशत्रु : कथासार
3. अजातशत्रु : नाट्यकला
4. अजातशत्रु : संवाद योजना
5. अजातशत्रु : देशकाल और वातावरण
6. अजातशत्रु : अभिनेयता
7. अजातशत्रु : प्रतिपाद्य/उद्देश्य
8. अजातशत्रु : भाषा-शैली
9. अजातशत्रु : रस-योजना
10. अजातशत्रु : गीति योजना
11. अजातशत्रु : पात्र-योजना
 - पुरुष पात्र (i) अजातशत्रु
 - (ii) बिंबसार
 - (iii) विरुद्धक
 - नारी पात्र (i) मल्लिका
 - (ii) वासवी
 - (iii) छलना
 - (iv) आम्रपाली/मागंधी/श्यामा

खण्ड-ख

व्याख्या

1. जयशंकर प्रसाद : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

हिन्दी-साहित्य में छायावाद के कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का समय उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक तक का है। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है।

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न जयशंकर प्रसाद का जन्म माघ शुक्ल दशमी संवत् 1946 (सन् 1889) को काशी के एक सम्पन्न और यशस्वी घराने में हुआ था। कहा जाता है कि उनके पूर्वज मूलतः कन्नौज के थे। कन्नौज से सत्रहवीं शताब्दी में वे जौनपुर आकर बस गये थे। उसी कुल की एक शाखा अठारहवीं सदी के अंत में काशी जाकर बस गई थी और वहीं उन्होंने तम्बाकू का व्यापार सम्भाल लिया था। उनके इस व्यापार की प्रगति के कारण ही उनकी कीर्ति 'सुँघनी साहू' के रूप में चारों ओर फैल गई और काशी-नरेश के बाद नगर में उन्हीं का रुतबा था। सुँघनी के अलावा तम्बाकू की अन्यान्य किस्मों में भी वे लगातार नई-नई चीजें बनाते रहते थे, जिनका कहीं कोई सानी नहीं था। इस मामले में लगता था कि उन्होंने तम्बाखू के व्यवसाय को एक ललित कला के दर्जे तक पहुँचा दिया है। यह परिवार अपने विद्याप्रेम और दानवीरता के लिए विख्यात था, अतः विद्वानों, कवियों, संगीतज्ञों, पहलवानों, वैद्यों और ज्योतिषियों का वहाँ प्रतिदिन जमघट लगा रहता था। पश्चिमोत्तर सीमा के पठानों और चाकू बेचने वाली खानाबदोश बलूची स्त्रियों से लेकर नेपाल और भूटान के कस्तूरीफरोशों तक, महापंडितों से लेकर जादू-टोने वालों तक, दार्शनिक से लेकर नीम-हकीमों तक, साधु-संतों से लेकर तरह-तरह के पाखंडियों तक - मनुष्य का शायद ही कोई रूप, कोई नमूना हो जो उस रंगमंच पर न आया हो। ऐसे में एक संवेदनशील बालक के चित्त पर जीवन-लीला का यह विपुल और रंगारंग वैविध्य अंकित होता चला गया तो यह स्वाभाविक ही था।

इनका समस्त परिवार शैवमतावलम्बी था, इसलिए इनके परिवार में शैवमत के सिद्धांतों पर प्रायः विचार-गोष्ठियां हुआ करती थी। यही कारण है कि आगे चलकर प्रसाद जी शैव-दर्शन से प्रभावित हुए। पंडितों की नगरी काशी में रहते हुए शास्त्रीय चर्चाओं की बारीकियों का प्रभाव उन पर भला कैसे नहीं पड़ता। प्रसाद जी के दादा और पिताजी दोनों इन पांडित्यपूर्ण वाद-विवाद में स्वयं भाग लेते थे, संस्कृत और तर्कशास्त्र में उनकी गति थी। किंतु उनकी सहज व्यावहारिक बुद्धि इस मस्तिष्क-व्यायाम से कहीं अधिक ध्यान अपने शारीरिक-स्वास्थ्य पर देती है। प्रसाद जी के चाचा आदि सभी पहलवान थे। उनके पिता पर ही उतने बड़े कारोबार और पूरे परिवार को संभालने का उत्तरदायित्व था। एक ओर यह वैभव-विलास तथा दूसरी ओर एक अकेले आदमी के भरोसे सारा कारोबार छोड़कर शेष भाइयों की गैर-जिम्मेदार मस्ती, परिणाम में धीरे-धीरे व्यापार ढीला पड़ता गया। किंतु पिता के जीवन-काल में किसी को इस बारे में चिंता की जरूरत महसूस नहीं हुई।

पिताजी की मृत्यु के समय प्रसाद जी की उम्र केवल ग्यारह वर्ष की थी। घर संभालने की जिम्मेदारी अब उनके बड़े भाई शम्भूरत्न के कंधों पर थी। शम्भूरत्न एक अत्यन्त उदार और विशाल-हृदय व्यक्ति थे। किंतु उनमें अपने पिता जैसी व्यापार-कुशलता नहीं थी और इस कारण पैतृक व्यवसाय को एक के बाद एक धक्के लगते गये। कर्ज सिर पर चढ़ता गया मगर रहन-सहन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और अतिथि-सत्कार पर परम्परा भी यथावत् बनी रही। कुछ ही सालों के भीतर बड़े भाई का सहारा भी सिर से उठ गया और सोलह वर्षीय प्रसाद पर समस्याओं का एक पूरा पहाड़ आ टूटा। आर्थिक

दृष्टि से पूरी तरह जर्जर हो चुके एक संस्कारी कुल-परिवार के लुप्त गौरव की रक्षा और पुनरुद्धार की चुनौती तो मुँह बाए खड़ी ही थी, उस पर अन्तहीन मुकदमेबाजी, भारी कर्ज का बोझ, रहे-सहे को भी मिट्टी में मिला देने को तुले हुए स्वार्थान्ध और षडयंत्रकारी रिश्तेदार, तथाकथित मित्रों-शुभचिन्तकों की खोखली सहानुभूति का असह्य व्यंग... सब कुछ विपरीत-ही-विपरीत था। ऐसे में शिक्षा का क्रम तो टूटना ही था। बड़े भाई के दुलार-भरे संरक्षण में और उर्दू-हिन्दी-ब्रज भाषा के काव्य-प्रेमियों की संगत में जो स्वप्न धीरे-धीरे इस किशोर कवि के भीतर पनप रहा था वह स्वप्न था वाग्देवी को अपना समूचना जीवन अर्पित कर देने का, और यहाँ भाग्य ने जैसे इसका उल्टा ही सरंजाम कर रखा था। सोलह वर्ष के सुकुमार कवि को दुनियादारी का कठोरतम पाठ पढ़ाने का। कोई और होता तो अपनी सारी प्रतिभा को लेकर इस बोझ के नीचे चकनाचूर हो गया होता। मगर प्रसाद का अन्तरंग काँच का नहीं, हीरे का बना हुआ था। परिस्थिति से मौलिक प्रतिशोध लेते हुए उन्होंने कुछ ही वर्षों के अन्दर न केवल अपने कुटुम्ब की माली हालत सुदृढ़ कर ली बल्कि अपनी मानसिक सम्पत्ति को भी - अपनी बौद्धिक और भावनात्मक कमाई को भी - इस सारे वात्यायक से अक्षत उबार लिया। व्यवस्था भी उतनी ही सम्हाली और अपनी रचनात्मक प्रतिभा के भले ही कुछ मन्थर-विलम्बित, किन्तु निरन्तर और अचूक विकास-कर्म से उन्होंने साहित्य-जगत को विस्मय में डाल दिया। धीरे-धीरे लगभग नामालूम ढंग से उनकी रचनाएँ साहित्य के वातावरण में गहरे मिटती गईं और क्या कविता, क्या कहानी, क्या नाटक, हर क्षेत्र में खमीर की तरह रूपान्तरकारी सिद्ध होती चली गईं। साहित्यिक दलबन्दी, द्रोहपूर्ण आलोचना, षडयन्त्रपूर्ण चुप्पी - कुछ भी इस प्रतिभा को आगे बढ़ने से नहीं रोक सके। इसका कारण यही था कि इन रचनाओं में भी वही तेजस्विता, वही अनिवार्य मोहिनी-शक्ति थी जो कि उन रचनाओं के स्रोत प्रसाद के व्यक्तित्व में थी।

प्रसाद जी ने तीन विवाह किए थे। प्रथम पत्नी का क्षय रोग से तथा द्वितीय का प्रसूति के समय देहावसान हो गया था। तीसरी पत्नी से इन्हें रत्न शंकर नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। जीवन के अन्तिम दिनों में प्रसाद जी उदर रोग से ग्रस्त हो गए थे तथा इसी रोग ने कार्तिक शुक्ला देवोत्थान एकादशी, विक्रम संवत् 1994 को इस बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति का देहावसान हो गया।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रसाद जी की बहुमुखी देन है। उन्होंने उपन्यास, काव्य, नाटक, कहानी, निबंध, चम्पू आदि सभी विधाओं पर सशक्त रूप से लेखनी चलाई है। लेकिन फिर भी उनकी अमर कीर्ति का आधार स्तंभ काव्य और नाटक ही हैं। इनके उज्ज्वल व्यक्तित्व के अनुसार इनका रचना संसार अत्यंत विस्तृत और बहुआयामी है। इन्होंने नौ वर्ष की अल्पायु में ही 'कलाधार' उपनाम से ब्रजभाषा में रचना प्रारम्भ कर दी थी।

प्रसाद जी का रचना-साहित्य इस प्रकार है -

(क) **काव्य:** प्रसाद ने अपनी काव्य धारा को द्विवेदी कालीन इतिव तात्मकता निकालकर नवीनता की ओर प्रेरित किया, सुन्दर काल्पनिक विलान के नीचे छायावादी और रहस्यवादी काव्य का स्वरूप उपस्थित करने में ये सिद्धहस्त रहे हैं। इनकी इसी विचारधारा ने आगे चलकर निराला, पंत, महादेवी जैसे कलाकारों को जन्म दिया। यह कहना उचित होगा कि प्रसाद ने अपनी प्रतिभा के बल पर भाव, भाषा, शैली, छन्द, विषय आदि को छायावादी और रहस्यवादी परिवेश प्रदान किया। प्रसाद जी काव्य और कविता-संग्रह निम्नलिखित हैं:-

(i) कामायनी (ii) आँसू (iii) झरना (iv) लहर (v) महाराणा का महत्त्व (vi) प्रेम पथिक (vii) कानन कुसुम (viii) चित्राधार (ix) करुणालय।

(ख) **नाटक:** हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग नाटकों का प्रयोग काल था। इस काल में अनुवाद, रूपान्तर और मौलिक नाटकों की जो परम्परा मिली, उसका द्विवेदी युग में यथेष्ट विकास नहीं हो पाया। इसमें अंग्रेजी तथा बंगला से कुछ नाटकों के अनुवाद अवश्य हुए किन्तु उनमें नवीन नाट्यविधान की धूमिल रेखाएँ ही सामने आईं। पारसी रंगमंच के अधिक

प्रभाव के कारण उत्कृष्ट मौलिक रचनाओं की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। स्वयं भारतेन्दु द्वारा निर्मित रंगमंच का प्रभाव भी इसी पारसी रंगमंच की तड़क-भड़क के प्रभाव में निष्प्राण हो गया। इस विषय परिस्थित में प्रसाद जी नाट्य क्षेत्र में अवतरित हुए। इन्होंने काव्य-कला के साथ-साथ नाट्य कला को परिभाषित कर साहित्यिक जगत को चमत्कृत कर दिया। प्रसाद के नाटक निम्नलिखित हैं-

(i) राज्यश्री (ii) विशाख (iii) अजातशत्रु (iv) जनमेजय का नाग यज्ञ (v) कामना (vi) स्कन्दगुप्त (vii) एक घूंट (viii) चन्द्रगुप्त (ix) ध्रुवस्वामिनी (x) कल्याणी-परिणय (xi) सज्जन।

(ग) **उपन्यास:** प्रसाद ने उपन्यासों की रचना भी की है। काव्य के क्षेत्र में जहां वे आदर्श और भावुक बनकर हमारे सामने आए तथा नाटक के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के आराधक के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हुए, वहीं वे उपन्यासों में आधुनिक समस्याओं के प्रति सजग और जागरुक दिखाई पड़ते हैं। प्रसाद जी के उपन्यास निम्नलिखित हैं-

(i) कंकाल (ii) तितली (iii) इरावती (इसे वे पूरा नहीं कर पाए, क्योंकि इसके प्रणयन में संलग्न रहते हुए वे अकाल काल-कवलित हो गए।)

(घ) **कहानी:** कहानी के क्षेत्र में प्रसाद जी का स्थान गौरवपूर्ण रहा है। जब हिन्दी कहानी-कला अपने शैशव काल में ही थी, तब प्रसाद जी की कहानी "इन्दु" नाटक पत्रिका में प्रकाशित हुई। उसकी कहानी अपनी मौलिकता के कारण उस समय की श्रेष्ठतम कहानियों में गिनी गई। इसके बाद प्रसाद जी ने अनेक कहानियों की रचना की। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि हिन्दी की सर्वोत्तम कहानियों का कोई संग्रह प्रकाशित किया जाए तो उसमें पचास प्रतिशत कहानियां प्रसाद की होंगी। प्रसाद जी के कहानी संग्रहों के नाम निम्नलिखित हैं-

(i) आकाशदीप (ii) इन्द्रजाल (iii) प्रतिध्वनि (iv) आँधी (v) छाया।

(ङ) **निबन्ध और आलोचना:** प्रसाद ने यद्यपि किसी विशाल आलोचनात्मक ग्रंथ की रचना नहीं की, तथापि उनके आलोचनात्मक निबन्ध ही उनकी गवेषणात्मक, प्रज्ञा, विश्लेषण, मनीषा और विचाराभिव्यक्ति के परिवाचक हैं।

काव्य कला तथा अन्य निबन्ध में इनके आलोचनात्मक निबन्ध संग्रहीत हैं।

(च) **चम्पू:** प्रसाद ने चम्पू काव्य की भी रचना की है। इनकी इस प्रकार की रचना का नाम है- "उर्वशी"। इसके साथ ही इन्होंने एक काव्य कहानी भी लिखी है जो "प्रेम राज्य" के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रसाद जी की रचनाओं के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उन्होंने तत्कालीन युग में प्रचलित गद्य एवं पद्य साहित्य की समस्त विद्याओं में लिखा तथा साहित्य के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह चिरन्तन एवं विश्वसनीय सत्य है कि प्रत्येक साहित्यकार को अपने जीवन में विभीषिकाओं का हलाहल पान करना पड़ता है। ये विभीषिकाएं ही साधक की साहित्य साधना का केन्द्र बिन्दु बनती हैं। प्रसाद भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके महान व्यक्तित्व के आनन्दमय वातावरण को देखकर कोई भी यह कल्पना नहीं कर सकता था कि वे क्षय रोगी होंगे और यह रोग ही उनके जीवन का अंत कर देगा।

निष्कर्षतः प्रसाद जी का नाट्य-लेखन के क्षेत्र में सर्वोपरि स्थान है और उनका सम्पूर्ण कृतित्व हिन्दी-साहित्य की अमूल निधि है।

2. अजातशत्रु : कथासार

‘अजातशत्रु’ जयशंकर प्रसाद द्वारा 1922 में रचित ऐतिहासिक नाट्यक ति है। प्रस्तुत नाटक को तीन अंकों में विभाजित किया गया है। इसकी कथावस्तु तीन राज्यों के पात्रों से संबंधित है; यथा- मगध, कोशल एवं कौशाम्बी। इन तीनों राज्यों से संबंधित पात्रों का नामोल्लेख इस प्रकार है-

मगध राज्य

बिंबसार	:	सम्राट
अजातशत्रु (कुणीक)	:	राजकुमार
पद्मावती	:	राजकुमारी
वासवी	:	बड़ी रानी
छलना (चेल्लना)	:	छोटी रानी + राजमाता
जीवक	:	राजवैद्य

कोशल राज्य

प्रसेनजित	:	सम्राट
विरुद्धक (शैलेन्द्र डाकू)	:	राजकुमार
बाजिरा	:	राजकुमारी
शक्तिमती (महामाया)	:	रानी (दासी पुत्री, शाक्यकुमारी)
बंधुल	:	सेनापति
मल्लिका	:	सेनापति बंधुल की पत्नी
सुदत्त	:	कोषाध्यक्ष
दीर्घकारायण	:	सेनापति बंधुल का भांजा

कोशाम्बी राज्य

उदयन	:	सम्राट (मगध सम्राट का जमाता)
पद्मावती	:	मगध की राजकुमारी (सम्राट उदयन की रानी)
वासवदत्ता	:	उज्जयिनी की राजकुमारी (सम्राट उदयन की रानी)
मागंधी (श्यामा)	:	आम्रपाली (सम्राट उदयन की रानी)
वसंतक	:	सभा का विदूषक

प्रस्तुत नाटक के अन्य पात्र एवं उनसे संबंधित सूचनाएँ-

गौतम	:	बुद्धदेव
आनंद	:	गौतम का शिष्य
देवदत्त	:	भिक्षु (गौतम का प्रतिद्वंदी)
समुद्रदत्त	:	देवदत्त का शिष्य
मागंधी (श्यामा)	:	शैलेन्द्र पर आशक्त

समुद्रदत्त : मागंधी (श्यामा) पर आशक्त
बाजिरा : अजातशत्रु पर आशक्त एवं अन्ततः प्रणय
सूत्र में बंधना

आलोच्य नाटक की कथावस्तु के तीनों अंकों का क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है-

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य: अजातशत्रु लुब्धक नामक शिकारी को डाँट रहा है क्योंकि वह राजकुमार के चित्रक के लिए एक म गशावक को पकड़कर नहीं लाता। अजातशत्रु अपने सेवक समुद्रदत्त से लुब्धक की चमड़ी उधेड़ने के लिए कोड़ा मंगवाता है किन्तु दाह क्षण समुद्रदत्त की सौतेली बहन पद्मावती उसके कोड़े को पकड़ते हुए कहती है कि मैंने ही लुब्धक से म गशावक लाने के लिए मना किया था। अजातशत्रु क्रोधित मुद्रा में अपनी बहन से कहता है कि तुम अनुचरों को मेरा अपमान करना सिखा रही हो। प्रत्युत्तर में पद्मावती कहती है कि मैं तुम्हें हिंसक कार्यों से बचाना चाहती हूँ। तभी अजातशत्रु की माँ छलना पदार्पण करते हुए पद्मावती से कहती है कि तुम अजातशत्रु को साधु-संतों का पाठ पढ़ाकर डरपोक बनाना चाहती हो। अपनी सौतेली माँ की कटूवक्ति का उत्तर देते हुए पद्मावती कहती है-

“माँ, क्या कठोर और क्रूर हाथों से ही राज्य सुशासित होता है? ऐसा विष-वक्ष लगाना क्या ठीक होगा? अभी कुणीक किशोर है, यही समय सुशिक्षा का है। बच्चों का हृदय कोमल थाला है, चाहे इसमें कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूलों के पौधे।”

यह सब सुनकर छलना पद्मावती का बहुत अपमान करती है। पद्मावती की माँ वासवी प्रवेश करती है और अजातशत्रु से प्रेम, दुलार करती है लेकिन छलना उसका तिरस्कार करते हुए कहती है कि मैं राजमाता हूँ, अतः कुणीक को शिक्षा देने का मुझे पूर्ण अधिकार है। वह कुणीक को वासवी के महल में जाने से भी मना कर सती है। माँ-बेटी से यह अपमान सहन नहीं होता और वे वहाँ से चल पड़ती हैं लेकिन जाते-जाते छलना को सावधान करते हुए कह जाती है कि- “यह असत्-गर्व मानव समाज का बड़ा भारी शत्रु है।”

द्वितीय दृश्य: महाराज बिंबसार अकेले बैठे हुए मानव जीवन की क्षणभंगुरता के विषय में विचार कर रहे हैं। उसी क्षण छलना प्रवेश करते हुए क्रोधमय वाणी में अपने प्रति बिंबसार से कहती है कि बड़ी रानी ने मेरा अपमान किया है और साथ ही वह कुणीक का भी बुरा ही चाहती है। बिंबसार कहता है कि वासवी पर तुम्हारा यह आरोप अन्यायपूर्ण है। पद्मावती भी तुम्हारे वैर-विरोध के कारण ही चली गई है, अतः अब तुम इस उत्पात को समाप्त कर दो। छलना कहती है कि- “मैं उत्पाद रोकना चाहती हूँ। आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।” तभी वासवी प्रवेश करती है और छलना के आग्रह का समर्थन भी करती है। गौतम का प्रवेश होते ही छलना गौतम से जाने की अनुमति मांगती है, किन्तु गौतम कहते हैं कि तुम्हारे पति और देश के सम्राट के होते हुए मैं आज्ञा कैसे दे सकता हूँ। बिंबसार छलना को जाने की आज्ञा देते हुए मैं आज्ञा कैसे दे सकता हूँ। बिंबसार छलना को जाने की आज्ञा देते हुए कहता है कि कुणीक को अपने साथ मत ले जाना क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है। छलना क्रोधित मुद्रा में चली जाती है, गौतम राजा को समझाते हैं कि तुम आज ही कुमार को युवराज बनाकर इस भीषण भोग से दूर हो जाओ। बिंबसार गौतम के इस आग्रह को स्वीकार कर लेता है। उसी समय वासवी भी अपने नारी-धर्म का पालन करते हुए कहती है-

**“भगवन्! हम लोगों के लिए एक छोटा-सा उपवन पर्याप्त है।
मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूंगी।**

त तीय द श्यः देवदत्त और उसका शिष्य समुद्रगुप्त पथ में वार्तालाप करते हुए चल रहे हैं। देवदत्त अपना वक्तव्य रखते हुए कहता है कि मेरे प्रयास करने पर ही रानी छलना ने बिंबसार को सिंहासनच्युत करवाया है। देवदत्त ऋषि गौतम की भर्त्सना करते हुए कहता है- “यह गौतम बड़ा ही कपट-मुनि है। देखते नहीं यह कितना प्रभावशाली होता जा रहा है।” वह गौतम के प्रभाव को दूर करने के उद्देश्य से बिंबसार को मगध राज्य से दूर करने के विषय में कह रहा है कि तभी राजवैद्य जीवक प्रवेश करते हैं। जीवक देवदत्त से पूछते हैं कि- “संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं?” देवदत्त जीवक को पुरानी मंडली का गुप्तचर बताते हुए समुद्रदत्त से कहता है कि यह विद्रोही है, इसका मुख बंद करवा देना चाहिये। जीवक निडरतापूर्वक उन्हें चेतावनी देते हुए कहता है कि वह दिन दूर नहीं जब तुम्हारे जैसे व्यक्तियों के कारण मगध का पतन हो जाएगा।

चतुर्थ द श्यः उपवन के अन्तर्गत महाराज बिंबसार और वासवी वार्तालाप करते हुए इस तथ्य पर दुःख व्यक्त करते हैं कि अजातशत्रु के द्वार से भिक्षुक खाली हाथ लौट जाते हैं। वासवी कहती है कि मेरे पिताजी ने काशी का जो राज्य भेंट स्वरूप प्रदान किया था उसकी आय पर मेरा ही हक है, उसी आय को लेकर हम भिक्षुओं में दान कर सकते हैं। तभी जीवक प्रवेश करता है और महाराज से कहता है कि “निष्ठुर देवदत्त के कुचक्र से महाराज के जीवन की रक्षा होनी चाहिये।” गौतम की प्रतिष्ठा ने देवदत्त को अंधा कर दिया है, वह अपने स्वार्थ में लिप्त होकर विक त मार्ग को अपना चुका है। मगध राज्य के विनाश की इच्छा वह तब तक पूर्ण नहीं कर सकता जब तक आप जीवित रहकर गौतम का मान-सम्मान बढ़ाते रहेंगे और उसकी सहायता करते रहेंगे। महारानी वासवी जीवक को कार्यभार सौंपते हुए कहती है- “महाराज को अब स्वतंत्र व ति की आवश्यकता है, अतः काशी प्रांत का राजस्व, जो हमारा प्राप्य है, लाने का उद्योग करना होगा। मगध-साम्राज्य से हम लोग किसी प्रकार का संबंध न रखेंगे।” जीवक उनकी सहायता के लिए कौशांबी में प्रस्थान करता है।

पंचम अंकः कौशांबी के राजमहल में मागंधी (श्यामा) सोच रही है कि मैं इतनी रूपवान हूँ किन्तु फिर भी गौतम ने मुझसे विवाह करना अस्वीकार करके मेरे इस रूप-यौवन का अपमान किया है। अब मेरा विवाह कौशांबी नरेश उदयन से हो चुका है लेकिन मैं दरिद्र-कन्या होने के अपमान की यंत्रणा में पिस रही हूँ। वह आक्रोश में कहती है कि- “उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय की रानी हूँ। दिखला दूंगी कि स्त्रियां क्या कर सकती हैं।” मागंधी द्वारा गौतम के विषय में पूछने पर दासी बताती है कि वे रानी पद्मावती के महल में घंटों बैठकर उपदेश देते हैं, जिसे राजा उदयन भी सुनते हैं। दासी नवीना रानी मागंधी के महल में महाराज को बुलाने चली जाती है। राजा उदयन आकर बताते हैं कि महात्मा गांधी के उपदेश सुनने के कारण ही मैं आपके पास नहीं आ सका। वे पद्मावती के महल में उपदेश देते हैं, महादेवी वासवदत्ता भी वहीं नित्य आती थी। यह सुनकर मागंधी पद्मावती और गौतम के प्रति ईर्ष्या-भाव प्रदर्शित करते हुए व्यंग्यमयी भाषा में कहती है- “कौशांबी इस पाखंड से बची रहे, तो बड़ा उत्तम हो। स्त्रियों के मंदिर (राजमहल) में उपदेश क्यों हो- क्या उन्हें पतिव्रत छोड़कर किसी और भी धर्म की आवश्यकता है?” राजा उदयन रानी के आक्षेप को सुनकर क्रोधित हो जाते हैं लेकिन मागंधी उन्हें शराब पिलाकर मना लेती है। वह एक षडयंत्र भी रचती है- पद्मावती के महल से ‘हस्तिस्कंध’ नामक वीणा मंगवाती है लेकिन उसमें एक सर्प का बच्चा भी रखवा देती है। जब उदयन वीणा को उठाते हैं तो उसमें से वह सर्प का बच्चा निकलता है। यह देखकर उदयन क्रोधित हो जाते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि पद्मावती मुझे मारना चाहती है।

षष्ठ अंकः कौशांबी के पथ पर जाते हुए जीवक के स्वगत कथन से स्पष्ट होता है कि राजा उदयन अपनी पत्नी पद्मावती से रूठ है, इसी कारण वह जीवक से भी अच्छे ढंग से बात नहीं कर पाए। पद्मावती का संदेश लेकर दासी जीवक के पास आकर कहती है कि रानी ने कहा है- आप मेरी चिंता मत कीजिए, माता और पिता की देखभाल अब तुम्हारे ही हाथ है, अतः शीघ्र ही मगध के लिए प्रस्थान करें। उचित अवसर आने पर पिताजी के श्रीचरणों के दर्शन भी करूंगी। महाराज उदयन

मुझसे इसीलिए रुष्ट हैं 'क्योंकि नयी रानी ने मेरे विरुद्ध कान भर दिये हैं।' यही कारण है कि मैं पिताजी के पास आने में असमर्थ हूँ। मार्ग में जीवक की गौतम से भेंट हो जाती है। वह गौतम को बताता है कि "मगध-राजकुल में बड़ी अशांति है। वानप्रस्थ-आश्रम में भी महाराज बिंबसार को चैन नहीं है।" गौतम के जाने पर उदयन की सभा का विदूषक बसंतक जीवक से मिलने पर रानी पद्मावती के विषय में कहता है- "बड़ी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा भगिनी की तरह प्यार करती है। उनका कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा। उसकी ओर से आप निश्चिंत रहें।" इसके पश्चात जीवक कौशल चला जाता है।

सप्तम दृश्य: कौशल का कोषाध्यक्ष सुदत्त राजा प्रसेनजित की राजसभा में आकर सूचना देता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबसार को सिंहासन से उतारकर उनका तिरस्कार किया है और स्वयं राजसिंहासन पर आसीन हो गया है। इस घटना का समर्थन करते हुए प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक अपने पिता के समक्ष कहता है कि "युवराज को राज्य संचालन की शिक्षा देना महाराज का ही कर्तव्य है।" विरुद्धक अपने भी इसी प्रकार के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहता है- "पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार मांगे तो, तो उसमें दोष ही क्या?" पुत्र के ये कथन सुनकर वे क्रोधित हो जाते हैं और उसे धिक्कारते हुए कहते हैं- "यह विद्रोही युवक हृदय - जो नीच रक्त से कलूषित है - युवराज होने के योग्य है?" विरुद्धक जैसी संतान ही अपने माता-पिता का वध करती है। प्रसेनजित अपने पुत्र विरुद्धक को राजपद से वंचित कर देता है तथा उसे व उसकी माँ को केवल जीविका-निर्वाह के लिए राजकोष से व्यय देना निर्धारित कर देता है।

कौशांबी से लौटते हुए जीवक कौशल-नरेश की राजसभा में भी आता है। महाराज मगध की घटना से पहले ही अवगत थे, अतः मंत्री को आदेश देते हैं कि काशी की प्रजा के नाम एक पत्र लिखो कि वह अजातशत्रु को राज-कर न देकर वासवी को ही अपना कर दान करें, क्योंकि काशी का प्रांत वासवी को मिला है, सपत्नि-पुत्र (अजातशत्रु) का इस पर कोई अधिकार नहीं है।

कौशल-नरेश का सेनापति बंधुल आकर उन्हें यह सूचना देता है कि लिच्छवियों को परास्त कर दिया गया है, यह सब आपके ही श्रीचरणों का प्रताप है। अब वे विद्रोह करने का नाम भी नहीं लेंगे।

अष्टम दृश्य: प्रस्तुत दृश्य के आरम्भ में विरुद्धक के स्वागत कथन के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि वह कभी मल्लिका से प्रेम करता था, लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली और मल्लिका का विवाह सेनापति बंधुल से हो जाता है। उसकी माँ शक्तिमति उसे उत्तेजित करते हुए कहती है कि- 'दासी की पुत्री होकर भी मैं राजरानी बनी और हठ से मैंने इस पद को ग्रहण किया, और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक हो- मैंने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था। ... मल्लिका तो क्या, राजलक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लौटेगी। पुरुषार्थ करो! इस पृथ्वी पर जियो तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं।' विरुद्धक भी अपनी माँ के समक्ष प्रतिज्ञा करता है- "बस माँ अब कुछ न कहो आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और मेरे जीवन का लक्ष्य होगा। माँ मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूंगा और उनके रक्त से नहाकर इस कौशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वंदना करूंगा। आशीर्वाद दो कि इस क्रूर परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँ।"

नवम दृश्य: रानी पद्मावती अपने महल में बैठी सोच रही है कि स्वामी भी मुझसे असंतुष्ट हैं। वह राजमार्ग पर जाते हुए गौतम को खिड़की से देखने लगती है कि तभी पीछे से उदयन प्रवेश करते हैं। वे क्रोधित होकर पद्मावती से कहते हैं- "पीपीयसी, देख ले यह तेरे हृदय का विष है - तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह झरोखा बना है।" पद्मावती चौंककर खड़ी हो जाती है और हाथ जोड़कर कहती है कि वे तो विष के स्थान पर अमृत हैं। जिस गौतम ने सौन्दर्य की मूर्ति मांगंधी को त्याग दिया था, वे भला हमारे जैसे मांसपिण्डों को कैसे अपना सकते हैं। उदयन उस पर आक्षेप लगाते हैं कि तूने मुझे मारने के लिए वीणा में सर्प छिपाकर भेजा था। तेरी छलना का दांव मुझ पर

नहीं चला लेकिन अब तेरा अंत निश्चित है। पद्मावती स्वयं को कौशांबी की राजभक्त प्रजा बताते हुए दंड स्वीकार करने को प्रस्तुत हो जाती है कि तभी वहां वासवदत्त आकर यह रहस्योद्घाटन करती है कि वीणा में सर्प स्वयं मांगंधी ने ही रखवाया था। वासवदत्त प्रमाण हेतु दासी द्वारा मांगंधी को बुलाने के लिए भेजती है लेकिन मांगंधी ने दासी नवीना और महल को आग लगा दी क्योंकि वह महाराज का सामना नहीं करना चाहती थी। यह सब जानकर महाराज उदयन रानी पद्मावती से क्षमा मांगता है।

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य: मगध ही राजसभा में अजातशत्रु को समुद्रदत्त के द्वारा यह सूचना मिलती है कि काशी के नागरिक आपको राजकर नहीं देना चाहते क्योंकि वे कहते हैं कि “हम लोग उस अत्याचारी राजा को कर न देंगे जो अधर्म के बल से पिता के जीते जी सिंहासन छीनकर बैठ गया है। और, जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता- उनके दुःखों को नहीं सुनता तथा...” यह सुनकर अजातशत्रु सोचता है कि यह काशी के नागरिकों की आवाज नहीं हो सकती बल्कि उसके पीछे माता वासवी का हाथ है। तभी सभा में देवदत्त प्रवेश करता है, अजातशत्रु काशी के विद्रोह वाली बात इनको बता देता है। प्रत्युत्तर में देवदत्त ने गौतम पर आक्षेप लगाते हुए कहा कि काशी का यह विद्रोह पाखंडी देवदत्त के कारण ही हो रहा है क्योंकि आजकल वह कौशल में ही घूम रहा है। देवदत्त की प्रेरणा से राज-परिषद की बैठक बुलाकर उसमें बड़ी चतुरता से यह तथ्य प्रस्तुत किया जाता है कि मगध के प्रत्येक नागरिक को राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये। वह जनता के समक्ष निम्नलिखित तर्क देकर काशी पर आक्रमण करने की स्वीकृति भी प्राप्त कर लेता है- “क्या ऐसे सुरम्य और धनी प्रदेश को मगध छोड़ देने के लिए प्रस्तुत है? क्या इसी तरह फिर और प्रदेश भी स्वतंत्र होने की चेष्टा न करेंगे? क्या इसी में राष्ट्र का कल्याण है।” देवदत्त की इस व्यवस्था को भी स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है कि अजातशत्रु सेनापति के रूप में काशी पर आक्रमण करेगा, समुद्रदत्त गुप्त प्रणिधि के रूप में काशी की प्रजा को मगध के अनुकूल करेगा और महारानी चलना राज-काज को संभालेगी। देवदत्त और समुद्रदत्त परिषद से यह भी स्वीकृति ले लेते हैं कि महाराज बिंबसार पर कड़ी निगरानी रखी जाए। इसी के साथ दृश्य की समाप्ति हो जाती है।

द्वितीय दृश्य: मार्ग में जाते हुए कौशल के सेनापति बंधुल के स्वगत कथन के माध्यम से यह सूचना मिलती है कि उसे सामंत बनाकर काशी भेजा जा रहा है ताकि मगध काशी पर अधिकार न कर सके। कौशल राजकुमार विरुद्धक सेनापति बंधुल से अकेले में मिलता है। विरुद्धक अपने आपको तिरस्कृत राज-संतान कहता है लेकिन बंधुल उससे कहता है कि तुम्हारे सम्राट ने राज्य से निर्वासित नहीं किया है। मैं आपको काशी का सिंहासन दिला सकता हूँ। प्रत्युत्तर में विरुद्धक कहता है कि- “मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिये, स्वत्व चाहिये।” वह बंधुल को यह भी समझाने का प्रयास करता है कि कौशल नरेश को तुम्हारी वीरता से संतोष न होकर आतंक ही है। राजशक्ति किसी भी व्यक्ति को ज्यादा उन्नत नहीं देखना चाहती। इस बात से क्रुध होकर वह राजकुमार बंधुल को बंदी बनाने का प्रयत्न करता है।

रात्रि के एकांत वातावरण में मांगंधी जो काशी में आकर श्यामा नामक वार-विलासिनी बन गई है, शैलेन्द्र डाकू (विरुद्धक) से मिलने आई है। वह शैलेन्द्र के प्रति आशक्त है इसलिए उससे कहती है- “मेरे हृदय में जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझायेगा? वह कहता है कि ऐसी रमणियां डाकूओं से भी भयंकर होती हैं लेकिन उसके प्रेम-निवेदन को टुकरा नहीं पाता।

तृतीय अंक: उपवन के अन्तर्गत बंधुल की पत्नी मल्लिका और विरुद्धक की माता महामाया परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। मल्लिका उसे अपने पति की अप्रतिम वीरता का एक प्रसंग सुनाती है कि किस प्रकार पांच सौ मल्लों से रक्षित उस तालाब से मुझे पानी पिलाया था, जिसमें मल्लों से भिन्न जाति की नारियों का पानी ग्रहण निषेध था। वह मल्लिका को कहती है कि महाराज ने शैलेन्द्र डाकू के

पास गुप्त पत्र भेज दिया है और कहा है कि- “यदि तुम बंधुल का वध कर सकोगे, तो तुम्हारे पिछले सब अपराध क्षमा कर दिए जाएंगे, और तुम उनके स्थान पर सेनापति बनाए जाओगे।” वह आगे कहती है कि मैं तुझे बहुत प्यार करती हूँ और दूसरे तुम्हें पुत्रवधु बनाने की मेरी बड़ी इच्छा थी लेकिन घमंडी नरेश ने तुम्हें अस्वीकार कर दिया था। मुझे इसका बड़ा दुःख है इसीलिए तुम्हें सचेत करने आई थी। लेकिन मल्लिका स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि मैं अपने पति को उसके कर्तव्य से विलग नहीं करना चाहती।

चतुर्थ दृश्य: प्रस्तुत दृश्य में श्यामा के स्वगत कथान से सूचना मिलती है कि शैलेन्द्र डाकू के हाथों सेनापति बंधुल मारा जा चुका है और शैलेन्द्र भी बंधुल के हाथों घायल होकर बंदी बना लिया गया है। उसी क्षण श्यामा के घर देवदत्त का शिष्य समुद्रदत्त (जो काशी में गुप्तचर के रूप में भेजा गया था) आता है और श्यामा से कहता है- “तुम्हारे रूप की ज्वाला ने मुझे पतंगा बना दिया है, अब उसमें जलने के लिए आया हूँ।” तभी दासी श्यामा को सूचना देती है कि श्यामा की आज्ञा ही मेरे लिए सब कुछ है। हजार मोहरों की जगह केवल एक व्यक्ति भेज दीजिए जिसे शैलेन्द्र के स्थान पर फांसी दी जा सके, क्योंकि अभी तक किसी को भी यह पता नहीं है कि शैलेन्द्र नामक डाकू ने सेनापति बंधुल की हत्या की है। श्यामा ऐसी चाल चलती है कि वह समुद्रदत्त को एक हजार मुद्राओं के साथ उसका वेश बदलकर भेजते हुए कहती है- “जाओ बलि के बकरे, जाओ! फिर न आना।” इस प्रकार वह अपने प्रेमी शैलेन्द्र को मौत के मुंह से बचाने में सफल हो जाती है।

पंचम दृश्य: सेनापति बंधुल के गृह में बंधुल की विधवा पत्नी और उसकी दासी के बीच वार्तालाप दिखाया गया है। मल्लिका अपने पति की मृत्यु के घोर कष्ट को सहन करने के लिए भगवान से शांति एवं साहस की याचना करती है। वह गौतक से श्रद्धापरक भाव व्यक्त करते हुए कहती है कि हे भगवान! तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। कुछ दिन पूर्व मल्लिका सारिपुत्र मौद्गल्यायन को भिक्षा देने हेतु आमंत्रित कर चुकी थी, लेकिन पति की अकस्मात् मृत्यु के दुःख से दुःखी होते हुए भी दासी को आतिथ्य-सत्कार का आयोजन करने के लिए कहती है। सारिपुत्र और गौतम मल्लिका के इस अप्रतिम धैर्य से अत्यधिक प्रसन्न होते हैं- “आनन्द! तो इस मूर्तिमती धर्म-परायणता से कर्तव्य की शिक्षा लो।” यह सुनकर आनन्द (गौतम) मल्लिका से कह उठते हैं- “आज मुझे विश्वास हुआ कि केवल काषाय धारण कर लेने से ही धर्म पर एकाधिकार देते हुए पारिपुत्र कहते हैं कि तुम्हारा चरित्र धैर्य और कर्तव्य का एक आदर्श है। तुम्हारे हृदय में शांति का वास है। हमें मालूम है कि तुम जानती हो कि तुम्हारा शत्रु कौन है, लेकिन फिर भी हमें विश्वास है कि तुम किसी के भी साथ द्वेष-भाव नहीं रखोगी। उसी क्षण कौशल नरेश प्रसेनजित अपने अपराध के लिए मल्लिका से क्षमा की चायना करता है तो वह उसे क्षमादान देते हुए कहती है- “आज्ञा दीजिए कि आपके राज्य से निर्विघ्न चली जाऊँ, किसी शांतिपूर्ण स्थान में रहूँ।”

षष्ठ दृश्य: महाराज बिंबसार और रानी वासवी अपने गृह में जगत के सत्य एवं गति के विषय में वार्तालाप कर रहे हैं कि तभी वहाँ पर छलना आ जाती है और रानी वासवी पर यह अभियोग लगाती है कि तुमने ही काशी में उपद्रव मचवाया है। वह उन्हें बताती है कि कौशल सेनापति बंधुल की मृत्युपरान्त घबराई हुई कौशल सेना पर अजातशत्रु ने आक्रमण कर दिया और विजयी होकर काशी पर अधिकार कर लिया। वह वासवी पर आक्षेप लगाती है कि- “तुमने जान-बूझकर यह विप्लव खड़ा किया है। क्या तुम इसे नहीं दबा सकती थी, क्योंकि वह तो तुम्हारे पिता से तुम्हें मिला हुआ प्रांत था।” उसी क्षण जीवक प्रवेश करते हुए वासवी को यह सूचना देता है कि मागंधी का षडयंत्र भी खुल गया है, राजकुमारी पद्मावती का गौरव पूर्ववत् हो गया है और महाराज प्रसेनजित घायल होकर युद्धभूमि से लौट गए। यह सुनकर महाराज बिंबसार जीवक से कहते हैं कि जीवक अब तुम विश्राम कर सकते हो क्योंकि अब और कोई समाचार सुनने की इच्छा नहीं है।

सप्तम दृश्य: कौशल की सीमा पर बनी मल्लिका की कुटी के द्वार पर बंधुल का भांजा दीर्घकारायण

मल्लिका के प्रति दुःख व्यक्त करते हुए कहता है कि आपने युद्ध में घायल प्रसेनजित की सेवा करके एक सर्प को जीवन-दान दिया है। मल्लिका के कथनों से स्पष्ट होता है दीर्घकारायण और कुछ अन्य सैनिकों द्वारा प्रसेनजित का साथ न देने के कारण ही वह मगध की सेना से परास्त और घायल हुआ है। कुत्ती से घायल प्रसेनजित बाहर निकलता है और पश्चाताप करते मल्लिका के चरणों में गिर जाता है। वह पश्चातापवश मल्लिका से अनुमति प्राप्त करके दीर्घकारायण को अपना सेनापति नियुक्त कर देता है। मल्लिका प्रसेनजित को समझाते हुए कहती है- “यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में कुछ रमणीय सुंदर चित्र खींचिये जो भविष्य में उज्ज्वल होकर दर्शकों के हृदय को शांति दें। दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिए।”

दीर्घकारायण और प्रसेनजित के जाते ही वहां अजातशत्रु प्रवेश करते हुए मल्लिका से प्रसेनजित के विषय में पूछताछ करता है। मल्लिका उसके क्रोध को इन वचनों से शांत कर देती है- “युद्ध में जब यशार्जन कर चुके, तब हत्या करके क्या अब हत्यारे बनोगे? वीरों की विजय की लिप्सा होनी चाहिये, न कि हत्या की।” अजातशत्रु मल्लिका के समक्ष क्षमा मांगते हुए कह जाता है कि अब कौशल पर आक्रमण नहीं करूंगा क्योंकि अब मुझे जीवन के यथार्थ सत्य के दर्शन हो गए हैं।

अष्टम द श्यः श्रावस्ती के एक उपवन में श्यामा और शैलेन्द्र मद्यपान कर रहे हैं। शैलेन्द्र श्यामा से कहता है कि मैं तुम्हारे रूप-सौन्दर्य को भुला बैठा हूँ लेकिन दूसरे क्षण वह मन ही मन सोचता है कि इस पापिन की गोद में मुंह छिपाकर कितने दिन तक जीवन व्यतीत करूंगा। मेरे भावी कार्यों में अब यह बाधा बनकर खड़ी हुई है, इसलिए इसे रास्ते से हटाना ही होगा। इसने विश्वास के बल पर ही समुद्रदत्त के प्राण लिए हैं। ‘यह नागिन पलटते देर नहीं।’ रात्रि में सोई हुई श्यामा का वह गला घोटकर हत्या कर देता है और उसके आभूषण भी उतार ले जाता है। उसी समय गौतम और उनका शिष्य आनन्द भी उसी स्थान से गुजरते हैं और श्यामा के शव में जीवन के कुछ लक्षण शेष देखकर उसे अपने आश्रम में उठा ले जाते हैं। आनन्द इस कथ का यह कहकर विरोध भी करता है कि आपके प्रतिद्वन्दी चिंचा माणविका के प्रसंग की भांति आपको कलंकित करने का प्रयास भी करेंगे, किन्तु गौतम यह कहकर उसे निरुत्तर कर देता है कि “क्या करुणा का आदेश कलंक के डर से भूल जाओगे?” संघराम में एकत्रित भीड़ में प्रवेश करने पर शैलेन्द्र को ज्ञात होता है कि गौतम ने किसी मत् स्त्री को जीवित कर दिया है।

विरुद्धक की माता शक्तिमती कौशल के नए सेनापति कारायण से वार्तालाप करते हुए प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काती है। वह शक्तिमती को बताता है कि विरुद्धक (शैलेन्द्र) मुझसे मिला है और कह रहा था “अभी मैंने एक हत्या की है और उससे मुझे यह धन मिला है, सो तुम्हें गुप्त-सेनासंगठन के लिए देता हूँ। ... उस युवक को देखकर मेरी आत्मा कांपती है।” कारायण कहता है कि मैं उस मत् स्त्री को देखने के लिए आया था लेकिन उसे जीवित देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। अगर वह पुनः जीवित नहीं होती “तो अभी भी गौतम का सब महात्मापन भूल जाता।” रानी शक्तिमती उसे यह सूचना देती है कि कौशाम्बी का दूत आया है। हो सकता है कि कौशाम्बी और कौशल की सेना अजातशत्रु पर आक्रमण करेंगी। उस समय तुम क्या करोगे? प्रत्युत्तर में कारायण कहता है कि उस समय मैं मगध पर आक्रमण करके अजातशत्रु को बन्दी बनाऊंगा। अपने घर की बात अपने ही घर में निपट जाएगी।

नवम द श्यः कौशाम्बी के पथ में जीवक और बसन्तक वार्तालाप कर रहे हैं। बसन्तक विदूषकों की भांति ही हंसने-रोने की बातें करता है। इसी बीच वह इस तथ्य को भी प्रकट कर देता है कि अजातशत्रु पर कौशल और कौशांबी द्वारा जो आक्रमण किया जा रहा है उसमें उसका कोई अनिष्ट नहीं होने पाएगा क्योंकि यह आक्रमण अजात पर केवल शिक्षा देने के उद्देश्य से किया जा रहा है। पद्मावती माता से शीघ्र ही श्रीवस्ती में दर्शन भी करेगी।

दशम द श्यः मगध में छलता के प्रकोष्ठ में वह अपने पुत्र अजातशत्रु के साथ वार्तालाप करते हुए उसे

युद्ध के लिए उत्तेजित कर रही है। अजातशत्रु अपने युद्ध विरोधी विचार व्यक्त करते हुए कहता है- “युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियां अनाथ हो जाती हैं।... युद्ध स्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।” लेकिन छलना फिर भी अपने पुत्र को युद्ध के लिए उत्तेजित करते हुए कहती है- “कायर! आंख बन्द कर ले। यदि ऐसा ही था, तो क्या बूढ़े बाप को हटाकर सिंहासन पर बैठा?” अजातशत्रु अपनी माँ की इच्छा के विपरीत सिंहासन का त्याग कर पिता की सेवा करना चाहता है। तभी वहां देवदत्त प्रवेश करते हुए अजात को कहता है कि अब पीछे हटने का समय नहीं है, अब तुम्हें कौशांबी और कौशल की सेनाओं का सामना करने के लिए तत्पर हो जाना चाहिये। इसी अवसर पर कौशल का राजकुमार विरुद्धक भी वहां आ जाता है और अजात की युद्ध में सहायता करने की इच्छा प्रकट करता है। अजातशत्रु द्वारा विरुद्धक को शत्रु का पुत्र बताकर उसके प्रति अविश्वास प्रकट करने पर विरुद्धक कहता है- “केवल एक बात विश्वास करने की है। यही कि तुम कौशल नहीं चाहते और मैं काशी सहित मगध नहीं चाहता।” वह यह भी बताता है कि कौशल का सेनापति कारायण भी मुझसे मिला हुआ है। अतः कौशल की दुर्बल सेना पर तुम और कौशांबी की सेना पर मैं आक्रमण करूंगा, जिससे तुम्हें विश्वास बना रहे। मैं पिता के साथ स्वयं नहीं लड़ूंगा, यही कारण है कि मैं कौशांबी की सेना पर आक्रमण करना चाहता हूँ। अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों ही युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं।

त तीय अंक

प्रथम दृश्य: मगध के राजभवन में छलना और देवदत्त वार्तालाप कर रहे हैं। छलना देवदत्त को धिक्कारते हुए कहती है- “धूर्त! तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई। पुत्र बंदी होकर विदेश को चला गया और पति को मैंने स्वयं बंदी बनाया। पाखंड तूने ही यह कुचक्र रचा है।” देवदत्त छलना के आरोप को अनुचित ठहराते हुए कहता है कि तेरी राज्यलिप्सा और महत्वाकांक्षा ने ही तुझसे यह सब कुछ कार्य करवाया है। छलना उसे नर-पिशाच की संज्ञा देते हुए प्रतिहारी को बुलाकर कैद करवा देती है। छलना के आदेश पर बड़ी रानी वासवी को पकड़कर लाया जाता है। छलना व्यंग्यमयी शब्दावली में वासवी से कहती है कि अजातशत्रु के युद्ध में बंदी बनाए जाने पर तुम्हारे हृदय को बड़ी शांति मिल रही होगी। छलना स्वयं को भूखी सिंहनी बताते हुए वासवी को कहती है- “मीठे मुंह की डायन। आज मैं उसी हृदय को निकाल लूंगी, जिसमें यह सब भरा था।” वासवी कहती है कि पुत्र अजात के प्रति मेरी सोच कभी भी गलत नहीं थी, वह मुझे उतना ही प्रिय है जितना तुम्हें, इस पर भी तुम मुझे मारना चाहती हो तो एक बात विचार कर लो- “क्या कौशल के लोग जब मेरी यह अवस्था सुनेंगे तो अजात को और शीघ्र मुक्त कर देने के बदले कोई दूसरा कांड न उपस्थित करेंगे।” अतः वासवी स्वयं कौशल जाकर अजातशत्रु को मुक्त करा लाने का प्रस्ताव रखती है और देवदत्त को भी बंधनमुक्त करा देती है। मेरे जाने पर मगध पर शासन का कार्यभार तुम संभालोगी और “यदि हो सके तो आर्यपुत्र की सेवा करके नारी जन्म को सार्थक कर लेना। छलना अपने प्रति वासवी का अगाध स्नेह देखकर रोने लगती है तो वासवी उसे समझाते हुए कहती है, “रो मत बहिन! मैं जाती हूँ, तू यही समझ कि कृणीक (अजातशत्रु) ननिहाल गया है।”

द्वितीय दृश्य: कौशल के राजमहल के समीप बंदीग ह में राजकुमारी बाजिरा का प्रवेश होता है, वहीं पर अजातशत्रु भी कारागार में बंद है। बाजिरा समाज की अव्यवस्था के विषय में सोचती है, “अंधी जनता अंधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ... भाई भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह कर रहा है, स्त्रियां प्रतियों से प्रेम नहीं उन पर कुशासन करना चाहती हैं।... राजमंदिर बंदीग ह में बदल गए हैं।” तभी उनकी दृष्टि अजातशत्रु पर जाती है। वह उसके सुंदर, सुडौल शरीर को देखकर मन ही मन कहती है कि इस सुन्दर राजकुमार को देखकर जीवन धन्य हो गया है। एक दिन पिताजी के पैर पकड़कर प्रार्थना करूंगी कि इस बंदी को छोड़ दो क्योंकि मैं इसे प्रेम करने लगी हूँ। अजात भी बाजिरा के प्रति आकृष्ट हो जाता है और उससे उसका परिचय पूछता है लेकिन

बाजिरा कहती है कि मेरा परिचय पाकर तुम मुझसे घणा करने लगोगे। अजातशत्रु का यह उत्तर पाकर कि चाहे तुम प्रसेनजि की पुत्री भी क्यों न हो मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं हूँगा, तब बाजिरा अपना परिचय दे देती है। वह अजातशत्रु को जेल से भागने का अवसर देती है तो अजातशत्रु कहता है कि 'अब यह तुम्हारा चिर-बंदी मुक्त होने की चेष्टा भी न करेगा। बाजिरा अजात को माला पहनाकर उसके साथ गांधर्व विवाह कर लेती है और अजातशत्रु भी उसे अपने प्रेम की सूचक अंगूठी पहना देता है। उसी क्षण सेनापति कारायण प्रवेश करता है और उन दोनों की प्रेम-लीला को देख क्रुद्ध हो उठता है, क्योंकि बाजिरा से वह स्वयं विवाह करना चाहता था। अजातशत्रु सेनापति कारायण को द्वन्द्व युद्ध के लिए आवाहित करता है, किंतु तभी कौशल नरेश प्रसेनजित और वासवी वहां पहुंचकर अजातशत्रु को बंधनमुक्त कर देते हैं। वासवी अजातशत्रु को अपनी गोद में ले लेती है तो अजात उससे अपने विगत दुर्व्यवहारों के लिए क्षमा-याचना कर लेता है। वासवी अपने भाई प्रसेनजित से कहती है- "भाई, मैं इसे शीघ्र मगध के सिंहासन पर भेजना चाहती हूँ तुम इसके जाने का प्रबन्ध कर दो।" किन्तु अजातशत्रु वहां जाने से इन्कार करते हुए कहता है, नहीं माँ, अब कुछ दिन उस विषैली वायु से अलग रहने दो। तुम्हारी शीतल छाया का विश्राम मुझसे अभी नहीं छोड़ा जाएगा।"

तृतीय दृश्य: प्रस्तुत दृश्य के आरम्भ में विरुद्धक मल्लिका के प्रति इस बात के लिए आभार व्यक्त करता है कि आपने मेरी अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा करके मुझे स्वस्थ कर दिया है जबकि आप यह जानती थी कि तुम्हारे पति का हत्यारा मैं ही हूँ। विरुद्धक को इस सेवा के कारण यह भ्रम हो जाता है कि कहीं मल्लिका मुझसे प्रेम तो नहीं करती। मल्लिका के मना करने पर वह कहता है- "किंतु मल्लिका! अतीत में तुम्हारे लिए ही मेरा वर्तमान बिगड़ा। पिता ने जब तुमसे मेरा ब्याह करना अस्वीकार किया, उसी समय से मैं पिता के विरुद्ध हुआ और उस विरोध का यह परिणाम हुआ।" उसके इस तर्क से विचलित न होकर मल्लिका कहती है कि तुम्हारा जीवन बचाना तो मेरा धर्म था, जिसमें मैं सफल हुई लेकिन मैं तुम्हारा रक्त-रंजित हाथ स्पर्श भी नहीं कर सकती, क्योंकि, "तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया; एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश की जन्मभूमि के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण किया। तुम्हारे जैसा नीच और कौन होगा।" तब विरुद्धक कहता है कि फिर मुझे रणक्षेत्र से क्यों बचाया? तब मल्लिका आजपूर्ण शैली में उत्तर देती है- "तुम इसलिए नहीं बचाए गए कि फिर भी एक विरक्ता नारी पर बलात्कार और लपटता का अभिनय करो। जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित्त करो, अपने को सुधारो।" तभी श्यामा वहां पर प्रवेश करके अपनी सम्पूर्ण घटना बता देती है। मल्लिका वस्तुस्थिति जानकर विरुद्धक से कहती है- 'यदि तुम प्रेम का प्रतिदान नहीं जानते हो तो व्यर्थ एक सुकुमार नारी-हृदय को लेकर उसे पैरों से क्यों रोंदते हो? विरुद्धक! क्षमा मांगो; यदि हो सके तो इसे अपनाओ।" विरुद्धक इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है लेकिन श्यामा इसे स्वीकार न करके पिता से उसका क्षमा करा देने का आश्वासन देती है तो विरुद्धक उसे उदारता की मूर्ति कहते हुए उसके पैरों में गिर जाता है। मल्लिका और विरुद्धक को श्रावस्ती की ओर जाता देख श्यामा का अन्तर्मन कह उठता है- "जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो संपूर्ण मनुष्यता है।"

चतुर्थ दृश्य: प्रकोष्ठ में सेनापति दीर्घकारायण रानी शक्तिमती से यह पश्चाताप कर रहा है कि एक तरफ तो मैं राजकुमार विरुद्धक को मूंह दिखाने लायक नहीं रहा और दूसरी ओर बाजिरा भी प्राप्त न हो सकी। शक्तिमती सेनापति को उपालंभ देती है कि वह अपने मातुल के हत्यारे प्रसेनजित की सेवा कर रहा है। वह नारी अधिकार का प्रश्न उठाते हुए कहती है कि "क्या उनका जन्मसिद्ध कोई अधिकार नहीं? क्या स्त्रियों का सब कुछ - पुरुषों की कपा से मिली हुई भिक्षा मात्र है? मुझे इस प्रकार पदच्युत करने का किसी को क्या अधिकार था।" कारायण रानी को स्त्री जाति के करुणा नामक गुण से अवगत कराते हुए क्रूरता से दूर रहने की सलाह देता है और उनके समक्ष मल्लिका का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसी क्षण मल्लिका और विरुद्धक का प्रवेश होता है। मल्लिका रानी शक्तिमती से पूछती है- "बहिन, क्या तुम अब भी राजकुमार को उत्तेजित करके उसे मनुष्यता से

गिराने की चेष्टा करोगी? ... क्या क्रूर विरुद्धक को देखकर तुम्हारी अंतरात्मा लज्जित नहीं होती?" शक्तिमती अपनी भूल स्वीकार कर लेती है। मल्लिका रानी को अहंकार एवं क्रोध त्यागने का परामर्श देकर बाजिरा की शादी में सम्मिलित होने के लिए कहती है। कारायण राजकुमार विरुद्धक से इस बात के लिए क्षमा मांगते हैं कि जिस विद्रोह को करने के लिए आप कह गये थे, मैं उसे करने में असमर्थ था क्योंकि मैं अपने ही राष्ट्र के विरुद्ध अस्त नहीं उठा सकता था। दीर्घकारायण की बुद्धिमत्ता और उदारता को देख विरुद्धक उससे क्षमा मांगता है।

पंचम द श्य: प्रस्तुत द श्य के प्रारम्भ में कौशल की राजसभा में वर-वधु के वेश मे अजातशत्रु और बाजिरा के साथ-साथ प्रसेनजित, शक्तिमती, मल्लिका, विरुद्धक, वासवी और सेनापति दीर्घकारायण भी दिखाई देते हैं। मल्लिका प्रसेनजित को उनकी पुत्री बाजिरा के विवाह पर बधाई देती है तो प्रसेनजित कहते हैं- "देवि! आपकी असीम अनुकंपा है, जो मुझ जैसे अधम व्यक्ति पर इतना स्नेह! पतितपावनी, तुम धन्य हो।" प्रसेनजित मल्लिका के कहने पर शक्तिमती को भी क्षमा कर देते हैं। इसके पश्चात वह विरुद्धक को भी राजा से क्षमादान दिलवा देती है और विरुद्धक भी अपने पिता के चरणों में गिरकर कहता है- "पृथ्वी के साक्षात् देवता! मेरे पिता! मुझ अपराधी पुत्र को क्षमा कीजिए।" तभी गौतम बुद्ध प्रवेश करके कौशल नरेश को इस तथ्य के लिए उन्हें कहते हैं कि उन्होंने दोषी को क्षमा करना सीख लिया है। प्रसेनजित ने विरुद्धक को क्षमा तो कर दिया लेकिन दासी-पुत्र होने के कारण विरुद्धक को युवराज बनाना स्वीकार नहीं किया लेकिन जब गौतम ने इस भेदभाव के विरुद्ध तर्क दिए तो उन्होंने विरुद्धक को युवराज बनाना स्वीकार कर लिया। अजातशत्रु उठकर विरुद्धक के गले लगता है तो विरुद्धक कहता है कि मैं वह दिन शीघ्र देखूंगा कि तुम भी इसी प्रकार अपने पिता से क्षमा किये जाओगे। वासवी मन ही मन कहती है- "भाई प्रसेन, तुम अपने जीवन भर में इतने प्रसन्न कभी न हुए होंगे, जितने आज। कुटुंब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा।"

षष्ठ द श्य: पथ में दो व्यक्ति महात्मा बुद्ध की महानता एवं शक्ति के विषय में वार्तालाप करते हुए चल रहे हैं। दोनों नागरिकों के वार्तालाप से यह भी पता चलता है कि जो देवदत्त स्वतंत्र संघ स्थापित करना चाहता था और गौतम को मारने के लिए आने वाला था वह जल पीने के लिए सरोवर में गया था, लेकिन वापिस नहीं आया, पता नहीं उसे कोई ग्राह पकड़ ले गया या उसने लज्जा से डूबकर आत्महत्या कर ली। वसंतक के कथन से ज्ञात होता है कि विधाता का विधान भी विचित्र है, एक साधारण ग्रामीण बाला से राजरानी बन जाने वाली मांगंधी अब पुनः आम की बारी बेचती है और लड़कों के ढेले खाती है। मांगंधी की स्थिति उसी कहावत के समान है कि 'रहे मोची-के-मोची'।

सप्तम द श्य: प्रस्तुत द श्य के प्रारम्भ में मांगंधी अपने जीवन में आए परिवर्तनों के विषय में सोचते हुए कह रही है- "वाह री नियति! कैसे-कैसे द श्य देखने में आये, कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठाकर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ।" तभी गौतम वहां प्रवेश करते हैं तो मांगंधी उनके चरणों में गिरकर कहने लगती है कि हे प्रभु! इस प्यासे हृदय की तृष्णा मिटाने के लिए स्वयं अमृत के स्रोत (गौतम) ने अपनी दिशा परिवर्तित करके मरुस्थल में प्रवेश किया है। गौतम ने उनके मन को शांत करते हुए कहा कि "अब तुम तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गयी हो। विश्व के कल्याण में अग्रसर हो।" तब मांगंधी कहती है, हे प्रभु! जन्म भर की असफलता के बाद भी मेरी ही विजय हुई है। "पतितपावनी! यह उद्धार आपके लिए भी महत्त्व देने वाला है और मुझे तो सब कुछ।"

अष्टम द श्य: प्रकोष्ठ में छलना पद्मावती से किए अपने पूर्व व्यवहार के लिए क्षमा मांगती है। पद्मावती सूचना देती है कि भाभी (बाजिरा) को पुत्र हुआ है, तभी वासवी भी वहां आ जाती है। छलना वासवी से भी अपने किए अपराध के लिए क्षमा-याचना करती है। वासवी उसे क्षमा करके भी उससे

सपत्नियोचित नौक-झोंक करते हुए कहती है- “छलना! तू नहीं जानती, मुझे एक बच्चे की आवश्यकता थी इसलिए तुझे नौकर रख लिया था, अब तो तेरा काम नहीं है।” छलना भी इसी तरह का मजाक करते हुए कहती है-

छलना : बेटी पद्मा! चल! इसी से कहते हैं कि सौत काठ की भी बुरी होती है।”

वासवी : चल, चल, लड़ मत कंगालिन।”

अजातशत्रु भी पिता से क्षमा मांगने के लिए श्रावस्ती चला जाता है।

नवम दृश्य: इसमें महाराज बिंबसार मानव-हृदय की इस रहस्यमयता के संबंध में विचार कर रहे होते हैं कि वह जिस पर क्रोध से भैरव हुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है कि तभी वहां अजातशत्रु प्रवेश करते हैं और पिता के चरणों में गिरकर क्षमा मांगते हैं। वह अपने पिता से कहता है, “पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य-अधिकार से वंचित किया।” मुझे मेरी माँ से अधूरी शिक्षा मिली थी, उसमें पिता की छाया न थी, इसीलिए मुझसे यह अपराध हुआ। तभी वहां छलना भी आकर बिंबसार के चरणों में गिरकर क्षमा-याचना करती है। पद्मावती और बड़ी रानी वासवी के आग्रह करने पर दोनों को क्षमा कर देता है। वह अपनी पुत्रवधु बाजिरा और अपने पौत्र को आशीर्वाद देने और राजमहल जाने के लिए तत्पर हो जाता है। इसी शुभ अवसर पर गौतम आकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं और इसी के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

निष्कर्षतः प्रसाद जी ने प्रस्तुत नाटक में विस्तृत कथानक को समेटने का प्रयास किया है। उनके नाटक के वस्तु-विन्यास पर विचार करते हुए डा० दशरथ ओझा ने कहा है, “प्रसाद ने इस नाटक का वस्तु-विन्यास इस कौशल से किया है कि कथानक को कोई भी अंग असम्बद्ध प्रतीत नहीं होता। कथानक के संगठन में जो नाट्य-कला झलकने लगती है, वह चरित्र और अन्तर्द्वंद्व की ज्योति पाकर चमक उठती है। ... तात्पर्य यह है कि प्रसाद ने विविध घटनाओं को श्रृंखलाबद्ध करने का जो प्रथम प्रयास किया, उसमें उन्हें सफलता मिली।” इसी प्रकार उन्होंने आगे चलकर इसी शैली को अपने नाटकों का आधार बनाया।

3. अजातशत्रु : नाट्यकला

नाटक के क्षेत्र में प्रसाद का योगदान विशिष्ट है। उन्होंने अनेक नाटकों की रचना की, जिसमें भारतीय संस्कृति और इतिहास का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है। वस्तुतः उनके नाटक-साहित्य के मूल में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की उत्कृष्ट प्रेरणा है। अपने समृद्ध परातत्वज्ञान के बल पर उन्होंने बौद्ध कालीन भारतीय संस्कृति के अवयवों को बड़ी सुन्दरता से जोड़कर उनमें प्राण संचार किया। सच्चे अर्थ में पुनर्निर्माण या पुनरोत्थान की प्रवृत्ति प्रसाद में ही थी। उनके नाटकों में उनका कवित्व सर्वत्र मुखर हुआ है। डॉ० नगेन्द्र का मत है- “प्रसाद के नाटक मधु से वेष्टित हैं- प्रसाद मूलरूप से कवि हैं। अतः उनके नाटकों में काव्य की गहराई एवं पथुल अन्तर्धारा बह रही है। ... वस्तु चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव - सभी में कविता का रंगीन स्पंदन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तुत खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया।”

प्रसाद जी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अपनी कृतियों के उद्देश्य के विषय में लेखन ने ‘विशाख’ की भूमिका में स्वयं लिखा है- “इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है... क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूर्ण संदेह है।... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया।”

‘अजातशत्रु’ प्रसाद की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाट्यकृति है। इसमें उन्होंने इतिहास और कल्पना का सुन्दर संयोग किया है। वस्तुतः नाट्यकला की दृष्टि से इसका विवेचन महत्त्वपूर्ण ही नहीं उपादेय भी है।

1. **कथावस्तु:** प्रसाद की नाट्यकला की सबसे बड़ी विशेषता है- नाटक की कथावस्तु में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय। प्रसाद भारतीय इतिहास के प्रति पूर्ण आस्था रखते हैं। इसीलिए उन्होंने इतिहास का गहन चिन्तन-मनन किया था। इसके लिए उन्होंने महाभारत युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्द्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है, क्योंकि यही भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रसार का स्वर्ण युग कहा जाता है। उनसे जहां तक संभव हुआ है, इतिहास की मूल प्रकृति का अनुसरण किया गया है और सुसंबद्धता स्थापित की गई है, परन्तु जहां कल्पना का प्रयोग नितान्त आवश्यक हो गया है वहां नाटककार की स्वतन्त्रता का भी प्रसाद जी ने उपयुक्त आश्रय लिया है। उनके प्रसिद्ध नाटक ‘अजातशत्रु’ की कथावस्तु में भी इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

‘अजातशत्रु’ नाटक का सम्पूर्ण कथानक तीन अंकों में विभाजित है। पूरे नाटक में विरोध का वर्चस्व स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। इसका विरोध से ही आरम्भ होता है और विरोध का ही विस्तार दिखाया गया है, अंत में विरोध की समाप्ति हो जाती है। इसमें मुख्य घटनास्थल तीन हैं - मगध, कौशल और कौशांबी। जो विरोध की अग्नि मगध में प्रज्वलित हुई, उसकी प्रचंडता कौशल में दिखाई पड़ी और उसकी लपट कौशांबी तक पहुंची है।

सम्राट बिंबसार पारिवारिक कलह के अन्तर्गत पुत्र की उद्दंडता देखकर और अपनी छोटी

रानी छलना की अधिकार-लोलुपता व कुमंत्रणा का विचार कर जीवन से उदासीन रहते हैं। यह विरक्ति पहले तो अन्तर्मुखी होती है लेकिन जब छलना अधिकारपूर्वक कुणिक (अजातशत्रु) के राज्याभिषेक की घोषणा करवा देती है तो वह उनके अन्तर्द्वन्द्व को व्यवहार क्षेत्र में ला खड़ा करता है। छलना और देवदत्त की मंत्रणा के फलस्वरूप ही अजातशत्रु राज्यभारत संभालने लग जाता है और बिंबसार इस कार्य से तटस्थ हो जाते हैं।

सुदत्त जब मगध का यह समाचार कौशल-नरेश प्रसेनजित के पास पहुंचाता है तो सारी सभा में इसी घटना को लेकर विवाद खड़ा हो जाता है। युवराज विरुद्धक द्वारा अजातशत्रु के पक्ष का समर्थन करने पर महाराज प्रसेनजित क्रोधावेश में यह घोषणा कर देते हैं कि- “विरुद्धक युवराज पद से तथा उसकी माता शक्तिमती राजमहिषी पद से वंचित की जाती है।” इस प्रकार विरुद्धक पिता से विरोध की भावना लेकर राज्य का त्याग कर देता है और डाकू बन जाता है।

कौशांबी में राजा उदयन मागंधी के षडयंत्र में पड़कर रानी पद्मावती के विरुद्ध हो जाते हैं। इस षडयंत्र का भेद खुलने पर मागंधी वहां से भागकर काशी में आकर बारविलासिनी बन जाती है। निष्कर्षतः सम्पूर्ण प्रथम अंक विरोधात्मक प्रयत्नों से आप्लावित है। इसके उपरांत संपूर्ण द्वितीय अंक में इसी विरोध का विस्तार और चरम सीमा दिखाई देती है। तृतीय अंक में इस व्यापक विरोध का शमन है। प्रत्येक विरोधी दल अहंकार पाप-पूर्ण तुच्छ मनोवृत्ति पर पश्चात्ताप प्रकट करता है और अपनी भूल को सुधारने का प्रयास करता है।

आधार या स्रोत की दृष्टि से विद्वानों ने नाटक की कथावस्तु के तीन भेद किए हैं- (1) प्रख्यात (2) उत्पाद्य (3) मिश्रित। प्रख्यात कथावस्तु वह कहलाती है जिसका आधार इतिहास, पुराण और जनश्रुति होती है। ‘अजातशत्रु’ की कथावस्तु भी ‘प्रख्यात’ के अन्तर्गत आती है क्योंकि इसके अधिकांश पात्रों और घटनाओं का इतिहास ग्रंथों अथवा बौद्धों की जातक कथाओं में उल्लेख मिल जाता है। इसके अतिरिक्त नाटककार ने यत्र-तत्र अपनी कल्पना शक्ति के प्रयोग द्वारा भी कथावस्तु को रोचक बनाया है। वस्तुतः आलोच्य नाटक की कथावस्तु में वे सभी गुण विद्यमान हैं जो एक अच्छे नाटक की कथावस्तु में माने जाते हैं।

2. **पात्र और चरित्र-चित्रण:** पात्र-योजना के संदर्भ में विचार करते हुए यह तथ्य आवश्यक माना जाता है कि किसी भी नाटक में इतने अधिक पात्र नहीं होने चाहिये कि दर्शकों के उनके नाम भी याद न हो सकें, पहचान की तो बात ही दूर रही। अगर आलोच्य नाटक को पात्र-योजना की कसौटी पर कसा जाए तो इसे एक सफल नाटक की श्रेणी में नहीं रख जा सकता। क्योंकि इसमें पुरुष एवं स्त्री पात्रों की संख्या लगभग 30 तक पहुंच गयी है। इतने अधिक पात्र होने के कारण उनके चारित्रिक विकास में भी बाधा उत्पन्न हुई है। इतने अधिक पात्र होने पर भी उन्होंने अपने नाटक में सशक्त पात्रों की सृष्टि कर उन्हें आकर्षक बनाया है। डॉ० गोविन्द चातक के अनुसार, “उनके नाटकीय पात्र जीवन की समस्त ऊष्मा, शक्ति और ईहा के साथ जीते हैं। उनकी चरित्र कल्पना केवल गुण-दोषों की कृत्रिम समष्टि पर आधारित न होकर सर्जन, संवहन और विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया से उद्भूत है।” प्रसाद ने विवेच्य नाटक में सद-असद दोनों प्रकार के पात्रों की सृष्टि की है क्योंकि समाज में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां मिलती हैं। प्रस्तुत नाटक में सत् पात्र वे हैं जिनके चरित्र में अवगुणों की अपेक्षा सद्गुणों की प्रधानता है जैसे- मल्लिका, वासवी, गौतम, बिंबसार, बंधुल आदि। इसके विपरीत असद् पात्र वे हैं जो निम्न प्रकार के कार्यों में संलिप्त रहते हैं जिनमें श्यामा, छलना, देवदत्त और विरुद्धक सम्मिलित हैं। प्रसाद जी ने कुछ पात्रों के हृदय परिवर्तन को भी दिखाया है, जैसे- अजातशत्रु अपने द्वारा किए हुए दुर्व्यवहार के लिए अपने माता-पिता से क्षमा मांग लेता है, यही कार्य विरुद्धक भी दोहराता है और श्यामा (मागंधी) अन्ततः बौद्ध-भिक्षुओं की शरण में चली जाती है।

नाटक के प्रधान पात्र- नायक या नायिका में विद्यमान हैं। अजातशत्रु हो या अन्य नाटक, प्रसाद का नारी पात्रों के चरित्रांकन में विशेष झुकाव रहा है। इसी तथ्य को स्वीकारते हुए जयनाथ नलिन ने कहा है- “प्रसाद जी ने अपने हृदय की समस्त कोमलता, कल्पना की रंगीनी, भावना की स्निग्धता और कला की सफलता नारी चरित्रों के भव्य निर्माण में प्रस्तुत की है। पुरुष बुद्धि, कठोरता, वीरता और कर्म के प्रतीक हैं तो नारी भावुकता, भावना, सेवा, त्याग, मर्यादा, आस्था और आत्माभिमान की प्रतिमाएं हैं। प्रसाद की कवि-तूलिका ने नारी के अत्यन्त मनोहर चित्र उतारे हैं।” इस प्रकार समग्र विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आलोच्य नाटक पात्र-योजना की दृष्टि से सफल नाटक है।

3. **संवाद या कथोपकथन:** संवाद नाटक का आवश्यक तत्त्व है। पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और विविध घटनाओं का बोध संवादों के माध्यम से होता है। संवाद, सरस, संक्षिप्त, रोचक और कौतूहलवर्धक होने चाहिये। इस दृष्टि से प्रसाद का ‘अजातशत्रु’ नाटक पूर्णरूपेण सफल रहा है। इस नाटक के संवाद सरस, प्रवाहपूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं। संवादों में काव्यात्मकता और दार्शनिकता का गुण भी विद्यमान है। यथा -

बिंबसार : “आह, जीवन की क्षणभंगुरता को देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त हो अनेक अकांड-तांडव करता है।”

प्रत्येक नाटक की सफलता के लिए इस बात पर बल दिया जाता है कि पात्रों के संवाद छोटे-छोटे तथा पात्रों की मनःस्थिति के अनुकूल होने चाहिये। प्रस्तुत नाटक की संवाद-योजना में ये गुण सर्वत्र विद्यमान हैं, यथा-

मागंधी : (दासी से) - आर्यपुत्र की हस्तिस्कंध-वीणा ले आओ।

उदयन : तब तक तुम्हीं कुछ सुनाओ।

मागंधी : मैं दासी हूँ प्रियतम।

उदयन : नहीं, तुम आज से मेरी स्वामिनी बनो।

(दासी वीणा लेकर आती है और उदयन के सामने रखती है। उदयन के उठाने के साथ ही सांप का बच्चा निकल पड़ता है। मागंधी चिल्ला उठती है।)

मागंधी : पद्मावती! तू यहां तक आगे बढ़ चुकी है। मेरी जो शंका थी, वह प्रत्यक्ष हुई।

उदयन : (क्रोध से उठकर खड़ा हो जाता है) अभी इसका प्रतिशोध लूंगा। ओह! ऐसा पाखंड आचरण! असह्य!

प्रस्तुत संवाद से मागंधी की षडयंत्रकारी प्रवृत्ति का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। आलोच्य नाटक में कथोपकथन चार प्रकार देखने को मिलते हैं- (1) पात्र का स्वयं का चरित्र प्रकट करने वाले।

(2) साधारण कथा-प्रसंग चलाने वाले।

(3) दूसरे पात्र का चरित्र चित्रित करने वाले।

(4) नाटककार के मन्तव्य को प्रकट करने वाले।

संवादों का मुख्य प्रयोजन कथानक को अग्रसर करना है एवं चरित्र-चित्रण में पूरा योग देना है। प्रसाद के नाट्य संवादों में दोनों प्रयोजन सर्वत्र सिद्ध होते हैं। नाटक में संवादों के अधिक बड़े हो जाने से व्यावहारिक यथार्थता का ह्रास हो जाता है। यदि प्रसाद के नाटकों में ऐसे स्थलों को विचारपूर्वक देखा जाए तो यह दोष प्रायः मिलेगा। इस दोष के दो कारण दिखाई

पड़ते हैं। प्रथम यह जहां कहीं विवाद होने लगा है वहां अपने समस्त तर्कों को एक साथ प्रयोग करने की प्रवृत्ति पात्र रोक नहीं सके हैं। यह वितर्क प्रवाह यदि खण्ड-खण्ड होकर आया होता तो वेग भी बढ़ जाता और यह दोष भी न रहता। जहां ऐसा हुआ है वहां धारावाहिकता का चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो गया है परन्तु ऐसे स्थल न्यून हैं। द्वितीय कारण भावुकता से संबंधित है। भाव प्रवण पात्र अपनी बातचीत में कल्पना प्रधान भाव-भंगिमा का प्रयोग करते हैं, वस्तुतः विषय उपस्थित करने की शैली में ही विस्तार हो जाता है। बिंबसार के कथनों में इस प्रकार की भावुकता के दर्शन होते हैं।

4. **देशकाल और वातावरण:** नाटक में वास्तविक, सजीवता और गरिमा लाने के लिए अनुकूल वातावरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण है। देशकाल की परिस्थितियों, परम्पराओं और जीवन-पद्धतियों की दिग्दर्शिका वेषभूषा आदि का जितना अच्छा चित्रण नाटक में होगा उतनी ही सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता उसमें आ सकेगी। वातावरण के लिए भौगोलिक सीमाओं की भी पर्याप्त उपयोगिता है। ऐतिहासिक नाटक में वातावरण का सर्वाधिक महत्त्व है। इस प्रकार के नाटक वातावरण की रंगमात्र भी उपेक्षा करके नहीं चल सकते। वातावरण में देशकाल बाह्य है और मनोदशा आंतरिक, अतः दोनों ही प्रकारों की पूरी क्षमता नाटककार में आवश्यक है। जहां वातावरण पात्रों की मानसिकता एवं शारीरिक तैयारी में एक उष्णता और प्रवाह का संचार करता है, वहां दर्शकों एवं पाठकों की भी मानसिक तैयारी में सहायक सिद्ध होता है। प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अतः तत्कालीन देशकाल का सुन्दर निर्वाह उनके नाटकों में सर्वत्र देखा जा सकता है। प्रसाद जी ने स्वयं भी स्वीकार किया है- “मेरे नाटकों का उद्देश्य भारतीय इतिहास के उन अतीत पृष्ठों को साकार करना है जिनके विषय में हम अब तक अंधकार में पड़े थे।” उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण की सुन्दर एवं सजीव झांकी प्रस्तुत की है। ‘अजातशत्रु’ नाटक में प्रसाद ने बौद्धकालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का उत्कृष्ट चित्रण किया है। आलोच्य नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु का संबंध राजकुल से है, अतः प्रसाद जी ने राजघरानों में चलने वाले षडयंत्रों का बड़ा ही सजीव वातावरण प्रस्तुत किया है। इस षडयंत्र में मगध वंश की छोटी रानी छलना (चेल्लना), कौशांबी वंश में उदयन की रानी मागंधी (श्यामा), कौशल वंश में राजा प्रसेनजित की रानी शक्तिमती और देवदत्त का गौतम के प्रति षडयंत्र सम्मिलित है, जो उस समय के राजनीतिक वातावरण को प्रस्तुत करता है।

पाश्चात्य नाटककारों ने नाटक में संकलनत्रय (स्थान, समय, कथावस्तु की एकता) पर बल दिया है, जिसका आलोच्य नाटक में अभाव परिलक्षित होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है कि इसमें- कौशल वंश, मगध वंश और कौशांबी वंश की 20-25 वर्ष की घटनाओं का चित्रांकन है। आलोच्य नाटक में संकलनत्रय का अभाव दर्शनों एवं पाठकों को कचोटता है।

निष्कर्षतः देशकाल अभिव्यक्ति की दृष्टि से ‘अजातशत्रु’ बौद्धकालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थिति को स्पष्ट करने में पूर्णतः सफल है।

5. **अभिनेयता:** नाटक केवल मनोरंजनार्थ ही नहीं लिखा जाता बल्कि दर्शक-वर्ग भी उससे जुड़ा होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि सुपाठ्य नाटक अभिनेय होता ही है। वास्तव में नाटककार को नाट्य-स जन करने से पूर्व यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसे अभिनेय अवश्य होना चाहिये। उसमें कहीं भी ऐसे दृश्यों, घटनाओं और कथाओं का समावेश नहीं होना चाहिये। उसमें कहीं भी ऐसे दृश्यों, घटनाओं और कथाओं का समावेश नहीं होना चाहिये जिससे नाटक का अभिनय न किया जा सके। जहां तक प्रसाद के नाटकों का संबंध है तो उसमें अभिनेयता की दृष्टि से अनेक दोष पाए जाते हैं। सर्वप्रथम तो ‘अजातशत्रु’ के विस्तार की समस्या है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक अंक में क्रमशः 9,

10, 9 द श्य समाहित हैं, जो द श्य बदलने में बाधा उत्पन्न करते हैं, लेकिन आधुनिक रंगमंचों पर इतने द श्यों को भी सरलता से मंचित किया जा सकता है। दूसरे, इस नाटक में गीतों का बाहुल्य है, किन्तु ये गीत कथावस्तु के विकास तथा पात्रों की मनोदशा के उद्घाटन में सहायक होने के कारण अवांछनीय प्रतीत नहीं होते। तीसरे, भाषा-शैली की क्लिष्टता भी अभिनेय में बाधक होती है। आलोच्य नाटक की भाषा-शैली सरल नहीं है लेकिन इतनी भी कठिन नहीं है कि उसे समझा ही न जा सके, यथा-

“अजातशत्रु : माँ क्षमा हो। युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियां विधवा हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्त्वमय चित्र न जाने किस षडयंत्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव-वृत्ति दबी हुई रहती है उसी को उत्तेजना मिलती है। युद्धस्थल का द श्य बड़ा भीषण होता है।”

चौथे, आलोच्य नाटक में रंगमंचीय संकेतों का थोड़ा-बहुत अभाव भी खलता है लेकिन इसमें प्रसाद की प्रतिभा का दोष न होकर परम्परा का ही दोष कहा जाएगा। अगर कोई अच्छा मंच-संचालक विवेक से काम ले तो रंग संकेतों के अभावों के बाद भी आलोच्य नाटक का सुन्दर मंचन कर सकता है। फिर भी प्रसाद जी से जहां तक बन पड़ा है वहां रंगमंचीय संकेत भी दिये हैं, यथा-

प्रसेनजीत : किंतु वह राष्ट्र का द्रोही है, क्यों धर्माधिकारी, उसका क्या दंड है?

धर्माधिकारी: (सिर नीचा करके) महाराज!

X X X X X X

अजातशत्रु : जैसी माता की आज्ञा! (छलना तिलक और आरती करती है)

(नेपथ्य में रणवाद्य, विरुद्धक और अजात की युद्ध-यात्रा)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आलोच्य नाटक में अभिनेयता की दृष्टि से भले ही कुछ दोष दिखाई दें लेकिन फिर भी इसे आधुनिक रंगमंच पर बड़े ही सुन्दर ढंग से मंचित किया जा सकता है।

6. **उद्देश्य:** प्रसाद के नाटकों का मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति का चित्रण करना है। अतीत की गौरवपूर्ण झाँकी प्रस्तुत करते समय प्रसाद ने वर्तमान को श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा दी है। डॉ० महानन्द वर्मा का मत है- “प्रसाद की समस्त रचनाओं के पीछे एक स्वस्थ दृष्टिपूर्ण परिस्थितियों के बीच सुख प्राप्ति, समाजोत्कर्ष, देश-प्रेम, रुढ़िवाद का नाश, प्राचीन भारतीय संस्कृति का आदर्श रूप, नारी-गौरव आदि आदर्शपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति प्रसाद जी के साहित्य में यत्र-तत्र देखने को मिलती है।”

उनके ‘अजातशत्रु’ नाटक में कोई एक उद्देश्य न होकर कई उद्देश्य दिखाई देते हैं। प्रथम तो उन्होंने उस समय के समाज पर बौद्ध संस्कृति के प्रभाव का चित्रण किया है। दूसरे, उन्होंने राजनीतिक सफलता-असफलता, षडयंत्र आदि को दिखाकर वर्तमान के लिए संदेश प्रस्तुत किया है। क्योंकि मानव ने सदैव ही अतीत से प्रेरणा पाकर वर्तमान को संवारा है। अतः उद्देश्य की दृष्टि से यह नाटक आज भी प्रासंगिक है।

7. **भाषा शैली:** प्रसाद की नाटकीय भाषा पर क्लिष्टता का आरोप लगाया जाता है। उसमें दुरुहता का दोषारोपण भी किया जाता है। परन्तु भाषा के संबंध में प्रसाद जी ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है, जिसे डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है- “भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषाओं का अजायबघर बनाना पड़ता है, जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता

है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असंभव है। इसके अतिरिक्त इस विषय की अधिक आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने कितने विदेशियों को हम अपनी ही तरह हिन्दी बोलते समझते पाते हैं। जहां अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर हम इतने बड़े अभिनय को नकल और अभिनय न समझकर सच्ची घटना मानते हैं और उसी के साथ हंसते-रोते, सुख भाषा प्रकट करते हैं, वहां ऐसी बात व्यर्थ है। अतएव भाषा विविधता के लिए आग्रह न करना ही हितकर है। स्वरूप भिन्नत्व केवल वेषभूषा से ही व्यक्त कर देना चाहिये।”

इस प्रकार वे अपने नाटकों में अनेक भाषाओं का मिश्रण नहीं चाहते थे। यही कारण था कि इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है, यथा-

मल्लिका : “चंद्र, सूर्य, शीतल, उष्ण, क्रोध, करुण, द्वेष, स्नेह का द्वंद्व संसार का मनोहर दृश्य है।... स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशवत्ति वाले क्रूरकर्मी पुरुषों को कोमल तथा करुणाप्लुप करें, कठोर पौरुष के अनंतर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है- उस स्नेह, शीलतला, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा।”

शैली की दृष्टि से ‘अजातशत्रु’ में भावात्मक, आलंकारिक, सूक्ति-प्रधान, भावात्मक और हास्य-व्यंग्य पूर्ण शैली दृष्टिगोचर है। हास्य-व्यंग्यात्मक शैली का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

छलना : बेटी पद्मा! चल! इसी से कहते हैं कि सौत काठ की भी बुरी होती है - देखी निर्दयता - अजात को यहां न आने दिया।

वासवी : चल, चल, लड़ मत कंगालिन।

तात्त्विक दृष्टि से आलोच्य नाटक का समग्र विवेचन करने के उपरांत कहा जा सकता है कि नाट्यकला की दृष्टि से ‘अजातशत्रु’ नाटक अत्यधिक सशक्त एवं सफल सिद्ध हुआ है। इसकी कथावस्तु, भाषा-शैली है तथा उद्देश्य की अनेकता और अभिनेयता की सफलता इसकी महती विशेषता है। वस्तुतः ‘अजातशत्रु’ नाटक प्रसाद की नाट्यकला की श्रेष्ठ कृति है।

4. अजातशत्रु : संवाद योजना

नाटक के स्वरूप-विधान में संवादों को मूल विधायक तत्वों में माना जाता है, क्योंकि नाटक के समस्त कार्य-व्यापार को कथोपकथन ही संपादित करते हैं। यद्यपि प्रत्येक साहित्यिक विधा में संवादों का महत्वपूर्ण स्थान होता है लेकिन कथाकार की अपेक्षा नाटककार इस संदर्भ में कुछ अधिक प्रतिबद्ध रहता है कथाकार अपने भावों को अपने शब्दों में भी व्यक्त कर सकता है किन्तु नाटककार को इतनी स्वतन्त्रता नहीं होती। नाटककार तो पात्रों और उनके संवादों को ही अपने भाव-संप्रेषण का माध्यम बना सकता है, अपने कथनों से नहीं। इस प्रकार संवादों का सीधा संबंध पात्रों के चरित्र-चित्रण और कथावस्तु के विकास से है। नाटक में प्रयुक्त संवाद अधिक पात्रानुकूल, स्वाभाविक, संक्षिप्त, सरल एवं प्रभावोत्पादक होंगे, नाटकीय घटना और चरित्रों में उतनी ही सजीवता आएगी। नाटककार में चुस्त एवं प्रसंगानुकूल कथोपकथन प्रस्तुत करने की क्षमता होनी चाहिये क्योंकि गटे हुए कथोपकथनों से ही नाटक में चित्रित देशकाल एवं वातावरण को चित्रित किया जा सकता है। नाटक के पात्रों की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों का साक्षात् चित्र भी संवादों के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता है। नाटक के उद्देश्य एवं समस्या को भी संवादों के माध्यम से ही उजागर किया जा सकता है। अतः संवादों के अभाव में नाटक की कथावस्तु भी निर्जीव हो जाती है। संवादों में भावी घटनाओं की ओर संकेत करने की क्षमता होनी चाहिये।

‘अजातशत्रु’ नाटक में प्रयुक्त संवादों के गुणों को हम निम्नलिखित उपशीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं, यही वर्गीकरण विवेचन की सुविधा की दृष्टि से ही किया जा रहा है-

- स्वाभाविकता:** ‘अजातशत्रु’ नाटक के संवाद स्वाभाविक तो हैं ही, साथ ही वे अत्यन्त सजीव भी हैं। उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता और अस्वाभाविकता दृष्टिगत नहीं होती। वे पाठक और दर्शक के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है-

समुद्रदत्त: देवि! करुणा और स्नेह के लिए तो स्त्रियां जगत में हुई हैं, पुरुष भी क्या वही हो जायें?

पद्मावती: चुप रहो समुद्र! तथा क्रूरता ही पुरुषार्थ का परिचय है ऐसी चाटुक्तियां भावी शासक को अच्छी नहीं बनाती।

छलना: यह तुम्हारा अविचार है। कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।

पद्मावती: माँ यह क्या कह रही हो! कुणीक मेरा भाई है, मेरे सुख की आशा है, मैं उसे कर्त्तव्य क्यों न बताऊँ? क्या उसे चाटुकारों की चाल में फंसते देखूँ और कुछ न कहूँ।

छलना: तो क्या तुम उसे बोदा और डरपोक बनाना चाहती हो! क्या निर्बल हाथों से भी कोई राजदंड ग्रहण कर सकता है?
- संक्षिप्तता:** नाटक में दीर्घ और संक्षिप्त दोनों प्रकार के संवाद प्रयुक्त होते हैं, किन्तु संक्षिप्त संवाद-योजना ही अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है। नाटक में प्रयुक्त लम्बे-लम्बे संवादक कथानक की रोचकता एवं नाटकीयता को समाप्त कर उसे उपदेशात्मक बना देते हैं। दीर्घ संवादों के कारण रंगमंच पर उपस्थित अभिनेताओं पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि जिस समय एक पात्र दीर्घ संवादों का उच्चारण कर रहा होगा उस समय मंच पर उपस्थित शेष पात्रों

को मूर्तिवत् खड़ा रहना पड़ता है। दूसरे, एक ही पात्र को दीर्घ समय तक बोलते रहने पर, दर्शक या पाठक ऊब जाता है। अतः जो संवाद जितना संक्षिप्त होगा, वह उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। 'अजातशत्रु' नाटक में अधिकतर संवाद संक्षिप्त ही हैं और कथा की गति को तीव्रता से आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुए हैं, संक्षिप्त संवादों का यह उदाहरण अवलोकनीय है-

श्यामा: शैलेन्द्र...

शैलेन्द्र: क्यों प्रिये!

श्यामा: प्यास लगी है।

शैलेन्द्र: क्या पियोगी?

श्यामा: जल!

शैलेन्द्र: प्रिये! जल तो नहीं है। यह शीतल पेय है- पी लो।

श्यामा: विष! ओह सिर घूम रहा है। मैं बहुत पी चुकी हूँ। अब...जल... भयानक स्वप्न! क्या तुम मुझे जलते हुए हलाहल की मात्रा पिला दोगे।

शैलेन्द्र: छिः! यह क्या कह रही हो? कोई स्वप्न देख रही हो? लो थोड़ी पी लो।

श्यामा: मैं अपने जीवन भर मैं तुम्हीं को प्यार किया है। तुम मुझे धोखा तो नहीं दोगे? ओह! कैसा भयानक स्थान। उसी स्वप्न की तरह...

शैलेन्द्र: क्या बक रही हो! सो जाओ, वन विहार से थकी हो।

श्यामा: क्यों यहां ले आए। क्या घर में सुख नहीं मिलता था?

शैलेन्द्र: कानन की हरी-भरी शोभा देखकर जी बहलाना चाहिये, क्यों तुम इस प्रकार बिछली जा रही हो।

इस प्रकार की संक्षिप्त संवाद-योजना नाटक में सर्वत्र देखी जा सकती है।

3. **पात्रों के चरित्र विकास में सहायक:** किसी भी नाटक के संवाद उसके पात्रों के चरित्र को विकसित करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। संवादों के माध्यम से एक ओर पात्रों के स्वयं के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है तो दूसरी ओर नाटक के अन्य पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करने में सहायता मिलती है। क्योंकि नाटक में नाटककार अपनी ओर से किसी भी पात्र के संबंध में कुछ नहीं कहता। इसलिए वह अपने पात्रों के संवादों के माध्यम से ही उनके चरित्र का चित्रण करता है। नाटकों में प्रायः दो तरह के संवाद देखने को मिलते हैं-एक तो वे जो दो पात्रों के वार्तालाप द्वारा उन्हीं के चरित्र की विशेषताओं को उजागर करते हैं और दूसरे वे जो दो पात्रों के वार्तालाप द्वारा किसी तीसरे व्यक्ति की चारित्रिक दुर्बलता-सबलता का परिचय देते हैं। प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' में दोनों ही प्रकार के संवादों का प्रयोग किया है। सर्वप्रथम वार्तालाप करने वाले पात्रों के निजी चरित्रांकन में सहायक संवाद-योजना का उदाहरण दृष्ट्य है-

छलना: शैलेन्द्र नाम के डाकू ने द्वंदयुद्ध में आह्वान करके फिर धोखा देकर कौशल के सेनापति को मार डाला। सेनापति के मर जाने से सेना घबरायी थी, उसी समय अजात ने आक्रमण कर दिया और विजयी हुआ-काशी पर अधिकार हो गया।

वासवी: तब इतना घबराती क्यों हो? अजात को रण-दुर्मद साहसी बनाने के लिए ही तो तुम्हें इतनी उत्कंठा थी। राजकुमार को तो ऐसी उद्धत शिक्षा तुम्हीं ने दी थी, फिर उलाहना क्यों?

- छलना:** उलाहना क्यों न दूं-जबकि तुमने जान-बूझकर यह विप्लव खड़ा किया है। क्या तुम इसे नहीं दबा सकती थी, क्योंकि वह तो तुम्हारे पिता से तुम्हें मिला हुआ प्रांत था।
- वासवी:** जिसने दिया था, यदि वह ले ले, तो मुझे क्या अधिकार है कि मैं उसे न लौटा दूं? तुम्हीं बताओ कि मेरा अधिकार छीनकर जब आर्यपुत्र ने तुम्हें दे दिया, तब भी मैंने कोई विरोध नहीं किया था?
- छलना:** यह ताना सुनने में नहीं आयी हूं। वासवी, तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आयी हूं।
- बिंबसार:** तो राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी? यह तो एक सामान्य अनुचर भी कर सकता था।
- छलना:** किंतु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेशा भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही करता।

उपर्युक्त उदाहरण में वासी के कथनों से उसकी विनम्रता, शालीनता और अहिंसाप्रियता का पता चला है, जबकि छलना के कथनों को सुनकर दर्शकों को यह परिचय मिल जाता है कि वह एक हिंसाप्रिय और कुटिल बुद्धि की नारी है।

अब एक ऐसा उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें वार्तालाप के समय किसी अन्य पात्रों की चारित्रिक दुर्बलता-सबलता का उद्घाटन होता है।

- वासवी:** यह तुम्हारी उदारता है, किंतु हम लोगों को किस बात की शंका है जो तुम व्यस्त हो?
- जीवक:** निष्ठुर देवदत्त के कुचक्र से महाराज की जीवन-रक्षा होनी ही चाहिए।
- बिंबसार:** आश्चर्य! यह मैं नया सुन रहा हूं! जीवक! मुझे भ्रांति में न डालो, विष का घड़ा मेरे हृदय पर न ढालो। भला अब मेरे प्राण से मगध-साम्राज्य का क्या संबंध? देवदत्त, मुझसे क्यों इतना असंतुष्ट है?
- जीवक:** बुद्धदेव की प्रतिद्वंद्विता ने उसे अंधा कर दिया है-महत्वाकांक्षा उसे एक गर्त में गिरा रही है। उसकी यह आशा तब तक सफल न होगी, जब तक आप जीवित रहकर गौतम की प्रतिष्ठा बढ़ाते रहेंगे और उनकी सहायता करते रहेंगे।
- बिंबसार:** मूर्खता, नहीं-नहीं, यह देवदत्त की क्षुद्रता है। भला आत्मबल या प्रतिभा किसी की प्रशंसा के बल से विश्व में खड़ी होती है, अपना अवलंब वह स्वयं है, इसमें मेरी इच्छा या अनिच्छा क्या? वह दिव्य-ज्योति स्वतः सबकी आंखों को आकर्षित कर रही है। देवदत्त का विरोध उसे केवल उन्नति दे सकेगा।
- जीवक:** देव! फिर जो भी ईर्ष्या की पट्टी आंखों पर चढ़ाये हैं, वे इसे देख नहीं सकते। अब मुझे क्या आज्ञा है, क्योंकि यह जीवन अब आप ही की सेवा के लिए-उत्सर्ग है।

उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त की क्षुद्रता व ईर्ष्या की भावना की अभिव्यक्ति हुई है तथा गौतम के दिव्य व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

4. **सरल और स्पष्ट:** 'अजातशत्रु' के संवाद कुछ स्थलों को छोड़कर सरल और स्पष्ट हैं। दुरुहता नाटक के कथ्य को प्रभावहीन बना देती है। संवादों की सरलता नाटक की अभिनेयता में भी सहायक है। पद्मावती, अजातशत्रु, वासवी और छलना का यह संवाद उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है-

- पद्मावती: माँ! बहुत हुआ, अन्यथा तिरस्कार न करो। मैं आज ही चली जाऊंगी।
- वासवी: वत्स कुणीक! कई दिनों से तुमको देखा नहीं! मेरे मन्दिर में इधर क्यों नहीं आए? कुशल तो है?
- अजातशत्रु: नहीं माँ, मैं तुम्हारे यहां नहीं आऊंगा, जब तक पद्मा घर न जाएगी।
- वासवी: क्यों! पद्मा तो तुम्हारी बहिन ही है। उसने क्या अपराध किया है? वह तो बड़ी सीधी लड़की है।
- छलना: (क्रोध से) वह सीधी और तुम सीधी। आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।
- वासवी: छलना! बहिन! यह क्या कह रही हो? मेरे वत्स कुणीक! प्यारा कुणीक! हां भगवन् मैं उसे देखने न पाऊंगी? मेरा क्या अपराध।

5. **कथानक के विस्तार में सहायक:** कथानक के विस्तार का अभिप्राय है कि कथा के आगे बढ़ने के साथ-साथ उसके पिछले रहस्यों का ज्ञान भी दर्शकों को हो जाए तथा जो कथानक की विश्रंखलित कड़ियों को जोड़ने का काम करता है। प्रसाद जी ने भी आलोच्य नाटक में इस प्रकार के संवादों का प्रस्थापन किया है। कथानक के विस्तार से संबंधित एक उदाहरण दृष्ट्य है -

- रानी: अच्छा तो प्रबंध ठीक करो। सहायता मैं दूंगी। पर यहां भी अच्छा खेल हुआ।
- कारायण: हम लोग भी तो उसी को देखने आए हैं। आश्चर्य! क्या जाने कैसे वह स्त्री जी उठी। नहीं तो अभी ही गौतम का सब महात्मापन भूल जाता।
- रानी: अच्छा हम लोगों को शीघ्र चलना चाहिये, सब जनता नगर की ओर जा रही है। देखो, सावधान रहना। मेरा रथ भी बाहर खड़ा होगा।
- कारायण: कुछ सेना अपने निज की प्रस्तुत कर लेता हूं, जो कि राजसेना से बराबर मिली-जुली रहेगी और काम के समय हमारी आज्ञा मानेगी।
- रानी: और भी एक बात कहनी है-कौशांबी का दूत आया है। सम्भवतः कौशांबी और कौशल की सेना मिलकर अजातशत्रु पर आक्रमण करेंगी। उस समय तुम क्या करोगे?
- कारायण: उन वीरों की तरह मगध पर आक्रमण करूंगा और संभवतः इस बार अवश्य अजातशत्रु को बंदी बनाऊंगा। अपने घर की बात अपने घर में ही निपटेगी।

इस उदाहरण में किए गए वार्तालाप द्वारा नाटककार ने पात्रों के संबंध में आवश्यक सूचनाएं प्रदान करके कथानक का विकास किया है। प्रथम सूचना तो यही है कि जिस श्यामा नामक स्त्री को म तप्रायः समझकर उठा लाए थे, उसका जीवित होना। दूसरे, कारायण द्वारा प्रसेनजित पर आक्रमण करने के लिए अपनी गुप्त सेना का संगठन करना तथा अन्य सूचनाएं भी समाहित हैं।

संवादों के माध्यम से ऐसी घटना या तथ्यों की सूचना दिलवा दी जाती है, जिनको रंगमंच पर दिखाना असंभव रहता है। एक उदाहरण दृष्ट्य है-

- दासी: महाराज भागिए। महादेवी हटिए - वह देखिए आग की लपट इधर ही चली आ रही है, नयी महारानी के महल में आग लग गई है - और उनका पता नहीं है। नवीना मरती हुई कह रही थी कि मागंधी स्वयं मरी और मुझे भी उसने मार डाला- वह महाराज का सामना नहीं करना चाहती थी।
- उदयन: क्या षडयंत्र! अरे क्या मैं पागल हो गया था। देवि! अपराध क्षमा हो- (पद्मावती के सामने घुटने टेकता है।)

पद्मावती: उठिए, उठिए महाराज! दासी को लज्जित न कीजिए।

वासवदत्ता: यह प्रणय-लीला दूसरी जगह होगी - चलो हटो, यह देखो लपट फैल रही है।

X X X X X X X X

पहला: जब भगवान् से भिक्षुओं ने कहा कि देवदत्त आपके प्राण लेने आ रहा है, उसे रोकना चाहिए...।

दूसरा: तब?

पहला: तब इन्होंने यही कहा कि घबराओ नहीं, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नहीं आ सकता, उसमें इतनी शक्ति नहीं, क्योंकि उसमें द्वेष है।

दूसरा: फिर क्या हुआ?

पहला: यही कि देवदत्त समीप आने पर प्यास के कारण उस सरोवर में जल पीने उतरा। कहा नहीं जा सकता कि उसे क्या हुआ - कोई ग्राह पकड़ ले गया कि उसने लज्जा में डूबकर आत्महत्या कर ली। वह फिर दिखाई न पड़ा।

उपर्युक्त प्रथम संवाद में नाटककार ने दर्शकों को इस तथ्य की सूचना दे दी कि मागंधी अपने महल में आग लगाकर मर गई है और दूसरे संवाद में देवदत्त भी तालाब में डूबकर मर चुका है। तालाब और आग के दृश्य को मंच पर नहीं दिखाया जा सकता इसीलिए नाटककार को इस प्रकार के संवादों का सहारा लेना पड़ा है।

6. **पात्रानुकूल संवाद** : नाटक के संवाद पात्रों के बौद्धिक स्तर, पद और गरिमा के अनुरूप ही होने चाहिए। पात्र की प्रकृति, उसके स्वभाव, उसके कृतित्व और पद की अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से ही हो जाती है। यदि किसी ग्रामीण या अशिक्षित पात्र के मुख से शुद्ध परिमार्जित व परिनिष्ठित भाषा से युक्त संवाद का प्रयोग करवाया जाएगा तो उससे पात्र के चरित्र-चित्रण व कथानक के विकास में दोष आ जाता है। अजातशत्रु में वीरोचित महानता है, शक्तिमती एवं छलना में ईर्ष्या, द्वेष एवं कपट की भावना है, देवदत्त और समुद्रगुप्त में प्रतिहिंसा की भावना है, मल्लिका और गौतम में क्षमा की प्रधानता है- इन पात्रों की प्रवृत्ति के अनुरूप ही नाटककार ने संवादों की योजना की है। निम्नलिखित उद्धरण में मल्लिका की क्षमाशीलता का पता चलता है-

मल्लिका: कारायण! यह तुम्हारे सम्राट हैं - जाओ, इन्हें राजधानी तक सकुशल पहुंचा दो, मुझे तुम्हारे बाहुबल पर भरोसा है, और चरित्र पर भी।

प्रसेनजित: कौन कारायण, सेनापति बंधुल का भागिनेय?

कारायण: हां श्रीमान! वही कारायण अभिवादन करता है।

प्रसेनजित: कारायण! माता ने आज्ञा दी है, तुम मुझे कल पहुंचा दोगे? देखो जननी की यह मूर्ति! विपद में बच्चे की तरह उसने मेरी सेवा की है। क्या तुम इसमें भक्ति करते हो? यदि तुमने इन दिव्य चरणों की भक्ति पायी है, तो तुम्हारा जीवन धन्य है। (मल्लिका का पैर पकड़ता है।)

मल्लिका: उठिये सम्राट! उठिये! मर्यादा भंग करने का आपको भी अधिकार नहीं है।

7. **मनोरंजनपूर्णता** : 'अजातशत्रु' नाटक में 'प्रसाद जी' ने छलना और वासवी के प्रसंग को जोड़कर हास्य और मनोरंजन का पुट भी रखा है। यद्यपि इस मनोरंजन के अन्तर्गत व्यंग्यात्मक बहुत ही सुन्दर हास्य की अवतारणा हो गई है। उदाहरण अवलोकनीय है-

- पद्मावती: माँ! छोटी माँ पूछती है, क्या मेरा अपराध क्षम्य है?
- वासवी: (मुस्करा कर) - कभी नहीं, इसने कुणीक को उत्पन्न करके मुझे बड़ा सुख दिया, जिसका इस छोटे-से हृदय से मैं उपभोग नहीं कर सकती। इसलिए मैं इसे क्षमा नहीं करूंगी।
- छलना: (हंसकर) - तब तो बहिन, मैं भी तुमसे लड़ाई करूंगी, क्योंकि मेरा दुःख हरण करके तुमने मुझे खोखली कर दिया; हृदय हल्का होकर बेकाम हो गया। अरे, सपत्नी का काम तो तुम्हीं ने कर दिखाया। पति को तो बस मैं किया ही था, मेरे पुत्र को भी गोद में ले लिया। मैं...।
- वासवी: छलना! तू नहीं जानती, मुझे एक बच्चे की आवश्यकता थी इसलिए तुझे नौकर रख लिया था - अब तो तेरा काम नहीं है।
- छलना: बहिन, इतनी कठोर न हो जाओ।
- वासवी: (हंसती हुई) - अच्छा जा, मैंने तुझे अपने बच्चे की धात्री बना दिया। देख, अबकी अपना काम ठीक से करना, नहीं तो फिर...।

8. **काव्यात्मक संवाद** : प्रसाद स्वाभावतः कवि थे, इसी से उनके सभी नाटकों में काव्यात्मकता का गुण विद्यमान है। 'अजातशत्रु' में काव्यात्मक शैली के अनेक संवादों की योजना की गई है। श्यामा के संवादों में काव्यात्मकता देखते ही बनती है-

श्यामा: (स्वगत) - रात्रि चाहे कितनी भयानक हो - किंतु प्रेममयी मरणी के हृदय से भयानक वह कदापि नहीं हो सकती। वह देखो, पवन मानो किसी डर से धीरे-धीरे सांस ले रहा है - किसी आतंक से पक्षिवंद अपने घोंसलों में जाकर छिप गए हैं। आकाश आपस में इंगित कर रहे हैं! संसार किसी भयानक समस्या से निमग्न-सा प्रतीत होता है।

X X X X X X X X

श्यामा: स्वर्ण-पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा - जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलता है? मुक्त नील गगन में अपने छोटे-छोटे पंख फैलाकर जब वह उड़ती है, तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है उसके सामने तो सोने के पिंजड़े में उसका गान क्रंदन ही है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'अजातशत्रु' के संवाद नाटकीय संवादों की सभी विशेषताओं से युक्त है। ये स्वाभाविक और मार्मिक होने के साथ-साथ सरलता, सशक्तता, वेगपूर्णता और प्रवाहमयता के गुणों से परिपूर्ण भी है। प्रसाद का कवि हृदय भी उनमें स्थल-स्थल पर प्रकट हुआ है। संवादों के माध्यम से पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का भी उद्घाटन होता है। पात्रों के कथोपकथन से उनके स्वयं के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार 'अजातशत्रु' नाटक में प्रयुक्त संवाद अपने उपर्युक्त गुणों के कारण विशिष्ट बन गए हैं और जयशंकर प्रसाद के उत्कृष्ट संवाद-कौशल का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

5. अजातशत्रु : देशकाल और वातावरण

साहित्य में - विशेष रूप से कथा साहित्य में - देशकाल एवं वातावरण की संयोजना करना आवश्यक होता है, इसीलिए इसे एक पथक तत्व के रूप में स्वीकृति मिली है। नाटक के अन्तर्गत तो देशकाल एवं वातावरण का अत्यधिक महत्व है क्योंकि बिना उपयुक्त देशकाल का निर्माण किए नाटककार अपने अभिप्रेत अथवा वर्ण्य-विषय को संप्रेषित करने में असमर्थ रहता है। देशकाल की सृष्टि किए बिना उसका कथानक पंगु-सा हो जाता है। पात्रों का आचार-व्यवहार, उनके कार्य-व्यापार, वस्त्राभूषण विधान और उनकी भाषा आदि के प्रति नाटककार यदि सजग नहीं है तो वह अपने में यथार्थता और सजीवता की सृष्टि कदापि नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि उसे जिस युग के कथानक को प्रस्तुत करना होगा है, बिना उपर्युक्त सतर्कताओं के वह उसे युगानुकूल रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाएगा। यहां नाटककार की सूझबूझ, उसका अनुभव और परिवेश-सृष्टि की सामर्थ्य ही उसके नाटक को सफल से सफलतम बनाने में योगदान देती है। ऐतिहासिक नाटकों में तो बिना उचित देशकाल के चित्रण के कथ्य सम्प्रेषित हो ही नहीं सकता। वास्तव में ऐतिहासिक नाटकों का देशकाल चित्रण ऐसे नाटकों का प्राणतत्व होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाटक में जिस काल विशेष की कथा प्रस्तुत की जा रही हो तो उसमें उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का भी सफलता के साथ चित्रण होना पहचानार्थक है। इसमें तनिक सी असावधानी ऐतिहासिक नाटक को असफलता की ओर मोड़ देती है।

प्रसाद के नाटक भारतीय इतिहास के उस अध्याय को लेकर चले हैं जो अपनी सर्वतोमुखी सम्पन्नता के कारण 'स्वर्णयुग' कहलाता है। यह काल भारतीयों के राजनीतिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक और धार्मिक उत्कर्ष की चरम सीमा है। अतः उनके नाटकों में उन विषयों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। उन्होंने अपने नाटकों में देशकाल की सीमाओं को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। इसी तथ्य पर बल देते हुए आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा है- 'वे इतिहास को केवल कुछ राजाओं एवं कतिपय तिथियों में ही सीमित नहीं करते। वे तो इतिहास को मानव निर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्य की इन सारी प्रगतियों का केन्द्र समसामयिक दर्शन मानते हैं।' इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद के देशकाल-वातावरण योजना की प्रशंसा व्यक्त करते हुए कहा है- 'उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप से की है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है - फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र- संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामंतीय संस्कृति, इन तीनों को लांघकर आर्य-संस्कृति की छाया में पहुंच जाते हैं। यह पुनरुत्थान इतने सहज ढंग से हाता है कि दो हजार वर्ष का महान अन्तराल एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, चरित्र और बातचीत सभी देशकाल के अनुकूल हैं।

प्रसाद जी के आलोच्य नाटक में बौद्धकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक वातावरण के संबंध में निम्नलिखित स्थितियों का चित्रण हुआ है, अर्थात् 'अजातशत्रु' नाटक में चित्रित देशकाल एवं वातावरण को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है-

1. **तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का चित्रण:** 'अजातशत्रु' नाटक में मुख्यतः तीन शासक

प्रसेनजित, उदयन और बिंबसार क्रमशः तीन राज्यों से जुड़े हुए हैं- कौशल, कौशांबी और मगध। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध काल की राजनीति में स्थिरता का अभाव था। उस समय के राजकुमारों में राज्य के उत्तराधिकारी की तीव्र इच्छा रहती थी, भले ही इसके लिए उन्हें अपने पिता को ही सिंहासन से क्यों न उतारना पड़े। नाटक में अजातशत्रु ने भी अपने पिता बिंबसार को वानप्रस्थ आश्रम की ओर अग्रसर करके स्वयं सिंहासन की बागडोर संभाली। आलोच्य नाटक के अंत में अजातशत्रु को पिता का हत्यारा सिद्ध किया है। दूसरी ओर कौशल नरेश प्रसेनजित के पुत्र विरुद्धक की भी यही इच्छा थी कि वह अजातशत्रु की भांति सिंहासन पर बैठे। उस समय के शासक ऐसी स्थिति में कठोर नीतियों का आश्रय लेकर विद्रोही राजकुमारों की इच्छाओं का दमन कर देते थे। विरुद्धक और प्रसेनजित के मध्य हुए वार्तालाप से राजनीति का यह रूप स्पष्ट है-

विरुद्धक : मैंने तो सुना है कि महाराज बिंबसार ने वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार किया है और उस अवस्था में युवराज का राज्य संभालना अच्छा ही है।

प्रसेनजित : विरुद्धक! क्या अजात की ऐसी परिपक्व अवस्था है कि मगध नरेश उसे साम्राज्य का बोझ उठाने की आज्ञा दें?

विरुद्धक : पिताजी! यदि क्षमा हो तो मैं यह कहने में संकोच न करूंगा कि युवराज को राज्य संचालन की शिक्षा देना महाराज का ही कर्तव्य है।

प्रसेनजित : (उत्तेजित होकर) - और आज तुम दूसरे शब्दों में उसी शिक्षा को पाने का उद्योग कर रहे हो। क्या राज्याधिकार ऐसी प्रलोभन की वस्तु है कि कर्तव्य और पितृ भक्ति एक बार ही भुला दी जाए।

विरुद्धक : पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार मांगे, तो उसमें दोष ही क्या है?

प्रसेनजित : अभी से इसका गर्व तोड़ देना चाहिये - (प्रकट) - आज से यह निर्भिक किंतु अशिष्ट-बालक अपने युवराज पद से वंचित किया गया। और, इसकी माता का राजमहिषी का-सा सम्मान नहीं होगा-केवल जीविका-निर्वाह के लिए उसे राजकोष से व्यय मिला करेगा।

इस प्रकार पिता द्वारा अपमानित होकर वह राज्य छोड़कर चला जाता है और अजातशत्रु को अपने राज्य पर युद्ध करने के लिए आमंत्रित करता है। निष्कर्षतः प्रसाद जी आलोच्य नाटक में उस समय की राजनीतिक गतिविधियों को पष्टबद्ध करने में सफल रहे हैं।

2. **धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण:** 'अजातशत्रु' नाटक में वर्णित तीनों राज्यों में बौद्ध धर्म की छवि स्पष्टतः परिलक्षित होती है। गौतम के उपदेशों का जादू प्रत्येक व्यक्ति के सिर चढ़कर बोल रहा था। रंक से लेकर राजा तक उससे प्रभावित थे, इसीलिए मगध नरेश बिंबसार गौतम के आगमन पर उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं-

करुणामूर्ति हिंसा से रंगी हुई वसुन्धरा आपके चरणों के स्पर्श से अवश्य ही स्वच्छ हो जाएगी। उसकी कलंक-कालिमा धुल जाएगी।"

"भगवान की शांति वाणी की धारा-प्रलय की नरकाग्नि को भी बुझा देगी- मैं क तार्थ हुआ।"

दूसरी ओर कौशांबी नरेश उदयन और उनकी पत्नी पद्मावती एवं वासवदत्ता भी गौतम के उपदेशों को सुनती हैं, इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं उदयन कहते हैं-

"मगध से गौतम नाम के महात्मा आए हैं, जो अपने को 'बुद्ध' कहते हैं। देवी पद्मावती के मंदिर में उनका संघ

निमंत्रित होता था और वे उपदेश देते थे। महादेवी वासवदत्ता भी वहां नित्य आती थी।”

- मागंधी : (बात काटकर) तब फिर मुझे क्यों पूछा जाए।
- उदयन : (आदर से) - नहीं-नहीं, यह तो तुम्हारी भूल थी, बुलवाने पर भी नहीं आयी। वाह! सुनने के योग्य उपदेश होता था। अभी तो कई दिन होगा। हमने अनुरोध किया है कि वे कुछ दिनों तक ठहर कर कौशांबी में धर्म का प्रचार करें।”
- गौतम का बिंबसार पर इतना अधिक प्रभाव था कि उसने गौतम का आदेश मानकर अपने राज्य-सिंहासन पर अजातशत्रु को बिठा दिया और स्वयं वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया-
- गौतम : तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण भोग से कुछ विश्राम लो। क्यों राजकुमार, तुम राज्य का कार्य मंत्रिपरिषद की सहायता से चला सकोगे।

इससे स्पष्ट है कि संत और सिद्ध पुरुष अपने-अपने धार्मिक विचारों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से विभिन्न राज्यों की राजनीतिक गतिविधियों में भी हस्तक्षेप करते रहते थे। देवदत्त जैसे धर्म प्रचारक का तो राजनीतिक हस्तक्षेप इस हद तक बढ़ गया था कि निर्मल, शान्त एवं सुप्रवृत्ति के संत गौतम को भी ढोंगी करार दे दिया-

- देवदत्त : वत्स मैं तेरी कार्यवाही से प्रसन्न हूँ। हां फिर क्या हुआ - क्या अजात का राजतिलक हो गया?
- समुद्रगुप्त : शुभ मुहूर्त में सिंहासन पर बैठना ही शेष है और परिषद का कार्य तो उनकी देख-रेख में होने लगा। कुशलता से राजकुमार ने कार्यारम्भ किया है, किन्तु गौतम यदि न चाहते तो यह कार्य सरलता से न हो सकता।
- देवदत्त : फिर उसी ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा! अरे समुद्र, यदि मैं इसकी चेष्टा न करता, तो यह सब कुछ न होता - लिच्छिवी कुमारी में इतना मनोबल कहाँ कि वह यों अड़ जाती।

वस्तुतः देवदत्त द्वारा उकसाई जाने पर छलना ने अपने पुत्र अजातशत्रु के लिए राज्य की हठ की थी। वह राज्य की गतिविधियों में हस्तक्षेप करते हुए अपनी दुष्ट चालों से ऐसी स्थिति लाने का प्रयास करता है, जिससे उसके धर्म की शिक्षाओं के प्रचार में कोई बाधा उत्पन्न न हो और उसके विरोधी धर्म प्रचारक राज्य से निष्काषित कर दिए जाएं। देवदत्त की तो यही आकांक्षा थी कि उसे राजदरबार में बुलाया जाए, जिससे वह अजातशत्रु से अपनी इच्छा के अनुकूल व्यवहार करवा सके। जब समुद्रदत्त यह बताता है कि युवराज की इच्छा है कि आपके सदुपदेश से राज्य सुशासित हो तो दिखवटी उत्तर देते हुए देवदत्त कहता है-

“यह झंझट भला मुझ विरक्त से कहाँ होगा। फिर भी लोकोपकार के लिए तो कुछ करना ही पड़ता है।”

सामान्यतया उस समय भिक्षुओं का सम्मान ही किया जाता था, इस बात का प्रमाण है- गौतम बुद्ध का आलोच्य नाटक में सर्वत्र सम्मान होते चित्रित किया गया है। प्रसाद जी ने गौतम को प्रभावशाली पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। उस युग की वास्तविक स्थिति को प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने अजातशत्रु को इतना प्रभावशाली नहीं बनाया जितना गौतम और मल्लिका को। इस प्रकार अजातशत्रु में जिस वातावरण को चित्रित किया है, वह बौद्ध धर्म के वर्चस्व का काल था और इसका प्रभाव पूरे समाज पर देखा जा सकता है।

3. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का चित्रण:** जहाँ तक सामाजिक स्थिति का प्रश्न है तो

हम कह सकते हैं कि उस युग में स्त्रियों को समान महत्व प्राप्त था। वे राजनीति में भी भाग लेती थीं। जब वासवी कौशल में कैद अजात को छुड़वाने के लिए जाती है तो छलना को मगध का सिंहान सौंपते हुए कहती है-

“वासवी : देखो, राज्य में आतंक न फैलने पावे। दढ़ होकर मगध का शासन करना! किसी को भी कष्ट न हो।”

उस समय में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था। राजा उदयन की रानी मागंधी अपने पति को छोड़कर काशी में श्यामा नामक वेश्या के रूप में जीवन-यापन करते हुए चित्रित की गयी है। छल-छद्म करने में वे डाकुओं से भी खतरनाक होती है, इस तथ्य का पता शैलेन्द्र के कथन से चलता है-

“तुमसे मिलने में मैं इसीलिए डरता था कि तुम रमणी हो और वह भी वारविलासिनी; मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियां डाकुओं से भी भयानक हैं।”

शैलेन्द्र के इस कथन की सत्यता तब सिद्ध होती है जब श्यामा अपने पर आशक्त समुद्रदत्त को अपने प्रेमी शैलेन्द्र के जीवन की रक्षा हेतु उसे बलि का बकरा बना देती है-

श्यामा : “जाओ बलि के बकरे, जाओ! फिर न आना। मेरा शैलेन्द्र - प्यारा शैलेन्द्र।”

समुद्रदत्त दण्डनायक के पास मुद्राएं लेकर जाता है, तो पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार ही दण्डनायक शैलेन्द्र को मुक्त करके समुद्रदत्त को शूली पर चढ़ा देता है। इतने पर भी शैलेन्द्र उस पर विश्वास नहीं करता। वह कहता है-

शैलेन्द्र : “(स्वगत) - सो गयी! आह! हृदय में एक वेदना उठती है- ऐसी सुकुमार वस्तु! नहीं-नहीं! किंतु विश्वास के बल पर ही इसने समुद्रदत्त के प्राण लिये! यह नागिन है, पलटते देर नहीं।”

उस समय में राजघरानों के अन्तर्गत बहु-विवाह की प्रथा भी थी, जिससे सौतिया डाह के कारण उनमें विवाद भी चलता रहता था। मागंधी और पद्मावती के मध्य इसीलिए तनाव हो जाता है क्योंकि मागंधी को यह बात अच्छी नहीं लगती कि महाराज उदयन उसके महल की अपेक्षा पद्मावती के महल में अधिक जाते रहते हैं, इसीलिए वह पद्मावती को महाराज की नजरों से गिराने के लिए षडयंत्र रचती है। वह उदयन से कहती है कि- “स्त्रियों के मन्दिर में उपदेश क्यों हो- उन्हें पतिव्रत छोड़कर किसी और भी धर्म की आवश्यकता है? ठीक इसी प्रकार कि सौतिया-डाह राजा बिंबसार की रानी वासवी और छलना के बीच दिखाई देती है। छोटी रानी छलना बात-बात पर बड़ी रानी वासवी को नीचा दिखाने का प्रयास करती रहती है और व्यंग्यमयी शब्दावली में बात करती है। उदाहरणस्वरूप अजातशत्रु और पद्मावती दोनों भाई-बहिन के साधारण से वाद-विवाद में छलना क्रोधपूर्ण वाणी में बात करती है-

अजातशत्रु : “नहीं मां, मैं तुम्हारे यहां नहीं आऊंगा, जब तक पद्मा घर न जाएगी।

वासवी : क्यों! पद्मा तो तुम्हारी ही बहिन है। उसने क्या अपराध किया है? वह तो बड़ी सीधी लड़की है।

छलना : (क्रोध से) वह सीधी और तुम सीधी! आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।

उस समय विवाह के अवसर पर पिता की ओर से पुत्री को दहेज देने की प्रथा भी थी। कौशल-नरेश ने अपनी पुत्री वासवी के विवाह के अवसर पर काशी प्रांत को दहेज में प्रदान किया था। जब तक बिंबसार मगध के राजसिंहान पर आसीन रहे तब तक काशी की आय

पर उसी का अधिकार रहा। दहेज देने की पुष्टि स्वयं वासवी के कथन से होती है- “काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता, आंचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिये और मगध-साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएं।

गौतम बुद्ध के समय में प्रेम विवाह भी होते थे। बाजिरा और अजातशत्रु का प्रेम विवाह, मांगंधी का गौतम से प्रेम और विवाह न कर पाने की पीड़ा और जीवन में उसका भटकाव इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

इस प्रकार देखने में आता है कि प्रसाद जी ने आलोच्य नाटक में सामाजिक वातावरण का जो चित्र खींचा है उसे देखकर उस युग का सम्पूर्ण वातावरण हमारी आंखों के समक्ष घूम जाता है।

आलोच्य नाटक में भारतीय संस्कृति के चित्रण से संबंधित डॉ० बच्चन सिंह का मत है- “मौर्यकालीन कथानक में उनका अपना युग बोलता है, गुप्तकालीन कथानक में उनके समय की प्रतिच्छवियां देखी जा सकती हैं। इन प्रतिच्छवियों में भारतीय संस्कृति का गत्यात्मक और आदर्शात्मक स्वरूप चित्रित हुआ है।” अगर हमें अपने इतिहास और संस्कृति की एक साथ जानकारी चाहिये तो प्रसाद के नाटकों से अच्छा विकल्प कोई दूसरा नहीं हो सकता। अतः प्रसाद के नाटक हमारी संस्कृति के अध्ययन के लिए भी उपयोगी हो गये हैं।

4. **आर्थिक स्थिति:** तत्कालीन युग में सम्पूर्ण उर्वरा भूमि पर राजा का ही अधिकार होता था। प्रजा से धन वसूल करने के लिए सभी नगरों में दण्डनायक नियुक्त किये जाते थे। राजघरानों में रहने वाले व्यक्ति निर्धनों की उपेक्षा ही करते थे। छलना के संवाद से इस कथन की पुष्टि होती है -

“पद्मा! तू क्या इसकी मंगल की कामना करती है? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है। क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसा मूलक है।

अतः कहा जा सकता है कि ‘अजातशत्रु’ नाटक में प्रसाद देश-काल की सीमाओं को सुरक्षित रखा है। भारतीय सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक पद्धतियों का सफल चित्रण आलोच्य नाटक के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रकार आलोच्य नाटक में प्रसाद जी को देशकाल और वातावरण की दृष्टि से अविश्वसनीय सफलता अर्जित हुई है।

6. अजातशत्रु : अभिनेयता

नाटक का स जन मूलतः अभिनयक के लिए ही होता है किन्तु कुछ नाटक कथानक और शैली के लिए भी लिखे जाते हैं। यद्यपि नाटक की पूर्णता अभिनय में ही है और अभिनय योग्य नाटकों में रंगमंच की आवश्यकताओं और प्रभाव का ध्यान रखा जाता है, लेकिन फिर भी अभिनय के अभाव में हम किसी भी नाटक को हेय नहीं ठहरा सकते। जो नाटक साधारण रंगमंच और दर्शकों के लिए अभिनय योग्य न समझा जाए वह एक विदग्ध समाज में अभिनेय हो सकता है।

‘प्रसाद’ जी के अधिकांश नाटक रंगमंच की दृष्टि से दोषपूर्ण और अव्यावहारिक हैं। कुछ तथ्य ऐसे हैं जो इस कथन के अनुकूल हैं और कुछ प्रतिकूल हैं। किसी भी नाटक के लिए यह कोई बड़े श्रेय की बात नहीं की उनका अभिनय न हो सके। अठारहवीं शती तक नाटकों का संबंध मात्र रंगमंच से था किन्तु पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के सम्पर्क के बाद नाटकों को पाठ्य रूप में भी ग्रहण किया जाने लगा। आलोचक इस तथ्य को विस्मय करके प्रसाद के नाटकों की गणना अभिनेय की श्रेणी में नहीं करते। इस संबंध में स्वयं प्रसाद का कथन विचारणीय है- “मेरी रचनाएं तुलसीदास शैली या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी तोली जानी चाहिये। मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर चार परदे मंगनी मांग लेती है और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोमचेवाले और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती है। ... यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि सम्पन्न सामाजिक हो और पर्याप्त कथन से स्पष्ट है कि आधुनिक रंगमंच पर प्रसाद के नाटकों की रंगमंचीय क्षमता पर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

प्रसाद और रंगमंच: प्रसाद की आलोचना करते हुए आलोचकों की दृष्टि शुद्ध साहित्यिक न होकर पारसी रंगमंच से प्रभावित थी। आधुनिक भारतीय रंगमंच पर उनके सभी नाटक मंचित हो सकते हैं। इस विषय में स्वयं प्रसाद का मत है- “रंगमंच की बाह्य बाधकता पर हम विचार करते हैं तो उसके इतिहास से यह प्रकट हो जाता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए अर्थात् रंगमंच को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्य की सुविधा जुटाना ही रंगमंच का काम है। रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएं। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है।”

प्रसाद के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने अभिनय का ध्यान अवश्य रखा था, परन्तु वे तत्कालीन पारसी थियेटरों के कुरुचिपूर्ण अभिनय से असंतुष्ट थे। वे साहित्यिक एवं कलात्मक नाटकों द्वारा अभिनय के स्तर और रंगमंच में सुधार लाने के पक्षपाती थे। उनका विचार था कि “रंगमंच पर सुशिक्षित एवं कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देशकाल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच अभ्युत्थान संभव है।”

अजातशत्रु और अभिनय शिल्प: कुछ विद्वान अभिनय और रंगमंच को एक ही मानते हैं किन्तु वास्तव में दोनों पथक-पथक तत्त्व हैं। रंगमंच के अन्तर्गत नाटकीय दृश्य विधान हैं और अभिनय में पात्र तथा उसके कार्य-व्यापार आते हैं। अभिनय को चार भागों में विभक्त किया जाता है-

1. **आंगिक (कायिक) अभिनय:** इसके अन्तर्गत अंगों द्वारा किया गया अभिनय आता है। इस

प्रकार के अभिनय के संकेत प्रस्तुत नाटक में स्थान-स्थान पर विद्यमान हैं, यथा-

श्यामा : (जगकर) - शैलेन्द्र! विश्वास! देखो कहीं... ओह भयानक ... (आँखें बंद कर लेती हैं)

शैलेन्द्र : तब देर क्या? कहीं कोई आ जाएगा! फिर - (श्यामा का गला घोंटता है, वह क्रंदन करके शिथिल हो जाती है) बस चलें, पर नहीं, धन भी आवश्यक है। (आभूषण उतार कर ले जाता है)

2. **वाचिक अभिनय:** पात्रों द्वारा वाणी से भावों की अभिव्यक्ति को वाचिक अभिनय कहा जाता है। इस अभिनय के उदाहरण तो नाटक में सर्वत्र विद्यमान हैं-

3. **सात्विक अभिनय:** रोमांच, भय, अश्रु, आश्चर्य और उत्सुकता आदि का प्रदर्शन ही इस प्रकार के अभिनय के अन्तर्गत आता है। जैसे-

शक्तिमती : (क्रोध से) - मल्लिका- सावधान! मैं जाती हूँ।

X X X X X

मागंधी : आज, आज मुझे बड़ा काम करना है, नवीना! नर्तकियों को शीघ्र बुला। मेरी वेश-भूषा ठीक है न - देख तो-

X X X X X

उद्यन : (क्रोध से) पापीयसी, देख ले यह तेरे हृदय का विष-तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिये न यह नया झरोखा है।

पद्मावती : (चौंककर खड़ी हो जाती है हाथ जोड़कर) - प्रभु! स्वामी! क्षमा हो!

4. **आहार्य अभिनय:** वेशभूषा या मेकअप को आहार्य अभिनय कहा जाता है। इस प्रकार के अभिनय का विवेच्य नाटक में अभाव है। इसे नाटककार ने निर्देशक के बुद्धि-कौशल पर छोड़ दिया है, लेकिन फिर भी प्रसाद जी ने कुछ संकेत अवश्य दिये हैं, यथा-

“वर-वधु के वेश में अजातशत्रु और बाजिरा तथा ... कारायण का प्रवेश।”

निष्कर्षतः ‘अजातशत्रु’ नाटक में प्रथम तीन प्रकार के अभिनय के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से यह एक सफल नाट्य कृति है।

‘अजातशत्रु’ में रंगमंचीयता और अभिनेयता: ‘प्रसाद’ की नाट्यकला पर अनेक प्रकार के आरोप लगाए गए हैं और उन्हें अभिनेयता की दृष्टि से सफल नहीं माना गया किन्तु ‘अजातशत्रु’ नाटक में रंगमंच और अभिनेयता संबंधी अनेक दोषों का परिहार हुआ है। इसका अभिनय सरलतापूर्वक किया जा सकता है क्योंकि इसमें वे सभी गुण हैं जो एक सफल रंगमंचीय नाटक में होते हैं। आधुनिक युग में नाटक को रंगमंच पर अभिनीत करने के लिए आदर्श-अवधि दो से ढाई घंटे मानी जाती है। पात्रों की संख्या कम हो तथा दर्शकों को ऊबा देने वाले लम्बे संवाद न हों और नाटक की भाषा सरल एवं सहज होनी चाहिये ताकि सामान्य दर्शक भी उसका आनन्द ले सकें। ‘अजातशत्रु’ नाटक की अभिनेयता को उपर्युक्त गुणों की कसौटी पर परखते समय निम्नलिखित बिन्दुओं में विभाजित कर सकते हैं अर्थात् अभिनय की सफलता की दृष्टि से इसकी कई विशेषताएं हैं-

1. **कथानक:** ‘अजातशत्रु’ में तीन अंक एवं 28 दृश्य विद्यमान हैं जो कथानक के विस्तार और आदर्श अवधि में रंगमंच पर अभिनीत न होने की सूचना दे रहे हैं। तीनों अंकों में क्रमशः 9, 10, 9 दृश्य समाहित हैं। प्रसाद जी ने इन दृश्यों का विभाजन दोषपूर्ण किया है क्योंकि सभी दृश्यों की घटना भिन्न-भिन्न स्थलों से संबंधित है जो नाटक के मंचन में समस्या पैदा करती है। किन्तु यह दोष पौराणिक रंगमंचों के आधार पर उजागर हुआ है, अगर आधुनिक रंगमंच पर विवेच्य नाटक का अभिनय किया जाए तो यह समस्या सामने नहीं आएगी क्योंकि दृश्यों को बदलने

के लिए घूमने वाले सैटों का प्रयोग किया जा सकता है। इससे प्रस्तुत नाटक का मंच पर सफल अभिनय संभव है।

प्रस्तुत नाटक का कथानक प्रसिद्ध और ऐतिहासिक है जिसे समझने और कथासूत्र में जोड़ने में दर्शकों को अधिक मनोयोग की आवश्यकता नहीं होती। अतः कथानक की दृष्टि से रंगमंचीय परिवेश में यह एक सफल नाटक है।

2. **पात्रों की दृष्टि से:** 'अजातशत्रु' नाटक में पात्रों की संख्या लगभग तीस तक पहुंच गयी है जिसमें पुरुष और स्त्रियों की लगभग बराबर-बराबर ही है। किसी भी नाट्य-कृति में इतने अधिक पात्रों के कारण उसके मंचन में बाधा उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। इतने अधिक पात्र अगर एक-साथ रंगमंच उपस्थित कर दिए जाएं तो दर्शकों को इतने अधिक पात्रों का परिचय याद रख पाना संभव नहीं। लेकिन फिर भी नाटक में मुख्य पात्रों के संवाद ही अधिक हैं और दर्शकों के समक्ष कुछ स्थलों को छोड़कर चार या पांच पात्र ही उपस्थित होते हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि आलोच्य नाटक में भले ही पात्रों की संख्या अधिक हो लेकिन फिर इसका भली-भांति सफल मंचन संभव है।
3. **कथोपकथन (संवाद) की दृष्टि से:** प्रस्तुत नाटक कथोपकथन या संवादों में तीव्रता और गतिमयता है। इसके कथोपकथन कुछ-एक स्थानों को छोड़कर संक्षिप्त, सुन्दर और सुबोध हैं। वे पात्रानुकूल भी हैं, इसलिए उनमें स्वाभाविकता है। उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में होने के कारण उनमें व्यावहारिकता भी है। संक्षिप्त संवादों का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

श्यामा : शैलेन्द्र ...

शैलेन्द्र : क्यों प्रिये!

श्यामा : प्यास लगी है।

शैलेन्द्र : क्या पियोगी?

श्यामा : जल!

शैलेन्द्र : प्रिये! जल तो नहीं है। यह शीतल पेय है - पी लो।

नाटककार ने आलोच्य नाटक में कुछ स्थानों पर लम्बे-लम्बे स्वगत कथनों को रखा है, जिन्हें नाटक के मंचन में बाधा माना जाता है लेकिन नाटक में आए ऐसे कथन समय और स्थिति की मांग थे- जो उसके मंचन में बाधक नहीं हैं, यथा-

शैलेन्द्र : (स्वगत) - काशी के उस संकीर्ण भवन में छिपकर रहते-रहते चित्त घबरा गया था। समुद्रदत्त के मारे जाने का मैं ही कारण था, इसलिए प्रकाश्य रूप से अजातशत्रु से मिलकर कोई कार्य भी नहीं कर सकता। इस पामरी की गोद में मुंह छिपाकर कितने दिन बिताऊं? हमारे भावी कार्यों में अब यह विघ्नस्वरूप हो रही है। यह प्रेम दिखाकर मेरी स्तंत्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त में अब नहीं गिरा रहूंगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटकों को कठोरता से, निर्दयता से- हटाना ही पड़ेगा। तब, आज से अच्छा समय कहाँ।"

4. **गीत-योजना की दृष्टि से:** प्रसाद के नाटकों में गीतों की अधिकता व्यवधान उत्पन्न करती है। आलोच्य नाटक में भी गीतों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है जो नाटक के मंचन में बाधा उत्पन्न करते हैं। 'अजातशत्रु' में छोटे-बड़े लगभग 22 गीत गाए गए हैं जो संवादों द्वारा प्रस्तुत भावों के प्रवाहमयता में बाधा उत्पन्न करते हैं। संवादों में भी दार्शनिकता एवं काव्यत्मकता विद्वान है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं गीत पूर्वापर संबंध जोड़ने और पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वंदन को प्रस्तुत करते हैं लेकिन अल्पावधि के बाद पुनः एक गीत का आ जाना प्रस्तुत

रचना की नाटकीयता को भंग करता है। अतः अलोच्य नाटक में गीतों की अधिकता उसके मंचन में बाधक है। कुछ गीतों की भाषा भी बड़ी क्लिष्ट है-

चंचल चंद्र, सूर्य है चंचल, चपल सभी ग्रह तारा हैं।
 चंचल अनिल, अनल, जल, थल, सब चंचल जैसे पारा हैं।
 जगत प्रगति से अपने चंचल, मन की चंचल लीला है।
 प्रतिक्षण प्रकृति चंचला जैसी यह परिवर्तनशीला है।
 अणु परमाणु, दुःख-सुख चंचल, क्षणिक सभी सुख-साधन हैं।
 दृश्य सकल नश्वर-परिणामी-किसको दुःख, किसको घन है?
 क्षणिक सुखों को स्थायी कहना दुःख-भूल यह भूल महा।
 चंचल मानव! क्यों भूला तू, इस सीढ़ी में सार कहाँ?

5. **भाषा की दृष्टि से:** प्रसाद के नाटकों पर भाषागत क्लिष्टता का यह आरोप लगाया जाता है कि वे शुद्ध संस्कृत निष्ठ भाषा के कारण पाठक एवं दर्शकों के लिए क्लिष्ट हो गए हैं। वस्तुतः नाटक में भाषा का अभिप्राय विभिन्न पात्रों द्वारा अपने भाव व विचारों की अभिव्यक्ति है जो संवादों के माध्यम से होती है। इन संवादों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों की प्रेषणीयता से उनमें एक ही नवीन चमत्कार उत्पन्न होता है जो नाटक को एक विशिष्ट धरातल पर स्थापित कर देता है। प्रस्तुत नाटक की संवाद-योजना में शब्दों का चयन जनता की योग्यता और नाटक के व्यापार पर आश्रित है। यद्यपि यह माना जाता है कि नाटक की भाषा ऐसी होनी चाहिये जो राजा-प्रजा, निर्धन-धनी, बालक-वृद्ध और पुरुष-स्त्री सभी की समझ में आ सके। उसमें आम बोल-चाल की भाषा का प्रयोग होना चाहिये, लेकिन प्रसाद जी ने आलोच्य नाटक में संस्कृत तनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग किया है जो सामान्य जनता की समझ से बाहर है। किन्तु नाटककार अपने जिस संदेश को पाठक वर्ग या दर्शक-वर्ग तक पहुंचाना चाहता है वह वर्ग इसी प्रकार की भाषा की अपेक्षा करता है। प्रसाद के नाटकों के दर्शक या पाठक सामान्य जन न होकर विशिष्ट वर्ग (शिक्षित-वर्ग) ही हैं जिन्हें इस प्रकार की भाषा को समझने में कोई मुश्किल नहीं है। अतः भाषा की क्लिष्टता के उपरान्त भी इसे रंगमंच पर सफलता से मंचित करके इसके संदेश को पाठकों तक सम्प्रेषित किया जा सकता है।
6. **दृश्य योजना की दृष्टि से:** 'अजातशत्रु' नाटक को तीन अंकों और 28 दृश्यों में विभाजित किया गया है। इन दृश्यों में प्रकोष्ठ या महल के दृश्य आठ बार, राजसभा के दृश्य चार बार, पथ के दृश्य पांच बार, उपवन के दृश्य पांच बार, श्यामा, बंधुल एवं बिंबसार के गृह के दृश्य तीन बार, कुटी का दृश्य दो बार और एक बंदी गृह का दृश्य आया है। इस प्रकार 28 दृश्यों को 7 दृश्यों के निर्माण द्वारा सम्पूर्ण नाटक को अभिनीत किया जा सकता है। सभी दृश्य लघु हैं, जिसके कारण नाटक के प्रस्तुतीकरण में भी बाधा उपस्थित नहीं होती।
 निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भले प्रसाद जी के इस नाटक पर लम्बे स्वगत कथनों, घटना विस्तार, भाषा की क्लिष्टता, दृश्य बहुलता एवं गीतों की प्रचुरता के कारण इसकी रंगमंचीयता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है लेकिन आधुनिक रंगमंच पर इसका सफल मंचन इन आक्षेपों को निराधार कर देता है। वस्तु विधान, संवाद, दृश्य संयोजन, रंग निर्देश आदि सभी बातों से इसकी रंगमंचीयता ही प्रकट होती है। वस्तुतः आधुनिक रंगमंच पर 'अजातशत्रु' का सफल मंचन हो सकता है।

7. अजातशत्रु : प्रतिपाद्य/उद्देश्य

रचनाकार अपने प्रतिपाद्य का संप्रेषण अपने पाठकों तक करना चाहता है उसे ही उद्देश्य या संदेश कहते हैं। लेखक के मन में अपने युग और समाज से संबंधित अनेक समस्याएं सन्निहित रहती हैं जो उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए कचोटती रहती हैं। जब रचनाकार इन्हें अपनी किसी रचना में माला के मनकों की तरह पिरोकर प्रस्तुत करता है तब यही लेखकीय दृष्टिकोण कहलाता है। इसी संदर्भ में संस्कृत में एक उक्ति मिलती है- 'प्रजोजनमनुद्देश्य मन्डो पि न प्रवर्तते' अर्थात् कोई मूर्ख व्यक्ति भी बिना उद्देश्य के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार एक रचनाकार भी अपनी कृति का सजन करते समय एक या एकाधिक उद्देश्यों को लेकर चलता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार नाटकों में रस को प्रधानता दी गयी है और पाश्चात्य परम्परा में उद्देश्य को। हमारे यहां रस का सर्वप्रथम विवेचन नाटक के संदर्भ में किया गया था। यहां रस को काव्य की आत्मा के रूप में मुख्य उद्देश्य स्वीकार किया है। नाटक के अन्तर्गत एक रस प्रधान होता है और अन्य गौण। रचनाकार का मुख्य कार्य प्रधान रस के उत्कर्ष का वर्धन करना ही होता है। दूसरी ओर पाश्चात्य नाटकों में कोई न कोई उद्देश्य व्यक्त या अव्यक्त रूप में समाहित रहता है। वह किसी प्रकार की जीवन मीमांसा या विचार सामग्री के रूप में आता है। इस उद्देश्य का संबंध जीवन के आंतरिक और बाह्य संघर्षों से होता है। यही संघर्ष पाठकों को उद्देश्य के ग्रहण करने के लिए तत्पर कर देता है।

प्रसाद जी के नाटकों में 'उद्देश्य' नामक तत्त्व का विशिष्ट महत्त्व है। इस संबंध में डॉ० चक्रवर्ती का मत उल्लेखनीय है- "प्रसाद के नाटक केवल रस को ही दृष्टि में रखकर विवेचित करना उचित नहीं है, अपितु महान उद्देश्यों की व्यंजना करना भी उनका ... महत्त्वपूर्ण विषय है। क्योंकि प्रसाद साहित्य की अन्तरात्मा के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद केवल युग प्रवर्तक साहित्यकार ही नहीं, अपितु इतिहास के साधारण अन्वेषक, भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक, आर्य ऋषियों के उदात्त और समन्वयवादी धर्म के सबल समर्थक तथा भारतीय परम्परा के मानवतावादी दार्शनिक भी थे। अतः आर्य ऋषियों की सांस्कृतिक उपलब्धियों, धार्मिक चेतनाओं और दार्शनिक उपपत्तियों को साहित्यिक उपादानों में रूपान्तरित कर उन्होंने लोकमंगलमय साहित्य की सृष्टि की।"

प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' में भी अपने महान उद्देश्यों की व्यंजना की है, जिसे निम्नलिखित बिन्दुओं के द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. **अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान को सुधारने की प्रेरणा:** जयशंकर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की घटनाओं के माध्यम से वर्तमान को सुधारने का प्रयास किया है। इस कथन की पुष्टि उनके 'विशाख' नामक नाटक की भूमिका के दिये गये वक्तव्य से भी हो जाती है- "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"

प्रसाद जी द्वारा दिये गये उपर्युक्त वक्तव्य के आलोक में कहा जा सकता है कि 'अजातशत्रु' नाटक में नाटककार ने मगध, कौशांबी और कौशल आदि तीनों राज्यों के आंतरिक झगड़ों को दिखाकर इस गह-कलह से दूर रहने का संदेश दिया है। मगध राज्य का कलह दो प्रकार का दिखाया गया है- सपत्नियों के मध्य चलने वाला ईर्ष्या-द्वेष तथा पुत्र द्वारा बलपूर्वक पिता के सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयास। मगध नरेश बिंबसार की दोनों पत्नियों के मध्य यह गह-कलह वास्तविकता को प्रदर्शित करता है-

छलना : (क्रोध से) वह सीधी और तुम सीधी! आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।

वासवी : यह मैं क्या देख रही हूँ। छलना! यह गह विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है? राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं?

प्रसाद जी ने वासवी के मुख से यह उद्देश्य भी दिलवा दिया है कि हमें आन्तरिक झगड़ों की अपेक्षा सुख-शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिये-

**बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उसके जीवन में।
बंधुवर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्प्रहणीय न हो क्यों घर?**

नाटककार ने मगध नरेश बिंबसार को राज्य-सिंहान के प्रति मोह में जकड़ा हुआ दिखाया है। प्रसाद जी ने बिंबसार की सिंहासन-लिप्सा प्रवृत्ति के माध्यम से वर्तमान राजनीतिकों के प्रति अमूल्य संदेश संप्रेषित किया है-

“आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभावत समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त हो अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसके शांतिमय-रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किंतु वह कब मानता है! मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची, किंतु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊंचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या?”

वर्तमान राजनीति में भी इसी तरह ऊंचे से ऊंचा पद प्राप्त करने की होड़ लगी रहती है और जीवन के अन्तिम क्षणों में वह खाली हाथ ही ऊपर चला जाता है। अतः मानव को पद के प्रति आकर्षण न होकर सभी की भलाई करने की ही इच्छा मन में रहनी चाहिये।

प्रसाद जी के जीवक के माध्यम से यह संदेश संप्रेषित किया है कि मानव को विकट या विषम परिस्थितियों से हार मानकर नहीं बैठना चाहिये-

“नियति की डोरी पकड़कर मैं निभय कर्मकूप में कूद सकता है, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा, फिर कायर क्यों बनूं? कर्म से विरत-क्यों रहूं?”

नाटककार ने छलना और बिंबसार के पति-पत्नी के झगड़े को केन्द्र में रखकर गौतम द्वारा वाक्संयम का संदेश दिया है-

“शीतल वाणी- मधुर व्यवहार से- क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते? राजन् संसार-भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार नहीं। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है।”

उन्होंने एक और मुख्य संदेश को पाठक एवं दर्शकों तक पहुंचाने का प्रयास किया है, वह है- युद्ध की भयानकता दिखकर उससे दूर रहने की प्रेरणा दी है। उनका यह संदेश आज के

विध्वंसकारी युग में अत्यधिक प्रासंगिक है। अजातशत्रु के माध्यम से नाटककार ने कहा है-

“युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियां विधवा हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षडयंत्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव-वृत्ति दबी हुई रहती है उसी को उत्तेजना मिलती। युद्धस्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।”

इन संदेशों के अतिरिक्त भी प्रसाद जी प्रस्तुत नाटक में अनेकों संदेशों को पाठकों तक पहुंचाया है ताकि वे इन ऐतिहासिक तथ्यों से वर्तमान को उज्ज्वल बना सकें।

2. **सांस्कृति उद्देश्य:** प्रसाद ने ‘संस्कृति’ शब्द को अर्थ व्यापक रूप में ग्रहण किया है। वे संस्कृति को सौंदर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा मानते हैं। इसका उपयोग मानव-समाज में व्यक्तियों के सीमित मनोभावों को सदा प्रस्तुत एवं विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। अतः संस्कृति का सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारों एवं मनोभावों से मौलिक संबंध है।

डॉ० रामसेवक पाण्डेय के अनुसार- “संस्कृति में जहां कुछ शाश्वत एवं परंपरागत तत्वों का समावेश है वहीं वह गतिशील है। ... संस्कृति मानव-समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है जो सार्वत्रिक और व्यापक कहते हुए भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं।” इस प्रकार संस्कृति संस्कारों का वह इतिहास है जिनके द्वारा किसी जाति, वर्ग अथवा देश के संस्कारों को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है एवं जिसमें परम्परागत आचार, व्यवहार, विश्वास, अनुभव, रुचि एवं नियमों का समावेश होता है।

डॉ० रामसेवक पाण्डेय के अनुसार- “संस्कृति में जहां कुछ शाश्वत एवं परंपरागत तत्वों का समावेश है वहीं वह गतिशील है। ... संस्कृति मानव-समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है जो सार्वत्रिक और व्यापक कहते हुए भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं।” इस प्रकार संस्कृति संस्कारों का वह इतिहास है जिनके द्वारा किसी जाति, वर्ग अथवा देश के संस्कारों को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है एवं जिसमें परम्परागत आचार, व्यवहार, विश्वास, अनुभव, रुचि एवं नियमों का समावेश होता है।

जयशंकर प्रसाद भारतीय संस्कृति पर विदेशी शासकों द्वारा आरोपित पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभावों से चिंतित थे। वस्तुतः भारत की विकृतियों का लाभ उठाकर प्रसाद युग में भी विदेशी सत्ता भारत वर्ष को पद दलित कर रही थी। प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास के प्रायः उन्हीं युगों का चयन किया जिसमें संस्कृति के सद् और असद् रूप में संघर्ष व्याप्त था।

‘अजातशत्रु’ के असद् पात्र छलना, मागंधी (श्यामा), देवदत्त, विरुद्धक अपने दुष्कृत्यों के लिए खेद का अनुभव करते हैं। मल्लिका भारतीय संस्कृति के उदार भाव का आश्रय लेती हुई अपने पति के हत्यारे प्रसेनजित को सहज भाव से माफ कर देती है:

प्रसेनजित : मुझे धिक्कार दो-मुझे शाप दो-मल्लिका! तुम्हारे सुखमंडल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न भी नहीं है। जो तुम्हारी इच्छा हो कहो, उसे मैं पूर्ण करूंगा-

मल्लिका : (हाथ जोड़कर) कुछ नहीं महाराज! आज्ञा दीजिए कि आपके राज्य से निर्विघ्न चली जाऊं, किसी शांतिपूर्ण स्थान में रहूं।”

मल्लिका भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही विधवा होने पर पुनः विवाह नहीं करती। वह विरुद्धक के प्रेम को ठुकरा देती है। विरुद्धक उसे अपनी भावनाओं के माध्यम से पिघलाने का प्रयास करते हुए कहता है-

विरुद्धक : “क्यों नहीं मर जाने दिया? क्यों इस कलंकी जीवन को बचाया और अब ..
..।

मल्लिका : तुम इसलिए नहीं बचाये गये कि फिर भी एक विरक्ता नारी पर बलात्कार और लंपटता का अभिनय करो। जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित्त करो-अपने को सुधारो।”

इसी प्रकार मगध नरेश की बड़ी रानी भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही पति द्वारा राज्य त्याग कर जाते समय उसकी सेवा हेतु उसके साथ कुटिया में चली जाती है। वह सांसारिक सुखों का त्याग कर कानन में पति सेवा करके ही सम्पूर्ण सुखों का आनंद लेती है।

इस प्रकार प्रसाद अपने सांस्कृतिक उद्देश्य के प्रस्थापन में पूर्णतः सफल हुए हैं।

3. **सिंहासन के प्रति आकर्षण:** प्रसाद जी ने ‘अजातशत्रु’ नाटक में मगध नरेश बिंबसार और कौशल नरेश प्रसेनजित का वधावरथा में भी सिंहासन के प्रति आकर्षण दिखाया है। दोनों ही अपने पुत्रों को ही सिंहासन नहीं सौंपना चाहते क्योंकि सिंहासन का नशा मानव को अंधा बना देता है, जो इनके साथ भी हुआ है। इसी सत्ता के आकर्षण में बिंबसार का पुत्र व अजातशत्रु और प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक पिता के प्रति विद्रोह करके सिंहासन पर कब्जा करना चाहते हैं। इस विद्रोह में अजातशत्रु के सफल होते ही विरुद्धक भी मन्तव्य को प्रकट कर देता है-

“मगध जैसा परिवर्तन कर चुका है, वही तो कौशल भी चाहता है। हम नहीं समझते कि बुद्धों को क्या पड़ी है और उन्हें सिंहासन का कितना लोभ है! क्या यह पुरानी और नियंत्रण में बंधी हुई संसार के कीचड़ में निमज्जित राजतंत्र की पद्धति, नवीन उद्योग को असफल कर देगी? तिल भर जी जो अपने पुराने विचारों से हटना नहीं चाहता, उसे अवश्य नष्ट हो जाना चाहिये क्योंकि यह जगह प्रगतिशील है।”

विरुद्धक के माध्यम से कहे गये प्रसाद के ये विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे। उन्होंने राजनीति के इस विकृत रूप के द्वारा जनसामान्य में राजनीति के प्रति चेतना जागृत करने का कार्य किया है ताकि वर्तमान राजनीति में सुधार हो सके।

4. **गांधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत का अनुसरण:** आलोच्य नाटक में गांधी जी के हृदय परिवर्तन सिद्धांत का अनुसरण हुआ है। जब प्रसाद जी नाट्य-संजन में सलग्न थे उस समय जन-सामान्य पर गांधी के व्यक्तित्व का प्रभाव भी बढ़ता ही जा रहा था, फिर प्रसाद जी इससे अछूते कैसे रह सकते थे। वस्तुतः गांधी जी के व्यक्तित्व का प्रभाव आलोच्य नाटक पर भी पड़ा है। डॉ० जगदीश चन्द्र जोशी भी इस बात को स्वीकारते हुए कहते हैं-

“वह गांधी के व्यक्तित्व के प्रसार का युग था और उसका प्रभाव युगधर्म पर क्रमशः बढ़ता ही चला जा रहा था। अजातशत्रु का नायक चाहे कोई हो, इसमें संदेह नहीं कि प्रारम्भ से लेकर अंत तक उसकी समस्त घटनाओं को मोड़ने की कुंजी बुद्ध के स्वयं के व्यक्तित्व में अथवा उसकी मूर्तिमान शिक्षा मल्लिका के व्यक्तित्व में पायी जाती है। यहां बुद्ध के सिद्धांत कसौटी पर उतारे गए हैं और प्रत्येक द्वन्द्व के पश्चात् वे खरे उतरे हैं। अंत में विरुद्धक के युवराज्याधिकार की पुनः प्रतिष्ठा, समस्त धार्मिक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के विरुद्ध शुद्ध सत्वगुण प्रधान प्राचीन

भारतीय विचारों की विजय ही नहीं, बुद्ध के प्रकाशमान व्यक्तित्व की विजय भी है। ... उनका आतंकवादियों की पद्धति के विपरीत अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन उनकी राजनीतिक विजय का ही सूचक नहीं, आध्यात्मिक विजय का भी रूपक है।”

आलोच्य नाटक में गांधी जी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत को प्रसाद जी ने सद्पात्रों द्वारा कुटिल पात्रों के हृदय- परिवर्तन के विभिन्न उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

(क) **मल्लिका द्वारा प्रसेनजित का हृदय-परिवर्तन:** कौशल नरेश प्रसेनजित को अपने सेनापति बंधुल पर यह संदेह हो जाता है कि कहीं यह पराक्रमी व्यक्ति मेरे लिए खतरा न बन जाए। यही कारण था कि उन्होंने षडयंत्र रचकर बंधुल की हत्या करवा दी। मल्लिका अपने पति की हत्या के बावजूद भी कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होती। वह हत्यारे को जानते हुए भी घायल प्रसेनजित की आदर भाव से सेवा-शुश्रूषा करती है, जिससे प्रभावित होकर वह पश्चातापवश कह उठता है-

प्रसेनजित : “देवि, तुम्हारे उपकारों का बोझ मुझे असह्य हो रहा है। तुम्हारी शीतलता ने इस जलते हुए लोहे पर विजय प्राप्त कर ली है। बार-बार क्षमा मांगने पर हृदय को संतोष नहीं होता। अब श्रावस्ती जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

मल्लिका : सम्राट! क्या आपको मैंने बंदी कर रखा है? यह कैसा प्रश्न! बड़ी प्रसन्नता से आप जा सकते हैं।

प्रसेनजित : नहीं, देवि! इस दुराचारी के पैरों में तुम्हारे उपकारों की बेड़ी और हाथों में क्षमा की हथकड़ी पड़ी है। जब तक तुम कोई आज्ञा देकर इसे मुक्त नहीं करोगी, यह जाने में असमर्थ है।

उपर्युक्त संवाद से पता चलता है कि मल्लिका निर्मल एवं पवित्र स्वभाव के कारण ही प्रसेनजित का वज्र के समान कठोर हृदय पुष्प के समान हो जाता है। यही कारण है कि वह मल्लिका के चरणों में भी गिर जाता है और अपने अधम आचरण के लिए क्षमा-याचना करता है।

(ख) **मल्लिका द्वारा विरुद्धक का हृदय-परिवर्तन:** नाटककार ने मल्लिका के उदात्त चरित्र के संपर्क में आने पर विरुद्धक का भी हृदय-परिवर्तन होते दिखाया है। विरुद्धक युद्ध में घायल हो जाता है, लेकिन मल्लिका अपने पति के हत्यारे विरुद्धक की भी सेवा करती है। विरुद्धक इस सेवा का अर्थ कुछ और ही लगा बैठता है और मल्लिका से प्रेम का इजहार कर बैठता है लेकिन मल्लिका उसे समझाती है। इसी बीच श्यामा वहां प्रवेश करती है अपनी आपबीती सुना देती है। यह सब सुनकर मल्लिका उसे धिक्कारते हुए कहती है-

“यदि तुम प्रेम का प्रतिदान नहीं जानते हो तो व्यर्थ एक सुकुमार नारी-हृदय को लेकर उसे पैरों से रौंदते हो? विरुद्धक! क्षमा मांगो; यदि हो सके तो इसे अपनाओ।”

इतना कहने पर वह सब कुछ मान लेता है।

जब विरुद्धक अपने पिता के पास जाने से डरता है तो मल्लिका उससे कहती है- “.. मैं तुम्हारी ओर से क्षमा माँगूंगी। मुझे विश्वास है कि महाराज मेरी बात मानेंगे।”

अपने प्रति उस नारी की इतनी दया-भाव देखका विरुद्धक का हृदय वास्तव में परिवर्तित हो जाता है। वह मल्लिका से क्षमा-याचना करते हुए कहता है-

**“उदारता की मूर्ति! मैं किस तरह तुमसे, तुम्हारी क पा से,
अपने प्राण बचाऊं! देवि! ऐसे भी जीव इसी संसार में हैं, तभी
तो यह भ्रम-पूर्ण संसार ठहरा है। (पैरों पर गिरता है) देवि!
अधम के अपराध क्षमा करो।”**

- (ग) **वासवी द्वारा छलना का हृदय-परिवर्तन:** नाटक के प्रारंभ में ही छलना और वासवी के संवादों से पता चलता है कि छलना वासवी के प्रति अत्यधिक ईर्ष्या-भाव रखती है-
छलना : (क्रोध से) वह सीधी और तुम सीधी! आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।”

वासवी उसे समझाने का प्रयास करती है लेकिन फिर भी वह अपने कुकृत्यों से बाज नहीं आती। नाटक में एक स्थान पर वह अपने विषय में कहती है-

**मैं बवंडर हूँ- इसीलिए जहां चाहती हूँ, असंभावित रूप से
चली जाती हूँ और देखना चाहती हूँ और देखना चाहती हूँ
कि इस प्रवाह में कितनी सामर्थ्य है- इसमें आवर्त उत्पन्न
कर सकती हूँ कि नहीं।”**

युद्ध में अजातशत्रु को बंदी बनाया जाता है लेकिन वासवी उसे सकुशल लिवा लाती है। इस सूचना से एवं वासवी के मधुर वचनों से प्रभावित होकर छलना शान्त हो जाती है एवं उसके हृदय का परिवर्तन उसके वचनों से स्पष्टतः दिखाई दे जाता है- “... मैं तो सचमुच एक बवंडर हूँ। बहिन वासवी क्या मेरा अपराध क्षमा कर देंगी?” यही नहीं बाद में वह बिंबसार के समक्ष भी अपनी दीनता प्रकट करके क्षमा-याचना करती है-

**“नाथ! मुझे निश्चय हुआ कि वह मेरी उदंडता थी। वह मेरी
कूट-चातुरी थी, दंभ का प्रकोप था। नारी-जीवन के स्वर्ग से
मैं वंचित कर दी गयी। ईट-पत्थर के महल रूपी बंदीगृह में
मैं अपने को धन्य समझने लगी थी। दंडनायक, मेरे शासक!
क्यों न उसी समय शील और विनय के नियम-भंग करने के
अपराध में मुझे आपने दंड दिया। क्षमा करके, सहन करके,
जो आपने इस परिणाम की यंत्रणा के गर्त में मुझे डाल दिया
है, वह मैं भोग चुकी। अब उबारिये।”**

- (घ) **मल्लिका एवं गौतम द्वारा मागंधी का हृदय-परिवर्तन:** कौशांबी नरेश की पत्नी मागंधी को आलोच्य नाटक में अन्य दो नामों से भी जाना गया- श्यामा और आम्रपाली। अपनी युवावस्था में वह गौतम से प्रणय-निवेदन करती है लेकिन गौतम द्वारा मना किए जाने पर वह उसकी विरोधिनी बन जाती है। वह उदयन की दूसरी पत्नी अर्थात् अपनी सौत पद्मावती और गौतम के अवैध संबंधों की मिथ्या बात उड़ाकर एक तीर से दो शिकार करने का प्रयास करती है। वह उदयन की वीणा में सांप का बच्चा रखवाकर पद्मावती को बदनाम करने की चेष्टा करती है लेकिन षडयंत्र का भेद खुल जाने पर वह महल में आग लगाकर अपनी जान बचाते हुए भाग जाती है और काशी में एक वेश्या बन जाती है। वहां पर शैलेन्द्र (विरुद्धक) नाम के डाकू से प्रेम करने लग जाती है और उसी के रक्षा हेतु समुद्रदत्त को बलि का बकरा बनवाकर फांसी पर चढ़वा देती है, लेकिन वही शैलेन्द्र उसकी हत्या का प्रयास करता है। गौतम द्वारा उसकी जीवन-रक्षा का

प्रयास किये जाने के पश्चात् और मल्लिका के संपर्क में आने के बाद उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। नाटक के अंत में वह बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लेती है।

मागंधी : “प्रभु! मैं नारी हूँ, जीवन-भर असफल होती आयी हूँ। मुझे उस विचार के सुख से वंचित न कीजिए। नाथ! जन्मभर की पराजय में भी आज मेरी ही विजय हुई। पतितपावन! यह उद्धार आपके लिए भी महत्त्व देने वाला है और मुझे तो सब कुछ!

गौतम : अच्छा आम्रपाली! कुछ खिलाओगी?

मागंधी : (आम की टोकरी रखती हुई) - प्रभु! अब इस आम्रकानन की मुझे आवश्यकता नहीं, यह संघ को समर्पित है।

5. **जन-सामान्य पर बौद्ध-संस्कृति के प्रभाव का चित्रण:** ‘अजातशत्रु’ नाटक के अन्तर्गत बौद्ध संस्कृति का प्रभाव एवं उसके विरोध को दर्शाया गया है। गौतम की शिक्षाओं से प्रभावित पात्र हैं- पद्मावती, बिंबसार, वासवी, श्यामा आदि और दूसरी ओर इसके विरोधकों में अजातशत्रु, छलना, देवदत्त और उसका शिष्य समुद्रदत्त। पद्मावती अपने भाई को हिंसा के विरोध में तर्क देती हुई कहती है- “मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु-जगत में क्या कम है? दूसरी ओर अजातशत्रु की माँ छलना पद्मावती की अहिंसाप्रियता का विरोध करते हुए कहती है-

“पद्मा! तू क्या इसकी मंगल कामना करती है? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्री सीख है? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है। क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक हैं?”

इसी प्रकार नाटककार ने गौतम के प्रमुख विरोधी देवदत्त को उनसे अत्यधिक ईर्ष्या करते हुए दिखाया गया है। देवदत्त जन-सामान्य में गौतम बुद्ध के वर्चस्व का कम करने के लिए ही बिंबसार को सिंहासन से हटाकर अजातशत्रु को सिंहासन पर बिठाता है। इसी संदर्भ में वह गौतम पर आक्षेप लगाते हुए कहता है-

“गौतम का प्रभाव मगध पर से तब तक नहीं हटेगा, जब तक बिंबसार राजगृह से दूर न जाएगा। यह राष्ट्र का शत्रु गौतम समग्र जम्बूद्वीप को भिक्षु बनाना चाहता है और अपने को उनका मुखिया। इस तरह जम्बूद्वीप भर पर एक दूसरे रूप में शासन करना चाहता है।”

इस प्रकार के आक्षेपों को साधारण आक्षेप ही कहा जा सकता है क्योंकि उस समय गौतम का प्रभाव चरम सीमा पर था। अनेक राज्यों में गौतम का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। प्रसाद जी ने मगध नरेश बिंबसार के माध्यम से उन व्यक्तियों की धारणाओं का उद्घाटन करवाया है, जो गौतम और उसके धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखते थे-

“करुणामूर्ति हिंसा से रंगी हुई वसुन्धरा आपके चरणों के स्पर्श से अवश्य ही स्वच्छ हो जाएगी। उसकी कलंक-कालिका धुल जाएगी।”

X X X X X

“भगवान की शांतिवाणी की धारा प्रलय की नरकाग्नि को

भी बुझा देगी, मैं क तार्थ हुआ।”

नाटककार ने आलोच्य नाटक में विभिन्न पात्रों के माध्यम से बौद्ध-धर्म की विशेषताओं का उद्घाटन करवाया है। प्रसाद जी ने मल्लिका की सृष्टि बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं के अनुपालन के संबंध में ही है और मल्लिका को उन शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करते हुए चित्रित किया है। वह बौद्ध-भिक्षुओं को भोज के लिए आमंत्रित करती है, किन्तु उनके आगमन से पूर्व ही उसके पति की हत्या कर दी जाती है। यह अशुभ समाचार सुनने के बाद भी वह अतिथि-धर्म का अनुपालन करने से नहीं चूकती। इसी कारण सारिपुत्र मल्लिका की इन शब्दों में सराहना करता है-

“आनंद! क्या तुमने समझा कि मल्लिका दासी पर रुष्ट होगी? क्या तुमने अभी नहीं पहिचाना? स्वर्ण-पात्र टूटने से इन्हें क्या क्षोभ होगा- स्वामी के मारे जाने का समाचार अभी हम लोगों के आने के थोड़ी ही देर पहले आया है। फिर, यह तो एक धातुपात्र था!- (मल्लिका से) - तुम्हारा धैर्य सराहनीय है। आनंद! तो इस मूर्तिमती धर्म-परायणता से कर्तव्य की शिक्षा लो!”

वह बौद्ध-धर्म के प्रति इतनी आस्थावान है कि अपने पति के हत्यारे विरुद्धक और प्रसेनजित की विकट परिस्थिति में सेवा-सुश्रुषा करती है और बाद में दोनों के द्वारा क्षमा मांगने पर उन्हें माफ भी कर देती है।

नाटक के प्रारम्भ में बिंबसार और छलना के आपसी झगड़े का आभास पाकर गौतम उन्हें शीतल वाणी और मधुर व्यवहार के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

“शीतल वाणी-मधुर व्यवहार से-क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते? राजन, संसार-भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार नहीं। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है। अस्तु, अब मैं तुमसे एक काम की बात कहना चाहता हूँ- क्या तुम मानोगे? क्यों महारानी?”

गौतम के कहने पर ही बिंबसार अपने पुत्र अजात को सिंहासन पर बिठा देता है।

नाटक के अंत में दो नागरिक गौतम के चरित्र की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए कहते हैं-

पहला : किसने शक्ति का ऐसा परिचय दिया है। सहनशीलता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण-ओह!

दूसरा : आश्चर्य! गौतम की अमोघ शक्ति है। भाई, इतना त्याग तो आज तक देखा नहीं गया। केवल पर - दुःख-कातरकता ने किस प्राणी से राज्य छुड़वाया है! अहा, वह शांत मुखमंडल, सिन्धु गंभीर दृष्टि, किसको नहीं आकर्षित करती। कैसा विलक्षण प्रभाव है।”

पहला : तभी तो बड़े-बड़े सम्राट लोग विनत होकर उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। देखो, यह भी कभी भी हो सकता था कि राजकुमार विरुद्धक पुनः युवराज बनाए जाते? भगवान ने समझाकर महाराज को ठीक कर ही दिया- और वे आनंद से युवराज बना दिये गये।”

बौद्ध-धर्म में उंच-नीच और जाति-पांति की भावना का तीव्र विरोध किया गया है। इसी तथ्य को नाटककार ने गौतम के मुख से कहलवाकर आधुनिक समाज के लिए यह संदेश संप्रेषित किया है-

“यह दंभ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है। क्यों राजन! क्या दास, दासी, मनुष्य नहीं है? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राजकुमारियों की संतान ही इस सिंहासन पर बैठी हैं या प्रतिज्ञा करोगे कि आने वाली कई पीढ़ी तक दासी पुत्र इस पर न बैठने पावेंगे? यह छोटे-बड़े का भेद क्या अभी इस संकीर्ण हृदय में इस तरह घुसा है कि निकल नहीं सकता? क्या जीवन की वर्तमान स्थिति देखकर प्राचीन अंधविश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते आए हैं, तुम बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं हो? क्या इस क्षणिक भव में तुम अपनी स्वतंत्र सत्ता अनंत काल तक बनाए रखोगे?”

इस प्रकार आलोच्य नाटक के माध्यम से प्रसाद जी ने बौद्धकालीन संस्कृति एवं उसकी शिक्षाओं का जन-सामान्य पर

प्रभाव आदि पर प्रमुखता से प्रकाश डाला है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' नाटक में ऐसे भव्य संदेशों को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है जिसके द्वारा हम अपने जीवन में उत्कर्ष लाते हुए विश्व के संघर्षपूर्ण वातावरण से जूझने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने ग ह-क्लह के दुष्परिणामों के माध्यम से पाठकों या दर्शकों उससे दूर रहने का संदेश दिया है। बौद्ध-धर्म के उपदेशों द्वारा मानव के अशान्त हृदय को शांत करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने उस समय की राजनीतिक अस्थिरता एवं सिंहासन के प्रति मोह को दिखाकर आधुनिक समाज के लिए एक प्रश्न खड़ा किया है जिससे मानसिक शांति के बल पर ही सुलझाया जा सकता है। उन्होंने गांधी जी के हृदय-परिवर्तन सिद्धांत को भी बड़े ही सुन्दर ढंग से उद्घाटित किया है। इस प्रकार प्रसाद जी ने प्रस्तुत नाटक में कोई एक संदेश न देकर कई संदेशों को एक-साथ सम्प्रेषित किया है। वस्तुतः यह एक सोद्देश्य रचना है।

8. अजातशत्रु : भाषा-शैली

किसी भी क तिकार के मनोगत भावों की अभिव्यक्ति तथा उसके उद्देश्य की सिद्धि भाषा और शैली के माध्यम से होती है। नाटककार तो संवादों के माध्यम से ही अपनी धारणाओं और अपने चिन्तन को प्रस्तुत करता है, अतः उसे भाषा का मर्मज्ञ होना ही चाहिये। जिस नाटक की भाषा जितनी पात्रानुकूल, प्रवाहपूर्ण और देश-काल के अनुरूप होगी वह नाटक उतना ही लोकप्रिय होगा।

गीतों के बाद प्रसाद के नाटक के काव्य तत्त्व का सर्वाधिक प्रकाशन उनकी भाषा-शैली के माध्यम से हुआ है। प्रसाद के नाटकों की सबसे बड़ी शक्ति यही भाषा-शैली है। प्रसाद के नाटकों में कवि, प्रेमी, दार्शनिक, व्यवहारिक पुरुष, वीर एवं देश के नेता आदि सभी सम्मिलित होते हैं। उनकी भाषा-शैली में तत्सम शब्दों की बराबर प्रधानता है। उनकी शैली के अन्तर्गत उनकी अपनी विशेषताओं का समावेश तो अवश्य ही होता है।

अजातशत्रु की भाषा: प्रसाद जी ने अपने नाटकों में प्रायः संस्कृत तनिष्ठ और परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया है। उनके पात्र चाहे किसी भी श्रेणी अथवा वर्ग के क्यों न हों, एक जैसी ही भाषा का प्रयोग करते हैं। 'अजातशत्रु' नाटक का नायक 'अजातशत्रु' और उसका अनुचर 'लुब्धक' एक समान भाषा का प्रयोग करते हैं। यहां तक कि मांगंधी, नवीना, विजया, सरला, कंचुकी, दासी, नर्तकी आदि परिमार्जित भाषा में अपनी अभिव्यक्ति करती हैं। बिंबसार, अजातशत्रु, जीवक, वासवी, छलना, उदयन, पद्मावती, मांगंधी, प्रसेनजित, विरुद्धक, मल्लिका, दीर्घकारायण, बाजिरा, शक्तिमती संस्कृत तनिष्ठ भाषा बोलते ही हैं, वसंतक एवं पथ में वार्तालाप करते हुए दो नागरिक भी तत्सम प्रधान भाषा में अपनी बात कहते हैं। इस प्रकार वे पात्रों की स्थिति के अनुकूल भाषा में बदलाव नहीं लाते अपितु उनके प्रायः सभी पात्र एक जैसी ही भाषा का प्रयोग करते मिलते हैं। यही कारण है कि प्रसाद जी पर संस्कृत तनिष्ठ क्लिष्ट भाषा प्रयोग करने का दोष लगाया जाता है। लेकिन इस धारणा के प्रत्युत्तर में प्रसाद जी के मत को डॉ० जगन्नाथ शर्मा ने इस प्रकार व्यक्त किया है- "भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषाओं का अजायबघर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असंभव है। इसके अतिरिक्त इस विषय की अधिक आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने कितने विदेशियों को हम अपनी ही तरह हिन्दी बोलते समझते पाते हैं। जहां अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर हम इतने अभिनय को अभिनय और नकल न समझकर सच्ची घटना मानते हैं और उसी के साथ हंसते-रोते, सुख-दुःख प्रकट करते हैं वहां ऐसी बात यथार्थ है अथवा अयथार्थ, इसके विचार का अवसर कहां रह जाता है। जब हम सिल्युकस और कार्नेलिया को अपने सम्मुख खड़ा देखते हैं तब ये यथार्थ मालूम पड़ते हैं और जब वे परिष्कृत भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तब अयथार्थ हो जाते हैं- यह भी कोई तर्क है। अतएव भाषा विविधता के लिए आग्रह न करना ही हितकर है। स्वरूप भिन्नत्व केवल वेष-भूषा में ही व्यक्त कर देना चाहिये।" प्रस्तुत अभिमत से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ही विभिन्न पात्रों के लिए क्यों एक ही प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे। वे नाटक में सम्मिलित विभिन्न पात्रों के अनुकूल भाषा-परिवर्तन को अस्वाभाविक मानते थे। 'अजातशत्रु' नाटक में भाषा-शैली की अनेक विशेषताएं विद्यमान हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. **पात्रानुकूल भाषा:** प्रसाद जी का मानना है- "पात्रों के भावों और विचारों के आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए किंतु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार

उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन के अधिक उपयुक्त है।” इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा बोलें, इसके स्थान पर उनके विचारों और भावों के अनुसार भाषा में अन्तर होना चाहिये।

आलोच्य नाटक में प्रसाद जी ने भाषा को पात्रों की मनोदशा के अनुकूल बनाने का भरसक प्रयास किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कथन में विरुद्धक के हृदय में नारी-आकर्षण और मल्लिका के कथनों में उसकी तटस्थता एवं आक्रोश का परिचय मिलता है-

मल्लिका : अच्छा किया। तुम्हें स्वस्थ देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। अब तुम अपनी राजधानी को लौट जा सकते हैं।

विरुद्धक : मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। मेरे हृदय में बड़ी खलबली है। यह तो तुम्हें विदित था कि सेनापति बंधुल को मैंने ही मारा था; और उसी की तुमने इतनी सेवा की। इससे मैं क्या समझूँ। क्या मेरी शंका निर्मूल नहीं है? इससे मैं क्या समझूँ। क्या मेरी शंका निर्मूल नहीं है? कह दो मल्लिका।

मल्लिका : विरुद्धक! तुम उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम मत करो। तुमने समझा होगा कि मल्लिका का हृदय कुछ विचलित है, छिः तुम राजकुमार हो न, इसीलिए। अच्छी बात क्या तुम्हारे मस्तिष्क में कभी आयी ही नहीं; मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है, जिसकी तुम समझते हो।

विरुद्धक : किंतु मल्लिका! अतीत में तुम्हारे ही लिये मेरा वर्तमान बिगड़ा। पिता ने जब तुमसे मेरा ब्याह करना अस्वीकार किया, उसी समय से मैं पिता के विरुद्ध हुआ और उस विरोध का यह परिणाम हुआ।

मल्लिका : इसके लिए मैं क तज्ञ नहीं हो सकती। राजकुमार। तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा। और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी। इसमें जब मैं उत्तीर्ण हो गयी तब मुझे अपने पर विश्वास नहीं हुआ। विरुद्धक, तुम्हारा रक्तकलुषित हाथ मैं छू भी नहीं सकती। तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का, किसी की भूल पर, निर्दयता से वध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया; एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश की जन्मभूमि के विरुद्ध - अस्त्र ग्रहण किया। तुम्हारे जैसा नीच और कौन होगा। किंतु यह सब जानकर भी मैं तुम्हें रणक्षेत्र से सेवा के लिए उठा लायी।

विरुद्धक : तब क्यों नहीं मर जाने दिया? क्यों इस कलंकी जीवन को बचाया और अब ...।

मल्लिका : तुम इसलिए नहीं बचाये गये कि फिर भी एक विरक्ता नारी पर बलात्कार और लंपटता का अभिनय करो। जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित्त करो - अपने को सुधारो।

2. **भाषा की समसामयिकता:** प्रसाद जी ने अपने सभी नाटकों में समसामयिक भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने महाभारत काल से लेकर हर्ष के शासनकाल तक के समय का चित्रण अपने नाटकों में किया है। उस युग में संस्कृत भाषा का ही प्रधान्य रहा था, अतः उनके नाटकों के कलेवर का निर्माण उसी भाषा की नींव पर टिका हुआ है।

उनका मानना था कि नाटक की कथावस्तु जिस देश और काल की है उसी की संस्कृति के अनुसार भाषा का स्वरूप गठित होना चाहिये। अनेक प्रकार के विरोध होते हुए भी उन्होंने अपने नाटकों में इस सिद्धांत का पूर्ण रूप से फलन किया है। प्रायः उनके सभी पात्र संस्कृत तनिष्ठ व काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं। कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं-

“बिबिसार : तब तो देवि! प्रत्येक असंभावित घटना के मूल में यही बवंडर है। सच तो यह है कि विश्व-भर में स्थान-स्थान पर गत्याचक्र है, जल में उसे भंवर कहते हैं, स्थल पर उसे बवंडर कहते हैं, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छं खलता और धर्म में पाप कहते हैं।”

विस्फोटक : “... हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व-भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी-कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र-लोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनंदन करने, तुम्हें संभालकर उतारने के लिए, नक्षत्र-लोक गई थीं। शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचायक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वंत का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलेत-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत् की कुटिल गहस्थी के आल-बाल में आश्चर्यपूर्ण सौंदर्यमयी रमणी के रूप में सबने देखा। वह कैसा इंद्रजाल था- प्रभात का वह मनोह स्वप्न था- सेनापति बंधुल, एक हृदयहीन क्रूर सैनिक ने तुम्हें अपने उष्णीष का फूल बनाया। और, हम तुम्हें अपने घेरे में रखने के लिए कंटीली झाड़ी बनकर पड़े ही रह गये! आज कौशल के हम कंटक स्वरूप हैं ...।”

3. **सरलता, रोचकता एवं प्रवाहमयता:** प्रसाद जी सभी नाटकों की भाषा-शैली के संबंध में यही आरोप लगाया जाता रहा है कि उनकी भाषा-शैली क्लिष्ट है। भाषा की यही क्लिष्टता एवं दुर्बोधता पाठक या दर्शक को भाव ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न करती है। यह सत्य है कि ‘अजातशत्रु’ नाटक में भी क्लिष्ट भाषा-शैली का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है लेकिन वह इतनी भी क्लिष्ट नहीं है कि उसे सामान्य व्यक्ति समझ ही न सके। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

अजातशत्रु : भाई विरुद्धक, मैं तुमसे ईर्ष्या कर रहा हूँ।

विरुद्धक : और मैं वह दिन शीघ्र देखूंगा कि तुम भी इसी प्रकार अपने पिता से क्षमा किये गये।

अजातशत्रु : तुम्हारी वाणी सत्य हो।

बाजिरा : भाई विरुद्धक! मुझे क्या तुम भूल गये? क्या मेरा कोई अपराध है, जो मुझसे नहीं बोलते थे?

विरुद्धक : नहीं, नहीं, मैं तुमसे लज्जित हूँ। मैं तुम्हें सदैव द्वेष की दृष्टि से देखा करता था, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करो।

कबीरदास जी ने भाषा को बहता नीर कहा है, अर्थात् जिस प्रकार एक नदी में पानी सहज गति से प्रवाहित रहता है उसी प्रकार भाषा भी ऐसी ही होनी चाहिये जो भावों को सहज गति से वहन करने में सक्षम हो। आलोच्य नाटक की भाषा के अन्तर्गत प्रवाहमयता का गुण सर्वत्र विद्यमान है। उदाहरणार्थ-

“वासवी : काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने, आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिये और मगध-साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएँ। नाथ! मैं ऐसा द्वेष से नहीं कहती हूँ; किंतु केवल आपका मान बचाने के लिए।”

इस प्रकार विवेच्य नाटक भाषा में सहजता और सरलता होते हुए उसमें प्रवाहमयता का गुण भी विद्यमान है, जिससे पाठक या दर्शकों को संवाद सुनते हुए रसानुभूति होती है।

4. **रसानुरूप भाषा:** 'अजातशत्रु' नाटक में वीर, श्रंगार एवं शांत-रसों की योजना हुए हैं लेकिन कोई भी रस इतना प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं कर सका कि उसे नाटक का अंगीरस कहा जा सके। वीर रस की पुष्टि के लिए ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग किया जाता है जबकि श्रंगार रस के प्रसंगों में माधुर्य प्रधान रहता है। अग्रलिखित उदाहरण में कोशल वंश के राजा प्रसेनजित की रानी शक्तिमती अपने पुत्र विरुद्धक को युद्ध के लिए प्रेरित करती है, जिसका प्रभाव विरुद्धक के कथन में भी स्पष्टतः दिखाई पड़ता है-

शक्तिमती : ... महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायेंगी। मल्लिका तो क्या, राजलक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लौटेगी। पुरुषार्थ करो! इस पथी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं।

विरुद्धक : बस माँ अब कुछ न कहो। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और मेरे जीवन का लक्ष्य होगा। माँ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर इस कोसल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वंदना करूँगा। आशीर्वाद दो कि इस क्रूर परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँ।

इसी प्रकार नाटककार ने श्रंगार रस के प्रसंगों में माधुर्य गुण से परिपूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया है। श्रंगार रस का सुष्ठु उदाहरण श्यामा और विरुद्धक के कथनों में मिलता है, यथा-

श्यामा : (स्वगत) - ... मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ - वह डाकू है तो क्या, मेरी वासना भी अतप्त है। मांगधी! चुप, वह नाम क्यों लेती है। मांगधी कौशांबी के महल में आग लगाकर जल मरी - अब तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठि इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं।

विरुद्धक : रमणी! तुम इस घोर कानन में क्यों आई हो?

श्यामा : शैलेन्द्र, क्या तुम्हें यह बताना होगा! मेरे हृदय में जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझायेगा? तुम स्नेह की परीक्षा चाहते थे - बोलो, तुम कैसी परीक्षा चाहते हो?

जहाँ तक शांत रस की अभिव्यक्ति का प्रश्न है तो प्रस्तुत नाटक में प्रसाद जी ने मल्लिका और गौतम के संवादों में इसी रस को घोल दिया है।

शैली संबंधी विशेषताएँ: 'अजातशत्रु' नाटक में भावों की प्रस्तुति हेतु प्रायः पांच प्रकार की शैलियों का प्रयोग हुआ है, जिसका विवरण इस प्रकार है-

1. **आलंकारिक शैली:** कवि होने के कारण प्रसाद के प्रस्तुत नाटक में आलंकारिक शैली का सौन्दर्य स्थल-स्थल पर विद्यमान है। नाटक के अधिकांश स्थल आलंकारिकता से परिपूर्ण हैं, यथा-
 - (क) "मुझे प्रतिशोध लेना है - दावाग्नि-सा बढ़कर फैलना है। - (उपमा अलंकार)
 - (ख) "संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं।" - (दृष्टांत अलंकार)

- (ग) “नियति की डोर पकड़कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह होगा ही...।” - (दृष्टांत अलंकार)
- (घ) “पर मैं देखता हूँ कि मदिरा के पहले तुमने हलाहल मेरे हृदय में डाल दिया।” - (रूपकातिशयोक्ति)
- (ङ) “राजन संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कतार नहीं।” - (व्यतिरेक अलंकार)

2. **हास्य-व्यंग्य प्रधान शैली:** ‘अजातशत्रु’ नाटक में वसंतक एवं वासवी के कुछ संवादों में हास्य और छलना एवं मांगधी के संवादों में व्यंग्य प्रधान शैली का प्रयोग हुआ है। जीवक और वसंतक के मिलन के अवसर पर प्रसाद ने हास्य शैली का प्रयोग करके नाटक की गंभीरता में जीवंतता लाने का प्रयास किया है। वसंतक वैद्यराज जीवक से कहता है-

“केवल खलबद्ध चलाते रहे और मूर्खता का पुटपाक करते रहे। महाराज ने एक नयी दरिद्र कन्या से विवाह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का उजीर्ण हो गया है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गयी हैं तब कैसे मेल हो? क्या तुम अपनी औषधि से उन्हें विवाह के समय की अवस्था का नहीं बना सकते जिससे महाराज इस अजीर्ण से बच जायें?”

छलना अपने पुत्र अजातशत्रु की विजय का समाचार वासवी को देन के लिए स्वयं आती तो वासवी उससे कहती है कि यह सूचना तो एक सामान्य अनुचर भी दे सकता था। यह सुनकर छलना व्यंग्यात्मक शैली में कहती है-

“किंतु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।”

3. **काव्यात्मक शैली:** प्रसाद जी मूल रूप से कवि थे। अतः उनका कवि रूप उनके नाटकों में भी उभरकर सामने आया है। भावात्मक एवं काव्यात्मक शैली में कविता जैसा आनंद विद्यमान है। इस शैली की भाषा सरल और साहित्यिक दोनों ही प्रकार की है, यथा-

“... स्वर्ण-पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा-जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलता है? मुक्त नील गगन में अपने छोटे-छोटे पंख फैलाकर जब वह उड़ती है, तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है उसके सामने तो पिंजड़े में उसका गान क्रंदन ही है। मैं उसी श्यामा की तरह जो स्वतंत्र है, राजमहल की परतंत्रता से बाहर आयी हूँ। हँसूंगी और हँसाऊंगी, रोऊंगी और रुलाऊँगी! फूल की तरह आयी हूँ- परिमल की तरह चली जाऊँगी, चाहे उसमें जितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़े। चाहे कितनों के प्राण जाएँ, मुझे कुछ चिंता नहीं! कुम्हलाकर, फूलों को कुचल देने में ही सुख है।”

4. **चित्रात्मक शैली:** प्रसाद जी भाषा के अद्वितीय शिल्पी हैं। पात्रों के सामान्य कथन में वे शब्दों का चयन इस प्रकार करते हैं कि उसे एक सम्पूर्ण चित्र साकार हो उठता है। भाषा का यह

गुण उन्हें एक विशिष्ट लेखक की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। अजातशत्रु नाटक के अन्तर्गत उनकी चित्रात्मक शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

मागंधी : (आप-ही-आप) - वाह री नियति! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आये- कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठा कर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ। इस बुद्धिमता का क्या ठिकाना है।”

5. **सूक्ति प्रधान शैली:** ‘अजातशत्रु’ नाटक के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर सूक्ति शैली का प्रयोग हुआ है। ये सूक्तियाँ अत्यधिक प्रभावशाली हैं। इनमें प्रसाद जी का गहन चिन्तन और जीवन का अनुभव समाहित है। इनसे पात्रों के जीवन-रहस्यों का भी उद्घाटन हुआ है, यथा-

- - “मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन पशु-जगत में क्या कम हैं।”
- - “विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो करुणा ही है, जो प्राणि मात्र में समदृष्टि रखती है।”
- - “राजन! संसार-भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कतार नहीं। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है।”
- - “अधिकार, चाहे वे कैसे भी जर्जर और हल्की नींव के हों, अथवा अन्याय से ही क्यों न संगठित हो, सजह में नहीं छोड़े जा सकते।”

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ‘अजातशत्रु’ नाटक की भाषा सर्वत्र भाषाभिव्यंजक है। इसमें भाषा प्रसंग और रस के अनुकूल होकर कहीं सरस, कहीं ओज प्रधान और कहीं व्यावहारिकता की ओढ़नी ओढ़े हुए है। यत्र-तत्र मुहावरों के प्रयोग से भाषा जीवंत हो उठी है। नाटक में भाषा के साथ-साथ शैलीगत विशेषताओं का भी यथास्थान नियोजन किया गया। अतः भाषा और शैली की दृष्टि से यह एक सफल नाटक कहा जा सकता है।

9. अजातशत्रु : रस-योजना

प्राचीन भारतीय नाट्य शास्त्रियों ने कहा कि भाँति नाटक को भी रसात्मक माना है और रस को उसकी आत्मा स्वीकार किया है। लेकिन पाश्चात्य आलोचकों ने सक्रियता एवं समष्टिप्रभाव को ही नाटक का प्राण तत्त्व माना है। आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस की जो परिभाषा निर्धारित की है (विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः) वह अब तक 'रस' का आधार बनी हुई है। इस परिभाषा का तात्पर्य है- विभाव, अनुभाव और संचारी भागों के योग से रस रूप में निष्पत्ति होती है। विविध भावों के आस्वाद से सामान्यजन के हृदय में रसनिष्पत्ति कराना ही नाट्याचार्यों का उद्देश्य रहा है। नाटककार किसी आलंबन को लाकर आश्रय के हृदय में रस की उत्पत्ति करता है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटकों में रस तत्त्व पर विचार करते हुए लिखा है- "प्रसाद के नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर प्रसादान्त हैं। इसका एक प्रमाण है रस का परिपाक। इनके नाटकों में मुख्य रस दो हैं- श्रं गार और वीर। श्रं गार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गंध और रूप-यौवन के चटकीले चित्र, जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति है। इसी प्रकार वीरता की अभिव्यक्ति भी अन्तरतम की पुकार है। ... इन दोनों के साथ तीसरा रस शान्त भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर शासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो पुरुष, उबलकर सीमा तोड़ना चाहता है, तभी शांत रस के शीतल छींटे उसे शांत और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परे शांत की ओर बहता हुआ मिलता है और यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादान्त' है।"

'अजातशत्रु' नाटक में अनेक रसों की सुंदर योजना हुई है और जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने इसमें वीर रस को मुख्य रूप से स्वीकार किया है। आचार्य भरत के अनुसार नाटक में अनेक रसों में जो प्रधान-रूप से विद्यमान रहता है वह रस स्थायी और शेष संचारी होते हैं। आलोच्य नाटक में पाठक या दर्शक जिन रसों का आस्वाद लेते हैं उनका वर्णन इस प्रकार है-

1. **वीर रस:** भारतीय नाट्यशास्त्र में वीर, श्रं गार एवं शांत रस में से किसी एक रस की योजना किये जाने का विधान है। 'अजातशत्रु' नाटक में प्रायः इन तीनों रसों की ही व्यंजना हुई है। प्रस्तुत नाटक की वीर योजना पर विचार किया जाए तो इस संघर्ष, विरोध और युद्ध-प्रधान नाटक का आश्रय अजातशत्रु है और इसके द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य में उत्साह है। इसके द्वारा किए गए सभी कार्य उत्साहपूर्ण हैं, यथा-

“अजातशत्रु : आप लोग राष्ट्र के शुभचिंतक हैं। जब पिताजी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने कियोोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किंतु बात वैसी नहीं थी। मान्य महोदया, राष्ट्र में एक ऐसी गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है जो इस शक्तिशाली मगध-राष्ट्र को उन्नत नहीं देखना चाहती। और मैंने इस बोझ को केवल आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था; आप लोग बताइये कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं? या अपने राष्ट्र को आप लोग अपमानित करना चाहते हैं?”

दूसरा सभ्य : कभी नहीं। मगध का राष्ट्र सदैव गर्व से उन्नत रहेगा और विरोधी शक्तियाँ पददलित होंगी।

अजातशत्रु : तब- आप लोग मेरा साथ देने के लिए पूर्ण रूप से प्रस्तुत हैं? देश को अपमान

से बचाना चाहते हैं?"

अजातशत्रु के उपर्युक्त कथनों में वीर रस का ही संकेत मिल रहा है। प्रस्तुत नाटक के वीर रस पर विचार करते हुए जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने लिखा है- "लेखक के निर्णय के अनुसार नाटक का नायक अजातशत्रु है और उसका लक्ष्य है- राज्यप्राप्ति। वह राज्यप्राप्ति तब तक निरापद नहीं समझी जा सकती जब तक शुद्ध अंतःकरण से बिंबसार आशीर्वाद नहीं देता। अतएव अजातशत्रु की फलप्राप्ति का विरोधी बिंबसार है, भले ही वह विरक्त होकर उसे राज्याधिकार सौंप चुका है। अजात उस फल को प्राप्त करने का उद्योग बड़े उत्साह के साथ करता है। नाटक का अधिकांश इसी उत्साह के प्रचार में लग गया है और सामाजिक उस उत्साह का रसास्वादन करते हैं। अतएव नाटक में वीर रस की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है।" त तीय अंक के विस्तार के कारण इस अंक में वीर रस की निष्पत्ति में विरोध आ जाता है। इस प्रकार वीर रस निष्पत्ति प्रथम दो अंकों में ही प्रभावी दिखाई देती है।

2. **श्रंगार रस:** श्रंगार रस मानव जीवन का प्रधान रस है। प्राणि मात्र के मन को उद्वेलित करने वाला रस जीवन की मूल प्रेरणा के रूप में विद्यमान है। मानव में संपूर्ण कार्य-व्यवहार इसी से प्रेरित हैं। प्रस्तुत नाटक में विरुद्धक (शैलेन्द्र) और मागंधी (श्यामा) के संवादों में श्रंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है, यथा-

श्यामा : मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ - वह डाकू है तो क्या, मेरी वासना भी अत प्त है।

विरुद्धक : रमणी! तुम इस घोर कानन में क्यों आई हो?

श्यामा : शैलेन्द्र क्या तुम्हें यह बताना होगा! मेरे हृदय में जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझाएगा? तुम स्नेह की परीक्षा चाहते थे- बोलो, तुम कैसे परीक्षा चाहते हो?

विरुद्धक : ... तुमसे मिलने में इसलिए मैं डरता था कि तुम रमणी हो और वह भी वार-विलासिनी। मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियाँ डाकुओं से भी भयानक हैं।

श्यामा : ... आंतरिक प्रेम की शीतलता ने - तुम्हें कभी स्पर्श नहीं किया? क्या प्रणय-भिक्षा असफल होगी? जीवन की क त्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते-करते क्या प्राक तिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है? क्या वार-विलासिनी प्रेम करना नहीं चाहती? क्या कठोर और क्रूर कर्म करते-करते तुम्हारे हृदय में चेतनलोक की गुदगुदी और कोमलता के स्पंदन नाम को भी अवशिष्ट नहीं है?"

यह श्रंगारिका उस समय भी दिखाई देती है जब समुद्रगुप्त श्यामा के रूप-सौन्दर्य के आकर्षण में भँवरे की भाँति खिंचा चला आता है।

"अहा! श्यामा का सा कंठ भी है। सुंदरी, तुम्हारी जैसी प्रशंसा सुनी थी, वैसी ही तुम हो! एक बार इस तीव्र मादकता को और पिला दो - पागल हो जाने के लिए इंद्रियाँ प्रस्तुत हैं।"

श्यामा (मागंधी) राजा उदयन के समक्ष भी अपने रूप की चमक को दिखाकर उसे मदहोश बना देती है और संभोग की उस चरम-परिणति को प्राप्त करने के लिए आतुर है जो स्वर्ग का सा सुख प्रदान करती है। प्रस्तुत गीत की इन पंक्तियों में उसके श्रंगारिक दृष्टिकोण को ही वाणी मिली है-

“आओ हिए में अहो प्राण प्यारे!
 नैन भये निर्मोही, नहीं अब देखे बिना रहते हैं तुम्हारे।।
 सबको छोड़ तुम्हें पाया है, देखूं कि तुम होते हो हमारे।।
 तपन बुझे तन की और मन की, हों हम-तुम पल एक न
 न्यारे।।

वस्तुतः श्रंगार रस अजातशत्रु नाटक का पोषक रस कहा जा सकता है। वीर रस के साथ-साथ इसकी प्रधानता भी नाटक में स्पष्टतः दिखाई देती है।

3. **शांत रस:** शांत रस वहाँ होता है जहाँ आवेश, चाहे वह मधुर हो या पुरुष, उबलकर सीमा तोड़ना चाहता है, तभी शांत रस के शीतल छींटे उसे शांत और संयत कर देते हैं। प्रस्तुत नाटक में मल्लिका, गौतम और बिंबसार के संवादों में शांत रस होने की पुष्टि की है। इस संबंध में उनके विचार हैं-

“त तीय अंक में शांत रस की प्रधानता दिखाई पड़ती है जिसका संबंध बिंबसार के जीवन से है। निर्वेद स्थायी भाव का धारणकर्ता- आश्रय बिंबसार ही हो सकता है, अजातशत्रु, जो सांसारिक कुचक्रों और हीनता की प्रतिनिधि है इस निर्वेद का आलंबन है; विरुद्धक और प्रसेनजित का प्रसंग और चलना की कटुवित्तियाँ उद्दीपन का काम करती है; बिंबसार के विरक्ति-सूचक संवाद का अनुभाव हैं; दुःख, कुतूहल, निर्वेद इत्यादि संचारी हैं।”

बिंबसार के इस विरक्ति-सूचक संवाद से स्पष्टतः शांत रस की अभिव्यक्ति हो रही है-

“आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभावत समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त हो अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसके शांतिमय-रहस्यपूर्ण भाग्य का चिह्न समझाने का प्रयत्न करती है, किंतु वह कब मानता है! मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा में करता है; अपनी नीची, किंतु सुदृढ़ स्थिति से उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या?”

प्रस्तुत नाटक में उपदेश-भावना एवं वैराग्य प्रवृत्ति मुखर होने के कारण शांत रस का वर्चस्व दिखाई देता है।

4. **हास्य रस:** प्रस्तुत नाटक में जीवक और वसंतक के प्रसंग के माध्यम से नाटककार ने हास्य रस की उत्पत्ति की है। वसंतक जीवक से कहता है-

“क्या आप निदान कर रहे हैं? अजी अजीर्ण है- अजीर्ण। पाचक देना हो दो, नहीं तो हम अच्छी तरह जानते हैं कि वैद्य लोग अपने मतलब से रेचन तो अवश्य देंगे। अच्छा, हों कहो तो, बुद्धि के अजीर्ण में भी रेचन ही गुणकारी होगा? सुना जी, मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और

**मिथ्या विहार से बुद्धि का!" किंतु महर्षि अग्निवेश ने कहा है
कि इसमें रेचन ही गुणकारी होता है। (हंसता है)**

जीवक : तुम दूसरे की तो कुछ सुनोगे नहीं?

वसंतक : सुना है कि धन्वन्तरि के पास ऐसी पुड़िया थी कि बुद्धिया युवती हो जाए और दरिद्रता का केचुल छोड़कर मणिमयी बन जाए। क्या तुम्हारे पास भी - उहूँ नहीं है? तुम क्या जानो।

X X X X X

केवल खलबट्टा चलाते रहे और मूर्खता का पुटपाक करते रहे।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आलोच्य नाटक में शांत, वीर एवं श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है लेकिन कोई भी इतना प्रमुख स्थान का अधिकारी नहीं हो सका कि उसे मुख्य रस की श्रेणी में रखा जा सके।

10. अजातशत्रु : गीति-योजना

भारत के प्राचीन नाटकों में गान-वाद्य के प्रसंग अवश्य आए हैं परन्तु आधुनिक नाटकों की भाँति उनमें अधिक गानों का प्रयोग नहीं किया गया है। वस्तुतः रोमांटिक नाटकों का प्राण उनका संगीत ही रहा है। संस्कृत के नाटकों में भी गीतों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। संगीत ही ऐसा तत्त्व है जिससे नाटक की कथावस्तु को सामान्य जीवन से बहुत ऊपर उठाया जा सकता है। भावुकता एवं रसात्मकता की सृष्टि गीतों के माध्यम से ही संभव है। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के नाटक में गीतों के संबंध में अभिमत है- “यदि इनका (गीतों का) स्थल-विशेष पर उचित व्यवहार किया जाए तो उतना भद्दा न लगे।”

प्रसाद जी सौंदर्य और प्रेम के सफल शिल्पी हैं। उनके नाटकों में सौंदर्य और प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है, इसी कारण उनके सभी नाटकों में संगीत का झरना कल-कल की ध्वनि करता हुआ बहता दिखाई देता है। इसी तथ्य को अगर दूसरे शब्दों में कहें तो हम कह सकते हैं कि वे मूलतः एक कवि थे और उनकी काव्य-प्रतिभा उनकी समस्त विधाओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। अगर उनकी गद्यपरक रचनाओं की भाषा-शैली का अनुशीलन किया जाए तो उनमें काव्यात्मक की छवि मुखरित होती हुई दिखाई देती है। आज के आधुनिक गीतों का जन्म प्रसाद के उन्हीं गीतों से हुआ है जो उन्होंने अपने नाटकों के लिखे हैं। इन गीतों में कल्पना और भावुकता का सर्वश्रेष्ठ सामंजस्य है। प्रसाद जी ने अपनी गीत विषयक अवधारणा को ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक की नायिका देवसेना के द्वारा स्पष्ट करवाया है- “बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में ताल है, प्रत्येक परमाणु के मिलन में सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है।”

साहित्यिक विधाओं के अन्तर्गत नाटकों में नृत्य-गीत आदि की परम्परा प्राचीन काल से ही रही है, लेकिन प्रसाद का नाटकों में गीत संबंधी दृष्टिकोण उस समय की गीत प्रधान पारसी नाटक पद्धति के कारण है क्योंकि पारसी कंपनियों का नाटक खेलना एक व्यवसाय था। ये कंपनियाँ संगीत-योजना के द्वारा सामान्य पाठक का मनोरंजन करती थीं और सामान्यजन भी नाटक के मध्य में प्रयुक्त इन गीतों के प्रति विशेष आकर्षित थे। प्रसाद मूल रूप से कवि थे अतः उन्होंने नाटकों को गीतों से सजाया-संवारा है। उनके संगीत के स्वर इतने व्यापक रहे कि नर्तकियों आदि तक ही सीमित न रहकर नाटक के प्रायः सभी पात्रों तक विस्तृत हैं। डॉ० विजय कुमार वेदालंकार ने भी प्रसाद की गीति-योजना के संबंध में कहा है-

“प्रसाद को प्रकृति, नियति, अन्तर्द्वन्द्व, रहस्यावादी भावना, प्रेम और करुणा तथा प्रकृति के कार्यों में झलकती हृदय की छाया आदि सभी ने विवश कर दिया कि वे मधुर गीतों का सज्जन नाटकों में सरस प्राणों का संचार करें।”

‘अजातशत्रु’ नाटक में कुल 21 गीतों की योजना की गयी है। ये गीत विविध विषयों से संबंधित हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है-

1. **प्रार्थना विषयक गीत** - प्रार्थना-विषयक गीत का प्रारंभ दूसरे अंक के षष्ठ दृश्य में वासवी द्वारा होता है। बिंबसार की छोटी रानी छलना अपने पुत्र अजातशत्रु की काशी पर विजय का समाचार देते वासवी और बिंबसार के पास आती है। वह वासवी को उसकी असफलता सूचित करवाने के लिए स्वयं आई है। उसके व्यंग्य-बाण न सहने की स्थिति में बिंबसार उसे कहता है- ‘चली जा तुझे लज्जा नहीं - बर्बर लिच्छिवि-रक्त।’ उसके जाने के बाद वासवी ईश्वर से प्रार्थना करती है-

**“दाता सुमति दिजिये!
मानव-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर
बोधन-विवेक-बीज अंकुरित कीजिए।
दाता सुमति दिजिये।।”**

दूसरा प्रार्थनापरक गीत मल्लिका द्वारा गाया गया है। इस गीत की भाव-भूमि बौद्धमत के चिन्तन के अनुकूल है और नाटक में मल्लिका की विचारधारा पर बौद्ध-शिक्षाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रसेनजित मल्लिका का आशीर्वाद लेकर कारायण को सेनापति नियुक्त कर देता है, तब मल्लिका ईश्वर से यह प्रार्थना करती है-

**“अधीर न हो चित विश्व-मोह-जाल में।
यह वेदना-विलोल-वीचि-मय समुद्र है।।
है दुःख का भवर चला कराल चाल में।
वह भी क्षणिक, इसे कहीं टिकाव है नहीं।।
सब लौट जायेंगे उसी अनंत काल में।। अधीर.।”**

ईश्वर की यह प्रार्थना नाटकीय परिस्थितियों में अलपती नहीं लगती। प्रसंग के अनुकूल होने के कारण प्रार्थना गीत का अपना सौंदर्य है और इसके माध्यम से वासवी एवं मल्लिका की उज्ज्वल भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति हुई है।

2. **प्रेम, यौवन और सौंदर्य-विषयक गीत:** आलोच्य नाटक में प्रेम, यौवन एवं सौंदर्य से संबंधित सभी गीत श्यामा (मागधी) ने गाए हैं केवल एक गीत ऐसा है जो बाजिरा ने गाया है। इन गीतों को श्यामा ने अपने मत के भावों के प्रकाशन तथा दूसरों की प्रेरणा से उनके मनोरंजन के लिए गाया है। ‘प्रेम’ और ‘सौंदर्य’ नामक तत्त्व के अभाव में मानव जीवन निस्सार है। ये दोनों तत्त्व ही प्रकृति एवं मानव का मानव के प्रति अनुराग एवं लगाव उत्पन्न करते हैं। दर्शकों एवं पाठकों का नाटक के प्रति अनुराग एवं लगाव उत्पन्न करने के लिए प्रसाद जी ने श्यामा एवं बाजिरा नामक पात्रों की स्थापना की है।

प्रथम अंक के पंचम दृश्य में उदयन मागंधी से आग्रह करता है कि जब तक दासी मेरी वीणा लेकर आती है तुम्हीं कुछ सुनाओ। अपने पति के आदेश का अनुपालन करते हुए मागंधी जिस गीत को गाती है वह उसकी आंतरिक अभिलाषाओं का ही मूर्त रूप है-

**आओ हिये में अहो प्राण प्यारे!
नैन भये निर्माहि, नहीं अब देखे बिना रहते हैं तुम्हारे।।
सबको छोड़ तुम्हें पाया है, देखूँ कि तुम होते हो हमारे।।
तपन बुझे तन की और मन की, हों हम-तुम पल एक न न्यारे।।
आओ हिये में अहो प्राण प्यारे!**

मागंधी अपने मन की इच्छा प्रकट करते हुए अपने पति से कहती है कि मैं तुम्हें एक पल के लिए भी अपने से दूर नहीं करना चाहती। उदयन उसकी एक अभिलाषा को समझते हुए उसे आश्वासन देते हुए कहता है-

**हमारे वक्ष में बनकर हृदय, यह छवि समायेगी।
स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला गान गायेगी।।
अलग तब चेतना ही चित्त में कुछ रह न जायेगी।
अकेले विश्व-मंदिर में तुम्हीं को पूज पायेगी।।**

द्वितीय अंक में दूसरे दृश्य में श्यामा अपने प्रेमी विरुद्धक (शैलेन्द्र डाकू) से रात्रि को एकांत में मिलकर जो प्रणव-निवेदन करती है, अपने उस प्रेम-निवेदन को प्रभावशाली बनाने के लिए

ही निम्नलिखित गीत के माध्यम से अपनी मन की अभिलाषाओं को व्यक्त करती है-

बहुत छिपाया, उफन पड़ा अब, संभालने का समय नहीं है।
अखिल विश्व में सतेज फैला, अनल हुआ यह प्रणय नहीं है।।
कहीं तड़पकर गिरे न बिजली, कहीं न वर्षा हो कालिमा की।
तुम्हें न पाकर शशांक मेरे बना शून्य यह, हृदय नहीं है।।

X X X X X

पलक-पांवड़े बिछा चुकी हूं, न दूसरा और, भय नहीं है।।
चपल निकलकर कहाँ चले अब, इसे कुचल दो म दुल चरण से।
कि आह निकले दबे हृदय से, भला कहा, यह विजय नहीं है?

द्वितीय अंक के अष्टम दृश्य में श्यामा मदिरा का अत्यधिक सेवन करने से मदहोश सी हो जाती है और इसी दशा में शैलेन्द्र के समक्ष यह गीत गाती है-

अम त हो जायेगा, विष भी पिला दो हाथ से अपने।
पलक ये छक चुके चेतना उसमें लगी कंपने।।
विकल हैं इंद्रियों, हों देखते इस रूप के सामने।
जगत विस्म त हृदय पुलकित लगा वह नाम है जपने।।

यह गीत श्यामा और शैलेन्द्र के चारित्रिक गुण-दोषों को उजागर करने वाला है। इसमें श्यामा का शैलेन्द्र के प्रति अगाध विश्वास और शैलेन्द्र का श्यामा के प्रति विश्वासघात आदि विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है।

इसी अंक में श्यामा द्वारा गाया गया कामोत्तेजक गीत मदिरा-पान करते हुए शैलेन्द्र और श्यामा की मनोभावनाओं और वातावरण के सर्वथा अनुकूल है -

“निर्जन गोधुली प्रांतर में खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाए बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारों से उगे हुए की तुकराए की लाखों से,

X X X X X

यह विश्राम संभल जायेगा सहज व्यथा के सोने में।
बीती बेला, नील गगन-तम, छिन्न विपची, भूला प्यार,
छपा-सद श छिपना है फिर, तो परिचय देंगे आँसू-हार।।”

प्रथम अंक के पंचम दृश्य में श्यामा और उदयन सुरापान करते हैं तथा नर्तकियाँ गीत गाती हैं जो परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल हैं। इस गीत में मागंधी के मन की यह इच्छा झलक रही है कि महाराज उदयन उसे कभी न भूल पायें-

प्यारे निर्मोही होकर मत हमको भुलाना रे।
बरसों सदा दया-जल शीतल
सिंचे हमारा हृदय-मरुस्थल
कँटीले फूल इसी में फूलना रे।

इसी प्रकार तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में बाजिरा विरुद्धक के प्रति आसक्त होकर गीत गाती है, जो उसकी मनोभावनाओं का अभिव्यंजक होने के कारण पूर्णतः अवसरानुकूल है-

“हमारे जीवन का उल्लास, हमारे जीवन धन का रोष।
हमारी करुणा के दो बूँद मिले एकत्र, हुआ संतोष।।

X X X X X

**नहीं तो निष्ठुरता का अंत, चला दो चपल नयन के बाण।
हृदय छिद जाय विकल, वेदना से हो उसका त्राण।।**

इस प्रकार उपर्युक्त अधिकांश गीतों में श्यामा अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करती नजर आती है। उसके एवं बाजिरा के हृदयगत भावों की प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति के कारण नाटक कथा में रोचकता एवं रोमांटिकता का समावेश हो गया है।

3. **कल्याण की कामना से संबंधित:** प्रस्तुत नाटक का प्रथम गीत वासवी द्वारा गाया गया है, जो नाट्य शास्त्र के अनुसार भरत वाक्य में दर्शकों की कल्याण कामना के लिए आशीर्वाद दिया जाता है। जब छलना अजातशत्रु और पद्मावती को लेकर झगड़ा करती है तो वासवी उन्हें समझाती हुई यह गीत गाती है, जो सर्वथा अवसरानुकूल है-

**बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नहे बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बंधुवर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर?**

इसके माध्यम से प्रसाद जी कहना चाहते हैं कि यदि प्रेम, दया, परस्पर मेल-जोल की भावना का प्रचार-प्रसार होगा तो प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो जाएगा।

4. **आन्तरिक मनोदशा को चित्रित करने वाले:** संसार-सागर में रहते हुए मानव सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं से गुजरता है। सुख की अवधि ही लंबी होती है लेकिन दुःख ज्यादा समय तक न सट पाने के कारण जीवन दुःखमय ही दिखाई देने लगता है। इन्हीं दुःखों से निजात पाने के कारण जीवन सुखावस्था के सुनहरी क्षणों का आनंद लेने के लिए मानव संगीत के माध्यम से अपने मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार की अभिव्यक्ति आलोच्य नाटक में भी हुई है। प्रथम अंक के पाँचवे दृश्य के आरम्भ में मागंधी इस बात से दुःखी है कि उसके पति महाराज उद्यन उसकी उपेक्षा करते हुए अन्य दोनों रानियों से मिलने के लिए जाते हैं। अपनी इस खीझ को ही वह निम्नलिखित गीत के माध्यम से उजागर करती है-

**अली ने क्यों भला अवहेलना की।
चंपक-कली खिली सौरभ से उषा मनोहर बेला की
विरस दिवस, मन बहलाने को मलयज से फिर हेला की।
अली ने क्यों अवहेलना की।”**

इसी प्रकार की स्थिति पद्मावती के साथ भी है। वह वीणा बजाने का प्रयास करती है लेकिन वह बज नहीं पाती, क्योंकि वह मन से बहुत दुःखी है। उसके पति उसके प्रति उदासीन हैं इसीलिए वह दुःखी है। ऐसी स्थिति में गाया गया यह गीत पद्मावती के हृदय की निराशा और व्याकुलता को अभिव्यक्त करता है। गीत-योजना की दृष्टि से यह गीत सर्वथा उचित है-

**मीड मत खिंचे बीत के तार!
निर्दय उँगली। अरी ठहर जा,
पल-भर अनुकंपा से भरे जा,
यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।**

**छेड़-छेड़कर मूक तंत्र को
विचलित कर मधुमौन मंत्र को
बिखरा दे मत, शून्य पवन में
लय हो स्वर-संसार**

मसल उठेगी सकरुण वीणा,
 किसी हृदय को होगी पीड़ा,
 न त्य करेगी नन्म विकलता,
 परदे के उस पार!"

प्रथम अंक के अष्टम दृश्य में पद्मावती अपने मन को यह सांत्वना दे रही है कि मेरे पति अगर मेरे पास नहीं आते तो इसमें मुझे घबराना नहीं चाहिये क्योंकि मैं तो अपनी तरफ से उनकी वफादार हूँ। इसी संदर्भ में वह दो पद्यात्मक पंक्तियाँ प्रयोग करती है-

"हमारा प्रेमनिधि सुंदर सरल है,
 अम तमय है, नहीं इसमें गरल है।"

द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में समुद्रगुप्त श्यामा से कुछ गाने के लिए कहता है। वह अपने कोमल कंठ से उसकी इच्छापूर्ति करती हुई गाने लगती है-

"चला है मंथर गति में पवन रसीला नंदन कानन का।
 नंदन कानन का रसीला नंदन कानन का ॥ च० ॥

X X X X X

उषा सुनहला मद्य पिलाती, प्रकृति बरसाती फूल,
 मतवाले होकर देखो तो विधि-निषेध को भूल;
 आज कर लो अपने मन का।
 नंदन कान का, रसीला नंदन कानन का ॥ च० ॥

उपर्युक्त गीत में श्यामा की भी यही इच्छा झलकती है कि समुद्रदत्त उसके प्रति इतना अधिक आकर्षित हो जाए कि वह उसकी बातों का अंधानुकरण करने लगे। इस प्रकार यह गीत परिस्थितियों के अनुकूल है।

तृतीय अंक के तीसरे दृश्य में विरुद्धक जिस गीत को गाता है, उसमें विरुद्धक का बाजिरा के प्रति प्रेम-भाव अभिव्यक्त हुआ है। यह उसकी कल्पनाओं के माध्यम से उपजा एक-तरफा प्रेम है -

"अलक की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब
 सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरंब।
 बरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज कानन का संकोच,
 अरे जलद में भी यह ज्वाला! झुके हुए क्यों किसका सोच,

X X X X X X X

थके प्रवासी बनजारों-से लौटे हो मंथर गति से;
 किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से?

यह गीत पूर्णतः प्रसंगानुकूल है। इसमें विरुद्धक अपने ही मन से प्रश्न करता है कि मुझमें यह प्रेम-भाव कैसे अंकुरित हुआ।

तृतीय अंक में सप्तम दृश्य में यह दिखाया गया है कि श्यामा का जीवन पूर्णतः परिवर्तित हो चुका है। वह अपनी मनोदशा के अनुकूल यह गीत गाती है। इस गीत की योजना श्यामा की मनोदशा की सूचना देने के लिए की गई है-

"स्वप्न दीखता न विश्व में अब, न बात मन में समाय कोई।
 पड़ी अकेली विकल रो रही, न दुःख में है सहाय कोई।
 पलट गए दिन सनेह वाले, नहीं नशा, अब रही न गर्मी।

न नीद सुख की, न रंगरलिया, न सेज उजला बिछाय सोई।।

X X X X X

क्षणिक वेदना अनंत सुख बस, समझ लिया शून्य में बसेरा।

पवन पकड़कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई।।

5. **उपदेशात्मक गीत:** मानव हृदय को संयमित एवं सन्मार्ग पर चलाने के लिए साधु-संतों एवं विद्वानों द्वारा समय-समय दिए उपदेश कारगर सिद्ध हुए हैं। सच्चे उपदेश मानव-व्यवहार को भी नियंत्रित करते हैं। आलोच्य नाटक में भी गौतम बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में बिंबसार गौतम बुद्ध के प्रति आदर भावना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि भगवन आपने यहाँ पधारकर मुझे अनुगृहीत किया है। यह सुनकर गौतम उन्हें समझाते हैं कि राजन! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्वभर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो सभी प्राणियों में समानता बनाए रखती है। गौतम इसी 'कारुणा' के विषय में बताते हुए अपने उद्गार व्यक्त करते हैं-

“गोधुली के राम पटल में स्नेहांचल फहराती है।

स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है।।

मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चंद्रकांति बरसाती है।

निर्निमेष ताराओं से वह ओस-बूंद भर लाती है।।

निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।

मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।।”

प्रथम अंक के षष्ठ दृश्य में भी गौतम ने एक उपदेशपरक गीत गाया है। यह गीत उस समय गाया है जब जीवक गौतम से यह कहता है कि “मगध-राजकुल में बड़ी अशांति है। वानप्रस्थ-आश्रम में भी महाराज को चैन नहीं है।” यह सुनकर गौतम मानव की चंचल प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहता है-

“चंचल चंद्र, सूर्य है चंचल,

चपल सभी ग्रह तारा हैं।

चंचल अनिल, अनल, जल, थल

सब चंचल जैसे पारा है।

जगत प्रगति से अपने चंचल,

मन की चंचल लीला है।

X X X X X

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,

दुःख-मूल यह भूल महा।

चंचल मानव! क्यों भूला तू,

इस सीठी में सार कहाँ।

6. **संदेशपरक गीत:** किसी भी नाट्यकृति का सजन करते समय नाटककार के मन में कोई न कोई संदेश अवश्य ही निहित होता है। वह अपने संदेश को किसी एक पंक्ति या गीत के माध्यम से भी संप्रेषित कर सकता है। प्रस्तुत नाटक में भी प्रसाद जी ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से दर्शकों एवं पाठकों को अवगत कराया है। उन्होंने गौतम के माध्यम से संदेश लिया है कि मानव को संसार के मोह-जाल में नहीं फँसना चाहिये, क्योंकि संसार का अस्तित्व तो बरसाती नाले के समान अल्पकालिक है। मानव को दीन-दुखियों की सेवा करनी चाहिये। इस गीत को प्रसाद जी ने बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा गाते हुए दिखाया है-

“न धरो कहकर इसको ‘अपना’
 यह दो दिन का है सपना ।। न धरो०।।
 वैभव का बरसाती नाला, भरा पहाड़ी झरना।
 बहो, बहाओ नहीं अन्य को, जिससे पड़े कलपना।। न धरो०।।
 दुखियों का कुछ आसूँ पोंछ लो, पड़े न आहें भरना।
 लोभ छोड़कर हो उदार, बस, एक ‘उसी’ को अपना।। न धरो०।।”

उपर्युक्त गीत का महत्त्व इसलिए भी है कि विक्षुब्ध मनोदशा वाले बिंबसार को इसी गीत के माध्यम से आश्वासन दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ‘अजातशत्रु’ की गीति-योजना पात्रों के व्यक्तित्व को उभारने तथा परिस्थितियों के अंकन में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है। प्रसाद के नाटकों के गीतों के संबंध में डॉ० नगेन्द्र का मत है- “प्रसाद के नाटक मधु से वेदित हैं- प्रसाद मूल रूप से कवि हैं। अतः उनके नाटकों में काव्य की गहराई एवं पथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तुचयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव-सभी में कविता का रंगीन स्पंदन है। ... उनके नाटक गद्य-गीतों के अक्षय भंडार हैं।”

इस प्रकार प्रसाद के गद्य गीतों का महत्त्व सर्वविदित है।

11. अजातशत्रु : पात्र-योजना

(i) अजातशत्रु

अजातशत्रु मगध नरेश बिंबसार का पुत्र और आलोच्य नाटक का नायक है। उसकी माँ का नाम छलना (चेल्लना) है। वह देवदत्त के कहने पर अपने पिता को सिंहासन से हटाकर स्वयं शासन कार्य संभालता है। नाटक के अंत में उसमें सद्बुद्धि आ जाती है, वह अपनी विमाता वासवी और पिता बिंबसार से अपने अभद्र व्यवहार के लिए क्षमा-याचना भी करता है। उसके चरित्र के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं-

1. **कठोर स्वभाव:** नाटक के प्रारंभ में ही अजातशत्रु के कठोर स्वभाव के दर्शन हो जाते हैं। नाटक के प्रथम वाक्य में ही उसकी क्रूरता एवं उग्र स्वभाव की झलक दिखाई देती है- “क्यों रे लुब्धक! आज तू म गशावक नहीं लाया। मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?” प्रत्युत्तर में लुब्धक ने बताया कि मैंने एक म गशावक पकड़ा तो था लेकिन जब उसकी माँ ने मेरी तरफ करुणा भरी दृष्टि से देखा तो मैंने उसे छोड़ दिया। यह सुनकर अज्ञात उसे कोड़े मारने के लिए समुद्रदत्त से कोड़ा मंगवाने का आदेश देता है- “हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र! ला तो कोड़ा।” इस कथन में उसकी हिंसा की प्रवृत्ति तो दिखाई देती है, साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि उसे अपनी आज्ञा का उल्लंघन पसंद नहीं है। इन दोनों मध्य जब पद्मावती हस्तक्षेप करती है तो वह कहता है- “यह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।” इतना ही नहीं वह अपनी विमाता से यहाँ तक कह देता है- “माँ, मैं तुम्हारे यहाँ नहीं आऊंगा, जब तक पद्मा घर न जाएगी।” क्योंकि- “यह पद्मा बार-बार मुझे अपदस्त किया चाहती है, और जिस बात को मैं कहता हूँ, उसे ही रोक देती है।” जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के अनुसार- “इन उद्धरणों से उसमें अधिकार-दर्प, शासन की क्रूरता, पदसम्मान को लेकर उच्च खलता और दुःशीलता प्रकट हो रही है। यही दुर्गुण उसके चरित्र-विकास की मूल भित्ति है।”
2. **शासक रूप:** गौतम के कहने पर अजातशत्रु को युवराज बना दिया जाता है। सिंहासन पर बैठकर वह शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाता है। समुद्र द्वारा उसे ज्ञात होता है कि काशी ने राज्य कर देने से मना कर दिया है तो वह एक कठोर शासक के समान व्यवहार करते हुए कहता है-

“क्या यह सच है समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ। प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है? चोटी के पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। ‘राज-कर मैं न दूँगा’- यह बात जिस जिह्वा से निकली- बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गयी? काशी का दंडनायक- कौन मूर्ख है? तुमने उसी उसे बंदी क्यों नहीं किया?”

उसमें एक अच्छे शासक के गुण उस समय भी देखने को मिलते हैं जब वह अपनी बात को मंत्रि-परिषद में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि सभी पार्षद उससे सहमति व्यक्त करते हैं-

“अजातशत्रु : तब-आप लोग मेरा साथ देने के लिए पूर्ण रूप से प्रस्तुत हैं? देश को अपमान से बचाना चाहते हैं?”

कुछ सभ्य : अवश्य! राष्ट्र के कल्याण के लिए प्राणों तक का विसर्जन किया जा

सकता है- और हम सब ऐसी प्रतिक्रिया करते हैं।”

X X X X X

अजातशत्रु : फिर आप लोग आज की इस मंत्रणा से सहमत हैं?

सब : हम सबको स्वीकार है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उसका यह शासक रूप उग्रता और आक्रोश से मंडित है, ये तत्व एक अच्छे शासक के विकास-मार्ग में बाधक होते हैं।

3. **कुशल वक्ता:** देवदत्त के साथ अजातशत्रु महामान्य परिषद के सभ्यगण से जिस युक्तिपूर्ण ढंग से बातचीत करता है और उन्हें अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है उससे उसकी व्यवहार-पटुता का पूरा बोध हो जाता है। परिषद को वह जिस प्रकार उत्तेजित करके अपने पक्ष में लाता है और देवदत्त को परिषद का प्रधान बनाता है उससे उसमें सभा-चातुरी और मन की स्थिति को परखने की पूरी-पूरी शक्ति प्रकट होती है। उसके कुशल वक्ता होने का एक उद्धरण दृष्टव्य है-

“आप लोग राष्ट्र के शुभचिंतक हैं। जब पिताजी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने किशोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किंतु बात वैसी नहीं थी। मान्य महोदयो, राष्ट्र में एक ऐसी गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है जो इस शक्तिशाली मगध-सम्राट को उन्नत नहीं देखना चाहती। और मैंने इस बोझ को केवल आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था; आप लोग बताइये कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं? या अपने राष्ट्र और सम्राट को आप लोग अपमानित कराना चाहते हैं?”

उसके इस प्रश्न के उत्तर में सभासद कह उठते हैं- “मगध का राष्ट्र सदैव गर्व से उन्नत रहेगा और विरोधी शक्तियाँ पददलित होंगी।” सभी सभासद अजात का साथ देने के लिए तत्पर हो जाते हैं और उसकी मंत्रणा को भी बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लेते हैं। यह सब कार्य उसकी वाक्-पटुता के कारण ही संभव हो सका।

4. **पद लिप्सा:** अजातशत्रु की माँ छलना एवं देवदत्त के प्रयासों के परिणामस्वरूप उसे युवराज बना दिया जाता है। उसकी माँ अपने पति बिंबसार पर दबाव डालकर उन्हें अजात के युवराज्याभिषेक की घोषणा शीघ्रताशीघ्र करवा देती है। गौतम भी बिंबसार को यही परामर्श देते हैं कि अजातशत्रु को युवराज बना देना चाहिये लेकिन इससे पहले वे अजात से एक प्रश्न करते हैं- “क्यों कुमार, तुम राजा का कार्य मंत्री-परिषद की सहायता से चला सकोगे?” प्रश्न सुनकर अजातशत्रु जो उत्तर देता है उसमें उसकी शासन करने की लालसा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है- “क्यों नहीं, पिता जी यदि आज्ञा दें।”

अजातशत्रु को विरुद्धक का यह पत्र मिलता है कि वह अपने पिता प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोह करके सिंहासन पर बैठना चाहता है। इसमें वह अजातशत्रु की सहायता चाहता है। अजात भी इस बात का समर्थन करते हुए कहता है-

“गुरुदेव, बड़ी अनुकूल घटना है। मगध जैसा परिवर्तन कर चुका है - वही तो कोसल भी चाहता है। हम नहीं समझते कि बुद्धों को क्या पड़ी है और उन्हें सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी और नियंत्रण में बंधी हुई, संसार के

कीचड़ में निमज्जित राजतंत्र की पद्धति - नवीन उद्योग को असफल कर देगी? तिल-भर भी जो अपने पुराने विचारों से हटना नहीं चाहता उसे अवश्य नष्ट हो जाना चाहिये, क्योंकि यह जगत ही गतिशील है।”

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अजात में पद-लिप्सा की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से विद्यमान थी। उसकी यही पद-लिप्सा नाटक में अनेक घटनाओं को जन्म देती है, लेनिक अन्त में उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

5. **प्रेमी रूपः** युद्ध करते हुए अजातशत्रु को बन्दी बनाकर कोशल ले जाया जाता है। वहाँ प्रसेनजित की पुत्री बाजिरा को अपने प्रति आकृष्ट देखकर उसके हृदय में विचित्र-सी अनुभूति होती है और वह भी उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है-

“इस श्यामा रजनी में चंद्रमा की सुकुमार किरण-सी तुम कौन हो-सुंदरि, कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है। किंतु नहीं, अब मुझे विश्वास हुआ है कि भगवान ने करुणा की मूर्ति मेरे लिए भेजी है और इस बंदी गृह में भी उसकी कोई अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है।”

बाजिरा उससे अपना परिचय छिपाना चाहती है और कहती है कि मेरा परिचय जानकर तुम संतुष्ट नहीं होंगे। यह सुनकर अजात अपने प्रेमपूर्ण उद्गारों को व्यक्त करता हुआ कहता है-

“तुम चाहे प्रसेनजित की ही कन्या क्यों न हो; किंतु मैं तुमसे असंतुष्ट न हूँगा; मेरी समस्त श्रद्धा अकारण तुम्हारे चरणों पर लोटने लगी है, सुंदरि।”

बाजिरा का वास्तविक परिचय जानने पर भी वह उससे घृणा नहीं करता। बाजिरा के प्रेम की कोमल प्रवृत्ति उसकी हिंसा और प्रतिक्रिया को शांत करती है और उसकी उद्दण्डता एवं उच्छ्वेद-खलता का शमन भी कर देती है। अजात स्वयं कहता भी है- “सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया। अब यदि कोशल-नरेश मुझे बंदीगृह से छोड़ दें तब भी मैं कैसे जा सकूँगा।” उसका क्रोध, घृणा, विद्रोह आदि बाजिरा का प्रेम पाकर समाप्त हो जाता है। वह सामाजिक नियमों का उल्लंघन भी नहीं करना चाहता। जब बाजिरा उसके कैदखाने का जंगला खोलकर उसे मुक्त कर देती है, तब भी वह कायर की भाँति वहाँ से नहीं भागता और सामाजिक मर्यादा का ध्यान करते हुए बाजिरा से कहता है-

“यह तो नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रतिफल में तुम्हें अपने पिता से तिरस्कार और भर्त्सना ही मिलेगी। शुभे! अब यह तुम्हारा चिर-बंदी मुक्त होने की चेष्टा भी न करेगा।”

निष्कर्ष रूप में डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है- “प्रेम के क्षेत्र में वह सच्चे प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है। बाजिरा से कारायण का प्रेम निवेदन सुनकर आत्मविश्वास और गर्व से भरे वीर की भाँति वह ललकार उठता है- “कारायण! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा है तो मैं तुमको द्वंद्व युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।” वस्तुतः बाजिरा के प्रेम के स्पर्श के कारण ही उसकी सोच नकारात्मक से सकारात्मक बन जाती है।

6. **मातृ एवं पितृ भक्त रूपः** बाजिरा से विवाह के पश्चात् वह एक बच्चे का पिता बनता है। पिता बनने के उपरान्त ही उसे पिता और पुत्र के संबंधों की अनुभूति होती है। उसकी यही अनुभूति उसके पिता के पास ले जाकर अपनी अद्दण्डता के लिए क्षमा-याचना करने को प्रेरित करती

है। वह अपने पिता के पैर पकड़ लेता और उसकी सेवा करना चाहता है। तब बिंबसार यह कहकर पैर छुड़ाने का प्रयास करता है कि, “मगधराज अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिये।” प्रत्युत्तर में अजात अपने पिता से कहता है- “नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य-अधिकार से वंचित किया अबोध पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है?”

वह अपनी माँ छलना द्वारा दी गई शिक्षा को अपूर्ण बताकर अपने पिता से क्षमा माँगने में सफल हो जाता है-

“नहीं पिता, मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था तो केवल जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान-अपने को विश्व-भर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा - आत्ममान।”

इतना ही नहीं वह अपनी विमाता वासवी के प्रति भी उस समय श्रद्धानत हो जाता है जब वह उसे जेल से मुक्त कराती है। वह कह उठता है-

“कौन! विमाता? नहीं, तुम मेरी माँ! इतनी ठंडी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया। मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया है, माँ! क्या तुम मुझे क्षमा करोगी?”

वासवी उसे लेकर मगध के सिंहासन पर बिठाने के लिए आतुर है इसलिए उसे शीघ्रातिशीघ्र मगध भेजना चाहती है तो अजात कहता है-

“नहीं माँ, अब कुछ दिन उस विषैली वायु से अलग रहने दो। तुम्हारी शीतल छाया का विश्राम मुझे अभी नहीं छोड़ा जाएगा।”

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने आलोच्य नाटक में अजातशत्रु के जीवन के एक क्रमिक-विकास को प्रस्तुत किया है। उसके चरित्र की गतिशीलता उसे असद् प्रवृत्तियों से सद् प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करती है। बाजिरा का प्रेम उसके क्रोध, घणा, प्रतिहिंसा, उच्छंखलता आदि नकारात्मक प्रवृत्तियों का शमन कर देता है। इस प्रकार अजातशत्रु नामक पात्र नाटक के अन्त में दर्शकों एवं पाठकों के हृदय में स्थान बना लेता है और उनकी सहानुभूति का पात्र भी बन जाता है।

(ii) बिंबसार

प्रस्तुत नाटक में बिंबसार के दर्शन मगध के वध सम्राट के रूप में होते हैं। पुत्र द्वारा विद्रोह करके सिंहासन का कार्य-भार स्वयं लेने पर वह तटस्थ रहकर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर लेता है। नाटक का समापन उनकी मृत्यु से ही हुआ है। आलोच्य नाटक में प्रसाद जी ने उनके चरित्र-विकास को इतना अधिक विस्तार नहीं दिया है लेकिन फिर भी वह प्रस्तुत नाटक का एक प्रमुख पात्र है। उसके चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. **राज्याधिकार की लिप्सा:** आलोच्य नाटक में बिंबसार का राज्य-सिंहासन के प्रति विशेष मोह दिखाई देता है। वह वध होने पर भी अपने पुत्र अजातशत्रु को राज्य सिंहासन नहीं सौंपना चाहता। उनकी रानी छलना अपने पुत्र को सिंहासन दिलवाने के लिए जी-तोड़ प्रयास करती है और इस विषय पर वासवी से भी झगड़ा कर बैठती है। गौतम बुद्ध के आने के कारण वार्तालाप रुक जाता है। छलना वहाँ से जाने की आज्ञा माँगती है तो बिंबसार व्यंग्यात्मक स्वर

में कहता है- “हाँ छलने! तुम जा सकती हो, किंतु कुणीक को न ले जाना क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है। उनका यह कथन प्रकारान्तर में राज्य के प्रति मोह-भाव व्यक्त करता है।

गौतम बुद्ध पहले ही सचेत कर देता है कि तुम्हें इस समय राज-कार्य छोड़कर उचित व्यक्ति को दे देना चाहिए-

“यह बोझ, जहाँ तक शीघ्र हो, यदि एक अधिकारी व्यक्ति को सौंप दिया जाए, तो मानव को प्रसन्न ही होना चाहिये, क्योंकि राजन्, इससे कभी-न-कभी तुम हटाये जाओ; जैसा कि विश्व भर का नियम है। फिर, यदि तुम उसे उदारता से भोगकर छोड़ दो, तो इसमें क्या दुख?”

लेकिन बिंबसार इसे छोड़ना नहीं चाहता, वह अपनी राज्य-सिंहासन संबंधी आसक्ति को प्रकट करते हुए कहता है-

“योग्यता होनी चाहिये महारा! यह बड़ा गुरुत्तर कार्य है। नवीन रक्त राजश्री को सदैव तलवार के दर्पण में देखना चाहता है।”

बिंबसार द्वारा इस प्रकार के तर्क देते हुए देखकर गौतम उनकी राज्य-लिप्सा की प्रवृत्ति को उजागर करते हुए कहता है-

“ठीक है। किंतु काम करने के लिए किसी ने भी आज तक विश्वस्त प्रमाण नहीं दिया कि वह कार्य के योग्य है। यह तुम्हारा बहाना राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट कर रहा है। राजन् समझ लो- इस गह-विवाद और आंतरिक झगड़े से विश्राम लो।”

बिंबसार गह-कलह की चेतावनी से भयभीत होकर राज्यसिंहासन अजातशत्रु को सौंप देता है। सिंहासन को त्यागकर भी वह संतुष्ट नहीं है क्योंकि राज्याधिकार की लिप्सा उसे बार-बार सताती है। वासवी द्वारा यह प्रस्ताव रखने पर कि काशी का राज्य उसके पिता ने उसे दहेज में दिया था, अतः आप अपना सम्मान बचाने के लिए अपने पास रख सकते हैं। इस प्रस्ताव का बिंबसार विरोध नहीं करता, जिसके कारण प्रकारान्तर में युद्ध भी होता है। अर्थात् बिंबसार में सत्ता के प्रति मोह बना रहता है।

2. **बौद्ध-धर्म का अनुयायी:** प्रसाद जी ने ‘अजातशत्रु’ के विभिन्न उद्देश्यों में से एक उद्देश्य ‘बौद्ध धर्म का प्रभाव’ को प्रमुखता से स्थान दिया है। बिंबसार को भी इसी धर्म का अनुसरण करते हुए दिखाया है। वे गौतम के बहुत बड़े प्रशंसक हैं। जिस समय बिंबसार अपनी रानी छलना के झगड़े में उलझे हुए थे कि तभी कंचुकी आकर यह सूचना देती है कि भगवान गौतम बुद्ध आ रहे हैं तो वे छलना से कहते हैं-

“छलना! हृदय का आवेग कम करो, महाश्रमणों के सामने दुर्बलता न प्रकट होने पावे।”

गौतम के आगमन करते ही बिंबसार उनसे विनयपूर्वक कहने लगे-

“भगवन, आपने पधारकर मुझे अनुगृहीत किया है।” तथा “करुणामूर्ती! हिंसा से रंगी हुई वसुंधरा आपके चरणों के स्पर्श से अवश्य ही स्वच्छ हो जाएगी। उसकी कलंक-कालिमा धुल जाएगी।”

“भगवान की शांतिवाणी की धारा-प्रलय की नरकाग्नि को भी बुझा देगी - मैं क तार्थ हुआ।”

बिंबसार सिंहासन त्यागकर अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाने के पक्षपाती नहीं थे लेकिन जब गौतम बुद्ध उन्हें यह परामर्श देते हैं कि-

“तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण भोग से कुछ विश्राम लो।”

यह आदेश सुनकर बिंबसार थोड़े से विरोध के बाद उसे स्वीकार कर लेते हैं और अजात को युवराज बनाकर स्वयं वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लेते हैं।

इसी प्रकार जब बिंबसार को यह पता चलता है कि देवदत्त उसे गौतम का प्रबल समर्थक समझकर उसके प्राणों का हरण करना चाहता है तो वह गौतम के संबंध में कहता है-

“मूर्खता-नहीं नहीं, वह देवदत्त की क्षुद्रता है। भला आत्मबल या प्रतिभा किसी की प्रशंसा के बल से विश्व में खड़ी होती है? अपना अवलंब वह स्वयं है, इसमें मेरी इच्छा या अनिच्छा क्या? वह दिव्य-ज्योति स्वतः सबकी आँखों को आकर्षित कर रही है। देवदत्त का विरोध केवल उसे विरोध दे सकेगा।”

इस प्रकार प्रसाद जी ने बिंबसार को सम्पूर्ण नाटक में गौतम के उपदेशों एवं शिक्षाओं का अनुपालन करते हुए दिया है।

3. **दार्शनिक विचारधारा:** आलोच्य नाटक में बिंबसार की विचार-धारा को दार्शनिक चिंतन के रूप में अभिव्यक्ति मिली है। संपूर्ण जीवन जी लेने के बाद ही उसमें इस दार्शनिकता ने जन्म लिया है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में मानव-जीवन की क्षणभंगुरता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-

“आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त हो अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसके शांतिमय-रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किंतु वह कब मानता है! मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची, किंतु सुदृढ़ परिस्थिति से उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर वह गिरे तो भी क्या?”

वे प्रकृति और सामाजिक जीवन में आए बवंडरों के माध्यम से अपनी दार्शनिक विचारधारा को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

“प्रत्येक संभावित घटना के मूल में यही बवंडर है। सच तो यह है कि विश्व-भर में स्थान-स्थान पर वात्याचक है, जल में उसे भँवर कहते हैं, स्थल पर उसे बवंडर कहते हैं, राज्य विप्लव, समाज में उच्छुंखलता और धर्म में पाप कहते हैं। चाहे इन्हें नियमों का अपवाद कहो, चाहे बवंडर-यही न?”

प्रस्तुत नाटक के अंतिम में उनका स्वगत कथन दार्शनिक विचारधारा की चरम परिणति है-

“संध्या का समीर ऐसा चला रहा है जैसे दिन भर का तया हुआ अद्विग्न संसार एक शीतल विश्वास छोड़कर अपने प्राण धारण कर रहा हो। प्रकृति की शांतिमयी मूर्ति निश्चल होकर भी मधुर झोके से हिल जाती है। मनुष्य-हृदय भी एक रहस्य है, एक पहेली है। जिस पर क्रोध से भख-हुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उन्माद! और क्या? इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर मनुष्य कभी निश्चेष्टता नहीं कर सकता-क्या? हाय रे मानव! इतनी दुरभिलाषार्ये बिजली की तरह तू अपने हृदय में क्यों आलोकित करता है? क्या निर्मल-ज्योति तारागण की मधुर किरणों के सदृश सद्वर्तियों का विकास तुझे नहीं रुचता! भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अंतःकरण लेकर तू क्यों व्यग्र हो रहा है? जीवन की शांतिमयी सच्ची परिस्थिति को छोड़कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक खड़ा रहेगा? यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती - पवन के किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता - तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता। उस अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिलाकर कितना सुखी होता! भगवान् - असंख्य ठोकरें खाकर लुढ़कते हुए जड़ ग्रहपिंडों से भी तो इस चेतन मानव की बुरी गति है। धक्के-पर-धक्के खाकर भी यह निर्लज्ज, सभा से नहीं निकलना चाहता। कैसी विचित्रता है। अहा! वासवी भी नहीं है।”

4. **पिता की भूमिका में:** ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार बिंबसार को उसके पुत्र अजात ने कारागार में डाल दिया था। लेकिन नाटककार अजातशत्रु ने इस घटना में कुछ परिवर्तन करके प्रस्तुत किया है। नाटक के प्रथम अंक में बिंबसार और वासवी के वार्तालाप से स्पष्ट होता है कि वे अपने पुत्र के प्रति थोड़े से दुःखी अवश्य हैं लेकिन उसे कहते कुछ नहीं-

बिंबसार : देवि, तुम कुछ समझती हो कि मनुष्य के लिए एक पुत्र का होना क्यों इतना आवश्यक समझा गया है?

वासवी : नाथ! मैं तो समझती हूँ कि वात्सल्य नाम का जो पुनीत स्नेह है, उसी के पोषण के लिए।

बिंबसार : स्नेहमयी! वह भी हो सकता है, किंतु मेरे विचार में कोई और ही बात है।

वासवी : वह क्या, नाथ?

बिंबसार : संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग का पथिक होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग है। जाने से असंतोष नहीं होता, क्योंकि मनुष्य को अपनी ही आत्मा का भोग उसे समझता है।

वासवी : मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दुःख नहीं।

उपर्युक्त संवादों से स्पष्ट है कि महाराज बिंबसार अपने पुत्र के प्रति रुष्ट न होकर उनसे संतुष्ट ही है। लेकिन वे अजातशत्रु के व्यवहार से थोड़े-बहुत चिंतित अवश्य हैं।

महाराज बिंबसार और वासवी को अज्ञात अपनी निगरानी में रखता है, इसीलिए उसका अपने पुत्र के प्रति रुष्ट होना भी स्वाभाविक है। इसी कारण अजात को पुत्र रत्न की प्राप्ति होने पर वह अपने पिता से मिलने के लिए आता है तो बिंबसार कहता है- “कुणीक कौन! मेरा पुत्र या मगध का सम्राट अजातशत्रु?” इसी प्रकार जब कुणीक अपने पिता के पैरों में गिरकर माफी मांगता है तो बिंबसार व्यंग्यमयी वाणी में कहता है-

“नहीं, नहीं, मगधराज अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिये। मेरे दुर्बल चरण- आह, छोड़ दो।”

लेकिन अजातशत्रु अपने पिता से हृदय से माफी माँगता है। वह अपना पक्ष रखते हुए कहता

है -

“नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य-अधिकार से वंचित किया अबाध्य पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है?”

अन्ततः बिंबसार अपने पुत्र को क्षमा कर देते हैं? जब संपूर्ण परिवार उसके पास इकट्ठा हो जाता है तो वे हर्षातिरेक के कारण स्वर्गवासी हो जाते हैं।

5. पति के रूप में: महाराज बिंबसार का बड़ी रानी वासवी के प्रति विशेष स्नेह है लेकिन छोटी रानी छलना के प्रति उसके हृदय में कटुता और वाणी में व्यंग्य है। यह व्यवहार-भिन्नता दोनों पत्नियों के व्यवहार में अन्तर के कारण है। उनकी बड़ी रानी अपने पति की सेवा करना ही अपने जीवन का उद्देश्य मानती है जबकि छलना उनसे झगड़ा करने पर तैयार रहती है। जब छलना बिंबसार से वासवी की शिकायत करती है कि वह उसे राजमाता के पद से अपदस्थ करना चाहती है, तो वे छलना को समझाते हुए कहते हैं-

“छलना! यह क्या! तुम तो राजमाता हो। देवी वासवी के लिए थोड़ा-सा भी सम्मान कर लेना तुम्हें विशेष लघु नहीं बना देगा - उन्होंने तुम्हारी कभी अवहेलना तो नहीं की।

X X X X X X

ठहरो! तुम्हारा यह अभियोग अन्यायपूर्ण है। क्या इसी कारण तो बेटी पद्मावती नहीं चली गयी? क्या इसी कारण तो कुणीक मेरी भी आज्ञा सुनने में आनाकानी नहीं करने लगा है? कैसा उत्पाद मचाना चाहती हो?”

एक अन्य स्थान पर छलना वासवी का अत्यधिक अपमान करती है, यह सब देखकर बिंबसार क्रोध में आकर छलना को चेतावनी देते हुए कहते हैं-

“छलना! मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे नहीं परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी-चली जा। तुझे लज्जा नहीं-बर्बर लिच्छिवि रक्त।”

नाटक के अन्त में वासवी के कहने पर वह छलना को माफ कर देता है- “मैं मनुष्य हूँ और इन मायाविनी स्त्रियों के हाथ का खिलौना हूँ... उठो वत्स अजात! ... उठो छलना, तुम भी।”

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि बिंबसार छलना और वासवी द्वारा किए गए षडयंत्र को माफ कर देता है। ऐसी स्थिति में उनके जीवन में दार्शनिक विचारधारा का पनपना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः उन्होंने अपने संपूर्ण कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक निभाया है।

(iii) विरुद्धक

विरुद्धक राजा प्रसेनजित का पुत्र और कौशल का राजकुमार है। वह राज्य-सिंहासन प्राप्त करने के लिए अपने पिता से विद्रोह करता है। उसका पिता उसे राज्य से निष्काषित कर देता है इसीलिए वह काशी में जाकर शैलेन्द्र नामक डाकू बन जाता है। वह श्यामा और बंधुल की हत्या भी करता है लेकिन भाग्यवश श्यामा तो बच जाती है। इस प्रकार आलोच्य नाटक में वह खलनायक की भूमिका निभाता है। उसके चरित्र के महत्वपूर्ण तथ्य अवलोकनीय हैं-

1. **सिंहासन-लिप्सा:** विरुद्धक की राज्य-लोलुपता का पता प्रथम अंक के सप्तम दृश्य में श्रावस्ती में प्रसेनजित की राजसभा आए विरुद्धक और उनके पिता प्रसेनजित के संवादों से चलता है। राजसभा में सुदत्त द्वारा सूचना मिलती है कि मगध नरेश बिंबसार से एक षडयंत्र द्वारा उनके पुत्र अजातशत्रु ने राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया है। यह सुनकर विरुद्धक इस घटना को उचित ठहराते हुए कहता है-

“मैंने तो सुना है कि महाराज बिंबसार ने वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार किया है और उस अवस्था में युवराज का राज्य संभालना अच्छा ही है।”

विरुद्धक के कथन को सुनकर प्रसेनजित आश्चर्यचकित हो जाते हैं और उससे पूछते हैं-

“विरुद्धक! क्या अजात की ऐसी परिपक्व अवस्था है कि मगध नरेश उसे साम्राज्य का बोझ उठाने की आज्ञा दें।”

लेकिन विरुद्धक अजातशत्रु के माध्यम से अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहता है-

“पिताजी! यदि क्षमा हो तो मैं यह कहने में संकोच करूँगा कि युवराज को राज्य संचालन की शिक्षा देना महाराज का ही कर्तव्य है।”

प्रसेनजित अपने पुत्र के वास्तविक मन्तव्य को समझकर उत्तेजित होते हुए कहते हैं-

“और आज तुम दूसरे शब्दों में उसी शिक्षा को पाने का उद्योग कर रहे हो। क्या राज्याधिकार ऐसी प्रलोभन की वस्तु है कि कर्तव्य और पितृभक्ति एक बार ही भुला दी जाय!”

विरुद्धक : पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार माँगे, तो उसमें दोष ही क्या?

विरुद्धक के इस स्पष्ट को सुनकर प्रसेनजित अत्यधिक क्रोधित हो जाते हैं और उसकी माँ को दासी पुत्री एवं उसकी नसों में मिश्रित रक्त प्रवाहित होने का आरोप लगाते हुए, विरुद्धक को युवराज पद से निष्काषित करते हुए कहते हैं-

“तब तू अवश्य ही नीच रक्त का मिश्रण है। उस दिन, जब तेरी ननिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मैंने सुनी थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ, अब मुझे विश्वास हो गया - शाक्यों के कथनानुसार तेरी माता अवश्य ही दासी-पुत्री है। नहीं तो तू इस पवित्र कोसल की विश्व-विश्रुत गाथा पर पानी फेरकर अपने पिता के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर न करता। क्या इसी कोसल में रामचंद्र और दशरथ के सदृश पुत्र और पिता अपना उदाहरण नहीं छोड़ गये हैं।”

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि विरुद्धक अजातशत्रु की तरह ही राजा बनने की इच्छा मन में संजाए हुए हैं।

2. **आज्ञाकारी पुत्र:** विरुद्धक को माता और पिता का आज्ञाकारी पुत्र कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। जब विरुद्धक अपने पिता के समक्ष अजातशत्रु के राजा बनने के पक्ष में अपना मत प्रकट करता है तो प्रसेनजित उसके तर्क को सुनकर उत्तेजित हो जाता है। वह उसे भला-बुरा कहता है लेकिन वह कुछ नहीं बोलता और अपने युवराज होने की मर्यादा को बनाए रखता है। वह उसे यहाँ तक कह देता है कि “तू अवश्य ही नीच रक्त का मिश्रण है”, यह सुनकर भी विरुद्धक चुप ही रहता है लेकिन बीच में सुदत्त कहता है- “दयानिधे! बालक का अपराध मार्जनीय है।” पिता-पुत्र के इस विवाद में सुदत्त द्वारा यह संवाद बोलने पर वह उसे यह कहकर डाँट देता है -

“चुप रहो सुदत्त! पिता कहे और पुत्र उसे सुने! तुम चाटुकारिता करके मुझे अपमानित न करो।”

क्रोध में आकर प्रसेनजित यह घोषणा कर देते हैं- “आज से यह निर्भीक किंतु अशिष्ट बालक अपने युवराज पद से वंचित किया गया। और, इसकी माता का राजमहिषी का-सा सम्मान नहीं होगा ...।” यह सब सुनकर भी वह विरोध न करके केवल न्याय की ही माँग करता है- “पिताजी, मैं न्याय चाहता हूँ। विरुद्धक की न्याय की माँग तुकराए जाने तथा सभा से चले जाने के आदेश के बावजूद वह पिता के विरुद्ध वह कुछ नहीं बोलता और एक आज्ञाकारी पुत्र की भाँति सभा से सिर झुकाकर बाहर चला जाता है।

इतना अपमान सहने के बाद उसकी आँखों से अश्रु धारा बह निकलती है, इसे देखकर उसकी माता शक्तिमती उसे कहती है- “स्त्रियों की-सी रोदरशीला प्रकृति लेकर तुम कोसल सम्राट बनोगे?”

उसकी माँ उसे उत्तेजित करते हुए समझाती है कि जब वह दासी-पुत्री होकर भी राजरानी बन सकी है तो फिर तुम राजा के पुत्र होते हुए भी राजा क्यों नहीं बन सकते?-

“तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक हो - मैंने यह स्वप्न में भी न सोचा था। बालक! मानव अपनी इच्छा-शक्ति से और पौरुष से ही कुछ होता है। ... महत्वाकांक्षी के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायेंगी। मल्लिका तो क्या, राजलक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लोटेगी! पुरुषार्थ करो! इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं।”

विरुद्धक का आज्ञाकारी रूप यहाँ भी प्रकट होता है जब वह अपनी माता द्वारा कहे गये कथनों से उत्तेजित होकर प्रतिज्ञा करता है-

“बस माँ अब कुछ न कहा। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और मेरे जीवन का लक्ष्य होगा। माँ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर इस कोसल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वंदना करूँगा। आशीर्वाद दो कि इस क्रूर परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँ।”

निष्कर्षतः वह अपने माता और पिता के ही आदेशों का अनुपालन करते हुए की कुमार्ग का

पथगामी हो जाता है। वस्तुतः आलोच्य नाटक में विरुद्धक एक आज्ञाकारी पुत्र की भूमिका का सफल निर्वाह करता है।

3. **स्वाभिमानी युवक:** विरुद्धक एक स्वाभिमानी प्रकृति का राजकुमार है। उसे अपनी शक्ति पर अत्यधिक भरोसा है। जब उसके पिता का उसे यह संदेश मिलता है कि यदि वह गुप्त रूप से सेनापति बंधुल की हत्या कर दे तो उसका अपराध क्षमा कर दिया जाएगा तो बंधुल से मिलकर कोशल के सिंहासन पर अधिकार जमाने की योजना बनाता है। उस समय इन दोनों के मध्य जो वार्तालाप होता है उससे विरुद्धक के स्वाभिमानी रूप का पता चलता है, यथा-

विरुद्धक : सेनापते! कुशल तो है?

बंधुल : कुमार की जय हो! क्या आज्ञा है? आप अकेले क्यों हैं?

विरुद्धक : मित्र बंधुल! मैं तो तिरस्कृत राज-संतान हूँ। फिर अपमान सहकर, चाहे वह पिता का सिंहासन ही क्यों न हो, मुझे रूचिकर नहीं।

बंधुल : राजकुमार! आपको सम्राट ने निर्वासित तो किया नहीं, फिर आप क्यों इस तरह अकेले घूमते हैं? चलिये- काशी का सिंहासन आपको मैं दिला सकता हूँ।

विरुद्धक : नहीं बंधुल! मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिये, स्वत्त्व चाहिये।

बंधुल : फिर आप क्या करोगे?

विरुद्धक : मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। म गया करूँगा। क्षत्रिय-कुमार हूँ। चिंता क्या है? स्पष्ट करता हूँ बंधुल, मैं साहसिक हो गया हूँ। अब वही मेरी वृत्ति। राज-स्थापन के पहले-मगध के भूपाल भी तो यही किया करते थे।''

स्पष्ट है कि विरुद्धक बिना किसी श्रम के कुछ भी प्राप्त नहीं करना चाहता, चाहे वह राज-सिंहासन ही क्यों न हो। अतः वह एक ताकतवर और स्वाभिमानी राजकुमार है।

4. **प्रेमी रूप:** विरुद्धक का प्रेमी रूप पाठकों एवं दर्शकों के समक्ष दो रूपों में आता है- (1) मल्लिका के प्रति सच्चा प्रेम (2) श्यामा के प्रति धूर्तपूर्ण प्रेम। वह अपने अन्तर्मन से मल्लिका को प्रेम करता है। इसका प्रमाण हमें विरुद्धक के अग्रलिखित संवाद में मिलता है-

''मेरे जीवन का विकास-सूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है। हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व-भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी - कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र-लोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनंदन करने, तुम्हें संभालकर उतारने के लिए, नक्षत्र-लोक गई थीं। शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वंश का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा।''

लेकिन विरुद्धक का यह प्रेम उस समय विकृति का रूप धारण कर लेता है जब मल्लिका का विवाह बंधुल के साथ हो जाता है।

राजा उद्यन की रानी मागंधी (श्यामा) विरुद्धक पर जी-जान से फिदा हो जाती है। वह अपने इसी प्रेमी की जान बचाने के लिए समुद्रगुप्त को भी बलिक का बकरा बना देती है, लेकिन इसका वही प्रेमी इसके साथ धोखा करता है। पहले तो वह श्यामा के साथ बड़ी प्रेमपूर्ण बातें करता है-

“नहीं श्यामा! तुम्हारे सौंदर्य ने तो मुझे भूला दिया है कि मैं डाकू था। मैं स्वयं भूल गया हूँ कि मैं कौन था, मेरा उद्देश्य क्या था; और तुम! एक विचित्र पहेली हो! हिंस्र पशु को पालतू बना लिया, आलसपूर्ण सौंदर्य की तृष्णा मुझे किस लोक में ले जा रही है! तुम क्या सुंदरी?”

परन्तु बाद में उसका वही प्रेमी रूप बदलता हुआ नजर आता है, यथा-

“काशी के उस संकीर्ण भवन में छिपकर रहते-रहते चित्त घबरा गया था। समुद्रदत्त के मारे जाने का मैं ही कारण था, इसीलिए प्रकाश्य रूप से अजातशत्रु से मिलकर कोई कार्य भी नहीं कर सकता था। इस पामरी की गोद में मैं छिपाकर कितने दिन बिताऊँ? हमारे भावी कार्यों में अब यह विघ्नस्वरूप हो रही है। यह प्रेम दिखाकर मेरी स्वतंत्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त में अब नहीं गिरा रहूँगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटकों को कठोरता से, निर्दयता से-हटाना ही पड़ेगा। तब, आज से अच्छा समय कहौं।”

एक बार तो उसकी अन्तरात्मा उसे इस कार्य के लिए धिक्कारती है कि- “हृदय में एक करुण वेदना उठती है- ऐसी सुकुमार वस्तु! नहीं-नहीं!” लेकिन दूसरे ही पल वह यह सोचकर उसकी हत्या कर देता है कि-

“किंतु विश्वास के बल पर ही इसने समुद्रदत्त के प्राण लिये! यह नागिन है, पलते देर नहीं।”

वह उसके शिथिल हो जाने पर आभूषण भी उतार लेता है और उसके घर में भी जो कुछ है उसे उठा ले जाता है; क्योंकि उसे धन की आवश्यकता है। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा विरुद्धक द्वारा ऐसा कार्य किये जाने का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं- “उसके इस क्रूर आचरण से इष्ट-साधन की दृढ़ता ही प्रकट होती है।

5. **विवेकशील:** विरुद्धक युद्ध क्षेत्र में अजातशत्रु की सहायता करना चाहता है लेकिन अजातशत्रु को विश्वास नहीं होता। वह उसे विश्वास दिलाकर अपने पक्ष में कर लेता है लेकिन चलना उससे प्रश्न करती है- “कुमार विरुद्धक! क्या तुम अपने पिता के विरुद्ध खड़े होंगे, और किस विश्वास पर ...!” यह सुनकर विरुद्धक उत्तर देता है-

“जब मैं पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूँ, तब मुझे अधिकार है कि सैनिक कार्य में किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि यही क्षत्रिय की सर्वसम्मत आजीविका है। हाँ, पिता से मैं स्वयं नहीं लड़ूँगा। इसीलिए कौशांबी की सेना पर मैं आक्रमण करना चाहता हूँ।”

इस प्रकार वह अजातशत्रु को अपने पक्ष में युद्ध करने के लिए प्रसन्न कर लेता है, यह उसकी विवेकशीलता का ही परिणाम था।

6. **परिवर्तनशील व्यक्तित्व:** नाटक के अंत में विरुद्धक अपनी पूर्व प्रेमिका के सद् प्रयासों से पूर्णतः

परिवर्तित हो जाता है। मल्लिका युद्ध में घायल विरुद्धक की यह जानते हुए भी सेवा करती है कि उसी ने उसके पति की हत्या की है। इस सेवा का विरुद्धक कुछ गलत अर्थ लगा बैठता है और मल्लिका से कहता है-

“मुझे तुमसे कुछ कहना है। मेरे हृदय में बड़ी खलबली है। यह तो तुम्हें विदित था कि सेनापति बंधुल को मैंने ही मारा है, और उसी की तुमने इतनी सेवा की। इससे क्या मैं समझूँ? क्या मेरी शंका निर्मूल नहीं है? कह दो मल्लिका।”

मल्लिका उसके भ्रम का निवारण तुरन्त कर देती है और उसे लताड़ते हुए कहती है-

“विरुद्धक! तुम उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम मत करो। ... तुम्हारा रक्तकलुषित हाथ मैं छू भी नहीं सकती। तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का, किसी की भूल पर, निर्दयता से वध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया; एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश की जन्मभूमि के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण किया। तुम्हारे जैसा नीच और कौन होगा! किंतु यह जानकर भी मैं तुम्हें रणक्षेत्र से सेवा के लिए उठा लायी। ... तुम इसलिए नहीं बचाये गये कि फिर भी एक विरक्ता नारी पर बलात्कार और लंपटता का अभिनय करो। जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित्त करो- अपने को सुधारो।”

इतना सब सुनकर वह अपने आपको सुधारने का प्रयास करता है और श्यामा के साथ किए गए अनैतिक कार्य के प्रति भी क्षमा माँगता है- “श्यामा, अब मैं सब तरह से प्रस्तुत हूँ और क्षमा भी माँगता हूँ।” इतना ही नहीं वह मल्लिका के भी पैरों में गिरकर उससे क्षमा-याचना करता है -

“उदारता की मूर्ति! मैं किस तरह तुमसे, तुम्हारी कृपा से, अपने प्राण बचाऊँ! देवि! ऐसे भी जीव इसी संसार में हैं, तभी तो यह भ्रम-पूर्ण संसार ठहरा है। देवि! अधम के अपराध क्षमा करो।”

नाटकांत में वह अपने द्वारा किए हुए कुकृत्यों पर पिता से क्षमा माँग लेता है-

“पिता, मेरा अपराध कौन क्षमा करेगा? पित द्रोही को कौन ठिकाना होगा? मेरी आँखें लज्जा से ऊपर नहीं उठतीं। मुझे राज्य नहीं चाहिये; चाहिये केवल आपकी क्षमा। पृथ्वी के साक्षात् देवता! मेरे पिता। मुझ अपराधी पुत्र को क्षमा कीजिए (चरण पकड़ता है)।”

इस प्रकार प्रसाद जी ने विरुद्धक को एक शक्तिशाली पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है जो मार्गदर्शन के अभाव में कुमार्ग का पथगामी बन जाता है। लेकिन बाद में मल्लिका मधुर वचनों के परिणामस्वरूप वह अपनी भूल को स्वीकारते हुए सभी से क्षमा-याचना कर लेता है और दर्शकों एवं पाठकों के हृदय में स्थान बनाते में सफल हो जाता है। इस प्रकार उसमें स्वावलंबन, दृढ़ता, उद्योग, वीरता, विवेक, मात-पित भक्ति आदि अनेक पुरुषोचित गुण और धर्म दिखाई पड़ते हैं।

प्रमुख नारी पात्र

(i) मल्लिका

पुरुष पात्रों में जो स्थान गौतम का है वही स्थान स्त्री पात्रों में मल्लिका का है। वह कोशल नरेश प्रसेनजित के सेनापति बंधुल की पत्नी है। वह एक सामान्य स्त्री पात्र न होकर विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न स्त्री है। दुर्बलताओं और मानवीय गुणों से वह बहुत दूर। उसके पति की हत्या के बाद भी वह एक भारतीय नारी की तरह जीवन व्यतीत करती है, लोभवश पथभ्रष्ट नहीं होती। इसीलिए उसका व्यक्तित्व सबके लिए अनुसरण करने योग्य है। इसके चरित्र के उदात्त तथ्य इस प्रकार हैं-

1. **पति परायण स्त्री:** मल्लिका अपने जीवन में पूर्णतः संतुष्ट, पतिपरायण और आदर्श रमणी है। वह अपने पति बंधुल के प्रति पूर्णतः समर्पित है तथा किसी के मूँह से उसकी निंदा नहीं सुन सकती। वह अपने पति प्रशंसा और अपने कर्त्तव्य दोनों को एक साथ व्यक्त करते हुए कहती है -

“वीर हृदय युद्ध का नाम ही सुनकर नाच उठता है। शक्तिशाली भुजदंड फड़कने लगते हैं। भला मेरे रोकने से वे रुक सकते थे। कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर तले कंटक भी मैं नहीं होना चाहती। वह मेरे अनुराग, सुहाग की वस्तु है फिर भी उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी है, जो हमारी श्रं गार-मंजुषा में बंद करके नहीं रखा जा सकता। महान हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही कर्त्तव्य नहीं है।”

विरुद्धक की माता शक्तिमती बंधुल को काशी से वापिस बुलाना चाहती है लेकिन अपने पति की वीरता पर मुग्ध मल्लिका उन्हें बुलाने से इन्कार कर देती है-

“ ... वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचंड आघातों को रोकने में असमर्थ है। रानी! एक दिन मैंने कहा कि “मैं पावा के अम तसर का जल पीकर स्वस्थ होना चाहती हूँ, पर वह सरोवर पाँच मल्लों से सदैव रक्षित रहता है। दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नहीं पीने पाता।” उसी दिन स्वामी ने कहा कि “तभी तो तुम्हें वह जल पिला सकूँगा।”

शक्तिमती उसे बताती है कि शैलेन्द्र डाकू के नाम आज्ञा-पत्र जा चुका है कि यदि तुम बंधुल की हत्या कर दोगे तो तुम्हारे पिछले अपराधों को क्षमा कर सेनापति बना दिया जाएगा। अतः तुम उसे वापिस बुला लो, लेकिन मल्लिका अपने पति के कर्त्तव्य मार्ग में रुकावट नहीं बनना चाहती-

“ ... मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुंब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से प्राण दे देना वह अपना धर्म समझेगा- जब तक कि स्वयं राजा राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय।”

यही कारण है कि बंधुल की हत्या के बाद वह विरुद्धक के प्रेम-प्रस्ताव को भी ठुकरा देती है क्योंकि उसके मन-मस्तिष्क में केवल बंधुल के लिए ही स्थान था। उसने अपने पतिव्रता धर्म का निष्ठापूर्वक पालन किया।

2. **निलोभी:** मल्लिका को किसी भी प्रकार का लोभ नहीं है, बल्कि वह अपने साधनों से संतुष्ट है। शक्तिमती जब मल्लिका से यह कहती है कि मैं तुम्हारे भले के हेतु इसलिए आई हूँ क्योंकि तुम्हें पुत्रवधु बनाने की मेरी बड़ी इच्छा थी। पुत्रवधु बनाने का यह प्रलोभन मल्लिका को अपने पथ से डिगा नहीं पाता। वह शक्तिमती को प्रत्युत्तर में कहती है-

“बस, रानी बस! मेरे लिए मेरी स्थिति अच्छी है और तुम्हारे लिए तुम्हारी। तुम्हारे दुर्विनीत राजकुमार से न ब्याही जाने में मैं अपना सौभाग्य ही समझती हूँ। दूसरे की क्यों, अपनी ही दशा देखो, कोसल की महिषी बनी थी, अब-। ... गर्वीली स्त्री, तुझे राजपद की बड़ी अभिलाषा थी किंतु मुझे कुछ नहीं, केवल स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है। भाग्य जो कुछ दिखावे।”

3. **धैर्यशील नारी:** जब विरुद्धक अपने पिता के कहने पर बंधुल की हत्या कर देता है तो मल्लिका को वैधव्यपूर्ण जीवन जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है। जब उसे अपने पति की हत्या का समाचार मिलता है तो वह उस स्थिति को भी धैर्यपूर्वक सहन करने का प्रयास करती है-

“संसार में स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ है, किंतु हाय! आज मैं उसी सोहाग से वंचित हो गयी हूँ। हृदय थरथरा रहा है, कंठ भरा आता है- एक निर्दय चेतना सब इंद्रियों को अचेतन और शिथिल बनाए दे रही है। आह! (ठहरकर और निःश्वास लेकर) हे प्रभु! मुझे बल दो- विपत्तियों को सहन करने के लिए - बल दो! मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण जाने पर कोई भय नहीं रहता, विपत्ति और दुःख उस आनंद के दास बन जाते हैं, फिर सांसारिक आतंक उसे नहीं डरा सकते। मैं जानती हूँ कि मानव-हृदय अपनी दुर्बलताओं में ही सबल होने का स्वांग रचता है- किंतु मुझे उस बनावट से, उस दंभ से बचा लो। शांति के लिए साहस दो-बल दो।”

इस प्रकार के संवाद कोई साधारण नहीं कह सकती; मल्लिका जैसी दृढ़ निश्चयी एवं धैर्यशील नारी ही उन उद्गारों को अभिव्यक्त कर सकती है। मल्लिका की दासी सरला जब उसे धैर्य धारण करने के लिए कहती है तो मल्लिका ही इतने बड़े दुःख सहज भावों में ही अभिव्यक्त कर देती है-

“सरला! धैर्य न होता, तो अब तक यह हृदय फट जाता - यह शरीर निस्पंद हो जाता। यह वैधत्य-दुख नारी-जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, किसी भी स्त्री को इसका अनुभव न करना पड़े।”

इस प्रकार पति की हत्या होने के कारण व्यथित हाते हुए भी वह धैर्य को बनाए रखती है। ऐसे दुःखत अवसर पर भी वह अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होती।

4. **विश्वमैत्री की भावना:** प्रसाद जी ने मल्लिका और गौतम के माध्यम से विश्वमैत्री के संदेश को संप्रेषित करवाया है। मल्लिका अपने पति के हत्यारों की भी विकट स्थिति में सेवा करती है,

वह किसी के साथ घणा वैर-विरोध नहीं रखना चाहती। उसकी इसी भावना के कारण ही प्रसेनजित उसके पैरों में गिरकर अपने कुकृत्यों के लिए क्षमा-याचना करता है। युद्ध में घायल विरुद्धक अर्थ "मल्लिका का उसके प्रति आकर्षण" के रूप में लगाता है। वह उसके भ्रम का निवारण करते हुए कहती है-

" ... राजकुमार! तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी। इसमें जब मैं उत्तीर्ण हो गयी तब मुझे अपने पर विश्वास हुआ। विरुद्धक, तुम्हारा रक्तकलुषित हाथ मैं छू भी नहीं सकती। तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का, किसी की भूल पर, निर्दयता से वध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया; एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश की जन्मभूमि के विरुद्ध-अस्त्र ग्रहण किया। तुम्हारे जैसा नीच और कौन होगा! किंतु यह सब जानकर भी मैं तुम्हें रणक्षेत्र से सेवा के लिए उठा लायी।"

5. **बौद्ध-धर्म में अदूट आस्था:** बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं-करुणा, क्षमा, दया आदि में मल्लिका की अगाध आस्था है। वह गौतम द्वारा बताए गए करुणा के मार्ग की अनुगामी बन जाती है। जब बंधुल का भांजा कारायण मल्लिका से यह कहता है कि उसने प्रसेनजित की जीवन-रक्षा करके साँप को जीवनदान दिया है, तो वह उसे करुणा का संदेश देती हुई कहती है-

"अपना कर्तव्य मैं अच्छी तरह जानती हूँ। करुणा की विजय पताका के नीचे हमने प्रयाग करने का दृढ़ विचार करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है। अब एक भी पग पीछे हटने का अवकाश नहीं। विश्वासी सैनिक के समान नश्वर जीवन का बलिदान करूँगी - कारायण।"

वह दूसरों के बड़े से बड़े अपराधों को भी क्षण-मात्र से क्षमा कर देती है। काशी के युद्ध में घायल प्रसेनजित की सेवा करके वह पाठकों एवं दर्शकों की श्रद्धा-भाजन बन जाती है। मल्लिका द्वारा सेवा-सुश्रुषा करने पर प्रसेनजित को अपनी गलती का आभास होता है और वह उससे क्षमा-याचना करते हुए कह उठता है-

"मुझे धिक्कार दो - मुझे शाप दो - मल्लिका! तुम्हारे मुख-मण्डल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिन्ह भी नहीं है। जो तुम्हारी इच्छा हो वह करो, मैं उसे पूर्ण करूँगा।"

प्रसेनजित मल्लिका से पुनः क्षमा-याचना करता है और उसके चरण स्पर्श करते हुए कहता है -

"देवि, तुम्हारे उपकारों का बोझ अब मुझे असह्य हो रहा है। तुम्हारी शीतलता ने इस जलते हुए लोहे पर विजय प्राप्त कर ली है। बार-बार क्षमा माँगने पर भी हृदय को संतोष नहीं होता। ... इस दुराचारी के पैरों में तुम्हारे उपकारों की बेड़ी और हाथों में क्षमा की हथकड़ी पड़ी है। जब तक तुम कोई आज्ञा देकर इसे मुक्त नहीं करोगी, यह जाने में असमर्थ है।"

प्रसेनजित के यहाँ से जाने के पश्चात् अजातशत्रु प्रसेनजित को ढूँढता हुआ आता है। वहाँ पर

मल्लिका के विषय में यह जानकर कि वह बंधुल की विधवा है और इन्होंने अपने पति के हत्यारे प्रसेनजित को भी माफ कर दिया, तो वह कहता है, “तब भी आपने उस अधम जीवन की रक्षा की। ऐसी क्षमा! आश्चर्य! वह देव-कर्तव्य ...।” इस प्रश्न का उत्तर देती हुई मल्लिका उससे कहती है-

**“नहीं राजकुमार, यह देवता का नहीं-मनुष्य का कर्तव्य है।
उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के
लिए ही बने हैं।”**

मल्लिका स्वयं तो सभी को क्षमा कर ही देती है, विरुद्धक को भी उसके पिता प्रसेनजित से क्षमा करवा देती है। वह ‘क्षमा’ के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहती है-

**“... क्षमा से बढ़कर दंड नहीं है, और आपकी राष्ट्रनीति
इसी का अलंकरण करे, मैं यही आशीर्वाद देती हूँ।”**

6. **कर्तव्यपरायणः** मल्लिका को नारी कर्तव्य-पालन और मर्यादा का आदर्श रूप कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वैधव्य दुख - ‘जो नारी जाति के लिए कठोर अभिशाप है’ - को मल्लिका ने जिस अगाध धैर्य के साथ स्वीकार किया है उससे उसकी कष्ट-सहिष्णुता का आभास किया जा सकता है। वह पहले दिन सद्धर्म के सेनापति सारिपुत्र मौद्गल्यायन और आनंद को भोजन के लिए निमंत्रण दे चुकी है, लेकिन उस दिन उसे अपने पति की हत्या का दुखद समाचार सुनना पड़ता है। फिर भी वह दासी सरला से भिक्षा का आयोजन करने के लिए कहती है तो दासी परिस्थितियों को देखते हुए कहना चाहती है कि ऐसे समय में क्या बौद्ध-भिक्षुओं को दान देना उचित होगा? सरला के प्रश्न का समाधान करते हुए कहती है-

**“किंतु नहीं, सरला! मैं भी व्यवहार जानती हूँ, अतिथ्य परम
धर्म है। मैं भी नारी हूँ, नारी के हृदय में जो हाहाकार होता
है, उसका अनुभव करती हूँ। शरीर की धमनियाँ खिंचने
लगती हैं। जी रो उठता है, तब भी कर्तव्य को करना ही
होगा।”**

वस्तुतः ऐसी कठोर स्थिति में भी वह अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करती। कलेजे पर पत्थर रखकर वह शांतिसमन्वित श्रद्धा से निमंत्रित अपने अतिथि सारिपुत्र प्रभति को भोजन कराती है। उस समय उसका चरित्र ‘धैर्य’ और ‘कर्तव्य’ का स्वयं आदर्श है।

समग्र विवेचन के उपरान्त कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने आलोच्य नाटक में मल्लिका को मानवीय कम, दैवी गुणों से सम्पन्न अधिक दिखाया है। उसके चरित्र की विशेषताएं पाठकों एवं दर्शकों पर एक अमिट छाप छोड़ती है। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में - “मल्लिका त्याग, उदारता, सेवा, करुणा, मर्यादा और कर्तव्य की प्रतिभा है - बुद्ध के ज्ञान की जाती-जागती व्यवहार प्रतिमा है।” उसमें विश्व-मैत्री की भावना भी कूट-कूट कर भरी हुई है जो आधुनिक युग में अत्यधिक प्रासंगिक है। इस प्रकार संपूर्ण नाटक के स्त्री पात्रों में मल्लिका का चरित्र ही सबसे ज्यादा अनुकरणीय है।

(ii) वासवी

मगध नरेश बिंबसार की बड़ी रानी वासवी को नाटककार ने सद्पात्र के रूप में परिस्थापित किया है। वह उच्चतर मानवीय मूल्यों में विश्वास रखने वाली स्त्री पात्र के रूप में पाठकों एवं दर्शकों के समक्ष आती है। उसकी चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार है।

1. **मात हृदयः** नाटक के प्रारम्भ में वासवी जब अजातशत्रु से पूछती है कि कई दिनों से तुम मेरे

यहाँ क्यों नहीं आए? तो छलना क्रोध में यह कहती है कि अब यह तुम्हारे पास नहीं आएगा। भले ही वासवी अजात की विमाता हो लेकिन फिर भी वह अजात को अपने पुत्र से ज्यादा प्यार करती है। वह दुखी होकर छलना से कहती है-

“छलना! बहिन! यह क्या कह रही हो? मेरा वत्स कुणीक! प्यारा कुणीक! हा भगवान्! मैं उसे देखने न पाऊँगी? मेरा क्या अपराध।” ... शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखाकर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?”

समुद्रदत्त के प्रति वासवी का प्रेम उस समय भी दिखाई पड़ता है जब अजातशत्रु प्रसेनजित द्वारा बंदी बना लिया जाता है तो वासवी ही प्रयास करके उसे छुड़ाती है- “न न, भाई! खोल दो। इसे मैं दुखी देखकर बात नहीं कर सकती। मेरा बच्चा कुणीक -।” एक पुत्र ही अपनी माँ की वास्तविक पहचान कर सकता है क्योंकि जो माँ अपनी संतान के प्रति प्रत्येक क्षण न्यौछावर होने को तैयार रहे, अपना स्नेहांचल फँलाती रहे तो उसकी संतान भी उसे उतना ही प्यार करती है। अजातशत्रु भी अपनी वास्तविक माँ को पहचानते हुए कहता है-

“कौन! विमाता? नहीं, तुम मेरी माँ! इतनी ठंडी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया। मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया है, माँ! क्या तुम क्षमा करोगी?”

वासवी अपने मन के उद्गारों को अजातशत्रु के समक्ष व्यक्त करते हुए कहती है-

“ ... मैं तुम्हारी माँ हूँ। वह तो डायन है, उसने मेरे सुकुमार बच्चे को बंदी-ग ह में भेज दिया। भाई, मैं इसे शीघ्र मगध के सिंहासन पर भेजना चाहती हूँ...।”

वास्तुतः वासवी मात-हृदय से मंडित स्त्री है।

2. **अटूट सेवा-भावना:** महारानी वासवी के चरित्र की एक अन्य विशेषता उनकी अपने पति के प्रति अटूट-सेवा-भावना है। जब बिंबसार को राज्य-सिंहासन से च्युत किया गया तो बिंबसार के उपवन में जाने के निर्णय के साथ ही वह भी उनके साथ उपवन में जाने के लिए तत्पर हो जाती है। वहाँ वह अपने पति की सेवा-शुश्रुषा करके एक भारतीय नारी का कर्तव्य निभाना चाहती है-

“भगवन! हम लोगों के लिए एक छोटा-सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।”

वह अपने पति को एक क्षण के लिए भी दुखी नहीं देखना चाहती। वह अपने पति से पूछती है कि यहाँ उपवन में तुम्हें किसी बात का दुःख तो नहीं? प्रत्युत्तर में वे कहते हैं- “दुःख तो नहीं, देवि! ... किंतु कभी-कभी याचकों का लौट आना, मेरी वेदना का कारण होता है।” उनके इस दुःख का समाधान करते हुए वासवी कहती है-

“नाथ! जो आपका है वही न राज्य का है, उसी का अधिकारी कुणीक है, और जो कुछ मुझे मेरे पिहर से मिला है, उसे जब तक मैं न छोड़ूँ - तक तक तो मेरा ही है! .. . काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने, आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिये और मगध साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएँ। नाथ! मैं ऐसा द्वेष से नहीं कहती हूँ; किंतु केवल आपका मान बचाने के लिए।”

वह अपने पति को प्रसन्न देखने के लिए जीवक के प्रति भी आभार व्यक्त करती है कि तुम हमारे कल्याण के लिए अत्यधिक चिंतित हो। वह कहती है-

“जीवक, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी सद्बुद्धि तुम्हारी चिरसंगिनी रहे। महाराज को अब स्वतंत्र-वृत्ति की आवश्यकता है, अतः काशी-प्रांत का राजस्व, जो हमारा प्राप्य है, लाने का उद्योग करना होगा।”

महाराज बिंबसार इस तथ्य का विरोध करते हैं कि वे राष्ट्रीय झगड़े में नहीं पड़ना चाहते लेकिन वासवी उन्हें ढांडस बंधाते हुए कहती है- “तब भी आपको भिक्षावृत्ति नहीं करनी होगी। अभी हम लोगों में वह त्याग, मानापमान-रहित अपूर्व स्थिति नहीं आ सकेगी। फिर जो शत्रु से भी अधिक घणित व्यवहार करना चाहता हो उसकी भिक्षावृत्ति पर अवलंब करने का हृदय नहीं कहता।” वह अपने पति से यह भी नहीं छिपाती कि हम वानप्रस्थ आश्रम में भी स्वतंत्र नहीं रखे गये।

इस प्रकार वासवी अपने पति के साथ पूर्णतः समर्पित है। उसकी सौत भी इस तथ्य को स्वीकारती है। अतः वह एक सुसभ्य भारतीय नारी है।

3. **सहनशीलता:** वासवी के हृदय में सहनशील नामक प्रवृत्ति प्रचूर मात्रा में विद्यमान है। जब उसकी सौत छलना उस पर व्यंग्य उक्तियों की वर्षा करती है तो वह उसे धैर्यपूर्वक सहन करती रहती है। नाटक के प्रारम्भ में जब छलना क्रोध से उस पर इस उक्ति का प्रहार करती है- “वह सीधी और तुम सीधी। आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।” तो वासवी सब कुछ सहन करते हुए सहज भाव से यही कह पाती है-

“छलना! बहिन! यह क्या कह रही हो? मेरा वत्स कुणीक! प्यारा कुणीक! हा भगवन! मैं उसे देखने न पाऊँगी? मेरा क्या अपराध-

X X X X X X

यह क्या मैं देख रही हूँ। छलना! यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है? राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं?”

इस प्रकार वह कहीं भी क्रोध से काम नहीं लेती। एक अन्य स्थान पर जब छलना उन पर यह अभियोग लगाती है कि काशी में तुमने ही जान-बूझकर विप्लव खड़ा किया है तो वासवी शांत स्वर में कहती है-

“जिसने दिया था, यदि वह ले ले, तो मुझे क्या अधिकार है कि मैं उसे न लौटा दूँ। तुम्ही बतलाओ कि मेरा अधिकार छीनकर जब आर्यपुत्र ने तुम्हें दे दिया तब भी मैंने कोई विरोध नहीं किया था।” वह उसे शांत भाव से यह भी सलाह देती है-

“बहिन जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य देखो, व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा। और अधिक तुम्हें क्या कहूँ, तुम्हारी बुद्धि।”

4. **क्षमाशील प्रवृत्ति:** वासवी हृदय से किसी के साथ भी घणाभाव नहीं रखती, भले दूसरे उसे

कितनी ही कटु उक्तियों से घायल क्यों न कर दें। वह दूसरों द्वारा किये गये अपराध को भी शीघ्र ही क्षमा कर देती है। छलना वासवी पर अनेक बार कटुक्तियों से प्रहार करती है लेकिन फिर भी वह उसे क्षमा कर देती है और इतना ही नहीं वह अपने पति बिंबसार से भी छलना को माफ करने की प्रार्थना करती है-

“आर्य-पुत्र! अब मैंने इसको दंड दे दिया है, यह मात त्व-पद से वंचित की गयी है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दंड कम नहीं है, अब आपको क्षमा करना ही होगा।”

इसी प्रकार वह अजातशत्रु को भी इसके किए हुए कृत्यों के लिए माफ कर देती है। अतः वासवी मल्लिका को छोड़कर अन्य स्त्री पात्रों में अत्यधिक सहनशील है।

5. वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना: वासवी संपूर्ण विश्व को एक कुटुम्ब बनाने में विश्वास रखती है। नाटक के अंत में विरुद्धक और उसकी बहन बाजिरा आपसी गिले-शिकवे दूर करते हैं, तब वासवी अपने पूरे परिवार के विषय में सोचती हुई कहती है-

“अहा! जो हृदय विकसित होने के लिए है, जो मुख हँसकर स्नेह-सहित बातें करने के लिए है, उसे लोग कैसा बिगाड़ लेते हैं। भाई प्रसेन, तुम अपने जीवन-भर में इतने प्रसन्न कभी न हुए होंगे, जितने आज। कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवन! क्या कभी वह भी दिन आवेगा जब विश्व-भर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जाएगा और मानव-मात्र स्नेह से अपनी ग हस्थी सन्हालेंगे?”

6. बुद्ध शिक्षा में अटूट विश्वास: वासवी महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं की अनुगामिनी है। वह अहिंसा में विश्वास करती है। वासवी नाटक के प्रारम्भ में छलना के झगड़े को शांत करते हुए कहती है- “यह क्या मैं देख रही हूँ। छलना! यह ग ह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाया चाहती है? राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं?”

इसी प्रकार वह शांति, स्नेह एवं करुणा का संदेश देते हुए यह गीत गाती है-

**“बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बंधुवर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्प्रहणीय न हो क्यों घर?”**

द्वितीय अंक से छठे दृश्य में भी वासवी इसी प्रकार के गीत द्वारा मानव हृदय में करुणा का संचार करने के पक्ष में है-

**“दाता सुमति दीजिये!
मानव-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर
बोधन-विवेक-बीज अंकुरित कीजिये।
दाता सुमति दीजिये।”**

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वासवी का मन अत्यंत पवित्र और शांत है, जो किसी के प्रति ईर्ष्या या द्वेष भाव नहीं रखता। उसके हृदय में अधिकार की लालसा नहीं है। यह कर्तव्य पथ पर अग्रसर होते हुए सबका कल्याण करने में विश्वास रखती है। वह करुणा एवं ममता की साक्षा प्रतिमूर्ति है।

(iii) छलना

छलना महाराज बिंबसार की छोटी रानी तथा अजातशत्रु की माता है। वह देवदत्त की बातों में आकर अपने पति को सिंहासन च्युत करके अपने पुत्र अजातशत्रु को राज्य-सिंहासन सौंप देती है। नाटक के अंत में उसे अपनी भूल का अनुभव होता है, अतः वह स्त्री से अपने दुर्व्यवहार के प्रति क्षमा माँग लेती है। उसके जीवन की चारित्रिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. **हिंसा में विश्वास:** नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में अजातशत्रु लुब्धक को इसीलिए कोड़े मारना चाहता है क्योंकि वह आज किसी म गशावक को पकड़कर नहीं लाया। अजात की सौतेली बहन पद्मावती कोड़े को पकड़कर उसे करुणा का संदेश देती हुई कहती है कि-
“मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन पशु-जगत में क्या काम कम है?” यह सुनकर छलना अपने पुत्र अजात का पक्ष लेती हुई पद्मावती को डाँटती है-

“पद्मावती! यह तुम्हारा अविचार है। कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।”

पद्मावती उसे समझाने का प्रयास भी करती है कि कुणीक मेरा भाई है इसलिए मैं उसे क्यों न समझाऊँ? किंतु छलना पद्मावती पर यह आरोप लगाती है-

“तो क्या तुम उसे बोदा और डरपोक बनाना चाहती हो? क्या निर्बल हाथों से भी कोई राजदंड ग्रहण कर सकता है।”

X X X X X X

“पद्मा! तू क्या इसकी मंगल कामना करती है? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भददी सीख है? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि वह भी हिंसात्मक है।”

इतना ही नहीं, वह अपनी सौत वासवी पर भी ऐसा दोष लगा देती है जो सर्वथा अवांछनीय है -

“तू कुटिलता की मूर्ति है। कुणीक को अयोग्य शासक बनाकर उसका राज्य आत्मकसात् करने के लिए कौशांबी से आयी है।”

निष्कर्षतः छलना का अहिंसा में विश्वास नहीं है। उसके विचार में राजा का परम धर्म न्याय है जो दंड के आधार पर टिका हुआ है। अतः वह हिंसा के आधार पर ही सर्वस्व अर्जित करना चाहती है।

2. **सौतिया डह:** छलना का जीवन सौतिया-डाह से ग्रस्त है। वह वासवी को एक पल भी अपनी आंखों के समक्ष नहीं देख सकती। वासवी अपने सौतेले पुत्र अजातशत्रु को अपनी संतान से भी ज्यादा चाहती है लेकिन फिर भी छलना वासवी के प्रति व्यंग्योक्ति कहने से नहीं चूकती-

“वह सीधी और तुम सीधी! आज से कभी कुणी तुम्हारे पास न जाने पावेगा और तुम भी यदि भलाई चाहो, तो प्रलोभन न देना।”

उपवन में छलना वासवी और अपने पति बिंबसार के पास अपनी व्यंग्योक्तियों की बाण वर्षा करने के लिए पहुँचती है। वहाँ वासवी उसे सदव्यवहार करते हुए कहती है कि “बहिन छलना! तुमको क्या हो गया है?” तो वह वासवी से अभद्रतापूर्वक कहती है-

“प्रमाद-और क्या। अभी संतोष नहीं हुआ? इतना उपद्रव करा चुकी हो, और भी कुछ शेष है?”

वह वासवी को नीचा दिखाने के लिए बताती है कि अजातशत्रु ने काशी पर अधिकार कर लिया है, यह सुनकर वासवी कहती है कि फिर तुम इतना घबराती क्यों हो उलाहना क्यों दे रही हो। इस पर छलना वासवी पर ही दोष लगाते हुए कहती है-

उलाहना क्यों न दूँ - जबकि तुमने जान-बूझकर यह विप्लव खड़ा किया है। क्या तुम इसे नहीं दबा सकती थी, क्योंकि वह तो तुम्हारे पिता से तुम्हें मिला हुआ प्रांत था।”

वह वासवी से कहती है कि मैं यह ताना सुनने नहीं आई कि आर्यपुत्र ने तुम्हारा अधिकार छीनकर मुझे दे दिया था बल्कि मैं तो “तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आयी हूँ।” वह आगे कहती है कि इस संदेश को अगर किसी सेवक के माध्यम से भेजती तो, “वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख से प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।”

उसकी धूर्ततापूर्ण बातों को सुनकर अपने क्रोध को संयमित किये हुए बिंबसार उचित ही उसकी भर्त्सना करते हुए कहते हैं-

“सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी - चली जा। तुझे लज्जा नहीं - बर्बर लिच्छवी रक्त।”

वस्तुतः छलना का सौत के रूप में अधम चेहरा पाठकों एवं दर्शकों के समक्ष बार-बार आता है। लेकिन नाटकांत में उसके इस रूप में भी परिवर्तन अवश्य आता है।

3. **राजसी दंभ:** छलना को राजमाता होने का बड़ा अभिमान है। वह आयु और पद में वासवी से छोटी है, किंतु अपने को राजमाता बताते हुए अभिमानपूर्वक कहती है-

“छोटी हूँ या बड़ी, किंतु राजमाता हूँ। अजातशत्रु को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है। वह भिखमंगों का - जो अकर्मण्य होकर दरिद्र हो गए हैं।”

इसी बात के लिए वह वासवी से झगड़ती है और फिर बिंबसार से भी इसी बात की शिकायत करती है-

“यही कि मैं छोटी हूँ इसलिए पटरानी नहीं हो सकती और वासवी मुझे इस बात पर अपदस्त किया चाहती है।”

बिंबसार भी उसे राजमाता की उत्तराधिकारी मानते हुए कहते हैं- “छलना? यह क्या! तुम तो राजमाता हो। देवी वासवी के लिए थोड़ा सम्मान रक्षित कर लेना तुम्हें विशेष लघु नहीं बना सकता उन्होंने कभी तुम्हारी अवहेलना भी तो नहीं की।” किंतु छलना टका-सा उत्तर देती हुई कहती है।”

“इन भुलावों में मैं नहीं आ सकती-महाराज! मेरी धमनियों में लिच्छवि-रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है। यह नीरव अपमान, यह सांकेतिक घणा मुझे सह्य नहीं..।”

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि छलना में राजसी दंभ की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से उगार हुई

है। इसी दंभ के कारण वह वासवी और बिंबसार का भी अपमान कर बैठती है।

4. **अभद्र व्यवहार:** आलोच्य नाटक के प्रथम दो अंकों में दूसरों के प्रति छलना का व्यवहार अभद्र ही दिखाई देता है। वह किसी के साथ भी सद् व्यवहार करती नजर नहीं आती। अजातशत्रु युद्ध में बंदी बना लिया जाता है तो छलना वासवी से कहती है- “अब तो तुम्हारा हृदय संतुष्ट हुआ?” वासवी उसे बताती है कि वह मेरा भी तो पुत्र था, लेकिन क्रोध में आकर वह छलना बहुत अपमान करती है-

“भीटे मुँह की डायन! अब तेरी बातों से मैं ठंडी नहीं होने की। ओह! इतना साहस, इतनी कूत-चातुरी! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूँगी, जिसमें यह सब भरा था। वासवी - सावधान! मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।”

नाटक के प्रारम्भ में देवदत्त के पद-चिह्नों पर चलने वाली वही छलना उसके साथ भी अभद्र व्यवहार करती है-

“धूर्त! तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई। पुत्र बंदी होकर विदेश को चला गया और पति को मैंने स्वयं बंदी बनाया। पाखंड तूने ही यह कुचक्र रचा है।”

राजशक्ति का घमंड ही छलना के व्यवहार के परिवर्तन का कारण है, इसीलिए वह सबकी अपशब्दों में भर्त्सना करती दिखाई देती है।

5. **परिवर्तनशील व्यक्तित्व:** आलोच्य नाटक के अंतिम भाग में छलना के चरित्र में परिवर्तन दिखाई देता है। वह अपने पूर्व के दुर्व्यवहार के लिए सभी पात्रों से क्षमा माँग लेती है। वह अपनी पुत्री पद्मावती से कहती है-

“बेटी! तुम बड़ी हो, मैं बुद्धि में तुमसे छोटी हूँ। मैंने तुम्हारा अनादर करके तुम्हें भी दुःख दिया और भ्रांत पथ पर चलकर स्वयं भी दुःखी हुई। ... पद्मा! तुम और अजात सहोदर भाई-बहन हो, मैं तो सचमुच एक बवंडर हूँ। बहिन वासवी क्या मेरा अपराध क्षमा कर देंगी?”

इसी प्रकार वह अपने पति बिंबसार से भी उसके पैरों में गिरकर क्षमा माँगती है-

“नाथ! मुझे निश्चय हुआ कि वह मेरी उद्दंडता थी। वह मेरी कूट-चातुरी थी, दंभ का प्रकोप था। नारी-जीवन के स्वर्ग से मैं वंचित कर दी गयी। ईट-पत्थर के महल रूपी बंदीग ह मैं अपने को धन्य समझने लगी थी। दंडनायक, मेरे शासक! क्यों न उसी समय शील और विनय के नियम-भंग करने के अपराध में मुझे आपने दंड दिया! क्षमा करके, सहन करके, जो आपने इस परिणाम की यंत्रणा के गर्त में मुझे डाल दिया है, वह मैं भोग चुकी। अब उबारिये।”

इस प्रकार नाटक के अंत में छलना का सिंहनी वाला रूप बदलकर एक सामान्य स्त्री वाला रूप बन जाता है। उसका हृदय-परिवर्तित हो जाता है। उसके जीवन की निष्पूरता, क्रोध, राजसी दंभ, अभद्र व्यवहार, उग्रता आदि जाती हैं। इस प्रकार प्रसाद जी ने छलना के माध्यम से यह संदेश संप्रेषित किया है कि मनुष्य जब भी चाहे द द निश्चय करके अपने जीवन को सुधार सकता है। ‘सुबह का भूला शाम को घर आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते’ - छलना पर यह कहावत पूर्णतः चरितार्थ होती है।

(iv) आम्रपाली/मांगधी/श्यामा

मांगधी को आलोच्य नाटक में आम्रपाली एवं श्यामा आदि नामों से भी अभिहित किया गया है। प्रस्तुत नाटक की वह सबसे ज्यादा भष्ट नारी पात्र है। गौतम बुद्ध द्वारा उसका प्रणय-निवेदन टुकराए जाने की दशा में वह अनेक कुकृत्यों में संलग्न हो जाती है। वह जिस विरुद्धक को प्रेम करने लगती वही उसको धोखा देकर उसकी हत्या करने का प्रयास करता है। गौतम बुद्ध उसे बचा लेते हैं और अन्ततः वह बौद्ध धर्म में सम्मिलित हो जाती है। उसकी चारित्रिक विशेषताएं इस प्रकार हैं-

1. **प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त:** मांगधी प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त दिखाई देती है। मांगधी गौतम से प्रणय-निवेदन करती है, लेकिन वे एक सन्यासी जीवन व्यतीत कर रहे होते हैं इसीलिए उसके इस निवेदन को टुकरा देते हैं। वह इसका गलत अर्थ लगा लेती है और गौतम से बदला लेने की भावना से ग्रस्त हो जाती है।

“इस रूप का इतना अपमान! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ। मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया। यहाँ मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला न गयी; यहाँ रूप का गौरव हुआ, तो धन के अभाव से दरिद्र-कन्या होने के अपमान की यंत्रण में पिस रही हूँ। अच्छा, इसका भी प्रतिशोध लूँगी, अब से यही मेरा व्रत हुआ। उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय की रानी हूँ। दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।

वह अपने पति उदयन के माध्यम से कूट-नीति का आश्रय लेते हुए गौतम से अपने अपमान का प्रतिशोध लेना चाहती है। वह उदयन को बताती है कि गौतम पद्मावती के महल में प्रतिदिन आते हैं अतः उन दोनों के अवैध संबंध हैं। इस तीर से वह दो शिकार करना चाहती है - प्रथम तो राजा उदयन के मन को पद्मावती की ओर से विमुख कर अपनी ओर आकर्षित करना, दूसरे गौतम बुद्ध को बदनाम करना। वह गौतम को अपनी प्रतिहिंसा के संबंध में बताती है-

“गौतम! यह तुम्हारी तितिक्षा तुम्हें कहाँ ले जाएगी? यह तुमने कभी न विचारा कि सुन्दर स्त्रियाँ भी संसार में कुछ अपना अस्तित्व रखती हैं। अच्छा देखें तो कौन खड़ा रहता है?”

2. **सौंदर्य की प्रतिमूर्ति:** मांगधी एक अत्यधिक सुन्दर स्त्री है। निर्धन परिवार में जन्म लेकर भी वह अपनी सुन्दरता के बल पर उदयन की तीसरी रानी बन जाती है। वह अपने श्रंगार-प्रसाधनों द्वारा उदयन के मन को मोहित कर अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है तो उसकी दासी उससे कहती है-

“वाह स्वामिनी! तुम्हें वेशभूषा की क्या आवश्यकता है? यह सहज सुन्दर रूप बनावटों से और भी बिगाड़ जाएगा।”

महाराज के महल में आते ही वह अपनी सुन्दरता और वाक्पटुता का जाल महाराज पर डालने में सफल हो जाती है-

“उठो मांगधी उठो! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेम-पूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी।”

उदयन रानी मांगधी के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है और उससे कहता है-

“तो मांगधी कुछ गाओ। अब मुझे अपने मुखचंद्र को निर्निमेष देखने दो- एक अतींद्रिय जगत की नक्षत्र-मालिनी निशा को

प्रकाशित करने वाले चरच्चंद्र की कल्पना करता हुआ मैं भावना की सीमा को लांघ जाऊँ और तुम्हारा सुरभित-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे। ... वह रूप तुम्हारा-बड़ा प्रभावशाली था, जिसने उदयन को तुम्हारे चरणों में लुटा दिया ...।

शैलेन्द्र नामक डाकू भी उसकी रूप-माधुरी पर मुग्ध हो जाता है और उसके सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहता है कि श्यामा तुम्हारे सौंदर्य ने तो यह भी भूला दिया कि मैं एक डाकू था। मैं तुम्हारे रूपाकर्षण में इतना आकर्षित हो गया हूँ कि मुझे यह भी स्मरण नहीं कि मैं कौन था, मेरे जीवन का उद्देश्य क्या था। तुमने तो एक “हिंस्र पशु को पालतू बना लिया, आलसपूर्ण सौंदर्य की तृष्णा मुझे किस लोक में ले जा रही है! तुम क्या हो सुंदरी?”

लेकिन मागंधी के पास रूप का गौरव होने पर भी वह धन के अभाव में दरिद्र कन्या होने का अभिशाप झेल रही है। उसके सौंदर्य का अभिमान ही उसे अन्ततः अन्धकार के गर्त में धकेल देता है। नाटकांत में उसे अपने अभिमान के टूटने का आभास होते ही वह बौद्ध-भिक्षुणी बन जाती है।

3. **सौंदर्य डाह:** सर्वप्रथम तो गौतम द्वारा मागंधी के प्रणव निवेदन को टुकराना और दूसरे राजा उदयन की तीसरी रानी बनने पर सौतिया डाह उसे अशांत कर देती है। वह राजा उदयन के मन में गौतम, पद्मावती और वासवदत्ता संबंधी विरोधी भाव जागृत कर देती है-

“आप पृथ्वीनाथ हैं, आपको सब कुछ सोहता है; किंतु मैं तो अच्छी आँखों से इस गौतम को नहीं देखती। मगध के राज-मंदिर में ही गुड़ियों का स्वांग अच्छा है; कौशांबी इस पाखंड से बची रहे, तो बड़ा उत्तम हो। स्त्रियों के मंदिर में उपदेश क्यों हो-क्या उन्हें पवित्र छोड़कर किसी और धर्म की आवश्यकता है?”

यहाँ पर मागंधी ने पद्मावती के मायके राजमहल में मुंडियों की भीड़ लगी रहने की ओर संकेत करके यह कहना चाहा है कि पद्मावती तो विवाह से पूर्व भी गौतम से मिलती रहती थी। मागंधी द्वारा पतिव्रत धर्म का प्रश्न उठाने पर उदयन के मन में पद्मावती के प्रति शंका उत्पन्न हो जाती है और वह इसका लाभ उठाते हुए पद्मावती के महल से लाई गई राजमहल उदयन की वीणा में साँप रखवा देती है। जब महाराज उदयन उसे बजाने के लिए उठाते हैं तो उसमें से सर्प का बच्चा निकलता है। उसी क्षण मागंधी उदयन के मन को पद्मावती के प्रति भड़काते हुए कहती है-

“पद्मावती! तू यहाँ तक आगे बढ़ चुकी है! जो मेरी शंका थी वह प्रत्यक्ष हुई।”

“क्षमा कीजिए नाथ! मैं प्रार्थना करती हूँ- अपने हृदय को इस हाला से तप्त कीजिए। अपराध क्षमा हो! मैं दरिद्रकन्या हूँ। मुझे आपके पाने पर और किसी की अभिलाषा नहीं है। वे आपको पा चुकी हैं। अब उन्हें और कुछ की बलवती आकांक्षा है, चाहे लोग उसे धर्म ही क्यों न कहें। मुझमें इतनी सामर्थ्य भी नहीं।”

किंतु बाद में उसके षडयंत्र का पता चलते ही वह अपने महल में आग लगा देती है और जलकर मरने का नाटक करते हुए वहाँ से भाग जाती है।

4. **वारविलासिनी रूप:** मागंधी का दूसरा रूप श्यामा का है, जिसे वह अपने महल में आग लगाकर वहाँ से भागने के बाद अपनाती है। वह काशी की विख्यात वारविलासिनी बन जाती है। रात

के सघन वन में वह डाकू शैलेन्द्र से मिलने के लिए आती है। उसके निम्नलिखित संवाद से पता चलता है कि शैलेन्द्र पर वह किस हद तक न्यौछावर है-

“रात्रि चाहे कितनी भयानक हो, किंतु रमणी के हृदय से भयानक वह कदापि नहीं हो सकती। ... किंतु मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ- वह डाकू है तो क्या, मेरी वासना भी अत प्त है। मागंधी! चुप, वह नाम क्यों लेती है। मागंधी कोशांबी के महल में आग लगाकर जल मरी - अब तो श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठि इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। .. राजरानी होकर और क्या मिलता था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा।”

विरुद्धक जब उससे इस निर्जन स्थान पर आने का कारण पूछता है तो वह निर्लज्जतापूर्वक कह देती है-

“शैलेन्द्र, क्या तुम्हें यह बताना होगा! मेरे हृदय में जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझायेगा? तुम स्नेह की परीक्षा चाहते थे- बोलो तुम कैसी परीक्षा चाहते हो? ... शैलेन्द्र, लो अपनी नुकीली कटार-इस तड़पते हुए कलेजे में भोंक दो।”

श्यामा अपना यह रूप केवल शारीरिक वासना को त प्त करने के लिए ही अपनाती है। कोई प्रेमिका इतनी जल्दी अपने पति के समक्ष अपने सुंदर शरीर का समर्पण नहीं करती जितना जल्दी वह शैलेन्द्र के समक्ष करती है। अतः वह वेश्याओं जैसा जीवन व्यतीत करने लग जाती है।

5. **सच्ची प्रेमिका:** आलोच्य नाटक में श्यामा का सच्चा प्रेमी रूप भी हमारे समक्ष आता है। वह शैलेन्द्र नामक डाकू से प्रेम करने लग जाती है, लेकिन शैलेन्द्र उसके प्रेम पर विश्वास नहीं करता। श्यामा अपने प्रेम का विश्वास दिलाते हुए उससे कहती है-

“तो क्या अभी तक तुम्हें मेरा विश्वास नहीं? क्या तुम मनुष्य नहीं हो, आंतरिक प्रेम की शीतलता ने - तम्हें कभी स्पर्श नहीं किया? क्या मेरी प्रणय-भिक्षा असफल होगी? जीवन की क त्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते-करते क्या प्राक तिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है? क्या वार-विलासिनी प्रेम करना नहीं जानती? क्या कठोर और क्रूर कर्म करते-करते तुम्हारे हृदय में चेतनलोक की गुदगुदी और कोमलता के स्पंदन नाम को भी अवशिष्ट नहीं है? क्या तुम्हारा हृदय केवल एक मासपिंड है- जिसमें रक्त का संचार नहीं। नहीं-नहीं, ऐसा नहीं, प्रियतम- (हाथ पकड़कर गाती है)।”

वह शैलेन्द्र से इतना अधिक प्यार करती है कि उसे फाँसी से बचाने के लिए समुद्रदत्त को बलि का बकिरा बना देती है। वह समुद्रदत्त के साथ इस प्रकार की छलपूर्ण बातें करती है कि उसके षडयंत्र का आभास भी नहीं हो पाता- “जाओ, बलिक के बकरे, जाओ! फिर न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा प्यारा शैलेन्द्र।”

जिस रात्रि को शैलेंद्र श्यामा की हत्या करने का प्रयास करता है तो श्यामा को इस बात का थोड़ा-सा आभास हो जाता है और वह विरुद्धक से पूछती है-

“मैंने अपने जीवन-भर में तुम्हीं को प्यार किया है। तुम मुझे धोखा तो नहीं दोगे? ... नहीं नहीं, मैं आँख न खोलूँगी डर लगता है, तुम्हीं पर मेरा विश्वास है; यही रहो।

शैलेंद्र उसे सोया हुआ जानकर गला घोंटकर उसकी हत्या करने के प्रयास करता है लेकिन गौतम द्वारा वह बचा ली जाती है। नाटकांत में जब शैलेंद्र और मल्लिका के समक्ष श्यामा पुनः आती है तो शैलेंद्र आश्चर्यचकित रह जाता है। वहाँ वह शैलेंद्र से कहती है कि तुमने, “एक विश्वास करने वाली स्त्री पर अत्याचार किया है, उसकी हत्या की है।” वह शैलेंद्र को धिक्कारते हुए अपने सच्चे प्रेम के विषय में कहती है-

“हाँ शैलेंद्र, तुम्हारी नीचता का प्रत्यक्ष उदाहरण मैं अभी जीवित हूँ। निर्दय! चांडाल के समान क्रूर कर्म तुमने किया। ओह, जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया, अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण।”

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मागंधी ने अपने जीवन में पहली बार शैलेंद्र से सच्चा प्रेम किया है लेकिन उसी ने श्यामा को धोखा दे दिया। अन्ततः वह बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण लेती है।

6. **परिवर्तनशील-हृदय:** नाटक के अंत में श्यामा का हृदय-परिवर्तन हो जाता है। उसे जीवन के प्रत्येक पग पर निराशा ही हाथ लगती है, उसकी यही निराशा उसे बौद्ध धर्म में सम्मिलित करवा देती है।

वह अपने विगत जीवन के विषय में सोचती हुई निम्नांकित भाव अभिव्यक्त करती है-

“वाह री नियति! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आये-कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठाकर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ। इस बुद्धिमत्ता का क्या ठिकाना है। वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आयी। अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी- उसी का परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये! जो अब केवल एक संकोचदायिनी स्मृति के रूप में अवशिष्ट हैं।

प्रसाद जी ने उसके चरित्र में इस उत्थान और पतन को दिखाकर अन्त में उसकी मनोकामना पूर्ण होते हुए दिखाई गई है। जिस गौतम ने उसे तुकरा दिया था, वे स्वयं चलकर उसके पास आते हैं। गौतम श्यामा के विषय में कहता है कि “अब तुम अग्नि से तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गयी हो।” उसकी सम्पूर्ण आकांक्षाएं या मनोकामनाओं का शमन हो जाता है। उसे गौतम का सानिध्य मिल ही जाता है लेकिन वासना के रूप में नहीं बल्कि विश्व-कल्याण की ओर अग्रसर होने के लिए। वह विनती करके गौतम की शिष्या बन जाती है और अपने आम्र-कानन को भी संघ में समर्पित कर देती है। इस प्रकार उसका जीवन शुद्ध सोने के समान हो जाता है।

खण्ड - ख

व्याख्या

(1)

“पद्मा! तू क्या इसकी मंगल कामना करती है? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भददी सीख? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भीखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है। क्या मुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है?”

- संदर्भ** : प्रस्तुत अवतरण हिन्दी के प्रमुख नाटककार जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत है।
- प्रसंग** : प्रस्तुत अवतरण में अजातशत्रु की बहन अपने भाई को अहिंसा का पाठ पढ़ाकर उसे एक सुशासित शासक बनने की प्रेरणा दे रही है। अजातशत्रु की माता छलना पद्मावती के इस कार्य की भर्त्सना करते हुए कहती है कि मेरे पुत्र को डरपोक बनाना चाहती हो, उसे अपना शासन कार्य चलाने के लिए क्षण-प्रतिक्षण राजदंड का आश्रय लेना पड़ेगा। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए छलना पद्मावती से कहती है-
- व्याख्या** : पद्मा! तू अजातशत्रु को अहिंसा का पाठ पढ़ाकर किस प्रकार से इसके कल्याण की कामना कर रही है अर्थात् तू स्वयं अहिंसावादी होकर अपने भाई को भी अहिंसा का पाठ पढ़ाना चाहती है, जिससे हमें लगे कि तू अजात की हितैषिणी बन गई है। ‘अहिंसा’ द्वारा जनता के हृदय पर राज करना चाहते हैं, जो उचित भी है। लेकिन एक राजा का अहिंसा के साथ कैसा संबंध? शासन-कार्य करते हुए उसे दंडविधान का भी सहारा लेना पड़ता है। वस्तुतः तुझे इतना भी आभास नहीं हुआ कि अजातशत्रु को शासक बनकर शासन-कार्य चलाना होगा, उसके लिए बौद्ध-भिक्षुओं की शिक्षाएँ सर्वथा निरर्थक हैं। एक राजा का परम धर्म न्याय करना होता है और न्याय-व्यवस्था का मूलाधार दंड-व्यवस्था होती है अर्थात् राज्य में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए अपराधियों को दंडित करना ही होगा। यह सम्पूर्ण कार्य करते हुए एक राजा को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है, अहिंसा का नहीं। अतः तुझे इस तथ्य से भली-भांति परिचित हो जाना चाहिये कि हिंसा और सुव्यवस्थित शासन-दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
- विशेष** :
- (1) प्रस्तुत पंक्तियों में छलना का उग्र एवं हिंसावादी रूप प्रकट हुआ है।
 - (2) “अहिंसा का संबंध बौद्ध-भिक्षुओं से है, राजा से नहीं”- प्रस्तुत कथन से छलना की विचारधारा के दर्शन होते हैं।
 - (3) “राजधर्म का प्रमुख आधार दंड है” - इससे पौराणिक सत्य का उद्घाटन हुआ है।
 - (4) इस अवतरण में छलना की पद्मावती के प्रति आंतरिक घृणा झलकती है।
 - (5) इसमें छलना ने बौद्ध धर्म की तीव्र निन्दा की है।

- (6) तत्सम बहुला भाषा का प्रयोग किया गया है।
- (7) भाषा में सहजता एवं सरलता का गुण भी विद्यमान है।
- (8) प्रश्नवाचक शैली का प्रयोग किया गया है।
- (9) भाषा में उपदेशात्मक गुण भी विद्यमान है।
- (10) शब्दशक्ति लक्षणा है।
- (11) गुण ओज है।

(2)

“यह जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रातः समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त हो अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसके शांतिमय-रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किंतु वह कब मानता है। मनुष्य, व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची, किंतु सुदृढ़ परिस्थिति से उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या?”

- संदर्भ** : प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य से अवतरित है। हिन्दी-साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : प्रस्तुत अवतरण में मगध सम्राट बिंबसार जीवन की क्षणभंगुरता तथा नश्वरता के विषय में सोच रहा है। उनके मन में विचार आ रहा है कि मानव कितना विचित्र प्राणी है जो संसार की सभी वस्तुओं को क्षण मात्र में ही नष्ट होते देखकर उनसे शिक्षा नहीं ले पाता कि तुम्हारा जीवन भी इन्हीं वस्तुओं की तरह क्षणिक है।
- व्याख्या** : मगध सम्राट बिंबसार एकाकी बैठे हुए सोच रहा है कि मानव इस संसार की क्षण मात्र में नष्ट होने वाली वस्तुओं को देखकर भी नहीं समझता कि तुम्हारा शरीर भी इन्हीं वस्तुओं की भांति क्षण मात्र में ही नष्ट हो सकता है, यह नश्वर है। किन्तु वह अपने जीवन को एक गहरी नींव पर स्थापित करके स्थायी बनाने का प्रयत्न करता रहता है। जिस प्रकार किसी विशाल भवन के निर्माण से पूर्व गहरी नींव खोदकर उस भवन को स्थायी आधार प्रदान किया जाता है वैसे ही मानव भी अपने जीवन को अनेक कठोरताओं के माध्यम से स्थायी बना लेना चाहता है, जो उसका भ्रम है। रात्रि के समय ऐसा प्रतीत होता है मानो नियति ने आकाश रूपी नीले कागज पर तारों रूपी शब्दों का निर्माण कर दिया हो, जो प्रातःकाल के आगमन के साथ धीरे-धीरे मिटने लगता है अर्थात् तारों की

भांति मानव जीवन के लेख (क्रिया-कलाप) भी समय के साथ-साथ खत्म होने लग जाते हैं। इस प्रकार मानव अपनी अन्तिमवस्था को प्राप्त होता है। जब तारे आँखों से ओझल हो जाते हैं तब मनुष्य प्रभात समझ कर पुनः अपने कार्य में लग जाता है और अनेक प्रकार के अकरणीय कृत्य करने में संलग्न हो जाता है। जब मनुष्य अपने कार्य में अत्यधिक उलझ जाता है तो प्रकृति उसे समझाने के लिए रात के शांत वातावरण में ले जाती है ताकि उसे पता चल सके कि मानव जीवन रात्रि की भांति शून्य है तथा यह क्षणभंगुर, नश्वर और अस्तित्वहीन है। अर्थात् रात्रि मानव को यह समझाने का प्रयत्न करती है कि उसके जीवन में शांति की प्रधानता होनी चाहिये, किन्तु मानव प्रकृति के इस अनुपम संदेश को आत्मसात नहीं करता और कुकृत्यों में लगा रहता है। वह प्रकृति के शांतिपूर्ण प्रस्ताव को त्यागकर अनिष्ट इच्छाओं की पूर्ति के प्रयास भटकता फिरता है। वह अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट नहीं होता बल्कि और ज्यादा ऊँचे-ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त कर लेना अर्थात् वह अपने जीवन में निरन्तर उन्नति के पथ पर बढ़ते हुए ज्यादा से ज्यादा लाभार्जन चाहता है, ऐसा करते हुए भले ही उसका पतन क्यों न हो जाए, भले ही वह पहले जैसी अवस्था से भी नीचे गिर जाए, इस कार्य के लिए उसे बाद में पश्चाताप ही क्यों न करना पड़े परन्तु वह अपने दैनिक उलझन भरे कार्यों को नहीं छोड़ता।

- विशेष :**
- (1) बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत जगत के पदार्थों की भाँति मानव जीवन को क्षण भंगुर स्वीकार किया गया है- प्रस्तुत पंक्तियों में इस कथन की स्वीकारोक्ति हुई है।
 - (2) प्रसाद जी ने प्रकृति के उदाहरण द्वारा मानव जीवन की नश्वरता को समझाने का प्रयास किया है।
 - (3) उपर्युक्त पंक्तियों में बिंबसार ईश्वरीय सत्य का प्रतिपादन कर रहा है जबकि नाटक के अग्रिम पृष्ठों में युवराज्याभिषेक करते हुए उसकी वही भोगवादी सोच एवं जीवन के प्रति मोह दिखाई देता है।
 - (4) यहाँ सम्राट बिंबसार के विचारों में दार्शनिक चिन्तन की झलक मिलती है।
 - (5) प्रसाद जी ने मनुष्य की इच्छाओं की भर्त्सना की है।
 - (6) इन पंक्तियों में प्रसाद जी का नियतिवाद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।
 - (7) इन पंक्तियों में रूपक अलंकार का मंजुल प्रयोग किया गया है।
 - (8) भाषा में काव्यात्मकता एवं आलंकारिकता का गुण विद्यमान है।
 - (9) 'अकांड-तांडव' में पद-मैत्री है।
 - (10) शब्दशक्ति लक्षणा है।
 - (11) रस शान्त है।
 - (12) गुण प्रसाद है।

(3)

“राजन्, शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी रूप से वह सब दृश्य देखती है। तब भी, इन सांसारिक में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो - यही

न्याय का समर्थन है। तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्त्व से प्रेरित होकर समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित करती है। यदि वह ऐसा न करे, तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय का समर्थन हो जाता है- हम विरक्तों को भी इसीलिए राजदर्शन की आवश्यकता हो जाती है।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य से लिया गया है। हिन्दी-साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** प्रस्तुत अवतरण में गौतम बुद्ध ने मगध सम्राट को समझाते हुए कहा है कि भिक्षु या सन्यासी होने के कारण हमारा राज-काज और उससे जुड़ी घटनाओं से कोई संबंध नहीं है, लेकिन फिर भी कई बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब हमें हस्तक्षेप करना ही पड़ता है जिससे अन्याय और असत्य पक्ष की हार तथा न्याय एवं सत्य पक्ष की विजय होती रहे। गौतम बुद्ध अपने इसी कथन की अभिव्यक्ति में महाराजा बिंबसार से कहते हैं-
- व्याख्या :** हे सम्राट! हमारे जैसे साधु-महात्माओं की बुद्धि में शुद्धता होती है अर्थात् इसी बुद्धि में शुद्धता होती है अर्थात् इसी बुद्धि में दूसरों के प्रति विकृत भाव उत्पन्न नहीं होते और हमारा इस संसार के आकर्षण, लोभ, मोह-माया आदि के साथ भी कोई लगाव नहीं, हम केवल निर्लिप्त भाव से संसार में जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा संबंध तो इस संसार के साथ ऐसा ही है जैसा एक दर्शक के खेल के प्रति होता है। इस सबके बावजूद भी इस संसार के प्रति हमारी इच्छा रहती कि मानव मात्र के बीच होने वाले झगड़ों में सदैव न्याय और सत्य की विजय हो। हमारी यह इच्छा सांसारिक भोग-लिप्सा से प्रेरित न होकर न्याय पक्ष के समर्थन के रूप में प्रकट होती है। हमारे जैसे विरक्त और निर्लिप्त साधुओं की सत्य से अनुप्रेरित रहने वाली यह अभिलाषा ही संसार में उत्तम आचरणों की धारणा और भी सुदृढ़ करती है। यह हम साधु-सन्यासी सत्य और न्याय का पक्ष न लें तो यही संभावना बनी रहती है कि हम बहुत समये से अधर्म और अन्याय के पक्ष का समर्थन कर रहे हैं। यही कारण है कि सांसारिक झगड़ों के प्रति तटस्थ रहते हुए भी हमें सत्य और न्याय के समर्थन हेतु अर्थात् न्याय की रक्षा करने के लिए राजनीतिक गतिविधियों में हस्तक्षेप करना ही पड़ता है।
- विशेष :**
- (1) साधु-सन्यासियों ने सदैव ही सत्य एवं न्याय का समर्थन किया है- इस शाश्वत सत्य का समर्थन किया गया है।
 - (2) उपर्युक्त पंक्तियों में बुद्ध के सात्त्विक जीवन पर प्रकाश डाला गया है।
 - (3) प्रसाद जी का नियतिवाद स्पष्ट दिखाई देता है।
 - (4) सदैव ही सत्य की जीत एवं असत्य की हार होती है - इस सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन किया गया है।
 - (5) भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य होने से क्लिष्टता का गुण आ गया है।

- (6) शैली उपदेशात्मक है।
- (7) शब्दशक्ति लक्षणा है।
- (8) गुण प्रसाद है।
- (9) शान्त रस का प्रयोग देखते ही बनता है।
- (10) भाषा में अलंकारिता का गुण विद्यमान है।

(4)

“शीतल वाणी-मधुर व्यवहार से-क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते? राजन् संसार-भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतना कटार नहीं। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में उद्धृत है। हिन्दी-साहित्य जगत् के स्वनाम-धन्य वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** विवेच्य पंक्तियों में गौतम ने सम्राट बिंबसार को यह समझाने का प्रयास किया है कि मानव को हर समय व्यंग्यमयी भाषा में ही विचाराभिव्यक्ति नहीं करनी चाहिये बल्कि भाषा पर नियन्त्रण भी अति आवश्यक है। प्रस्तुत पंक्तियों से पूर्व बिंबसार अपनी पत्नी छलना से व्यंग्यपूर्ण भाषा में बात करता हुआ कहता है- ‘हाँ, छलने! तुम जा सकती हो, किंतु कुण्डीक को न ले जाना, क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है।’ इसी के प्रत्युत्तर में गौतम राजा बिंबसार को वाक्संयम का उपदेश देते हुए कहता है-
- व्याख्या :** हे राजन। वाणी में शीतलता तथा व्यवहार में मधुरता लाकर मानव को ही नहीं अपितु वन्य पशुओं को भी अपने वश में किया जा सकता है। अर्थात् वाणी की शीतलता और मधुर व्यवहार से जब पशुओं को वश में कर सकते हैं तो तुम अपनी पत्नी छलना को वश में क्यों नहीं कर सकते। हे राजन्! संसार में जितने उत्पाद, उपद्रव और विवाद होते हैं उनके मूल में दूसरों को कहे गए किसी-न-किसी प्रकार के व्यंग्य से परिपूर्ण कथन होते हैं। अर्थात् तुम भी अपनी अर्धांगिनी के समक्ष व्यंग्यमयी भाषा का प्रयोग करके ग-ह-कलह को निमंत्रण दे रहे हो। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि मानव के हृदय पर जितना गहरा आघात ये व्यंग्य-बाण करते हैं उतना आघात तो तलवार भी नहीं कर सकती। शमशीर से किया हुआ घाव तो फिर भी भर जाता है, किंतु व्यंग्य की चोट तो व्यक्ति को निरन्तर दुःखी करती रहती है। जिस प्रकार कटु वचनों, दुर्व्यवहार और व्यंग्यमयी भाषा से किसी को भी शत्रु बनाया जा सकता है लेकिन सद्व्यवहार, मधुरवाणी और भाषा पर नियंत्रण करके सम्पूर्ण विश्व में प्रेम का संचार किया जा सकता है। भाषा पर संयत ही मानव की मानव के साथ मित्रता की पहली सीढ़ी है।
- विशेष :** (1) इन पंक्तियों में शीतल वाणी और मधुर व्यवहार के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

- (2) व्यंग्यमयी भाषा को प्रत्येक उत्पाद और विवाद का मूल कारण माना गया है।
- (3) इसमें व्यंग्य के प्रहार को तलवार के प्रहार से भी भयंकर कहा गया है।
- (4) भाषा अर्थात् वाणी पर नियंत्रण करके मानव विश्व मैत्री की ओर अग्रसर हो सकता है।
- (5) तत्सम बहुला भाषा का प्रयोग किया गया है।
- (6) प्रस्तुत पंक्तियों में सूक्तिपरक और उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।
- (7) शब्दशक्ति लक्षणा है।
- (8) रस शान्ति है।
- (9) गुण प्रसाद है।
- (10) भाषा में अलंकारिता का गुण विद्यमान है।

(5)

“तुम नहीं जानते कि कितना गुरुत्तर काम तुम्हारे हाथ में है। मगध-राष्ट्र का उद्धार इस भिक्षु के हाथों से करना ही होगा। अब राजा ही उसका अनुयायी है, फिर जनता क्यों न भाड़ में जाएगी। यह गौतम बड़ा ही कपट-मुनि है। देखते नहीं, यह कितना प्रभावशाली होता जा रहा है, नहीं तो मुझे इन झगड़ों से क्या काम?”

- संदर्भ** : प्रस्तुत अवतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य से अवतरित है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : देवदत्त अपने शिष्य समुद्रदत्त को मगध भेजता है ताकि वह वहाँ पर षडयन्त्र करके अजातशत्रु को राज्य-सिंहासन पर बिठा सके। समुद्रदत्त वापिस लौटकर सूचना देता है कि सम्पूर्ण कार्य हो चुका केवल शुभ मुहूर्त की ही देर है। इतना ही नहीं, अगर गौतम यदि न चाहते तो यह कार्य सरलता से नहीं हो सकता था। देवदत्त गौतम की प्रशंसा सुनकर समुद्रदत्त को डाँटते हुए कहता है कि तुम मेरे सम्मुख उस ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा मत किया करो। इस कार्य के लिए अगर मैं प्रयास नहीं करता तो छलना मैं इतना दम नहीं था। प्रस्तुत पंक्तियों में देवदत्त अपने मन्वत्य को प्रकट करते हुए कह रहा है कि बिम्बसार के स्थान पर अजातशत्रु को सिंहासन पर बैठाकर ढोंगी गौतम के बढ़ते हुए प्रभाव को विराम देना चाहता हूँ।
- व्याख्या** : देवदत्त अपने शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि - हे प्रिय समुद्रदत्त! तुम इस बात से भली-भाँति परिचित नहीं हो कि इस समय तुम्हें कितना महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है अर्थात् तुम्हें जनता के समक्ष गौतम के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करना है। अब तुम्हें इस बात को भी समझ लेना चाहिये कि हम दोनों को मिलकर मगध-राष्ट्र का कल्याण करना है, जो गौतम के प्रभाव से दिन-प्रतिदिन अंधकार के गर्त में गिरता जा

रहा है। इस कपटी गौतम के सिद्धांतों का अनुकरण स्वयं राजा बिंबसार कर रहा है, तो भला प्रजा उसके सिद्धांतों का अनुपालन क्यों करती अर्थात् बिंबसार ही नहीं बल्कि वहाँ की प्रजा भी गौतम के बताए हुए निकट मार्ग की अनुमागी हो गई है। हे शिष्य! क्या तुम इस तथ्य का अनुभव नहीं करते हो कि यही गौतम मगध की जनता पर प्रतिदिन अपना प्रभाव जमाकर, अपनी विकृत शिक्षा के माध्यम से उन्हें गुमराह कर रहा। यही कारण है कि मैं मगध की जनता को गौतम के दुष्प्रभावों से बचाना चाहता हूँ अन्यथा मुझे राजनीतिक मामले में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मुझे इस तथ्य से भी कोई तात्पर्य नहीं था कि राजा बिंबसार बने या उसका पुत्र अजातशत्रु।

- विशेष :**
- (1) देवदत्त द्वारा छल बिंबसार को राज्यच्युत करा देने की घटना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है।
 - (2) देवदत्त का गौतम के प्रति ईर्ष्या-द्वेष भी ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है।
 - (3) उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से प्रमाणित होता है कि देवदत्त पाक हृदय भिक्षु नहीं था क्योंकि भिक्षुओं का कार्य दूसरों के प्रति राग-द्वेष अपना नहीं बल्कि प्रेम का संचरण करना है।
 - (4) किसी की प्रगति और बढ़ते हुए यश को देखकर ईर्ष्या करना आधुनिक मानव की प्रवृत्ति बन चुकी है। अतः उपर्युक्त पंक्तियाँ आज भी प्रासंगिक हैं।
 - (5) देवदत्त के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।
 - (6) भाषा संस्कृत तनिष्ठ परिमार्जित है।
 - (7) गुण प्रसाद है।
 - (8) 'फिर जनता क्यों न भाड़ में जाएगी' पंक्ति में मुहावरे का प्रयोग किया गया है। इससे भाषा में लाक्षणिकता का समावेश भी हो गया है।
 - (9) भाषा सरल, सजह, परिष्कृत एवं भावों को वहन करने में पूर्णतया सक्षम है।

(6)

“संसार को त्याग, तितिक्षा या विराग का पथिक होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असंतोष नहीं होता, क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य से लिया गया है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया; आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

- प्रसंग :** विवेच्य पंक्तियों में महाराज बिंबसार अपनी बड़ी रानी वासवी से प्रश्न करते हैं कि मनुष्य के लिए एक पुत्र का होना क्यों आवश्यक समझा गया है? इस संबंध में रानी

वासवी अपना मत अभिव्यक्त करते हुए कहती है कि वात्सल्य नामक पुनीत भाव के पोषणार्थ ही एक पुत्र का होना आवश्यक समझा गया है, जबकि महाराज बिंबसार इस तथ्य से असहमत है। वे अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

व्याख्या : जिन दम्पतियों को पुत्र रत्न की प्राप्ति हो चुकी है और वे सांसारिक मोह-माया में लिप्त हैं, उन्हें त्याग और वैराग्य की शिक्षा देने का सर्वाधिक सुगम उपाय है। तात्पर्य यह है कि किसी राजा के यहाँ पुत्र का होना इस दृष्टि से आवश्यक है कि उन्हें अवसर आने पर सांसारिक आकर्षणों को त्यागकर वैराग्य भाव अपनाने का सहज साधन सुलभ हो जाता है। कोई भी राजा वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करते समय (वैराग्य धारण करते समय), पुत्र न होने की स्थिति में किसी दूसरे राजा को अपना शासनाधिकार समर्पित नहीं करना चाहता, जबकि अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप कर वैराग्य धारण करते हुए सन्तोष का अनुभव करता है। इसका कारण स्पष्ट है कि भारतवर्ष में 'पुत्र के रूप में पिता की आत्मा ही जन्म लेती है' का सिद्धांत प्रचलित है, इसी मान्यता के आधार पर वह अपने पुत्र को शासन करते हुए देखकर यही अनुभव करता है कि मैं स्वयं ही सिंहासन पर आसीन होकर शासन कर रहा हूँ।

विशेष :

- (1) महाराज बिंबसार का पुत्र-मोह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।
- (2) इन पंक्तियों में 'पुत्र के रूप में पिता की आत्मा ही जन्म लेती है' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है।
- (3) बिंबसार को बलात् राज्य-त्याग करना पड़ा था किन्तु विवेच्य पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि राज्य त्यागने के प्रति उनका अन्तर्मन दुखी नहीं था।
- (4) उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से बिंबसार के चरित्र पर भी प्रकाश डाला गया है।
- (5) विवेच्य अवतरण में वात्सल्य रस का परिपाक हुआ है।
- (6) गुण प्रसाद है।
- (7) शब्दशक्ति लक्षणा है।
- (8) 'भाषा संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से युक्त प्रवाहपूर्ण परिमार्जित हिन्दी है। नाटक की ऐसी क्लिष्ट भाषा उसकी रंगमंचीयता में बाधक है।
- (9) भाषा भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।

(7)

“नहीं महाराज! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही फिर कायर क्यों बूँ - कर्म से क्यों विरत रहूँ - मैं उच्छिखल नवीन राजशक्ति का विरोधी होकर आपकी सेवा करने आया हूँ।”

संदर्भ : प्रस्तुत गद्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य से अवतरित है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार

ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया। आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

प्रसंग : आलोच्य पंक्तियों में बिंबसार और राजवैद्य जीवक के मध्य हुए वार्तालाप के उस अंश को प्रस्तुत किया गया है जिसमें जीवक भाग्य को ही अपना आश्रय मानता है। वह सर्वस्व त्यागकर महाराज बिंबसार की शरण में रहना चाहता है किंतु महाराज उससे प्रश्न करते हैं कि 'क्या अदृष्ट सोचकर, अकर्मण्य बनाकर, तुम भी मेरी तरह बैठ जाना चाहते हो?' इसी के प्रत्युत्तर में जीवक कहता है-

व्याख्या : महाराज। जैसा आप सोच रहे हैं, वैसा बिल्कुल भी नहीं है अर्थात् भाग्य से भयभीत होकर मैं अकर्मण्य नहीं बनना चाहता। मैं तो केवल भाग्य में (भविष्य में) घटित होने वाली घटनाओं को अपना आश्रय स्वीकार करता हूँ। भाग्यवाद रूपी रस्सवी के सहारे मैं निडरतापूर्वक कर्म-रूपी कुएँ (सांसारिक क्षेत्र) में प्रवेश कर सकता हूँ, क्योंकि मैं इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हूँ कि भविष्य में मेरे साथ जो कुछ भी घटित होना है वह तो घटित होकर ही रहेगा। जब भवितव्य घटना को टालना मेरे वश में नहीं है तो फिर कायर बनकर उस कार्य के प्रति उदासीन किसलिए रहूँ। अर्थात् मेरे सम्पूर्ण कथ्य का तात्पर्य यह है कि मुझे भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं से न डरकर अपने हृदय से उद्भूत विचारों को दृष्टि में रखकर कर्म में लीन रहना चाहिये, फिर चाहे उसका जो भी परिणाम हो। इसी बात को ध्यान में रखकर मैं नवीन राजशक्ति अर्थात् अजातशत्रु के शासन का विरोध करना चाहता हूँ क्योंकि यह राजशक्ति देवदत्त आदि षडयंत्रकारी व्यक्तियों के कारण उद्दण्ड और विकृत होती जा रही है अर्थात् इस राजशक्ति में नियमों के पालन की बजाय उनका उल्लंघन होता जा रहा है। इन समस्त कारणों की वजह से मैं आपके आश्रय में रहकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ।

विशेष :

- (1) जीवक की स्वामी-भक्ति अत्यंत प्रशंसनीय है।
- (2) प्रसाद के नाटकों के अधिकतर पात्र नियतिवादी होते हैं, किंतु विवेच्य नाटक में उन्होंने जीवक के माध्यम से मनुष्य को नियति का दास स्वीकार करने के तथ्य का विरोध करवाया है।
- (3) मानव को, भाग्य में लिखी घटनाओं से डरकर कर्म-क्षेत्र से विरत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा व्यक्ति जीवन में उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता - इस सार्वभौमिक सत्य का उद्घाटन किया गया है।
- (4) 'कर्म-कूप' में रूपक अलंकार का मंजुल प्रयोग किया गया है।
- (5) भाषा भावानुकूल एवं आलंकारिक है जो इसकी रंगमंचीयता में बाधक है।
- (6) जीवक के माध्यम से भाग्यवादी तथ्य का खण्डन किया गया है।
- (7) भाषा शुद्ध संस्कृत तनिष्ठ परिमार्जित हिन्दी है।
- (8) लक्षणा शब्दशक्ति का प्रयोग किया गया है।
- (9) गुण प्रसाद है।

(8)

“मूर्खता, नहीं-नहीं, यह देवदत्त की क्षुद्रता है। भला आत्मबल या प्रतिभा किसी की प्रशंसा के बल से विश्व में खड़ी होती

हे? अपना अवलंब वह स्वयं है, इसमें मेरी इच्छा व अनिच्छा क्या? वह दिव्य-ज्योति स्वतः सबकी आँखों को आकर्षित कर रही है। देवदत्त का विरोध उसे केवल उन्नति दे सकेगा। ”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी प्रमुखतः परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** जीवक सम्राट बिंबसार से कहता है कि मैं आपके पास रहकर निष्पूर देवदत्त के कुचक्र से आपकी रक्षा करना चाहता हूँ। देवदत्त बुद्धदेव की प्रतिद्वंद्विता के कारण यह मानता है कि जब तक आप जीवित रहेंगे गौतम की प्रतिष्ठा बढ़ाते रहेंगे और उनकी सहायता भी करते रहेंगे। विवेच्य पंक्तियों में बिंबसार जीवक के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है-
- व्याख्या :** हे जीवक! देवदत्त का मेरी मृत्यु के विषय में सोचना ही मूर्खता की निशानी है। दूसरे ही क्षण सम्राट अपने कथन को और प्रभावी ढंग से कहने के लिए उसमें कुछ परिवर्तन के साथ अपना मत रखते हुए कहता है कि देवदत्त का इस प्रकार की विकृत सोच रखना मूर्खता ही नहीं बल्कि उसकी तुच्छता का परिचायक है। वह अपने मूर्खतापूर्ण विचारों के कारण ही इस तथ्य को सहजतापूर्वक आत्मसात नहीं कर पाता कि किसी मनुष्य की आत्मिक शक्ति या उसकी प्रतिभा को कोई भी दूसरा व्यक्ति अपनी सहायता के द्वारा नहीं बढ़ा सकता। इसी प्रकार गौतम की आत्मिक शक्ति और प्रतिभा का प्रसार मेरी इच्छा अथवा अनिच्छा से नहीं हो रहा है अपितु उनकी आँखों में एक अलौकिक प्रकाश का समावेश है जो अन्य व्यक्तियों को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है अर्थात् वे स्वयं भगवान के अवतार हैं, उनकी अलौकिक शक्तियों से प्रभावित होकर सामान्यजन उनके चरणों में शीश नवाते हैं। अतः उनका यश उनके कर्मों के कारण फैल रहा है, न कि मेरे कारण। वस्तुतः ऐसे में वह मूर्ख देवदत्त अलौकिक शक्ति सम्पन्न गौतम का विरोध करेगा तो इससे समाज में उनका महत्त्व कम होने की अपेक्षा और भी ज्यादा बढ़ता जाएगा।
- विशेष :**
- (1) आलोच्य पंक्तियों के माध्यम से नाटककार ने देवदत्त की गौतम के प्रति प्रतिद्वंद्वी भावना का उल्लेख किया है।
 - (2) यह ऐतिहासिक सत्य है कि बौद्ध धर्म को अनेक समकालीन नरेशों का समर्थन प्राप्त था, किन्तु उस समर्थन का मूलाधार बुद्धदेव का दिव्य व्यक्तित्व ही था।
 - (3) किसी भी व्यक्ति के आत्मबल या प्रतिभा को कोई दूसरा व्यक्ति प्रशंसा करके विश्वलोक में सम्मानित नहीं कर सकता, बल्कि वह तो स्वयं ही उसके कार्यों द्वारा प्रख्यात हो जाती है- इस नैसर्गिक सत्य का उल्लेख किया गया है।
 - (4) इसमें देवदत्त के चरित्र की विकृतियों पर प्रकाश डाला गया है।
 - (5) मानव की प्रतिद्वंद्विता उसकी बुद्धि को क्षीण बना देती है - प्रस्तुत सत्य का उद्घाटन किया गया है।

- (6) 'नहीं-नहीं' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का षुष्टु प्रयोग किया गया है।
- (7) भाषा संस्क तनिष्ठ, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण हिन्दी है।
- (8) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
- (9) गुण प्रसाद है।

(9)

“इस रूप का इतना अपमान! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ। मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया। यहाँ मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला न गयी; यहाँ रूप का गौरव हुआ, तो धन के अभाव से दरिद्र-कन्या होने के अपमान की यंत्रणा में पिस रही हूँ! अच्छा, इसका भी प्रतिशोध लूँगी, अब से यही मेरा व्रत हुआ। उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय की रानी हूँ। दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।”

- संदर्भ** : प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के पंचम दृश्य से लिया गया है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र रविन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी प्रमुखतः परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : प्रस्तुत पंक्तियों में प्रसाद जी ने कौशांबी नरेश उदयन की पत्नी को प्रतिशोध की अवस्था में दिखाया गया है; क्योंकि एक बार मागंधी ने गौतम के समक्ष प्रणय-निवेदन किया था जिसे गौतम ने उसके निवेदन को तत्क्षण टुकरा दिया था। वह अपने महल में बैठी हुई इसी संदर्भ में सोच रही है-
- व्याख्या** : मुझे इस बात का अत्यधिक आश्चर्य है कि मेरे जैसी अत्यधिक सुन्दर नारी के सौन्दर्य का गौतम जैसे एक दरिद्र भिखारी के द्वारा इतना तिरस्कार किया गया है। उस भिखारी में इतना अहंकार आ गया कि मुझे जैसी सुन्दर नारी से वैवाहिक बंधन में बंधना अस्वीकार कर दिया था अर्थात् कोई नरेश मेरे प्रणय-निवेदन को टुकराता तो मुझे इतना दुःख नहीं होता लेकिन एक भिक्षु ने जो दूसरे से माँग-माँग कर उदर पूर्ति करता है, जिसके पास अपना कुछ नहीं है उस गौतम ने मुझे जैसी रूप-राशी के भण्डार को तिरस्कृत करके मेरे हृदय को गहन आघात पहुँचाया है।

दूसरी ओर मागंधी राजा उदयन के साथ प्रणय सूत्र में बंधने के बाद भी एक और अपमान का घूँट पी रही है एवं हीनता-ग्रंथि से भी ग्रसित है। वह मन ही मन सोच रही है कि मैं राजा उदयन की रानी तो बन गई हूँ लेकिन मेरे हृदय की क्रोध ज्वाला अभी भी शान्त नहीं हुई। इस क्रोध का कारण स्पष्ट है - यहाँ मेरे सौन्दर्य की प्रशंसा तो खूब हुई, मुझे राजा उदयन ने सम्मान भी बहुत दिया, लेकिन मैं निर्धन की संतान होने के अभिशाप को यहाँ भी झेल रही हूँ। अर्थात् राजा उदयन ने मेरी सुन्दरता पर आकर्षित होकर विवाह तो अवश्य किया है लेकिन मेरे राजकुमारी न होने के कारण राजरानी बनने के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता। मागंधी प्रतिज्ञा करती है कि मैं जिन दो प्रकार

के अपमानों की ज्वाला में जल रही हूँ, उन दोनों का बदला मैं अवश्य लूँगी। वह गर्वपूर्वक सोचती है कि यदि उदयन कौशांबी का राजा है तो मैं भी अपने हृदय सम्राज्ञी हूँ। मैं अपने इन अपमानों का प्रतिशोध लेकर संसार को यह भी दिखा दूँगी कि स्त्रियों में कितनी सामर्थ्य है और वे क्या कुछ कर सकती हैं।

- विशेष :**
- (1) विवेच्य गद्यांश से अवगत होता है कि जयशंकर प्रसाद स्त्री-मनोविज्ञान से भली-भाँति परिचित थे।
 - (2) प्रस्तुत पंक्तियों में मांगंधी ही हृदयगति अशांति आगे चलकर सौतिया-डाह के रूप में उद्घाटित होती है।
 - (3) सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति मांगंधी को अपमान की ज्वाला में जलते हुए प्रदर्शित किया है।
 - (4) मांगंधी के षड्यंत्रकारी रूप के दर्शन होते हैं।
 - (5) प्रसाद जी ने स्त्रियों की उस शक्ति की ओर संकेत किया है जो समय और स्थिति के अनुसार रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक रूप धारण कर लेती हैं।
 - (6) भाषा में नाटकीयता का गुण विद्यमान है।
 - (7) गुण ओज है।
 - (8) लक्षणा शब्दशक्ति का प्रयोग किया गया है।
 - (9) 'हृदय की रानी', 'यंत्रणा में पिसना' आदि मुहावरों का सार्थक और सुन्दर प्रयोग किया गया है।
 - (10) भाषा परिष्कृत और परिमार्जित खड़ी बोली है।
 - (11) गद्यांश के अन्त में वीर रस का परिपाक हुआ है।

(10)

“आप पथ्वीनाथ हैं, आपको सब कुछ सोहता है; किन्तु मैं तो अच्छी आँखों से इस गौतम को नहीं देखती। मगध के राज-मंदिर में ही मुंडियों का स्वांग अच्छा है; कौशांबी इस पाखंड से बची रहे, तो बड़ा उत्तम हो। स्त्रियों के मंदिर में उपदेश क्यों हो - क्या उन्हें पतिव्रत छोड़कर किसी और भी धर्म की आवश्यकता है।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के पंचम दृश्य में लिया गया है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

- प्रसंग :** कुछ दिनों पश्चात महाराज उदयन जब मांगंधी के महल में आते हैं तो मांगंधी उनसे कहती है कि कई दिनों तक मेरा ध्यान भी नहीं आया? क्या मुझसे कोई अपराध हुआ

है। प्रत्युत्तर में महाराज कहते हैं कि मगध से महाराजा गौतम आए हैं जो हमारे अनुरोध पर पद्मावती के मंदिर में उपदेश देते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में मांगंधी उदयन के हृदय में यह संदेह उत्पन्न करने का प्रयास करती है कि पद्मावती के महल में गौतम का आवागमन अनुचित है।

व्याख्या : सम्राट उदयन मांगंधी को जब यह बताता है कि मैंने गौतम से अनुरोध किया है कि आप कुछ दिनों तक यहाँ ठहरकर कौशांबी में धर्म प्रचार करें, तो मांगंधी उनके कथन के प्रतिवाद में तर्क देते हुए कहती है- आप तो इस पृथ्वी के राजा हैं अतः आप जो भी निर्णय करेंगे वही शोभनीय प्रतीत होगा अर्थात् किसी भी राजा द्वारा लिया गया निर्णय अन्तिम होता है, उसे कोई भी चेतावनी देने की शक्ति नहीं रखता अतः वही निर्णय प्रशंसनीय होता है। हे महाराज! आप द्वारा लिया गया निर्णय (गौतम का कौशांबी में धर्म उपदेश देना) भले ही सही है किन्तु जहाँ तक मेरा संबंध है, मुझे यह भिक्षु गौतम बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। मगर इन केशराशी विहीन साधुओं को अपना पाखंड करना ही है तो मगध का राजभवन इनके लिए पर्याप्त है। वहाँ पर ये बिना किसी रोक-टोक के आवागमन करते रहते हैं। इस संदर्भ में मेरा मत तो यही है कि जहाँ तक हो सके इन ढोंगियों से कौशांबी राज्य बचा रहे तो अति उत्तम रहेगा।

संसार का कोई भी पुरुष अपनी पत्नी के संबंध में परपुरुषके संयोग की बात सुनकर निश्चिन्त नहीं बैठ सकता। इसी शाश्वत सत्य का लाभ उठाकर मांगंधी उदयन से पूछती है कि इन बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा स्त्रियों के राजमहल के उपदेश देने का क्या औचित्य है। अब आप ही बताएँ, क्या पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए अपने पति को ही परमेश्वर समझने के स्थान पर किसी अन्य धर्म का पालन करना कहीं तक उचित है। अर्थात् पत्नी का सर्वप्रथम कर्तव्य पति की सेवा करना है, अन्य कार्य दूसरे स्थान पर आते हैं, अतः पद्मावती को भी बौद्ध-भिक्षुओं के चक्कर को छोड़कर अपने पतिव्रता धर्म का पालन करना चाहिये।

- विशेष :**
- (1) इन पंक्तियों में मांगंधी की पद्मावती के प्रति सौतिया-डाह का षटु अंकन किया गया है।
 - (2) इन पंक्तियों से मांगंधी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। वह ईर्ष्यालु, षड्यन्त्र को जन्म देने वाली एक बेवफा पत्नी है।
 - (3) 'नारी की अपनी सौत के प्रति घणा' नायक नैसर्गिक सत्य का उद्घाटन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है।
 - (4) प्रस्तुत पंक्तियों से ज्ञात होता है कि प्रसाद जी को नारी-मनोविज्ञान का बहुत ज्ञान था।
 - (5) सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति मांगंधी को अपमान की ज्वाला में जलते हुए प्रदर्शित किया गया है।
 - (6) उस युग में राजा से रंक तक गौतम बुद्ध के प्रभाव को सहज रूप में स्वीकारा जा सकता है।
 - (7) भाषा में नाटकीयता का गुण विद्यमान है।
 - (8) 'सब कुछ शोभित होना', 'अच्छी आंखों न देखना' मुहारों का सुष्ठु प्रयोग किया गया है।

- (9) शब्दशक्ति लक्षणा है।
 (10) भाषा संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी है।
 (11) गुण प्रसाद है।

(11)

“पुरुष का हृदय बड़ा संशक होता है-क्या तुम इसे नहीं जानती? क्या अभी-अभी तुमने कुछ विषाक्त व्यंग नहीं किया है? यह मदिरा अब मैं नहीं पीऊँगा। अभी आज भगवान का इसी पर उपदेश हुआ है, पर मैं देखता हूँ कि मदिरा के पहले तुमने हलाहल मेरे हृदय में उड़ेल दिया। यह व्यंग रूखे ग्रास की तरह नीचे भी नहीं उतरता और बाहर भी नहीं हो पाता।”

- संदर्भ** : प्रस्तुत गद्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के पंचम दृश्य से लिया गया है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके नाटकों में भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : कौशांबी राज्य में महात्मा गौतम बुद्ध अपना उपदेश देने के लिए आए हुए हैं, जिसे राजा और प्रजा-सभी लाभान्वित हो सके। उदयन के मुख से इस संदेश को सुनकर मागंधी उनसे कहती है कि आप केश विहीन पाखंडियों से बचे रहोगे तो बहुत अच्छा होगा। इसके बाद वह पद्मावती से ईर्ष्या भाव के कारण व्यंग्यमयी वाणी में कहती है कि पद्मावती के महल में यह पाखंडी गौतम उपदेश क्यों दे रहा है, क्या पद्मावती के पतिव्रत धर्म का त्याग करके किसी और धर्म को अपना लिया है? मागंधी के इन्हीं व्यंग्यमयी प्रश्नों का उत्तर देते हुए उदयन कहता है-
- व्याख्या** : मागंधी क्या तुम्हें इस बात का आभास नहीं कि पुरुषों का स्वभाव बड़ा ही शक्की होता है। तुमने अभी-अभी गौतम एवं पद्मावती के सम्बन्ध पर जो विष से परिपूर्ण टिप्पणी की है, उससे मेरा मन खिन्न हो गया है। तुम मुझे जो प्रेम की मदिरा पिलाना चाहती थी, तुम्हारी व्यंग्यमयी वाणी को सुनकर वह भी पीने को मन नहीं करता, क्योंकि किसी भी पुरुष का मन अपनी पत्नी के विषय में अवैध संबंधों की बात सुनकर संयमित नहीं रह सकता। आज गौतम ने इसी मदिरा (वैभव-विलास के विषय में अपना प्रवचन दिया है, अतः मैं इसे नहीं पी सकता। अगर मैं किसी तरह तुम्हारे रूप-सौन्दर्य रूपी मदिरा को पीने का मन बनाता भी तो तुमने उस मदिरा से पहले ही गौतम और पद्मावती के संबंध में अपनी व्यंग्यमयी वाणी रूपी विष को मेरे हृदय उड़ेल दिया है। तुम्हारा यह व्यंग्य एक रूखे ग्रास भी भांति है जो न तो गले से नीचे उतर रहा है और न ही बाहर आ पाता है अर्थात् तुम्हारी यह व्यंग्योक्ति विष की भांति है जिसे न तो निगला जा सकता है (जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता) और न ही बाहर निकाला जा सकता अर्थात् मन से यह बात निकल भी नहीं पा रही है।
- विशेष** : (1) महाराज उदयन पर गौतम के प्रवचनों के प्रभाव को प्रदर्शित किया गया है।

- (2) मागंधी की भाषा में निहित व्यंग्य की ओर इंगित किया गया है जो दूसरों पर विष की भांति असर करता है।
- (3) पुरुष के शक्की स्वभाव की ओर संकेत किया गया है।
- (4) मागंधी के चरित्र की निकृष्टता को उजागर किया गया है।
- (5) मागंधी की व्यंग्यमयी वाणी के पीछे उसकी सौतिया-डाह ही कार्य कर रही है।
- (6) नाटककार ने व्यंग्य की उपमा रूखे ग्रास से देकर उपमा अलंकार का सुष्ठु प्रयोग किया गया है।
- (7) 'हलाहल हृदय में उड़ेलना' नामक मुहावरे के प्रयोग से भाषा जीवंत हो उठी है।
- (8) परिष्कृत, संस्कृतनिष्ठ परिमार्जित हिन्दी का प्रयोग किया गया है। नाटक में ऐसी भाषा उसकी रंगमंचीयता में बाधक है।
- (9) ओज नामक गुण का प्रयोग किया गया है।
- (10) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
- (11) भाषा में साहित्यिकता का गुण विद्यमान है।

(12)

“कुछ गाओ। अब मुझे अपने मुखचंद्र को निर्निमेष देखने दो-एक अर्तीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरत्चन्द्र की कल्पना करता हुआ मैं भावना की सीमा को लांघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभित-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के पंचम दृश्य से अवतरित। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद को ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** रानी मागंधी अपने द्वारा कहे गए व्यंग्यपूर्ण वचनों के लिए राजा उदयमन से क्षमा मांगते हुए कहती है कि रानी पद्मावती और वासवदत्ता आपके सान्निध्य में रहकर अपने मन की सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं लेकिन मेरे मन की इच्छाएँ अभी तक अतृप्त हैं। अतः आप मुझे अपने प्रेम की हाला व शरीरांगों के स्पर्श से मदहोश कर दीजिए। उदयन मागंधी के विनयपूर्ण कथनों को सुनकर उसके कोमल हाथों से मदिरा का पान करता है, जिससे प्रेमोन्मत्त होकर आगे कहता है-
- व्याख्या :** हे प्रिय! तुम मुझे कोई संगीत की धुन सुनाओ, जिससे मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति राग-भावना जागृत हो सके अर्थात् संगीत सुनते हुए किसी स्त्री के प्रेम में महहोश होने का मजा ही कुछ और है। उदयन अपनी अग्रिम इच्छा प्रकट करते हुए कहता है तुम मेरे सम्मुख आकर बैठ जाओ, मैं तुम्हारे गदराएँ यौवन को बिना पलक झपकाए निहारना चाहता हूँ। आज मैं इस लोकोत्तर जगत की नक्षत्रों की माला से मंडित रात को आभा

प्रदान करने वाले शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान तुम्हारे मुख को देखकर इतनी भाव-विभोर हो जाना चाहता हूँ जिससे सारी सीमाएं टूट जाएं और फिर तुम्हारे सुगंधित गर्म श्वासों से अपनी काम-कल्पना को साकार रूप दे सकूँ। यही हमारे आनन्द की चरम परिणति होगी, ऐसा सुख स्वर्ग में भी संभव नहीं जो एक स्त्री के साथ काम-समस्या की पूर्ति के समय आता है।

- विशेष :**
- (1) नाटककार ने प्रेम की सुन्दर कल्पना की है।
 - (2) विवेच्य पंक्तियों में उदयन को संगीत प्रेमी, सौन्दर्य प्रेमी तथा उसकी रसिक प्रवृत्ति को प्रस्तुत किया गया है।
 - (3) नारी-सौन्दर्य के समक्ष पुरुष ने सदैव ही हार मानी है, इस ऐतिहासिक सत्य को प्रस्तुत किया गया है।
 - (4) इसमें मागंधी के संकीर्ण हृदय का संकेत मिलता है।
 - (5) स्त्री के तन की उस सुगंध का उल्लेख किया है जिसे पाकर पुरुष-वर्ग धन्य हो जाता है। इस सुगंध के समक्ष पुष्पों की सुगंध भी हीन दिखाई देती है।
 - (6) भाषा में काव्यात्मकता का गुण विद्यमान है।
 - (7) प्रस्तुत गद्यांश में रूपक अलंकार का सुष्ठु प्रयोग किया गया है।
 - (8) भाषा भावानुकूल एवं आलंकारिक है जो इसकी रंगमंचीयता में बाधक है।
 - (9) श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
 - (10) माधुर्य गुण का प्रयोग किया गया है।
 - (11) 'सीमा को लांघना' जैसे मुहारे का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
 - (12) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
 - (13) भाषा शुद्ध संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं परिष्कृत हिन्दी है। इस प्रकार की क्लिष्ट भाषा नाटक मंचन में बाधक होती है।

(13)

“केवल खलबट्टा चलाते रहे और मूर्खता का पुटपाक करते रहे। महाराज ने एक नयी दरिद्र कन्या से विवाह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो गया है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गयी है तब कैसे मेल हो? क्या तुम अपनी औषधि से उन्हें विवाह के समय की अवस्था का नहीं बना सकते जिससे महाराज इस अजीर्ण से बच जायें?”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के षष्ठ दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में चित्तरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरित स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

- प्रसंग** : प्रस्तुत पंक्तियाँ कौशांबी की सभा के वासंतक नामक विदूषक द्वारा मगध के राजवैद्य जीवन से कहता है कि धन्वंतरि के पास ऐसी दवा थी जो व द्धा को युवती बना सकती थी, लेकिन तुम्हारे पास ऐसी दवा कहाँ से आई, तुम्हें तो किसी भी चीज का ज्ञान नहीं है। प्रस्तुत गद्यांश में वह अपने राजा तथा रानी पद्मावती के विषय में बताकर जीवक को मूर्ख घोषित करते हुए एवं उसका मजाक उड़ाते हुए कहता है-
- व्याख्या** : तुम्हारे जैसे वैद्य अपना खलबट्टा चलाकर मूर्खता से परिपूर्ण दवा ही तैयार कर सकते हैं, इसके अतिरिक्त तो तुम्हें कुछ आता भी नहीं है अर्थात् तुम्हारे जैसे वैद्यों ने अपना सम्पूर्ण जीवन औषधियाँ बनाने में ही लगा दिया, समाज में क्या कुछ घटित हो जाता है, उसकी तुम्हें भनक भी नहीं लगती। वह आगे अपने राजा उदयन के विषय में जानकारी देता हुआ कहता है कि उन्होंने किसी निर्धन की पुत्री से विवाह कर लिया है। वह मागंधी के साथ भोग-विलास में इतना निमग्न हो गया है कि उसकी बुद्धि को कब्ज हो गयी है अर्थात् उनकी बुद्धि एक राजा की बुद्धि की तरह कार्य नहीं कर रही है। मेरे विचार में वासवदत्ता और पद्मावती नामक उनकी दोनों रानियाँ व द्वावस्था में आगमन कर गई हैं, अतः इसी कारण वे इन दोनों से मिलने भी नहीं जाते। तुम मगध के राजवैद्य हो, क्या तुम्हारे पास कोई ऐसी औषधि है जिसके सेवन से ये दोनों रानियाँ ऐसी ही आकर्षक और नवयुवती बन जाएँ जैसे वे अपने विवाह के अवसर पर थी। अगर ऐसा संभव हो जाए तो हमारे राजा पुनः उन रानियों से मिलने लग सकते हैं।
- विशेष** :
- (1) प्रसाद जी ने विदूषकों के समान ही वासंतक को बातें करते हुए दिखाया गया है।
 - (2) विवेच्य पंक्तियों ने महाराज उदयन की रसिक प्रवृत्ति की ओर संकेत मिलता है।
 - (3) नाटककार ने राजा उदयक की तीन रानियों की ओर संकेत करके बहु विवाह प्रथा की ओर दृष्टिपात किया है।
 - (4) 'करते'करते' में पुनरुक्ति-प्रकाश अलंकार का प्रयोग किया गया है।
 - (5) 'बुद्धि का अजीर्ण होना' मुहावरे का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
 - (6) भाषा पात्रानुकूल एवं मनोभावानुकूल है।
 - (7) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
 - (8) गुण प्रसाद है।
 - (9) भाषा शुद्ध संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं परिष्कृत हिन्दी है।

(14)

“यह तुम क्या कहते हो। कोसल-कुमारी दशरथनंदिनी शांता का उदाहरण उसके सामने है - दरिद्र ऋषि के साथ जो दिव्य जीवन व्यतीत कर सकती थी। क्या वासवी किसी दूसरे कोसल की राजकुमारी है? कुल-शील का पालन ही तो आर्य-ललनाओं का परमोज्ज्वल आभूषण है। स्त्रियों का वही मुख्य धन है। अच्छा, जाओ विश्राम करो।”

- संदर्भ** : प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के सप्तम दृश्य से अवतरित है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता,

कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसंग : मगध के राजसिंहासन पर राजकुमार अजातशत्रु के पदासीन होते ही महाराज बिंबसार ने बड़ी रानी वासवी के साथ राजमहल का त्याग कर दिया। मगध का राजवैद्य जीवक महारानी वासवी को काशी का राज्य-कर दिलवाने के उद्देश्य से आया हुआ है। वह महाराज प्रसेनजित् को उनकी बहन वासवी देवी की ओर से संदेश देते हुए कहता है कि आपकी बहन ने कहा है वह कुशल-मंगल है किंतु इस अवस्था में मैं आर्य-पुत्र को छोड़कर नहीं आ सकती, इसलिए भाई कुछ अन्यथा न समझे। महाराज प्रसेनजित अपनी बहन वासवी के आचरण को उचित ठहराते हुए कहते हैं-

व्याख्या : मेरी धारणा अपनी बहन के विषय में अनुचित नहीं। वासवी के सामने महाराज दशरथ की पुत्री शान्ता का उदाहरण विद्यमान है, जो अपने निर्धन ऋषि-पति के साथ आनन्दमयी जीवन व्यतीत करती रही थी। स्वयं वासवी भी तो उसी कौशल राज्य की संतान है। जब दशरथ की पुत्री शान्ता विपरीत परिस्थितियों में भी अपने पति के साथ रही तो क्या वासवी महाराज बिंबसार का साथ त्याग सकती है? अर्थात् नहीं। अपने वंश की मर्यादाओं का अनुपालन करना ही आर्य जाति की नारियों का पवित्र आभूषण है अर्थात् इस वंश की नारियों ने मर्यादाओं में रहकर कर्तव्यों का पालन किया है। उन्होंने इन मर्यादाओं को तोड़ने की कभी भी हिमाकत नहीं की। अतः मर्यादाओं का अनुपालन ही उनका प्रमुख धन है। अतः हे जीवक! तुम किसी भी बात की चिन्ता किए बगैर सुखपूर्वक विश्राम कर सकते हो।

विशेष :

- (1) प्रस्तुत गद्यांश में नाटककार ने उस पौराणिक कथा की ओर संकेत किया है जिसमें दशरथ शांता नामक पुत्री का विवाह निर्धन ऋषि के साथ किया गया था।
- (2) इसमें इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है कि नारी के जीवन का मुख्य कर्तव्य पतिव्रत धर्म का पालन करना है।
- (3) राजा प्रसेनजित का नारी के प्रति सम्मान भाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है।
- (4) आर्य-धर्म की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।
- (5) महारानी वासवी के उज्ज्वल चरित्र पर दृष्टिपात किया गया है।
- (6) गुण प्रसाद है।
- (7) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
- (8) शान्त रस का परिपाक देखते ही बनता है।
- (9) भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के साथ-साथ सहज एवं सरल है।

(15)

“घोर अपमान! अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद!
यह असहनीय है! धिक्कार पूर्ण कोसल देश की सीमा कभी भी
मेरी आँखों से दूर हो जाती; किंतु, मेरे जीवन का विकास-सूत्र

एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है। हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व-भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी - कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के अष्टम दृश्य से अवतरित है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** जब राजकुमार विरुद्धक को मगध राज्य पर अजातशत्रु के आसीन होने पर समाचार मिला तो अजात का अनुसरण करते हुए अपने पिता प्रसेनजित को राजसिंहासन से हटाकर स्वयं राजगद्दी पर बैठने का प्रयास किया। महाराज प्रसेनजित ने विरुद्धक को युवराज पद से वंचित कर दिया। प्रस्तुत पंक्तियों में राजकुमार विरुद्धक कौशल राज्य का त्याग करना चाहता है लेकिन मल्लिका संबंधी विकल प्रणय-भावना उसे ऐसा करने से रोक देती है। राजकुमार विरुद्धक अकेला बैठा हुआ मन ही मन अपने जीवन की विफलताओं के विषय में सोचता हुआ कहता है-
- व्याख्या :** मेरा अपने ही राज्य में घोर अपमान किया गया है। मेरे अपमान और तिरस्कार की चरम सीमा तो उस समय हुई जब मुझे शक्तिशाली से उत्पन्न दासी पुत्र कहते हुए युवराज के पद से वंचित कर दिया गया, यह भयंकर ध्वनि अब भी मेरे कानों में बार-बार गूँज रही है। इस प्रकार का अपमान मुझसे सहन नहीं होता। यह कौशल-प्रदेश भी मुझे घणित प्रतीत हो रहा है और मैं इस राज्य की सीमा को लांघ चुका होता, यदि मेरे जीवन की विकास यात्रा में मेरा संबंध एक कोमल पुष्प (मल्लिका) के साथ संलग्न न हो गया होता अर्थात् सेनापति बंधुल की पत्नी मल्लिका से मुझे अपने शरीर से ज्यादा प्रेम है, मैं उसे छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। मेरा हृदय ऐसी कामनाओं का घोंसला बना हुआ है, जिन्हें मैं उद्घाटित नहीं कर सकता। जब मैंने मल्लिका के विषय में सोचना प्रारम्भ किया तो मुझे लगा कि यह मेरे जीवन के प्रभात का सुन्दर स्वप्न था। मल्लिका का वही स्वप्न संसार की सभी नशीली वस्तुओं से भी अधिक मादक था। उसी मल्लिका ने मुझे उन्मत्त बनाकर मेरे हृदयगत तारों को झंक त कर दिया, जिससे मेरे मन में नई-नई उमंगों ने जन्म लिया। अतः उस कोमल कुसुम (मल्लिका) को छोड़कर जाना असम्भव है।
- विशेष :**
- (1) नाटककार ने मल्लिका के प्रति विरुद्धक की कोमल भावनाओं का सुन्दर चित्रण किया है।
 - (2) इसमें विरुद्धक के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।
 - (3) विरुद्धक के एकतरफा प्रेम की ओर संकेत किया गया है।
 - (4) रूपक और अनुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
 - (5) भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण हिन्दी है, किन्तु दीर्घ संवाद नाटक की अभिनेयता में बाधक है।

- (6) गुण माधुर्य है।
- (7) श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
- (8) लक्षणा एवं व्यंजना शब्दशक्ति का प्रयोग किया गया है।
- (9) भाषा काव्यात्मकता के गुण से मंडित एवं अलंकारिक है।

(16)

“तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र-लोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा! विश्व के असंख्य कोमल कंठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनंदन करने, तुम्हें संभालकर उतारने के लिए नक्षत्र-लोक गई थीं। शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचायक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वंत का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत की कुटिल गहस्थी के आल-बाल में आश्चर्यपूर्ण सौंदर्यमयी रमणी के रूप में सबने देखा। वह कैसा इंद्रजाल था - प्रभात का वह मनोहर स्वप्न था - सेनापति बंधुल, एक हृदयहीन क्रूर सैनिक ने तुम्हें अपने उष्णीय का फूल बनाया। और, हम तुम्हें अपने घेरे में रखने के लिए कँटीली झाड़ी बनकर पड़े ही रह गये! आज कोसल के हम कंटक स्वरूप हैं...।”

- संदर्भ** : प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के अष्टम दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : कोशल-नरेश प्रसेनजित ने अपने पुत्र विरुद्धक को युवराज पद से वंचित कर दिया। विरुद्धक अपने अपमान के कारण राज्य त्यागना चाहता है लेकिन मल्लिका के प्रेम-पाश में बंधा होने के कारण वह ऐसा भी नहीं कर पाता है। यहाँ नाटककार ने विरुद्धक के जीवन में मल्लिका के आगमन का उल्लेख किया है।
- व्याख्या** : विरुद्धक स्वगत सोचता है कि हे मल्लिका। जिस प्रकार ग्रीष्म-ऋतु की आधी रात में नक्षत्रों से प्रकाशित आकाश से टूटती हुई उल्काएँ कोमल और हीरे से भी अधिक उज्ज्वल पुष्प की भाँति दिखाई देती हैं, उसी प्रकार मैंने तुम्हें भी अपने यौवन के आगमन एवं प्रथम उन्मेष के समय उसी कोमल व उज्ज्वल पुष्प की भाँति आते हुए देखा। तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य को देखकर आनन्दित हुई विश्व के असंख्य मधुर कंठों की ध्वनियाँ तुम्हारा यशोगान करने लगी थीं और तुम्हारा अभिनन्दन करने तथा संभालकर उतारने

के लिए नक्षत्रलोक तक जा पहुँची थीं। शिशिर ऋतु के आर्द्र कणों से मंडित पवन ने तुम्हारे लिए सीढ़ी के रूप में प्रस्तुत किया, प्रातःकालीन लालिमा ने तुम्हारा स्वागत-सत्कार किया। चापलूस पवन तुम्हारे शरीर के अंगों से सुगंधित कण प्राप्त करने की इच्छा से तुम्हारा सेवक बन गया था और तुम्हें जबरदस्ती मल्लिका की एक कोमल टहनी पर बिठाकर तुम्हारी सेवा करने लगा था। उसने तुम्हारे साथ खेलते हुए उस मल्लिका की शाखा से उठाया भी और गिराया भी। जब तुम मल्लिका की उस कोमल शाखा से उतरकर इस पृथ्वी पर आई थी तो इस कर्मशील जगत् की कर्तव्यनिष्ठ गहस्थी में तुम्हें एक सुन्दर स्त्री के रूप में देखा गया अर्थात् इस कुटिल जगत् की यही रीति है कि एक सुन्दर रमणी को भी वैवाहिक-बंधन में बंधकर गहस्थी का भार उठाना पड़ता है और यही तुम्हारे साथ भी हुआ है। तुम्हारे विषय में लिया गया यह स्वप्न केवल इन्द्रजाल के समान ही था क्योंकि मैं तो तुम्हारे रूप-सौन्दर्य के मधुर स्वप्नों में भी खोया रहा जबकि बंधुल नामक क्रूर सेनापति ने तुम्हें अपने साफे में एक फूल के समान लगाकर ले गया अर्थात् मैं तो स्वप्नों में ही खोया रहा जबकि क्रूर सेनापति बंधुल तुम्हें अपने हृदय का फूल बनाकर ले गया। हे मल्लिका! तुम तो सेनापति बंधुल की अर्धांगिनी बन गई, जबकि मैं तुम्हें प्राप्त करने के लिए तुम्हारे चारों तरफ एक कंटीली झाड़ी की तरह पड़ा रहा, जिससे तुम किसी ओर के सम्पर्क में न जा सको। आज मैं कौशल राज्य के लिए एक काँटे के समान हूँ जिसे कौशल नरेश निकाल फेंकना चाहते हैं, किंतु मैं तुम्हारे प्रेमपाश के कारण इस राज्य का त्याग करने में भी असमर्थ हूँ।

- विशेष :**
- (1) प्रसाद जी ने मल्लिका के प्रति विरुद्धक की कोमल भावनाओं का उल्लेख किया है।
 - (2) इसमें विरुद्धक के एकपक्षिय प्रेम की ओर संकेत किया गया है।
 - (3) यथार्थ रूप में किसी कार्य या वस्तु का जो आनन्द लिया जा सकता है वैसे ही आनन्द की प्राप्ति विरुद्धक कल्पना के माध्यम से ले रहा है।
 - (4) विवेच्य पंक्तियों में विरुद्धक ने अपनी प्रेयसी मल्लिका के अपने जीवन में अपने की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख किया है।
 - (5) मल्लिका के आने की प्रत्येक स्थिति को व्यक्त करने के लिए प्राकृतिक उपादानों का आश्रय लिया गया है।
 - (6) इसमें प्रकृति का मनावीकरण रूप देखते ही बनता है।
 - (7) रूपक, उपमा एवं अनुप्रास अलंकारों को सुष्ठु प्रयोग किया गया है। भाषा में अलंकारों की अधिकता नाटक की रंगमंचीयता में बाधक है।
 - (8) इतने लम्बे कथोपकथन भी नाटक की रंगमंचीयता में बाधक हैं।
 - (9) भाषा में काव्यात्मकता का गुण विद्यमान है।
 - (10) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
 - (11) श्रंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
 - (12) समूचे गद्यांश में माधुर्य गुण की व्याप्ति है।
 - (13) भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण हिन्दी है। तत्सम शब्दों की बहुलता के कारण भाषा में क्लिष्टता के गुण का समावेश हो गया है।

(17)

“तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक हो - मैंने यह स्वप्न में भी न सोचा था। बालक! मानव अपनी इच्छा-शक्ति से और पौरुष से ही कुछ होता है। जन्मसिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्वभर में छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी क्यों अवहेलना करते हो? महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोग या वे ही भाग जायेंगी।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के अष्टम दृश्य से अवतरित है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्त्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया; आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।
- प्रसंग :** कोसल की रानी शक्तिमती राजकुमार विरुद्धक की स्त्रियों के समान रोदनशील प्रकृति को देखकर उसे डाँटते हुए कहती है कि तुम मेरे समक्ष इस प्रकार की बात मत कहो कि तुम कभी कोसल के राजकुमार नहीं बन सके। शक्तिमती अपने पुत्र के समक्ष एक सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहती है कि मैं दासी पुत्री होकर राजरानी बन सकती हूँ तो तुम मेरी संतान होकर राजकुमार क्यों नहीं बन सकते। वह विरुद्धक को प्रोत्साहित करते हुए कहती है-
- व्याख्या :** पुत्र विरुद्धक! मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती थी कि तुम एक राजा की संतान होकर भी कायरों की भाँति डरपोक और निष्क्रिय होकर बैठ जाओगे अर्थात् तुम्हारे पिता ने तुम्हें राजगद्दी के अयोग्य सिद्ध कर दिया तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम कायरों की तरह हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाओगे, तुम्हें राजसिंहासन-प्राप्ति हेतु पुनः प्रयास करना होगा। प्रिय पुत्र! मनुष्य अपने उज्ज्वल भाग्य का निर्माण प्रबल इच्छा शक्ति और उद्यम से ही कर सकता है। जो अधिकार व्यक्ति को जन्मजात प्राप्त होते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए भी दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् राजा बनना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है लेकिन इस अधिकार की प्राप्ति के लिए तुझे दूसरे शक्तिशाली व्यक्तियों की आवश्यकता है, तभी तुम कोसल के राजसिंहासन पर आसीन हो सकते हो। इस संसार में कोई भी व्यक्ति महान बनकर (बड़ा व्यक्ति बनकर) जन्म नहीं होता, वह संघर्ष और परिश्रम के बल पर ही बड़ा या महान व्यक्ति बनता है। निम्न से ही महान बनना इस संसार का नियम है, अतः महत्वाकांक्षाओं का एक जलता हुआ कुण्ड है, इसमें अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कूदना ही पड़ता है अर्थात् तुम अथक परिश्रम और त्याग के बल पर ही अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर सकते हो। इस राह पर चलते हुए जो भी तुम्हारी तरफ आँख उठाकर देखें तो स्वयं काल का रूप

धारण करके उसका दमन कर दो। अधिकारों की लड़ाई में हार मानकर या तो तुम पराजित हो जाओगे या फिर वे अदम्य शक्तियाँ ही पराजित होकर नौ दो ग्यारह हो जाएँगी। तुम्हारी विजय प्राप्ति के बाद मल्लिका तो क्या समस्त राज्य का वैभव-विलास तुम्हारे कदमों में होगा। तात्पर्य यह है कि तुम्हें पुरुषार्थ और वीरता के साथ कार्य करना होगा, तभी तुम अपने मन्तव्य में सफल हो पाओगे।

- विशेष :**
- (1) माँ का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव देखने लायक है।
 - (2) प्रसाद जी ने यहाँ मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र में वीरता और धैर्य के साथ कार्य करने की प्रेरणा दी है।
 - (3) जन्म के समय कोई भी व्यक्ति महान नहीं होता, वह तो अपने कर्मों से (परिश्रम से) महान बनता है - इस सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन किया गया है।
 - (4) शब्द-शक्ति अमिधा एवं लक्षणा है।
 - (5) गुण ओज है।
 - (6) वीर रस का परिपाक हुआ है।
 - (7) अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
 - (8) गद्यांश में तत्सम शब्दों के समावेश के बावजूद भी भाषा सरल, सहज एवं प्रवाहपूर्ण है।
 - (9) भाषा पात्रानुकूल एवं भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।

(18)

“प्रभु! स्वामी! रक्षा हो! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है किंतु अमृत है। नाथ! जिसके रूप पर आपकी भी असीम भक्ति है, उसी रमणीरत्न मांगंधी का भी जिन्होंने तिरस्कार किया था - शांति के सहचर, करुणा के स्वामी - उन बुद्ध को, मांसपिंडों की भी आवश्यकता नहीं।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के अष्टम दृश्य से उद्धृत है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को महत्त्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया; आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

- प्रसंग :** मांगंधी गौतम के प्रणय-निवेदन टुकराने के कारण और पद्मावती से सौतिया-डाह के कारण इर्ष्या करती है। वह अपने पति उदयन के हृदय में यह संदेह पैदा कर देती है कि गौतम और पद्मावती के अवैध संबंध हैं। तदन्तर वह उदयन की वीणा में सर्प रखवाकर अपने पति के ही समक्ष कहती है। मैं जानती नहीं थी कि पद्मावती इतनी नीच है कि अपने पति के ही प्राण लेने की दुश्चेष्टा करेगी। इन्हीं तथ्यों से अवगत हो जाने के बाद उदयन के क्रोध का ज्वालामुखी फूट पड़ता है और उन्होंने झरोखे से मार्ग

पर जाते हुए गौतम को देखने वाली पद्मावती से कहा कि अरी पापिन, देख ले, यह गौतम तेरे हृदय का विष और वासना का निष्कर्ष जा रहा है। पद्मावती अपने पति के इस मिथ्याक्षेप को सुनकर सहम जाती है और अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण देते हुए कहती है-

व्याख्या : हे प्रभु! हे स्वामी! मुझे क्षमा कीजिए, अभी आपने मेरे और गौतम के संबंध में जो शब्द कहे वे कदापि सत्य नहीं हैं। गौतम को देखकर मेरे हृदय अम त-पान करने के समान शांति उपलब्ध होती है। आप इस बात को कैसे विस्मय कर सकते हैं कि नारियों में रत्न के समान सुन्दर जिस मागंधी के सौंदर्य पर आप भी आसक्त हैं अर्थात् उसके प्रेम रूपी मदिरा में आप भी मदहोश हैं; उसी रूप की देवी मागंधी के प्रणय-निवेदन को गौतम ने टुकरा दिया था। मेरे कहने का भावार्थ यह है कि जो गौतम मागंधी जैसी सुन्दरी के प्रणय-निवेदन को टुकरा सकता है, तो वे मुझ जैसी सामान्य सुन्दरी के प्रति कामासक्त होंगे, इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता। पद्मावती आगे कहती है कि शांति और करुणा के स्वामी गौतम ने जब मागंधी जैसी रूप की प्रतिमा का तिरस्कार कर दिया तो इससे आभास होता है कि उसे किसी मांसपिण्ड (सुन्दर नारी) की कामना नहीं है अर्थात् जो गौतम अपने शरीर के प्रति मोह का त्याग कर चुका है तो भला वही माँस के टुकड़ों द्वारा निर्मित किसी अन्य शरीर (नारी शरीर) के प्रति कैसे आसक्त हो सकता। वह तो शांति के पथ का अनुगामी है, उसे सांसारिक मोह-माया के प्रति कोई आकर्षण नहीं।

- विशेष :**
- (1) प्रस्तुत पंक्तियों में इस तथ्य का संकेत मिलता है कि गौतम बुद्ध ने मागंधी के प्रेम-निवेदन को टुकरा दिया था, जिससे वह उसकी शत्रु बन गयी थी।
 - (2) महाराज उदयन के माध्यम से पुरुष की शंकालु प्रवृत्ति की ओर संकेत किया गया है।
 - (3) गौतम के चरित्र की प्रमुख विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।
 - (4) पद्मावती के चरित्र में एक भारतीय नारी के सम्पूर्ण गुणों का आभास मिलता है।
 - (5) प्रस्तुत गद्यांश की कुछ एक पंक्तियों में श्रृंगारिकता का पुट भी मिलता है।
 - (6) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
 - (7) सूक्तिपरक शैली का प्रयोग किया गया है।
 - (8) भाषा परिमार्जित एवं संस्कृतनिष्ठ है।
 - (9) गुण प्रसाद है।
 - (10) भाषा पात्रानुकूल एवं भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।
 - (11) शांत रस का सुंदर परिपाक हुआ है।

(19)

“गुरुदेव, बड़ी अनुकूल घटना है! मगध जैसा परिवर्तन कर चुका है- वही तो कोशल भी चाहता है। हम नहीं समझते कि बुड्डों को क्या पड़ी है और उन्हें सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी और नियंत्रण में बँधी हुई, संसार के कीचड़ में

निमज्जित राजतंत्र की पद्धति - नवीन उद्योग को असफल कर देगी? तिल-भर भी जो अपने पुराने विचारों को हटना नहीं चाहता उसे अवश्य नष्ट हो जाना चाहिये, क्योंकि यह जगत ही गतिशील है।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य से अवतरित है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम उतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्त्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया; आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।
- प्रसंग :** मगध राजकुमार अजातशत्रु और देवदत्त काशी के नागरिकों द्वारा राज्य-कर न देने सम्बन्धी विद्रोह को दबाने के विषय में विचार-विमर्श कर गुप्त संदेश मिलता है कि वह उनकी सहायता के लिए सदैव तत्पर है। अजातशत्रु प्रसन्न होकर देवदत्त से कहता है कि यह संदेश भविष्य में हमारे लिए अवश्य ही लाभप्रद होगा। अपने इसी तथ्य को आगे बढ़ाते हुए अजातशत्रु देवदत्त को गुरुदेव कहकर संबोधित करते हुए कहता है-
- व्याख्या :** हे गुरुदेव! कुमार विरुद्धक द्वारा हमारी सहायता करने वाली बात बड़ी ही अनुकूल एवं लाभप्रद है। इस पत्र से यह तथ्य तो अवश्य ही स्पष्ट है कि जैसा परिवर्तन मगध राज्य में हो चुका है, वैसा ही परिवर्तन कोशल राज्य में होने वाला है अर्थात् जिस प्रकार मैंने अपने पिता को सिंहासनच्युत करके स्वयं सिंहासनासीन हो गया हूँ, वैसे ही कोशल राजकुमार विरुद्धक भी अपने पिता प्रसेनजित के स्थान पर राजा बनना चाहता है। अजातशत्रु नवयुवकों का प्रतिनधित्व करते हुए अपने पिता के माध्यम व द्धजनों पर आक्षेप करते हुए कहता है कि इन व द्धों को पता नहीं किस कारण से सत्तालोलुपता का इतना अधिक मोह रहता है। यह राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली जो प्राचीन समय से ही नियमों में बंधी हुई है और जो स्वार्थ के कीचड़ में डूबी हुई है - वह हमारे जैसे नवयुवकों द्वारा किए हुए प्रयास को भी शून्य बना देगी अर्थात् पौराणिक मान्यताओं पर आधारित इस शासन तंत्र में अनेक विकृतियाँ आ गयी हैं, उन विकृतियों को नवयुवक ही अपने उद्यम द्वारा समाप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार यह संसार गतिशील है उसी प्रकार राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली भी गतिशील (परिवर्तनशील) होनी चाहिए, परिवर्तन ही इसकी सफलता का रहस्य है। जो व्यक्ति अपने परम्परागत रूढ़ विचारों से तनिक भी अलग नहीं होना चाहते, उनका तो स्वर्गलोक को चले जाना ही उचित होगा अर्थात् जो स्वयं सत्ता के मोह को नहीं त्याग सकते उन्हें नष्ट करके ही दूर हटाया जा सकता है और तभी सत्ता में नवीन विचारों एवं नियमों का पदार्पण हो सकता है।
- विशेष :**
- (1) इसमें नाटककार ने राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के दोषों की ओर संकेत किया है।
 - (2) आज-कल के युवा नेताओं की यही इच्छा रहती है कि व द्ध नेताओं को सत्ता का मोह त्यागकर उन्हें अवसर दिया जाए।
 - (3) विवेच्य पंक्तियों से उस समय की राजनीतिक अस्थिरता का संकेत मिलता है।

- (4) सत्ता का नशा अपने एवं परायों के प्रति संबंध को भी समाप्त कर देता है।
- (5) अमिधा एवं लक्षणा शब्दशक्ति का प्रयोग किया गया है।
- (6) गुण प्रसाद है।
- (7) इसमें रौद्र रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
- (8) भाषा परिमार्जित एवं संस्क तनिष्ठ है।
- (9) मुहावरों के प्रयोग से भाषा जीवंत हो उठी है।
- (10) भाषा पात्रानुकूल एवं भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।

(20)

“आप लोग राष्ट्र के शुभचिंतक हैं। जब पिताजी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने किशोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किंतु बात वैसी नहीं थी। मान्य महोदयो, राष्ट्र में एक ऐसी गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है जो इस शक्तिशाली मगध-राष्ट्र को उन्नत नहीं देखना चाहती। और मैंने इस बोझ को केवल आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था; आप लोग बताइये कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं? या अपने राष्ट्र और सम्राट को आप लोग अपमानित कराना चाहते हैं?”

- संदर्भ** : प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य से अवतरित है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को महत्त्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया; आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।
- प्रसंग** : प्रस्तुत पंक्तियों में अजातशत्रु के उस कूटनीतिपूर्ण वक्तव्य का चित्रण किया गया है, जिसके द्वारा वह मगधवासियों को अपने पिता बिंबसार और सौतेली माँ वासवी देवी के विरुद्ध उत्तेजित करने का प्रयास करता है।
- व्याख्या** : अजातशत्रु राजपरिषद के सदस्यों को संबोधित करते हुए कहता है कि आप सभी व्यक्ति मगध राज्य का कल्याण चाहने वाले हैं। जिस समय मेरे पिताजी (बिंबसार) ने राज्य के इस व हद भार को मेरे कंधों पर सौंपा था, उस समय मैं इस राज्य-भार को अपने किशोर जीवन का एक खेल समझा था; लेकिन अब काशी के विद्रोह को देखकर मुझे अनुभव हो रहा है कि राज्य-संचालन खेल नहीं है। हे माननीय सभासदों! आपके मगध राष्ट्र में एक गुप्तशक्ति राष्ट्र-विरोधी कार्य करने में लगी हुई है। वह शक्ति सुदृढ़ मगध राष्ट्र को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचते हुए नहीं देखना चाहती। मैंने इस राष्ट्र की सत्ता को आप लोगों के विश्वास के भरोसे ही ग्रहण किया था, अतः अब आप ही इस तथ्य का निर्णय कीजिए कि आप इस राष्ट्र-विरोधी गुप्त-शक्ति का विनाश

करना चाहते हैं या नहीं। अर्थात् मेरे माता-पिता दोनों ही काशी नामक राज्य के माध्यम से विद्रोह कर रहे हैं अतः उनके इस गुप्त विद्रोह के दमन हेतु आप लोगों का सहयोग चाहिए। अजातशत्रु सभासदों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए उनसे पुनः प्रश्न करता है कि आप लोगों के लिए मगध और उसके सम्राट का अपमान करवाना उचित है या उस गुप्त शक्ति का दमन करना? अर्थात् अजातशत्रु मनोवैज्ञानिक तर्क देकर मगध की जनता को अपने पक्ष में करने का प्रयास करता है।

- विशेष :**
- (1) प्रस्तुत पंक्तियों में अजातशत्रु मगध की जनता के समक्ष राष्ट्र के हित का प्रश्न रखकर, उन्हें अपने पक्ष में करने में सफल होता है, यह उसकी चतुरता का प्रमाण है।
 - (2) आलोच्य पंक्तियों में अजातशत्रु के वाक्कौशल का परिचय मिलता है।
 - (3) अजातशत्रु अपने पुत्र-धर्म का पालन करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है।
 - (4) प्रस्तुत पंक्तियों से अजातशत्रु की दूरदृष्टि का भी पता चलता है।
 - (5) अजातशत्रु के चारित्रिक पक्ष का भी उद्घाटन हुआ है।
 - (6) अजातशत्रु में एक सफल राजा के सभी गुणों का आभास मिलता है।
 - (7) रस शान्त है।
 - (8) प्रसाद गुण का प्रयोग हुआ है।
 - (9) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
 - (10) तत्सम शब्दों के समावेश के उपरान्त भी भाषा सहज, सरल एवं भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।

(21)

“रात्रि चाहे कितनी भयानक हो - किंतु प्रेममयी रमणी के हृदय से भयानक वह कदापि नहीं हो सकती! यह देखो, पवन मानो किसी डर से धीरे-धीरे साँस ले रहा है - किसी आतंक से पक्षिवंद अपने घोंसलों में जाकर छिप गए हैं। आकाश में ताराओं का झुंड नीरव-सा है, जैसे कोई भयानक बात देखकर वे भी बोल नहीं सकते - केवल आपस में इंगित कर रहे हैं! संसार किसी भयानक समस्या में निमग्न-सा प्रतीत होता है! किंतु मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ - वह डाकू है तो क्या, मेरी वासना भी अतप्त है। मागंधी! चुप, वह नाम क्यों लेती है। मागंधी कौशांबी के महल में आग लगाकर जल मरी - अब तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठि इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। धम की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं; राजरानी होकर और क्या मिलता था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के द्वितीय दृश्य से उद्धृत है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के

सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया है, आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

प्रसंग : उदयन की पूर्व रानी मागंधी ही श्यामा है जो अपने द्वारा किए हुए षडयन्त्र के अनावृत होने पर महल को आग लगाकर भाग जाती है; वही मागंधी अपनी कामाग्नि को शांत करने के लिए कौशल के राजकुमार विरुद्धक (शैलेन्द्र) से मिलने आई है।

व्याख्या : श्यामा बनी मागंधी सोचती है कि इस समय रात्रि का अंधकार कितना भयंकर है, किंतु यह भयानकता किसी प्रेम में व्याकुल रमणी के हृदय की भयानकता से कम है। श्यामा बाह्य वातावरण की भयानकता से त्रस्त हो रही है, अतः वह कहती है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वायु किसी भय से भयभीत होकर मन्द गति से विचरण कर रही है। पक्षी भी उसी अनजाने भय से त्रस्त होकर अपने-अपने घोंसलों में जाकर छिप गए हैं। इस समय आकाश में छाए हुए तारे भी शान्त एवं मौन हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे किसी अज्ञात भय की आशंका के कारण बोल नहीं पा रहे हैं बल्कि संकेतों में ही अपने विचारों को एक-दूसरे तक सम्प्रेषित कर रहे हैं। इस सम्पूर्ण दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो समस्त विश्व के समक्ष कोई जटिल एवं भयानक समस्या आ खड़ी हुई है और वह उसे सुलझाने का प्रयास कर रहा है।

एकाएक उसे ध्यान आता है कि मैं तो शैलेन्द्र से मिलने आई हूँ। इस समय अगर शैलेन्द्र डाकू बना हुआ है तो भी मुझे उससे कोई भय नहीं है, क्योंकि मेरी अतप्त काम-भावनाएँ उससे कम भयंकर नहीं हैं। वह मन ही मन अपने आपको मागंधी नाम से सम्बोधित करती है, किन्तु शीघ्र ही संभलकर सोचने लगती है कि मैं अपने लिए मागंधी का प्रयोग क्यों कर रही हूँ क्योंकि मागंधी तो कौशांबी के महल में आग लगाकर जल मरी है। इस समय मैं मागंधी न होकर काशी की श्यामा नामक वेश्या हूँ, जिसका कार्य पुरुषों के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करके काम-सुख की प्राप्ति करना है। वर्तमान में मेरी स्थिति ऐसी है कि मेरे रूप-सौन्दर्य पर आसक्त होकर बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी और उद्योगपति मेरे चरणों को छूकर अर्थात् मेरे मदहोश कर देने वाले यौवन को पाकर धन्य समझते हैं। पहले मेरे पास धन और सम्मान दोनों का अभाव था लेकिन जब से मैंने कौशांबी के राजमहल का त्याग किया है तभी से धन और सम्मान मेरे चरणों के सेवक हैं। यदि मैं कौशांबी के महल में राजरानी ही बनी रहती तो वहाँ मेरे भाग्य में केवल सौतिया-डाह की आग में जलना ही लिखा होता, जबकि अब मैं सम्पूर्ण सुखों का पान कर रही हूँ।

विशेष :

- (1) श्यामा के स्वगत कथनों से यह संकेत भी मिल जाता है कि उसने कौशांबी के राजमहल में छल-कपट का सहारा लेकर सभी के साथ विश्वासघात किया है।
- (2) इन पंक्तियों में श्यामा के पूर्व एवं वर्तमान जीवन की झांकी प्रस्तुत की गयी है।
- (3) श्यामा के कथन किसी वेश्या के अनुरूप ही हैं।
- (4) प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से भय और अंधकार को अत्यधिक सघनता प्रदान की गई है।

- (5) नारी के विभिन्न रूपों में से ही एक रूप कुलकुलक्षणी भी होता है, श्यामा के माध्यम से इस रूप के दर्शन भी होते हैं।
- (6) विवेच्य पंक्तियों में श्यामा के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।
- (7) आलोच्य गद्यांश में इस तथ्य की भी पुष्टि की जाती है कि नारी को उसके रूप का अभिमान उसे अंधकार के गर्त में भी धकेल सकता है।
- (8) श्रंगार एवं भयानक रस का निदर्शन हुआ है।
- (9) गुण माधुर्य है।
- (10) श्यामा का स्वगत कथन नाटकीय भाषा के गुण से अच्छा है।
- (11) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
- (12) विवेच्य गद्यांश में उपमा, पुनरुक्ति एवं अनुप्रास अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग किया गया है।
- (13) संस्कृतनिष्ठ-खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया गया है।
- (14) भाषा में काव्यात्मकता का गुण भी विद्यमान है।
- (15) स्वगत-कथन नाटकीय-विकास में बाधक है।

(22)

“वीर-हृदय युद्ध का नाम ही सुनकर नाच उठता है। शक्तिशाली भुजदंड फड़कने लगते हैं। भला मेरे रोकने से वे रुक सकते हैं। कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर तले कंटक भी मैं नहीं होना चाहती। वह मेरे अनुराग, सुहाग की वस्तु हैं फिर भी उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी है, जो हमारी श्रंगार-मंजुषा में बंद करके नहीं रखा जा सकता। महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही कर्तव्य नहीं है।”

- संदर्भ** : प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य से उद्धृत है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्त्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया, आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।
- प्रसंग** : आलोच्य पंक्तियों में कौशल राज्य के बंधुल नामक सेनापति की पत्नी मल्लिका अपने वीर पति के पुरुषार्थ एवं एक स्त्री के कर्तव्य का उल्लेख करते हुए रानी शक्तिमती से कहती है-
- व्याख्या** : युद्ध (विकट स्थितियों) का नाम सुनते ही वीर-सैनिक का मन प्रसन्न हो जाता है अर्थात् एक वीर व्यक्ति विपदाओं से जूझने के लिए सदैव तत्पर रहता है। उसकी शक्तिशाली

भुजाओं में युद्ध का नाम लेते ही शक्ति का संचार हो जाता है। मेरे स्वामी भी उन्हीं वीर पुरुषों में से एक हैं, अतः युद्ध का नाम सुनकर भला वे (बंधुल) कैसे रुक सकते थे। मेरे पति का मार्ग कठोर एवं काँटों से भरा हुआ है अर्थात् एक सैनिक को किसी पल युद्ध का सामना करना पड़ सकता है। मैं उनके कर्तव्य-मार्ग की बाधा नहीं बनना चाहती अर्थात् किसी सैनिक के लिए देश के प्रति कर्तव्य पहले आता है और पत्नी या किसी अन्य सगे संबंधी के प्रति प्रेम बाद में। वे मेरे प्रेम के प्रतीक एवं सौभाग्य के चिह्न हैं किन्तु मुझे अलग उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है। मैं उनके अस्तित्व और उनकी पहचान को अपने सौंदर्य के आकर्षण में बाँधकर उसे उसके कर्म-क्षेत्र से विरत करना होगा। मैं ऐसे वीर, साहसी एवं कर्मठ व्यक्ति को अपने सौंदर्य के आकर्षण और भोग-वासना में लिप्त रखकर उन्हें उनके कर्तव्य मार्ग से विचलित नहीं करना चाहती अर्थात् मुझे अपने सुखों की ओर ध्यान न देकर उनके कर्तव्य को प्राथमिकता देनी चाहिये। अतः मैं उनके मार्ग का काँटा नहीं बनना चाहती।

- विशेष :**
- (1) विवेच्य पंक्तियों में एक वीर सैनिक की विशेषताओं का वर्णन किया गया है।
 - (2) 'एक पुरुष की सफलता के पीछे नारी का हाथ होता है' - प्रस्तुत पंक्ति यहाँ यथावत चरितार्थ होती है।
 - (3) नारी की कर्तव्य-परायणता का सुन्दर वर्णन किया गया है।
 - (4) यहाँ मल्लिका में एक सच्ची भारतीय नारी के दर्शन होते हैं।
 - (5) एक पुरुष का पति के अतिरिक्त अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं पहचान होती है- इसे बड़े सुन्दर शब्दों में सुसज्जित किया गया है।
 - (6) मल्लिका के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।
 - (7) इन पंक्तियों में श्रंगार एवं वीर रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है।
 - (8) इसमें माधुर्य गुण की छवि लक्षित होती है।
 - (9) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
 - (10) भाषा में काव्यात्मकता एवं आलंकारिकता का गुण विद्यमान है।
 - (11) प्रस्तुत गद्यांश में तत्सम शब्दों के समावेश के उपरान्त भी भाषा, सरल, सहज एवं प्रवाहपूर्ण है।

(23)

“स्वर्ण-पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा - जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलता है? मुक्त नील गगन में अपने छोटे-छोटे पंख फैलाकर जब वह उड़ती है, तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है उसके सामने तो सोने के पिंजड़े में उसका गान क्रंदन ही है। मैं उसी श्यामा की तरह जो स्वतंत्र है, राजमहल की परतंत्रता से बाहर आयी हूँ। हँसूंगी और हँसाऊंगी, रोऊँगी और रुलाऊँगी! फूल की तरह आयी हूँ - परिमल की तरह चली जाऊँगी। स्वप्न की चंद्रिका में मलयानिल की सेज पर

खेलूँगी। फूलों की धूल से अंगराग बनाऊँगी, चाहे उसमें जितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़े। चाहे कितनों के प्राण जायँ, मुझे कुछ चिंता नहीं। कुन्हालाकर, फूलों को कुचल देने में ही सुख है।”

- संदर्भ :** आलोच्य नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के चतुर्थ दृश्य में अवतरित है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया, आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।
- प्रसंग :** प्रस्तुत पंक्तियाँ श्यामा के स्वगत कथन के रूप में अवतरित हुई हैं। कौशल राज्य के सेनापति बंधुल की हत्या के अपराध से अपने प्रेमी शैलेंद्र के लिए वह किसी की भी बलि देने के लिए दृढसंकल्प है। दुर्भाग्य से उस रात्रि समुद्रदत्त श्यामा के रूप-सौंदर्य पर आकर्षित होकर मेहमान बनकर आता है। प्रस्तुत पंक्तियाँ इस तथ्य की परिचायक हैं कि श्यामा समुद्रदत्त को ही बलिक का बकरा बनाने के लिए तत्पर है। वह अपने वर्तमान और अतीत जीवन की तुलना करते हुए कहती है-
- व्याख्या :** श्यामा अपने अतीतकालीन जीवन को सोने के पिंजड़े में कैद पक्षी की भाँति बताती है अर्थात् अपने राजरानी के रूप को सोने के पिंजड़े में कैद पक्षी से तुलना करते हुए कहती है कि उन दिनों मुझे वह सुख कहाँ मिल पाता था जो आज किसी हरी-भरी डालों पर बैठने वाले और नए-नए फलों एवं फूलों का रसपान करने वाले स्वतंत्र पक्षी की भाँति मिल रहा है। अर्थात् जब मैं राजरानी थी तो महल में घुट-घुट कर जीवन व्यतीत कर रही थी, मेरी दशा ऐसी ही थी तो महल में घुट-घुटकर जीवन व्यतीत कर रही थी, मेरी दशा ऐसी ही थी जैसी सोने के पिंजड़े में कैद एक पक्षी की होती है, किन्तु आज मुझे नवयौवन पुरुषों के संसर्ग से अत्यधिक सुख की प्राप्ति हो रही है। जब मैं अपनी इच्छाओं के पंख फैलाकर अनन्त आकाश में उड़ान भरती हूँ और कुछ गाती हूँ तो उसकी तान कोयल की भाँति सुरीली और मधुर होती है। इसके विपरीत मेरा यही मधुर गान राजमहल की कैद में एक चीत्कार की भाँति होता था। श्यामा आगे कहती है कि मैं उसी श्यामा (कोयल) नामक पक्षिणी की तरह राजमहल की कैद से स्वतंत्र होकर आई हूँ और अब अपनी इच्छानुसार आचरण करने के लिए स्वतंत्र हूँ। अब मैं इस उन्मुक्त वातावरण में प्रसन्न रहूँगी और दूसरों को प्रसन्न करूँगी। मेरा सब कुछ समाप्त हो चुका है इसलिए मेरी आँखें में अश्रु-धारा भी प्रवाहित होगी लेकिन मैं दूसरों को भी चैन से नहीं बैठने दूँगी। मेरा आगमन यहाँ पुष्प की भाँति हुआ है जो अपनी सुगन्धि फैलाते हुए विलीन हो जाता है अर्थात् मैं भी दूसरों को अपने यौवन का आनन्द देकर इस संसार से कुछ समय बाद विदा हो जाऊँगी। मैं कल्पनाओं की चाँदनी में सुगंधित सेज पर सोना चाहती हूँ अर्थात् जो सुख मुझे यथार्थ में नहीं मिल पाया उसे कल्पनाओं के माध्यम से अर्जित करना चाहती हूँ। मैं पुष्पों के पराग कणों से शरीर पर मलने वाला सुगंधित द्रव्य (उबटन) बनाकर अपने सम्पूर्ण शरीर पर लगाना चाहती हूँ, इसके लिए मुझे चाहे कितनी ही कलियाँ को क्यों न कुचलनी पड़े अर्थात् मैं सुख प्राप्त करने के लिए असंख्य व्यक्तियों के जीवन को भी दांव पर लगा सकती हूँ। श्यामा कहती है कि मेरा अपना अभिमत यह

है कि स्वयं मुरझाने की अपेक्षा फूलों को कुचल देना ही सुखकारी है अर्थात् मैं तभी प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकती हूँ जब मेरा प्रियतम शैलेंद्र मेरे पास हो और इसके लिए समुद्रदत्त की बलि देनी ही होगी।

- विशेष :**
- (1) श्यामा की मधुर वाणी की तुलना कोयल से की गयी है।
 - (2) श्यामा का यह कथन लाक्षणिक है, वह समुद्रदत्त रूपी पुष्प को कुचलन की अभिलाषा व्यक्त कर रही है।
 - (3) श्यामा द्वारा अपने वेश्या जीवन को किसी स्वच्छंद पक्षी की भाँति कहना और वैवाहिक जीवन को सोने के पिंजड़े में कैद पक्षिणी से तुलना करना तत्कालीन मनोदशा के अनुरूप ही है।
 - (4) इसमें स्वतंत्रता और परतंत्रता के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है।
 - (5) विवेच्य गद्यांश में श्यामा के दुष-चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।
 - (6) स्वगत लम्बे कथन नाटक की रंगमंचीयता में बाधक हैं।
 - (7) उपमा और अनुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
 - (8) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
 - (9) भाषा में काव्यात्मकता, साहित्यिकता एवं आलंकारिकता का गुण विद्यमान है।
 - (10) शान्त, श्रंगार रस का परिपाक हुआ है।
 - (11) गुण प्रसाद है।
 - (12) भाषा संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध परिमार्जित हिन्दी है।

(24)

“संसार में स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ है, किंतु हाय! आज मैं उसी सोहाग से वंचित हो गयी हूँ। हृदय थरथरा रहा है, कंठ भरा आता है - एक निर्दय चेतना सब इंद्रियों को अचेतन और शिथिल बनाए दे रही है। आह! हे प्रभु! मुझे बल दो- विपत्तियों को सहन करने के लिए - बल दो। विश्वास दो कि तुम्हारी शरण जाने पर कोई भय नहीं रहता, विपत्ति और दुःख उस आनंद के दास बन जाते हैं, फिर सांसारिक आतंक उसे नहीं डरा सकते। मैं जानती हूँ कि मानव-हृदय अपनी दुर्बलताओं में ही सबल होने का स्वांग रचता है - किंतु मुझे उस बनावट से, उस दंभ से बचा लो! शांति के लिए साहस दो - बल दो।”

- संदर्भ :** प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के द्वितीय अंक के पंचम दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कवीन्द्र-रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसंग : कौशल के सेनापति बंधुल का राजकुमार शैलेन्द्र छल से मार देता है। बंधुल की पत्नी मल्लिका यह दुःखपूर्ण संदेश सुनकर अपनी व्यथा को प्रकट करते हुए कहती है-

व्याख्या : संसार की किसी भी स्त्री के लिए उसका सर्वस्व पति ही होता है, वह उसके सौभाग्य की निशानी है, किंतु बड़े दुख के साथ कहना पड़ा रहा है कि आज मैं उस सौभाग्य से सदा-सदा के लिए वंचित हो गयी हूँ अर्थात् राजकुमार शैलेन्द्र ने मेरे पति की छल से हत्या कर दी है। इस अशुभ सूचना ने मेरे हृदय में कंपन पैदा कर दी है और गले से स्वतः ही रुदन की ध्वनि निकल रही है। यह निर्मम सूचना मेरे शरीर की समस्त इंद्रियों को निष्क्रिय और अश्वेष्ट बना रही है अर्थात् ऐसा लग रहा है जैसे मेरे शरीर की शक्ति का हास हो रहा है। मल्लिका भगवान से प्रार्थना करते हुए कहती है कि हे ईश्वर! मुझे इस असहनीय विपत्ति को सहन करने का बल तथा शक्ति प्रदान करें। मेरे हृदय में इस प्रकार के विश्वास का संचार कर दीजिए कि जब कोई तुम्हारी शरण में आता है तो उसे किसी प्रकार का भय एवं दुःख नहीं रहता। तुम्हारी शरण में आने में जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द में मनुष्य के सभी दुःखों एवं विपत्तियों का शमन हो जाता है। जब मानव उस आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो सांसारिक बाधाएँ उस व्यक्ति को आतंकित नहीं कर सकती और न ही किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा सकती। मैं इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हूँ कि विपदाओं के अवसर पर भी प्रत्येक मानव सुखी होने का नाटक करता है अर्थात् वह दूसरों के समक्ष अपने आपको संसार का सुखी प्राणी घोषित करना चाहता है, किंतु हे प्रभु! मुझे उस अविश्वसनीय दिखावे एवं अभिमान से दूर ही रखना। मेरे जीवन में शांति का संचार कर दो अर्थात् यह सत्य है कि मेरे पति की मृत्यु हो चुकी है, मैं दूसरों के समक्ष सुखी होने का दिखावा करने की उपेक्षा शांतिमय जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ। अतः हे भगवन! मुझे इस प्रकार का जीवन जीने के लिए शक्ति दो।

- विशेष :**
- (1) मल्लिका में एक सच्ची भारतीय नारी के दर्शन होते हैं।
 - (2) पति की मृत्यु पर पत्नी की दुःखमय स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है।
 - (3) 'दुःख में सुमिरन सब करें, दुःख में करे ना कोय' नामक पंक्ति प्रस्तुत गद्यांश पर पूर्णतः लागू होती है।
 - (4) मल्लिका द्वारा ईश्वर से धैर्य एवं सहनशक्ति की प्रार्थना की गई है।
 - (5) मल्लिका के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।
 - (6) इसमें शोक-संतप्त नारी की व्यथा को प्रस्तुत किया गया है।
 - (7) संवेदनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।
 - (8) भाषा साहित्यिक एवं आलंकारिता का गुण लिए हुए है।
 - (9) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
 - (10) करुण रस का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
 - (11) गुण प्रसाद है।
 - (12) भाषा संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध परिमार्जित हिन्दी है।

(25)

“अब कोई और समाचार सुनने की इच्छा नहीं है। संसार-भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग षडयंत्र और प्रतारणा है। यही सब कुछ सुनाओगे, ऐसा मुझे निश्चय हा गया। जाने दो। एक शीतल निःश्वास लेकर तुम विश्व के वात्याचक्र से अलग हो जाओ और इस पर प्रलय के सूर्य के किरणों तक तप कर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा होने दो। अविश्वास की आँधियों को सरपट दौड़ने दो। पृथ्वी के प्राणियों में अन्याय बढ़े, जिनसे दृढ़ होकर अनीश्वरवादी हो जाएँ, और प्रतिदिन नयी समस्या हल करते-करते कुटिल क तघ्न जीव मूर्खता की धूल उड़ावें - और विश्व भर में इस पर एक उन्मत्त अट्टहास हो।”

- संदर्भ** : विवेच्य गद्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के षष्ठ द श्य से अवतरित है। हिन्दी साहित्य-जगत के स्वानाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : प्रस्तुत पंक्तियों में मगध का राजवैद्य जीवक महाराज बिंबसार को सूचना देता है कि काशी प्रांत में हुए विद्रोह का दमन करने के लिए गए हुए सेनापति बंधुल को अजातशत्रु के सहयोग से कोशन के राजकुमार विरुद्धक (शैलेन्द्र) ने मार डाला। महाराज प्रसेनजित भी युद्ध में घायल होकर रणक्षेत्र से लौट गए हैं। बिंबसार जीवन की इन बातों को सुनकर हताश हो जाता है और इसी संबंध में अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त कर रहा है-
- व्याख्या** : बिंबसार सेनापति बंधुल की मृत्यु का समाचार सुनकर जीवक को और बातें कहने के लिए मना करते हुए कहता है कि जीवक! अब तुम विश्राम करो, क्योंकि मैं अब इस प्रकार का कोई भी समाचार सुनने की अभिलाषा नहीं रखता हूँ। इस संपूर्ण संसार में जहाँ भी दृष्टि डालिए वहीं पर विद्रोह, आपसी लड़ाई-झगड़े, हत्या, एक-दूसरे पर झूठे आक्षेप, षडयंत्र एवं धोखाधड़ी फैली हुई है। अब मुझे निश्चय हो गया है कि तुम मुझे इसी प्रकार की बातें सुनाओगे। बिंबसार एक लम्बी श्वास लेते हुए आगे कहते हैं तुम्हें विश्व की समस्याओं रूपी तूफान से अलग हो जाना चाहिये अर्थात् अब तुम्हें सांसारिकता के बंधन को तोड़कर तटस्थ हो जाना चाहिये। इस विश्व पर प्रलय-कालीन सूर्य द्वारा अपनी प्रचंड किरणों के माध्यम से पिघलने वाले लोहे की वर्षा होने देनी चाहिए अर्थात् यदि विश्व में विद्रोह या लड़ाई-झगड़ों के कारण हाहाकार मचता है तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। यदि मानव-मानव के बीच अविश्वास की आँधी चल रही है तो उसे निःसंकोच भाव से चलती रहने चाहिए। मेरी तो यही अभिलाषा है कि ऐसी स्थिति आ जाए कि इन पृथ्वीवासियों में अन्याय बढ़ता ही जाए, जिससे हताश होकर मनुष्य भगवान में विश्वास करना छोड़ दे। उसके समक्ष इतनी अधिक समस्याएँ आ जाएँ कि उनका समाधान करते हुए वह इतना कुटिल और दूसरों द्वारा किए हुए उपकार को

न मानने वाला (अहसानफरामोश) बन जाए। व्यक्तियों के आपसी व्यवहार से मूर्खता की गंध आनी चाहिये और सम्पूर्ण विश्व में पागलपन की हँसी गूँजनी चाहिए। भाव यह है कि महाराज बिंबसार मानव के परस्पर वैर-विरोध को देखकर विक्षुब्ध हो जाता है और इस प्रकार के प्रलय की कामना करता है।

- विशेष :**
- (1) 'संसार-भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षडयन्त्र और प्रतारणा हैं'- प्रस्तुत पंक्ति आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी उस समय थी।
 - (2) चारों तरफ हत्याओं और विद्रोह को देखकर मानव वैराग्य धारण कर लेता है या प्रलय की कामना करता है।
 - (3) विवेच्य पंक्तियों से बिंबसार के भावुक होने का पता चलता है।
 - (4) उस समय की राजनीतिक स्थिति की ओर संकेत किया गया है।
 - (5) इन पंक्तियों से बिंबसार के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।
 - (6) भाषा भावानुकूल एवं लाक्षणिक पदावली से युक्त है।
 - (7) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
 - (8) रौद्र रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।
 - (9) गुण ओज व प्रसाद है।
 - (10) भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण हिन्दी है।
 - (11) अत्यधिक लम्बे कथन नाटक की अभिनेयता में बाधक हैं।
 - (12) भाषा में आलंकारिता का गुण विद्यमान है।

(26)

“आप देवी हैं! सौर मंडल से भिन्न जो केवल कल्पना के आधार पर स्थिर है, उस जगत की बातें आप सोच सकती हैं। किंतु हम इस संघर्षपूर्ण जगत के जीव हैं, जिसमें कि शून्यच की प्रतिध्वनि देता है, जहाँ किसी को वेग से कंकड़ी कारने पर वही कंकड़ी - मारने वाले की ओर - लौटने की चेष्टा करती है। इसलिए मैं ता यही कहूँगा कि इस मरणासन्न घमंडी और दुर्वत्त कोसल नरेश की रक्षा आपको नहीं करनी चाहिये।”

संदर्भ : प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक में सप्तम दृश्य से ली गई हैं। हिन्दी साहित्य-जगत के स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसंग : प्रस्तुत पंक्तियों में मल्लिका का भांजा उसे यह समझा रहा है कि उसे कौशल नरेश प्रसेनजित को माफ नहीं करना चाहिये।

व्याख्या : दीर्घकारायण अपनी मामी से कहता है कि आप एक सामान्य स्त्री न होकर एक देवी के समान हैं, यही कारण है कि आप देवी-देवताओं के समान ऐसी सात्विक बातें सोच सकती हैं जो हमारे लिए कोरी कल्पना ही हैं। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कारायण कहता है कि मैं उस संसार का प्राणी हूँ जहाँ जीवन में चारों ओर संघर्ष ही संघर्ष दिखाई देता है। इस जगत में रहकर आकाश को भी यदि तीव्र ध्वनि में शब्द के माध्यम से आघात पहुँचाया जाए तो वह प्रत्युत्तर में उसे वापस लौट देता है, पुनः यदि उसी आकाश में किसी की तरफ जोर से कंकड़ से प्रहार किया जाए तो वह कंकड़ एक क्षण में ही मारने वाले की ओर लौट आता है। अर्थात् जब आकाश भी प्रकार का उत्तर प्रहार से ही देता है तो फिर आपको भी मामा बंधुल की हत्या का बदला लेना चाहिये। अतः मेरा तो यही विचार है कि आपको उस दुराचारी कौशल नरेश प्रसेनजित की प्राण-रक्षा करने का प्रयास नहीं करना चाहिये था।

- विशेष :**
- (1) विवेच्य पंक्तियों में दीर्घकारायण ने उस नियम की ओर संकेत किया है जिसमें खून का बदला खून होता है।
 - (2) इसमें दीर्घकारायण के कथन से मल्लिका के देवी रूप के दर्शन होते हैं।
 - (3) समाज में व्यक्ति का व्यवहार ही उसे हैवान या देवता के पद पर आसीन कर देता है।
 - (4) कारायण के विचारों से मल्लिका के चारित्रिक औदात्य के दर्शन होते हैं।
 - (5) मल्लिका के संदर्भ में प्रस्तुत कथन से पदा चलता है कि उस पर गाँधी जी के अहिंसावादी सिद्धांत का पूर्णतः अभाव है।
 - (6) भाषा में लाक्षणिकता का गुण विद्यमान है।
 - (7) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
 - (8) गुण ओज है।
 - (9) रौद्र रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
 - (10) भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी सरल, सहज एवं भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।

(27)

“क्या विप्लव हो रहा है। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिए कितना प्रयास होता है। अंधी जनता अँधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन कि सहज-प्राप्य अंतरात्मा की सुख-शांति को भी लोग खो बैठते हैं! भाई-भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह कर रहा है, स्त्रियों पतियों से प्रेम नहीं उन पर कुशासन करना चाहती हैं। मनुष्य, मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्रकला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। राजमंदिर बंदीगृह में बदल गए हैं। कभी सौहार्द से जिसका आतिथ्य कर सकते थे, उसे बंदी बनाकर रखा है।”

- संदर्भ** : प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत के स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी-साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग-निर्माता कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : यद्ध के पश्चात मगध नरेश अजातशत्रु को कौशल के बंदीगृह में कैद कर दिया जाता है। कौशल की राजकुमारी बाजिरा अजातशत्रु को देखकर उस पर आसक्त हो जाती है और मन ही मन राज्य में हो रहे अत्याचार और अनर्थ के विषय में सोचती है।
- व्याख्या** : बाजिरा सोचती है कि राज्य में चारों तरफ अन्याय, अत्याचार और अनर्थ का वर्चस्व है। मानव प्रकृतिगत साधनों का त्याग करके कृत्रिम वस्तुओं को पाने के लिए संघर्ष कर रहा है अर्थात् मानव प्रकृति-प्रदत्त प्रेम को छोड़कर झूठी प्रशंसा के लिए प्रयास करने में रत है। अशिक्षित और अज्ञानी प्रजा बिना कुछ सोचे-विचारे अज्ञानता के अंधकार में दौड़ रही है अर्थात् मानव इस संसार में खाली हाथ आया है और खाली हाथ ही जाएगा तो फिर ख्यातिलिप्सा क्यों? अधर्म के मार्ग पर चलने से व्यक्ति मानवता को त्याग आपसी लूट-खसोट आदि विकृत प्रवृत्तियों को अपना रहा है, जिससे ईश्वर प्रदत्त आत्मिक शान्ति को भी स्वार्थ-साधनों को प्राप्त करने के संघर्ष में खो बैठता है। सम्पूर्ण जगत में भाई-भाई से लड़ रहा है, पुत्र और पिता में अधिकारों के लिए संघर्ष हो रहा है और पुत्र पिता के विरुद्ध षडयंत्र कर रहा है। पत्नियों के हृदय में अपने पति के लिए शुद्ध प्रेम का तिरोभाव हो गया है; वे अपने पति से प्रेम की अपेक्षा उस पर कठोर शासन करना चाहती हैं। मानव एक-दूसरे के प्राण लेने के लिए नए-नए विनाशकारी हथियारों का निर्माण कर रहा है। कवि भी ऐसे दृश्यों को हाथ से नहीं जाने देना चाहते और ऐसे क्रूर लोगों को आधार बनाकर ओजस्वी शैली में कविताएँ लिख देते हैं, जिससे उन असभ्य व्यक्तियों में जोश का संचार हो जाता है और अन्याय की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। इस समय राजमहल कैदखानों में तबदील हो रहे हैं। जिस राजकुमार का हृदय से आतिथ्य-सत्कार करने में आनन्द आता उसे भी बंदीगृह में कैद कर रखा है।
- विशेष** :
- (1) राजकुमारी बाजिरा की अजातशत्रु के प्रति प्रेम-भावना के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।
 - (2) कौशल राज्य की दुखस्था का सजीव चित्रण किया गया है।
 - (3) कौशल राज्य की तात्कालिक सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का उत्कृष्ट अंकन हुआ है।
 - (4) मानव की झूठी सम्मानलिप्सा उसे कितना गिरा देता है, इसका स्पष्ट आभास हो रहा है।
 - (5) राजकुमारी बाजिरा उस समय के राजनीतिक वातावरण के प्रति कितनी जागरुक थी, इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।
 - (6) भाषा में साहित्यिकता का गुण विद्यमान है।

- (7) विवेच्य पंक्तियों में शान्त एवं श्रंगार - दोनों रस ध्वनित हो रहे हैं।
- (8) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
- (9) गुण प्रसाद एवं माधुर्य है।
- (10) लम्बे कथन नाटक की रंगमंचीयता में बाधक हैं।
- (11) भाषा संस्कृतनिष्ठ, शुद्धपरिमार्जित हिन्दी है।

(28)

“स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही, एक परिवर्तन है - जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं; किंतु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर - जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो। वे मनुष्य पर राजरानी के समान एकाधिपत्य रख सकती हैं, तब उन्हें इस दुरभिसंधि की क्या आवश्यकता है - जो केवल सदाचार और शांति को ही नहीं शिथिल करती, उच्छलता को भी आश्रय देती है। ”

- संदर्भ** : प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य से अवतरित है। हिन्दी साहित्य जगत् में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य-लेखन-परम्परा में सर्वोपरि स्थान था। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग** : रानी शक्तिमती सेनापति कारायण से कहती है कि जिसने तुम्हारे मातुल की हत्या की है, उसी की सेवा करके तूम अपने आपको धन्य समझ रहे हो। अर्थात् शक्तिमती अपने पति प्रसेनजित के विरुद्ध कारायण को तो भड़का ही रही है, स्वयं भी स्व-पति के विरुद्ध विद्रोह करना चाहती है। इसी संदर्भ में रानी शक्तिमती कारायण से स्त्रियों के समानाधिकार की बात करती है। कारायण उसकी इसी बातों का उत्तर देते हुए कहता है -
- व्याख्या** : ईश्वर ने स्त्रियों के शारीरिक और प्राकृतिक विकास में पुरुष से अलग विशेषताएँ प्रदान की हैं अर्थात् उनका शरीर सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति होता है एवं स्निग्धता उनके अंग-अंग से झलकती है। अतः ऐसे में वे केवल अपने हृदय पर ही शासन कर सकती हैं, क्योंकि प्राकृति ने पुरुष में अपार शक्ति का संचार किया और स्त्रियों में अपार कोमलता एवं सौंदर्य का। स्त्रियों के प्राकृतिक एवं शारीरिक विकास-पुरुष से पूर्णतः भिन्न होते हैं। जो व्यक्ति अपनी शक्ति के बल पर समस्त संसार पर अधिकार जमा सकता है, नारी उन वीर पुरुषों पर उसी अपने सौंदर्य के बल पर अधिकार कायम कर सकती है। वह उन वीर पुरुषों पर उसी प्रकार अधिकार जमा सकती है जिस प्रकार एक रानी का राजा एवं प्रजा पर अधिकार होता है। इतने अधिक अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद भी तुम्हें और अधिकारों की क्या आवश्यकता है। तुम्हारे जैसी स्त्रियाँ सद्व्यवहार और शांतिमय वातावरण को ही भंग नहीं करती बल्कि परिवार से अलग निरंकुश एवं बेकाबू होकर कार्य करती हैं।

- विशेष :**
- (1) ईश्वरप्रदत्त नारी के शारीरिक और प्राकृतिक परिवर्तनों की ओर संकेत किया है।
 - (2) 'अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी' नामक पंक्ति को दीर्घकारायण के वक्तव्य से बल मिल रहा है।
 - (3) नारी के अधिकारों से संबंधित वर्णन के पीछे नारी मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की झलक मिलती है।
 - (4) प्रसाद जी ने कारायण के माध्यम से अपने नारी संबंधी विचारों की प्रस्तुति की है।
 - (5) विवेच्य पंक्तियों से शक्तिमती के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।
 - (6) नारी अपने सौंदर्य के बल पर पुरुष पर अधिकार जमाने में सक्षम है - इस सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन किया गया है।
 - (7) भाषा में साहित्यिक का गुण विद्यमान है।
 - (8) शब्दशक्ति लक्षणा है।
 - (9) गुण प्रसाद है।
 - (10) भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी सरल, सहज एवं भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है।

(29)

“फिर बार-बार यह अवहेलना कैसी? यह बहाना कैसा? हमारी असमर्थता सूचित कराकर हमें और भी निर्मूल आशंकाओं में छोड़ देने की कुटिलता क्यों है? क्या हम पुरुष के समान नहीं हो सकतीं? क्या चेष्टा करके हमारी स्वतंत्रता नहीं पददलित की गयी है? देखो, जब गौतम ने स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दी, तब क्या वे ही सुकुमार स्त्रियाँ परिव्राजिका के कठोर व्रत को अपनी सुकुमार देह पर नहीं उठाने का प्रयास करतीं?”

- संदर्भ :** प्रस्तुत अवतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी-साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** रानी शक्तिमती अपने पति प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तत्पर है। वह कारायण के सम्मुख पुरुष जाति पर आक्षेप लगाते हुए कहती है कि पुरुष नारी जाति के अधिकारों का हनन कर रहा है, जबकि हमें समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए।
- व्याख्या :** शक्तिमती सेनापति कारायण से प्रश्न करती है कि यदि हम मानव हृदय पर शासन करने में समर्थ हैं और सभी इस तथ्य से सहमत भी हैं, तो फिर नारी जाति का बार-बार अपमान करने का प्रयास क्यों किया जाता है? हमें पुरुषों के समान अधिकार देने में

आनाकानी की जाती है एवं अनेक प्रकार के बहाने भी बनाये जाते हैं। पुरुष वर्ग हमारे सम्मुख हमारी असमर्थताओं को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है, जिससे हमारे मन में अनेक निराधार आशंकाएँ जन्म लेती हैं। पुरुष स्त्रियों के प्रति इतना कठोर आचरण क्यों करता है। क्या हम स्त्रियाँ पुरुषों के समान नहीं हो सकती, क्या हमें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। पुरुष जाति ने अनेक प्रयास करके स्त्री जाति के अधिकारों का हनन किया है। मैं कहती हूँ कि स्त्रियाँ किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से कम नहीं हैं, इसका प्रमाण यह है कि जब गौतम बुद्ध ने स्त्रियों को बौद्ध-धर्म से दीक्षित होकर सन्यासिनी बनने का अधिकार दे दिया है तो वे ही कामलांगी नारियाँ सन्यासियों के कठोर नियमों का पालन कर रही हैं जिसे पुरुष-वर्ग ही कर सकता है अर्थात् स्त्रियाँ पुरुषों से किसी भी स्थिति में कम नहीं हैं।

- विशेष :**
- (1) पुरुष द्वारा सदा ही नारी के अधिकारों का हनन होता है, इसका प्रमाण विवेच्य गद्यांश से मिल रहा है।
 - (2) नारी के अधिकारों से संबंधित वर्णन के पीछे नारी मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की झलक मिलती है।
 - (3) नाटककार ने स्त्रियों को सन्यासियों के कठोर नियमों का पालन करते हुए दिखाकर नारी के शक्तिशाली रूप का वर्णन किया है।
 - (4) इसमें बौद्ध के प्रभाव का वर्णन किया गया है।
 - (5) शक्तिमती नारी अधिकारों के प्रति सचेत नारी है।
 - (6) नाटककार ने पुरुष और स्त्री के अधिकारों की समानता के द्वारा समकालीन समस्या की ओर वर्णन किया है।
 - (7) इसमें प्रश्नवाचक शैली का प्रयोग किया गया है।
 - (8) अभिधा एवं लक्षणा शब्दशक्ति का प्रयोग हुआ है।
 - (9) इसमें रौद्र रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
 - (10) ओज एवं प्रसाद गुण की प्रधानता है।
 - (11) संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया गया है।

(30)

“चंद्र, सूर्य, शीतल, उष्ण, क्रोध, करुणा, द्वेष, स्नेह का द्वंद्व संसार का मनोहर दृश्य है। रानी! स्त्री और पुरुष भी उसी विलक्षण नाटक के अभिनेता हैं। स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशवक त्रिवाले क्रूरकर्मा पुरुषों का कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर, पौरुष के अनंतर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है - उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा। हमारा यह कर्तव्य है। व्यर्थ स्वतंत्रता और समानता का अहंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिये।”

संदर्भ : प्रस्तुत गद्यावतरण जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के तृतीय अंक

के चतुर्थ दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरामणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसंग : रानी शक्तिमती अपने पुत्र विरुद्धक को राजसिंहासन पर बैठा देखना चाहती है लेकिन उसके ऐसे मनतव्य को देख मल्लिका उससे कहती है कि क्या क्रूर विरुद्धक को देखकर तुम्हारी अंतरात्मा लज्जित नहीं होती? मल्लिका उसे नारी के कर्तव्यों से परिचित कराते हुए कहती है-

व्याख्या : जगत में सूर्य-चंद्रमा, शीतल-गर्म, करुणा-क्रोध, द्वेष-स्नेह आदि परस्पर विरोधी होते हुए भी एक-साथ दिखाई देते हैं। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष भी परस्पर विरोधी होते हुए भी जगत रूपी नाटक में अभिनय कर रहे हैं। इस नाटक में अभिनय करते हुए स्त्री का कर्तव्य बनता है कि वह पशु-समान आचरण एवं निर्मम कर्म में रत पुरुषों पर अपनी सेवा व प्रेम की मदिरा उड़ेल दे, जिससे पुरुषों की पशुवत् प्रवृत्ति को कम किया जा सके। पुरुष के कठोर हृदय में परिवर्तन आ जाएगा तो वह स्नेह, शीतलता और सदाचार के गुणों से परिचित होने के लिए नारी की ही शरण में आएगा, क्योंकि नारी में ये गुण ईश्वरप्रदत्त हैं। हमें अपने ऊपर व्यर्थ की स्वतंत्रता एवं समानता का अहंकार करके अपने स्त्री कर्तव्य को नहीं भूलना चाहिए, यही हमारा कर्तव्य है।

विशेष :

- (1) लेखक ने स्त्रियों के कर्तव्यों एवं अधिकारों पर प्रकाश डाला है।
- (2) इसमें स्त्री और पुरुष के प्रकृतिगत गुणों पर दृष्टिपात किया गया है।
- (3) पुरुष एवं स्त्री को संसार रूपी नाटक में अभिनय करने वाले पात्र घोषित किया है।
- (4) कठोरता एवं उष्णता को पुरुषों की तथा स्नेह, स्निग्धता व सहनशीलता को स्त्रियों की विशेषता बताया है।
- (5) यह सार्वभौमिक सत्य है कि नारी अपने प्रेम व कोमल स्वभाव से कठोर-हृदय पुरुष के स्वभाव को भी परिवर्तित करने में सक्षम है।
- (6) इसमें शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
- (7) प्रसाद गुण का प्रयोग किया गया है।
- (8) अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति का प्रयोग हुआ है।
- (9) दीर्घ संवाद नाटक की अभिनेयता में बाधक हैं।
- (10) दीर्घ संवाद नाटक की अभिनेयता में बाधक है।
- (11) संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया गया है।

(31)

“दैनिक विश्व का यह कौतुक है देवि! अब तुम अग्नि में तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गयी हो। विश्व के कल्याण में

अग्रसर हो। असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अंतर में विकसित होंगे। फिर तुमको पर-दुःख कातरता में ही आनंद मिलेगा। विश्वमैत्री हो जाएगी - विश्व-भर अपना कुटुंब दिखाई पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टाहस में परिणत हो सकती हैं।”

संदर्भ : विवेच्य नाट्यांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के तृतीय अंक के सातवें दृश्य से उद्धृत है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसंग : कौशांबी नरेश उदयन की रानी मागंधी (श्यामा) को अपने पथभ्रष्ट होने का पछतावा होता है, अब वह बौद्ध-धर्म में दीक्षित होना चाहती है। वह गौतम के पैर पकड़कर विनती करती है मुझे अपने सौंदर्य पर बड़ा गर्व था लेकिन उसी रूप-सौंदर्य की अवहेलना ने मुझे बहुत समय तक इधर-उधर भटकने के लिए मजबूर किया। गौतम उसे समझाते हुए कहते हैं-

व्याख्या : हे देवि! यह भी जगत् का एक क्षणिक खेल मात्र है जिसमें अभिनय करते हुए व्यक्ति विभिन्न प्रकार के आचरण करने लगता है। तुम अनेक प्रकार की विकृत परिस्थितियों में संलिप्त रही, लेकिन अब तुम पछतावे रूपी आग में सोने की भाँति तपकर परिशुद्ध हो गई हो अर्थात् अब तुम्हारे सम्पूर्ण पाप धुल गये हैं। इस जगत् में अनेक दुःखी व्यक्ति विद्यमान हैं, जिन्हें हमारे जैसे साधु-संत प्रवृत्ति के व्यक्ति उन्हें सन्मार्ग की ओर अग्रसर कर सकते हैं, जिससे उनके समस्त दुःखों का निवारण हो जाएगा। अब तुम्हें मानव-कल्याण की ओर ही चित्त लगाना चाहिये। यह संसार दुःख रूपी अनेक समुद्रों से आच्छादित है, तुम इसमें बिना किसी भय के कूद जाओ। यदि तुम किसी एक भी दुःखी व्यक्ति को प्रसन्न करने में सफल हो सकी तो तुम्हें अपने हृदय में ऐसा आभास होगा जैसे उसमें हजारों स्वर्ग खिल उठे हों। जब तुम ऐसा करने लग जाओगी तो तुम्हें रुग्णहृदय लोगों के दुःख दूर करने में ही आनन्द की अनुभूति होने लगेगी। ऐसी अवस्था में तुम्हें सम्पूर्ण विश्व अपना मित्र एवं परिवार की भाँति दिखाई देगा, अर्थात् तुम्हारी सोच इतनी विस्तृत हो जाएगी कि सारा विश्व तुम्हें अपना संबंधी दिखाई देगा। हे देवी! अब तुम दृढ़ निश्चय करके उठो, क्योंकि तुम्हारे स्नेहमयी प्रयासों से असंख्या संतप्त व्यक्तियों की आहें प्रसन्नता में बदल सकती है। अतः अब तुम्हें मानव कल्याण के कार्य में ही लग जाना चाहिये, यही तुम्हारा प्रायश्चित्त होगा।

विशेष :

- (1) विवेच्य पंक्तियों में बौद्ध-धर्म की मूल शिक्षाओं का चित्रण किया गया है।
- (2) उस समय की जनता पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव का संकेत स्पष्ट झलक रहा है।
- (3) गौतम बुद्ध ने समस्त संसार को दुःख का सागर स्वीकार किया है।
- (4) दीन-दुखियों का कल्याण करना ही बौद्ध-धर्म का उद्देश्य था।

- (5) गौतम के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।
- (6) उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।
- (7) 'दुःख-समुद्र' में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
- (8) शब्दशक्ति लक्षणा एवं व्यंजना है।
- (9) 'निर्वेद' नामक स्थायी भाव के कारण शान्त रस का विलय हुआ है।
- (10) गुण प्रसाद है।
- (11) इतने लम्बे संवाद नाटक के मंचन में बाधक हैं।
- (12) 'दुःख-समुद्र में कूदना', 'अग्नि में तपकर शुद्ध होना' नामक मुहावरों के प्रयोग से भाषा जीवंत हो चुकी है।
- (13) भाषा शुद्ध संस्कृत तनिष्ठ परिमार्जित हिन्दी है।

(32)

“संध्या का समीर ऐसा चल रहा है - जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल विश्वास छोड़कर अपने प्राण धारण कर रहा हो। प्रकृति की शांतिमयी मूर्ति निश्चल होकर भी मधुर झोंके से हिल जाती है। मनुष्य-हृदय भी एक रहस्य है, एक पहली है। जिस पर क्रोध से भैरव-हुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उन्माद! और क्या?”

- संदर्भ :** प्रस्तुत पंक्तियाँ जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के तृतीय अंक के नवम दृश्य से उद्धृत हैं। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितेरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।
- प्रसंग :** मगध नरेश महाराज बिम्बसार अपनी कुटिया में लेटे हुए विगत जीवन के विषय में सोच रहे हैं। वे इन्हीं बीते हुए क्षणों के संदर्भ में मानव-प्रकृति के विषय में सोचते हैं-
- व्याख्या :** सांयकाल चलती हुई शीतल वायु ऐसे प्रतीत हो रही है मानो दिन भर धूप में संघर्ष करते आया हुआ उदास एवं नीरव संसार ठण्डी आह भरकर अपनी क्षीण हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रयास कर रहा हो। सम्पूर्ण प्रकृति इस समय शान्त दिखाई दे रही है लेकिन एक-आध बार आया हवा का मधुर झोंका उसे अस्थिर कर देता है। बिम्बसार मानव हृदय के विषय में सोचता है कि मनुष्य का हृदय भी रहस्यपूर्ण है जिसे आज तक पूर्ण रूप से कोई नहीं समझ सका अर्थात् मानव हृदय उस उलझी हुई पहली के समान है जिसे जो भी सुलझाने का प्रयास करता है वह उतनी ही ज्यादा उलझती जाती है। यही हृदय जब किसी पर क्रोध करता है तो उसके प्राण लेने के लिए तत्पर हो जाता है, लेकिन जब यह शांत अवस्था में होता है तो प्रेम का अर्पण करने के लिए तैयार हो

जाता है। यह सब मानव के उन्माद या पागलपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले तो मैंने अपने ही पुत्र पर क्रोध किया लेकिन अब जीवन के यथार्थ दर्शन पर पुनः पुत्र स्नेह उड़ेल रहा हूँ, यह मेरा पागलपन ही है।

- विशेष :**
- (1) प्रकृति का मनोरम चित्रण किया है।
 - (2) मानव हृदय के रहस्य को प्रस्तुत किया है।
 - (3) मानव हृदय की विचित्रता को रूपायित किया गया है।
 - (4) प्रसाद जी ने संसार की उद्विग्नता का भी प्रतिपादन किया है।
 - (5) भाषा में काव्यात्मकता का गुण विद्यमान है।
 - (6) गुण प्रसाद है।
 - (7) अभिधा एवं लक्षणा शब्दशक्ति का प्रयोग किया गया है।
 - (8) नाटक में स्वगत एवं लम्बे कथन उसके मंचन में बाधक हैं।
 - (9) इसमें वायु का मानवीकरण किया गया है।
 - (10) भाषा शुद्ध संस्कृतनिष्ठ परिमार्जित हिन्दी है।

(33)

“गोधुली के राग पटल पर स्नेहांचल फहराती है।

स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है।।

मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चंद्रकांति बरसाती है।

निर्निमेष ताराओं से वह ओस-बूँद भर लाती है।।

निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।

मानव का महत्व जगती पर फैला अरुण करुणा से।।

संदर्भ : प्रस्तुत गीतांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ‘अजातशत्रु’ के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य से अवतरित है। हिन्दी साहित्य जगत में स्वनाम-धन्य, वर्तमान हिन्दी साहित्य के युग पुरुष, कोमल भावनाओं के चितरे, छायावादी कलाकार, युग निर्माता, कवि शिरोमणि जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाट्य लेखन परम्परा में सर्वोपरि स्थान है। वे हिन्दी के कविन्द्र रवीन्द्र थे। उनका साहित्य अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान का संदेश है, जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसंग : जब गौतम बिम्बसार के दरबार में पदार्पण करते हैं तो बिम्बसार उनका इन शब्दों में स्वागत करते हैं कि ‘भगवन! आपने पधारकर मुझे अनुगृहीत किया।’ प्रत्युत्तर में गौतम उससे कहते हैं कि इस संसार में कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता, अपितु यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा ही कर सकती है। वे इसी ‘करुणा’ की विशेषताओं को रूपायित करते हुए कहते हैं-

व्याख्या : जब संध्या के समय में आकाश लाल रंग का हो जाता है तो उस समय करुणा ही अपने स्नेहमयी आँचल को फहरा रही होती है। जिस समय आकाश में उषा की कोमलकांति

लालिमा छाई रहती है, तो वह करुणा के ही हास-विलास का परिणाम है। छोटे-छोटे शिशुओं की मुस्कराहट के समय उनके मुख पर करुणा ही चन्द्र-छटा (चाँदनी) बरसाती है। यही कारण, पृथ्वी की ओर एकटक भाव से देखते रहने वाले तारागणों से ओस की बूंदें भर लाती है। सृष्टि के आरम्भिक काल में पशुओं का हिंसक-भाव करुणा ने जीत लिया था अर्थात् हिंसक प्रवृत्ति के लोगों में स्निग्धता का संचार करुणा ने ही किया था। विश्व के प्रत्येक मनुष्य में मानवता का संचार रागमयी करुणा के माध्यम से ही हुआ है।

- विशेष :**
- (1) इस गीत में प्रसाद का शान्तिवादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। वे चाहते हैं कि संसार के सभी प्राणी करुणा और दया से परिपूर्ण हो जाएँ।
 - (2) इसमें लोक-कल्याण की भावना प्रकट हुई है।
 - (3) नाटककार ने करुणा का प्रसार सम्पूर्ण सृष्टि में दिखाया है।
 - (4) प्रकृति का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।
 - (5) उपदेशात्मक शैली का प्रयोग हुआ है।
 - (6) शब्दशक्ति लक्षणा है।
 - (7) गुण प्रसाद है।
 - (8) 'हास-विलास' में पद-मैत्री है।
 - (9) 'निर्वेद' नामक स्थायी भाव के कारण शान्त रस का प्रयोग हुआ है।
 - (10) भाषा शुद्ध संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं परिष्कृत हिन्दी है।
 - (11) पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है।

(34)

चंचल चंद्र, सूर्य है चंचल, चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चंचल अनिल, अनल, जल, धूल, सब चंचल जैसे पारा हैं।
जगत प्रकृति से अपने चंचल, मन की चंचल लीला है।
प्रति-क्षण प्रकृति चंचला जैसी यह परिवर्तनशीला है।
अणु परमाणु, दुःख-सुख चंचल, क्षणिक सभी सुख-साधन हैं।
दृश्य सकल नश्वर-परिणामी - किसको दुख, किसको धन है?
क्षणिक सुखों को स्थायी कहना दुःख-मूल यह भूल महा।
चंचल मानव! क्यों भूला तू, इस सीढ़ी में सार कहाँ?

- संदर्भ :** विवेच्य गीतांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के छोटे दृश्य से अवतरित है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण

करते हुए अतीत के पटल पर वर्तमान का चित्र अंकित किया, आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं।

प्रसंग : गौतम मगध नरेश बिम्बसार का कुशलक्षेम पूछते हैं तो जीवक कहता है कि वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने के बाद भी वे शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर पा रहे हैं। जीवक का कथन सुनकर गौतम प्रस्तुत पंक्तियों में जगत के समस्त पदार्थों की क्षणभंगुरता और नश्वरता का संबंधी उपदेश देते हुए कहता है-

व्याख्या : गौतम संसार की अस्थिरता को उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हुए जीवक के समक्ष कहता है कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे एवं समस्त ग ह चंचल हैं। इसी प्रकार वायु, आग, जल, थल आदि सभी वस्तुएँ पारे के समान चंचल हैं। यह संसार भी अपनी चंचलता के कारण ही उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है और मनुष्य का मन भी चंचलता का ही प्रमाण है। इस प्रकृति में प्रत्येक पल अनेक परिवर्तन होते रहते हैं, ये सब चंचलता के कारण ही संभव हैं। इस पृथ्वी पर अणु और परमाणु तक भी स्थिर न होकर चंचल ही हैं और मानव के जीवन में आने वाले सुख-दुःख भी चंचल ही हैं। जगत् में सुख प्रदान करने वाले साधन भी क्षणभंगुर और चंचल हैं। इस जगत् में मानव को आकर्षित करने वाली सभी वस्तुएँ भी अस्थायी हैं। वस्तुतः मानव के जीवन में न तो दुःख ही स्थायी है और न ही धन (सुख)। मनुष्य की यह सबसे बड़ी भूल है कि वह क्षणभंगुर सुखों को स्थायी समझ बैठता है और यही उसके दुःख का कारण भी है। चंचल मानव इस बात को विस्मय कर बैठा कि जगत के सभी पदार्थ भूसे के समान हैं, जिसमें रस या आनन्द का वर्चस्व नहीं होता।

विशेष :

- (1) विवेच्य गद्यांश में जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को चंचल अर्थात् क्षणभंगुर बताया गया है।
- (2) बौद्ध-धर्म में दुःख को चरम सत्य माना गया है, यहाँ भी इसी तथ्य की संस्तुति हुई है।
- (3) मानव के दुःख का कारण उसके जीवन में आए सुखों को स्थायी मान बैठना है।
- (4) पृथ्वी में होने वाले परिवर्तनों की स्वीकारोक्ति हुई है।
- (5) शब्दशक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
- (6) भाषा में लयात्मकता का गुण विद्यमान है।
- (7) शैली उपदेशात्मक है।
- (8) शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।
- (9) गुण प्रसाद है।
- (10) 'दुःख-सुख' में पद मैत्री है।
- (11) भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं परिष्कृत हिन्दी है।

(35)

**बहुत छिपाया, उफन पड़ा अब, सँभालने का प्रयास नहीं है।
अखिल विश्व में सतेज फेला, अनल हुआ यह प्रणय नहीं है।**

कहीं तड़प कर गिरे न बिजली, कहीं न वर्षा हो कालिमा की।
 तुम्हें न पाकर शशंक मेरे बना शून्य यह, हृदय नहीं है।।
 तड़प रही है कहीं कोकिला, कहीं पपीहा पुकारता है।
 यही विरुद क्या तुम्हें सुहाता, कि नील नादर सदय नहीं है।।
 जली दीप-मालिका प्राण की हृदय-कुटी स्वच्छ हो गयी है।
 पलक-पांवड़े बिछा चुकी हूँ, न दूसरा और, भय नहीं है।।
 चपल निकल कर कहाँ चले अब, इसे कुचल दो म दुल चरण से।
 कि आह निकले दबे हृदय से, भला करो, यह विजय नहीं है?

- संदर्भ :** आलोच्य गीतांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के पंचम दृश्य से उद्धृत है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया, आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं।
- प्रसंग :** एक रात्रि श्यामा (मागंधी) अपने कामासक्त प्रेम का इजहार करने के लिए शैलेन्द्र से मिलने आती है। वह उसे अपने प्रेम का विश्वास दिलाते हुए कामोत्तेजित करने का प्रयास करती है। वह काम-भावना से उत्तेजित होकर शैलेन्द्र का हाथ पकड़ लेती है और प्रणय-निवेदन करते हुए कहती है-
- व्याख्या :** यद्यपि मैंने अपने हृदय के प्रेम-भाव को छिपाने का अत्यधिक प्रयत्न किया था लेकिन जब से मैं तुम्हारे समक्ष आई हूँ तब से यह छिपाने पर भी नहीं छिप रहा है और ऐसा लगता है जैसे अभी छलककर बाहर आ जाएगा। हे प्रियतम! तुम्हें इस संसार में चारों दिशाओं में जो तीव्र गति से जलती हुई अग्नि दिखाई दे रही है, वह और कुछ नहीं है मेरे प्रेम की ही अग्नि है। मुझे इस बात का भय है कि कहीं मेरे प्रेम की आंतरिक पीड़ा बिजली के रूप में न गिरने लगे और प्रकाश रूपी हृदय से निराशा रूपी अंकार की वर्षा होने लगे। हे मेरे चन्द्रमा तुल्य प्रियतम! मैं तुम्हें अभी तक पाने के सफल नहीं हुई हूँ लेकिन फिर भी मेरा हृदय इस ओर से निराश (शून्य) नहीं हुआ है। श्यामा कामोत्तेजना में सहायक प्रकृति का वर्णन करते हुए आगे कहती है कि हे प्रिय! कहीं पर कोयल का मधुर गान सुनाई दे रहा है, कहीं पर प्यासे पपीहे की ध्वनि सुनाई दे रही है। वस्तुतः ये वातावरण में कामोत्तेजना का संचार कर रहे हैं। हे प्रिय! तुम्हें यह अच्छा लगेगा कि आपको ऐसा नीला मेघ जिसमें दया-भाव नहीं होता अर्थात् जिस प्रकार नीले मेघ में पानी नहीं होता, वह पृथ्वी की प्यास नहीं बुझा सकता उसकी प्रकार तुम भी मेरे शरीर की प्यास बुझाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हो। मेरे हृदय में तुम्हारे प्रेम का दीप प्रज्वलित हो चुका है, जिसमें मेरी हृदय रूपी कुटिया पवित्र हो गई है। मैं अपनी हृदय रूपी कुटिया में तुम्हें बैठाने के लिए अपने पलक रूपी पांवड़े बिछा चुकी हूँ। मेरे हृदय रूपी कुटिया में प्रवेश करने के लिए आपके अतिरिक्त किसी और के लिए स्थान नहीं है। हे मेरे चंचल प्रियतम! तुम मेरे हृदय से निकलकर कहाँ जाना चाहते हो, अगर तुम

जाना ही चाहते हो तो मेरे हृदय-कमल को अपने सुकोमल चरणों से कुचललकर ही जाना जिससे मेरे हृदय से प्रेम की आह निकले, तभी मैं स्वयं को सफल स्वीकार करूँगी।

- विशेष :**
- (1) इसमें श्यामा के कामासक्त रूप के दर्शन होते हैं।
 - (2) काम-भावना नारी को किस हद तक गिरा देती है- यह नियति श्यामा के चरित्र से अभिव्यक्त हो रही है।
 - (3) जो नारी अपने पति की वफदार नहीं हो सकती वह परपुरुष की प्रेयसी कैसे हो सकती है।
 - (4) कामभावना की तुलना आग से करके नाटककार ने प्रस्तुत गीत में भी जैसे कातोत्तेजना का संचार कर दिया है।
 - (5) 'हृदय-कुटी', 'पलक-पाँवड़े' में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
 - (6) प्रेम को अग्नि की तरह बताकर अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।
 - (7) इसमें श्यामा के चरित्र के कामासक्त भाव उजागर हो रहे हैं।
 - (8) शब्द शक्ति अभिधा एवं लक्षणा है।
 - (9) संयोग श्रंगार का सुन्दर परिपाक हुआ है।
 - (10) माधुर्य गुण का प्रयोग हुआ है।
 - (11) भाषा संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध परिमार्जित हिन्दी है।

(36)

अधीर न हो चित्त विश्व-मोह-जाल में।

यह वेदना-विलोल-विचि-मय समुद्र है।।

है दुःख का भँवर चला कराल चाल में।

वह भी क्षणिक, इसे कहीं टिकाव है नहीं।।

सब लोट जायेंगे उसी अनंत काल में।

अधीर न हो चित्त विश्व-मोह-जाल में।।

संदर्भ : विवेच्य गीतांश जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के सप्तम दृश्य से उद्धृत है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने एक ओर तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्व दिया तो दूसरी ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया, आलोच्य नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

प्रसंग : कोशल नरेश प्रसेनजित अपने सेनापति की छल से की गई हत्या के अपराध में उसकी पत्नी मल्लिका के पैर पकड़कर क्षमा-याचना करता है। उदार हृदय मल्लिका उन्हें क्षमा करते हुए सांसारिक मोह-माया में लिप्त न होने का आशीर्वाद भी देती है।

- व्याख्या :** मल्लिका स्वयं को संबोधित करते हुए कहती है कि हे मेरे हृदय! तू यह संसार के मोह-माया के जाल में मत फँस अर्थात् तू सांसारिक आकर्षणों में संलिप्त मत हो। यह संसार-सागर तो एक ऐसे समुद्र के समान है जिसमें वेदना की चंचल लहरें उठती रहती हैं। मानव का जीवन अत्यंत लघु है, वस्तुतः उसके जीवन में आने वाले दुःख भी क्षणिक ही होते हैं क्योंकि मानव कुछ समय पश्चात काल के मूँह में चला जाता है। अतः मेरे अंतर्मन! तू इस सांसारिक मोह-माया के जाल में फँसने का प्रयास मत कर।
- विशेष :**
- (1) प्रस्तुत पंक्तियों में मल्लिका के मन पर बौद्ध-धर्म के सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्टः लक्षित हो रहा है।
 - (2) मल्लिका में एक भारतीय नारी के सभी गुणों की झलक मिल रही है।
 - (3) मल्लिका के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश पड़ रहा है।
 - (4) मानव का जीवन क्षणभंगुर है- नामक सत्य की व्याप्ति हुई है।
 - (5) इसमें मन पर संयम रखने की बात कही है क्योंकि मन ही मानव को सांसारिक आकर्षणों में भटका देता है।
 - (6) शब्द-शक्ति लक्षणा है।
 - (7) शान्त रस का प्रयोग हुआ है।
 - (8) गुण प्रसाद है।
 - (9) रूपक अलंकार का सुष्ठु प्रयोग किया गया है।
 - (10) भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित एवं परिष्कृत हिन्दी है। ऐसी भाषा नाटक की रंगमंचीयता में बाधक है।

लहरों के राजहंस

मोहन राकेश

खण्ड - क

आलोचना

1. मोहन राकेश : सामान्य परिचय
2. लहरों के राजहंस : वस्तु योजना
3. नामकरण की सार्थकता
4. प्रतीकात्मकता
5. काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता
6. प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन
7. उद्देश्य/प्रतिपाद्य
8. लहरों के राजहंस की आधुनिकता
9. अभिनेयता
10. रंगमंचीयता
11. भाषा-शैली
12. संवादीय संरचना
13. नंद का चरित्र-चित्रण
14. सुंदरी का चरित्र-चित्रण
15. श्यामाँग प्रसंग की अर्थकता

खंड - ख

व्याख्या

खंड क (आलोचना)

अध्याय - 1

मोहन राकेश : सामान्य परिचय

“कुछ लोगों की जिन्दगी में बिखराव होता है। मैं अपने को ऐसे ही लोगों में पाता हूँ। बिखरना और बिखेरना मेरे लिए जितना स्वाभाविक है, सम्भलना और समेटना उतना ही अस्वाभाविक।”
— मोहन राकेश

मोहन राकेश के इस आत्मकथन से लगता है कि उनका जीवन बेतरबीत रहा होगा लेकिन उनके साहित्य से ऐसा आभास नहीं मिलता। इसीलिए समीक्षक कहानी सार कमलेश्वर का कहना है :

“बड़ी बेतरबीत जिन्दगी है मेरे दोस्त की, पर सतह से नीचे उतरते ही एक जबरदस्त अनुशासन दिखाई पड़ता है, वह अनुशासन है दिमाग और स जन का ऊपरी जिन्दगी में वह जितना असंगठित और बिखरा हुआ दिखाई देता है, उतना ही संगठित और व्यवस्थित है-उसके लेखन की प्रक्रिया जितनी बेतरबीती से मसल-मसलकर वह सिगरेट के टुकड़े जगह-जगह फेंकता है, उतने ही करीने से वह अपने विचार और अनुभवों सजाता है।”

अतः राकेश जी के भीतर का कलाकार सदा सजीव एवं सजग रहता है, इसी कारण उनका साहित्य भी सजीव एवं सप्राण है। एक नाटककार ने रूप में उन्हें विशेष ख्याति मिली। आधुनिक नाट्य जगत में उन्हें नाटक का मसीहा कहा जाता है। राकेश जी ने यद्यपि कोई नाट्य दिशा-निर्देश नहीं दिए, फिर भी यह सत्य है कि काव्य तत्वों और साहित्यिक गुणों से सम्पन्न हिन्दी नाटक को सरलतम रंगमंच तक लाने का श्रेय मोहन राकेश को ही दिया जाएगा। आज जो रंगमंच उपलब्ध है उस दृष्टि से मोहन राकेश का व्यक्तित्व निश्चय ही प्रसाद जी से बहुत आगे है, क्योंकि इनके नाटकों में कोरा बौद्धिक-विलास, कामजन्य कुष्ठाएँ और समस्याओं का चित्रण नहीं है, बल्कि एक सफल रंगमंच नाटक में जो अपेक्षित सामग्री है, वह इनमें है।

मोहन राकेश का जन्म अम तसर की ज़डी वाली गली में 8 जनवरी, 1925 ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम कर्मचन्द गुगलानी था, जो व्यवसाय से वकील थे- अम तसर के प्रतिष्ठित नागरिक, जागरूक कर्मकर्ता, साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के पदाधिकारी। साहित्य और संगीत में भी उनकी दिलचस्पी थी। इनकी माँ जी धार्मिक संस्कारों वाली थी। अतः मोहन राकेश ने सांस्कृतिक संस्कार माता-पिता से प्राप्त किए। मोहन राकेश ने ‘चीटियों की पंक्तियाँ जमीन से कागजों तक’ नामक निबंध में इसे स्वीकार किया है-“मैं किताबों से खेलता हूँ। पिताजी बैठक में बेशुमार किताबें हैं, अलमारियों में भरी हैं। मैं उनके साथ आँख-मिचौनी खेलता हूँ, उन्हें आड़ी-तिरछी रखकर किले बनाता हूँ।” ऐसा लगता है कि घर के परिवेश ने एक ओर उन्हें सांस्कृतिक-साहित्यिक संस्कार दिए, दूसरी ओर उन्हें किसी सीमा तक अनमर्खता भी दी, जो प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में गहरी संवेदनशीलता के साथ उपस्थित है।

राकेश जी की प्रारम्भिक शिक्षा अम तसर में सम्पन्न हुई। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे लाहौर

चले गए। वहाँ ओरिएण्टल कॉलेज से उन्होंने संस्कृत में एम० ए० किया। परन्तु ज्ञान पियासा अभी तक शान्त नहीं हो पाई थी, इसलिए उन्होंने निरन्तर अध्ययन जारी रखा और आर्थिक संकेतों को झेलते हुए भी हिन्दी से प्रथम श्रेणी में एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर बम्बई के कॉलेज में प्राध्यापक हो गए। यहाँ से त्यागपत्र देकर डी० ए० वी० कॉलेज जालंधर में प्राध्यापक पद पर आसीन हुए, पर उन्हें स्थाई नहीं किया गया, क्योंकि वे शिक्षक संघ की गतिविधियों में भाग लेते थे।

मोहन राकेश बार-बार नौकरियाँ छोड़ते हैं, पर यह कोई स्वयं का वरण नहीं है। इसके कई कारण हो सकते हैं, जिनमें प्रमुख हैं- उनका स्वाभिमान, जो पूरी तरह समर्पित नहीं हो पाता अथवा सम्पूर्ण समझौते के लिए तैयार नहीं होता। राकेश स्वतन्त्रता चाहते हैं, अपने जीवन एवं लेखन दोनों में ही। आर्थिक स्थितियाँ उन्हें नौकरी के लिए विवश करती हैं, पर वे जल्दी ही वहाँ से उब जाते हैं। सन् 60 में बहुत थोड़े दिनों के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय में पदभार संभाला। 1962 में उन्होंने 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' समूह से प्रकाशित 'सरिता' के सम्पादन का कार्य किया और सन् 63 के आरम्भ में उसे छोड़कर दिल्ली चले आए। इसके बाद जीवन पर्यन्त स्वतन्त्र लेखन में ही रत रहे। वे स्वेच्छंद प्रकृति के कारण किसी एक व्यवसाय या नौकरी में न रह सके। इसी विषय में डॉ० गोविन्द चालक का रहना है। "बंधे वे कभी न रहे, न व्यक्तियों से, न जगहों से, न नौकरियों से, कपड़े बदलने की तरह उन्होंने बीबियाँ बदली। मोहन राकेश ने अपनी आत्मकथा में अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ रोचक बातें लिखी हैं। सर्वप्रथम तो यह कि उन्हें स्त्रियों से डर लगता था और दूसरा यह कि उन्हें घर के बाहर किसी पर विश्वास न करने की शिक्षा दी गयी थी। उन्हीं के शब्दों में - "जीवन में जो पहली शिक्षा मुझे प्राप्त हुई, वह यही थी कि घर के बाहर (और इस अर्थ में ताई का कमरा भी घर के बाहर ही था) कोई भी व्यक्ति स्नेह और विश्वास का पात्र नहीं, और घरों के बच्चों में बुरी आदतें होती हैं, भिखमंगे बच्चों की थैलियों में बन्द करके ले जाते हैं, कोई यदि चीज दें तो नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि उसमें कुछ मिला रहता है, जो बीमार बना देता है। अतः सुरक्षा इसी में थी कि अपने कोने में यथासंभव निश्चेष्ट रहा जाए। आमोद खतरे का विषय था। साहस खतरे का विषय था। जीवन का कोई भी प्रयत्न खतरे का विषय था। डिबिया में बंद कीड़े का तरह जीना ही जीने का एक रास्ता था"

लेखक के रूप में मोहन राकेश की प्रतिभा का प्रथम स्फुटन कहानी के रूप में ही संभव हो सका। कहानीकारों के रूप में मोहन राकेश एक ओर प्रेमचन्द ओर पुराने कहानीकारों के छोर पर का सस्पर्श करते हैं तो दूसरी ओर उन्हें नई कहानी के प्रस्तोता का महत्व भी प्राप्त है। कहानी के बाद वे उपन्यास रचना के क्षेत्र में आए। उसके बाद ही उन्होंने नाटक, एकांकी नाटक और निबन्ध रचना जैसे अन्य विधात्मक साहित्यिक रूपों को अपनाकर एक कुशल कलाकार की चहुँमुखी प्रतिभा का परिचय दिया, यों तो उनकी लेखन (कहानी लेखन) प्रतिभा का प्रस्फुटन उनके विद्यार्थी काल में ही हो चुका था, किन्तु प्रकाश में वे प्राध्यापक बनने और इसे छोड़ने आदि के बाद ही आ सके। जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, कहानी के अतिरिक्त राकेश के उपन्यास, नाटक, एकांकी निबंध आदि रचे हैं, जबकि उनकी प्रतिभा का मान नाटककार के रूप में ही प्रतिष्ठित हो सका।

राकेश के साहित्य पर यहाँ हम संक्षेप में विचार करेंगे।

(क) कहानी-साहित्य

मोहन राकेश 'नई कहानी' के दौर में आए। उन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कहानी लिखना

प्रारम्भ कर दिया था। कमलेश्वर का मानना है कि राकेश जी की सर्वप्रथम लिखित कहानी 'नन्ही' और पहली प्रकाशित कहानी 'भिक्षु' है। इन दोनों कहानियों में राकेश जी की ज्वलन्त साहित्यिक माया के अग्नि बीज मौजूद हैं। वास्तव में उनका कहानीकार के रूप में व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रखर एवं मौलिक है। उन्होंने निम्नलिखित कहानी-संग्रह हिन्दी कथा-साहित्य को प्रदान किए हैं-

कहानी-संग्रह	प्रकाशन वर्ष
1. इन्सान के खण्डहर	1950 ई०
2. नए बादल	1957 ई०
3. जानवर और जानवर	1958 ई०
4. एक और जिन्दगी	1961 ई०
5. फौलाद का आकाश	1966 ई०
6. आज के साएं	1967 ई०
7. मेरी प्रिय कहानियाँ	1971 ई०
8. चेहरे तथा अन्य कहानियाँ	1972 ई०
9. क्वार्टर और अन्य कहानियाँ	1972 ई०
10. वारिस तथा अन्य कहानियाँ	1972 ई०
11. पहचान तथा अन्य कहानियाँ	1972 ई०

राकेश जी के प्रथम कहानी-संग्रह 'इन्सान के खण्डहर' में लेखक का ध्यान अभिजात वर्ग और मध्यम वर्ग की घुटी हुई चेतना पर गया है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में जहाँ शोषित और श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति है तो वहीं धनिष्ठ वर्ग के प्रति आक्रोश का उगलता हुआ लावा है। अन्य कहानी-संग्रहों में भी लेखक की इसी भावना का विकास होता गया। उपर्युक्त कहानी-संग्रहों में संकलित 'मिस पाल' 'मलबे का मालिक' 'भूखे' 'क्लेम' 'जानवर और जानवर' 'परमात्मा का कुत्ता' 'सुहागिन' 'एक और जिन्दगी' 'मवाली' 'फौलाद का आकाश' 'आद्रा' आदि कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा का विषय रहीं हैं।

(ख) उपन्यास साहित्य

मोहन राकेश कहानीकार की भाँति ही उपन्यासकार के रूप में भी सजग और यथार्थवादी रहे हैं। सर्वप्रथम उन्होंने 'स्याह और सफेद' नामक उपन्यास था, किन्तु उसे प्रकाशित नहीं करवाया। उन्होंने निम्न उपन्यास हिन्दी जगत को दिए हैं—

1. अंधेरे बंद कमरे	1961 ई०
2. न आने वाला कल	1962 ई०
3. अन्तराल	1972 ई०
4. कांपता हुआ दरिया	
5. स्याह और सफेद	
6. नई एक अकेले	

'अंधेरे बंद कमरे' राकेश का प्रसिद्ध एवं प्रथम उपन्यास है इस कई दृष्टियों से उनकी प्रतिनिधि रचना भी कहा जाता है। समीक्षाओं का विचार है कि प्रस्तुत उपन्यास में उनका व्यक्तित्व अपनी अधिकांश इकाई के साथ आया है। 'न आने वाला कल' में राकेश जी ने निजी अनुभवों का काफी उपयोग किया है। 'अन्तराल' उपन्यास की कहानी भी मानवीय संबंधों की कहानी है।

(ग) निबंध साहित्य

राकेश जी ने निबंध क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रमाण दिया है। अपने निबंधों में उन्होंने अनवरत गतिशील एवं परिवर्तनशील जीवन और उसके भाव-बोध को बड़ी ही पैनी दृष्टि से पकड़ने का सफल प्रयास किया है। अपनी सर्जनाओं की भूमिका के रूप में उन्होंने कुछ आलोचनात्मक निबंध तो रचे ही हैं, इसके अतिरिक्त भी उनका निबंध साहित्य उपलब्ध है। राकेश जी के निबंध साहित्य में निम्न रचनाएं विशेष उल्लेखीय हैं—

1. परिवेश
2. रंगमंच और शब्द
3. साहित्यकार की समस्याएं
4. कुछ और अस्वीकार
5. नई निगाहों के सवाल : हाशिए पर अप्रकाशित

(घ) यात्रा-विवरण, संस्मरण, डायरी और अनुवाद

अपने शैशव काल से राकेश रंगीन मिजाज के रहे हैं, वे घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के थे। उन्होंने अनेक यात्राएं भी की थीं। यात्राओं में उन्होंने प्रकृति एवं जीवन का जिस प्रकार का अनुभव किया, उन सबका वर्णन उनके यात्रा-विवरणों, संस्मरणों, डायरी और आत्मकथा के रूप में उपलब्ध है।

- | | |
|--------------|--------------------|
| यात्रा-वृत्त | 1. अखिरी चट्टान तक |
| | 2. पतझड़ का रंगमंच |
| | 3. ऊँची झील |
| डायरी | 1. व्यक्तिगत |
| | 2. आत्मकथा |
| अनुवाद | 1. शाकुन्तल |
| | 2. एक औरत का चेहरा |

(ङ) नाटक और एकांकी-साहित्य :

राकेश जी आधुनिक नाटक के मसीहा हैं। उन्हें देश-विदेश में सर्वाधिक प्रतिष्ठा नाटककार के रूप में ही प्राप्त हो सकी है। उनके व्यक्तित्व का सारा द्वन्द्व और उनका जागरूक चेतन नाटकों में ही सर्वाधिक प्रखरता के साथ रूपांचित हो सका।

राकेश के अधिकांशतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचे गए हैं। उपर उनका अन्तराल, उनका भाव बोध जितना ऐतिहासिक है, उससे भी कहीं अधिक आधुनिक है। 'आधे-अधूरे' तो समग्रतः आधुनिक भाव-बोध से संयत नाटक ही है, यद्यपि उसकी मूल चेतना और समस्या को हम चिरन्तन भी कह सकते हैं। ऐतिहासिकता के संदर्भ में राकेश का अपना विचार एवं कथन विशेष उल्लेखनीय है। उनका कहना है

“इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्ति का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है। साहित्य इतिहास के समय में

बाधा नहीं, समय में इतिहासकार विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों से एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज' और 'कल' नहीं रह जाते समय की असीमितता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं।"

वास्तव में ये सारी बातें राकेश के अपने नाटकों में पूर्णतया चरितार्थ होती हैं। राकेश जी ने केवल तीन ही नाटक लिखे हैं।

1. आषाढ़ का एक दिन
2. लहरों के राजहंस
3. आधे-अधूरे
4. अण्डे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक।

हमारी प्रस्तुत रचना एवं आलोचना का मुख्य विषय राकेश के 'लहरों के राजहंस' नाटक का समग्र मूल्यांकन करना ही है, पर लेखके समग्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सम्पूर्ण झांकी पाने की दृष्टि से यहाँ अन्य नाटकों का संक्षिप्त आकलन भी दिया जा रहा है—

1. आषाढ़ का एक दिन :

राकेश जी का यह पहला और प्रसिद्ध, चर्चित नाटक है, चर्चा का मुख्य विषय इसमें प्रयुक्त कालिदास का चरित्र-चित्रण है। कालिदास जैसे चरित्र पर लिखना स्वयं में एक कठिन कार्य है। यहाँ नाटककार का उद्देश्य कालिदास के माध्यम से एक ऐसे सर्जक का चित्र प्रस्तुत करता है जिसके अपने द्वन्द्व होते हैं। महाकवि की कथा कहना नाटक का उद्देश्य नहीं है। एक कवि को प्रतीक रूप में व्याख्याचित करना राकेश का प्रमुख आशय प्रतीत होता है, इसीलिए ऐतिहासिक पात्रों के साथ यहाँ कल्पित पात्र भी हैं, जो पुराने पात्र हैं, जैसे-स्वयं कालिदास, उन्हें भी आज की पृष्ठभूमि में रखकर देखा गया है। मल्लिका के कथन से नाटक का आरम्भ होता है— "आषाढ़ का एक दिन और ऐसी वर्षा माँ-ऐसी धारासार वर्षा - दूर-दूर तक की उपत्यकाएं भीग गयी और मैं भी तो, देखो न माँ कैसी भीग गयी हूँ।" 'आषाढ़ का एक दिन' आधुनिक संदर्भ को व्यक्त करता है। कालिदास की प्रिया मल्लिका कालिदास के चले जाने पर यातना में डूब जाती है। नाटकांत में करुण यथार्थ प्रस्तुत किया गया है।

2. 'लहरों के राजहंस'

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा नाटक है। यहाँ नाटककार ने नंद और सुन्दरी, और गौतम बुद्ध नामक ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों के बीच युगों-युगों से मानव की दृष्टग्रस्त चेतना को उजागर किया है। दूसरे शब्दों में 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास ही यहाँ नंद बनकर आया है। विरक्ति एवं पलायन का भाव-रूप यहाँ भी 'आषाढ़ का एक दिन' के समान विद्यमान है। 'लहरों के राजहंस' का अत्यन्त संक्षेप में कथानक केवल इतना ही है कि तथागत (गौतम बुद्ध) अपने भाई नंद के द्वार से बिना भिक्षा पाए ही लौट जाने से बाध्य हुए, क्योंकि उनकी पुकार से वहाँ कोई सुन न पाया। पता चलने पर क्षमा याचना के विचार से नन्द तथागत के पास गया। उसकी सुन्दर पत्नी सुन्दरी उसकी अनवरत प्रतीक्षा करती रही। नन्द कुछ देर के लिए लौट कर आया, पर वह नंद नहीं जो कि गया था, बल्कि एक दूसरा प्रव्रज्याग हीन नंद घर आया और चला भी गया। सुन्दरी के लिए सारा सुखद अतीत एक सपना या कपोल-कल्पित तथ्य मात्र

बनकर रह गया। स्पष्ट है कि एक क्षण की चूक ने तथागत नंद के द्वार से भिक्षा पाए बिना ही लौट लौट गए-विलासी नंद और उसकी गर्विणी पत्नी सुन्दरी के समस्त जीवन की धारा ही बदल डाली। इस एक क्षण को ही नाटककार मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' नाटक के बड़े ही सजीले, नाटकीय एवं जैसे भोगे हुए क्षण के रूप में चित्रित करके उभारा है।

'लहरों के राजहंस' नाटक मे अन्तर्द्वन्द्व चिरन्तन मानवीय द्वन्द्व के रूप में चित्रित हुआ है। नाटककार यह मानकर चला है कि द्वन्द्व का एक क्षण ही जीवन की समूची आस्थाओं में आमूल-चूल परिवर्तन ला देने के लिए पर्याप्त हुआ करता है। बाकी सारी स्थितियाँ तो मात्र गुजरने के लिए हुआ करती हैं। इन्हीं सब कारणों से हमने 'लहरों के राजहंस' नाटक को राकेश के पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की अगली कड़ी माना है दोनों के मूल संबंध में वास्तव में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं। फिर दोनों के पात्र परिवेश, कथा एवं कथानक समान रूप से ऐतिहासिक भित्तियों पर ही अंकित किए गए हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में यदि कालिदास के साथ विलोम भी है, तो लहरों के राजहंस में नंद के साथ श्यामोंग भी है। विलोम और श्यामोंग दोनों उलझे और उखड़े हुए व्यक्तित्व होते हुए भी वास्तव में सुलझाव और अन्तः संयोजना करते हैं। दोनों ही वास्तव में विरोधों-अवरोधों के सुन्दर, सजग एवं सजीव प्रतीक हैं। उतने ऐतिहासिक सत्य नहीं, जितने प्रतीक। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' के समग्र रूप को हम एक ऐतिहासिक मिथक ही नहीं, बल्कि युग-युगों की द्वन्द्वग्रस्त चेतना के संदर्भों में एक समग्रप्रतीक एक समूचा बिम्ब कह सकते हैं। यही इस दूसरे नाटक की वास्तविक सफलता एवं सार्थकता है।

3. आधे-अधूरे :

राकेश का यह तीसरा और अंतिम नाटक है। इस नाटक का कथ्य अपने आप में चिरन्तन प्रश्नों एवं सत्यों को संजोए रखते हुए भी पूर्ववर्ती दोनों नाटकों से सर्वथा भिन्न है। इसे आधार-भक्ति वर्तमान में भोगे जा रहे जीवन को बनाया गया है, न कि अतीत अथवा इतिहास को। आप का जीवन जिन अनेक प्रकाश की विसंगतियों के फलस्वरूप अधूरेपन की अनुभूतियों से भर चुका है। विशेषतः अर्थ और काम से लेकर, उन्हीं से यहाँ जीवन्त पात्रों के माध्यम से रूपाकार प्रदान करने की सफल चेष्टा की गई है। यहाँ एक ऐसे परिवार का वर्णन किया गया है जो अपने आप में आश्वस्त नहीं है। उसके सामने जीवन का कोई प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट लक्ष्य नहीं है। अतः सम्पूर्ण परिवार ही एक प्रकार की हीन-ग्रंथियों से ग्रसित होकर एक विचित्र-सा अधूरा और अपरिपक्व-सा व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। अतः रूपाकार की दृष्टि से यह पुर्णतः यथार्थवादी है।

4. अण्डे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक :

राकेश के मरणोपरान्त इसका प्रकाशन हुआ है। इसमें संकलित 'शायद' और 'हाँ' दो एकांकी नाटकों को स्वयं नाटककार ने बीज नाटक नाम से अभिहित किया है। इसी में संकलित 'छतरिया' नामक रचना से पार्श्व-नाटक के नाम से अभिहित किया गया है। इसमें चार एकांकी थी संकलित है— 'अण्डे के छिलके', 'सिपाही की माँ', 'प्यालियाँ टुटती हैं', 'बहुत बड़ा सवाल' आदि।

अतः राकेश जी ने व्यवहार-जगत के समान साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किए। इसे एक विचित्र संयोग ही कहा जाएगा कि उनके प्रयोग व्यवहार-जगत में उतने सफल न हो सके जितने कि साहित्य जगत में। अतः वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

अध्याय - 2

लहरों के राजहंस : वस्तु-योजना

‘लहरों के राजहंस’ की कथावस्तु इतिहास और कल्पना के समन्वय का परिणाम है। इस नाटक में राकेश जी ने ऐतिहासिक परिवेश में आधुनिक मानवीय अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने का प्रयास किया है, लेखक ने गौतम बुद्ध के जीवन-काल के एक ऐसे प्रसंग का चयन किया है जिसमें नंद नामक पात्र के अन्तर्द्वन्द्व को पष्ठबद्ध किया गया है। नाटक का ऐतिहासिक आधार संस्कृत के महाकवि अश्वघोष विरचित प्रसिद्ध महाकाव्य ‘सौंदरनंद’ है। प्रस्तुत नाटक की वस्तु-योजना का उद्देश्य और महत्व स्पष्ट करते हुए नाटक की की भूमिका में डॉ० सुरेश अवस्थी लिखते हैं- “लहरों के राजहंस” में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों का अन्तर्विरोध है। जीवन के प्रेम और श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र बिन्दु है। धर्म भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नए-भाव बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है”। ‘लहरों के राजहंस’ नाटक आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-रचना पद्धति पर लिखा गया है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है। इसकी सम्पूर्ण कथा एक ही दृश्यबंध (Set) पर घटित होती है। अंको का दृश्यों में विभाजन नहीं किया गया है। प्रस्तुत नाटक में भारी-भरकम यथार्थवादी दृश्यबंध को बदलने के झंझट से बचने के लिए ही एक दृश्यबंध को स्वीकार किया गया है। नाटककार ने अपने इस नाटक की सम्पूर्ण घटनाएं एक ही स्थान पर दिखाकर स्थान अन्विति का पूरी तरह पालन किया है।

प्रथम अंक

नाटककार मोहन राकेश ने इस नाटक के प्रारम्भ में ही नाटक के नायक नन्द के राजमहल के आन्तरिक दृश्य का चित्र प्रस्तुत किया है। पर्दा उठते ही मंच पर दो व्यक्ति दिखाई देते हैं—श्यामांग और श्वेतांग। ये दोनों ही राजमहल में कार्य करने वाले कर्मचारी हैं, श्यामांग पतियों को तोड़ने-सुलझाने में व्यस्त है जबकि श्वेतांग अग्निकाष्ठ से दीपक जला रहा है। श्यामांग सदैव ही अपने कार्य में उलझ जाता है, आज भी वह पतियों को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है, लेकिन वे और ज्यादा उलझती जाती है, ये देखकर श्वेतांग श्यामांग से कहता है कि तुम्हारे हाथों से कार्य इसलिए उलझता है, क्योंकि तुम सोचते ज्यादा हो। राजकर्मचारी को अपना कार्य समय पर करना चाहिए और इस चिन्तन मनन को त्याग देना चाहिए। श्वेतांग दीपक जलाने के कार्य को श्यामांग को सौंप देता है और उसके कार्य को स्वयं करने लग जाता है, लेकिन श्यामांग फिर सोच में पड़ जाता है। ये दोनों कर्मचारी राजमहल में होने वाले कामोत्सव की तैयारी कर रहे हैं।

रानी सुन्दरी का नेपथ्य से स्वर सुनाई देता है। वह अपनी दासी अलका के साथ बात करती हुई आ रही है। सुन्दरी कामोत्सव के विषय में अलका से कहती है कि भोज, उपानक और न त्य रात के अन्तिम पहर तक चलता रहेगा, जिससे वर्षों बाद भी लोगों के मन में इस कामोत्सव की याद बनी रहे। अलका के अशंका व्यक्त करने पर भी कामोत्सव की सफलता के लिए उत्सुक सुन्दरी कहती है, “रात बीतने दे, फिर अपने मन से पुछना। रात भर नगरवधू चंद्रिका के चरणों की गति से इस कक्ष की हवा काँपती रहेगी। हवा काँपती रहेगी, और दुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गौराई से। कपिल वस्तु के राजपुरुष रात भर उस मदिरा में और अन्याय मणि-मदिराओं में डूबते उतराते रहेंगे” अगर तू उस दृश्य को देखेगी तो तुझे भी विश्वास नहीं होगा। जो व्यक्ति इस कामोत्सव को देखने से वंचित रह जाएंगे, वे तो कल्पना के माध्यम से भी इसका आनंद नहीं ले सकेंगे। सुन्दरी अलका से कहती है कि वह जाकर शशांर नामक व्यक्ति को स्मरण करा दे कि उसे इस महोत्सव पर कुछ विशेष मदियाएं प्रस्तुत करनी हैं। सुन्दरी पत्तियाँ सुलझाने का कार्य श्यामाँग के लिए छोड़कर श्वेताँग को अपने साथ आने के लिए कहती है। श्यामाँग स्वयं से ही बातें करता हुआ कहता है — पिछले बसंत में जब आम खुब बौराये थे तब तो कामोत्सव के आरोपन की बात मन में भी नहीं उठी, अब जबकि आम के वक्षों ने भिक्षुओं का-सा वेश धारण कर रखा है। तो रानी कामोत्सव का आयोजन करना चाहती है। वह कहता है कि सुन्दरी यह जानती है कि कल प्रातः गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा परिव्रज्या ग्रहण करने वाली है। वह यह भी जानती है कि बुद्ध के प्रभाव के कारण लोगों का ध्यान उस ओर अधिक है, क्योंकि बोध-प्राप्ति के बाद गौतम बुद्ध उन दिनों पहली बार अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में अपने धर्मोपदेश के लिए आए हुए थे और उनसे प्रभावित होकर अनेक लोग बुद्धमत में दीक्षित हो रहे थे, फिर भी रूप गर्वित सुन्दरी कामोत्सव में रात भर न त्य और मद्य-पान चलवाना चाहती हैं। श्यामाँग फिर से पत्तियाँ सुलझाने लग जाता है, किन्तु उनका सिरा न मिलने से धिन्न होकर उन्हें तोड़ने लग जाता है। तभी सुन्दरी की दृष्टि श्यामाँग पर पड़ जाती है और उसे डांटते हुए कहती है कि खड़े-खड़े सोचने से काम होता है? इस कार्य को किसी दूसरे को सौंपकर एकांत में बैठकर सोचते रहो कि जब करने को कोई कार्य न हो तो हाथों को क्या करना चाहिए।

अलका सुन्दरी को अपने स्वप्न (सूखा सरोवर, पत्रहीन वक्ष और धूल-भरा आकाश) के विषय में बताती है। अलका का यह स्वप्न संभवतः आगे घटित होने वाली कथा का संकेत है। सुन्दरी यशोधरा के दीक्षा ग्रहण करने को व्यर्थ मानती है और उसका उपहास उड़ाते हुए कहती है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने वर्ष दुःख सहने के बाद भी देवी यशोधरा अपनी पीड़ा का मान न रख सकी। यशोधरा में सौन्दर्य का आकर्षण ही नहीं है, अगर होता तो राजकुमार सिद्धार्थ दोक्षा ग्रहण न करते। नारी का आकर्षण पुरुष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है। वह गौतम बुद्ध पर आक्षेप लगाती हुई कहती है कि जनसामान्य से यही सुना है कि गौतम बुद्ध ने कामनाओं पर विजय प्राप्त की है, लेकिन इन्हीं कामनाओं पर विजय पाना भी तो मन की एक कामना ही है। अतः उनका निवृत्ति मार्ग को अपनाना अनुचित ही है। यह सुनकर अलका सुन्दरी से पूछती है कि अगर गौतम बुद्ध का निवृत्ति मार्ग को अपनाना अनुचित था तो नगर के सभी बच्चे बूढ़े बुद्ध के प्रति इतना उत्साह और निष्ठा क्यों रखते हैं? प्रत्युत्तर में सुन्दरी कहने लगी कि मनुष्य एक तरह का जीवन जीते-जीते ऊब जाता है। अतः उसे जहाँ भी नवीनता दिखाई देगी वह उसी ओर अग्रसर होगा। इसी बीच कमलताल में किसी के द्वारा पत्थर फेंकने के कारण हंसा की चीत्कार पूर्ण ध्वनि सुनाई पड़ती है। सुन्दरी उत्तेजित हो जाती है। फिर सुन्दरी इस दृष्टता के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को पकड़कर लाने का आदेश देती है।

कुछ समय पश्चात् अलका श्यामोंग को पकड़ लाती है। सुन्दरी उससे आवेशपूर्वक पूछती है कि तुमने कमलताल में राजहंसों पर पत्थर क्यों फेंके। श्यामोंग उत्तर में कहता है कि वह हंसों पर पत्थर नहीं फेंक रहा था, बल्कि उसने तो एक डरावनी छाया पर पत्थर फेंके थे। सुन्दरी को श्यामोंग की इन बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास नहीं होता। अलका श्यामोंग के प्रति आत्मीयता व्यक्त करते हुए उससे सच कहने को कहती है; लेकिन श्यामोंग पुनः उसी बात को दोहराता रहता है। इससे सुन्दरी क्रोधवश कहने लगी, “मुझे विश्वास है सचमुच तुमने छाया देखी है। जब तुम यहाँ काम कर रहे थे, तब भी वही छाया तुम्हारे सिर पर मंडरा रही थी। वहीं तुम्हें काम नहीं करने देती थी। आप कामोत्सव के आयोजन में वह छाया किसी को भी न घेरती, तो मुझ आश्चर्य होता” अतः छाया को दूर हटाने का मात्र एक ही उपाय है कि तुम्हें दक्षिण के अंधकूप में डाल दिया जाए। अलका श्यामोंग से अगाध प्रेम करती है इसलिए श्यामोंग को अंधकूप में डालने की बात सुनकर दुःखी हो जाती है, उसके मुख मण्डल पर विषाद की गहन रेखाएं छा जाती हैं। वह सुन्दरी से कहती है कि वह कई दिनों से श्यामोंग को इसी प्रकार विक्षिप्त-सी अवस्था में देख रही है, अतः उसे दण्ड की अपेक्षा सहानुभूति की आवश्यकता है। अलका के इस कथन से सुन्दरी समझ जाती है कि इन दोनों में प्रेम सम्बन्ध है। वस्तुतः वह श्यामोंग को मुक्त कराकर उसके उपचार का कार्य व उसकी देख-रेख अलका को ही सौंप देती है।

नन्द भी शिकार खेलने के पश्चात् वापिस आता है। विलम्ब से आने के कारण वह सुन्दरी से क्षमा भी मांगता है। वह बताता है कि दिन-भर एक म ग का पीछा किया, लेकिन फिर भी वह हाथ नहीं लगा। लेकिन जब वापिस लौट रहा था तो मार्ग में उसी म ग को म त अवस्था में पाया। वह बाण से नहीं, बल्कि थकान से मरा था। “बिना घाव के अपनी ही कलांति से मरे हुए म ग को देखकर मन में.... इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि...।” नन्द सुन्दरी को बताता है कि कामोत्सव में आमन्त्रित किए गए व्यक्तियों में से कुछ लोग नहीं आएंगे। वह नन्द से कहती है कि आपका स्वयं लोगों के घर बुलाने जाना अपमान का विषय है। तभी मंत्रेय नामक एक व्यक्ति ‘पहले अतिथि’ के रूप में कक्ष में प्रवेश करता है, वह प्रथम तथा अन्तिम अतिथि है, इस बात को जानकर सुन्दरी उदास हो जाती है। मंत्रेय उन्हें सुझाव देता है कि कामोत्सव को किसी और दिन के लिए स्थागित कर देना चाहिए, लेकिन सुन्दरी स्थगित नहीं करना चाहती, वह अडिग रहती है। वह अतिथियों के न आने का सारा दोष देवी यशोधरा के माथे मढ़ती है। मंत्रेय भी जाने की आज्ञा मांगता है और कहता है कि मैं यहाँ पर और ज्यादा समय रुककर सुन्दरी के उद्देग का कारण नहीं बनना चाहता। सुन्दरी आपे से बाहर होकर मंत्रेय से कहती है कि आते हुए आप जिनके घर से होते हुए आए थे, उनसे कह देना कि मेरे यहाँ आने के लिए वे किसी कल की प्रतिक्षा में न रहें, क्योंकि वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा नन्द शशांक से कहता है कि कामोत्सव में अतिथियों के बैठने की जो व्यवस्था की गई थी, अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं।

द्वितीय अंक

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में नेपथ्य से श्यामोंग का ज्वर-प्रलाप सुना देता है-“कोई स्वर नहीं है.. कोई किरण नहीं है..... सब कुछ..... सब कुछ इस अंधकूप में डूब गया।..... मुझे सुलझा लेने दो...सुलझा लेने दो...नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा।..... कोई उपाय नहीं है.. कोई मार्ग नहीं है..... इन लहरों पर से...यह छाया हटा दो..... मुझसे..... मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती.....।” श्यामोंग का यह अर्थपूर्ण प्रलाप है। यह प्रलाप उसका अपना प्रलाप ही नहीं है, बल्कि नन्द के हृदय का द्वन्द्व भी है। श्यामोंग को दिखने वाली वह छाया बुद्ध की ही छाया है जो

इतनी लम्बी एवं सघन है कि अज्ञात रूप से वह नन्द, सुन्दरी के और सभी के मन-मस्तिष्क पर छा रही है। यही कारण है कि नन्द को निद्रा का संयोग नहीं हो रहा है। नेपथ्य से ज्वरग्रस्त श्यामाँग का प्रलाप सुनाई दे रहा है। अलका उसे कभी पानी पिलाती है तो कभी सोने का आग्रह करती है निद्रा भंग हो जाने के पश्चात् सुन्दरी नंद से रात-भर न सो पाने का करण पूछती है। वह रात्रि के अपने व्यवहार के लिए क्षमा-याचना भी करती है और कहती है कि—“आप कभी सचमुच मुझसे रूष्ट हो जाएं, दो-एक रातें मेरे कक्ष में न आएँ, तो कैसा लगेगा।” यहाँ लेखक ने भावी घटना का पूर्वाभास करा दिया है। उसी समय नेपथ्य में प्रभाप की शंख ध्वनि सुनाई देती है। सुन्दरी उठकर दर्पण के समक्ष खड़ी हो जाती है और फिर नंद से कुछ पल के लिए बाहर जाने के लिए कहती है ताकि वह अलका की सहायता से अपना श्रंगार कर सके। सुन्दरी नीहारिका नामक दासी से अलका के विषय में पूछती है। नीहारिका बताती है कि वह श्यामाँग हेतु दवाई लाने के लिए वैद्यराज के पास गई है, आप कहें तो मैं उसे बुला लाऊँ। सुन्दरी कहती है कि नहीं, अलका को श्यामाँग का उपचार करने दे, मैं अपना प्रसाधन स्वयं कर लूँगी। सुन्दरी अपने चेहरे को घुमा-फिराकर दर्पण में देखाती है, फिर प्रसाधन सामग्री को सहेजती हुई एक बार नंद की ओर देख लेती है और मुस्कुराकर वाल्मीकि की पंक्ति गुनगुनाने लगती है। नंद बाहर खड़े धने जंगल की ओर देख रहे थे, तभी सुन्दरी कहने लगी कि प्रातः होते ही फिर आखेट का उत्साह जाग आया। नन्द को पहले दिन आखेट में मरे हुए म ग का स्मरण होता है और वह कहता है—“वहाँ पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था और न जाने क्यों इस प्रभात का फीका चांद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा...कोमल, अक्षत और निर्जीव।” म ग का प्रसंग कथानक के विकास में, नन्द के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने और उसके मन में बौद्ध मतानुसार अहिंसा की स्थिति की विद्यमानता को प्रकट करने आदि की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

सुन्दरी नंद से कहती है कि नंद तुम्हें कामोत्सव को भूला देना चाहिए और उसको कभी न याद करना चाहिए। वह नंद से आग्रह करती है कि वे कुछ समय दर्पण लेकर उसके समक्ष खड़े हो जाएं ताकि वह अपना श्रंगार कर सके। वह चन्दन के लेप की कटोरी लेकर अपना विशेषक बनाने लगती है। उसी क्षण भिक्षुओं और भिक्षुवियों का समवेत स्वर सुनाई देने लगता है— “धम्म शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि.....।” इस स्वर को सुनकर नन्द इतना विचलित हो उठा कि उसके हाथ से दर्पण हिल गया। नंद दर्पण के न हिलने का आश्वासन देता है, लेकिन तभी उसकी सांस से वह धुंधल हो जाता है। क्रोधित होकर सुन्दरी नन्द से कहती है कि दर्पण को रख दीजिए, अब मुझे विशेषक नहीं बनना। उसी समय भिक्षुओं का समवेत स्वर बहुत पास आकर एकाएक रूप जाता है। स्वर के रूकते ही दर्पण नंद के हाथ संभल न पाने के कारण नीचे गिरकर टूट जाता है। यह दृश्य देख सुन्दरी चौंक उठती है और नन्द स्तब्ध-सा पहले सुन्दरी की ओर फिर टूटे हुए दर्पण को देखने लग जाता है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों का समवेत स्वर पुनः सुनाई देने लग जाता है और फिर वही समवेत स्वर क्रमशः दूर होता हुआ मौन हो जाता है। इसी संदर्भ में सुन्दरी नंद से पूछती है—“जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?” सुन्दरी ही अपने प्रश्न के स्पष्टीकरण में उत्तर देते हुए कहती है—“आप उस समय यह नहीं सोच रहे थे कि भिक्षुओं की मंडली में शायद वे भी होंगी...शायद आपसे भिक्षा लेने के लिए ही वे इस द्वार रूकी होंगी?” वह टूटे दर्पण में अपना टूटे प्रतिबिम्ब को निहारकर फिर भावी आशंका प्रकट करती है, “जाने कैसा-सा लगता है...अपना टूटा हुआ प्रतिबिम्ब देखकर।...ये दो भागों में बँटा हुआ सीमांत, खंडित मस्तक, खंडित चेहरा, खंडित...।” और सचमुच ही सुन्दरी का व्यक्तित्व, जीवन तथा विश्वास, उसके

रूप यौवन एवं यक्षिणी होने का गर्व खण्डित हो जाता है।

नन्द सुन्दरी का प्रसाधन करने के लिए ज्यों ही चन्दन के लेप से माथे पर विशेषक बनाने लगता है, तभी वायु के तीव्र गति के झोंके से दरवाजा एक बार खुलता और फिर पुनः बन्द हो जाता है। तभी अलका आकर नन्द को सूचना देती है कि भवन के द्वार पर स्वयं गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए आए थे, उन्होंने आवाज लगाई, कुछ क्षण रुके और फिर उच्च भवन की खिड़कियों की ओर निहारे तथा बिना भिक्षा पाए लौट गए। उनका नन्द के भवन की खिड़कियों की ओर देखना वास्तव में नन्द को अपने मार्ग का अनुगामी बनने का अह्वान है। नन्द की अन्तर्द्वन्द्व में उलझी आत्मचेतना वास्तव में उस आह्वान को सुन सकती है और वह सुन्दरी कह उठता है—“तुम्हें यह नहीं लगता कि मुझे जाकर एक बार उनसे इस प्रमाद के लिए क्षमा-याचना करनी चाहिए।” सुन्दरी इस वचन-बद्धता के साथ नन्द को जाने देती है कि वे लौट कर स्वयं ही इस विशेषक को पूरा करेंगे। वह कहती है कि मैं आप के द्वारा लगाए गए उस बिन्दु को सूखने नहीं दूँगी। जब आप लौट आएं, तभी सम्पूर्ण प्रसाधन करूँगी और तभी अपनी केश राशि को बाँधूँगी। नन्द कभी लौटकर न आने के लिए चला जाता है। नेपथ्य से श्यामाँग का ज्वर-प्रलाप सुनाई देता रहता है।

त तीय अंक

इस अंक का आरम्भ नन्द के भवन और सुन्दरी के कक्ष से ही होता है। उनका कक्ष अव्यवस्थित दिखाई देता है। दीपाधारों के सभी दीपक जल रहे हैं, लेकिन फिर भी एक सूनेपन का आभास होता है। सुन्दरी को सूचना मिलती है कि कमल-ताल के राजहंस अचानक उड़कर कहीं चले गए हैं। हंसों का कमल-ताल से उड़ जाना वास्तव में प्रतीक प्रयोग है और भावी घटनाओं का सूचक भी है वह ऐसी घटनाओं का सूचक है जो कमल-ताल से सहसा हंस-युगल के उड़ जाने के समान असंभावित नहीं, हाँ अविज्ञात और आश्चर्यप्रद अवश्य है। आश्चर्य और अविज्ञात स्थिति के कारण सुन्दरी कहती है—“मैं अब भी नहीं सोच पा रही कि यह हुआ कैसे...राजहंस स्वयं उड़कर चले गये, इससे भी विश्वास नहीं होता...और यह भी मन नहीं मानता कि किसी ने उन्हें...।” अलका कहती है कि जिस एक व्यक्ति पर संदेह होता है तो ज्वर ग्रस्त है तथा सारा दिन कक्ष से बाहर भी नहीं गया। अलका सुन्दरी से पूछती है कि आपको श्यामाँग पर सन्देह नहीं है तो फिर आप क्या सोच रहीं हैं। सुन्दरी कहती है, “...परन्तु फिर भी यह विचार आता है कि राजहंस आहत थे...कम से कम एक अवश्य था। कल कैसा क्रन्दन उसका सुना था? यहाँ प्रतीकात्मक रूप से वह आहत एवं राजहंस स्वयं नन्द ही था और म ग-प्रसंग के रूप में उसी का क्रन्दन कल सुन्दरी ने सुना था। सुन्दरी आगे कहती है...“क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति नहीं होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर चले जाते?” अविज्ञात रूप से यह आक्रोश और आश्चर्य नन्द के प्रति उसके स्नेह पाश को तोड़कर मुक्ति मार्ग नहीं अपना सकता। कारण स्पष्ट है, “और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण...क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?”

अलका सुन्दरी का प्रसाधन करने के लिए कहती है, लेकिन सुन्दरी उसे डांटती हुई कहती है कि उसे कोई प्रसाधन नहीं करना है। अलका अपराध भाव से आँखे झुकाए अपने स्थान पर खड़ी रहती है। सुन्दरी का विक्षुब्ध अन्तराल पर विरोधाभास के रूप में इन शब्दों में प्रस्फुटित हो उठता है। “तू समझती है कि मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूँ। प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का विशेषक, यह बिन्दु, सूख जाने न देती। परन्तु जितना समय इसे गीला रहना

चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा। एक पहर, दो पहर, तीन पहर। हर बीतता हुआ क्षण मेरे प्रयत्न का उपहास उड़ाता था, फिर भी मैं अपने अन्दर के विरोध से लड़ती रही, मन के विद्रोह से किसी तरह समझाती रही, परन्तु एक क्षण आया जब वह प्रयत्न मन से हार गया मेरा गीला हाथ माथे तक जाकर लौट आया और मैंने उसे फिर गीला नहीं किया।” वह नन्द की प्रतीक्षा करते-करते थक जाती है और नन्द पर जो विश्वास उसने किया था, वह भी खत्म हो जाता है। इसीलिए तो वह कहती है—“अब मुझ प्रतीक्षा नहीं है अलका। मैं अपने स्वाभिमान को और नहीं छल सकती।” मैं नन्द को नहीं-तल पर जाने से रोक भी सकती थी, यह मेरी दुर्बलता ही सिद्ध होती। सुन्दरी झूले पर बैठ जाती है और अलका उसके मस्तक पर सुगन्धित जल लगाने लगती है और उससे अनुरोध करती है कि वह इसी झूले पर लेट जाए ताकि नींद आने से मन स्वस्थ हो सके। अलका यह भी कहती है कि किसी व्यक्ति को भेजकर नन्द का पता लगवाऊँ, लेकिन सुन्दरी मना कर देती है। सुन्दरी के निद्रामग्न होने के पश्चात् अलका कक्ष से बाहर आ जाती है और नीहारिका से धीमे स्वर में कहती है यदि श्वेतांग लौट आया हो तो उसे भेज देना। कुछ समय पश्चात् श्वेतांग कक्ष में प्रवेश करता है तो अलका मन्द स्वर में उससे पूछती है कि क्या वह नन्द से मिला? नन्द नदी-तल से चले गए थे, किधर गए इसका ठीक से पता नहीं चल सका। हाँ, इतना पता अवश्य लगा है कि बहुत देर तक तो वे तथागत के पास थे। जिस समय नन्द वहाँ पहुँचा था, उस समय तथागत बहुत से लोगों से घिरे हुए थे, अतः काफी देर तक नन्द उनके समक्ष नहीं पहुँच सके। अंत में मिलने का अवसर मिला तो उन्होंने तथागत को प्रणाम करके अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करने को कहा। तथागत ने उत्तर न देकर अपना भिक्षा पात्र कुमार के हाथों में दे दिया और अव्यवस्थित नन्द भिक्षा पात्र हाथ में लिए हुए ही वहाँ से लौटकर यहाँ आने लगे कि तभी बुद्ध उन्हें रोकर विहार में ले गए। सुना है वहाँ जाकर तथागत ने नन्द को उपदेश दिया और भिक्षुआनन्द से उसे दीक्षा लेने को कहा। कुमार के विरोध करने पर भी उनके केश काट दिए गए। जब वे वहाँ से उठकर चले तो इतने विक्षुब्ध थे कि जैसे किसी से जूझना चाहते हों, लेकिन जूझ न पाएं हो। लोगों का कहना है कि उसके बाद वे धने जंगल की तरफ चले गए। श्वेतांग कहने लगा कि एक बार सोचा कि आर्य मैत्रेय को साथ लेकर उन्हें ढूँढने जाऊँ, परन्तु उन्होंने भी आप दीक्षा ग्रहण कर ली है। श्वेतांग नन्द की खोज करने के लिए सुन्दरी से आज्ञा लेना चाहता है। ज्यों ही अलका सुन्दरी से इस विषय में बात करने जाती है तो तभी नन्द की ध्वनि उसे रोक देती है। नन्द कहता है कि उसे सोन दो, जगाओ मत। अलका नन्द का वेश देखकर चिन्तित हो उठती है, क्योंकि नन्द के सिर पर केश नहीं हैं और उनका सम्पूर्ण शरीर भी सिंह से जूझने के कारण क्षत-विक्षत हो चुका है। नन्द अपने साथ आए हुए आनन्द को अपना घर, पत्नी व उसका कक्ष दिखाता है, लेकिन भिक्षु आनन्द इस पर कोई आश्चर्य प्रकट नहीं करता भिक्षु आनन्द नन्द से तर्क-वितर्क करते हुए उस पर व्यंग्य से प्रहार भी करता है। दीक्षा लेकर भी नन्द का मन दीक्षित नहीं हो पाता। भिक्षु आनन्द का अनवरत साथ लगे रहना भी उसे प्रभावित नहीं कर पाता। नन्द स्पष्ट कहता है—“स्वर्ग और नरक, बैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्य सत्य और अम त—मैं जानता हूँ, वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है।”

भिक्षु आनन्द के चले जाने के बाद भी नन्द का मन शान्त एवं स्थिर नहीं हो पाता। वह सो रही सुन्दरी को देखकर कहता है—“अच्छा है तुम सो रही हो। जाग रही होती, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर शायद मैं न दे पाता।...मैंने कहा था तुम्हारा विशेषक सूखने से पहले मैं लौट आऊँगा, परन्तु नहीं आ सका” नन्द व्याघ्र से भिड़ने की घटना बताता है। वह गौतम बुद्ध पर आक्षेप करते हुए

कहता है—“उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते तो और अधिक सत्य हो जाता। कौन कह सकता है कि भांति वस्तुतः किसे है, उन्हें या मुझे?” भिक्षु आनन्द उसे जाते जाते एक बात कह जाता है कि जो व्यक्ति तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता है, वह मैं नहीं हूँ, बल्कि वह तुम्हारा अन्तर्मन है। नन्द सुन्दरी के पास आकर देखता है कि उसका विशेषक सूख चुका है, अतः श्रंगार कोष के पास जाकर वहाँ से चन्दन लेप की कटोरी उठा लाता है और उंगली पर थोड़ा-सा लेप लेकर उससे सुन्दरी के माथे पर हल्का-सा बिन्दु लगाने लगता है। उसी क्षण सुन्दरी जाग जाती है। अपने मुख पर झुकी हुई मुंडित आकृति को देखकर उसके मुँह से चीख निकल पड़ती है। और वह डरकर आँखों पर हाथ रख लेती है। चीख सुनकर अलका नीहारिका और श्वेतांग धबराए हुए आते हैं। नन्द अव्यवस्थित सा होकर दाईं ओर के द्वार से चला जाता है। तभी अलका श्वेतांग से कुमार के कक्ष में नहाने की व्यवस्था करने के लिए कहती है। यह सुनकर सुन्दरी को शंका हो जाती है कि जिस आकृति से मैं इतनी डर गयी थी वह नन्द ही था।

सुन्दरी बिना विलम्ब किए नन्द के कक्ष में प्रवेश करती है, लेकिन तभी नेपथ्य से ‘नहीं...नहीं...यह संभव नहीं...’ का स्वर सुनाई देता है। सुन्दरी अलका से कहती है कि तुमने मुझे बताया क्यों नहीं कि जो मैंने देखा था वह स्वप्न नहीं, बल्कि सत्य था।” क्या अब तू मुझे यह विश्वास दिलाना चाहेगी कि मैं जागती आँखों से भी सपना ही देखकर आई हूँ। नन्द और सुन्दरों के मध्य वार्तालाप होता है। नन्द कहता है... “अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझ बहुत अकेला कर दिया है। घर से... और अपने आप से भी अकेला। जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।” इसके बाद वह यह कहते हुए बाहर चला जाता है कि वह अपने केशों को वापिस लेने पुनः गौतम बुद्ध के पास जा रहा है। जब सुन्दरी नन्द के विषय में पूछती है तो श्वेतांग केश वाली बात को बताते हुए कहता है कि कुमार यह कहकर चले गए कि—“वे अपने केशों की खोज में जा रहे हैं। जाकर तथागत से पूछना चाहते हैं कि उन्होंने उनके केशों का क्या किया ? यदि कुछ नहीं किया, तो क्या उनके केश उन्हें लौटाये जा सकते हैं। उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है...।” यह सुनकर इतनी जड़-सी हो जाती है कि उसके मुँह से एक ही वाक्य निकल पाता है—“इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग। बस इतनी ही तो इनकी समझ में आ पाता है।” सुन्दरी हाथों में सिर छिपाए हुए वहीं आसन पर बैठ जाती है। नेपथ्य से श्यामांग को प्रलापमयी ध्वनि पुनः सुनाई देती है। क्षण-भर में ही नेपथ्य का स्वर और मंच की आकृति दोनों साथ-साथ विलिन हो जाते हैं।

अतः कुल मिलाकर कह जा सकता है कि ‘लहरों का राजहंस’ नाटक की कथ्य-योजना ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक संदर्भों को बड़ी गहराई के साथ अपने अन्तराल में संजोए हुए है।

अध्याय - 3

नामकरण की सार्थकता

कोई भी कृति निरुद्देश्य नहीं होती। किसी का भी नामकरण निरर्थक नहीं होता। प्रत्येक कृति के नामकरण के पीछे लेखक का कोई-न-कोई उद्देश्य निहित होता है। अर्थात्-नामकरण का कोई-न-कोई आधार होता ही है। लेखक या तो मुख्य पात्र के नाम पर या घटना या स्थान या उसमें निहित उद्देश्य के आधार पर नामकरण करता है। 'लहरों के राजहंस' पर ऐतिहासिक नाटक है। अतः ऐतिहासिक नाटकों के संदर्भ में ही चर्चा करना तर्कसंगत ठहरता है। हिन्दी में अधिकांशतः ऐतिहासिक नाटकों का नामकरण रचना के नायक या नायिका के नाम पर ही किया जाता है। किन्तु कुछ नाटकों का नामकरण इस परिपाटी से हटकर काल-विशेष या घटना या स्थान विशेष के आधार पर भी हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि नामकरण के संदर्भ में रचनाकार स्वतन्त्र है, किन्तु फिर भी उसके लिए यह अनिवार्यता है कि नामकरण कथा के अनुकूल एवं सार्थक प्रतीत होने वाला हो।

'लहरों के राजहंस' मूलतः ऐतिहासिक नाटक है, लेकिन नाटककार मोहन राकेश ने इसका नामकरण ऐतिहासिक नाट्य-परम्परा से हटकर किया है। राकेश जी अगर परम्परा से जुड़कर इसका नामकरण करते तो इसका नाम सुन्दरी, नन्द या नन्द-सुन्दरी आदि कुछ भी रख सकते थे, किन्तु उन्होंने नायक-नायिका के नाम पर न रखकर के इसमें निहित उद्देश्य को उजागर करने की दृष्टि से इसका नामकरण किया है। मोहन राकेश ने इस नाटक की भूमिका में स्वयं लिखा है कि उन्होंने इसकी प्रेरणा कवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' से मिली और मैंने इसे आधुनिक युग-बोध के साँचे में ढालकर प्रतीकात्मक स्वरूप दे दिया है। सौन्दरानन्द में कपिल-वस्तु के विलासी एवं रूपागर्विता सुन्दरी के प्रेम-पाश में उलझे राजकुमार नन्द अस्थिर मन को उपमा लहरों पर तैरते राजहंस से की गयी है। क्योंकि नन्द का मन एक ओर तो सुन्दरी के रूपाकर्षण में उलझा रहता है और दूसरी ओर गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग से भी वह प्रभावित होकर वह उधार से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। उसी में फंसा डोलता रहता है। अतः नन्द का मन सुन्दरी के रूपाकर्षण में बुद्ध के आकर्षण में उलझा रहता है और वह फैसला नहीं कर पाता। किन्तु अन्त में नन्द जब बुद्ध के पास क्षमा मांगने हेतु जाता है तो वहाँ बुद्ध के आदेश से मौन होकर नन्द केश कटवा लेता है। परन्तु जब बुद्ध उसे भिक्षा पात्र देते हैं तो उसकी अस्वीकृति उसे वर्जित कर देती है और वह विक्षिप्त से वनगमन कर जाता है। इससे पूर्व वह सुन्दरी का श्रंगार करता हुआ उसके साथ अटखेलियाँ करता है। इसी के साथ दूसरी ओर नेपथ्य से बौद्धों के समवेत स्वर से आतंकित भी होता रहता है। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों का समवेत स्वर—

**'धम्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि,
बुद्धं शरणं गच्छामि।'**

यह स्वर उसकी चेतना को दो स्वरों में विभक्त कर देता है। उसकी चेतना के एक स्तर पर अनुपम लावण्यमयी सुन्दरी है और दूसरे स्तर पर बौद्ध दर्शन में मिलने वाली अध्यात्मिक शान्ति है। उसका मन पानी की लहरों की तरह बहने लगता है। ये तरंग उसके मन में उठती है। जिस पर उसका मन रूपी हंस तैरता है। किन्तु अन्ततः वह उड़कर कमलताल को छोड़ गौतम बुद्ध की शरण में चला जाता है। नन्द के इस द्वन्द्व को अश्वघोष ने निम्न श्लोक के माध्यम से बड़ी ही मार्मिकता से उजागर किया है।

**“तं गौरवं बुद्धं गंत भार्यानुरागः पुनराचर्ष।
सोडनिश्चयन्नापि यपौ ने तस्यौ तरंस्तरंगेस्विष रौजहंसः॥”**

अर्थात् नन्द को एक ओर बुद्ध का गौरव खींच रहा था तो दूसरी ओर सुन्दरी को अनुराग अपनी ओर खींच रहा था। अतः वह द्वन्द्वग्रस्त था कि वह किधर जाए, किसको अपनाए अतः उसकी स्थिति लहरों पर तैरते राजहंस की तरह थी।

मोहन राकेश ने ‘सौन्दरनन्द’ के इस काव्य-चित्र को इस नाटक के नामकरण का आधार बनाकर इसका नामकरण ‘लहरों का राजहंस’ किया है। यह काव्य-चित्र और नाटक का नामकरण इस नाटक के मूल द्वन्द्व भाव को व्यंजित करता है। इस नामकरण के पीछे नाटककार से जो भी प्रेरणा स्रोत मिले थे, उसके संदर्भ में स्वयं नाटककार कहता भी है—“अपने वर्तमान की संगति में ऐतिहासिक संदर्भ का किस रूप में उपयोग किया जा सकता है, यह बात तब मन में स्पष्ट होने लगी थी-विशेषकर इनके दो कथानकों को लकर जो बहुत दिनों से ‘आषाढस्य प्रथम दिवसे’ (कालिदास का मेघदूत) ‘तथा तरंस्तरंगेस्विष राजहंस’ (सौन्दरानन्द) इस दो पंक्तियों के रूप में थे।”

अगर इसी दृष्टि से विचार करें तो इसका नामकरण पूर्णतः संगत, सार्थक, और सकारण है और इसकी वस्तु योजना में यह स्पष्ट भी हो जाता है। नाटक में लहरों को नन्द एवं सुन्दरी के जीवन की परिस्थितियों माना जा सकता है और नन्द की आत्मा को उन परिस्थिति रूपी लहरों पर तैरता राजहंस माना जा सकता है। राकेश जी ने नन्द के साथ-साथ सुन्दरी को भी राजहंस ही माना है। किन्तु नाटक में यह प्रतीक पूर्णतः प्रवाहित होता नहीं दिखाई देता, क्योंकि सुन्दरी का मन विचलित होकर भी अपने प्रवृत्ति मार्ग से विचलित नहीं हो पाया। वह आरम्भ से अन्त तक भोगवाहिनी जरूर है हाँ, यह जरूर है कि वह अस्थिर मन नन्द को अपने प्रेमाकर्षण में उलझाने रखना चाहती है पर, आहत नन्द उड़ ही जाता है। इस पर सुन्दरी कह उठती है।

“क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपने इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण..... क्या इतनी आसानी से छूट सकता था।”

अतः सुन्दरी की स्थिति राजहंस के समान नहीं है, यह स्थिति केवल नन्द की ही है। केवल नन्द की चेतना ही दोनों ओर फंस कर आहत एवं किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो जाती है। उस विमूढ़ता की स्थिति में उसका मान भावों एवं विचारों की उच्चभूमि पर तैरता-डोलता और भी अधिक व्यग्र एवं आहत हो जाता है। इसी कारण सुन्दरी के इस उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देती हुई अलका कहती है—

“सम्भव है-आहत होना ही कारण रहा हो उनके उड़कर चले जाने का...।” इस तर्क को स्वीकारती हुई कहती है—

“फिर यह भी विचार आता है कि राजहंस आहत थे कम से कम एक उनके अवश्य आहत था।” और यह स्पष्ट है कि यह आहत हंस कोई और नहीं, बल्कि नन्द ही है जो आहत होने के कारण लहरों पर तैर नहीं पाता और मुक्त होने के लिए अलक्षित दिशा की ओर उड़ जाता है।

प्रस्तुत ‘लहरों के राजहंस’ नाटक में कमलताल और उसके हंसों का प्रसंग कई बार आया है और उनका संबंध नाटक के मुख्य पात्रों और मूल द्वन्द्व के साथ जुड़ा हुआ है, जिससे नाटक के नामकरण की सार्थकता एवं तर्कसंगतता सिद्ध हो जाती है। नाटककार ने कमलताल के राजहंसों के कल-कूजन की योजना कथावस्तु के बीच में बड़ी ही सारगर्भित ढंग से की है। एक ओर सांध्यकाल में कामोत्सव के आयोजन की तैयारी हो रही है और अगले दिन देवी यशोधरा के भिक्षुणी बनने की चर्चा हो रही है। बीच में ही राज हंसों का कलख सुनाई देता है, सुन्दरी व्यंग्य से कहती है—

“इस स्वर की कहीं तुलना है? कह नहीं सकती क्या आपसे सुन्दर है-ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे में दूर से सुनाई देता इनका कूजन ! कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे भी वे निर्माण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर काम्यती हुई लहरे जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएंगे।”

स्पष्टतः यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का द्वन्द्व दिखाई देता है जिससे राजहंसों के लहरों पर तैरने की बात सार्थक लगती है। इसमें जो द्वन्द्व चल रहा है, वह क्रमशः धुलता भी जाता है। कालान्तर में नन्द क्षमा-याचना के लिए गौतम बुद्ध के पास जाता है और उसे चकित भाव से देखता है और फिर चकित भाव से ही उठकर उनके पीछे-पीछे चल देता है। और फिर—“फिर काम्यती हुई लहरें जिधर ले जाती है, उधर ही चुपचाप तैर जाता है।” अर्थात्-स्वयं पर बुद्ध के प्रभाव को मान लेता है और उसी की ओर हो जाता है। राजहंसों पर फेंके सभी प्रकार के पत्थर भी उसकी (नन्दकी) चेतना को बदल नहीं पाते, क्योंकि वहाँ राजहंसों वाले कमल-ताल में जो छाया पड़ती है या दिखती है, वह इतनी प्रभावी है कि छाया के पत्थर उसे तोड़ नहीं पाते, हटा नहीं पाते। वह तो लहरों एवं राजहंस को अपने व्यक्तित्व में मिला लेती है। इस संबंध में श्यामांग की आशंका देखी जा सकती है—

“वहाँ देखा ताल की लहरों पर वह छाया उतर रही है। लहरे उसमें गुम हुई जा रही हैं, कमलताल, कमल-पत्र सब उसमें खोए जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सबसे लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े को भी मुझे डर लगा, मैं छाया पर पत्थर फेंकने लगा।” और श्यामांग की यह आशंका निराधार नहीं है। अन्त में सच निकलती है हंस उड़ जाते हैं—“तभी हंसों के जोड़े ने पंख फड़फड़ा दिए और जैसे छाया से बचने के लिए वे पुकार उठे।” पुकारते भी हैं और प्रयत्न भी करते हैं पर सफल नहीं हो पाते, बल्कि लहरों के राजहंस उड़ ही जाते हैं।

इस नाटक में द्वन्द्व एवं दर्शन को उभारने के लिए लहरों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है, नाटक के दूसरे अंक में श्यामांग का नेपथ्य से ज्वरग्रस्त प्रलाप भी प्रतीकात्मकता के साथ उभरा है वह कहता भी है—

“इन लहरों पर से...लहरों पर से...वह छाया हटा दो...मुझ से...मुझ से यह छाया नहीं ओढ़ी जाती।” वास्तव में यह परिस्थितियाँ रूपी लहरों पर पड़े, अपर्तो में भ्रमित होते राजहंस रूपी नन्द के मन पर पड़ रही बुद्ध के प्रभाव रूपी छाया से बचने का चिन्कार है। तभी तो कह उठता है—“पानी की लहरों का स्वर..सब कुछ एक-एक आवर्त में घूम रहा है...।” मूलतः यह घुमाव भी राजहंस रूपी नन्द की चेतना का ही है। पर उसमें अवरोध बनने का साहस नहीं है—“मुझमें साहस नहीं है किसी में साहस नहीं है “लहरों में पानी नहीं है। कहीं भी पानी नहीं है...।” और राजहंस के अन्दर यह द्वन्द्वग्रस्तता बढ़ती ही जाती है और अन्त में राजहंस के जाने पर ही उस सब का परिहार हो पाता है।

लहरों का राजहंस अर्थात्-नन्द नाटक में शुरू से अंत तक द्वन्द्वग्रस्त है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि उसका निश्चित मार्ग कौन-सा है। वह केश भी कटवा लेता है, लेकिन केश कटवा लेने के बाद भी वह परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता और वापिस राजभवन में आ जाता है। लेकिन यहाँ भी वह द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाता और फिर यहाँ से भी लौट जाता है। अतः उसकी स्थिति लहरों पर तैरते-डोलते राजहंस जैसी है। एक ओर सुन्दरी का आकर्षण है, दूसरी ओर बुद्ध के व्यक्तित्व का प्रभाव। ये दो व्यक्ति नहीं बल्कि दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, विचारधारा हैं और इन दोनों का प्रभाव अकाट्य सा लगता है और यह प्रभाव अन्त तक बना रहता है। उसके पैर बार-बार उठ-उठकर रुकते-बढ़ते हैं। इसी कारण वह कह उठता है—

“लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिए उसके पास कोई आवरण नहीं है। परन्तु...मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता।...जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक साथ घेर लिया है...।”

और अन्त में लहरों पर तैरता-डोलता राजहंस (नन्द) अपनी अस्थिर मनःस्थितियों के घेरों को तोड़कर प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए उड़ ही जाता है। उसकी उड़ान सार्थक है या निरर्थक है। यह प्रश्न यहाँ नहीं उठता और यह भी प्रश्न नहीं उठता कि उसे अपने प्रश्नों का उत्तर मिला कि नहीं लेकिन उसके द्वन्द्व को सुधर करने के लिए ‘लहरों का राजहंस’ कहना सार्थक है और इसी कारण इस नाटक का नामकरण ‘लहरों का राजहंस’ सम्पूर्णतः सार्थक है।

अध्याय - 4

प्रतीकात्मकता

प्राचीनकाल से ही साहित्य में प्रतीकात्मक प्रयोग होते रहे हैं किन्तु छायावाद कवियों ने इस ओर विशेष रूख किया फिर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता एवं साठोत्तरी काव्य में प्रतीकात्मक प्रयोग बढ़ते गए। केवल काव्य में ही नहीं कहानी, उपन्यास, नाटक में भी प्रतीकात्मकता का प्रयोग किया जाने लगा है। नाट्य साहित्य में भारतेन्दु, प्रसाद, भारती आदि नाटककारों ने प्रतीक नाटकों का सर्जन किया है। नाटक के योग में मसीहा माने जाने वाले मोहन राकेश ने तो अपने नाटकों का नामकरण ही प्रतीकात्मक किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

'लहरों के राजहंस' नाम ही प्रतीकात्मक है। इसमें ताल की लहरों पर तैरते, डोलते राजहंस को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। नाटककारों ने संस्कृत के महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' को आधार मानकर इस नाटक की रचना की है। सौन्दरानन्द में व्यवहृत एक श्लोक नाटककार ने ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर दिया है—

**“तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष
सोडनिश्चयान्नापि भयौ न तस्थौ तरंस्तरंगेस्विण राजहंस।”**

अर्थात् : नंद को एक ओर गौतम बुद्ध का गौरव खींच रहा था तो दूसरी ओर अपनी ही पत्नी सुन्दरी का रूप गौरव अपनी ओर खींच रहा था। उनसे न जाने को बनता था और न ही रुकने को, अतः उनकी स्थिति लहरों पर तैरते-डोलते राजहंस की-सी थी। जिस प्रकार अस्थिर राजहंस द्वन्द्वग्रस्त रहता है, उसी प्रकार नन्द भी द्वन्द्वग्रस्त था। इसी द्वन्द्वग्रस्ता को नाटककार राजहंस से प्रतीक रूप में दर्शाता है। अतः नाटक का मूल कथ्य ही प्रतीकात्मक है तो उसका क्रिया-कलाप तो प्रतीकात्मक होगा ही।

'लहरों के राजहंस' नाटक की प्रतीकात्मकता पर विचार करते हैं तो पहला तथ्य यही है कि इसकी प्रतीकात्मकता सहज, सरल नहीं है। इसके कथ्य की प्रतीकात्मकता में उनके ही पूर्ववर्ती नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की तुलना में अधिक जटिलता है। वैसे तो सामान्यतः प्रतीकात्मकता अधिकतर नाटकों में मिल जाती है, क्योंकि सभी का संबंध रंगमंच से होता है। परन्तु यहाँ प्रतीकात्मकता का जटिल रूप देखने को मिलता है। नाटक का मूल द्वन्द्व प्रवृत्ति (सुन्दरी) और निवृत्ति (गौतम बुद्ध) से आकर्षित मानव (नंद) के अन्तर्द्वन्द्व एवं द्विविधाग्रस्त चेतना को रूपायित करना है। इस संदर्भ में डॉ. जयदेव तनेजा का कहना है—“सुन्दरी जीवन के भोग-पक्ष क्या प्रवृत्ति की प्रतीक है तो गौतम बुद्ध योग पक्ष या निवृत्ति के प्रतीक हैं। नंद प्रवृत्ति और निवृत्ति के इन दो विपरीत ध्रुवों के बीच निरंतर पिसती हुई द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना का प्रतीक है।”

उपर्युक्त बात को स्वीकारते हुए नाटककार मोहन राकेश भी यही कहते हैं—“सुन्दरी पथ्वी के प्रतीक में, पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बांधे रखना चाहती है—पुरुष बंधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिक जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूंढना चाहता है।” ऐतिहासिक संदर्भ में नन्द सुन्दरी के कथित विक्षोभ से घबराकर, उसके प्रश्नों के उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाकर, अपने कुछ प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए गौतम बुद्ध के पास चला जाता है, लेकिन वह केश कटवाकर भी वापिस भवन में आता है अतः अन्तिम क्षण तक भी उसके द्वन्द्व का परिहार न हो सका। इस द्वन्द्वग्रस्त स्थिति को वह स्वयं उजाकर भी करता है—“अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न, केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।” यही नहीं वह एक और स्थान पर कहता है “इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन ६ गिरे-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में उन्मेष और निमेष दोनों अस्थायी हैं। सुख-सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई एक बून्द की अकुलाहट...परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? आकाश में कहीं लटकते हुए नीले-काले बिन्दु-कोरे सिद्धान्तों के-वे अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे हैं?” का प्रश्न नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का ही प्रश्न है, जो उसे निरपेक्ष नहीं होने देती। तभी तो वे कहते हैं—“मैं, मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है...सब किसी उंगली से आकाश में बनाये गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ-साथ ही मिट जाते हैं; जिनका होना न होने से भिन्न नहीं है...पर, पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिये?” अतः नन्द द्वन्द्वात्मक स्थिति में है और उसका यह द्वन्द्व प्रतीकात्मक है। लेकिन यहाँ प्रतीकात्मकता, दार्शनिक अवधारणा जटिल है जो सामान्य दर्शक के लिए दुरुह है।

नाटक की नयी शिल्प-विद्या और रंग निर्देशों से प्रवृत्ति मूलक एवं निवृत्तिमूलक का द्वन्द्व यवनिका का उठते ही हो जाता है क्योंकि यवनिका का उठते ही निम्न स्वर सुनाई देता है—

‘धम्मं शरणं गच्छामि।

संघं शरणं गच्छामि।

बुद्धं शरणं गच्छामि।।’

राकेश जी ने श्यामांग के प्रसंग को लेकर सर्वाधिक प्रतीकात्मकता की सर्जना की है। इस विषय में डॉ. सुरेश अवरथी का कहना है—“नाटक की वस्तु-योजना और उसके संबंध में श्यामांग प्रसंग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि यह प्रसंग कई प्रकार से कई स्तरों पर नाटककार की मुख्य कथा और उसके मूल संघर्ष से जुड़ा है।” इसकी सार्थकता के विषय में अवरथी जी कहते हैं—“जब श्यामांग अंधकूप में डाल दिया जाता है और नाटकीय कथा के साथ कोई संबंध नहीं रह जाता और वह किसी प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं कर सकता, तो नाटककार जबरन उसके अस्तित्व और उसकी प्रयोजनशीलता को बनाए रखने के लिए उसे एक प्रतीक बना देता है। इस प्रकार श्यामांग नाटक में एक प्रतीक तो बन जाता है, किन्तु वह पात्र नहीं रह पाता और नाटक चाहता है सशक्त, जीवन्त पात्र, अस्पष्ट, निर्जीव प्रतीक नहीं।” इस प्रसंग योजना के संबंध में नाटककार भी अंत तक द्वन्द्व से छुटकारा नहीं पा सकता। इस तथ्य की पुष्टि नाटककार की ‘नाटक का यह परिवर्तित रूप’ शीर्षक में की गयी इस स्वीकारोक्ति से भी हो जाती है कि—“पहले अंक से उसे हटाना चाहा तो हटा नहीं सका, दूसरे अंक में उसके लिए स्थान बनाना चाहा तो वह भी नहीं बना सका।” कारणतः श्यामांग केवल पहले अंक में ही मंच पर दिखाई देता है। बाद

के अंकों में नेपथ्य से ज्वरोन्माद ग्रस्त-सा प्रलाप ही सुनाई देता है। लेकिन यह नेपथ्य का संभाषण भी प्रतीकात्मक है। इसके संबंध में डॉ. सुरेश अवस्थी का कहना है—“आरम्भ में लगता है कि श्यामाँग और अलका का अत्यन्त सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुन्दरी और नन्द के उद्दाम मुखर और काम शक्ति प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि की चेष्टा करता है और फिर बाद में यही श्यामाँग नन्द के अस्थिर और द्वन्द्व जर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है, और अपने ज्वर प्रलाप में जैसे नन्द की ही अनिश्चितता, विभ्रम और अकुलाहट ध्वनित करता है।”

अतः यह ध्वनित होना भी एक सबल प्रतीक योजना है। इसी तरह श्यामाँग के कमल ताल में पड़ी छाया से नन्द का डरना, गौतम बुद्ध के प्रभाव से डरने का प्रतीक है। इसी प्रकार दूसरे अंक में श्यामाँग का ज्वर-प्रलाप उसकी व्याकुलता की बजाए नन्द की उद्विग्नता को प्रकट करता है। इसी कारण नन्द थकने पर भी रात-भर सोता नहीं। डॉ. अवस्थी के अनुसार “और तब ऐसा लगता है, जैसे कि नन्द ही रंगमंच पर अनिद्रा में अशान्त बैठा है, और नन्द ही नेपथ्य में प्रलाप कर रहा है—कोई स्वर नहीं है...कोई किरण नहीं है...एक छाया है...अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया।” अतः यह प्रतीक सबल और मानसिक उलझाव का ही प्रतीक बना रहता है। इसी कारण सुन्दरी इसे देखकर अव्यस्त-सी हो जाती है और एक बार तो इसे तहखाने में डाल देने का भी आदेश देती है। श्यामाँग का प्रलाप सुनकर नन्द कहता है— “कितनी लम्बी है यह रात जैसे कि इसे बीतना ही न हो। बार-बार लगता है यह स्वर रात पर पहरा दे रहा है...यही इसे बीतने नहीं देता।” पुनः वह सुनता है—“स्वर नहीं है...कोई स्वर नहीं है...इस अंधकूप में सबकुछ खो गया है...मेरा स्वर...पानी की लहरों का स्वर...सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है...एक चील सब कुछ झपटकर लिये जा रही है...इसे रोको...इसे रोको...।”

अतः नाटककार ने चील, अंधकूप जैसे शब्दों के द्वारा नन्द के द्वन्द्व को ही व्यक्त किया है। इसी प्रकार श्यामाँग द्वारा कमल ताल के राजहंस पर पत्थर फेंकना नन्द के अवचेतन में बुद्ध के प्रभाव का ही प्रतीकात्मक संकेत रखता है। इससे स्पष्ट रूप से लगता है कि वह प्रवृत्ति मार्ग से विमुख होकर निवृत्ति मार्ग की ओर उन्मुख होना चाहता है।

नाटक के तीसरे अंक में भी यह प्रतीकात्मकता देखी जा सकती है। वहाँ राजहंसों के लड़ जाने से सुन्दरी को चिन्तित दिखाया है क्योंकि सुन्दरी को यह विश्वास नहीं हुआ कि वे स्वयं उड़कर चले गए हैं और न ही यह मान पाती है कि कोई उसे चुरा ले गया है। यह सच है कि हंसों का अदृश्य होना, उस विशिष्ट ताल में रहने का उनका अशपास और उसका आकर्षण उनको रोक रखने में पर्याप्त थे, परन्तु इससे भी बड़ा सच यह है कि वे चले गए हैं। अतः वे नन्द के सुन्दरी को छोड़कर सदा के लिए बुद्ध के पास चले जाने की घटना का पूर्व संकेत दे रहे हैं। इस विषय में डॉ. जयदेव तनेजा का मत है—“पहली बात तो यह है कि हंसों को प्रत्यक्ष मूर्त-प्रतीक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया, संवादों में उनकी चर्चा मात्र होती है, दूसरे, यदि दोनों हंस, नन्द और सुन्दरी के ही प्रतीक हैं, तो अकेले नन्द के चले जाने पर दोनों हंसों के उड़ने का क्या अर्थ है? हंस सदैव के लिए चले गए हैं, किन्तु नन्द फिर लौटता है, आहत करने और आहत होने के लिए। इस विषय में **नेमिचन्द्र जैन** की यह धारणा ठीक प्रतीत होती है—“राजहंसों का प्रसंग नाटकीय एकाग्रता को तोड़ता है।” अगर इस संदर्भ को प्रतीकात्मक रूप से देखा जाए तो सुन्दरी अपने यौवन का गर्व नन्द की दुर्बलता का ही चित्रण करती है। इसलिए वह कहती

है—“जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अश्वास, उसका आकर्षण...क्या क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?” पर मानव की चेतना आहत होकर भी छुटकारा चाहती है। नन्द भी छुटकारा चाहता था। इस बात को अलका स्पष्ट करती हुई कहती है—“सम्भव है आहत होना ही कारण रहा हो उनके उड़कर चले जाने का...।” स्पष्टतः यह आहत होना नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का ही आहता होना है।

हिरण प्रसंग भी प्रतीकात्मक है। वह अपने अस्तित्व के लिए अन्तिम सांस तक संघर्ष करने वाले और अपनी ही क्लान्ति से मर जाने वाले अपराजेय नन्द रूपी म ग का प्रतीक रूप उभरा है। इस संदर्भ में डॉ. जयदेव तनेजा का कहना है—“नन्द रूपी म ग एक और सुन्दरी और दूसरी ओर गौतम, दो-दो शिकारियों से घिरा हुआ है। उसकी जिजीविषा उसे दोनों से बचा लेती है। परन्तु अन्ततः वह अपनी ही क्लान्ति से ‘म त और जीवित’ स्थिति को प्राप्त होता है। ‘म ग’ इस दृष्टि से भीतर-ही-भीतर निरन्तर थकते टूटते हुए, मरते हुए और बाहर से सतत् संघर्षरत एवं जीवित नन्द का चित्र प्रस्तुत करता है। नन्द के पास सबसे लड़ने की शक्ति है। बाघ से निहत्थे भिड़कर वह अपनी शारीरिक शक्ति का परिचय देता है तो समस्त देश को प्रभावित करने वाले गौतम बुद्ध के भरपूर प्रयास के बावजूद अप्रभावित लौटकर वह अपनी मानसिक आत्मिक शक्ति का प्रमाण दे देता है। शारीरिक और मानसिक रूप से प्रबल व्यक्तित्व वाला नन्द स्वयं अपने सामने निर्बल पड़ जाता है। वह स्वयं से हार जाता है। लेकिन दूसरे अंक के आरम्भ में नन्द को सो रही सुन्दरी को देखकर ऐसा लगता है कि—“उस समय तुम क्रोध में थी, तो कितनी उग्र, कितनी कठोर, कितनी प्रखर लग रही थी। इस समय सो रही हो, तो कितनी करुण, कितनी निर्भर, कितनी अबोध लग रही हो, बिल्कुल उस म ग की तरह जिसे कल वन में पड़ा छोड़ आया था। जब तक वह चुनोती देता दौड़ रहा था, तब तक वह भी कितना प्रखर था। परन्तु उसके बाद।” इस बाहरी समानते के अतिरिक्त अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में भी सुन्दरी की नियति इस म ग से पूर्णतः अभिन्न प्रतीत होती है। वास्तव में गौतम बुद्ध का प्रभाव नन्द को सुन्दरी से पूर्णतः अलग नहीं कर पाता, क्योंकि वह वापिस आकर स्वीकार करता है कि—“मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है। आँखों में तुम्हारे रूप की वही छाया है।” परन्तु सुन्दरी नन्द के देर से आने से अपनी पराजय मान बैठती है। वह नन्द के जाने से टूट-सी जाती है, सिसकती है। अतः अपनी क्लान्ति से मरने वाला म ग सुन्दरी का प्रतीक बन जाता है।

दर्पण भी प्रतीकात्मक अर्थ रखता है। वह सुन्दरी के अहंकार और रूप गर्व का प्रतीक है। उसका टूटना सुन्दरी के अहंकार को टूटना है। यहाँ पर नाटककार ने नन्द की चेतना को दो भागों में बाँट दिया है। पर वे दोनों ही भाग समाकार नहीं हैं, बल्कि खण्डित होने के कारण आड़े-टेढ़े हैं। इससे प्रतीत होता है कि एक-ओर सुन्दरी का रूप यौवन का गर्व टूट जाता है और भविष्य में उसका विश्वास भंग करके नन्द जो बौद्ध बनने जा रहा है, उसका आभास भी मिल जाता है। इसी कारण खण्डित दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर वह कहती है—“उन्होंने केश कटवा दिये, तो व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो जाता।” अतः दर्पण भी प्रतीक है।

यहाँ नन्द के केश, अलका का स्वप्न, दीपाधार, मत्स्यकार आसन, झूला, घर आदि सब प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं। इनकी प्रतीकात्मकता के बारे में डॉ. जयदेव तनेजा का कहना है—“(नन्द के) केश काम-भावना या प्रवृत्ति के द्योतक हैं। अलका का स्वप्न भी उसकी अतप्त मातृत्व-जनित निराशा को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है। पुरुष मूर्तिकला दीपाधार नन्द का और नारी-मूर्ति वाली सुन्दरी

का प्रतीक है। मत्स्यकार आसन उद्यम भोग-भावना को रेखांकित करता है तो भिक्षुओं का समवेत स्वर वैराग्य का संकेत देता हुआ गौतम के सर्वव्याप्त प्रभाव को प्रतिध्वनित करता है। झूला अस्थिर मन अथवा द्वन्द्व का प्रतीक है। मंच-सामग्री में से सर्वाधिक उपयोग (चौदह बार) झूले का ही हुआ है। इनके अतिरिक्त 'घर' और 'वास्तविक घर' के रूप में दोहरा प्रतीकत्व प्रदान किया गया है। घर भोग या पार्थिकता का प्रतीक है तो वास्तविक घर आत्मिक शांति और स्थायी आश्रय देने वाले स्थान (संभवतः विहार) के लिए प्रयुक्त हुआ है। जंगल योग या अपार्थिक का प्रतीक है और 'अंधकूप' अवचेतन का'' इसके अतिरिक्त उन्होंने हवा को गौतम बुद्ध के सर्वव्यापी प्रभाव का प्रतीक माना है और सुन्दरी की बिन्दी को जिसे वह नन्द के लौट आने तक गीता रखने की बात कहती है को स्त्री जननेन्द्रिय की प्रतीक माना है।

अतः कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' नाटम में छोटे-बड़े, स्पष्ट-अस्पष्ट, प्रभावशाली-अप्रभावशाली, मूर्त-अमूर्त प्रतीकों की भरमार है जिनके भंवर में यह नाटक उलझा ही रह जाता है। क्योंकि यहाँ कुछ प्रतीक दुर्बोध्य हैं। जहाँ इन प्रतीकों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें सर्वथा मौलिक एवं नए प्रयोग कहा जा सकता है, वहीं यह कहना गलत न होगा कि ये प्रतीक सामान्य दर्शक/पाठक के लिए समझ से बाहर हैं।

अध्याय - 5

काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता

‘लहरों के राजहंस’ नाटक का मूल आधार ऐतिहासिक है। लेकिन यहाँ नाटक राकेश जी ने ऐतिहासिकता को संशोधित कर उसे युगीन परिप्रेक्ष्य में ढाला भी है। राकेश जी ने स्वयं भी इसका आधार महाकवि अश्वघोष के ‘सौन्दरा-नन्द’ नामक काव्य को स्वीकारा है। इसके नामकरण की प्रेरणा से सम्बन्धित ‘सौन्दरानन्द’ काव्य का निम्न श्लोक दर्शनीय है—

“तं गौरवं बुद्धं गतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोडनिश्चयन्नपि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगौध्वव राजहंस।”

अर्थात्—बुद्ध का गौरव उसे अपनी ओर आकर्षित करता था तो उसकी सुन्दरी का अनुराग अपनी ओर। इस द्वन्द्वग्रस्तता में उससे न तो अपनी पत्नी सुन्दरी का ही त्याग हो रहा था और न ही उसके पास रह पा रहा था। बुद्ध का प्रभाव उसे खींच रहा था। उसकी स्थिति लहरों पर तैरते-डोलते राजहंस के समान थी। वास्तव में समूची नाट्य प्रक्रिया का आधार यही है और इसी को युगीन संदर्भ में रूपायित करने की कोशिश राकेश जी ने की है। अतः नाटककार ने इस द्वन्द्वग्रस्ता को ऐतिहासिकता की बजाए आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित किया है। अत्यधिक प्रबलता के साथ यहाँ आधुनिक भाव बोध ही व्यक्त हुआ है। निश्चित तौर से इस समन्विति का कारण कथानक का स्तर भी बढ़ा है। उसकी साहित्यिक और व्यवहारिक उपयोगिता भी बढ़ी है। अतः ऐतिहासिकता को युगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने-सजाने-संवारने के लिए कल्पना का भी प्रयास किया है। अतः इस नाटक को कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमांस का नाटक कहा जा सकता है।

राकेश जी ने नाटक के कथ्य के मूल उत्स को भूमिका में व्यक्त करते हुए लिखा है—“कथा का आधार अश्वघोष का ‘सौन्दरानन्द’ काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थिति का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है।” क्योंकि साहित्य केवल इतिहास नहीं हो सकता और न ही वह इतिहास के नीरस विषयों को ढो सकता है। कोई इतिहास साहित्य तभी बन सकता है जब वह युगीन भाव-बोध में ढल जाए। क्योंकि साहित्य समय के बंधनों में नहीं बंधता, जबकि इतिहास समय-बंध होता है। साहित्य जीवन के तत्त्वों को लेकर ही अपने कलेवर का स जन करता है, उसे सजाता एवं संवारता भी है। साहित्य जनहित की साधना एवं भावना से इतिहास को व्यापकता एवं विशालता प्रदान करता है। इस संबंध में डॉ. सुरेश अवस्थी का कहना है—

“वास्तव में, ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी हो सकती है, जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा-स्थितियों को ‘अनैतिहासिक’ और ‘युगीन’ बना दे तथा कथा के अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक अर्थ-व्यंजना प्रदान कर दे।”

स्पष्ट रूप से देखा जाए तो ‘लहरों के राजहंस’ नाटक में ऐसा ही हुआ है तभी तो वह एक सफल ऐतिहासिक रोमांस बन गया है। साहित्य और इतिहास के संदर्भों को नाटककार ने नाटक

की भूमिका में स्पष्ट करते हुए लिखा है—“साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने एक नए और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है।” इतिहास और साहित्य की और अधिक व्याख्या करते हुए राकेश जी आगे लिखते हैं—“इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिक में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है।” उपलब्धि क्षेत्र की विभिन्नता के अतिरिक्त भी समय एवं आश्रम में भी विभिन्नता रहती है। वास्तव में इतिहास तो युगों- युगों से मानव-जीवन विस्तार की तालिका भर है। लेकिन यह तालिका कड़ी रूप में है और इसी कड़ी ने मानवता को राष्ट्र या देश आदि की सीमाओं में सुसंबद्ध कर रखा है। अतः इतिहास एक धारा है और साहित्य उस धारा के सतत् प्रवाह में उच्छलन-उत्साह भरने वाला है। उन धाराओं का मूल्यांकन भी साहित्य ही करता है। इसके स्वीकारते हुए राकेश जी कहते हैं—

“साहित्य इतिहास के समय में बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है। युग से युग को अलग नहीं, कई-कई युगों को साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास ‘आज’ और ‘कल’ उसके लिए ‘आज’ और ‘कल’ नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़ जाते हैं जो जीवन को दिशा-संकेत देने में अविभाज्य है।”

अतः राकेश जी की दृष्टि साहित्य में इतिहास के बिखरे तत्वों, तथ्यों को जोड़ने वाला साधन मानती है। उनका यह भी मानना है कि साहित्यकार इतिहास में से प्रत्येक युग, परिस्थिति से मेल खाने वाले जीवनपयोगी तथ्यों एवं सत्यों को संकलित कर उन्हें साहित्य में इतिहास अपनी यथा तथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नए और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है। यह निर्माण रूढ़िगत अर्थ में इतिहास नहीं है। उस इतिहास की खोज के लिए इतिहास की शोध पुस्तकों की ओर ही जाना चाहिए।” स्पष्टतः कहा जा सकता है कि साहित्य की कोई भी सर्जनात्मक प्रक्रिया इतिहास नहीं है और उसमें केवल ऐतिहासिक तत्त्व नहीं खोजन चाहिए बल्कि उसमें जीवन के शाश्वत सत्य एवं तथ्य खोजने चाहिए।

अतः इन संदर्भों के आधार पर हम ‘लहरों के राजहंस’ नाटक की ऐतिहासिकता पर विचार कर सकते हैं। राकेश जी के वक्तव्य से यह माना जा सकता है कि यह नाटक ऐतिहासिक संदर्भों, तथ्यों का मात्र ब्यौरा नहीं है, बल्कि इतिहास के व त्त पर सहज द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना की सर्जनात्मक प्रक्रिया है। इसी विषय में स्वयं राकेश कहता है—

“प्रस्तुत नाटक का आधार भी ऐतिहासिक है, परन्तु उतने ही अर्थ में जितना इस व्याख्या में आता है। कथा का आधार अश्वघोष का ‘सौन्दरानन्द’ काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का सौन्दरानन्द भी है, क्योंकि संस्कृत तथा पालि साहित्य में जो कथा उपलब्ध थी, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है, एक काल्पनिक अन्विति से उसे विस्तार किया है।”

इसको विस्तार किस तरह से दिया गया है, इस बात को स्वयं नाटककार स्पष्ट करता है—

“धम्मपद’ की टीका में नन्द और सुन्दरी की जो टीका है, ‘सौन्दरानन्द’ की कथा

और विस्तार में उससे कहीं आगे जाती है। 'सौन्दरानन्द' में नन्द और सुन्दरी के जीवन के जो तथ्य आते हैं, उनके जीवन के सीमित ऐतिहासिक तथ्यों से कहीं भिन्न हैं, शोधग्रंथों में प्रमाणिक तथ्य तो उनके सम्बन्ध में उपलब्ध ही नहीं हैं।"

वास्तव में 'सौन्दरानन्द' के रचयिता अश्वघोष स्वयं बौद्ध मत को मानने वाला था। उसकी 'सौन्दरानन्द' काव्य सर्जना के पीछे उद्देश्य बौद्ध-मत की व्यापकता और प्रभाव को अंकित करना अधिक था। वह उजागर करना चाहता था कि नन्द जैसा विलासी व्यक्ति पत्नी सुन्दरी के सौन्दर्य के जाल को तोड़कर भी बुद्ध के प्रभाव से बौद्ध बन गया। हाँ, यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि नाटककार का उद्देश्य अंत में बौद्ध मत में दीक्षित होते दिखाना नहीं है, बल्कि द्वन्द्वग्रस्त मानव-चेतना उजागर करना है। इस दृष्टि से इस नाटक में मात्र ऐतिहासिक तथ्य खोजना तर्कसंगत नहीं, इतिहास तो बस इतना है कि गौतम बुद्ध थे, उनके सौतेले भाई नन्द थे और उनकी एक अनुपम सौन्दर्य युक्त सुन्दरी पत्नी थी। शेष सभी नाटककार की कल्पना की सृष्टि है। स्वयं नाटककार इस बात को स्वीकार भी करता है—“यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है, जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है।"

अतः विवेचनात्मक दृष्टि के आधार पर कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' नाटक को उतनी ऐतिहासिक नहीं है, जितनी कल्पना है। अतः इसका मूल्यांकन, विश्लेषण इतिहास की दृष्टि की बजाए ऐतिहासिकता की दृष्टि से होना चाहिए। नाटककार ने आधुनिक भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए ऐतिहासिक कथा का सहारा भर लिया है। इसमें ऐतिहासिक कथानक को दोहराने की बजाए उसे आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दिखाया है।

1. परिवेशगत ऐतिहासिकता :

'लहरों के राजहंस' नाटक में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि हुई है। इसमें तत्सम्बन्धित निर्देशित रंग-संकेत इतिहास-सम्मत है। नन्द सुन्दरी की कथा और सुन्दरी के रूप की चर्चा, मदिरा पात्रों, मदिराओं का वर्णन, दीपाधार, महल कक्ष के गवाक्ष द्वार, उद्यान एवं उसके कमल-ताल आदि सब कुछ इतिहास सम्मत है। यही नहीं नन्द सुन्दरी तथा अन्य पात्रों को वेश-भूषा भी इतिहासबद्ध रखी गयी है। उदाहरणतः मदिरापात्र और चषक कमल ताल के पास के चबूतरे पर रखवा देना, और वहाँ भी आस-पास कुछ आसन बिछवा देना। जब सारी व्यवस्था हो जाए, तो आकर मुझे सुचित कर देना।" आदि-आदि ऐतिहासिकता के संकेत ही हैं।"

2. भाषागत ऐतिहासिकता :

प्रस्तुत नाटक की भाषिक एवं संवादीय संरचना में जिस प्रकार की भाषा एवं शब्दावली का प्रयोग किया गया है। वहाँ भी ऐतिहासिक आधार विद्यमान है। जैसे—विशेषक, दीपाधार आपातक, गवाक्ष, कक्ष, उद्यान, कमल ताल, मत्स्याकार आसान, श्रंगार कोष्ठ, मदिराकोष्ठ आदि शब्द ऐतिहासिक परिवेश का निर्माण करने वाले ही हैं। ऐतिहासिक पात्रों के साथ-साथ कतिपय पात्रों के नामों में भी पूर्णतया ऐतिहासिकता है। जैसे—श्वेतांग, श्यामांग, आर्य मैत्रेय, अलका, नीहारिका आदि। भाषा एवं संवादों में ऐतिहासिकता स्पष्ट झलकती है। उदाहरणतः

“आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों?

और उस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया? या यह केवल मन का विद्रोह था...बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या इसलिए कि उस समय मैं इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि, "यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।"

यहाँ एक बात ध्यात्व है कि यह सब होते हुए भी इसकी आत्मा आधुनिक है उदाहरणतः "आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी मुझे। मन में क्या सोच रही होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ।"

3. आधारभूत सामग्री की ऐतिहासिकता :

नाटककार राकेश जी ने 'लहरों के राजहंस' की नाटकीय वस्तु-योजना में जिस आधारभूत सामग्री का उपयोग किया है, उसकी प्रामाणिकता स्वयं नाटककार भी संदिग्ध मानता है। इस नाटक के कथ्य का विकास महाकवि अश्वघोष की दो सर्जनाओं पर आधारित है—'बुद्ध चरित्र' और 'सौन्दरानन्द'। इनमें से अधिकांश विद्वान 'सौन्दरानन्द' को प्रामाणिक सर्जना नहीं मानते। सौन्दरानन्द की अप्रामाणिकता का प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि इस जैसी प्रणय-कथा के अवशेष अन्य उपलब्ध रचनाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इसी तरह नन्द के दीक्षित होने की बात 'बुद्ध चरित्र' में मिलती है और इसका आधार 'पालि-साहित्य' में प्राप्त होता है। 'उदान', 'जातक' और 'धम्मपद' श्लोक-संख्या-१३-१४ में 'वर्णित कथा' में नन्दी की कथा का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु इन ग्रंथों और 'सौन्दरानन्द' की कथा में अन्तर है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि सौन्दरानन्द भी कल्पित है। अतः 'सौन्दरानन्द' के मूलाधार पर रचे गए 'लहरों के राजहंस' नाटक की आधारभूत सामग्री को पूर्णतः ऐतिहासिक ही कहा जा सकता है। इस बात को स्वयं नाटककार भी स्वीकारता है कि साहित्यकार का दायित्व उतना इतिहास के प्रति नहीं होता, जितना की जीवन के चिरन्तन सत्यों एवं शाश्वत मूल्यों के प्रति होता है।

4. पात्रों का ऐतिहासिक संदर्भ :

इस नाटक में पूर्णतः ऐतिहासिक पात्रों में प्रथमतः राजकुमार नन्द, जो रंगमंच पर प्रस्तुत होकर समूचे वस्तु व्यापार के केन्द्र में रहकर उसकी अभिव्यक्ति करता है। नाटककार का अपनी चेतना का द्रव्य भी नन्द के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो पाया है और इसे भी नाटक का अन्तिम फल प्राप्त होता है। दूसरा ऐतिहासिक पात्र है—गौतम बुद्धस, परन्तु नाटककार ने उसे रंगमंच पर कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया है। उसके चरित्र का उद्घाटन नाटककार सांकेतिक संवादों एवं शब्दावली में ही कर देता है और इन संवादों को ही नाटककार इतनी प्रबलता से प्रकट करता है कि जिससे समूचे युग-परिवेश की चेतना को प्रभावित करने वाले गौतम बुद्ध का प्रभाव अकाट्य लगता है। तीसरा पूर्णतः ऐतिहासिक पात्र है—नन्द की रूपगर्विता पत्नी सुन्दरी। हाँ, इतना सम्भव है कि 'सौन्दरानन्द' में ही नन्द की पत्नी का नाम 'सुन्दरी' कतिपय किया गया हो, पर उसकी स्थिति और उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि नन्द की विलासिता का आधार ही उनकी पत्नी थी। वही उसे मदिरा से उन्मत्त किया करती थी। इसी कारण नन्द को दीक्षित होने से पूर्व उनके प्रेम-पाश से मुक्त होने के लिए बहुत अधिक मानसिक यातना भोगनी पड़ी थी। इसका चौथा ऐतिहासिक पात्र है—भिक्षु आनन्द। गौतम बुद्ध के मुख्य शिष्यों में उनका नाम-रूप चरित्र आदि सभी

इतिहासबद्ध है। अगर गौतम बुद्ध का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है तो भिक्षु आनन्द का व्यक्तित्व भी ऐतिहासिक ही ठहरता है।

शेष सभी पात्र काल्पनिक हैं जिनमें अलका, नीहारिका, श्वेतांग, श्यामांग, आर्य, मैत्रेय आदि हैं। किन्तु ये पात्र कल्पित नहीं लगते, क्योंकि ये नाटक के रूप विधान में इतने घुल-मिल गए हैं कि इन्हें अलग करके देखा ही नहीं जा सकता और ये नाटक के कथ्य-विस्तार और विकास में पूर्ण सहयोग भी करते हैं।

5. घटनाओं में ऐतिहासिकता :

प्रस्तुत नाटक की घटनाओं में मात्र इतनी ऐतिहासिकता है कि कपिल वस्तु का राजकुमार और गौतम बुद्ध का सौतेला भाई नन्द अपनी अनुपम सौन्दर्य युक्त पत्नी सुन्दरी के यौवन पर अत्यधिक आसक्त था। फिर भी उसने बौद्ध मत से प्रभावित होकर उसकी दीक्षा ग्रहण कर ली। काफी दिन तक तो नन्द बुद्ध के प्रभाव को बढ़ते हुए देखता रहा, उधर सुन्दरी के रूप-प्रेम का प्रभाव भी उस पर बढ़ता गया। अन्ततः वह रूप जाल से मुक्त हो बुद्ध दर्शन में दीक्षित हो गया। बस ऐतिहासिकता तो यही तक है। बाकी सब लेखक ने आधुनिक संदर्भ में अन्तर्द्वन्द्व चेतना को व्याख्यायित किया है।

उपर्युक्त इस घटना को छोड़कर बाकी सब कुल कल्पित है। श्यामांग का प्रसंग, कामोत्सव का आयोजन, कमल ताल के हंसों का उड़ जाना, रूपगर्विता सुन्दरी का श्रंगार-प्रसाधन विशेषक बनाना और उसका सूखना, दर्पण का टूटना, हिरण के घायल होने की घटना, केश कटवाने के बाद नन्द का जंगल की ओर हिरण को देखने जाना और वहाँ बाघ से द्वन्द्व-युद्ध होना, दीक्षा के बाद भी नन्द का वापिस भवन में आना और सुन्दरी के सूखे विशेषक को गीला करने का प्रयत्न आदि सभी बातें पूर्णतः नाटककार की अपनी बौद्धिक कल्पनाएं हैं। लेकिन लेखक ने अपने बौद्धिक कौशल से इन्हें ऐतिहासिकता में फिट बैठा दिया है।

अतः कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' में उसी सीमा तक ऐतिहासिकता है जिस सीमा तक साहित्य इतिहास को पचा सकता है। आधुनिक संदर्भ में विशेष भूमिका निभा सकता है। इस नाटक में कल्पना और इतिहास को अलग-अलग कर पाना कठिन है। इसी संदर्भ में श्री विजय बापट का कथन है—“ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी सम्भव है जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा अभिप्रायों को ऐतिहासिकता के स्थान पर युगीन बना दें। साथ ही इतिहास के संघर्ष को आधुनिक अर्थ-व्यंजना प्रदान कर दें। इस अर्थ में मोहन राकेश का यह 'लहरों के राजहंस' नाटक सबसे सशक्त नाटक है।” समग्र मूल्यांकन की दृष्टि से सुरेश अवस्थी का मत भी उद्धृत है—“सभी देशों के नाटक साहित्य के इतिहास में विभिन्न युगों में जब भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है, तब नाटककारों ने प्राचीन कथानकों को नई दृष्टि से देखा है और उनको नई अर्थ-व्यंजनाएँ दी हैं। चाहे ढाई हजार वर्ष पूर्व लिखी गई महान यूनानी त्रासदियाँ हों, चाहे एलिजाबेथ-कालीन कामदियाँ और चाहे फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिका में पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में लिखे गये नई शैली के ऐतिहासिक नाटक।” इसी दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' नाटक की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है और युगीन-भाव-बोध के अनुरूप इसमें कल्पना का समावेश हुआ है। अतः इसे कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमांस कहना अधिक तर्कसंगत ठहरता है।

अध्याय - 6

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन

'लहरों के राजहंस' नाटक में नाटककार मोहन राकेश ने मूलतः व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक चेतना को अभिव्यक्त किया है। द्वन्द्वात्मक स्थिति न्यूनाधिक रूप के सभी प्रकार के दर्शनों एवं जीवन-दर्शनों में रहती है, क्योंकि किसी भी प्रकार का सिद्धान्त द्वन्द्व की गहराइयों से गुजरने के बाद भी निर्मित होता है। उसका स्वरूप आकार भी तभी निर्मित होता है इसी कारण आज दर्शन एवं जीवन दर्शन के पक्षों को खोजा जाता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि दर्शन एवं जीवन दर्शन में अन्तर होता है। दर्शन का सम्बन्ध परम्परागत परालौकिक भावनाओं से होता है, जबकि जीवन दर्शन का संबंध किसी सर्जक की सामाजिक चेतना से होता है। तद्युगीन में उसकी जो धारणाएँ, मान्यताएँ निर्मित हुईं और उनकी अभिव्यक्ति हुई है, वे जीवन-दर्शन कहलाती हैं। हाँ, यह सर्वविदित है कि उस सर्जक के जीवन-दर्शन के मूल में परम्परागत दर्शनिक भावनाएँ भी रहती हैं।

प्रस्तुत नाटक में मूलतः व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक चेतना की स्थिति को व्यंजित किया गया है। यहाँ दर्शन का प्रश्न स्वभाविक रूप से उठता है, क्योंकि नन्द का मन दो प्रकार के दर्शनों के बची आकर्षण एवं विकर्षण में फंसा हुआ है। एक ओर सुन्दरी के रूप में प्रवृत्ति मूलक दर्शन है तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध का निवृत्ति मूलक दर्शन है। यह उसका आसक्ति अनासक्ति का द्वन्द्व है। क्योंकि जब गौतम बुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने नव्य मत, दर्शन, सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करते हुए अपनी ही जन्मभूमि कपिलवस्तु में पहुँचे और उपदेश देने लगे तो उनसे प्रभावित होकर उन्हीं की जाति के अनेक भाई दीक्षा ग्रहण करने लगे। किन्तु गौतम बुद्ध का अपना ही भाई नन्द अपनी पत्नी सुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य के रूप-जाल में फंसा हुआ था। वह उनसे मुक्त न हो रहा था। वह गौतम बुद्ध के गहत्याग से लेकर बुद्ध बनने तक की प्रक्रिया से परिचित था और उनके बढ़ते प्रभाव से भी भली-भाँति परिचित ही था। इतना ही नहीं, वह स्वयं भी बुद्ध के नव्य दर्शन से प्रभावित और आकर्षित था। इस संबंध में **डॉ. सुरेश अवस्थी** का कहना है—“लेकिन नन्द का मन स्थिर भाव से सुन्दरी का रूप भोग नहीं कर पाता, क्योंकि कहीं भीतर उसके मन में अस्थूल और असंसारी तत्त्वों के प्रति भी आकर्षण है। उसके मन का यही संस्कार और उसका शोषित करने वाली बाह्य परिस्थितियाँ नाटक के द्वन्द्व का आधार है। वास्तव में यह द्वन्द्व प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों का ही द्वन्द्व है। प्रवृत्ति मार्ग नन्द को अपनी पत्नी सुन्दरी की ओर आकर्षित करता है तो निवृत्ति मार्ग गौतम के जीवन दर्शन की ओर आकर्षित करता है। यह द्वन्द्व उस समय और अधिक प्रबल हो उठता है, जब बुद्ध भिक्षा के लिए नन्द के द्वार पर आकर उपेक्षित खाली हाथ लौट जाते हैं और तब अलका द्वारा उनके लौट जाने का समाचार सुनकर नन्द क्षमा-याचना के लिए जाने को अत्यधिक व्यग्र एवं बेचैन हो उठता है। 'बुद्धं शरणां गच्छामि' का स्वर घोष सुनकर नन्द के हाथों में थामे हुए दर्पण का गिरकर टूटना उसी विवशता का द्योतक है। अतः दर्पण का टूटना प्रवृत्ति-दर्शन का टूटना है। इसी प्रकार कमल ताल में (बुद्ध) की छाया दिखना

प्रवृत्ति मार्ग पर निवृत्ति मार्ग का क्रमशः हावी होने-निवृत्ति प्रवृत्ति दोनों पक्षों के समानांतर रूप से प्रदर्शित होने के प्रतीक दार्शनिक पहलू ही है। इन दोनों दर्शनों का संघर्ष नाटक में अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। अपनी ही थकान क्लान्ति से मग के मर जाने की नन्द द्वारा बार-बार चर्चा करना और नन्द के दीक्षित हो जाने एवं केश-कर्तन के बाद जंगल में जाकर व्याघ्र से भिड़ जाने की घटना आदि प्रसंगों में ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन का परस्पर संघर्ष का ही रूपायन है। जब नन्द केश कर्तन के पश्चात् घर आता है और अपनी विवशता पर पश्चाताप करता है। तब भी इन दोनों ही दर्शनों का द्वन्द्व स्पष्ट झलकता है। उदाहरणतः

“उस समय मैं इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनंद के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि—“यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।”...सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पावों का एक स्पन्दन-मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट...परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है। आकाश में कहीं लटके हुए नीले बिंदू...कोरे सिद्धान्तों के व अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे है? उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो आता। कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुतः किसे है; उन्हें या मुझे।”

इस प्रकार नन्द प्रवृत्ति मूलक दर्शनों के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति में रहता है। वह गौतम बुद्ध के पास क्षमा-याचना के लिए गया परन्तु उन्होंने उसके केश कटवाकर उसे बौद्धमत में दीक्षित कर दिया। लेकिन उसके द्वन्द्व का निवारण न हो सका। तभी तो वह विक्षुब्ध ही कह उठता है—“जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।” भले ही नन्द ने निवृत्ति मार्ग को विवशतावश अपनाया हो, किन्तु इतिहास इस बात का प्रमाण है कि उसने निवृत्ति मार्ग को अपनाया और यह भी सत्य है कि उसने प्रवृत्ति मार्ग को छोड़कर ही निवृत्ति मार्ग को अपनाया था। हाँ, यह दूसरी बात है कि लेखक ने प्रवृत्ति मार्ग को सहारा दिया है।

दूसरी ओर सुन्दरी प्रारम्भ में पूर्णतः प्रवृत्ति मार्ग दिखाई देती है। वह जीवन के सुधा को भोगना चाहती है और उसे ही श्रेयस्कर मानती है उस पर भोगवाद हावी है। सी कारण वह गौतम बुद्ध और यशोधरा पर अनेक अशिष्ट आरोप लगाती है। भोगवादी प्रवृत्ति के ही कारण वह उसी दिन कामोत्सव का आयोजन करती है, जिस दिन यशोधरा बौद्धमत में दीक्षित होने वाली थीं। लेकिन उसे समाचार मिलता है कि कामोत्सव में निमंत्रित एक भी अतिथि नहीं आया।

सुन्दरी संध्या-वेला में कमल ताल में हंसों का कलरव सुनती हुई और वह अपनी भोगवादी प्रवृत्ति का परिचय देती हुई गौतम बुद्ध पर व्यंग्य करती है—“कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे भी निर्वाण और अमरत्व की बात कहे।” यहाँ सुन्दरी अपने भोगवादी दर्शन द्वारा निवृत्ति मार्ग पर प्रहार करती हुई प्रतीत होती है। वह नन्द की तरह द्वन्द्वात्मक स्थिति में नहीं है। वह स्पष्टतः और पूर्णतः प्रवृत्ति मार्गी है। किन्तु उसे हम “खाओ-पिओ करो आनन्द, भाड़ में जाये परमानन्द” अथवा ‘यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घ तं पिवेत्’ वाला चार्वाक दर्शन तो नहीं कह सकते, पर उसे आधुनिक भौतिकवादी मार्क्स दर्शन की प्रतिनिधि और साथ ही भोगवाद की अनुसरणी भी कह सकते हैं। उनके जीवन में इस दर्शन की चरम परिणति तब

देखी जा सकती है जब दीक्षित होने पर नन्द घर लौटता है और सुन्दरी के माथे पर लगे सूखे बिन्दु को गीला करने के लिए झुकता है तो वह चौंककर जाग उठती है। वह नन्द को केश कर्तित देख वितष्णा से भर जाती है और अलका से कह उठती है—

“वे लौट आए हैं!...फिर ऐसा...ऐसा भयानक सपना मैंने क्यों देखा?...देखा कि मैं झूले में पड़ी हूँ...सहसा एक ठण्डे स्पर्श से आँखें खुल जाती हैं। आँख खुलते ही (सिहरकर)...देखती हूँ कि एक रुण्ड-मुण्ड आकृति मेरे ऊपर झुकी हुई है, उसका हाथ मेरे हाथ पर है...तभी मेरे मुख से चीख निकल जाती है, और मैं.. मैं सचमुच जाग उठती हूँ।” और जब उसे ज्ञात होता है कि उसके स्वप्न ने यथार्थ रूप में उसके घर में प्रवेश किया है, अर्थात् नन्द वास्तव में बौद्धमत में दीक्षित होकर घर लौटा है तो वह अलका से कहती है—“वह आकृति एक दुःस्वप्न नहीं...यथार्थ है...मेरा अपना यथार्थ...क्या मैं उसका सामना कर सकती हूँ?” वह फिर भी अपने प्रवृत्ति मार्ग से विचलित नहीं होती और नन्द को पहले वाले नन्द से भिन्न मानती हुई कहती है—“वे नहीं आये, अलका! जो लौटकर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है...कोई दूसरा ही...।”

नन्द आड़ में खड़ा होकर यह सब सुन तो लेता है लेकिन सन्न रह जाता है उसे भ्रम है कि वह सचमुच नन्द नहीं है, क्या वह सचमुच मेरे अपने पूर्व रूप को कहीं खो आया है—“कोई दूसरा ही...तो क्या सचमुच मैं कोई दूसरा ही हूँ? भिक्षु ने यही कहा था...तुम भी अब यही कह रही हो! परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि मैं कोई दूसरा कैसे हूँ! मात्र इसलिए कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए हैं? यहाँ एक ही कोण पर दो दर्शन टकराते हैं। दोनों से एक ही ध्वनि मुखरित हो रही है—‘तुम वह नहीं हो...तुम वह नहीं हो!’ इस एक ही ध्वनि से दो मार्ग अलग-अलग हो रहे हैं। एक ओर आधुनिक भौतिक दर्शन है तो दूसरे ओर बुद्ध दर्शन का निवृत्ति मार्ग। प्रश्न उठता है इनमें सत्य कौन-सा है। इसका उत्तर नाटककार ने नहीं दिया। तभी तो अव्यवस्थित नन्द को कहना पड़ता है—

“लगता है मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ, जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिए उसके पास कोई आवरण नहीं।” वास्तव में भौतिकता से ग्रस्त नम्र चेतना को ढकने के लिए कोई आवरण नहीं है। केवल द्वन्द्व है, छटपटाहट है और यह द्वन्द्व नन्द का है। एक ओर नन्द रात्रि भर अपनी मानसिक उलझन में फंसा है तो दूसरी ओर उसकी उलझन को बढ़ाने एवं व्यक्त करने में श्यामांग का प्रलाप सहयोग करता है—

“कोई स्वर नहीं है...कोई किरण नहीं है...सब कुछ लेने दो...सुलझा लेने दो.. नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा! कोई उपाय नहीं है...कोई मार्ग नहीं है...इन लहरों पर से...लहरों पर से...वह छाया हटा दो...मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती...। स्वर नहीं है...कहीं कोई स्वर नहीं है...इस अंधकूप में सब कुछ खो गया है...मेरा स्वर...पानी के लहरों का स्वर...सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है...एक चील...एक चील सब-कुछ झपटकर लिये जा रही है...इसे रोको..इसे रोको...।”

देखा जाए तो नन्द की अनवरत रूप से यही तड़प है—“परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता।...तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे...अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे।”

परन्तु वह प्रश्न क्या है? शायद द्वन्द्वग्रस्त भौतिक चेतना को नहीं पता, क्योंकि उसका जीवन निर्लक्ष्य-सा रहता है। तभी तो व्याध से लड़कर भी नन्द के मन को शान्ति नहीं मिली...लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है...ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएं नहीं हैं।" निस्संदेह उसका संकेत बुद्ध के निवृत्ति मार्ग की ओर ही है। जिसमें व्यर्थ के संघर्ष के लिए स्थान नहीं है। यह चेतना की द्वन्द्वात्मक स्थिति ही है—“अस्तित्व और अनिस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न चिह्न...केवल एक प्रश्न चिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।...क्यों...? इस क्यों का उत्तर भौतिक जगत के सूनेपन में है। क्योंकि सूने कमल ताल के हंस (दार्शनिक शब्दावली में हंस आत्मा एवं निर्मल चेतना का प्रतीक है) उड़ चुके हैं अर्थात् नन्द भी उड़ चुका है इसी कारण सुन्दरी के लिए—“लगता है आज घर अपना नहीं रहा...” अतः भौतिक सत्य यही है कि—“आज घर अपना नहीं रहा...।” इस तथ्य को नन्द एवं सुन्दरी दोनों ही समझ जाते हैं।

वैसे इतना तो निश्चित है कि इस नाटक में कोई निश्चित दर्शन प्रतिपादित नहीं हुआ है। यहाँ तो आधुनिक भौतिक जीवन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का द्वन्द्वात्मक मानसिक संघर्ष ही चित्रित किया गया है। अगर दार्शनिक दृष्टि से देखें तो इसमें प्रवृत्ति दर्शनों का द्वन्द्व ही प्रतिपादित हुआ है। इन्हीं दर्शनों के अन्तर्द्वन्द्व को दो समानांतर स्तरों पर व्यक्त किया है। यह परिणति ही नाटकीय संचरण में वेदना को तीव्रता एवं गहराई प्रदान करती है। नाटककार का उद्देश्य किसी विशेष दर्शन को व्यक्त करना नहीं है। उसका उद्देश्य तो दो दर्शनों में उलझी हुई चेतना को स्थापित करना है और रूपायन विविध भाव-भंगिमाओं के साथ हुआ है। स्वयं नाटककार भी यही स्वीकारता है—“नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। इसी कारण नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक मानव को दर्शनों में उलझी चेतनाओं का द्वन्द्व मात्र ही है। किसी दर्शन विशेष का प्रतिस्थापन या आस्था की अन्तिम अभिव्यक्ति अथवा परिणति नहीं।”

सुन्दरी का व्यक्तित्व नाटक के आरम्भ से ही चावरी दर्शन या प्रवृत्ति मार्ग से प्रभावित दिखाई देता है और अन्त तक वह इसी पर अडिग रहती है। वह आरम्भ में ही कामोत्सव की तैयारी में तत्परता से लगी दिखाई देती है। वह इस आयोजन की छाप लोगों पर छोड़ना चाहती है। आधुनिकता के परिवेश में एक भौतिकता के प्रभाव में आज की नारी भी यही चाहती है। सुन्दरी भी यही चाहती है इसी कारण वह अलका से कहती है—

“रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रातभर नगरवधू चन्द्रिका के अवरणों की गति से इस कथा की हवा कांपती रहेगी हवा कांपती रहेगी और लटकती रहेगी मदिरा, उसकी आखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। कपिलवस्तु के राजपुरुष रातभर उस मदिरा में और अन्याय मणि-मदिराओं में डूबते-उतरते रहेंगे। तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी, जो नहीं देखेंगे, वे तो कल्पना भी नहीं कर पाएंगे।”

यहाँ प्रवृत्ति मार्ग के प्रति आग्रह दिखाई देता है। परन्तु इस प्रवृत्ति मार्ग के साथ संशय का भाव भी जुड़ा हुआ है। शायद यह संशय का भाव ही इसकी दुर्बलता है। यही भाव अलका व्यक्त करती है—“सूखा सरोवर, पत्रहीन वक्ष और धूल भरा आकाश।” फिर सुन्दरी भी कहती है—“यह भरा-पूरा यौवन और हृदय में धूल-भरा आकाश...कहीं यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।” वास्तव में प्रवृत्ति मार्ग में संशयास्पद एवं आशंकाओं की स्थिति हमेशा बनी रहती है। अतः एक साथ दो-दो धाराएं प्रवाहित होती हैं—श्यामांग के शब्दों में—“पिछले

बसन्त में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियाँ अपने आप पल्लों पर झुक जाती थीं।...परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार...जब आम के वक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।...कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ...रातभर न त्य होगा, आपानर चलेगा...।”

श्यामाँग की चेतना की यह विरोधात्मक स्थिति दार्शनिक द्वन्द्व की ही स्थिति है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति मार्ग मानव चेतना को प्रतिक्रियावादी और ईर्ष्यालु बना देता है। तभी तो सुन्दरी ठीक उसी दिन कामोत्सव करने की सोचती है जिस दिन यशोधरा बौद्धमत की दीक्षा लेना चाहती है। यहीं नहीं प्रवृत्ति मार्ग (सुन्दरी) से निवृत्ति मार्ग का उपहास भी उड़ाया गया है। सुन्दरी कहती भी है—

“अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते।

गौतम बुद्ध बनकर नहीं तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?

एक और बात कि यह प्रवृत्ति मार्ग व्यक्ति को अहंकारी भी बनाता है। सुन्दरी वस्तव्य में यह अहंकार स्पष्ट झलकता है—“नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।” इसी प्रकार वह एक स्थल पर कहती है—“पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है। और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है? इसका उत्तर स्वयं ही देती हुई सुन्दरी अलका से कहती भी है—

“इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। तब जहां कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं।”

हमारे विचार में सभी दर्शनों का आधारभूत तत्त्व यह नत्यान्वेषिणी मानव प्रकृति ही है। ‘लहरों के राजहंस’ में मोहन राकेश की जीवन-दर्शन सम्बन्धी चेतना है तो बस यही नत्यान्वेषिणी ही चेतना है। स्वभावतः ही मानव प्रकृति नत्यान्वेषिणी है। इसी कारण अनेकानेक दार्शनिक विचारधाराओं के होते हुए भी नित नए दर्शन सामने आते रहते हैं। कोई भी नया दर्शन सामने आता है तो मानव की स्थिति कमल ताल पर तैरते-डोलते राजहंस की-सी होती है। सुन्दरी के शब्दों में—“कोई गौतम बुद्ध कहे कि कभी कमल ताल के पास आकर राजहंसों से भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, काँपती हुई लहरें जिधर ले जाएँगी, उधर को तैर जाएँगे।”

‘लहरों के राजहंस’ में निवृत्तिमूलक भावनाएँ आरम्भ से ही उजागर होने लगती हैं। पहले ही अंक में जब कुमार नन्द आखेट से लौटकर सुन्दरी के कक्ष में आता है, तो उसका स्वभाव चंचल रहा होता है, क्योंकि एक आहत मग की छाया उसके मस्तिष्क पर छायी हुई है। नन्द स्वयं कहता है—

“हाथ से निकला भी तो नहीं।...सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। मग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इससे मन को इतना खेद नहीं हुआ, जितना उससे...कि जब थककर लौटने का निश्चय किया तो वही मग...थोड़ी दूर आगे...रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।”

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने संस्कारगत गर्जी प्रवृत्तियों को उभारते हुए दिखाया है। यह उस समय और अधिक स्पष्ट होता है जब नन्द कहता है—

“बाण से क्षत-विक्षत म ग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी है, तो केवल प्राप्ति की हल्की-सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव के अपनी ही क्लान्ति से मरे हुए म ग को देखकर मन में जाने कैसा लगा और लौटकर आते हुए अपने आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि...”

अतः यह थकान वर्तमान जीवन की थकान है। उसकी संवेदनात्मक अनुभूति और दर्शन के अनुरूप है। नन्द द्वारा उस म ग को उठाने से आखेटक को रोक देना, उसे म त या जीवित स्थिति में पड़े रहने देने की आज्ञा बौद्ध दर्शन के अनुकूल है। म त-म ग की कचोट भी नन्द को बौद्ध दर्शन की ओर खींचती है। नन्द कहता भी है—

“वहाँ पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था और न जाने क्यों इस समय प्रभाष का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा...कोमल, अक्षत और निर्जीव।”

अतः म त हिरण की याद, सुन्दरी के प्रसाधन की चेष्टा, बौद्ध नारों का सुनाई देता स्वर, दर्पण का हिलना एवं टूटना आदि सब कुछ व्यक्ति की चेतनागत अस्थिरता को व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अपना अस्तित्व भी टूटा हुआ-सा लगता है और वह कमलताल के राजहंसों की भांति उड़ जाता है। फिर वह दिशा खोज करता है। इसी को नाटक में भिक्षु आनन्द प्रकट करता है—

“तुम अपने लिए दिशा खोज रहे हो, यह व्याकुलता ही वास्तविक आरम्भ है। तुम यह जानते हो, इसीलिए अपनी व्याकुलता से इतना नहीं लड़ रहे हो।

लेकिन व्यक्ति सहज ही हार नहीं मान लेता, वह लड़ता जरूर है। नन्द भी अपने से लड़ने की प्रक्रिया में ही पहले व्याघ्र से लड़ता है और बाद में “मदिरा से लड़ना चाहता है, पर लड़ नहीं पाता, क्योंकि उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है जिसे पलायनवादी भी कह सकते हैं।

‘लहरों के राजहंस’ में मोहन राकेश प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन को एक साथ व्यक्त करता है। दोनों के बीच व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक चेतना को व्यक्त करता है। इसी कारण नाटककारों ने नन्द की चेतना को नाटकांत तक या नन्द की अंतिम परिणति तक उसे द्वन्द्व से मुक्त नहीं होने दिया। वह एक साथ बुद्ध एवं चार्वार के शब्दों में बोलता है—

“इतना समझ में आता है कि नीचे जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट...परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? ..आकाश में कहीं लटके हुए नीचे काले बिन्दु-कोरे सिद्धान्तों के-वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?

वह फिर बुद्ध मत से सोचता हुआ कहता है—

उन्होंने कहा—“मैं, मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है...किसी उंगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिनका

होना न होने से भिन्न।...पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अंतर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए?”

इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि नाटककार का आग्रह प्रवृत्ति दर्शन के प्रति अधिक है। तभी तो कुमार आनन्द कहता है—

“जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।...परन्तु मैं इस असहयता की स्थिति में नहीं रह सकता।...जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने साथ-साथ घेर लिया है।”

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ‘लहरों के राजहंस’ नाटक में राकेश जी ने भले ही किसी विशिष्ट दर्शन को प्रतिपादित न किया हो, लेकिन फिर भी उनका आग्रह निवृत्ति की बजाए प्रवृत्ति मार्ग का रहा है। इन सब बातों के बावजूद राकेश जी का मूल उद्देश्य तो ऐतिहासिक संदर्भों में प्रवृत्ति-निवृत्ति दर्शनों के बीच मानव-चेतना के शाश्वत द्वन्द्व को व्यक्त करना रहा है।

अध्याय - 7

लहरों के राजहंस : उद्देश्य/प्रतिपाद्य

कोई भी रचनाकार किसी भी कृति की निरुद्देश्य सर्जन नहीं करता। प्रत्येक रचना में कोई-न-कोई उद्देश्य निहित होता है। यह उद्देश्य प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। वैरोलेखक रचना में स्नानुभूत सव्य की आत्माभिव्यक्ति करता है। लेकिन इसके साथ ही उसका कोई-न-कोई मुख्या उद्देश्य होता है। वह वातावरण, समाज और परिस्थितियों के आधार पर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कोर्न-न-कोई आधार ग्रहण करता है, जिस आधार पर वह कथावस्तु का ढाँचा तैयार करता है। 'लहरों के राजहंस' नाटक के मसीहा मोहन राकेश की कृति है, इसमें भी उद्देश्य निहित है। इसके निहित उद्देश्य पर यहाँ हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

'लहरों के राजहंस' में निहित उद्देश्य के बारे में डा. सुरेश अवस्थी का कहना है- "लहरों के राजहंस में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है।" इस द्वन्द्व के बारे में डा. अवस्थी जी आगे लिखते हैं- "इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्तः विरोध है और यह अन्तः विरोध किसी युग-विशेष या व्यक्ति-विशेष का नहीं वरन् समस्त मानव जाति और युगों-युगों का है। यह अन्तः विरोध नन्द या सुन्दरी का ही नहीं, आज के स्त्री पुरुषों का भी है- उतना ही गहन और भयावहना। जीवन के प्रेम श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है जिसके कारण के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक की कथा-बीज और उसका केन्द्र बिन्दू है। धर्म-भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परिक्षण किया गया है। मोहन राकेश ने इसकी कथा का आधार ऐतिहासिक रखा है किन्तु उनका उद्देश्य आधुनिक मनुष्य के द्वन्द्व को चित्रित करना है। राकेश जी ने ऐतिहासिक परिवेश को आधार बनाकर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति या पार्थिक एवं अपार्थिक मूल्य का जो संघर्ष या द्वन्द्व चित्रित किया है, वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मनुष्य के अन्तः द्वन्द्व का ही चित्रण है। इसकी आधुनिकता पर विचार करते हुए डा. जयदेव तनेजा का कहना है- "लहरों के राजहंस की आधुनिकता पर विचार करते तो हमें प्रतित होता है कि बौद्धकालिन ऐतिहासिक परिवेश (जो स्वयं भी आधुनिकता के तमाम अभिलक्षणों से भरा पड़ा है) में राकेश ने नन्द और सुन्दरी को जिस प्रकार से और जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह पूर्णतः आधुनिक है इसकी आधुनिकता का मूल रहस्य 'ट्रीटमेन्ट' और नाटककार के अपने वर्तमान से उसके गहरे 'कन्सर्न' में छिपा है। नन्द का अन्त द्वन्द्व, तनवा, अकेलापन, संशय उसकी अस्थिरता, व्यकुलता, घटन और जीवन के जगत में आसाक्ति नन्द के चहरे की एक-एक रेखा उसका उतार-चढ़ाव आधुनिक मनुष्य की स्थिति और उसकी नियति का प्रमाणित दस्तावेज है।"

अतः तनेजा जी की दृष्टि में भी राकेश जी ने आधुनिक मनुष्य के द्वन्द्व को व्यक्त किया है। जिस द्वन्द्व में से हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं तलाशना है। दुसरे के द्वारा खोजा हुआ

मार्ग चाहे कितना भी श्रद्धापद हो, आर्कषक हो, परन्तु संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं कर सकता। इसी स्थिति का प्रकटीकरण लेखक गौतमबुद्ध और सुन्दरी के बीच नन्द की चेतना की द्वन्द आत्मक स्थिति की अभिव्यक्ति से करता है।

राकेश जी नाटकीय अन्त द्वन्द को आधुनिक परिवेश देने में सफल हुआ है। इस सम्बन्ध में डा. जयदेव तनेजा का कहना है-

“आधुनिक मनुष्य अन्दर ही अन्दर एक ही था विदीर्ण जीवन जीने के लिए अभिशक्त है। अन्त विरोध, असंगति, तनाव और कारण मानसिक यातना का यह अभिशाप लहरों के राज हंस का नन्द भी आज के व्यक्ति के तरह ही भोगता है और उसका विश्लेषण, प्रस्तुतीकरण राकेश आज के नाटकार के तरह ही करता है”

अतः राकेश जी ने यहाँ ऐतिहासिक कथा के साथ ही ऐतिहासिक पत्रों, घटनाओं एवं स्थान के साथ आधुनिक द्वन्द-ग्रस्त रूपाचित किया है जिससे नाटक ऐतिहासिक होने के साथ ही आधुनिक भी हो गया है। जिसमें नाटककार ने एक युग-विशेष की कथा के माध्यम से युगों-युगों के द्वन्द को चित्रित कर दिया है।

वास्तव में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति या पार्थिव एवं अपार्थिव में परस्पर विरोध इनमें से किसी एक के चूनाव की यातना, असमर्थता, द्वन्द युगों-युगों की समस्या है, किन्तु आधुनिक परिवेश में ये समस्याएँ कठिन एवं जटिल हैं जिन्हें नाटककार ने युग-बोध के साथ अंकित किया है।

प्रस्तुत नाटक में कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्धमत में दीक्षित होने एवं उसकी पत्नी अनुपम सुन्दरी के रूपाकर्षण में फंसे नन्द की कथा है। नाटक का कथानक द्वन्द के दो धरातलों पर संचरण करता है। एक स्तर पर नन्द सुन्दरी के रूप जाल में फंसा है उससे मुक्ति चाहता है, दूसरी ओर बौद्धमत की पुकार को स्वीकार करता है, लेकिन वह न तो पूर्णतया पत्नी का ही त्याग कर पाया और न ही पूर्णरूप से बौद्धमत में दीक्षित हो पाया। वह जबरन भिक्षुक बना दिया जाता है। जबरन उसके केश काट दिए जाते हैं, लेकिन वह फिर भी सुन्दरी के पास लौटता है। वह सुन्दरी के अधूरे श्रंगार को देखकर कहता है- “जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।” यहाँ अनुपम सुन्दरी की मान्यता एवं सोच टूट जाती है। उसकी सोच थी कि उसका पति नन्द कभी भी उसके सौन्दर्य पाश सक मुक्त होकर बौद्ध भिक्षु नहीं बन सकता। अतः यहाँ द्वन्द के दो धरातल हैं। यहाँ राकेश उद्देश्य नन्द के द्वन्द को आधुनिक मनुष्य के द्वन्द से जोड़कर उसे उजागर करना रहा है और इस उद्देश्य में वह सफल भी हुआ है। यहाँ महत्त्व इस बात का नहीं है कि उसने बौद्ध मत को स्वीकार किया या नहीं; महत्त्व इस बात का है कि उसकी चेतना द्वन्दग्रस्त रहती है जिसे रूपाचित करना नाटककार का अभीष्ट रहा है। स्वयं राकेश जी कहते भी हैं- “यहाँ नन्द एवं सुन्दरी की कथा एक असल मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में ‘आषढ का एक दिन’ के अन्तर्गत है।”

‘लहरों के राजहंस’ के नन्द और सुन्दरी की कथा तो ‘आधारमात्र’ है। उसका वास्तविक उद्देश्य तो सामयिक चेतनाओं अथवा आधुनिक मानव की द्वन्दग्रस्त चेतना का चित्रण करना है। नाटककार इतिहास को नहीं दोहराता वह तो इतिहास के माध्यम से आधुनिक परन्तु शाश्वत समस्याओं को चित्रित करता है। इसी कारण नाटक में कथ्य को प्रतीकात्मक रूप दिया है ताकि उसके ऐतिहासिक, पात्र, घटनाएँ, चरित्र आदि आधुनिक संदर्भों को व्याख्यायित कर सकें।’

नाटक के द्वन्द्वग्रस्त मुख्य पात्रों में आधुनिक युग-बोध सहज ही मिल जाता है। नन्द सुन्दरी और रचनांग में जो तड़प, व्याकुलता एवं मुक्ति की ललक है, ह आधुनिक द्वन्द्वग्रस्त मानव में देखी जा सकती है। उदाहरणतः श्यामांग का संवाद:

“बस कह दिया, तो हो गया! पत्तियाँ रचामों के लिए छोड़ दो! श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझी, तो कामोत्स नहीं होगा !.... श्वेतोंग कहता है कुछ सोचों नहीं।... पर सोचना न सोचना बस की बात है.... पिछले बसंत में आम कैसे बैराये थे! पेड़ों की डालियाँ अपने-आप हाथों पर झुक आती थीं।... परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार.... आम के वक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है ! कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करगी और यहाँ ... यहाँ रात-भर, न त्य होगा। आपानक चलेगा।।”

मुक्ति की आकांक्षा से वह कहता है-

“नहीं ... मैं सोच ... सोच कुछ भी नहीं रहा। चेस्टा कर रहा हूँ कि किसी तरह किसी तरह से सुलझ जाँँ और ... ।”

जब सुन्दरी श्व गार कर रही होती है और नन्द दर्पण को हाथों में लेकर सामने खड़ा होता है तब नेपथ्य से बौद्ध भिक्षुओं का यह समवेत स्वर सुनाई देता है-

**‘धम्मं शरणम् गच्छामि,
संघं शरणम् गच्छामि,
बुद्धं शरणम् गच्छामि ... ।’**

इस बुद्धमत के इस स्वर से नन्द प्रभावित होता है और उसके हाथों का दर्पण हिलकर टूट जाता है। तभी सुन्दरी पूछती है- “जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था .. या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?” उसके मन के संशय पर पर्दा हटा देता है। आधुनिक सभी पुरुषों के संबंधों में भी यह संशयग्रस्तता देखी जा सकती है। एक तरह से यह आधुनिक नारी का विद्रोही-स्वर है।

नाटक के अंत में नन्द एवं सुन्दरी का अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक व्यक्ति के हो अन्तर्द्वन्द्व है। नन्द कहता है- “जानता था कि वह प्रवृत्ति आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक क्यों नहीं सका ? क्यों मैंने जान-बूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्मरक्षा के लिए उस तरह लड़ गया ?”

क्षत-विक्षत हम दोनों हुए ... पलायन भी एक तरह से दानों नहीं ही किया...। क्यों? आत्म-विनाश और आत्मरक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे किया और क्यों? और इस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख कहीं ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?” इतना ही नहीं वह और स्पष्ट कहता है-

“या यह केवलमन का विद्रोह था... बिना विश्वास एक विश्वासके अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि उस समय मैं इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि (यह विश्वास मेरा नहीं है) मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।”

अतः बौद्धमत में उसका विश्वास नहीं झलकता, उसकी चेतना द्वन्द्वग्रस्त है। एक ओर बौद्धमत है और एक ओर सुन्दरी। नन्द फिर चाहता है-

“इतना समझ में आता है कि जिसे जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थाई हैं। सुख सुख नहीं है, कहीं पर फिसलते हुए पाँव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट... परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? आकाश में कहीं लटकते हुए नीले काले बिंदू-कोरे सिद्धान्तों के वे अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे हैं?”

नंद फिर कहता है ‘उन्होंने मेरे केश कटवा दिये तो क्या मैं व्यक्ति रूप में अधिक सत्य हो गया?’ वह फिर प्रश्न उठाता है- ‘जिहवा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो आता? कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है? कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएँगे? अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जाती।’ वह फिर सुन्दरी से कहता है- ‘मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है।’ अतः वह केश कटने के बाद भी सुन्दरी के रूपाकर्षण को नहीं छोड़ पाया है ओर बौद्धमत को स्वीकार भी नहीं कर पाया है। उसका द्वन्द आज के आधुनिक मानव का द्वन्द है, बल्कि युगों-युगों तक भी मानव चेतना का द्वन्द है। उसके प्रश्न आधुनिक मानव के प्रश्न है- “अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे ... जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों के एक साथ घेर लिया है। त्याग से से लड़कर भी मन को शांति नहीं मिली.... लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है... ऐसे किसी से जिसके पस लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं हैं। . .. मन में मृत्यु का भय है ... किसी भी प्रकार की मृत्यु का... परन्तु उस भय में साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न चिह्न. .. केवल एक प्रश्न चिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों ... पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उनसे जानना है... आज भी... और अभी...।”

नन्द शुरु से अन्त तक द्वन्दग्रस्त रहता है। उसकी द्वन्दग्रस्त चेतना को उजागर करना है। राकेश जी का उद्देश्य रहा है। यहाँ ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से आधुनिक स्त्री-पुरुष के संबंधों की पड़ताल कर उन्हें अभिव्यक्त किया गया है। इसी संदर्भ में डा. जयदेव तनेजा का कहना है -

‘नंद और सुन्दरी के माध्यम से राकेश ने जिस तरह औरत और मर्द के आपसी रिश्ते का रेशा-रेशा उधेड़ा है, उनके संबंधों को जैसी निर्ममता ओर निस्तुरता से विश्लेषित किया है, वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम या प्रमाण हैं

राकेश जी ने स्त्री-पुरुष के खोखले सम्बंधों की अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने यह भी अभिव्यक्ति किया है कि एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण है। तभी दो सुन्दरी कहती है- “वहाँ वह सुना कमलताल ... यहाँ कक्ष का यह सूनापन... लगता है आज घर अपना घर नहीं रहा... ।”

आज की जिंदगी का यह सूनापन स्त्री-पुरुषों की जिंदगी की निमति बना गया है। स्त्री कहाँ-कहाँ पुरुष कहाँ-कहाँ ? कुछ पता नहीं। अगर साथ भी है तो खालीपन महसूस करते हैं। होने को भी न होना ही मान लेते हैं। यह एक नया ‘कतचर’ आ रहा है जिस ओर नाटककार यहाँ इंगित कर रहा है। स्त्री और पुरुष दोनों ही बाह्य सुन्दरता को ही पसन्द करते हैं। तभी तो नाटक में केश कटवाने पर भी नन्द अपने केश वापिस लेना चाहता है, क्योंकि उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है। नंद का कहना है-

“उन्होंने कहा कि... वे अपने केशों की खोज में जा रहे हैं। जाकर तथागत से पूछना चाहते हैं कि उन्होंने उनके केशों का क्या किया? और यदि कुछ नहीं

किया, तो क्या उनके केश उन्हें लौटाये जा सकते हैं? उनकी पत्नी को उनके केशों की आवश्यकता हैं...।”

नन्द यह सब इसलिए कहता है, क्योंकि सुन्दरी नन्द को केश कर्तित देखकर चीख पड़ती है और उसका मनस्ताप फूट पड़ता है- “इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग... बस इनता ही तो इनकी समझ में आ पाता है।”

उपर्युक्त संवाद से आधुनिक मनुष्य का नारी के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। वैसे गम्भीरता से सोचा जाए तो युगों-युगों से ही पुरुष प्रधान समाज का नारी के प्रति यही दृष्टिकोण रहा है जो नन्द का सुन्दरी के प्रति रहा है। नन्द सुन्दरी के रूप पर ही आकर्षित है और नारी के रूप पर आकर्षित होना मनुष्य की युगों से ही वृत्ति रही है। वह नारी की हार्दिक भावनाओं को नहीं समझता वह यही समझता है कि स्त्री भी रूप सौन्दर्य और यौवन की प्यासी है। इसीलिए उससे प्रेम करती है जबकी सत्य यह नहीं है। अगर सत्य यही होता तो सुन्दरी केश कर्तित नन्द को देखकर यह नहीं कहती कि ये लाग बस इतना ही समझते हैं। पुरुष ही क्य स्त्री की भी तो यही मानसिकता है कि पुरुष का प्रेम पाने के लिए उसे रूपाकर्षण में ही बांधकर रखा जाए। इसीलिए सुन्दरी देवी यशोधरा को लांछित करती है कि तुममें आकर्षण होता तो गौतम बुद्ध राजकुमार सिद्धार्थ ही रहते बौद्ध न बनते। वह कहती है- “परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है।” अर्थात् वह अपने रूपाकर्षण में बांधती तो वह बांधकर ही रहते, गौतम बुद्ध न बनते। गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते? बात बहुत साधारण-सी है अलका! नारी का अपकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।”

आधुनिक नारी पाश्चात्य प्रभाव से देह सुख, भौतिक सुख को ही सबसे बड़ा सुख मानती है। नायिका सुन्दरी भी भौतिक सुख को ही सबसे बड़ा सुख मानती है। नायिका सुन्दरी भी भौतिक सुख को ही सब कुछ मानती है, जो मिथ्या और भ्रान्ति है। इस संदर्भ में डा. सुरेश अवस्थी का कहना- “सुन्दरी के रूपपाश में बंधे हुए अनिश्चित, अस्थिर और संशयी मन वाले नन्द की यही स्थिति होती कि नाटक का अंत होते-होते उसके हाथों में भिक्षा पात्र होता और धर्म-दीक्षा में उसके केश काट दिए जाते।”

एक और बात है कि आधुनिक नारी अपने पति को जबरन बाँधकर नहीं रखना चाहती। अगर उसका पति उससे खुश नहीं है तो वह उसे मुक्त करने में हिचकती नहीं। इस नाटक की सुन्दरी भी नन्द को मुक्त कर देती है। नाटक में जब अलका नन्द को सूचना देती है कि गौतम बुद्ध द्वारा पर भिक्षा लेने आए थे, किन्तु किसी ने भिक्षा नहीं दी इसलिए वे लौट गए। यह सुनकर नन्द क्षुब्ध और अस्थिर हो गया। तभी सुन्दरी पूछती है कि क्या सोच रहे हो। नन्द कहता है कि बुद्ध से क्षमा याचना के लिए मैं जाना चाहता हूँ। सुन्दरी उसे आज्ञा दे देती है, मुक्त कर देती है। अतः यह आधुनिक स्त्री-पुरुष का युगबोधपरक अंकन है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ‘लहरों के राजहंस’ नाटक में राकेश जी का मूल उद्देश्य युगों-युगों से मानव की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बीच द्वन्द्वगस्त चेतना को उजागर करना है और साथ ही पुरुष प्रधान मानसिकता का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी व्यक्त करना है। यदि यही नहीं, “आधुनिक नारी की विद्रोहात्मक भावना को भी उजागर करना है।

अध्याय - 8

लहरों के राजहंस की आधुनिकता

आधुनिकता क्या है? इस पर विद्वान एकमत नहीं हैं। डा. जयदेव तनेजा ने 'लहरों के राजहंस' नाटक की आधुनिकता पर विचार करते हुए आधुनिकता के बारे में लिखा है-

"हिन्दी में 'आधुनिक' और 'आधुनिकता' शब्द का प्रयोग ऐसी टोपी की तरह हो रहा है कि जिसे प्रत्येक व्यक्ति अवसर और अपने सिर के अनुरूप बना देता है। कहीं 'आधुनिकता' का अर्थ 'समय-सापेक्ष माना गया है तो कहीं उसका समबन्ध 'वर्तमान' या 'समसामापिकता' माना गया है तो कहीं उसका सम्बन्ध 'वर्तमान' या 'समसामयिकता' से जोड़ा गया है। किसी ने उसे 'अतीत से अलग' या 'नये' के रूप में स्वीकार कर प्रत्येक युग के अपने-अपने आधुनिक चरणों की चर्चा की है। तो किसी ने उसे विचार मूलक या दृष्टिकोणपरक मानकर प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया है। कोई उसे ऐतिहासिक चेतना से जोड़ता है तो कोई उसका अस्तित्व इतिहास के नकार में स्वीकार करता है। एक उसे परम्परा का विस्तार मानता है तो दूसरा परम्परा का सम्पूर्ण अस्वीकार। इससे हम इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'आधुनिकता' काई बनी-बनाई परिपाटी नहीं है, उसकी प्रकृति सूक्ष्म और संश्लिष्ट है तथा उसकी कोई स्थूल, पूर्व-निर्धारित और अपरिवर्तनीय दिशा नहीं है। 'आधुनिकता' एक मिश्र धारणा है जिसका निर्माण अनेक तत्त्वों के सम्मिलन से हुआ है। मोटे तौर पर वैज्ञानिक प्रगति और उससे जुड़ी हुई तमाम बातों को हम 'आधुनिकता' के अभिलक्षण मान सकते हैं, जैसे औद्योगिकरण साक्षरता, नगरीकरण, जटिल अर्थव्यवस्था, नर-नारी के समान अधिकार जाति-पाँति, ऊँच-नीच, धुआ-धूत का बहिष्कार इत्यादि।"

उपर्युक्त सुझाई गई तमाम बातें तो आधुनिकता के अभिलक्षण हैं लेकिन एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ये तमाम बातें अभिलक्षण हैं तो फिर आधुनिकता क्या है? इसका उत्तर स्वयं जयदेव तनेजा जी देते हुए दिखते हैं-

"वास्तव में उपरोक्त सभी बातों का जो प्रभाव मनुष्य और उसके जीवन पर पड़ा है- पड़ रहा है, और जीवन का जो एक नया रूप उभरा है, वही आधुनिकता है। मनुष्य का स्वभाव, व्यवहार और चिन्तन सब इससे कहीं गहरे में प्रभावित हुए हैं, और उसने मानव सम्बंधों और मूल्यों के परिवर्तित स्वरूप-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।"

बेशक, तनेजा जी आधुनिकता का उद्भव विज्ञान का परिणाम मानते हैं। लेकिन वे साथ ही यह भी स्वीकारते हैं कि- "कार्य-कारण दृष्टि से स्वयं विज्ञान, उद्योग और तकनीक वैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम है।" फिर वैज्ञानिक दृष्टि का अर्थ बताते हुए **जयदेव तनेजा** का कहना है- "निर्मम, निस्तुर होकर सत्य की तलाश करने की ललक। इस तलाश में मानव-वृद्धि, श्रद्धा, विश्वास, धर्म ईश्वर, परम्परा सबका परित्याग कर सकती है। सत्य के अनुसंधान के लिए वैज्ञानिक दृष्टि

संदेहवादी और नास्तिक होने से भी नहीं हिचकिचाती। यहीं आकर आधुनिकता बुद्धिवाद से जुड़ जाती है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद, विकासवाद आदि सब इसमें अन्तर्मुक्त हो जाते हैं। संभवतः इसीलिए अवचेतन, ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, अकेलापन, अजनवीपन, ऊब, विसंगति, संबंधों की जटिलता, उदासी और सम्प्रेषणहीनता आदि को आधुनिकता के लक्षणों के रूप में माना जाने लगा है।”

इस प्रकार आधुनिकता के लक्षण हैं- मानव के अवचेतन मन में ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, अजनवीपन, अकेलापन, ऊब, विसंगति, संबंधों की जटिलता, उदासी और सम्प्रेषणहीनता आदि। आधुनिकता से ही संबद्ध यही भी एक मूलभूत तत्त्व है कि देश-काल के साथ सचेतन मन की गहरी और तीव्र अनुभूति और यह अनुभूति पूर्णतया से वर्तमान परिस्थितियों को स्वीकार करके समसामयिक मुहावरों में सहज कलात्मकता से अभिव्यक्त हो जाए। इस आधुनिकता को निरूपित करने वाली दृष्टि के सामने जो समस्या आती है उसके बारे में विपिन अग्रवाल का कहना है- “आधुनिकता की मुख्य समस्या विषम वस्तु नहीं है... आधुनिकता की मुख्य समस्या अभिव्यक्ति की है।

अतः आधुनिकता का संबंध विषय से न होकर निरूपित करने वाली दृष्टि से है। आधुनिकता के संबंध में स्वयं मोहन राकेश का मत है- “आधुनिकता मन का एक ऐसा व्यापार (प्रक्रिया) है जो इसकी शक्तियों को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करता है और (वर्तमान) युग की घटनाओं तथा विशेषताओं के प्रकाश में वस्तुओं को देखने और उन्हें व्याख्यायित करने की दृष्टि देता है।” अतः जिस प्रकार चित्रकार हुसैन के रामायण पर आधारित राम, सीता, हुनमान आदि पौराणिक पात्रों के चित्र आधुनिक या प्राचीन ऐतिहासिक चित्र नहीं कहलाते, ठीक उसी प्रकार इतिहास-पुराण की कथावस्तु या पुरातन पाठों को लेकर आधुनिक दृष्टि से लिखा गया ‘लहरों के राजहंस’ नाटक भी ऐतिहासिक-पौराणिक न होकर आधुनिक ही कहलाएगा। इस संदर्भ में डा. जयदेव तनेजा का कहना है- “इसी दृष्टि से यदि ‘लहरों के राजहंस’ की आधुनिकता पर विचार करें तो हमें प्रतीत होता है कि बौद्धकालीन ऐतिहासिक परिवेश (जो स्वयं भी आधुनिकता के तमाम अभिलक्षणों से भरा पड़ा है) में राकेश ने नन्द और सुन्दरी को जिस प्रकार से और जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह पूर्णतः आधुनिक है। इसी आधुनिकता का मूल रहस्य नाटक के ‘ट्रीटमेंट’ और नाटककार के अपने वर्तमान से उसके गहरे ‘कन्सर्न’ में छिपा है। नन्द का अन्तर्द्वन्द, तनाव, अकेलापन, संशय उसकी अस्थिरता, व्यकुलता घुटन और जीचन-जगत में उसकी आसक्ति-नन्द के चेहरे की एक-एक रेखा, उसका उतार-चढ़ाव आधुनिक मनुष्य की स्थिति और उसकी नियति का प्रामाणिक दस्तावेज है। नन्द और सुन्दरी के माध्यम से राकेश ने जिस तरह औरत-मर्द के अपसी रिश्ते का रेशा-रेशा उधेड़ा है, उनके संबंधों को जैसी निर्ममता और निष्पूरता से विश्लेषित किया है- वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम या प्रमाण है।”

राकेश जी ने यहाँ अलका-श्यामाँग के रोमानी संबंधों के समकक्ष नन्द-सुन्दरी के आधुनिक बौद्धिक प्रेम-प्रसंग को पूरी नाटकीयता एवं काव्यात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। इसके प्रमुख चरित्र नन्द, सुन्दरी, गौतम बुद्ध ऐतिहासिक हैं, किन्तु इनाक चरित्रांकन पूर्णतः आधुनिक है। ये जटिल, संश्लिष्ट एवं व्यक्ति-वैचित्र्य सम्पन्न चरित्र हैं, जो इन्हें आधुनिक चरित्र बना देती है। इनके मानसिक उद्वेग, अन्तर्द्वन्द, तनाव कुंठाएँ, व्यग्रता और संशय इन्हें आधुनिक धरातल पर लाकर खड़ा कर देते हैं। वास्तव में मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है। इसी कारण राकेश ने प्रस्तुत नाटक के सभी पात्रों को मनुष्यता के धरातल पर प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि इतिहास में देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित गौतम बुद्ध को भी नाटककार ने सामान्य मनुष्यता के स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है। अतः यह कथन सिद्ध होता है कि जो जितना अधिक मनुष्य है, वह उतना ही अधिक आधुनिक है। इस नाटक में यह उक्ति सार्थक भी है, क्योंकि नन्द को श्यामाँग

और सुन्दरी को अलका से अभिन्न मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने में ऊँचे-नीचे या छोटे-बड़े की दीवारें बीच में नहीं खड़ा होती, बल्कि वे मानवीय स्तर पर संबंधों को खड़ा करते हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में राकेश ने आधुनिक दृष्टिकोण को अपनाया है। इस विषय पर डॉ. जयदेव तनेजा का कहना है -

“चरित्रांकन की दृष्टि से श्यामोंग के अस्पष्ट, उलझे और ऊल-जलूल संवादों में विसंगति का बोध भी लेखक के आधुनिकता बोध का ही परिणाम लगता है। आधुनिक नाटक में घटनाएँ बाहर कम, भीतर अधिक घटित होती है। घटनाओं की यह अन्तर्मुखता आधुनिक नाटक की एक मुख विशेषता है। इसी विशेषता को अपने ढंग से रेखांकित करते हुए मोहन राकेश के ‘लहरों के राजहंस’ की ‘पहली भूमिका’ में कहा है कि “नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में ‘आषाढ़ का एक दिन’ के अन्तर्गत है” इसे आधार बनाकर डॉ. प्रेमपति ने व्यंग्य करते हुए प्रश्न उठाया है- अर्थात् वर्तमान की संगति अन्तर्द्वन्द में ही है और यही आधुनिकता है। क्या नाटकों के ऐतिहासिक संदर्भ में राष्ट्रवाद की जगह अन्तर्द्वन्द रख देने मात्र से नाटक रोमनी परम्परा से निकलकर आधुनिक नाटक बन जाते हैं?”

तनेजा जी आगे लिखते हैं कि-

“काम का विचार है कि आधुनिक मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर एक सिधा-विकीर्ण जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। अन्तर्विरोध, असंगति, तनाव और अकारण मानसिक यातना का यह अभिशाप ‘लहरों के राजहंस’ का नन्द भी आज के व्यक्ति की तरह ही भोगता है और उसक विश्लेषण प्रस्तुतीकरण राकेश आज के नाटककार की तरह ही करता है। . . . स्ट्रिडबर्ग नाटक में आधुनिकता की मूल शर्त ‘मानसिक प्रक्रिया का विश्लेषण’ मानते हैं। राकेश ने इस मूल शर्त को अपने प्रत्येक नाटक की आधारशिला बनाया है।”

सदैव से ही संशय अथवा संदेह ने मानव जीवन में एक विशेष भूमिका निभाई है। आधुनिक युग में तो इस भाव की केन्द्रीय भूमिका हो गयी है। इसी कारण आज अनेक विद्वान संशय को आधुनिकता का एक लक्षण ही नहीं, बल्कि एक मूल्य मानने लग गए हैं। यह कहना गलत न होगा कि पौराणिकता में जो स्थान श्रद्धा और विश्वास का था, वही स्थान अब आधुनिक जीवन में संदेह अथवा संशय का हो गया है। इस बात को डॉ. जयदेव तनेजा भी स्वीकार करते हैं- “इसलिए ‘लहरों के राजहंस’ में नन्द सुन्दरी के प्रेम-प्रसंग में ‘श्व गाराभास’ की स्थिति वास्तव में इसके आधुनिक होने का ही प्रमाण है। संशय ही वह धुरी है जिस पर नन्द और सुन्दरी घूम रहे हैं। नन्द का स्वयं को चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति समझना और लीलती दिशाओं को खुद-अपने-अपने दृष्टियों पर डगमगाते हुए अनुभव करना, उसे प्राचीन दार्शनिक की अपेक्षा आधुनिक वैज्ञानिक के अधिक निकट ले आता है जो यह मानता है कि प्रत्येक ज्ञान का आरम्भ बिन्दु श्रद्धा नहीं संशय है।”

संशय ही नहीं आधुनिक-युग में तो व्यंग्य ने भी विशेष स्थान बना लिया है। इस बात को स्वीकारते हुए डॉ. शेरजंग गर्ग अपनी ‘स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य’ नामक पुस्तक में लिखते हैं- “आज का जीवन निश्चय ही विभिन्न प्रकार की विसंगतियों और विषमताओं द्वारा विसंजित किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में इस जीवन के भोक्ता मनुष्य की अभिव्यक्ति में तिम्रता, कडुवाहट

और कसैलेपन का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। बहुत गहरे में चोट खाया हुआ मनुष्य जब बोलेगा तब व्यंग्य ही बोलगा, जब कुद करेगा तो प्रहार ही करेगा।" ये प्रहार, व्यंग्य 'लहरों के राजहंस' के पहले अंक में सुन्दरी द्वारा यशोधरा और गौतमक बुद्ध पर देखे जा सकते हैं और तीसरे अंक में गहरी चोट खाये नन्द और सुन्दरी के तीखे, कडुवे संवाद (व्यंग्य) आधुनिक युग परिवेश को दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के रूप में सुन्दरी के निम्न संवाद-

"अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही ना होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी-तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते।"

"क्यों यह सच नहीं ? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े थे ? बात बहुत साधारण-सी है। अलका! नारी को आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"

सुन्दरी तो गौतम बुद्ध पर भी व्यंग्य प्रहार करती हुई कहती है-

"लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है, पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है।"

एक और उदाहरण देखिए-

"कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पस आकर इनसे भी निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी और देखेंगे, फिर कांपती हुई लहरें जिधर ले जाएँगी, उधर को तैर जाएँगे शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा। मैं चाहूँगी कि उस दिन.....।"

नाटकांत में नन्द के संवाद भी इसी कोटी के हैं-

"कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुतः किसे है, उन्हें या मुझे। उन्होंने कहा, मैं, मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है... सब किसी उँगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्न नहीं है.... पर मैं पूछता हूँ कि होने-न-होने में कोई अंतर नहीं, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए?"

इन व्यंग्य प्रहारों से एक बात तो स्पष्ट है कि राकेश जी ने यहाँ व्यंग्य का प्रयोग केवल संवादों के रूप में ही नहीं बल्कि नाटकीय स्थितियों के भीतर से 'नाट्य विडम्बना' को सार्थक ढंग से उभारने के लिए भी किया है।

इस संदर्भ में आटटेयर कामू 'द मिय ऑफ सिसिफ्स' में कहते हैं- "विसंगति का सही बोध मेरे अन्दर तीन सत्यों को जन्म देता है- जीवन को प्रति मेरी ससक्ति, मेरी स्वाधीनता और मेरा विद्रोह भाव।" ये तीनों ही रूप हमें नन्द के चरित्र में मिल जाते हैं। जीवन के प्रति नन्द की संसक्ति उसे बड़े भाई युग पुरुष गौतम बुद्ध की अवहेलना भी करा देती है और अपनी स्वाधीनता के लिए वह त्याग से ही नहीं अपनी पत्नी सुन्दरी से भी अलग हो जाता है। वह एक स्तर पर निवृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनों ही दर्शनों का विद्रोह भी करता दिखाई देता है। इसीलिए वह नाटकांत में अपने कटे हुए देश सुन्दरी के लिए लेने के लिए वापिस गौतमक बुद्ध के पास जाने के लिए

कहता है-

“तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे..... अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे। जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक-साथ घेर लिया है। व्याघ्र से लड़कर भी मन को शांति नहीं मिली..... लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है ऐसे किसी से जिसके पस लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं है।..... मन में म त्तु का भय है..... किसी भी प्रकार की म त्तु का..... परन्तु उस भय में एक साथ आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न..... केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों. पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उनसे जानना है..... आज ही और अभी.।”

अतः नाटक के शुरु से अंत तक नंद की अपनी स्वतन्त्रता और प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के वरण का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और राकेश जी उनकी इस संघर्ष एवं द्वन्द की चेतना को 'लहरों के राजहंस' नाटक में रूपायित कर देते हैं।

डॉ. जयदेव तनेजा का मानना है कि राकेश जी का नारी विषयक दृष्टिकोण आधुनिकता की दृष्टि केवल एक ही बात मोहन राकेश के विरुद्ध जाती है और वह है उनका नारी-विषयक दृष्टिकोण। सुन्दरी को भोग के प्रतीक रूप में चित्रित करके राकेश ने मध्यकालीन दृष्टि का परिचय दिया है। आधुनिकता-विरोधी इस दृष्टिकोण का प्रमाण हमें उनके अन्य नाटकों में भी मिल जाता है। घोर अहंकारी पुरुष के निरंकुश व्यापक-अधिकारों के प्रति राकेश सदैव पूर्वाग्रही रहे हैं। इस एक बिन्दु को छोड़कर राकेश का जीवन और साहित्य निःसंदेह आधुनिकता के रक्त-मांस, मज्जा और प्राणत्व से निर्मित है।”

आधुनिकता की आवधारणा के मूल में यह बात है कि आधुनिकता का अंत नहीं होता, वह एक प्रक्रिया है जो निरन्तर प्रहवान है। इसी कारण नाटक में नन्द के द्वन्द का अन्त कहीं भी नहीं है। नन्द सुन्दरी से कटकर चला जाता है, वह फिर लौट आता है। यहाँ भी अन्त नहीं है, वह फिर कुछ प्रश्नों के उत्तर पूछने के लिए बुद्ध के पस आता है। अतः उसका द्वन्द अन्तहीन है। इस विषय में डॉ. इन्द्रनाथ मदान का कहना है- “इस नाटक का अन्त अन्तहीन ही हो सकता है और इस अन्तर्बंध में आधुनिकता की चुनौती है जो अन्त को निश्चित नहीं होने देती, अन्त को नए बिन्दुओं की खोज में नाटक के बाहर फँक देती है। इस तरह, आधुनिकता की प्रक्रिया बन्द होने से इन्कार करती है।”

रस की दृष्टि से आधुनिकता के संदर्भ में इस नाटक पर विचार करते हुए जयदेव तनेजा ने कहा- “दर्शक-पाठक पर पड़ने वाले अन्तिम प्रभाव की दृष्टि से कोई भी रचना तब आधुनिक होती है जब वह उसे बैचैन और परेशान करती है, गहराई से झकझोर कर उसकी समाधिस्थता भंग करके उसे सोचने पर विवश करती है। यही आकर आधुनिक नाटक के संदर्भ में तनाव, द्वन्द और संघर्ष का तत्त्व प्रासंगिक हो जाता है और 'रस' तथा 'आनन्द' निरर्थक और अप्रासंगिक इसलिए 'लहरों के राजहंस' में 'रस' का शोधार्थी जब 'रसाभास' की उपलब्धि कर हताश और परेशान होता है तो वास्तव में वह प्रकारान्तर से इस नाटक के आधुनिक होने का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है।”

'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भारतमुनि की दृष्टि से देखा जाए तो इस तीन अंकीय नाटक की वस्तु संरचना और अन्य रंग-धर्मिताएँ, दृश्य-योजना, क्रिया-कलाप, संधिया, पात्र-सृष्टि कथानक

संगठन आदि आधुनिक यथार्थवादी ठहरते हैं, क्योंकि इसे नाटककार ने परम्परागत नाट्य-रूढ़ियों से मुक्त आधुनिक परिवेश में निर्मित किया है। स्वयं नाटककार का कहना है- “जातीय चेतना के नाम पर अपने संस्कारों को रूढ़ बनाना या अंतर जातीय चेतना के नाम पर विजातीय संस्कार ख्वाह-मख्वाह आरोपित करना, दोनों ही गलत बातें हैं।” इसी कारण उनके नाटकों की आधुनिकता भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों के श्रेष्ठतम् जीवन्त अंशों के अद्भुत समन्वय से उत्पन्न होती है। भारतीय नाटकों के बारे में राकेश की धारणा थी कि “हम प्रयोगशीलता के नाम पर अनुकरणात्मक प्रयोग करते हुए किन्हीं वास्तविक उपलब्धियों तक नहीं पहुँच सकते, केवल उपलब्धियों के आभास से अपने को अपनी अग्रगामिता का झूठा विश्वास दिला सकते हैं। यह दृष्टि बाहर से रंगमंच को एक ‘नया’ और ‘आधुनिक’ रूप देने की है अपने निजी जीवन और परिवेश के अन्दर से रंगमंच की खोज की नहीं।” राकेश जी इस उक्ति पर खरे उतरते हैं। उन्होंने अपने सभी नाटकों में निजी जीवन एवं परिवेश के अन्दर से आधुनिक भारतीय रंगमंच की खोज की परी कोशिश की है।

अतः ‘लहरों के राजहंस’ की मूल संवेदना यूगों-युगों से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के बीच मानव की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को पात्रों एवं उनके संघर्ष के द्वारा नाटककार राकेश ने संपूर्णतः आधुनिक बोध के साथ अभिव्यक्त किया है।

अध्याय - 9

अभिनेयता

नाटक से सम्बन्धित अभिनेयता और रंगमंचीयता दो अलग-अलग तत्त्व हैं। रंगमंचीयता शब्द इस ओर संकेत देता है कि अमुक नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित होने के उपयुक्त है या नहीं, अर्थात् रंगमंच में नाटकीय दृश्यविधान आता है और अभिनय का सीधा संबंध अभिनेता से है। अर्थात् पात्रों के कार्य-व्यापार से है। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में अभिनय के चार अंग बताए हैं -

1. आंगिक : शारीरिक अंगों से किया जाने वाला अभिनय
2. वाचिक : वाणी के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति
3. आहार्य : वेषभूषा, साज-सज्जा (मेकअप) से अपने को प्रकट करना।
4. सात्त्विक : एकाग्र मन से भय, आश्चर्य, उत्सुकता आदि का अभिनय।

‘अभिनय’ शब्द समग्र परिभाषिक अर्थ में नाट्य प्रयोग की सकल सम्भवना व प्रक्रिया सूचित करता है और इस सकल सम्भावना और प्रक्रिया को चरितार्थ करने वाला अभिनेता ही होता है। अभिनेता नाट्य-अभिनय के द्वारा ही अपने आप को प्रकट, परिभाषित, विस्तारित और रूपांतरित करता है और वह देह, वाणी, बाह्य सामग्री और मन को आंगिक वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय से ही निस्पन्न करता है।

अतः ‘लहरों के राजहंस’ नाटक की अभिनेय तत्त्वों के आधार पर समीक्षा करना तर्क संगत ठहरता है।

1. **आंगिक अभिनय** : शारीरिक अंगों के द्वारा किया गया अभिनय आंगिक अभिनय कहलाता है। इस अभिनय के संकेत यहाँ स्थान-स्थान पर पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं, उदाहरण के रूप में सुन्दरी के निम्न संवाद में रचामाँ और अलका का आंगिक अभिनय देखा जा सकता है- सुन्दरी - हाँ, इसी चेष्टा से तो ये सुलझेगी ! जाओ, जाकर यह काम किसी और को सौंप दो और...।

श्यामाँग जैसे बहुत प्रयत्न से आगे सुनने की प्रतीक्षा करता है। (कुछ शीघ्रता के साथ) और कहीं एकांत में बैठकर सोचो कि जब काई काम हाथ में ना रहे, तो हाथों को क्या करना चाहिए।

श्यामाँग उलझी हुई पत्तियों को, फिर अपने हाथों को देखता है। फिर जैसे कुछ भी न सोच पाने को पत्तियों के ढेर में उलझा हुआ झुककर अभिवादन करता है। बाई ओर के द्वार से जाते हुए वह एक बार अलका की ओर चुंधियाई-सी आँखों से देख लेता है। सुन्दरी पलभर शंगार कोष्ठ के पास रुकती है, फिर मत्सयाकार आसन पर जा बैठती है।

तू अपने सपने की बात कह रही थी न अलका..... क्या कह रही थी... क्या देखा था... सूखा सरोवर पत्रहीन व क्ष और धूत-भरा आकाश?

अलका हॉठ काटकर सिर हिलाती है और उसके पास चली जाती है।

2. **वाचिक अभिनय** : ऊपर भी संकेत किया जा चुका है कि पात्रों द्वारा वाणी के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति को वाचिक अभिनय कहते हैं। कोई भी अभिनेता नाट्य-अभिनय में वाणी से ही परिभाषित करता है। इस अभिनय के भी नाटक से यथानश्चक संकेत मिल जाते हैं, उदाहरण स्वरूप सुन्दरी का परिहास के स्वर में बोलना एवं अलका का अंतमुख हो कहना - सुन्दरी (परिहास के स्वर में) सुना है सच होते हैं। इसीलिए तो उपाय करना होगा नहीं यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।

अलका (कुछ अंतर्मुख) मैं और भिक्षुणी का वेश... नहीं, मैं ऐसी बात नहीं सोच सकती। अभी नहीं... मैं तो यह सोचकर ही सिहर जाती हूँ कि कल... सच, कल भिक्षुणी के वेश में देवी यशोधरा कैसी लगेगी, देवि?

3. **आहार्य अभिनय** : वेशभूषा, मेकअप और मंच सामग्री से जुड़ा यह अभिनय एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें निर्देशक की भूमिका विशेष महत्त्व रखती है। क्योंकि किस पात्र की वेशभूषा कैसी हो, अभिनय करते समय उसके हाथों में प्रसंगवश क्या हो या न हो यह सब निर्देशक पर निर्भर करता है, परन्तु नाटककार भी अपने नाट्य-शिल्प की कौशलता से कहीं-कहीं संकेत दे देता है। 'लहरों के राजहंस' में भी राकेश जी ने आहार्य अभिनय के पर्याप्त संकेत दिए हैं। यथा-

“अलका अपने को व्यस्त के लिए शं गार कोष्ठ की सामग्री को सहेजती है। फिर चबूतरे के पास जाकर तकियों की सलवटें निकालने लगती है।”

यहाँ लेखक ने शं गार कोष्ठ की सामग्री भर कह दिया है। अब सामग्री में क्या-क्या दिखाना है यह सब निर्भर निर्देशक पर ही करता है। इसी प्रकार मदिराकोष्ठ, चषक मदिरा आदि का भी प्रयोग किया गया है-

“नंद मदिराकोष्ठ के पास आकर चषक में मदिरा डालता है। तभी सुन्दरी की दृष्टि उस पर पड़ती है।” (चौंककर) आप?... आप कब आए? अभी-अभी तो मैं...। अतः आहार्य अभिनय के पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं।

4. **सात्विक अभिनय** : एकाग्र मन से किया जाने वाला भय, आश्चर्य और उत्सुकता आदि का अभिनय सात्विक अभिनय कहलाता है। तकनीक की दृष्टि से भरतमुनि ने विस्तार से विचार नहीं किया, इसका एक ही कारण लगता है, बाकी अभिनय तत्त्वों की तकनीक बताई जा सकती है, सात्विक की नहीं। अभिनेता सात्विक अभिनय में अपने को हर-बार एक नए सिरे से परिभाषित करता है। सात्विक अभिनय का प्रयोग हर बार नया हो जाता है, क्योंकि किसी भी नाटक को फिर से खेलते समय केवल आहार्य में उपरी फेरबदल या आंगिक या वाचिक की अदायगी में कुछ घटा या जोड़ देने से प्रयोग में आमूलभूल परिवर्तन नहीं हो जाता। वास्तव में सात्विक को ही हर बार नए सिरे से करना होता है, इसीलिए एक ही नाटक, एक ही रंगमण्डली, एक ही अभिनेता द्वारा रंगमंच पर किया जाने पर हर-बार नया हो जाता है। 'लहरों के राजहंस' नाटक में सात्विक अभिनय के पर्याप्त संकेत विद्यमान हैं।

श्वेतांग - (कुछ संकोच के साथ) मैं कहना चाहता था देवि, कि आज की रात ...।

सुन्दरी - (अधीर होकर) मैंने जो आदेश दिया है, उसका पालन करो। जाओ।

यहाँ पर संकोच के साथ संवाद बोलना या अधीर होकर बोलना सात्विक अभिनय ही है। तब

तक कोई भी पात्र वास्तविक पात्र की ही तरह अधीर नहीं होकर बोलता तब तक सात्विक अभिनय नहीं कहला सकता। इसी तरह मैगेय का निम्न संवाद देखिए-

(गंभीर भाव से आगे आता हुआ) हाँ, पहला... और, शायद एकमात्र अतिथि!

इसी तरह सुन्दरी का निम्न संवाद देखिए

सुन्दरी - (आपे से बाहर होकर) अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आये मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ ये होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएँ। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतीक्षा में वे न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं...।”

अतः प्रस्तुत नाट्य कृति में अभिनेय की दृष्टि से अभिनय के चारों तत्व-उमंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक मिल जाते हैं और इन्हीं में रहकर नाटक मंच पर अभिनीत होता है। नाटक में वर्णित कुद चित्र दर्शक की जिज्ञासा को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं जो प्रतिकात्मक अर्थ रखते हैं। जैसे नाटक के मध्य में चित्रित प्रेम-प्रसंग, दर्पण का हिलना और गिरकर टूट जाना। इसी तरह श्यामांग की दोहरी प्रतीकात्मक भूमिका और उसका प्रलाप भी दर्शक की जिज्ञासा को बढ़ाता है। किन्तु नाटक की भूमिका में डॉ. सुरेश अवरथी ने इसे अनुचित एवं दुवर्धि माना है -

“लेकिन श्यामांग प्रसंग नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रुचि और नाटक के सहज प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामांग की चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यों और कथनों में अनत्य स्पष्ट नहीं है और ऐसा लगता है कि उसके संबंध में नाटककार द्विधाग्रस्त है। आरम्भ में लगता है कि श्यामांग और अलका का अत्यन्त, सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुन्दरी और नंद के उद्याम, मुखर और कामासिन्त प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय सिद्धि की चेस्टा करता है और फिर बाद में वही श्यामांग नंद के अस्थिर और द्वन्द्व जंजीर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है।... श्यामांग प्रतिक बनकर नाटकीय कथा के सीधे, स्पष्ट द्वन्द्व को केवल अस्पष्ट, नहीं बनाता, बल्कि वह वस्तु विधान को भी कमजोर करता है। नेपथ्य से श्यामांग के स्वर का जिस प्रकार संगीत-खण्डों के समान प्रयोग किया गया है, वह प्रदर्शन को भी कमजोर और कृत्रिम बना देता है।”

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि डॉ. अवरथी स्वयं उसे नंद और सुन्दरी के उद्याम प्रेम का प्रतीक मानते हैं, फिर भी यह विरोधाभास क्यों? श्यामांग नंद और सुन्दरी के अन्तर्द्वन्द्व को गहरा करने के निमित्त ही प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

निष्कर्षतः लहरों के राजहंस एवं सफल अभिनेय नाटक है और इसे अनेक बार मंच पर प्रतिभाशाली, प्रयोगशील निर्देशकों के द्वारा अभिनीत भी किया जा चुका है।

अध्याय - 10

रंगमंचीयता

कुछ विद्वान रंगमंचीयता और अभिनेयता को एक ही मानते हैं जबकि यह भ्रामक धारण है। वास्तव में दोनों प थक्-प थक् तत्त्व है। रंगमंचीयता शब्द इस ओर संकेत देता है कि अमुक नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित होने के उपयुक्त है नहीं, अर्थात्-रंगमंच में नाटकीय दृश्य विधान आता है। रंगमंचीयता और अभिनेयता के अभाव में किसी भी नाट्यालेख को नाटक की संज्ञा देना समीचीन नहीं होगा।

जब नाट्य-आलेख रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण के माध्यम से अपने नाट्यानुभव को पूर्ण संप्रेषित कर देता है तब नाटककार की सृष्टि साकार रूप धारण कर लेती है और इस सृष्टि की पुनर्सृष्टि करता है- निर्देशक, रंगशिल्पी और अभिनेता के माध्यम से। नाट्य-रचना की अंतिम परिणति रंगमंचीय अभिव्यक्ति के रूप में ही घटित होती है। अगर यह अभिव्यक्ति रंगमंचीय रूप में सफल नहीं हुई तो मानना चाहिए कि नाटक अपनी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में कहीं-न कहीं अवरुद्ध हो गया है। नाटक की रंगमंचीयता के संदर्भ में धर्मवीर भारती का कहना है-

“नाटक जब तक प्रदर्शित नहीं होता उसके गुण-दोष छिपे रह जाते हैं। रंगमंच ही उसकी सूक्ति एवं सीमा जागर करता है। नाटक यदि मंचित हो न हो तो उसका विकास असंभव है।”

मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी नाट्य-जगत के मसीहा माने जाते हैं। उनके दोनों ही नाटकों का अनेक बार मंचन हो चुका है। उनका पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' प्रकाशित होते ही रंगमंच पर खेला गया। खेलते ही इसे अपार ख्याति मिली। यह नाटक दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, कलकत्ता, नागपुर एवं ग्वालियर आदि स्थानों के साथ-साथ अमेरिका, कनाडा अदि विदेशों में भी मंचित हो चुका है। 'लहरों के राजहंस' में रंगमंचीयता के सभी गुण मौजूद होने के कारण ही यह अनेक बार मंचित हो चुका है। रंगमंच से गहन रूप से जुड़े सप्रसिद्ध निर्देशक श्यामानन्द जालान एवं ओमशिवपुरी के निर्देशन में यह नाटक दिल्ली, कलकत्ता एवं इलाहाबाद में कई बार मंचित हो चुका है।

रंगमंच को लेकर यहाँ मोहन राकेश सतत जागरूक दिखाई देते हैं। उन्होंने इस नाटक में आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-शैली को अपनाया है। इस संदर्भ में डॉ. सुरेश अवस्थी का मत है-

“लहरों के राजहंस' आधुनिक उसी पद्धति के व्यवहारों और रूढ़ियों का पालन किया गया है, एक ही दृश्यबंध (set) पर नाटकीय कथा घटित होती है और कथा का विभाजन किया गया। यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति में एक दृश्यबंध और तीन अंकों वाले नाटकों का विकास आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रदर्शन की परिस्थितियों तथा साधनों के कारण हुआ है और उसके पीछे एक शिल्पगत अनिवार्यता है।”

अतः 'लहरों के राजहंस' एक सफल रंगमंचीय नाटक है, फिर भी अपने विषय की विवेचना के लिए हम इसकी रंगमंचीयता पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

1. कथानक की दृष्टि से -

'लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक धरातल पर रचा गया काल्पनिक रोमांस नाटक है। इसमें एक ऐतिहासिक और प्रख्यात प्रसंग को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत आचार्यों ने नाटक की कथा वस्तु का प्रख्यात होना आवश्यक मना है। इस विषय में आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में लिखा है "नाटक रत्यातव तं स्यात् पंच संधि सर्मान्वतम्" अर्थात् नाटकीय कथ्य प्रख्यात हो और पांच संधियों में समन्वित हो। इस नाटक के ऐतिहासिक कथानक के बारे में स्वयं नाटककार कहता है- "प्रस्तुत नाटक का अधार ऐतिहासिक है ... कथा का आधार अश्वघोष का 'सौन्दरानन्द' काव्य है परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का 'सौन्दरानन्द' भी है, क्योंकि संस्कृत तथा मालि भाष में जो कथा उपलब्ध थी, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है। एक काल्पनिक अन्विति से उसे विस्तार दिया है। 'धम्मपद' की टीका में नन्द और सुन्दरी की जो कथा है, 'सौन्दरानन्द' की कथा प्रभाव और विस्तार में उसे कहीं आगे जाती है।... यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि उसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है।" अतः ऐतिहासिक कथानक अवश्य है पर इसमें कल्पना का समावेश भी है। यही कारण है कि नाटक अपनी रोचकता में जहाँ पुरातनता की याद दिलाता है, वहीं उसमें चित्रित अन्तर्द्वन्द्व विशुद्ध आधुनिक संदर्भ लिए हुए है। अतः बेशक आधार ऐतिहासिक हो पर रूपाचित वर्णन आधुनिक है। इसक विषय में डॉ. सुरेश अवरथी का कहना है-

"लहरों के राजहंस' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शक्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों का अन्तर्विरोध है। जीवन के प्रेम और श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की भी स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र बिन्दु है। धर्म-भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है।" अतः इस नाटक का कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक है। नन्द एक ओर प्रवृत्ति मार्गी अनुपम सौन्दर्य युक्त अपनी पत्नी सुन्दरी के रूपजा में फंसा है। उससे निकलने की छटपटाहट है, मुक्ति की आकांक्षा है तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग से प्रभावित है जिसे अपनाने की तीव्र आकांक्षा है। एक ओर उससे सुन्दरी का त्याग नहीं किया जाता तो दूसरी ओर बौद्धमत को पूर्णतः स्वीकार भी नहीं किया जाता है। लेखक उसकी इस द्वन्द्वगस्त चेतना को ही आधुनिक संदर्भ में व्यक्त करता है। स्वयं राकेश जी का कहना है- "यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा आश्रय-मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'आषाढ का एक दिन' के अन्तर्गत है।"

2. दृश्य योजना -

इस नाटक की दृश्य- योजना बड़ी ही आकर्षक एवं व्यस्थित ढंग की है। यह नाटक तीन

अंकों में विभाजित है। तीनों ही अंक एक ही दृश्यबंध (set) पर मंचित होते हैं। अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया है। घटनाओं का केन्द्र सुन्दरी का कक्ष है। जिसमें सभी घटनाएँ घटित होती हैं। दृश्य-बंध के बारे में लेखक प्रारम्भ में ही अपनी निर्देशकीय वृद्धि से कहता है-

दाईं ओर गोलाकार चबूतरा। सुंदर विधावन, तकिए। पीछे एक ऊँचा दीपाधार; शिखर पर पुरुषमूर्ति-बाहें फैली हुई तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुई। बाईं ओर एक झूला और उससे थोड़ा हटकर एक मत्स्याकार आसन। आसन के पास ही मदिराकोष्ठ। इसी ओर मंच के आगे के भाग में एक छोटा सा दीपाधार-शिखर पर नारीमूर्ति-बाहें संवलित तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई। दाईं ओर आगे के कोने में श्वंगारकोष्ठ। खुले भाग में डोरी से बंधी पत्तियों का ढेर।

एक द्वार सामने, खुला होने पर पीछे के गबाक्ष दिखाई देते हैं। दूसरा दाईं ओर, अंदर के कक्षों में जाने के लिए। तीसरा बाईं ओर; मत्स्याकार आसन और दीपाधार के बीच बाहर उद्यान में जाने के लिए।

पर्दा उठने पर मंच पर दो व्यक्ति हैं, श्वेतांग और श्यामण। श्वेतांग अग्निकाष्ठ से बड़े दीपाधार के दीपक जला रहा है। श्यामंग पत्तियों के ढेर में उलझा हुआ उन्हें सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है।

इसी दृश्य-बंध पर नाटक को तीनों अंक प्रदर्शित होते हैं। हो, एक बात और आजकल नाटकों में मध्यान्तराल भी रखा जाता है। इसी दृष्टि से इस नाटक को खेलते समय अधिकतर निर्देशक दो अंकों के उपरान्त ही दस या पन्द्रह मिनट का मध्यान्तराल भी रखा देते हैं। इस नाटक का कथ्य यथार्थ और काल्पनिकता से ऐतिहासिकता का पुट देकर गढ़ा गया है। वो भी इतना गंभीर कि दर्शक वर्ग को मध्यान्तराल में भी सीधे तौर पर एक मजबूती के साथ पकड़े रहता है।

3. संकलन त्रय -

संकलन-त्रय से अभिप्राय काल, स्थान और कार्य की नाट्य-आन्वितियों से है, अर्थात् समय की एकता, स्थान की एकता तथा कार्य की एकता।

(क) **समय की एकता:** संस्कृत नाट्याचार्य समय की एकता के संबंध में 'अंक मेंकाल-नियम' के अन्तर्गत विचार करते हैं। लेकिन आधुनिक नाट्य परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ परिवर्तन हो चुका है। आज के रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ लिया जाता है कि नाटक एक ही समय में समाप्त होना चाहिए इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रस्तुत नाटक लगभग दो घंटों में खेला जा सकता है।

(ख) **स्थान की एकता :** भारतीय नाट्यशास्त्रकार स्थान की एकता को प्रपिदित करते हुए इसका संबंध 'देश नियम' से लेते हैं। इसका अर्थ भी परिवर्तित हो गया है। नाटक एक ही समय में 'एक ही स्थान' पर होना चाहिए जिससे कि पात्रों और दर्शकों को स्थान-परिवर्तन न करना पड़े। स्थान-परिवर्तन दर्शक में उबाऊपन आ जाता है और नाट्यानुभूति के रसार-वादन में भी बाध्यता आती है।

इस दृष्टि से यह नाटक एक ही स्थान पर, एक ही रंगमंच पर, एक ही समय के बखूबी से खेला भी जा सकता है। और खेला भी जा सकता है, अतः कोई भी बाधा नहीं है।

(ग) **कार्य की एकता:** इसका अर्थ है कि नाटक में ऐसी कोई भी घटना समाहित न की जाए जो प्रमुख घटना से संबंध न रखती हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि नाटक में गौण कथाओं का समावेश ही न किया जाए। आवश्यकतानुसार गौण कथाओं का समावेश इस ढंग से हो कि यह मूल कथा के विकास में सहायक और इसमें संयोजित हो।

इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक में कार्य की एकता विद्यमान है। मूल रूप से इसमें एक ही घटना व्यापक है, नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजगार करना। अतः संकलन-त्रय की दृष्टि से यह सफल रंगमंचीय नाटक है।

4. मंच सज्जा -

मंच की प्रक्रिया में लेखक की स्थिति एक अजनबी जैसी होती है। यह सच है, किन्तु यह भी सच ही है कि रंगमंच के बारे में लेखक का ज्ञान सीमित होता है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि लेखक गम्भीर रूप से रंगमंच से जुड़े हुए नहीं होते, परन्तु आज स्थिति बदल गयी है। फिर मोहन राकेश के बारे में तो यह बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता कि इनका रंगमंच का ज्ञान सीमित है, क्योंकि इनके प्रत्येक नाटक का एक नहीं अनेक बार मंचन हो चुका है। 'लहरों के राजहंस' नाटक में नाटक काटने यत्र-तत्र पर्याप्त रंग-संकेत दिए हैं जिनके आधार पर सहज ही में स्वाभाविक और सुन्दर मंच-सज्जा हो सकती है। हंसों की फड़फड़ाहट, उनका क्रन्दन, भिक्षुओं का समवेत स्वर तथा प्रातः कालीन शंख ध्वनि आदि रंग-संकेत नाटकीय कथा में विशेष प्रयोजन की सिद्धि हेतु रखे गये हैं और रंगमंच के अनुकूल भी हैं। मंच सामग्री के लिए लेखक संकेत देता है- "सुन्दर बिछावन, तकिए, पीछे एक ऊँचा दीपाधारा शिखर पर पुरुष मूर्ति-बाहें फैली हुई तथा आँखे आकाश की ओर उठी हुई। बाईं ओर एक झूला और उससे थोड़ा हटकर एक मत्स्याकार आसन। आसन के पस ही मदिराकोष्ठ। इसी ओर मंच के आगे के भाग में एक छोटा दीपाधार; शिखर पर नारी मूर्ति-बाहें संवलित तथा आँखे धरती की ओर झुकी हुई।" अतः मंच सज्जा में उपयोग आने वाली सामग्री ऐसी है कि जिसे आसानी से जुटाया जा सकता है।

5. पात्र-योजना -

किसी नाटक में अगर पात्रों की संख्या कम अथवा सीमित हैं तो निर्देशक को ही नहीं, दर्शकों को भी कथ्य की पकड़ में सुविधा रहती है। दर्शक वर्ग पात्रों को उनकी वेशभूषा और संवादों से ही पहचानते हैं। अगर संख्या ज्यादा होगी तो दर्शक को पहचानने में परेशानी होगी, जो नाट्य सम्प्रेषणीयता में दोष माना जाता है।

इस दृष्टि से देखें भी तो प्रस्तुत नाटक में पात्र-संख्या सीमित है और दर्शक शीघ्र ही उनसे तादात्म्य कर लेते हैं। पात्रों के कम होने के कारण उनके वस्त्राभूषण की समस्या भी जटिल नहीं हो सकी है। सबसे बड़ी बात यह है कि पात्रों के वस्त्र-परिवर्तन की योजना भी नहीं रखी है। अतः इस दृष्टि से भी 'लहरों के राजहंस' सफल रंगमंचीय नाटक ठहरता है।

उपर्युक्त रंगमंचीय तत्वों से हटकर भी अगर हम नाटक की रंगमंचीयता पर कुछ विचार करें तो उसकी भाषिक एवं संवादीय संरचना भी उसके मंचन की सफलता और असफलता से जुड़ी हुई है। मंचन की दृष्टि से संवाद संक्षिप्त, प्रवाहपूर्ण, सक्षम और मार्मिक होने चाहिए। उनमें रोचकता और कौतुहल होना चाहिए बल्कि दर्शक वर्ग का तादात्म्य बना रहे। इस दृष्टि विवेचना करने

पर हम पाते हैं कि 'लहरों के राजहंस' के संवाद रंगमंचीय ही हैं। इसके संवाद संक्षिप्त, कलात्मक, मार्मिक, यथार्थपरक और व्यंग्यपूर्ण हैं; जिन्हें सुनने में दर्शक आनन्द का अनुभव करता है। रही भाषा की बात। नाटक को रंगमंचीय बनाने में उसके भाव-सम्प्रेषण के लिए भाषा के योगदान को विस्मय नहीं किया जा सकता। नाटक को रंगमंचीय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी भाषा इतनी सहज, सरल और रोचक होनी चाहिए। कि सामान्य दर्शक भी उसे आसानी से समझ सके। 'लहरों के राजहंस' की भाषा किलस्ट नहीं है। इसका कथानक यद्यपि ऐतिहासिक है फिर भी भाषागत किलस्टता नहीं है। हाँ परिवेशगत यथार्थता के निर्वाह के लिए गवाक्ष, आपानर, विशेषक आदि कुछ विशिष्ट और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु समग्र रूप से नाटकीय भाषा की बात है, वह सहज, सरल एवं बोधगम्य ही है।

निष्कर्षतः 'लहरों के राजहंस' एक सफल रंगमंचीय नाटक है, परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि रंगमंच पर यह नाटक बड़ी-ही-सूझ बूझ से अभिनीत किया जाता है, किया जा सकता है, क्योंकि नाटक का विषय नंद की अन्तर्द्वन्द्व ग्रस्त चेतना को उजागर करना अपने आप में जटिल है जिसे रंगमंच पर दिखाना सहज नहीं, कठिन जरूर है, पर असंभव नहीं है।

अध्याय - 11

भाषा-शैली

भाषा ही वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने भावों एवं विचारों को दूसरों तक पहुँचा सकते हैं। नाटक दृश्य काव्य है। नाटक की पहली शर्त है उसका मंचित होना। नाटक के कथ्य को पाठकों, दर्शकों तक सम्प्रेषित करने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा की किलस्टता नाटक की रंगमंचीयता पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि नाटक की भाषा ऐसी हो कि उसे सामान्य दर्शक भी आसानी से समझ सके। यह बोधगम्यता नाटकीय भाषा की पहली और अनिवार्य शर्त है। राकेश प्रयोगधर्मी नाटककार रहे हैं। उनमें नाटक में शब्द की उचित एवं सार्थक जगह खोजने की छटपटाहट और बेचैनी देखी जा सकती है। उनका मानना है कि केवल शब्द ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, उनका आसपास के शब्दों से संबंध और संदर्भ ही उन्हें अर्थपूर्ण बनाता है, इसलिए ध्वनि, मौन और बिम्ब के पारस्परिक संबंधों की जांच-पड़ताल करना आवश्यक है। इस विषय में स्वयं राकेश जी का मत है— “शब्दों का स जनात्मक प्रयोग उन संदर्भों की लय में और नयी-नयी लय खोज सकना है इसलिए कोई भी शब्द योजना बिना अपनी एक आन्तरिक लय के प्राणवान नहीं होती, और यह लय या ध्वनि का ग्राफ ही उसकी वास्तविक अर्थवक्ता है।” वे लय नियोजन पर इसलिए बल देते हैं कि —“यह लय नियोजन अपने से ही कई-कई बिम्बों तथा मिथकों के संसर्ग मन में जागकर शब्दों के व्याकरण विश्लेषित अर्थ से परे बहुत-से अनिर्वचनीय तथा विश्लेषणहीन अर्थों की अनुगूँज मन में पैदा कर सकता है।” भले ही वे अपनी पूरी नाट्य यात्रा के दौरान सही लय-नियोजन को पहचानने और पकड़ने में लगे रहे।” इस विषय में प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक जयदेव तनेजा का कहना है—“यह आकस्मिक नहीं है कि ‘लहरों के राजहंस’ के लगभग सभी चरित्र किसी बनावटी बाहरी भंगिमा का सहारा लिए बिना ही केवल अपनी-अपनी भाषा की अलग आन्तरिक सूक्ष्म लय के सहारे अपने विशिष्ट व्यक्ति को स्थापित करते हैं।”

नाट्य-जगत में मोहन राकेश केवल तीन नाटक लिखकर नाटक के मसीहा कहलाते हैं। क्योंकि उनके तीनों ही नाटक सशक्त, सफल, मंचित नाटक हैं। उनके नाटक अपनी सहज, सरल, प्रभावी और मार्मिक भाषा के कारण दर्शकों पर जादू-सा कर देते हैं। ‘लहरों के राजहंस भी अनेक बार मंचित हो, दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़ चुका है— इसकी भाषा के विषय में श्री जयदेव तनेजा का कहना है — “लहरों के राजहंस की भाषा राकेश के अपने व्यक्तित्व, नाटक की वस्तु चरित वातावरण तथा रंगमंचीय रुढ़ियों और आज के दर्शक - पाठक की मानसिकता के भीतर से रूप ग्रहण करती है। प्रसाद और राकेश की भाषा का यही मूलभूत अन्तर है। स्वयं राकेश के ही पहले दो नाटकों और तीसरे नाटक की भाषा का अन्तर इसी सत्य को रेखांकित करता है कि राकेश ने भाषा के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व के मुकाबले नाटक की अन्तरिक अपेक्षाओं को अधिक महत्व दिया।”

‘लहरों के राजहंस’ नाटक की भाषा का अध्ययन और विश्लेषण हम आगे विस्तार से करेंगे।

1. काव्यात्मकता :

‘आषाढ़ का एक दिन’ की हो भाँति ‘लहरों के राजहंस’ नाटक की भाषा भावात्मक एवं काव्यात्मक है। इस प्रकार की भाषा अधिकतर नंद के स्वगत कथनों में मिलती है। यथा—

सुंदरी : क्यों, यह सच नहीं? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक’ रात घर से निकल पड़े थे ? बात बहुत साधारण-सी अलका ! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।

अलका : (पल-भर चुप रहकर) —तो आप यह कहना चाहती हैं कि।

सुंदरी : कहना चाहने की बात नहीं, अलका! मैं एक छोटी-सी सच्चाई तुझे बतला रही हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है?

नन्द : हाथ! से निकला भी तो नहीं।..... सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। म ग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इससे मन को उतना खेद नहीं हुआ, जितना इससे..... कि जब थककर लौटने का निश्चय किया, तो वही म ग. ... थोड़ी ही दूर आगे..... रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।

सुंदरी : किसी और के बाण से आहत हुआ वह?

नन्द : नहीं! किसी के बाण से आहत नहीं हुआ, अपनी थकान से मर गया। बाण से क्षत-विक्षत म ग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी है, तो केवल प्राप्ति की हल्की-सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव के अपनी ही क्लांति से मरे हुए म ग को देखकर मन में जाने कैसा लगा! और लौटकर आते हुए अपने-आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि.....।

2. प्रसंगानुकूलता :

राकेश जी की यह एक गहरी विशेषता है कि उनकी भाषा प्रसंगानुकूल होती है चाहे वह ‘आषाढ़ का एक दिन’ की हो, ‘आधे अधूरे’ की हो या फिर ‘लहरों के राजहंस’ की हो। प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान प्रसंगों की भाषा गंभीर और तत्सम प्रधान रही है। वहीं हल्के-फुलके प्रसंगों की भाषा आम बोलचाल की रही है। राज सेवकों की भाषा उनके स्तर के अनुकूल हो जबकि नंद एवं सुन्दरी के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का भी प्रयोग किया है। अतः जहाँ पर जैसा प्रसंग है वहाँ पर वैसी ही भाषा है। यथा—

एक उदाहरण और देखिए—

नन्द : या यह केवल मन का विद्रोह था..... बिना विश्वास एक विश्वास के अपने, ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि उस समय मैं इतना सत्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि “यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़ कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।” इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे

चुक जाता है, कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं, सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन मात्र हैं, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट. परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? आकाश में कहीं लटके हुए नीले काले बिन्दु..... कोरे सिद्धांतों के वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?

3. सरलता एवं रोचकता :

‘लहरों के राजहंस’ नाटक की भाषा सहज, सरल स्वाभाविक और रोचक है। इसका ऐतिहासिक कथानक होते हुए भी भाषा में बोधगम्यता और प्रवाहपूर्णता है। राकेश जी ने इसे सफल मंचीय नाटक बनाने के लिए इसमें सामान्य बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग किया है।—

एक उदाहरण और दृष्ट्य है—

नन्द : तुम बुरा तो नहीं मान गई है?

सुन्दरी : किस बात का?

नन्द : मेरे अकारण बाहर रुके रहने का देर से लौटकर आने का?

सुन्दरी : नहीं तो। आप समय से पहले तो आ ही गए हैं।

नन्द : फिर ऐसी क्यों हो रही हो?

सुन्दरी : कैसी हो रही हूँ?

नन्द : यह तो मैं ही देख सकता हूँ..... जो तुम्हारे चेहरे का दर्पण हूँ।

सुन्दरी : रहने दीजिए, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।

नन्द : अच्छा नहीं लगता! मगर यह बात मेरी नहीं, तुम्हारी कही हुई है। तुम्हें याद नहीं?

सुन्दरी : आज मुझे कुछ भी याद नहीं।

श्यामांग : बस कह दिया, तो हो गया! पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो! श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझीं, तो कामोत्सव नहीं होगा। श्वेतांग कहता है कुछ सोचो नहीं। पर सोचना न सोचना अपने बस की बात है?.....पिछले बसन्त में आम कैसे बौराये थे? पेड़ों की डालियाँ अपने आप हाथों पर झुक आती थीं। परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार जब आम के वक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है। ... कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुओं के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ. ... यहाँ रात-भर न त्य होगा, आपानक चलेगा....।

4. मार्मिकता :

प्रस्तुत नाटक की भाषा सहज, स्वाभाविक के साथ-साथ बड़ी ही मार्मिक है, हृदयस्पर्शी है। निश्चित समय पर जब नन्द नहीं लौटता तो सुन्दरी के मन को अदम्य आघात लगता है, जिसे नाटककार ने बड़ी ही मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है। उदाहरणतः

अलका : धृष्टता के लिए क्षमा चाहती हूँ, देवि! परन्तु.....।

सुन्दरी : क्षमा चाहने की आवश्यकता नहीं। बात कहने में धृष्टता नहीं होती। मैं तेरी बात

सुनना चाहती हूँ

अलका : देवी यशोधरा की बात आप जानें। परन्तु प्रजा के बच्चों-बूढ़ों तक में क्यों इतना उत्साह है? वे संध्या होते ही क्यों नदी-तट की ओर उमड़ पड़ते हैं.....? क्या इसका अर्थ यही नहीं है कि.....?

सुन्दरी : (सहसा अलका की ओर मुड़कर)

तू समझती है कि मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूँ? (आँखें उस ओर से हटाकर अन्तर्मुख भाव से) प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का विशेषक, यह बिंदु, सुख जाने न देती। परन्तु जितना समय इसे गीला रखना चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा। एक पहर, दो पहर, तीन पहर। हर बीतता हुआ क्षण मेरे प्रयत्न का उपहास उड़ाता था, फिर भी मैं अपने अन्दर के विरोध से लड़ती रही, मन के विद्रोह को किसी तरह समझाती रही। परन्तु एक क्षण आया जब वह प्रयत्न मन से हार गया। मेरा गीला हाथ माथे तक जाकर लौट आया और मैंने उसे फिर गीला नहीं किया।

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिए—

सुन्दरी : आप मेरा सारा प्रसाधन करेंगे?

नन्द : क्यों नहीं करूँगा।

5. **पात्रानुकूलता :**

‘लहरों के राजहंस?’ नाटक की भाषा पात्रों के चरित्र चित्रण और उनकी मनः स्थिति के अनुकूल है जहाँ सामान्य पात्र खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं तो राजपुरुष अपने पद एवं ओहदे की गरिमामयी भाषा का प्रयोग करते हैं। इसी कारण तो श्यामांग श्वेतांग की अपेक्षा अधिक परिष्कृत हिन्दी बोलता है। उदाहरणतः

श्वेतांग : आदमी काम करना चाहे तो उपाय यही है, राजकर्मचारी के लिए विशेष रूप से।

श्यामांग : तुम कहना चाहते हो कि मुझे भी.... सोचना नहीं चाहिए यही न?..... पर मैं मैं कब सोचना चाहता हूँ ? बिना चाहे मस्तिष्क सोचता रहे, सोचते रहे, तो आदमी क्या कर सकता है?

इसी प्रकार सुंदरी की भाषा में उनके पद एवं ओहदे की गरिमा झलकती है, जैसे—

सुंदरी : (मदिराकोष्ठ की ओर जाती हुई)

कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मन्त्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ.... क्यों मेरी कामना मेरे अंतर की है। मेरे अंतर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।

6. **व्यंग्य की भाषा :**

राकेश जी अपने पात्रों के माध्यम से जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ व्यंग्य करने से नहीं चूकते। ‘आषाढ़ का एक दिन’ तथा ‘आधे-अधूरे’ की भांति ही ‘लहरों के राजहंस’ की भाषा में भी व्यंग्यात्मकता विद्यमान है। व्यंग्यात्मकता से भाषा में जहाँ वैचिग्य आता है, वहाँ चमत्कार

भी उत्पन्न हो जाता है। नन्द, सुन्दरी, भिक्षु आनन्द, श्यामांग तथा श्वेतौंग आदि पात्रों के संवादों में व्यंग्य की भाषा के दर्शन होते हैं। यथा—

भिक्षु आनन्द : दूसरों को इस सत्य तक पहुंचने में बहुत समय लगता है। मुझे प्रसन्नता है— तुमने शीघ्र इसे ग्रहण कर लिया है।

नन्द : ग्रहण कर लिया है! यह कह कर तुम्हारे मन को संतोष मिलता हो, तो मैं तुम्हें उससे वंचित करना नहीं चाहूँगा।

इसी प्रकार सुन्दरी और नन्द का संवाद जो वाद-विवादपूर्ण है—

सुन्दरी : आप व्यवस्था के संबंध में कुछ कह रहे थे।

नन्द आकर आगे के दीपाधार के पास खड़ा हो जाता है।

नन्द : हाँ, मैं कह रहा था कि संभव है— उतने लोग न भी आएँ, जितने लोगों के आने की हम आशा कर रहे हैं।

सुन्दरी : (थोड़ा तमककर) — क्यों? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमंत्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रहा हो? अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न आ पाए, तो बात दूसरी है।

नन्द : मैं यही तो कह रहा था कि.... संभव है..... कुछ लोगों के लिए ऐसी कुछ कारण हो जाएँ। सोमदत्त और विशाखादेव के यहाँ मैं अभी स्वयं होकर आया था.....।

सुन्दरी : (आवेश में उसके पास आकर)

आप स्वयं..... उन लोगों के यहाँ होकर आए हैं? क्यों? आपका स्वयं लोगों के यहाँ जाना..... विशेष रूप से यह कहने के लिए यह क्या अपमान का विषय नहीं है?

7. शाब्दिक भाषा :

हम पहले भी कह चुके हैं कि राकेश जी प्रयोगधर्मी नाटककार रहे हैं। उन्होंने शब्दगत प्रयोग भी किए हैं। 'लहरों के राजहंस' नाटक का कथानक ऐतिहासिक है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि इसको तत्सम प्रधान शब्दावली हो और ऐसा है भी। परन्तु इसकी यह विशेषता ही है कि तत्सम शब्दावली होने के कारण इस नाटक को कहीं भी दुरुहता ने नहीं पकड़ा है। इसमें नाटककार ने तत्सम, तद्भव शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है जिससे नाटक के कथानक को बल ही मिला है। इससे भाषा में सहजता और बोधगम्यता के गुण आ गए हैं।

तत्सम शब्द : नाटक में ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करने के लिए राकेश जी ने संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है। यथा— आपानक, मदिराकोष्ठ, शं गारकोष्ठ, विशेषक, गवाक्ष, लोहिताक्ष, मैत्रेय आदि कुछ दुरुह शब्द हैं, लेकिन ये सभी प्रसंगवश ही हैं अन्यथा जिन तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है, वे सुबोध ही हैं। यथा— कामना, कामोत्सव, अग्निकाष्ठ, अंतर, महत्त्व,

षड्यन्त्र, अव्यवस्थित तथा मस्तिष्क आदि।

तद्भव शब्द : भले ही यह ऐतिहासिक नाटक हो, लेकिन इसमें संस्कृतनिष्ठ शब्दों के साथ-साथ तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। लेकिन ये शब्द नाटक की ऐतिहासिकता बनाए रखने के लिए बहुत ही कम हैं। यथा-सांस (श्वास), पत्तियाँ, हाथ, पहर, कांपना तथा नींद आदि।

बिम्बात्मकता :

राकेश जी की यह भी एक विशेषता ही है कि वे नाटकीय भाषा में सशक्त बिम्ब खड़ा कर देते हैं। आज की जटिल-संश्लिष्ट संवेदना को प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए अनेक दृष्टियों से बिम्ब का प्रयोग नाट्य भाषा के लिए आवश्यक हो गया है। इस विषय में गोविन्द चातक का कहना है—“वस्तुतः कथा-वस्तु के संयोजन, कथ्य को गति, अर्थ का संकेत अथवा प्रतीकार्थ प्रदान करने तथा पात्र की मानसिक स्थिति के उद्घाटन में बिम्ब का प्रयोग नाटक में बड़ी सफलता से किया जा सकता है जैसा कि लेविस ने कहा है, “नाटक मेटाझर तथा बिम्बविधान के लिए काव्य की अपेक्षा अधिक अवसर प्रदान करता है।” ‘लहरों के राजहंस’ नाटक के बिम्ब विधान के विषय में डॉ. जयदेव तनेजा का मत है— “पुरुष-मूर्ति और नारी-मूर्ति के दो दीपाधारों के मूल बिम्ब की बात स्वयं राकेश ने कही है। यह बिम्ब सदैव उनके मन में रहा (यद्यपि ‘रात बीतने तक’ में यह कहीं नहीं है, संभव है इस मंचीय नाटक को रेडियो नाटक बनाते समय यह छोड़ देना पड़ा हो) और नाटक के दोनों संस्करणों में स्थूल रूप से मंच-सज्जा का अनिवार्य अंग बनकर उपस्थित हुआ। भोग-अभोग, पार्थिव-अपार्थिव अथवा भौतिक-आध्यात्मिक के बीच ‘अनिश्चय में उठे- सके एक पैर’ के व्यापक नाट्य-बिम्ब को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है— जिसे राकेश ने नर-नारी संबंधों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।” यहाँ अधिकतर बिम्ब पार्थिव और अपार्थिव के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस विषय में जयदेव तनेजा का कहना है— “एक ओर यदि मत्स्यकार आसन, मदिराकोष्ठ, अग्निकाष्ठ, ओस लदे कमल, कमल-ताल, उद्यान, बसंत, शयन कक्ष, घर, कामोत्सव, बौराये आम, फूल, केश, चन्द्रिका, दक्षिणी इत्यादि हैं तो दूसरी ओर पत्रहीन, व क्ष, धूल भरा आकाश सूखा सरोवर, नदी तट, विहार, रेत, कर्तनी, जंगल इत्यादि।” बिम्बात्मकता का प्रभावी प्रयोग श्यामांग के शब्दों में देखा जा सकता है।

“कमलताल के पास जो अंधेरा कोना है, कुछ देर के लिए वहाँ चला गया था। वहाँ देखा, ताल की लहरों पर वह छापा उतर रही है। लहरे उसमें गुम हुई जा रही हैं, कमलताल, कमलपत्र सब उसे खोये जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सबको लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े को भी। मुझे डर लगा। मैं छापा पर पत्थर फेंकने लगा।”

शैली :

‘लहरों के राजहंस’ नाटक में नाटकीय एवं मनोविश्लेषणात्मक शैलियों का प्रयोग हुआ है। नाटकीय शैली का उदाहरण दृष्टव्य है—

मैत्रेय : (गम्भीर भाव से आगे आता हुआ) हां, पहला..... और शायद एकमात्र अतिथि!

नन्द : एकमात्र अतिथि! तो क्या और लोगों में से

मैत्रेय : जिन-जिन से मैं मिला हूँ, उनमें से हरेक ने किसी-न-किसी कारण अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए क्षमा-याचना की है— रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईषाण, शैवाल-सभी ने।

नन्द : (अव्यवस्थित-सा) और पद्मकांत, रुद्रदेव, लोहिताक्ष, शालिमित्र.....?

इस नाटक में विश्लेषणात्मक शैली स्वगत-कथनों में प्रयुक्त की गयी है। यह शैली पात्रों की मनःस्थिति और उनके अन्तर्द्वन्द्व को उजागर करती है। उदाहरण के रूप में नन्द का एक संवाद :

“(लौटकर झूले के पास चला जाता है और पल-भर स्निग्ध दृष्टि से देखता रहता है।) अच्छा है, तुम सो रही हो। जाग रही होती, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर शायद मैं न दे पाता। (उसके पास से हटकर टहलता हुआ पीछे के दीपाधार की ओर जाता है।) मैंने कहा था तुम्हारा विशेषक सूखने से पहले ही मैं लौट आऊंगा, परंतु नहीं आ सका। तुम पूछती, क्यों तो मैं क्या उत्तर देता? क्या कहता कि तथागत के पास से उठ आने के बाद क्यों मन में कल के मरे हुए म ग को देखने की कामना इतनी प्रबल हो आई थी कि किसी भी तरह अपने को वहाँ जाने से रोक नहीं सका? कैसे बताता कि म ग के स्थान पर एक नॉच खायी ठठरी को देखकर मुझे कैसा लगा? और फिर क्यों मैं अचानक उस गुरगुराकर सामने से आते व्याघ्र से उलझ गया? जानता था कि यह प्रवृत्ति आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक नहीं सका? क्यों मैंने जानबूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया। क्षत-विक्षत हम दोनों हुए-पलायन भी एक तरह से दोनों ने ही किया-क्यों? आत्म-विनाश और आत्मरक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों? और उस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?”

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नाटक की भाषा एवं शैली उसके ऐतिहासिक कथ्य के अनुकूल है और वह नाटककार के उद्देश्य आधुनिक संदर्भ में मानव की अन्तर्द्वन्द्व चेतना को उजागर करने में सक्षम है। उसमें भावात्मकता, सरसता, रोचकता, पात्रानुकूलता, मार्मिकता के गुणों के साथ-साथ नाटक की आवश्यकता समझे जाने वाले व्यंग्य भी विद्यमान हैं।

अध्याय - 12

संवादीय संरचना

संवाद नाटक के प्राण होते हैं। संवादों के अभाव में नाटक, नाटक कहलाने का अधिकार ही नहीं रखता। पात्रों के संवादों से ही नाटक के कथानक का विकास होता है और नाटक का क्रिया-व्यापार या घटनाएं एक-दूसरे से परस्पर संयोजित होती हैं। नाटक में नाटककार अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह सकता। उसे जो कुछ कहना है, जो भी उद्देश्य प्रतिपादित करना है, वह पात्रों के संवादों से ही संप्रेषित होता है।

संवादों से ही नाटक के कथ्य को विकास एवं गति मिलती है। उनमें से पात्रों के चरित्रों का स्वरूप तैयार होता है और उनको विकास मिलता है। पात्रों के संवाद ही नाटक के कथ्य एवं घटनाओं को व्यक्त करते हुए प्रत्येक पात्र की प्रकृति और उनके व्यक्तित्व को भी उजागर करते हैं। नाटकीय संवादों की विशेषताओं के विषय में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का कहना है— “अरस्तु ने ड्रामा का एक तत्त्व ‘भाषा’ बताया है। वे शब्द जो पात्रों के रूप में मंच पर अभिनेता बोलता है। यह वह माध्यम है, जिसके द्वारा पात्र अपने विचार और अन्ततः नाटक के विचार दर्शक तक सम्प्रेषित करते हैं” वास्तव में संवाद ही वह माध्यम है जिसके द्वारा नाटक के विचार दर्शक तक सम्प्रेषित होते हैं। आगे डॉ. लाल का कहना है— “भाषा कथोपकथन के ही रूप में नाटक में मूलतः व्यवहृत होती है। फलतः स्पष्टता, सीधेपन के अतिरिक्त इसे मनोरंजक होना आवश्यक है, वरना दर्शक के लिए उसे ग्रहण करना रुचिकर ही न हो सकेगा। भाषा को जीवन और चरित्र की आत्मा को पकड़कर चलना होता है। भाषा प्रयोग के लिए नाटककार को कवि की दृष्टि चाहिए। वही गति, वही पैठ।”

अतः नाटक के संवाद सहज, सरल, स्वाभाविक और पात्रानुकूल होने चाहिए। उनमें उनकी स्थिति, पद, ओहदे, एवं मनोदशा के उपयुक्त ही शब्दों का प्रयोग किया गया हो।

हिन्दी नाट्य-जगत में राकेश जी नाटक के मसीहा हैं। उन्हें उद्भुत नाट्य-कौशल प्राप्त था। उन्होंने अपनी कौशलता का परिचय अपने प्रथम नाटक ‘आषाढ़ का एक दिन’ में ही दे दिया था। उन्होंने जो संवाद-योजना ‘आषाढ़ का एक दिन’ में रची उससे नाट्य-जगत सर्वपरिचित है। ‘लहरों के राजहंस’ नाटक की संवादीय संरचना भी अत्यन्त सशक्त, मार्मिक एवं काव्य गुणों से भरपूर है। राकेश जी की संवादीय संरचना की प्रसाद जी की संवादीय संरचना से तुलना करते हुए डॉ. सुरेश अवरथी का कहना है— “नाटक (‘लहरों के राजहंस’) के संवाद सुगठित, प्रयोजनशील और काव्यश्री से समृद्ध हैं। छोटे-छोटे, सुघड़ और काव्यपूर्ण नाटकीय संवाद लिखने में मोहन राकेश अत्यन्त कुशल हैं। ‘आषाढ़ का एक दिन’ में उन्होंने मल्लिका के स्वगत कथन ही सुन्दर लिखे हैं। पाठकों और दर्शकों ने ही इन स्वगत-कथनों में रस लिया; भले ही हिन्दी के नाट्य-समीक्षक ने स्वगत कथनों को नाटक से वर्जित कर रखा हो। इस नाटक (‘लहरों के राजहंस’) में सुन्दरी का श्रृंगार-प्रसंग पढ़कर स्कन्दगुप्त और देवसेना का प्रणय-प्रसंग याद आ जाता है।”

‘लहरों के राजहंस’ नाटक की संवादीय संरचना की अब हम विस्तार से विवेचना करेंगे—

1. संक्षिप्त संवाद
2. पात्रानुकूल संवाद
3. नाटकीय संवाद
4. स्वाभाविक संवाद
5. सरल एवं रोचक संवाद
6. व्यंग्यात्मक संवाद
7. संवादों में गतिशीलता
8. मार्मिक संवाद
9. चरित्र प्रकाशन के संवाद

अब हम उपर्युक्त उपशीर्षकों पर विस्तार एवं उदाहरणों से चर्चा करेंगे।

1. संक्षिप्त संवाद :

दीर्घ एवं संक्षिप्त दो प्रकार के संवाद होते हैं। नाटक में दीर्घ संवादों की अपेक्षा संक्षिप्त संवादों को अधिक महत्ता मिली है, क्योंकि दीर्घ संवाद दर्शक एवं पाठक को ऊबाऊ बना सकते हैं, जबकि संक्षिप्त संवाद कथा की गति को शीघ्रता से आगे की ओर बढ़ाते हैं, जबकि संक्षिप्त संवाद कथा की गति को शीघ्रता से आगे की ओर बढ़ाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो ‘लहरों के राजहंस’ नाटक में दीर्घ एवं संक्षिप्त दोनों तरह के संवाद उपलब्ध होते हैं। लेकिन अधिक संवाद संक्षिप्त ही हैं, जहाँ दीर्घ संवाद हैं वहाँ भी सरसता बनी हुई है, क्योंकि इनमें जटिल वाक्य रचना या लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं जिससे दर्शक एवं पाठक वर्ग में अब नहीं आती। संक्षिप्त संवाद का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

नन्द : कहो।

सुन्दरी : आपको माननी होगी।

नन्द : तुम्हारी बात मैंने कब नहीं मानी?

सुन्दरी : आपको वचन देना होगा, कि कल रात जो कुछ हुआ, उसे आप बिल्कुल भूल जाएँगे।

नन्द : मुझे तो नहीं लगता कि कल रात ऐसा कुछ हुआ भी है।

सुन्दरी : आप उस विषय में सोचेंगे भी नहीं।

नन्द : यह तुम अपने से कहो जो अब भी उस विषय में सोच रही हो।

सुन्दरी : और कभी मुझे उसकी याद भी नहीं दिलाएंगे।

2. पात्रानुकूल संवाद :

संवादीय संरचना का पात्रानुकूलता अत्यन्त आवश्यक गुण है। संवाद पात्रों की स्थिति, पद, ओहदे के अनुकूल होने चाहिए। अगर पात्र सभ्य, शिक्षित है तो आवश्यक है कि उसके द्वारा बोले संवादों में उसका शिक्षित होना झलके और वह राजपुरुष है तो राजपुरुषोचित गरिमामयी ही संवाद हों। इस दृष्टि से ‘लहरों के राजहंस’ के संवाद पात्रानुकूल ही हैं। यहाँ सुन्दरी, नन्द, श्यामाँग, श्वेतांग आदि सभी पात्रों के संवादों में पात्रानुकूलता मिलती है।

सुन्दरी : (कटोरी लेकर रखती हुई) पता है लोग क्या कहते हैं?

नन्द : क्या कहते हैं?

- सुन्दरी** : कहते हैं कि आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।
- नन्द** : इसमें झूठ क्या है?
- सुन्दरी** : झूठ नहीं है।?
- नन्द** : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।
- सुन्दरी** : नहीं होता! मानवी का रूप बहुत देखा। (दर्पण उसकी ओर बढ़ा देती है) लीजिए।
(नन्द दर्पण उसके हाथ से ले लेता है) वहाँ जाकर खड़े हो जाइए।
(नन्द आगे दीपाधार के पास चला जाता है) इस तरह नहीं.....।
(पास जाकर दर्पण उसके साथ सटा देती है) इस तरह। (चन्दन की कटोरी हाथ में लेकर) अब मुझे विशेषक बनाने दीजिए.....।
सुन्दरी देवी यशोधरा के प्रति ईर्ष्या-भाव रखती है और दूसरी ओर उसे अपने रूप-सौन्दर्य का अतिरिक्त अभिमान भी है। निम्नलिखित संवाद में उसके इस ईर्ष्या-भाव और रूप-गर्व की बड़ी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है—
- सुन्दरी** : यही तो दुःख है कि आज वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं हैं। परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आये, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा की है। नहीं?
- अलका** : (अचकचाई-सी) इसका श्रेय देवी यशोधरा को है? आपका अभिप्राय है कि.. ..।
- सुन्दरी** : अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांध कर अपने पास रख सकता है, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?

3. नाटकीय संवाद :

नाटक रंगमंच के लिए होता है। उसके संवाद रंगमंच पर बोले जाते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि नाटकीयता का गुण विद्यमान हो। विशेषकर स्थगत कथन को नाटक का शेष माना जाता रहा है, किन्तु उसमें यदि नाटकीयता का गुण विद्यमान है तो वह मार्मिक बन जाता है। इससे दर्शक ऊबते नहीं, अपितु रस लेते हैं। इस नाटक में स्वगत कथन नन्द, सुन्दरी और और श्यामोंग के संवादों में है। नाटक के दूसरे अंक से एक उद्धरण दृष्टव्य है—

नेपथ्य : (कोई स्वर नहीं है..... कोई किरण नहीं है..... सब कुछ सब कुछ इस अंधकूप में डूब गया है।..... मुझे सुलझा लेने दो..... सुझला लेने दो..... नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूंगा!..... कोई उपाय नहीं है..... कोई मार्ग नहीं है..... इन लहरों पर से लहरों पर से यह छाया हटा दो..... मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती.....।)

नन्द बोलता है, तो नेपथ्य का स्वर....।)

नन्द बोलता है, तो नेपथ्य का स्वर अपेक्षतया मंद पड़ जाता है। स्पष्टता नन्द के स्वर में रहती है, परन्तु दोनों स्वर एक-दूसरे को काटते चलते हैं।

नन्द : (बड़े दीपाधार के पास से झूले की ओर आती हुई छायाकृति : स्वर दबा-दबा स्वगत) : (कितनी लंबी है यह रात, जैसे कि इसे बीतना ही न हो। बार-बार

लगता है यह स्वर रात पर पहरा दे रहा है..... यही इसे बीतने नहीं देता।)

नेपथ्य : (स्वर नहीं है..... कहीं कोई स्वर नहीं है..... इस अंधकूप में सब कुछ खो गया है..... मेरा स्वर..... पानी की लहरों का स्वर..... सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है..... एक चील..... एक चील सब कुछ झपटकर लिए जा रही है.....इसे रोको इसे रोको.....।)

4. **स्वाभाविक संवाद :**

नाटक में संवाद सरल स्वाभाविक होने चाहिए, क्योंकि अस्वाभाविक संवाद कश्च की गति अवरोध पैदा करते हैं जिससे पात्रों और दर्शकों के बीच का तादात्म्य भी टूट जाता है। कारणतः दर्शक उबारूपन महसूस करते हैं और नाटक की रंगमचीयता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' नाटक की संवादीय संरचना में स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है। यथा—

सुंदरी : आप व्यवस्था के संबंध में कुछ कह रहे थे?

नंद आकर आगे के दीपाधार के पास खड़ा हो जाता है।

नन्द : हां, मैं कह रहा था कि संभव है उतने लाग न भी आएँ, जितने लोगों के आने की हम आशा कर रहे हैं।

सुंदरी : (थोड़ा तमककर)— क्यों? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमंत्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रहा हो? अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न आ पाए, तो बात दूसरी है।

नन्द : मैं यही तो कह रहा था कि संभव है..... कुछ लोगों के लिए ऐसे कुछ कारण हो जाएँ। सोमदत्त और विशाखदेव के यहाँ मैं अभी स्वयं होकर आया था.....।

सुंदरी : (आवेश में उसके पास आकर) — आप स्वयं उन लोगों के यहाँ होकर आए हैं? क्यों? आपका स्वयं लोगों के यहाँ जाना..... विशेष रूप से यह कहने के लिए.....यह क्या अपमान का विषय नहीं है?

इसी प्रकार भिक्षु आनन्द के संवाद उनकी पात्र-स्थिति को उजागर करने वाले हैं। उनमें दार्शनिकता के साथ बौद्धमत का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणतः

भिक्षु आनन्द : तुम इस समय बहुत उद्विग्न हो। वन में व्याघ्र के साथ हुए द्वंद्व में.....।

नन्द : जानता हूँ तुम सारा समय छाया की तरह मेरे साथ रहे हो।..... व्याघ्र के साथ हुए द्वंद्व में मैं विक्षत हुआ.....

5. **सरल एवं रोचक संवाद :**

नाटक में सहज सरल और रोचक संवाद की आवश्यकता होती है क्योंकि नाटक रंगमंच के लिए होता है। अगर संवादों में दुरुहता है तो पाठक और दर्शक वर्ग पर लम्बे समय तक कोई भी पात्र छाप नहीं छोड़ सकता। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' के संवादों में कहीं-कहीं प्रतीकात्मकता है, जिससे दुरुहता का एहसास होता है, किन्तु सरलता सर्वत्र विद्यमान है। इस नाटक के सभी पात्र अपने कथन को बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत कर देता है। यहाँ विषय गम्भीर जरूर है उसको समझना कठिन जरूर है लेकिन भाषा में कहीं भी दुरुहता नहीं है। उदाहरणतः

सुंदरी : परन्तु इन सबसे कहने जाने की आवश्यकता आपको क्यों हुई? क्या आप पहले से जानते थे कि वे लोग नहीं आएँगे?

मेत्रेये : इसका उत्तर कुमार दे सकते हैं।

मदिराकोष्ठ के पास जाकर चषक में मदिरा डालने लगता है।

सुंदरी : (आवेशपूर्ण स्वर में नंद से) तो क्या इन सबने आपको संदेश भेजा था कि ये नहीं आएँगे?

सीधे नन्द की आँखों में देखती है। नन्द आँखें दूसरी ओर हटा लेता है।

नन्द : सबने तो नहीं..... पर इनमें से कई लोगों ने संदेश भेजा था।

सुंदरी : और आपने इसकी चर्चा तक मुझसे करना आवश्यक नहीं समझा।

नन्द : मैं तुम्हारे उत्साह में बाधा डालना नहीं चाहता था। सोचा था कि इनमें से अधिकांश लोग एक बार जाकर कहने से.....

सुंदरी : कितना मान होता मेरा कि जाकर कहने से जो लोग आते, उनका मुझे इस घर में स्वागत करना पड़ता! आपने यह नहीं सोचा कि मैं कि मैं.....।

जहाँ लेखक चेतना के अतर्द्धन्ध को मुखरित करता है, वहाँ कुछ दुरुहता जरूर आ गयी।

नाटकीय संवादों में रोचकता का गुण भी आवश्यक माना गया है क्योंकि रोचकता ही उसकी रसानुभूति में सहायक होती है। अगर संवाद शुष्क हैं तो नाटक नीरस दस्तावेज बनकर रह जाता है। 'लहरों के राजहंस' में यह गुण भी सर्वत्र विद्यमान है। रोचक संवाद ही पाठक, दर्शक को भावविह्वल और आकर्षित करते हैं। 'लहरों के राजहंस' नाटक के संवाद भी दर्शक एवं पाठक को आकर्षित प्रभावित तो करते ही हैं उसे अंत तक बाँधे रहते हैं। अलका और श्वेतांग का यह संवाद दृष्टव्य है—

अलका : फिर?

श्वेतांग : अन्त में किसी तरह अवसर मिला, तो उन्होंने प्रणाम करके तथागत से अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहाँ?

अलका : आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा। और उन्होंने स्वीकार कर लिया।

श्वेतांग : नहीं! उन्होंने इसका उत्तर न देकर अपना भिक्षापात्र कुमार के हाथों में दे दिया।

अलका : (स्तम्भित-सी) उन्होंने अपना भिक्षापात्र कुमार के हाथों में दे दिया।

श्वेतांग : बताने वालों ने मुझे यही बताया है, कुमार उस समय इतने अव्यवस्थित थे कि भिक्षापात्र हाथ में लिए हुए ही लौटकर यहाँ आने लगे।

6. व्यंग्यात्मक संवाद :

नाटक सजीव पात्रों के द्वारा रंगमंच पर खेला जाता है। इसलिए उसमें व्यंग्यात्मकता की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि व्यंग्यात्मकता से जहाँ एक ओर मनोरंजन होता है, वहीं दूसरी ओर लेखक के उद्देश्य की भी पूर्ति होती दिखाई देती है। 'लहरों के राजहंस' में प्रतीकात्मकता विद्यमान है, इसलिए उसमें व्यंग्यात्मकता के भी दर्शन होते हैं। यहाँ सुन्दरी, नंद, श्यामांग के संवादों में व्यंग्यात्मकता देखी जा सकती है। उदाहरण के रूप में सुन्दरी का निम्न संवाद जिसमें वह गौतम बुद्ध एवं बौद्धमत पर व्यंग्य करती है—

“अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बांधकर अपने

पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार विद्वार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?" वह फिर कहती है—

"नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।" इसी प्रकार वह एक स्थल पर और कहती है— "पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जगती है?" इसका उत्तर स्वयं ही सुन्दर देती है— "इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं तब जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं।"

7. संवादों में गतिशीलता :

नाटक के संवादों में गतिशीलता का गुण भी महत्वपूर्ण होता है। अगर संवादों में गतिशीलता नहीं है तो नाटकीय कथा अवरुद्ध हो जाती है। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' के संवाद कथा को शीघ्रता से आगे बढ़ाने वाले हैं। उदाहरण के रूप में निम्न संवाद हैं—

भिक्षु आनंद : देख रहा हूँ। घर सुन्दर है, कक्ष बहुत ही सुन्दर है।

नन्द : हां, सुन्दरी को तो तुमने देखा नहीं। भिक्षु हो इसलिए देखोगे भी नहीं। सम्भवतः तुम्हारी दृष्टि में उसका यहाँ होना यथार्थ नहीं, केवल एक भ्रांति है। परन्तु उस तरह में एक भ्रांति नहीं हूँ? तुम एक भ्रांति नहीं हो? तुम्हारा कहा हुआ हर वाक्य एक भ्रांति नहीं है।

भिक्षु आनन्द : दूसरों को इस सत्य तक पहुंचने में बहुत समय लगता है। मुझे प्रसन्ता है तुमने शीघ्र इसे ग्रहण कर लिया है।

नन्द : (आवेगपूर्वक) ग्रहण कर लिया है?..... यह कहकर तुम्हारे मन को सन्तोष मिलता हो, तो मैं तुम्हें उससे वंचित करना नहीं चाहूँगा।

8. मार्मिक संवाद :

नाटक के संवाद मार्मिक होने चाहिए। मार्मिकता का गुण ही उन्हें दर्शकों, एवं पाठकों के लिए हृदयग्राह्य बनाता है। मार्मिकता के कारण ही संवाद दर्शकों, पाठकों पर छा जाते हैं, उनके मन में रच-बस जाते हैं जिसे वे सहज ही नहीं भूलते। 'लहरों के राजहंस' के संवादों में भी मार्मिकता का यह गुण सर्वत्र विद्यमान है। यथा—

है। पर यह दुरुहता विषय के अनुकूल है और भाव-सम्प्रेषण में बाधा नहीं आती। उदाहरणतः नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को मुखरित करने वाला श्यामांग का प्रलाप देखा जा सकता है—

"मुझमें साहस नहीं है..... किसी में साहस नहीं है..... यह चील मुझे लिए जा रही है..... जाने कहाँ..... नहीं चली नहीं हैं..... एक छाया है..... काले अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया..... अकेली (कराहकर) मुझे इस कूप से निकालो..... इस कूप में पानी नहीं है..... इसका पानी कहाँ गया? इसका पानी कौन ले गया?..... मुझे पानी दो..... पानी.....।"

नन्द : इसमें झूठ क्या है?

सुन्दरी : झूठ नहीं है।

नन्द : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

सुन्दरी : नहीं होता? मानवी का रूप बहुत देखा? दर्पण उसकी ओर बढ़ा देती है।

लीजिए।

नन्द दर्पण उसके हाथ से ले लेता है। वहाँ जाकर खड़े हो जाइए।

नन्द आगे के दीपाधार के पास चला जाता है।

इस तरह नहीं.....।

पास जाकर दर्पण उसके साथ सटा देती है।

इस तरह। (चंदन की कटोरी हाथ में लेकर) अब मुझे।

9. चरित्र प्रकाशन के संवाद :

नाटक द श्य विद्या है इसलिए इसके संवादों में पात्रों के चरित्र उनकी मनोदशा, अन्तर्द्वन्द्व, बाहरी संबंध आदि को उजागर करने की क्षमता होनी चाहिए। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' के संवाद खरे उतरते हैं। सुन्दरी के संवाद उसकी चारित्रिक विशेषताओं, रूप-गर्व, ईर्ष्या-भाव को पूर्णतः स्पष्ट करने वाले हैं। उदाहरणतः

सुंदरी : ऐसी असंभव बात मैं सोच सकती थी? सोच रही थी कि शायद आखेट में बहुत दूर निकल गए हैं। डर रही थी कि सब लोग आ चुकेंगे, तो अन्त में आनेवाले अतिथि आप ही न हों।

नंद : (जैसे कुछ और बात सोचता हुआ) — अन्त में आनेवाला अतिथि.....!

चबूतरे पर जाकर विश्राम की मुद्रा में बैठ जाता है।

मैं जानता था तुम प्रतीक्षा में होगी। इसीलिए..... (सहसा बात बदलकर) आखेट में बहुत देर तो नहीं लगी।..... तुम्हें लगा कि बहुत देर लगी है?

सुंदरी : वे जानती थीं न! मुझे पता था वे अवश्य जानती हैं..... क्या कहा उन्होंने?

नन्द : कहा कि अपनी व्यवस्तता के कारण तुम न भी आ सको, तो मैं तुम्हें उनका आशीर्वाद.....।

सुंदरी चबूतरे का सहारा छोड़कर खड़ी हो जाती है।

सुंदरी : (कुछ तीव्र स्वर में)

—आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे! मन में क्या सोच रही होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ उन्हीं के कारण.....।

इस नाटक में नंद मानव ही द्वन्द्वग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप में उभरा है। उसकी इस चारित्रिक विशेषता को उजागर करने वाला सुन्दरी का निम्न संवाद दृष्टव्य है—

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' नाटक के संवाद पात्रानुकूल, स्वाभाविक, व्यंग्यात्मक, सरल, रोचक, गतिशील और चरित्र के प्रकाशन की क्षमता रखने वाले हैं और ये संवाद नाटक को मंचीय बनाने में सफल, सबल हैं।

अध्याय - 13

नंद का चरित्र-चित्रण

मोहन राकेश ने 'लहरो के राजहंस' नाटक की सर्जना एक द्वन्द्वप्रधान नाटक के रूप में की है। इसकी वस्तु-योजना एवं पात्र-योजना में द्वन्द्व को प्रबल रूप से मुखरित किया है। असल में, यहाँ नाटककार ने नाटक के प्रमुख पात्रों के माध्यम से आधुनिक एवं युगों-युगों की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को अभिव्यक्त किया है। यहाँ सभी प्रधान पात्रों का चरित्र द्वन्द्वग्रस्त है। नाटक में नंद, सुन्दरी ही नहीं श्यामोंग का चरित्र भी द्वन्द्वग्रस्त है। वास्तव में इन द्वन्द्वग्रस्त पात्रों के माध्यम से नाटककार ने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शनों के द्वन्द्वों से ग्रस्त मानव चेतना को मुखरित किया है। यह आधुनिक भी हो सकता है और सार्वकालिक भी इस विषय में स्वयं मोहन राकेश जी नाटक की भूमिका में लिखते हैं—

“यहाँ नंद और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है, जिस अर्थ में “आषाढ़ का एक दिन” के अन्तर्गत है।”

अतः नाटककार के इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर 'लहरों के राजहंस' के मुख्य पात्र नंद के चरित्र-चित्रण की विवेचना की करना अधिक समीचीन होगा।

नंद इस नाटक का सशक्त एवं सर्वाधिक द्वन्द्वग्रस्त पात्र है। वह नाटक का प्रमुख पात्र है और नायक के रूप में उभरा है। वह नाटकीय कथा में आदि से अन्त तक उपस्थित रहता है। राकेशजी ने युगों-युगों से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के बीच मानव चेतना की द्वन्द्वग्रस्ता के प्रतीक रूप में नंद को प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिकता में नंद कपिलवस्तु का राजकुमार है और भगवान गौतम बुद्ध का सौतेला भाई है। अनुपम सुन्दरी का पति है और नित्य-प्रति भोग-विलास का जीवन जीने का अभ्यस्त है।

1. नंद: द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक :

नाटककार ने नंद को द्वन्द्वग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप में उभारा है। वह प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के बीच खड़ा है। खड़ा क्या डोल रहा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लहरों पर हंस तैरता या डोलता रहता है। वह इन दोनों में से एक के चुनाव की यातना का भोक्ता है। उसे नाटककार ने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों के बीच युगों से द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है। इसलिए वह भौतिक विलासमय जीवन जीता है और पारलौकिक सुख की खोज में बौद्धमत को स्वीकारने की कोशिश करता है। वह न अपनी पत्नी (प्रवृत्ति मार्ग) को छोड़ पाता है और न ही पूर्णतया से बौद्धमत को स्वीकारने की कोशिश करता है। वह न अपनी पत्नी (प्रवृत्ति मार्ग) को छोड़ पाता है और न ही पूर्णतया से बौद्धमत को स्वीकार ही कर पाता है उसका दोनों के प्रति आकर्षण है और यही अन्तर्विरोध उसे किसी एक का नहीं होने देता। वह सुन्दरी से प्यार करता है। उसकी सुन्दरता पर वह

मोहित है। उसका प्रसाधन भी अपने हाथों से करना चाहता है। जब सुन्दरी प्रसाधन कर रही होती है तो वह हाथों में दर्पण लेकर खड़ा हो जाता है। लेकिन जब उसे सूचना मिलती है कि द्वार पर गौतम बुद्ध भिक्षा लेने आए थे और किसी ने भी भिक्षा नहीं डाली तो वह विक्षुब्ध हो जाता है और वह अस्थिर हो जाता है जिससे दर्पण हिलकर गिरकर टूट जाता है। दर्पण का टूटना प्रतीकात्मक अर्थ रखता है। दर्पण का टूटना वास्तव में उसके हृदय का टूटना है जिससे सुन्दरी अपनी खण्डित रूपाकृति देखकर सिहर उठती है। वह बुद्ध के पास क्षमा याचना के लिए जाना चाहता है और चला भी जाता है, किन्तु बुद्ध जबरन उसके केश कटवा देता है जिससे वह ग्लानिवश घर नहीं लौटता, वन की ओर चला जाता है और वहाँ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों से सीधे साक्षात्कार करता है। एक व्याघ्र से भी भिड़ता है फिर क्षत-विक्षत होकर घर की ओर लौटता है और अपने अन्तर्द्वन्द्व को उजागर करता हुआ भिक्षु आनन्द से कहता है—

“और नहीं भिक्षु। यह बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्यसत्य और अमृत — मैं जानता हूँ, वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कहे देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है।”

उसके स्वगत कथनों में यह अन्तर्द्वन्द्व और भी अधिक मार्मिकता के साथ मुखरित हुआ है। यथा—

“जानता था कि यह प्रवृत्ति-आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक क्यों नहीं सका? क्यों मैंने जानबूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया? क्षत-विक्षत हम दोनों हुए..... पलायन भी एक तरह से दोनों ने किया.....।”

“आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों और उस तरह जी कर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया? या यह केवल मन का विद्रोह था..... बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या इसिलिए कि उस समय मैं इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षुआनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि —“यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुमरा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।”..... उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्तिरूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो जाता। कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुतः किसे हैं; उन्हें या मुझे?”

“उन्होंने कहा, ‘मैं मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है..... सब किसी उंगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्न नहीं है।..... पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए? कटवा ही दिए तो उससे अन्तर क्या पड़ता है। कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएंगे?..... अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आंखें बदल जातीं। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की वही छाया है।”

इससे भी तीव्रतम स्थिति नंद के निम्न संवाद में देखिए— “तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे..... अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे..... जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक साथ घेर लिया है। व्याघ्र से लड़कर भी मन को शांति नहीं मिली।..... लगता है अभी और लड़ना

है, बहुत लड़ना है..... ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं हैं। मन में म त्तु का भय है किसी भी प्रकार की म त्तु का.... परन्तु उस भय में साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अन्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों.... पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उनसे जानना है.आज ही और अभी।”

उपर्युक्त उद्धारणों से स्पष्ट होता है कि नाटककार ने नंद को द्वन्द्वग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप में उभारा है।

2 नंद :

विलासी राजकुमार :

नंद का विलासी व्यक्तित्व है वह अपनी अनुपम सौन्दर्य युक्त पत्नी सुन्दरी के रूप में ही उलझा रहता है वह मदिरापान भी करता है। तभी तो नाटककार ने कहा—

(नंद मदिराकोष्ठ के पास आकर चषक में मदिरा डालता है। तभी सुन्दरी की दृष्टि उस पर पड़ती है)

सुन्दरी : (चौंककर) आप?.....आप कब आए? अभी-अभी तो मैं.....।

नंद : (चषक होठों के पास ले जाकर) मैं अभी आया हूँ।

(चषक खाली करके यथास्थान रख देता है)

एक ओर तो कपिलवस्तु के राजपुरुष, राजकर्मचारी और सामान्य लोग बौद्धमत में दीक्षा ग्रहण कर रहे थे, और दूसरी ओर नंद अपनी पत्नी सुन्दरी द्वारा कामोत्सव के आयोजन की तैयार) में सहयोग देते दिखाई देते हैं—

“हां नहीं..... ऐसी कुछ विशेष बात नहीं थी। मैं यही कहना चाहता था कि व्यवस्था यदि उद्यान के स्थान पर कक्ष में की जाए, तो।”

नंद तो सुन्दरी के प्रसाधन में भी सहयोग करता है। वह दर्पण हाथ में लेकर खड़ा हो जाता है :-

“कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ..... तुम्हारी सुंदरता पर या तुम्हारी चातुरी पर।”

वह इतना विलासमयी है कि बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर भी वापिस सुन्दरी के पास आता है। उसे निहारता है और बौद्धमत में अपनी अस्वीकृति दिखाता है—

“यह केवल मन का विद्रोह था..... बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए? या कि इसलिए कि उस समय में इतना सत्त्वहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कर्तनी उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि यह विश्वास मेरा नहीं है। मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।”

वह केश कटने के बाद अपने को सुन्दरी के बिना अकेला महसूस करता है। इसीलिए वह कहता है—

“तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है। घर से और और अपने आपसे भी अकेला! जिस सामर्थ्य और विश्वास के बलपर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।”

नंद विलासी होने के कारण ही किसी एक पथ को नहीं चुन पाया। नहीं तो वह दोनों में से एक मार्ग का चयन कर लेता।

3. अस्थिर व्यक्तित्व :

नन्द का स्थिर व्यक्तित्व नहीं है और उसमें स्थिर निर्णय लेने की भी क्षमता नहीं है। शक्ति हो भी तो साहस नहीं करता। वह केवल सुन्दरी के रूप पर मोहित है। वह पूर्णतः भोगवादी दिखाई देता है, लेकिन ज्योंही उसे 'बुद्ध' शरण गच्छामि? का समवेत स्वर प्रबलता से सुनाई देता है तो उसका सुन्दरी (प्रव तिमार्गी) के प्रति आकर्षित मन टूट जाता है और वह बौद्धमत की शरण में भागता है। केश कर्तन करवा लेता है, किन्तु वह वहाँ भी नहीं ठहर पाता, वापिस लौटता है पर ग्लानिवश वन की ओर चला जाता है। वहाँ भी एक व्याघ्र से भिड़ता है, अथार्त्-प्रव ति एवं निव ति मार्ग से साक्षात्कार करता है। फिर क्षत-विक्षत घर लौट ही आता है। किन्तु उसका अस्थिर यहाँ भी नहीं टिकता। वह फिर कुछ प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए बुद्ध के पास जाता है। अतः उसका अस्थिर मन उसे कहीं भी नहीं टिकने देता, कोई भी स्थिर निर्णय नहीं लेने देता। वह अन्त तक कमलताल की लहरों पर तैरते-डोलते राजहंसों की तरह अस्थिर बना रहता है।

4. नंद: एक अहिंसक व्यक्ति :

नंद एक अहिंसक मानव है। वह बौद्ध दर्शन के अनुरूप ही अहिंसात्मकता का पालन करता है। उसकी यह भावनाहिरण के प्रसंग से स्पष्ट हो जाती है। संध्याकाल में नंद जब आखेट से वापिस आता है तो सुन्दरी से अपनी अहिंसात्मक भावना को व्यक्त करता हुआ कहता है—

“सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। म ग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ इससे मन को उतना खेद नहीं हुआ, जितना इससे कि जब थककर लौटने का निश्चय किया तो वही म ग.....थोड़ी ही दूर आगे..... रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।” म त्तु का यह शरीरी आतंक वास्तव में बुद्ध दर्शन की चेतना का ही आतंक है जिसने उसके मन में अहिंसा-भाव को जन्म दे दिया है। इसी विषय में वह आगे कहता है—

“मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि मरा हुआ म ग भी इतना सजीव लग सकता है ऐसे लग रहा था जैसे हाथ लगाते ही वह आशंका से कांप जाएगा और सहसा उठकर भाग खड़ा होगा। पर मैं उसे हाथ भी तो नहीं लगा सका। आखेटकों ने उसे उठा लाना चाहा, तो मैंने मना कर दिया। कहा कि उसे वहीं पड़ा रहने दो, उसी रूप में म त और जीवित।”

नंद दूसरे दिन तक भी म ग के प्रसंग को भूल नहीं पाया और अपने कक्ष के गवाक्ष से अनन्त क्षितिज की ओर देखता हुआ उसी के बारे में सोचता रहता है। सुन्दरी के पूछने पर कहता है—

“नहीं, उस म ग की बात सोच रहा था। सोच रहा था कि वहीं घने व क्षों की ओट में पड़ा हुआ वह....। वहाँ पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था। और न जाने क्यों इस समय प्रभात का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा..... कोमल, अक्षत और निर्जीव।”

जब गौतम बुद्ध उसके केश कटवा देते हैं तो वह फिर भी म ग को देखने के लिए जाता है और उसकी ठठरी देखकर कांपने लगता है। वापिस घर आने पर वह सोयी हुयी सुन्दरी के पास जाकर कहता है—

“.... तुम पूछती, क्यों, तो मैं क्या उत्तर देता? क्या कहता कि तथागत के पास से उठ आने के बाद क्यों मन में कल के मरे हुए म ग को देखने की कामना इतनी प्रबल हो आयी थी कि किसी भी तरह अपने को वहाँ जाने से रोक नहीं सका? कैसे बताता कि म ग के स्थान पर एक नोच

खायी ठठरी को देखकर मुझे कैसा लगा।”

5. **नंद : उद्दाम प्रेम का प्रतीक :**

राकेश जी ने नंद को उद्दाम प्रेम का प्रतीक प्रस्तुत किया है। वह सुन्दरी से अत्यधिक प्रेम करता है। वह तो सुन्दरी के प्रेम से आतंकित भी दिखाई देता है। जो विलास-भावना उसके मन में जागती है, वह सुन्दरी के प्रेम के कारण ही जगती है। यथा—

नंद : एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुन्दरी : किस बात का?

नंद : कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ..... तुम्हारी सुन्दरता पर या तुम्हारी चातुरी पर।

सुन्दरी : आप मुझे चतुर कहते हैं?

नंद : नहीं हो तुम?

सुन्दरी : कहते हैं, आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नंद : इसमें झूठ क्या है?

सुन्दरी : झूठ नहीं है?

नन्द : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

वह गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग से प्रभावित है। बुद्ध के पास जाकर केश कर्तन भी करवा लेता है, बौद्ध धर्म की दीक्षा ले लेता है, किन्तु फिर भी वह अपने उद्दाम प्रेम का परित्याग नहीं कर पाया, बल्कि बुद्ध मत में ही अविश्वास प्रकट करता हुआ कहता है।

“पर मैं पूछता हूँ कि तब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए? कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है। कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग जाएंगे। (झूले के पास रुककर) अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जातीं। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है”। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नंद एक उद्दाम प्रेम का प्रतीक रूप है।

अतः यहाँ राकेश जी ने ऐतिहासिक नंद के चरित्र को विलासिता के युगों से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के बीच मानव की दृग्ग्रस्त चेतना के अस्थिर व्यक्तित्व के, मानव मन की अहिंसात्मक भावना के आधुनिक प्रतीक रूप में उभारा है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राकेश जी ने उन्हें नायक बनाया है। वह नायक ठहरता भी है, क्योंकि वह नाटककार के उद्देश्यों की पूर्ति करता है।

अध्याय - 14

सुन्दरी का चरित्र-चित्रण

मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' नाटक की सर्जना एक द्वन्द्वप्रधान नाटक के रूप में की है। इसकी वस्तु-योजना एवं पात्र योजना में द्वन्द्व को प्रबल रूप से मुखरित किया है। असल में, यहाँ नाटककार ने नाटक के प्रमुख पात्रों के माध्यम से आधुनिक एवं युगों-युगों की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को अभिव्यक्ति किया है। यहाँ सभी प्रमुख पात्रों का चरित्र द्वन्द्वग्रस्त है। नाटक में नंद, सुन्दरी ही नहीं श्यामांग का चरित्र भी द्वन्द्वग्रस्त है। वास्तव में इन द्वन्द्वग्रस्त पात्रों के माध्यम से नाटककार ने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शनों के द्वन्द्वों से ग्रस्त मानव चेतना को मुखरित किया है। यह आधुनिक भी हो सकता है और सार्वकालिक भी इस विषय में स्वयं मोहन राकेश का नाटक की भूमिका में कहना है—

यहाँ नंद और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अर्न्तद्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है, जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है।"

अतः नाटककार के इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर 'लहरों के राजहंस' की मुख्य पात्रा सुन्दरी के चरित्र-चित्रण की विवेचना करना अधिक समाचीन होगा।

सुन्दरी 'लहरों के राजहंस' नाटक की नायिका और नाटक के नायक नंद की पत्नी है। वह प्रवृत्ति मार्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतीकात्मक पात्रा है। वह गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग में आस्था नहीं रखती वरन् उसके विपरीत भौतिक देह-सुख भोग को ही अपना अभीष्ट मानती है और देवी यशोधरा से स्वभावतः ईर्ष्या करती है। अतः उसके चरित्र पर विस्तार से चर्चा करना अपेक्षित है।

1. भोगवाद की प्रतीक सुन्दरी :

राकेश जी ने सुन्दरी के चरित्र को प्रवृत्ति मार्गी दर्शन के प्रतीकात्मक रूप में उभारा है। वह जीवन के भौतिक-सुख-भोग को ही जीवन का सबसे बड़ा सुख और अभीष्ट मानती है। वह अपनी कामेच्छाओं का स्थगन स्वीकार नहीं कर सकती। उसे पता है कि देवी यशोधरा कल प्रातः गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग में दीक्षा ग्रहण करेगी, इसलिए वह उससे पूर्व की रात्रि में कामोत्सव का आयोजन करती है। वह अपनी भोगवृत्ति को उजागर स्वयं ही करती है—

“रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रात-भर नगरवधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कक्ष की हवा कांपती रहेगी। हवा कांपती रहेगी, और डुलती रहेगी मदिरा उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। कपिलवस्तु

के राजपुरुष रात-भर उस मदिरा में और अन्यान्यमणि -मदिराओं में डूबते-उतराते रहेंगे। तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी। जो नहीं देखें, वे तो कल्पना भी नहीं कर पायेंगे।”

एक ओर तो कपिलवस्तु के राजपुरुष, राजकर्मचारी और जन-सामान्य सांसारिकता से विमुख होकर गौतम बुद्ध के निर्वाण मार्ग में दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं, दूसरी ओर भोग की प्रतीक प्रवृत्ति मार्गी सुन्दरी कामोत्सव का आयोजन करती है जिसमें रात्रि के अंतिम पहर तक भोजन, आपानक न त्य चलेगा। इसका उजागर करता हुआ श्यामांग कहता है—

“पिछले वसंत में आम कैसे बौराये थे! पेड़ों की डालियाँ अपने आप हाथों पर झुक आती थीं..... परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार जब आम के वक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ.....यहाँ रात-भर, न त्य होगा, अपानक चलेगा।

सुन्दरी भोगवाद में विश्वास रखती है तभी तो वह शशांक नामक राजसेवक को पुराने रस और आसव मिलाकर कई प्रकार के नए सम्मिश्रण बनाने के लिए आदेश देती है। वह गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा अपने प्रवृत्ति मार्ग को, उसके दृष्टिकोण को श्रेष्ठ मानती है। इसीलिए तो वह गौतम बुद्ध पर आरोप लगाती है—

“कहना चाहने की बात नहीं, अलका! मैं तुझे एक छोटी-सी सच्चाई बतला रही हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है। कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है?”

सुन्दरी का यह उपर्युक्त तथ्य स्वीकार नहीं है क्योंकि अगर ऐसा होता तो कपिलवस्तु के समस्त राजपुरुष, सामान्य-जन बौद्धमत में क्यों दीक्षित हो रहा है? सभी के सभी बौद्धमत को स्वीकार करने में इतना उत्साह क्यों दिखा रहे हैं? सुन्दरी इसके प्रत्युत्तर में कहती हैं “इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एक तार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। तब जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं। यह उत्साह दूध फेन का उबाल है। चार दिन रहेगा, फिर शान्त हो जाएगा।”

यही नहीं वह गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग पर व्यंग्य भी करती है। वह अलका से कहती है।

“कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे (राजहंसों) भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहे। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर कांपती हुई लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएंगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा। मैं चाहूँगी कि उस दिन.....।”

सुन्दरी कामोत्सव का आयोजन करती है लेकिन कामोत्सव में निमंत्रित व्यक्तियों में से कोई भी नहीं आटा, केवल एक मैत्रेय आता है। वह भी सुन्दरी को परामर्श देता है कि कामोत्सव को एक दिन के लिए स्थगित कर दिया जाए, यह सुनकर सुन्दरी एकदम तमतमा उठती है, क्योंकि यह उसके प्रवृत्ति मार्ग पर निवृत्ति मार्ग की ओर से एक प्रहार था और सुन्दरी पराजित होना नहीं चाहती थी, तुरन्त कहती हैं—

“कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूं। क्यों? मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।”

2. आधुनिक अभिजात्य नारी की प्रतीक :

सुन्दरी आधुनिक अभिजात्य वर्ग की प्रतीक रूप में उभरी है। उसके व्यक्तित्व में राकेश जी ने आधुनिक नारी जीवन के अनेक तत्वों का समावेश हुआ है। इसी कारण वह अपने प्रत्येक सामान्य या विशेष सामयिक या असामयिक कार्य को चिरस्मरणीय बनाना चाहती है। इसीलिए वह कामोत्सव के बारे में अपने कर्मचारियों से कहती है—“ हाँ, रात के अंतिम पहर तक! भोज आपानक और न त्य; वर्षों तक याद बनी रहनी चाहिए लोगों के मन में”। उसके दर्शन को हम चार्वाक दर्शन से प्रभावित मान सकते हैं या आधुनिक पाश्चात्य Eat, drink and mary की धारणा पर आधारित मान सकते हैं। वह अलका से कहती है.....“रात भर नगरवधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कथा की हवा कांपती रहेगी। हवा कांपती रहेगी और ढुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गौराई से... ..।”

सुन्दरी के व्यक्तित्व में अभिजात्य वर्ग की नारी जैसा शासन भाव भी विद्यमान है। इसी कारण वह अपनी बातों को आवश्यकता से अधिक महत्व देती है.... “ क्यों आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन में निमन्त्रण पाकर अपने को कृतार्थ समझा हो?” नंद कामोत्सव में भाग लेने के लिए अनेक लोगों के पास स्वयं जाता है, लेकिन कोई नहीं आता, इस बात का जब सुन्दरी को पता चलता है तो वह अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठती है और कहती है— “मेरे उत्सव में लोग अनुरोध करने से आएँ, इससे उनका न आना ही अच्छा है।” वह अत्यन्त उद्विग्न अवस्था में आर्य मैत्रेय से कहती है। “आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहा०१६१ से ये होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएँ। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतिक्षा में वे लोग न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं.....।”

देखा जाए तो यह उतावलापन सुन्दरी के व्यक्तित्व के खोखलेपन का ही द्योतक है और यह खोखलापन आधुनिक दृष्टिकोण से परखते हुए डॉ. जयदेव तनेजा का कहना है—

“नन्द और सुन्दरी के माध्यम से राकेश ने जिस तरह औरत और मर्द के आपसी रिश्ते का रेशा-रेशा उधेड़ा है, उनके संबंधों को जैसी निर्ममता और निष्ठुरता से विश्लेषित किया है, वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम या प्रमाण है।”

3. अनुपम सौन्दर्यशालिनी :

सुन्दरी अनुपम सौन्दर्यशालिनी नारी है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक है। वह अभिजात्यवर्गीय सौन्दर्य से युक्त है। वह शारीरिक के साथ-साथ व्यवहारिक सौन्दर्य की स्वामिनी है। नंद उसके सौन्दर्य पर मोहित एक नतमस्तक तो है ही, कुछ आतंकित भी है। उदाहरणतः

नंद : एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुन्दरी : किस बात का?

नंद : कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ..... तुम्हारी सुन्दरता पर या तुम्हारी चातुरी पर।

- सुन्दरी** : आप मुझे चतुर कहते हैं?
नंद : नहीं हो तुम?
सुन्दरी : (जैसे बहुत भोलेपन से) नहीं तो।
सुन्दरी : पता है लोग क्या कहते हैं?
सुन्दरी : कहते हैं, आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।
नंद : इसमें झूठ क्या है?
सुन्दरी : झूठ नहीं है?
नंद : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

5. ईर्ष्यालु नारी :

सुन्दरी स्वभावतः नारीगत ईर्ष्या-भाव की शिकार है। वह देवी यशोधरा से ईर्ष्या करती है। इसी कारण वह उसी पूर्व रात्रि में कामोत्सव का आयोजन करती है जिस दिन देवी यशोधरा बौद्धमत में दीक्षा ग्रहण करती है। वह राजकुमार सिद्धार्थ के गौतम बनने के पीछे देवी यशोधरा को ही कारण मानती हुई व्यंग्यात्मक शब्दों में कहती है—“यही तो दुःख है कि आज वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं है। परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है। नहीं?”

एक स्थल पर श्यामोंग सुन्दरी के ईर्ष्या भाव को व्यक्त करता है। “कामोत्सव का आयोजन किया गया है, इस बार जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।..... कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ..... यहाँ रात भर न त्य होगा, आपानक चलेगा....।”

सुन्दरी के इस ईर्ष्यालु भाव से नंद परिचित है, इसीलिए जब यशोधरा कहती है कि वह भिक्षुणी बनने से पहले अपने संबंधियों से मिलना चाहती है और मिलने के लिए नंद के पास निमंत्रण भी भेजती है। नंद सुन्दरी को बिना बताये ही यशोधरा से मिलने चला जाता है। वापिस आने पर जब वह सुन्दरी को बताता है कि वह देवी यशोधरा से मिलकर आ रहा है और तुम्हारे लिए उन्होंने आशीर्वाद भेजा है, तभी वह तमतमा उठती है और कहने लगती है—

“आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे! मन में क्या सोच रही होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ उन्हीं के कारण।”

अतः सुन्दरी का ईर्ष्यामत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

6. सुन्दरी का विद्रोह एवं द्वन्द्व :

सुन्दरी का पूर्ण विश्वास था कि उसका पति नंद कभी भी उसके सौन्दर्य-पाश से मुक्त होकर बौद्ध-भिक्षु नहीं बन सकता। लेकिन जब वह प्रसाधन कर रही होती है और नंद अपने हाथों में दर्पण लिए हुए होता है तो वह हिलकर गिरकर टूट जाता है, तभी वह शंकाग्रस्त होकर कहती है—“जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था..... या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?” इसी के साथ उसका विश्वास भी खण्डित हो जाता है, लेकिन उसे इस विश्वास के खण्डित होने का एहसास तब होता है जब वह एक ओर अपने अधूरे शंभुगार को देखती है तो दूसरी ओर अपने सम्मुख केश कर्तित नंद को देखती है। उसकी इस स्थिति के विषय में डॉ. सुरेश अवस्थी का

कहना है।

“एक ओर तो नन्द के मन का यह द्वन्द्व है, और दूसरी ओर रूपगर्विता सुन्दरी के इस खण्डित विश्वास की पीड़ा कि उसमें आसक्त उसका पति कैसे उसके रूपपाश से मुक्त होकर बौद्ध भिक्षु होकर उन्हीं हाथों में भिक्षापात्र लेकर उसके पास लौटा है, जिन हाथों में उसके शं गार के लिए उसने दर्पण उठाया था। नाटक के अन्त में जब वह नन्द के द्वारा चन्दन लेप का बिन्दु बनाए जाने पर चौंककर जाग जाती है तो उसकी दृष्टि नन्द के केश कटे हुए भिक्षु-वेशी मुख पर पड़ती है। उसका मुख वित ष्णा से भर जाता है।”

नन्द केश कटवा कर घर आता है तो वह सुन्दरी को निहारकर सोचता है कि सुन्दरी को तुम्हारे केश चाहिए अर्थात्, सुन्दरता चाहिए जिसमें केशों का होना अनिवार्य है इसीलिए वह केश लेने के लिए वापिस गौतम बुद्ध के पास जाता है। लेकिन सुन्दरी की सोच इसके विपरीत आधुनिक नारी की-सी है। वह पुरुषवादी इस सोच के प्रति विद्रोह-भावना रखती है। इसी कारण उसका अन्तर्द्वन्द्व और अधिक गहन हो उठता है और वह विद्रोहात्मक भावना को व्यक्त करती हुई कहती है—

“इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है। इससे कभी समझ भी नहीं पाएंगे ये कभी नहीं समझ पाएंगे।”

7. अहंनिष्ठ नारी :

सुन्दरी अहंनिष्ठ नारी है। वह कामोत्सव का आयोजन करती है लेकिन मैत्रेय को छोड़कर निमंत्रित व्यक्तियों में से कोई भी नहीं आता। मैत्रेय भी यह परामर्श देता है कि कामोत्सव को स्थगित कर दिया जाए, यह सुनते ही वह तमतमा उठती है, क्योंकि वह इसे निवृत्ति मार्ग की ओर से एक षड्यन्त्र मानती है। और कहती है—“ मैं अल्पवस्थित नहीं हूँ। किसी का कोई षड्यन्त्र मुझे अल्पवस्थित नहीं कर सकता।”

मैत्रेय यह सुनकर वापिस जाना चाहता है लेकिन नन्द उसे रोकने की कोशिश करता है। इसी समय सुन्दरी बड़ी उद्विग्नता से जो कहती है उससे उसकी अहं भावना ही झलकती है—

“(आपे से बाहर होकर) अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ। और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ से होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएं। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतीक्षा में वे न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा। कभी नहीं.....।”

अतः कहा जा सकता है कि लेखक के मूल उद्देश्य युगों-युगों से मानव की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दर्शन के बीच द्वन्द्वग्रस्त चेतना को मुखरित करने में सुन्दरी एक ओर प्रवृत्ति मार्ग के दर्शक का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर पुरुष प्रधान समाज की नारी के प्रति सोच का आधुनिक नारी के रूप में विद्रोह भी प्रकट करती है। वह अनुपम सौन्दर्य शालिनी है इसीलिए उसे अपने रूप सौन्दर्य पर गर्व है और वह राजरानी है इसलिए वह अहंनिष्ठ भी है।

अध्याय - 15

श्यामांग प्रसंग की अर्थवत्ता

मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' नाटक में श्यामांग प्रसंग को जिस प्रकार से प्रयुक्त किया है, उससे वह चर्चा का विषय बन गया है। सामान्यतः अधिकांश विद्वान श्यामांग को कुमार नंद की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक मानते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि ऐसा मानने से उसका व्यक्तित्व नंद के व्यक्तित्व में ही अन्तर्निहित होकर रह जाता है। अगर हम यह मान भी लें कि वह नंद की अन्तर्द्वन्द्व चेतना का प्रतीक है तो भी नाटक में उसका अलग से व्यक्तित्व अवश्य बना रहता है। उसकी महत्ता एवं अर्थवत्ता नाटक के प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगती हैं। नाटकारम्भ में ही उसका स्वर नाटकीय कथा को उद्घाटित करता है और ध्यान आकर्षित करता है और नाटकांत तक उसका स्वर सुनाई देता रहता है। आरम्भ में ही वह पत्तियों को तोड़ने और सुलझाने में व्यस्तभाव से श्वेतांग से कहता है—

“मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है।” यह ईर्ष्या क्यों है? क्योंकि श्वेतांग अपने कार्य में लगा रहता है जबकि श्यामांग अपनी मानसिक उलझनों में ही उलझा रहता है। वह ईर्ष्या का कारण स्वयं बताता है — “देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जाता है। न कुछ उलझता है, न कुछ बिखरता है।”

श्यामांग की इस उलझन में नाटक की सारी कथा-प्रक्रिया उलझी ही दिखाई देती है। उसे प्रकाश की कोई भी किरण दिखाई नहीं देती। नन्द अपनी यातनामयी स्थिति को निर्णय के हाथों में सौंपकर चला जाता है किन्तु फिर भी श्यामांग का स्वर सुनाई देता है— “केवल एक किरण केवल एक किरण....।”

श्यामांग के इस प्रलाप से ऐसा लगता है कि विवशता से ही सही नंद से निर्णय की एक किरण मिल ही जाती है जबकि श्यामांग को वह नहीं मिल पाती।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि श्यामांग का व्यक्तित्व नन्द में अन्तर्हित होकर भी उससे अलग अस्तित्व रखता है। कारणतः कहा जा सकता है कि आधुनिक द्वन्द्वग्रस्त चेतना का अंकन जितना श्यामांग के व्यक्तित्व से हुआ है, उतना नंद के व्यक्तित्व से नहीं हुआ। शायद श्यामांग के इसी प्रसंग के कारण नाटककार की स्वयं की चेतना भी अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त रही है। तभी तो उन्होंने 'नाटक का यह परिवर्तित रूप' शीर्षक की भूमिका में लिखा—“ पहले अंक से हटाना चाहा तो हटा नहीं सका, दूसरे अंक में उसके लिए स्थान बनाना चाहा तो वह भी बना नहीं सका।” इसी कारण श्यामांग पहले अंक के बाद रंगमंच पर दिखाई नहीं देता। पर इतना जरूर है कि दूसरे और तीसरे अंकों में नेपथ्य से उसका ज्वर-प्रताप संगीत खण्डों में अवश्य सुनाई देता रहता है। यह ज्वर-प्रलाप नंद की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को गहराई भी देता है जिससे यह प्रलाप प्रतीकात्मक बन जाता है। यह प्रतीक केवल नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को ही मुखर नहीं करता। बल्कि मनुष्य के युगों-युगों के द्वन्द्व से मुखर करता है। शायद इसी कारण नाटककार ने श्यामांग के रूप में

उसकी अत्यधिक आकर्षक एवं सशक्त सजीव पात्र की ऐतिहासिक परिवेश में सर्जना की है। कुछ आलोचक श्यामांग और अलका के मौन आकर्षण और प्रेम को नन्द और सुन्दरी के उद्दाम प्रेम का प्रतीक मानते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि किसी एक का प्रेम दूसरे के प्रेम का प्रतीक कैसे हो सकता है? हमारे विचार में यह कल्पना निरर्थक है। क्योंकि ऐसा मानने से श्यामांग और अलका के अस्तित्व को नकार देना है और नन्द एवं सुन्दरी के अस्तित्व, व्यक्तित्व में जान-बूझकर अन्तर्हित करने का प्रयत्न करना है। अगर ऐसा होता तो न नाटककार अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त रहता और न ही वह श्यामांग को पहले अंक से हटाकर दूसरे अंक में लाने का असफल प्रयत्न करता। भले ही श्यामांग कल्पित पात्र है, लेकिन वह नाटककार की सजनात्मक प्रक्रिया में एक व्यक्तित्व बनकर उभरा है। हमारा तो यहाँ तक मानना है कि श्यामांग एक प्रतीक होते हुए भी उसका नन्द से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व है। उसका इतना प्रभावशाली व्यक्तित्व है कि नाटककार के प्रतिबन्धित करने पर भी वह नन्द के व्यक्तित्व पर छा गया है और वह दर्शकों की सहानुभूति नन्द से भी ज्यादा प्राप्त करता है। डॉ. सुरेश अवरथी श्यामांग को नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक मानते हुए कहते हैं—

“आरम्भ में लगता है कि श्यामांग और अलका का अत्यन्त सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुन्दरी और नन्द के उद्दाम, मुखर और कामासक्त प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि की चेष्टा करता है और फिर बाद में यही श्यामांग नन्द के अस्थिर और द्वन्द्वजर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है और अपने ज्वर-प्रलाप में जैसे नन्द की ही अनिश्चितता, विभ्रम और अकुलाहट को ध्वनित करता है।”

श्यामांग और अलका के मौन प्रेम को सुन्दरी नन्द के उद्दाम प्रेम का प्रतीक मानने के विषय में ऊपर चर्चा हो चुकी है। रहा नन्द के द्वन्द्वग्रस्त मन के प्रतीक का प्रश्न, तो उसे भी हम आंशिक ही स्वीकारते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि श्यामांग के प्रलाप से नन्द के द्वन्द्व को बल मिला है, किन्तु उसका प्रलाप उसी के अवचेतन मन की ग्रंथि मुख्य रूप से है जो अचेतावस्था में अधिक सशक्त रूप में मुखर हुई है। नाटक के प्रारम्भ से ही श्यामांग एक अन्तर्मुखी चिन्तनशील व्यक्ति के रूप में उभरा है। यही कारण है कि जब उसे अन्धकूप में डाल दिया जाता है। तो उसकी अन्तर्मुखता प्रलाप का रूप धारण लेती है। अलका सुन्दरी के वार्तालाप से उनका निजी व्यक्तित्व ही उभरता है। अलका सुन्दरी से कहती है—

“नहीं देवी! छाया की बात में मैं विश्वास नहीं करती। पर मैं कई दिन से देख रही हूँ कि धीरे-धीरे उसे कुछ होता जा रहा है..... अपनी मानसिक शक्तियों से उसका अधिकार उठता जा रहा है। कि वह अपने में ही कहीं खोया जा रहा है.... मन में कुछ ग्रंथियाँ उलझ गयी हैं और वह..... उसे सहानुभूति उपचार की आवश्यकता है, देवि, मैं कितना चाहती थी कि मैं उसे कि उसके लिए कुछ किया जा सके....।”

अर्थात् श्यामांग का द्वन्द्व अपना है। वह किसी से मेल नहीं बैठता। श्यामांग के प्रलाप को नन्द का अन्तर्मुखी भाव नहीं माना जा सकता। इतना जरूर है कि श्यामांग का प्रलाप नन्द के द्वन्द्व को प्रबल अवश्य करता है। नाटककारम्भ में श्यामांग कामोत्सव के बारे में अपने विचार व्यक्त करता है तो वहाँ उसका अपना ही वैचारिक द्वन्द्व है। उदाहरणतः—

“श्वेतौंग कहता कुछ सोचो नहीं..... पर सोचना न सोचना अपने बस की बात

है? पिछले वसन्त में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियाँ अपने आप हाथों पर झुक आती थी।.... परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार.... जब आम के वक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।.... कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेगी और यहाँ.... यहाँ रात-भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा.....।”

एक अन्य स्थल पर सुन्दरी भी कुछ ऐसा ही कहती है— “उससे प्रेम तो नहीं करती?..... मैंने नहीं सोचा कि तू ... पर तू किसी से प्रेम करती है, तो उस तरह के सपने कैसे देखती?.... और श्यामाँग वह ऐसा व्यक्ति है क्या जिससे पर शायद यह बात पूछने की नहीं..... मुझे इस विषय में सोचना होगा।”

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि श्यामाँग का अपना व्यक्तित्व है और अलका उससे प्रेम करती है। और इसी कारण उसका द्वन्द्व भी उसी का है। सुन्दरी का संवाद तो इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है जिसमें वह अलका से पूछती है—“तुझे विश्वास है, तू सचमुच उससे प्रेम करती है?”

एक बात और कि सुन्दरी नंद के आने से पहले ही अपना पहला आदेश वापिस लेकर श्यामाँग की अन्धकूप से मुक्ति का दूसरा आदेश भी दे देती है। कुल मिलाकर देखा जाए तो अलका, श्यामाँग का प्रेम प्रसंग उनका अपना ही है न कि नंद और सुन्दरी का प्रतीक रूप।

लेकिन डॉ. सुरेश अवस्थी इस बात से सहमत नहीं हैं। वे तो श्यामाँग की महता इसी कारण मानते हैं कि वह नंद के मन के द्वन्द्व एवं संघर्ष को ध्वनित करता है। उनकी दृष्टि में श्यामाँग एक व्यक्ति के रूप में पहले ही अंक में मर जाता है और अपने प्रसंग और उन मूल्यों से पूरी तरह से कट जाता है जो नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में श्यामाँग पहले अंक के बाद नाटक से अपनी भूमिका को खो लेता है? इसका उत्तर डॉ. सुरेश अवस्थी के ही वक्तव्य में मिल जाता है— “दूसरे अंक के प्रारम्भ में एक स्वर श्यामाँग का नेपथ्य से उभरता है और उधर नंद अपने मन की उद्विग्नता के कारण रात गए तक जाग रहा है। ये दोनों स्वर एक दूसरे से टकराते हैं और एक-दूसरे को काटते हैं और तब ऐसा लगता है कि नन्द ही रंगमंच पर अनिन्दा में अशांत बैठा है और नंद ही नेपथ्य से प्रलाप कर रहा है। कोई स्वर नहीं.... कोई किरण नहीं है..... एक छाया है..... अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया।”

अवस्थी के इस कथन में विरोधाभास दिखाई देता है। प्रश्न उठता है कि जब श्यामाँग की चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यों और कथनों के मन्तव्य स्पष्ट नहीं है तो फिर नन्द की चरित्रगत अवधारणा, उसके कार्यों और कथनों का मन्तव्य भी स्पष्ट नहीं हो सकता और यदि नंद के व्यक्तित्व में अस्पष्टता है तो नाटक का सजन ही अपना मूल्य खो बैठता है।

इस नाटक में श्यामाँग के प्रसंग को लेकर एक और प्रश्न उठता है। जब सुन्दरी के रूप जाल-प्रेम और बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को लेकर नंद की चेतना द्वन्द्वग्रस्त हो जाती है तो श्यामाँग की चेतना अलका के प्रेम और बुद्धमत को लेकर द्वन्द्वक्यों नहीं मचता? फिर चिन्तनशील और भावुक मन में तो और भी प्रबलता से उठ सकता है, क्योंकि उसके माध्यम से उस युग का बोध भी तो हो सकता है। उस समय बुद्ध का प्रभाव बढ़ रहा था। कपिलवस्तु के लोग विशेषतः राज कर्मचारी बड़ी तीव्रता से उसकी ओर आकर्षित हो रहे थे, दीक्षा ग्रहण कर रहे थे। मैत्रेय के संवादों से भी कामोत्सव के प्रसंग में इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। सुन्दरी के बुलाने पर भी वे लोग कामोत्सव में नहीं आते। मैत्रेय कहता है—

“जिन-जिनसे मैं मिला हूँ, उनमें से हर एक ने किसी-न-किसी कारण अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए, क्षमा-याचना की है—रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईषाण, शैवाल, सभी ने।”

नंद के माध्यम से जहाँ नाटककार ने एक ओर राजपरिवार के एक व्यक्ति के निर्णय के यातनामय द्वन्द्व को आकार प्रदान किया है, वहाँ श्यामाँग के माध्यम से उस युग की सामान्य और विशेषतः राजपुरुषों एवं कर्मचारियों की स्थितियों का चित्रण किया है। उनके सामने भी एक ओर प्रवृत्तिमार्ग का आकर्षण है तो दूसरी ओर बौद्ध मत की पुकार भी है। अतः कहाँ जाए? का प्रश्न, किसको अपनाए का द्वन्द्व प्रत्येक युग एवं व्यक्ति चेतना का है। यहाँ नंद की चेतना का द्वन्द्व उच्चवर्ग की व्यक्ति चेतना का द्वन्द्व है, जबकि श्यामाँग का द्वन्द्व युगो-युगों की अन्तर्मुखी सामान्य जनता का द्वन्द्व है। उसे नन्द की ही चेतना में अन्तर्हित नहीं बताया जा सकता है, क्योंकि अंत में राजपरिवार का द्वन्द्व किनारा पा जाता है। जबकि प्रजा का द्वन्द्व बना ही रहता है। वैसे तो श्यामाँग और नंद में से किसी को भी बौद्ध मत में दीक्षित होते नहीं दिखाया गया। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो नंद की आँखों में केश-कर्टन के बाद सुन्दरी का रूप ही समाया रहता है, पर ध्वनित हो जाता है कि नन्द ने दीक्षा ले ली। श्यामाँग का अंतिम प्रलाप से भी यही उजागर होता है कि निवृत्ति मार्ग में ही द्वन्द्व का परिहार है— “बस एक किरण केवल एक किरण।” अतः यह किरण प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति मार्ग के रूप में ही है जो नंद या श्यामाँग को मिल नहीं पाती, क्योंकि उस किरण को पाना अर्थात् निवृत्ति मार्ग को अपनाते हुए दिखाना नाटककार का उद्देश्य भी नहीं था। उसका उद्देश्य तो युगों से मानव की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर करना था। इस प्रकार हम श्यामाँग प्रसंग को द्वन्द्वग्रस्त चेतना को रूपायित करने में उसकी भूमिका को हम नंद के समान मान सकते हैं, पर नंद के व्यक्तित्व में ही अन्तर्हित नहीं मान सकते, क्योंकि श्यामाँग का प्रेम संबंध अपना है और नंद की अपेक्षा वह अधिक अन्तर्मुखी है। इसी प्रकार उसका द्वन्द्व भी अपना है। जो नन्द की अपेक्षा अधिक गहरा और व्यापक है। उसके द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में अधिक गहराई निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है—

“जब आम के वृक्षों ने भी भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है.... कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ....यहाँ रात भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा....।”

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि श्यामाँग प्रसंग के बारे में स्वयं नाटककार भी द्वन्द्वग्रस्त है। नाटककार की स्थिति को समझते हुए डॉ. सुरेश अवस्थी का कहना है—“लेकिन श्यामाँग प्रसंग नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रुचि और नाटक के सहज प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामाँग चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यों और कथनों के मन्तव्य स्पष्ट नहीं है और ऐसा लगता है कि उनके सम्बन्ध में नाटककार दुविधाग्रस्त है।”

भले ही अवस्थी जी ने नाटककार को दुविधाग्रस्त बता दिया हो, लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है जिसे आगे-चलकर अवस्थी जी स्वयं स्वीकारते हैं—“इस प्रकार नाटककार एक साथ ही जैसे श्यामाँग से दो काम लेना चाहता है (अपनी भी और नन्द की अभिव्यक्ति भी) और दो प्रयोजनों की सिद्धि चाहता है। श्यामाँग के चरित्र का यही विरोधाभास (तब तो यह विरोधाभास नन्द के चरित्र का ही होना चाहिए) इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रसंग (तो निश्चित रूप से यह एक स्वतन्त्र एवं महत्वपूर्ण प्रसंग है, नाटकीय शक्ति को क्षीण कर देता है। और इसी कारण अलका का अत्यन्त

प्रयोजनशील और स्पष्ट चरित्रांकन पूरी तरह विकसित नहीं हो पाता।” अतः अवस्थी जी एक ओर श्यामाँग के व्यक्तित्व को स्वीकारते हुए नजर आते हैं तो दूसरी ओर उसे नकारते हुए भी— “श्यामाँग प्रसंग नाटक के पूरे रूपबंध का ही अंग है, और वह नाटक की मुख्य कथा-वृत्ति और द्वन्द्वभाव को ही अधिक तीव्र बनाता है। अपना स्वामत अस्तित्व नहीं निर्मित करता।”

हाँ, यह जरूर है कि श्यामाँग प्रसंग में अलका का चरित्र विकसित नहीं हो पाता। वह अधूरा ही रह जाता है। परन्तु क्या हम इसे आधार मानकर समूचे श्यामाँग प्रसंग को, उसके व्यक्तित्व को नकार दे? नहीं।

श्यामाँग के व्यक्तित्व की महत्ता को सिद्ध करने के लिए हम यहाँ शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक ‘जूलियस सीजर’ का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस नाटक का नायक आरम्भ में ही मारा जाता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व का प्रभाव अन्त तक बना रहा है। आलोचकों ने नायक सीजर की आत्मा को स्वीकार किया है, क्योंकि संपूर्ण कथा को परोक्ष रूप से वही नियंत्रित रखता है। इसी विषय में हम एक और उदाहरण ले सकते हैं। बंगला उपन्यासकार प्रमथनाथ विशी के ‘पूर्णावतार’ उपन्यास में कृष्ण की मृत्यु आरम्भिक पृष्ठों में ही हो जाती है। किन्तु वह सम्पूर्ण कथा में छाया रहता है। अतः श्यामाँग का प्रसंग भी कुछ इसी प्रकार का है। वह नाटक के प्रथम अंक में तो रंगमंच पर उपस्थित होता है, फिर उसे अंधकूप में डाल दिया जाता है। बस नेपथ्य से उसका ज्वर प्रलाप ही सुनाई देता है। लेकिन यह प्रलाप ही उसके व्यक्तित्व को आकृति प्रदान करता है और दर्शकों को आकर्षित, प्रभावित करता है। अतः पुरजोर तरीके से यही कहेंगे कि श्यामाँग प्रसंग से नाटककार ने युगों-युगों के मानव-चेतना के द्वन्द्व को उजागर किया है। अगर हम नाटक से श्यामाँग प्रसंग को हटा दे तो ‘लहरों के राजहंस’ की नाटकीयता एवं उसके उद्देश्य (द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर करना) पर प्रश्न चिह्न लग जाएगा।

अतः श्यामाँग का अपना व्यक्तित्व है। उसका नितान्त अपना प्रेम है और द्वन्द्व भी उसका अपना ही है। उसका प्रसंग तो दर्शकों/पाठकों में कौतुहल एवं उत्सुकता की श्रृंखला बढ़ाकर है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि श्यामाँग प्रसंग तो ‘लहरों के राजहंस’ नाटक की एक आवश्यक कड़ी है जो नाटक को नाटक को अर्थकता और गहनता प्रदान करती है। जिसकी नाटक के लिए विशेष महत्ता है।

खंड ख व्याख्या

अध्याय - 16

श्यामांग प्रसंग की अर्थवत्ता

“रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछना। रात-भर नगरवधु चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कक्ष की हवा कांपती रहेगी और दुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। कपिलवस्तु के राज-पुरुष रात-भर उस मदिरा में और अन्यान्य मणि-मदिराओं में डूबते-उतराते रहेंगे। तू देखेगी और विश्वास नहीं करेगी, जो नहीं देखेंगे वे तो कल्पना भी नहीं कर पाएंगे।”

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यावतरण नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ के प्रथम अंक से उद्धृत किया गया है। तथागत निर्वाण प्राप्त करने के उपरान्त पुनः अपनी मात भूमि कपिलवस्तु में आए हुए हैं और अपनी शरण में आए हुए व्यक्तियों को बौद्धमत की शिक्षा दे रहे हैं। दूसरी ओर उनके सौतेले भाई नन्द की रूपगर्विता पत्नी ने कामोत्सव का आयोजन किया है। सुन्दरी की दासी अलका नगर में बढ़ रहे गौतम बुद्ध के प्रभाव के कारण आशंका व्यक्त करती है कि यह कामोत्सव पूर्ण भी होगा? सुन्दरी अपनी दासी अलका की इन्हीं आशंकाओं का समाधान करते हुए कहती हैं—

व्याख्या : तुम्हें आशंकाओं से नहीं घिरना चाहिए। तुमने अभी तक कामोत्सव की मादकता का रसपात्र नहीं किया है, इसीलिए तू ऐसा कह रही है। जब रात्रि का समय हो जाएगा और कामोत्सव का उन्माद रात्रि पर छा जाएगा, तब तू अपने मन से पूछना कि वह पुनः आशंका ग्रस्त हो या नहीं। अपने उत्सव और सफलता की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए सुन्दरी पुनः कहती है— इस सुसज्जित कक्ष में सारी रात्रि नगर की प्रसिद्ध नर्तकी चन्द्रिका का मनमोहक नृत्य होगा। उसके द्वारा नृत्य करते समय चरणों की तीव्र वायु से भी अधिक तेज, मनमोहक, आकर्षण और मस्ती का नया संदेश देने वाली होगी। उसके चरणों की लय-ताल से यहां का वातावरण इतना मदहोश हो जाएगा कि दर्शक मदिरा में अपने आपको डुबो देंगे। इतना ही नहीं, नर्तकी चन्द्रिका के नयनों का एक-एक संचालन एवं उसका गदराया हुआ शरीर भी मदिरा जैसी ही मस्ती लुटाने वाला होगा। यहां रातभर कपिलवस्तु के राजपुरुष नर्तकी के उस रूप-मदिरा का पान तो करेंगे ही साथ ही मणियों से जड़ित प्यालों में अनेक प्रकार के स्वाद से परिपूर्ण मदिरा का पान करके भी मस्ती के क्षणों में विभोर रहेंगे। इस प्रकार आज रात यह कामोत्सव का आयोजन तुम्हारी स्मृति बनकर रह जाएगा। इस महोत्सव में लिप्त होकर सभी व्यक्ति गौतम बुद्ध के मोक्षवादी सिद्धान्त को विस्मृत कर देंगे। यह सम्पूर्ण आयोजन इतना मनोमुग्धकारी होगा कि तू तो क्या कोई भी देखने वाला व्यक्ति कपिलवस्तु के इस अभूतपूर्व आयोजन पर विश्वास ही नहीं कर पाएगा। जो व्यक्ति गौतम बुद्ध के उपदेश सुनने में ही व्यस्त है, वे तो इस मस्ती भरे आयोजन की कल्पना भी नहीं

कर पाएंगे, अर्थात् यह महोत्सव इतना चित्ताकर्षक व मदोन्मत्तकारी होगा कि हम कल्पना के माध्यम से भी उसका बिम्ब बनाने में असमर्थ होंगे।

विशेष :

1. सुन्दरी की भोगवादी प्रवृत्ति उजागर हुई है
2. यहाँ चार्वक के 'खाओं-पिओ, मौज करो' के सिद्धधान्त के दर्शन भी होते हैं।
3. शृंगार रस की अभिव्यक्ति है।
4. भाषा काव्यात्मकता लिए हुए हैं।
5. अभिधा और लक्षणा शब्द शक्ति है।
6. संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है।
7. चित्रात्मकता है
8. पात्रानुकूलता है।

“बस कह दिया, तो हो गया। पत्तियां श्यामांग के लिए छोड़ दो। श्यामांग से पत्तियां न सुलझीं, तो कामोत्सव नहीं होगा..... श्वेतांग कहता है कुछ सोचो नहीं।.... पर सोचना-न-सोचना अपने बस की बात है ? पिछले बसंत में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियां अपने-आप हाथों पर झुक आती थीं।..... परन्तु तब तक यहां कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार..... जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है। कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहां..... यहां रात-भर, न त्य होगा, आपानक चलेगा.....।”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' नामक नाटक से उद्धृत है। कामोत्सव के अवसर पर दो राजसवेक श्यामांग और श्वेतांग राजभवन को सजाने व दीपक जलाने में लगे हुए हैं। श्यामांग काम कम और चिन्तन ज्यादा करता है, इसलिए उससे तोरण पर सजाने वाली पत्तियाँ उलझ जाती हैं। कार्य जल्दी करने के लिए श्वेतांग उसे दीपक जलाने का कार्य सौंप कर स्वयं पत्तियाँ सुलझाने लग जाता है। सुन्दरी श्वेतांग को किसी अन्य कार्य के लिए भेजकर श्यामांग को पुनः पत्तियाँ सुलझाने का आदेश देती है। यह आदेश सुनकर श्यामांग क्षुप्त हो कहता है—

व्याख्या : सुन्दरी के इस आदेश से कि पत्तियाँ श्यामांग सुलझाएगा से काम तो नहीं हुआ। अगर मैं इन पत्तियों को न सुलझा पाया तो भी कामोत्सव तो सकने से रहा। श्वेतांग भी मुझे कुछ भी सोचने-विचारने को मना करता है, क्योंकि वह कहता है कि ज्यादा चिन्तनशील बनने से कार्य करने में बाधा आती है। लेकिन चिन्तन करना या न करना मानव के वश में नहीं है। श्यामांग राजभवन में होने वाले कामोत्सव के आयोजन पर विचार करता हुआ कहता है—पिछली बार प्रकृति भी इस कामोत्सव के अनुकूल थी, क्योंकि आम खूब बौराए हुए थे तथा पेड़ पौधे फूलों व फलों के भार से झुक गए थे, लेकिन ऐसे वतावरण में भी किसी को कामोत्सव के आयोजन का ध्यान नहीं आया। कामोत्सव का आयोजन इस बार किया गया है जब पेड़-पौधे बौद्ध भिक्षु बन गए हैं अर्थात् पत्र-विहिन हो चुके हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कपिलवस्तु में सभी उल्लसित जीवन व्यतीत कर रहे थे तब तो ऐसा उत्सव किसी ने नहीं मनाया, लेकिन अब जबकि नगर के अधिकांश व्यक्ति गौतम बुद्ध की ओर आकर्षित हो रहे हैं, ऐसे अवसर पर कामोत्सव का आयोजन किया जा रहा है। कल प्रातः देवी यशोधरा

भी बौद्ध धर्म में भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेगी और यह पूरी रात नृत्य और मदिरा से सम्पूर्ण वातावरण मदमस्त रहेगा, ऐसी प्रतिकूल क्रियाएं देखकर बड़ा आश्चर्य होता है।

विशेष :

1. श्यामांग के सुन्दरी की भोगवादी प्रवृत्ति को उजागर किया है
2. सुन्दरी के ईर्ष्या भाव पर व्यंग्य भी किया है।
3. श्यामांग का चिन्तनशील व्यक्तित्व मुखरित हुआ है।
4. भाषा का प्रसाद गुण है।
5. अभिधा और लक्षण शब्द शक्ति है।
6. संस्कृतिनिष्ठ खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है।
7. भाषा सहज, सरल एवं पात्रानुकूल है
8. काव्यात्मकता का गुण विद्यमान है।

“यह सच नहीं? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े थे? बात बहुत साधारण-सी है अलका! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका उपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।”

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यांश आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ से अवतरित है। रात्रि के समय सुन्दरी द्वारा कामोत्सव का आयोजन किया जा रहा है और अगली सुबह यशोधरा बौद्ध मत में दीक्षित होने जा रही है इस स्थिति को देख अलका का मन अनेक आशंकाओं से भर जाता है। वह रात को स्वप्न में सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल भरा आकाश देखा है यह सुनकर सुन्दरी कहने लगी कि कहीं तू भी यशोधरा की तरह भिक्षुणी न बन जाए। सुन्दरी यशोधरा पर व्यंग्य करती है कि आज जो लौटकर आए हैं, वे राजकुमार सिद्धार्थ नहीं, गौतम बुद्ध हैं। इसका श्रेय भी देवी यशोधरा को है।

व्याख्या : सुन्दरी कहना चाहती है कि अगर यशोधरा में रूपाकर्षण शक्ति होती तो राजकुमार गौतम बुद्ध नहीं बनते। अलका इस कथन से सहमत नहीं होती, लेकिन सुन्दरी फिर कहती है। नारी के पास अपने रूप-यौवन का एक ऐसा जादू होता है जिससे वह किसी भी प्रकृति के पुरुष इस रूप-जाल में बांधकर रख सकती है। वह मेरी भांति कामोत्सव का आयोजन भी कर सकती है। नारी के रूप-यौवन और आकर्षक व्यक्तित्व में भंवरे की तरह फसा व्यक्ति कभी भी वैराग्य या निवृत्ति मार्ग अपनाने की नहीं सोच सकता। लेकिन राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप घर से निकल पड़े थे, क्योंकि यशोधरा उन्हें अपने रूप यौवन का पान कराने में असमर्थ रही। वह अलका से कहती है कि क्या यह सत्य नहीं है। बहुत साधारण-सी बात है कि एक नारी के रूप यौवन का आकर्षण पुरुष में पौरुषत्व का भाव जगाए रखता है और जब तक नारी के आकर्षण के कारण उसमें पौरुषत्व का संचार होता रहेगा तब तब वह उसी स्त्री और अपने घर-परिवार को राजकुमार सिद्धार्थ की तरह छोड़कर नहीं जाएगा। लेकिन जब नारी के रूप यौवन व उसके क्रिया-कलापों में अपरूपता आ जाएगी तब पुरुष राजकुमार सिद्धार्थ के समान घर-परिवार त्याग करके निवृत्ति मार्ग पर चलने के लिए बाध्य हो जाता है। अतः यशोधरा में भी रूप-यौवन का आकर्षण न रह जाने के कारण ही सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बन जाता है। लेकिन मैं ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होने दूंगी।

विशेष :

1. एक सार्वभौमिक सत्य उद्घाटित हुआ है कि 'पुरुष सदैव ही नारी के सौन्दर्य का पुजारी रहा है।
2. इसमें नाटकीय कथा का संकेत मिलता है।
3. शान्त रस की योजना है।
4. राजकुमार सिद्धार्थ के गौतम बुद्ध बनने का कारण भी विद्यमान है।
5. अभिधा एवं लक्षण शब्द शक्तियाँ हैं।
6. प्रसाद गुण है।
7. भाषा सहज सरल एवं भावी के अनुकूल है।
8. नारी के रूप सौन्दर्य की शक्ति को उजागर किया है।

“कहना चाहने की बात नहीं, अलका! मैं एक छोटी-सी सच्चाई तुझे बतला रही हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्या जागती है?”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक हिन्दी नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' से अवतरित है। इसमें सुन्दरी राजकुमार सिद्धार्थ द्वारा निवृत्ति मार्ग अपनाने पर व्यंग्य करती है—

व्याख्या : मैं कहना तो नहीं चाहती लेकिन कह देती हूँ कि अलका जनसाधारण यही कहता है कि बुद्ध ने ज्ञान अर्जित किया है और मन की इच्छाओं अर्थात् काम-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। लेकिन मेरा मत इससे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि जिन कामनाओं या इच्छाओं पर उन्होंने विजय प्राप्त करने की सोची है, वह भी तो उनके मन की एक कामना ही है। कहने का तात्पर्य है कि कामनाओं को नियंत्रित करने की इच्छा रखना भी तो एक प्रकार की कामना ही है, तब बुद्ध द्वारा अर्जित किया गया ज्ञान रूपी महल इच्छाओं की नींव पर खड़ा है। मैं यह भी भली-भाँति जानती हूँ कि किसी व्यक्ति के मन में निवृत्ति मार्ग पर चलने की इच्छा क्यों उठती है, क्योंकि जब नारी अपने रूप-सौन्दर्य से पुरुष की वासना को भड़का पाने में असमर्थ होती है, तभी पुरुष निवृत्ति मार्ग का अनुगामी बनता है।

विशेष :

1. सुन्दरी का अहंनिष्ठ व्यक्तित्व उजागर हुआ है।
2. प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग का द्वन्द्व उजागर हुआ है।
3. सुन्दरी की अकाट्य तर्क शक्ति मुखरित हुई है।
4. शान्त रस है।
5. अभिधा एवं लक्षण शब्द शक्ति का प्रयोग किया गया है।
6. भाषा का प्रसाद गुण है।
7. भाषा संस्कृत निष्ठ है।
8. भाषा भावों एवं पात्रानुकूल है।

“इस स्वर में कहीं तुलना है? कह नहीं सकती क्या अधिक सुन्दर है— ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे अंधेरे में दूर से सुनाई देता इनका कूजन! आज पहली बार इन्हें इस समय बालते सुना है। (जरा हँसकर) कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमल-ताल के पास आकर इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर कांपती हुई लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएंगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी-तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा।”

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यावतरण नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ से अवतरित है। सुन्दरी और अलका के बीच राजकुमार सिद्धार्थ को लेकर तर्क-वितर्क चल रहा है। इसी समय कमलताल से राजहंसों के कलरव का स्वर सुनाई देता है। इसी विषय में सुन्दरी कहती है—

व्याख्या : कमलताल में तैरने वाले राजहंसों के मधुर स्वर की क्या अन्य किसी स्वर से तुलना की जा सकती है। फिर सुन्दरी कहती है मैं असमंजस में हूँ कि किन वस्तुओं में अधिक सौन्दर्य होता है। जब कमलताल में ओस से लदे कमलों के मध्य राजहंसों का जोड़ा परस्पर प्रेम भाव से भर कर क्रीड़ा करता है, तब वह अधिक सुन्दर प्रतीत होता है या फिर इस गहन अंधकार में दूर से सुनाई देता उनका स्वर अधिक सुन्दर है। अर्थात् एक और नन्द और सुन्दरी का जीवन है जो कमलताल में तैरते राजहंस के जोड़े के समान सुन्दर और सुखद है तथा दूसरी ओर राजकुमार सिद्धार्थ और यशोधरा का निराशा और विरक्ति भरा जीवन है, जिसमें कोई सौन्दर्य नहीं है। रात के अंधेरे में बोलते राजहंस इसी तथ्य का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं। व्यंग्यमयी हँसी हँसते हुए सुन्दरी अलका से कहती है— गौतम बुद्ध नदी तट पर बैठकर लोगों को निर्वाण का उपदेश देते रहते हैं, लेकिन कोई उनसे कहे कि वे इस कमलताल में तैरने वाले राजहंसों को भी एक बार आकर अपना मुक्ति का उपदेश देकर देखें। उसी समय उनको यह आभास हो सकेगा कि उनका उपदेश कितना प्रभावहीन है। क्योंकि, यदि वे इन राजहंसों को उपदेश देना चाहेंगे तो एक बार वे राजहंस उनकी तरफ आचर्य चकित दृष्टि से देखेंगे लेकिन दूसरे ही क्षण कमलताल की लहरें उन्हें किधर ले जाएंगी, वे उधर ही चले जाएंगे। अर्थात् मैं और नन्द इस कमलताल रूपी राजभवन में हंस के जोड़े समान सुखद जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि गौतमबुद्ध हमें अपने उपदेश से प्रभावित करने का प्रयत्न करेंगे तो उन्हें उपेक्षा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिल पाएगा। क्योंकि राजहंसों के मधुर स्वर एवं रोदन स्वर के समान उनके निवृत्ति मार्गी और हमारे प्रवृत्ति मार्गी जीवन का आपस में कोई संबंध नहीं है जिस दिन गौतम बुद्ध के साथ ऐसा हो गया, उस दिन वे भी अपने निवृत्ति मार्ग से भटक जाएंगे तथा नदी तट पर उपदेश देने में भी असमर्थ हो जाएंगे।

विशेष :

1. यहाँ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के जीवन की तुलना की गई है।
2. ‘कांपती हुई लहरे’ अस्थिर विचारों की प्रतीक हैं।
3. अभिधा एवं लक्षण शब्द शक्ति है।
4. प्रसाद गुण सम्पन्नता है।
5. प्रतीकात्मकता है।

6. शान्त रस

7. इस प्रसंग से नाटक के नामकरण की सार्थकता सिद्ध होती है।

8. भाषा सहज, सरल एवं भावानुकूल है।

“हाथ से निकला भी तो नहीं।.....सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। म ग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इससे मन को उतना खेद नहीं हुआ, जितना इससे..... कि जब थककर लौटने का निश्चय किया, तो वही म ग.... थोड़ी ही दूर आगे..... रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया।

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण नयी कहानी के ध्वजा-वाहक और आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नाटक से अवतरित है। नंद आखेट करके देर से घर लौटता है। सुन्दरी उससे पूछती है कि आप इतने थके हुए क्यों लग रहे हो? नंद प्रत्युत्तर में कहता है कि एक म ग का पीछा करते-करते थक गया, लेकिन वह हाथ नहीं आया। यह सुनकर सुन्दरी कहती है कि आज तक तो ऐसा हुआ नहीं कि आपका शिकार आपके हाथ से निकल जाए। फिर नंद कहता है कि—

व्याख्या : तुम्हारा यह कहना बिल्कुल सत्य है कि मैं थक चुका हूँ, किन्तु वास्तव में मेरी यह थकान जितनी मानसिक रूप से है, उतनी शारीरिक रूप से नहीं है। मैं इस बात से दुखी नहीं हूँ कि वह म ग मेरे बाण से घायल नहीं हुआ, बल्कि दुःख तो इस बात का है कि जब उस म ग के पीछे दौड़ते-दौड़ते मैं थक गया तो वापिस घर आने को सोचा, लेकिन कुछ दूर चलने के बाद वही म ग रास्ते में मरा हुआ दिखाई पड़ा। वह बेचारा मेरे बाण से घायल होने की बजाय अपनी थकान से ही मर गया।

विशेष:

1. म ग यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ रखता है।
2. प्रस्तुत प्रसंग नंद को निवृत्ति मार्ग की ओर ले जाता है
3. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।
4. शान्त रस
5. प्रतीकात्मक शैली
6. प्रसाद गुण सम्पन्नता है।
7. भावानुकूल एवं पात्रानुकूल भाषा है।

“नहीं किसी के बाण से आहत नहीं हुआ, अपनी थकान से मर गया। बाण से क्षत्-विक्षत् म ग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी है तो केवल प्राप्ति की हल्की-सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव के अपनी ही क्लान्ति से भरे हुए म ग को देखकर मन में जाने कैसा लगा ओर लौटकर आते हुए अपने-आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि.....।”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नामक नाटक से उद्धृत है। नंद अपने आखेट के विषय में सुन्दरी को बता रहा है कि वह म ग मेरे बाण से आहत होने की बजाए अपनी थकान से ही मर गया। लेकिन सुन्दरी कहती है कि हो सकता है वह म ग किसी अन्य शिकारी के बाण से आहत हुआ हो। पर नंद इस बात को अस्वीकारता हुआ कहता है—

व्याख्या : वह म ग किसी अन्य शिकारी के बाण से आहत नहीं हुआ, बल्कि पूरा दिन दौड़ता रहने के कारण अपनी ही थकान से मर गया। अतः उसका किसी भी शिकारी के

बाण से मरना असंभव था। बाण से घायल किसी म ग को देखकर मेरे मन में कोई ऐसी भावना नहीं उठी जैसी अपनी ही थकान से मरे इस म ग को देखकर उठी है। बाण से आहत किसी म ग को देखकर अगर कोई भावना उठती भी है तो वह उसे प्राप्त करने की है, जिससे हमारा मन प्रसन्न हो जाता है। लेकिन मैं उस म ग की अप्रत्याशित म त्यु को भूला नहीं सकता हूँ। जब मैंने उसे बिना ही घाव के अपनी ही थकान से मरा हुआ देखा तो मन में एक अनौखी अनुभूति हुई। जब मैं वापिस घर लौटा तो मैंने अपने आपको अत्यधिक टूटा और थका हुआ अनुभव किया इसको देखकर तो लगता है कि यह संसार क्षण भंगुर है। अतः इसका मोहत्याग ईश्वर में ध्यान लगाना चाहिए।

विशेष :

1. लेखक ने म ग की म त्यु से संसार की क्षण-भंगुरता की ओर संकेत किया है।
2. म ग की म त्यु प्रतीकात्मक अर्थ रखती है।
3. निर्वाण की ओर अग्रसर होने का कारण बताया गया है।
4. नंद की अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त चेतना प्रस्फुटित हुई है।
5. शान्त रस
6. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।
7. प्रसाद गुण है।
8. भाषा में काव्यात्मकता एवं भावुकता विद्यमान है।
9. प्रतीकात्मक शैली है।
10. भाषा सहज, सरल और बोधगम्य है।

“कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ..... क्यों? मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यांश आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नामक नाटक से उद्धृत है। सुन्दरी कामोत्सव का आयोजन करती है और कपिलवस्तु के राजपुरुषों और कर्मचारियों को आमंत्रित करती है। वह ऐसा आयोजन करना चाहती है जिससे लोग वर्षों तक याद रख सकें। कामोत्सव के अगले दिन देवी यशोधरा बौद्धमत में दीक्षित होने वाली है लेकिन आमंत्रित व्यक्तियों में मैत्रेय के छोड़कर कोई नहीं आता। वह भी परामर्श देता है कि इस आयोजन को स्थगित करके कल रखा जा सकता है। यह सुनकर सुन्दरी तमतमा जाती है और आवेश में कहती है।

व्याख्या : आर्य मैत्रेय! कामना का यह उत्सव मैंने मानव मन में उठने वाली इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त किया है। अर्थात् इस उत्सव में नारी सौन्दर्य हो या प्रकृति सौन्दर्य या फिर मन की अन्य सौन्दर्यजन्य कामनाएँ सभी का रसपान किया जा सकेगा। लेकिन आपका सुझाव है कि मैं इस कामोत्सव को एक दिन के लिए स्थगित कर दूँ, तो यह संभव नहीं है, क्योंकि मैं अपनी आज की इच्छाओं को कल के लिए स्थगित नहीं कर सकती। कामोत्सव की यह इच्छा मेरे हृदय से उद्भूत हुई है। अतः इसका शमन भी मेरे हृदय में ही हो सकता है। इस कामोत्सव में मैंने मदिरा, न त्य, ऐश्वर्य आदि ब्राह्म वस्तुओं को महत्त्व नहीं दिया है। यदि कुछ व्यक्ति इस उत्सव न आकर यह समझ रहे हैं

कि यह असफल हो जाएगा तो यह उनके मन की भ्रामक धारणा है। तात्पर्य यह है कि बाह्य वस्तुओं के आकर्षण द्वारा सुन्दरी राजपुरुषों को बुलाना चाहती थी ताकि देवी यशोधरा के भिक्षुणी बनने के समय वहाँ कोई न जा सके।

विशेष :

1. सुन्दरी का ईर्ष्यालु व्यक्तित्व उजागर हुआ है।
2. सुन्दरी की अहंनिष्ठ वृत्ति पर प्रकाश पड़ा है।
3. प्रस्तुत प्रसंग सुन्दरी के चरित्र को उद्घाटित करने में सक्षम है।
4. अभिधा शब्द शक्ति का प्रयोग किया गया है।
5. काव्यात्मकता का पुट है।
6. व्यंग्यात्मक शैली है।
7. भाषा सहज सरल एवं पात्रानुकूल है।

“कोई स्वर नहीं है..... कोई किरण नहीं है..... सब कुछ सब कुछ इस अंधकूप में डूब गया। ... मुझे सुलझा लेने दो..... सुलझा लेने दो..... नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूंगा। कोई उपाय नहीं है..... इन लहरों पर से लहरों पर से यह छाया हटा दो..... मुझे..... मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती.....।”

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यांश नयी कहानी के ध्वजा-वाहक और आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' के द्वितीय अंक से लिया गया है। अंधेरे में नंद टहल रहा है, तो दूसरी ओर नेपथ्य से श्यामांग का प्रलाप सुनाई देता है। यहाँ श्यामांग के अन्तर्द्वन्द्व को नाटककार वाणी देता है और उसके माध्यम से नंद की द्वन्द्वग्रस्त चेतना और समुचे युग के अनिश्चय और अविश्वास के क्षणों में पल रही चेतना को भी रूपायित किया है। श्यामांग का कहना है—

व्याख्या : कहीं से भी कोई ऐसा स्वर सुनाई नहीं दे रहा कि जिससे मेरी भटकी हुई चेतना को आशा का संदेश मिल सके। कोई भी प्रकाश की ऐसी किरण नहीं दिखाई दे रही जो मेरी भटकी निराशा चेतना को आशा का सम्बल दे सके। ऐसा लग रहा है जैसे सभी कुछ निराशा, दुख और भटकी हुई चेतनाओं के गहरे अंधेरे कुएं में डूबोए जा रहा है। ऐसे में मुझे कोई मार्ग भी दिखाई नहीं दे रहा है। मुझे उलझी हुई न पत्तियों अर्थात् जीवन की गुत्थियों को सुलझा लेने दो, वरन् मेरे हाथ, मेरी कार्य-शक्तियाँ तथा चेतना आदि सभी कुछ व्यर्थ होकर रह जाएगा। जीवन में जो इच्छाओं की लहरे उठती हैं, उन पर प्रवृत्ति या निवृत्ति मार्ग की आकर्षित करने वाली छापाएं आ पड़ती हैं, मेरे मन में इनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं आन रहा है। यही मेरे जीवन की विवशता है। मैं इन द्वन्द्वग्रस्त चेतनाओं की छाया को ओढ़ पाने में असमर्थ हूँ। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं इस द्विविधाग्रस्त स्थितियों को सहन करते हुए जीवन व्यतीत कर सकूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ओर तो व्यक्ति की द्वन्द्वग्रस्त चेतना है जो उसे निरन्तर निराशा की ओर धकलने का प्रयत्न करती है तो दूसरी ओर इन स्थितियों से छुटकारा पाने की तड़प है, मनुष्य का इनसे निकल पाना मुश्किल है।

विशेष :

1. लेखक ने श्यामांग के माध्यम से नंद की अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर किया है।

2. इस प्रसंग को काव्यात्मकता का पुट दिया गया है।
3. प्रसाद गुण सम्पन्न है।
4. अभिधा एवं लक्षण शब्दशक्ति है।
5. तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है।
6. 'अंधकूप में डूबना' मुहावरे के प्रयोग से प्रसंग सजीव हो गया है।
7. पत्तियों का सुलझाना प्रतीकात्मक अर्थ रखता है।
8. भाषा सहज, सुबोध है एवं पात्रानुकूल है।

“मुझमें साहस नहीं है.... किसी में साहस नहीं है....यह चील मुझे लिए जा रही है.....जाने कहां... नहीं चील नहीं.... एक छाया है..... काले अंधेरे कूप में भटकती हुई छाया.... अकेली (कराहकर) मुझे इस कूप से निकालो.... इस कूप में पानी नहीं है.... इसका पानी कहां गया? इसका पानी कौन ले गया?.....मुझे पानी दो, पानी....।”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण नयी कहानी के ध्वजा-वाहक और आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' से अवतरित है। श्यामोंग ज्वरग्रस्त स्थिति में होने के कारण अपने कक्ष में पड़े-पड़े निरन्तर प्रलाप कर रहा है। दूसरी ओर नन्द श्यामोंग के इस प्रलाप को सुनते हुए द्वन्द्वग्रस्त स्थिति में अपने कक्ष में टहल रहा है। यहाँ श्यामोंग अपनी मानसिक पीड़ा को व्यक्त कर रहा है।

व्याख्या : मुझे चील रूपी मन का अन्तर्द्वन्द्व अपने आगोश में लिए जा रहा है, लेकिन मुझमें इतना भी साहस नहीं है कि मैं इस चील रूपी अन्तर्द्वन्द्व से प्रतिकार कर सकूँ। मैं ही नहीं, संसार का कोई भी व्यक्ति इतनी शक्ति नहीं रखता कि अपने मन के अन्तर्द्वन्द्व पर विजय प्राप्त कर सके विद्वानों ने भी कहा कि मानव मन को जीतना देवता को जीतने के बराबर है। मेरे मन का यही द्वन्द्व मुझे कहाँ ले जा रहा है, इस बात का दुख नहीं है। ऐसा लगता है कि वह चील रूपी अन्तर्द्वन्द्व कहीं लुप्त हो गया है, क्योंकि मेरे मन पर किसी दूसरे व्यक्ति की छाया पड़ने लग गई है। वास्तव में श्यामोंग का अन्तर्द्वन्द्व ही मूर्तरूप नन्द का अन्तर्द्वन्द्व है, जिस पर गौतम बुद्ध के निर्वाण मार्ग का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। मेरे मन की निराशा, दुख और भटकी हुई चेतना के अंधेरे कुएं में भी वह छाया मेरा पीछा नहीं छोड़ती। मैं उससे अत्यधिक भयभीत हो गया हूँ। क्योंकि मेरे सामने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग नामक दो रास्ते हैं। वह फिर कहता है कि कोई मुझे अन्तर्द्वन्द्व के इस अंधेरे कुएं से बाहर निकालो, कृपया मेरी सहायता करो। इस अंधेरे कुएं में आशा रूपी पानी भी नहीं रह गया है। मुझे इस बात का आश्चर्य है कि मेरे मन की वह आशा कहां चली गयी है। कौन इस आशा रूपी पानी को ले गया है? वह चिल्लाता है कि मुझे पानी चाहिए। अर्थात् मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता है, जिससे मेरे मन का द्वन्द्व शान्त हो सके।

विशेष :

1. लेखक ने श्यामोंग के माध्यम से नन्द के अन्तर्द्वन्द्व को उजागर किया है।
2. 'छाया' व 'चील' शब्द निवृत्ति मार्ग के प्रतीकात्मक रूप में या अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त चेतना के प्रतीक रूप में उभरे हैं।
3. प्रसाद गुण सम्पन्न है।

4. लक्षणा शब्द शक्ति का प्रयोग किया गया है।
5. प्रतीकात्मक शैली है।
6. तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है
7. भाषा सहज, सरल एवं पात्रानुकूल है।

“किसी के लिए भी तो नहीं सोच पाती.... परन्तु फिर यह भी विचार आता है कि राजहंस आहत थे.... कम-से-कम एक उनमें अवश्य आहत था। कल कैसा क्रंदन उसका सुना था? क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' नामक नाटक के तृतीय अंक से उद्धृत किया गया है। राजकुमार नंद को जब यह पता चला कि गौतम बुद्ध भिक्षा लिए बिना ही द्वार से ही वापिस लौट गए तो नंद उनसे क्षमा-याचना करने के लिए चला जाता है। सुन्दरी नन्द के लौट आने की प्रतीक्षा में चिन्तित है जब अलका उसे सूचना देती है कि कमलताल में तैरने वाले राजहंस उड़ गए हैं, तो सुन्दरी अत्यधिक खिन्न हो जाती है। सुन्दरी अपनी दासी अलका से कह रही है कि कौन ऐसा है जो इस तरह का दुःसाहस कर रहा है। तभी अलका कहने लगी, श्यामाँग ऐसा नहीं कर सकता। इसी घटना के संबंध में सुन्दरी अलका से कहती है—

व्याख्या : कमलताल से राजहंस स्वयं उड़ गए या किसी ने उन्हें उड़ा दिया, इस संबंध में कुछ भी कहना असंभव है। श्यामाँग या अन्य किसी व्यक्ति पर संदेह नहीं किया जा सकता लेकिन मन में यह बात तो अवश्य ही उभर रही है कि वे राजहंस घायल अवश्य थे। दोनों नहीं तो एक तो घायल था ही, क्योंकि कल जब श्यामाँग ने उन्हें पत्थर मारा तो वे दर्द से कैसे कराह रहे थे। यहाँ नाटककार म ग का शिकार करके लौटने के बाद नंद की मनःस्थिति को अभिव्यक्त करता है। एक राजहंस का घायल होना नन्द के मानसिक रूप से घायल होने का प्रतीक है। अपने रूप-यौवन के गर्वी अहं से पीड़ित सुन्दरी यह मानती है कि नंद उसके रूप जाल का मोह तोड़कर उसी प्रकार कहीं नहीं जा सकता, जिस प्रकार कमलताल के सुन्दर और सरस वातावरण को छोड़कर राजहंस कहीं नहीं जा सकते। सुन्दरी पुनः कहती है कि मेरी समझ में यह नहीं आता कि ऐसी स्थिति में उनके पंखों में इतनी शक्ति कैसे आ गई कि वे अचानक अपनी इच्छा से ही उड़कर कहीं चले गए। अर्थात् नंद में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसके रूप-जाल अथवा प्रेम-पाश से निकलकर निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर हो सके। राजहंस बहुत दिनों से इसी कमलताल में तैर रहे थे, यही पर रहने की उनकी आदत भी बन चुकी थी और अभ्यास भी हो गया था। यहां के वातावरण में जो आकर्षण और सौन्दर्य है, उसे इतनी सरलता से छोड़कर राजहंसों का उड़ जाना असम्भावित-सा प्रतीत होता है अर्थात् नन्द सुन्दरी के साथ इस आकर्षक, विलास-वासनामय वातावरण में निवास कर रहे थे, लेकिन फिर भी इस आकर्षक वातावरण का परित्याग कर निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर हो गए, यह एक असंभव सी घटना है।

विशेष :

1. सुन्दरी का द्वन्द्वग्रस्त व्यक्तित्व उजागर किया है।
2. राजहंसों का घायल होकर उड़ना प्रतीकात्मक अर्थ रखता है।
3. लक्षणा एवं व्यंजना शब्द शक्ति है।
4. प्रसाद गुण सम्पन्न है।
5. प्रस्तुत प्रसंग नाटक के उद्देश्य की ओर संकेत करता है।
6. प्रतीकात्मक शैली है।
7. भाषा सहज, सरल एवं पात्रानुकूल है।
8. तद्भव शब्दों का मार्मिक प्रयोग हुआ है।

“तू समझ सकती है कि मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही हूँ। प्रतीक्षा कर रही होती, तो अपने माथे का विशेषक, यह बिन्दु, सूख जाने न देती। परन्तु जितना समय इसे गीला रखना चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा। एक पहर, दो पहर, तीन पहर। हर बीतता हुआ क्षण मेरे प्रयत्न का उपहास उड़ाता था, फिर भी मैं अपने अन्दर के विरोध से लड़ती रही, परन्तु एक क्षण आया जब वह प्रयत्न मन से हार गया। मेरा गीला हाथ माथे तक जाकर लौट आया और मैंने उसे फिर गीला नहीं किया।”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण नयी कहानी के ध्वजा-वाहक और आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ के तृतीय अंक से उद्धृत है। नंद सुन्दरी का शंभुगार अधूरा छोड़कर यह कहकर गौतम बुद्ध के पास चला गया कि वह कुछ समय में वापिस लौट आएगा। सुन्दरी भी नंद को वचन देती है कि जब तक आप वापिस नहीं आएंगे तब तक मैंने अपने माथे का विशेषक गीला रखूंगी। निर्धारित समय के उपरान्त भी नंद नहीं आया तो सुन्दरी की दासी अलका कहती है संभव है राजकुमार को लौटकर आने में अभी समय लगे, अतः शेष शंभुगार मैं कर देती हूँ। यह सुनकर सुन्दरी उद्विग्न हो रही है—

व्याख्या : अलका! तुम यह मत समझो कि मैं नंद की प्रतीक्षा कर रही हूँ। सुन्दरी के माथे पर नंद ने जो विशेषक लगाया था उसके सूख जाने के बारे में वह कहती है कि यदि मैं उनकी प्रतीक्षा कर रही होती तो अपने इस अधूरे विशेषक को सूखने न देती। जिस समय तक वे लौटकर आने के लिए कह गए थे, उससे कहीं ज्यादा समय तक मैंने अपने विशेषक को गीला रखकर अपने वचन का पालन किया। उनकी प्रतीक्षा में एक नहीं, दो नहीं, अनेक पहर बीतते चले गए। हर बीता हुआ क्षण मेरे द्वारा विशेषक गीला करने के प्रयत्न का मजाक उड़ाता हुआ प्रतीत हो रहा था। लेकिन इसके उपरान्त भी मैं इस आशा में अपना विशेषक गीला किए जा रही थी कि वे लौटकर अवश्य आएंगे। एक ओर उनके लौटने की आशा और दूसरी ओर अभी तक उनके न आने की निराशा से मैं द्वन्द्वग्रस्त हूँ। ऐसा लगता है कि जैसे मैं अपने मन के इन विरोधी बिन्दुओं से लड़ रही हूँ। अपने मन को उनके आने की आशा दिखाकर अपने भीतर

उठे विद्रोह को दिखा रही थी, लेकिन उनका इंतजार करते-करते एक समय ऐसा आया जब मेरा मन हार गया। तब मैंने अपने माथे पर लगे विशेषक को गीला करने का प्रयास ही छोड़ दिया।

विशेष :

1. सुन्दरी की द्वन्द्वग्रस्त चेतना उजागर हुई है।
2. नंद निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर हो जाता है।
3. अमिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।
4. प्रसाद गुण सम्पन्न है।
5. तत्सम और तद्भव शब्दावली है।
6. 'मन से हार मानना' मुहावरे का प्रयोग कर प्रसंग को जीवंत बना दिया है।
7. भाषा पात्रानुकूल एवं प्रभावोत्पादक है।
8. प्रतीकात्मक शैली है।

“हाँ, सुन्दरी को तो तुमने देखा नहीं। भिक्षु हो, इसलिए देखोगे भी नहीं। संभवतः तुम्हारी दृष्टि में उसका यहां होना यथार्थ नहीं, केवल एक भ्रांति है। परंतु उस तरह में एक भ्रांति नहीं हूँ। तुम एक भ्रांति नहीं हो। तुम्हारा कहा हुआ हर वाक्य एक भ्रांति नहीं है।”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' नामक नाटक से लिया गया है। नंद क्षमा-याचना के लिए अपने बड़े भाई गौतम-बुद्ध के पास नहीं -तट पर जाता है। वहां केश-कर्तित करवाकर बौद्ध-भिक्षु बन जाता है। वापिस लौटते समय बुद्ध का परम शिष्य आनन्द भी राजभवन देखने के लिए आता है। आनन्द राजभवन व नंद के कक्ष की प्रशंसा में कहता है कि सभी कुछ बहुत ही सुन्दर है। तब नंद बुद्ध मत की नारी-दर्शनों की वर्जना के प्रति अव्यक्त रूप से अवास्था प्रकट करते हुए कहता है—

व्याख्या : हे भिक्षु! तुम कहते हो कि मेरे राजभवन में सब कुछ बहुत सुन्दर है। इस सुन्दर वातावरण में रहने वाली अनुपम सौन्दर्यशालिनी मेरी पत्नी सुन्दरी को तो तुमने देखा ही नहीं है। वह वास्तव में वह अनुपम सुन्दरी है। लेकिन तुम उसके दर्शन नहीं करोगे, क्योंकि बौद्ध भिक्षु होने के नाते नारी के दर्शन करना तुम्हारे लिए वर्जित है। तुम्हारे बौद्ध-दर्शन की मान्यता है कि हृदय जगत का सभी कुछ मिथ्या या भ्रम है, आदि और अन्त शून्य है। अतः तुम्हारी दृष्टि में सुन्दरी का यहाँ होना भी यथार्थ नहीं बल्कि भ्रम ही है। अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में छटपटाता नंद पुनः कहता है। हे आनन्द! हे आनन्द! यदि तुम्हारे शून्यवादी सिद्धान्तों को आत्मसात कर लिया जाए, तो मैं और मेरा अस्तित्व या व्यक्तित्व एक भ्रम मात्र ही है। लेकिन मैं और तुम दोनों ही उस प्रकार से एक भ्रम मात्र नहीं हो सकते, क्योंकि मेरा मत प्रवृत्तिमार्गी है और तुम्हारा निवृत्तिमार्गी। अतः दोनों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व हो, ओर जिस व्यक्ति का अपना अस्तित्व या व्यक्तित्व हो, वह भ्रांति हो ही नहीं सकता। फिर भी तुम्हारे मत के अनुसार हम दोनों ही भ्रांति हैं और तुम्हारे द्वारा कहा गया एक-एक वाक्य जो मुझे (नंद) निवृत्ति

मार्ग की ओर ले जाना चाहता है, भ्रम ही तो है।

विशेष :

1. नंद की प्रवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति उजागर हुई है।
2. बुद्ध मत के नारी दर्शन स्पर्शन वर्जना और शून्यवादी सिद्धान्त का सजीव प्रतिपादन किया है।
3. प्रसाद गुण है।
4. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।
5. शांत रस का समावेश है।
6. तत्सम और तद्भव शब्दावली है।
7. भाषा सहज, सरल एवं पात्रानुकूल है।

“और नहीं भिक्षु!.... यह बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा। स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्यसत्य और अम त-में जानता हूँ वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कहे देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है।”

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यांश आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ के तृतीय अंक से लिया गया है। नंद भिक्षु आनन्द से कह रहा है कि जब मेरे केश काटे जा रहे थे तो बड़े भाई का सम्मान रखने के लिए मैं कुछ भी नहीं बोला था, लेकिन बाद में मैं उनसे कह आया था कि उनका मार्ग मेरा मार्ग नहीं है। भिक्षु आनन्द कहता है कि तुम अब भी उसी उत्तर को पूरा कर रहे हो और तुम्हारा यह उत्तर तब तक पूरा नहीं होगा जब तक तुम्हारे मन की व्याकुलता शान्त नहीं हो जाती। इसके प्रत्युत्तर में नंद कहता है—

व्याख्या : भिक्षु आनन्द! मैं तुम्हारी और बातें नहीं सुनना चाहता ! तुम्हारी बातों व तुम्हारे द्वारा दिए गए निवृत्ति मार्ग के तर्क का मुझ पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता। तुम मेरे साथ अपने तर्क के नाम पर बातों का खेल बहुत खेल चुके हो, मैं और ज्यादा तुम्हारी बातों को नहीं सुनना चाहता अर्थात् तुमने अपने निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर करने के लिए मुझे बातों के भ्रम जाल में उलझाया। अब मैं इन बातों में और नहीं उलझूँगा। तुमने मुझे स्वर्ग और नरक का भी भय दिखाया है, निवृत्ति मार्ग को अपनाने के लिए कहा है, विवेक, शील, संयम का उपदेश दिया है, यह सब तुम्हारी बातों का छल ही है, जो मेरे वर्तमान को मुझसे दूर करने के लिए तत्पर है, तुम मेरे सामने जिन बातों की चर्चा आर्य सत्य और निवृत्ति मार्ग का सुख बताकर कर रहे हो, वे सब अपने आप में भ्रम के सिवाय कुछ नहीं है। मैं अपने बड़े भाई गौतम बुद्ध के सामने भी यह बात कह आया हूँ और अब तुमसे भी कह रहा हूँ कि जिस निवृत्ति मार्ग पर तुम चल रहे हो, वह मार्ग मेरा नहीं है; मेरा प्रवृत्ति मार्ग है तो तुम्हारा निवृत्ति मार्ग। अतः हमारा मार्ग अलग-अलग है।

विशेष :

1. नंद का अन्तर्द्वन्द्व उजागर हुआ है।
2. नाटकीयता का चरम रूप है।

3. तत्सम शब्दावली प्रसंग में दुरुहता पैदा करती है।
4. प्रसाद गुण सम्पन्न है।
5. स्वर्ग, नरक, वैराग्य, आर्य सत्य, अर्मत, आदि परिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।
6. भाषा भावानुकूल एवं प्रसंगानुकूल है।
7. भाषा पात्रानुकूल है।

“जानता था कि यह प्रवृत्ति आत्म-विनाश की है, परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक क्यों नहीं सका? क्यों मैंने जान-बूझकर आत्म-विनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्म-रक्षा के लिए उस तरह लड़ गया। क्षत-विक्षत् हम दोनों हुए..... पलायन भी एक तरह से दोनों ने ही किया....। क्यों? आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों? और उस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नाटक के तृतीय अंक से अवतरित है। नंद गौतम बुद्ध के पास क्षमा याचना के लिए जाता है, लेकिन तथागत उनके केश कटवा देते हैं। नंद अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त स्थिति में घर न लौटकर वन की ओर चला जाता है। वह मरे हुए मग को देखने से अपने आपको वंचित नहीं कर पाता और फिर अचानक ही एक व्याघ्र से उलझ पड़ता है। नंद अपनी सोई हुई पत्नी के सामने यही वर्णन कर रहा है।

व्याख्या : जब मैं वन में व्याघ्र के साथ संघर्ष करने लगा तब मुझे इस बात का पता था कि मैं स्वयं को मौत के मुँह में धकेल रहा हूँ, लेकिन फिर भी मैं अपने आपको रोक नहीं पाया। मुझे पता नहीं कि उस समय मैंने अपने ही विनाश को निमंत्रण क्यों दिया था और फिर मैं स्वयं की रक्षा के लिए उस व्याघ्र से उलझ गया। हमारे मध्य इतना भयंकर द्वन्द्व हुआ कि मैं ही नहीं वरन् वह व्याघ्र भी अत्यधिक घायल हो गया और फिर एक स्थिति ऐसी आई कि हम दोनों ही अपने-अपने बचाव के लिए भाग खड़े हुए। उस समय मेरे मन के अन्तर्द्वन्द्व की दो स्थितियाँ थीं— एक आत्म विनाश की और दूसरी आत्म रक्षा की?। इन दोनों ही परिस्थितियों से उस समय मैं कैसे जूझ रहा था, यह अभी तक मेरी समझ में नहीं आ रहा है। लेकिन फिर भी मेरे मन-मस्तिष्क में एक ही प्रश्न जन्म ले रहा है कि उस संघर्षमय जीवन में मुझे कोई सुख मिला है? मुझे यह भी पता नहीं कि क्या वह सुख की खोज ही थी जो व्याघ्र से मुझे लड़ने को मजबूर किया। अर्थात् एक और सुन्दरी का रूप यौवन व दूसरी ओर बड़े भाई गौतम बुद्ध का निवृत्ति मार्ग इन दोनों में से किस मार्ग की ओर पाया जाए, इसका निर्णय न कर पाने के कारण ही मैं जंगल में सुख की खोज में गया था। अतः नंद को व्याघ्र रूपी गौतम बुद्ध निर्वाण देना चाहता था, किन्तु प्रवृत्ति मार्ग जीने के लिए विवश कर रहा था और अन्ततः नन्द गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को त्यागकर सुन्दरी के रूप यौवन के प्रवृत्ति मार्ग की ओर उन्मुख हो जाता है।

विशेष :

1. नंद की अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त चेतना को उजागर किया है।
2. प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के रहस्य को जानने में भी सहायता मिलती है।
3. अभिधा एवं लक्षणा शब्दशील है।

4. प्रसादगुण सम्पन्न है।

5. भाषा पात्रानुकूल एवं भावानुकूल है।

“इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं। सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पंदन-मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट. परन्तु वह स्पंदन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है?.....आकाश में कहीं लटकते हुए नीले काले बिंदु-कोरे सिद्धान्तों के वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यावतरण नहीं कहानी के ध्वजा-वाहक और आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नाटक से उद्धृत है। नंद गौतम बुद्ध के पास क्षमा याचना करने के लिए जाता है, लेकिन तथागत उनके केश कटवा देता है। नंद अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त स्थिति में घर न लौटकर वन की ओर चला जाता है। वह मरे हुए म ग को देखने से अपने आपको वंचित नहीं कर पाता और फिर अचानक हो एक व्याध से उलझ पड़ता है। नंद अपनी सोई हुई पत्नी से इसका वर्णन करता हुआ कह रहा है।

व्याख्या : मैं अपने जीवन का यही निष्कर्ष निकाल पाया हूँ कि हम जीवन भर कुछ न कुछ प्राप्त करने के लिए लगे रहते हैं। इस तरह जीवन-संघर्ष में हमारे जीवन का एक-एक दिन कम होता जाता है और अन्ततः हम मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जो वस्तु इस संसार में पैदा हुई है, वह समाप्त भी अवश्य होगी। ऐसे ही हमारा जीवन भी क्षणिक है, जो किसी भी समय पलक झपकते ही समाप्त हो सकता है। हम जिसे सुख की संज्ञा देते हैं, वास्तव में वह सुख नहीं है, बल्कि नदी तट पर फैली हुई कोई पर फिसलते हुए पांव का एक हलका सा कंपन है, सूखे रेत में धंसती हुई पानी की एक छोटी-सी बूंद की भांति नश्वर है। अर्थात् जितना समय हमें नदी तट पर फैली काई पर से गिरने में लगता है या जितना समय पानी की एक बूंद को सूखे रेत में धंसने में लगता है, वैसे ही सुख भी हमारे जीवन में क्षणिक ही है। वास्तव में ये क्षणिक सुख ही हमारे जीवन का पुरस्कार है, क्योंकि इसी क्षणिक सुख के आधार पर हम जीवित हैं। यदि यह आधार भी हमसे छिन जाए तो फिर हमारे जीवन का महत्व ही क्या है। गौतम बुद्ध के अनुसार यह जीवन और जीवन का सम्पूर्ण सुख व्यर्थ, महत्वहीन एवं नश्वर है। अगर मानव जीवन और उससे जुड़े सभी सुख नश्वर एवं अस्थायी हैं तो आकाश में लटके हुए ज्ञान रूपी काले बिन्दुओं की भांति ये कोरे सिद्धान्त अधिक स्थायी कैसे हो सकते हैं। तात्पर्य यही है कि गौतम बुद्ध मानव जीवन व उससे जुड़े सभी पहलुओं को नश्वर मानव ताप है, अतः बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश व निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले सिद्धान्त भी अस्थायी, असत्य और नश्वर ही सिद्ध हुए।

विशेष :

1. यहाँ नंद निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को श्रेयस्कर मानता दिखाई देता है।
2. ‘जीवन के गूढ़ सत्यों को उजागर करने की कोशिश की है।
3. मानव जीवन क्षण-भंगुर है— इसको उद्घाटित किया है।
4. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।

5. प्रसाद गुण सम्पन्नता है।
6. पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है।
7. संस्कृतनिष्ठ और क्लिष्ट शब्दावली है।
8. प्रतीकात्मक शैली है।

“कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुतः किसे हैं; उन्हें या मुझे? उन्होंने कहा— ‘मैं मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है..... सब किसी उंगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिनका होना न होने सक भिन्न नहीं है.... पर मैं पूछता हूँ कि जब होने-न होने में कोई अंतर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए?”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ से उद्धृत है। भिक्षु आनन्द के चले जाने के बाद राजकुमार नंद अर्द्धचन्द्रग्रस्त है। यहाँ नंद गौतम बुद्ध के उपदेश एवं सिद्धान्तों पर प्रहार कर रहे हैं।

व्याख्या : भिक्षु आनन्द ने अपने सिद्धान्त “शून्यवाद” के अनुसार मानव जीवन और उसके अस्तित्व की चर्चा करते हुए मुझसे ;राजकुमार नंद) कहा है कि मैं भ्रम में भटक रहा हूँ। या उन्हीं का सिद्धान्त केवल भ्रम है? इसका निर्णय भला कौन कर सकता है? वे कहते हैं कि मेरा शरीर मेरा अपना नहीं है और तुम्हारा शरीर, व्यक्तित्व भी तुम्हारा नहीं है तथा अन्य किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व और व्यक्तित्व भी उनका नहीं है, यह सब केवल एक भ्रम जाल है। क्योंकि बुद्ध सिद्धान्त के अनुसार यह मानव शरीर ईश्वर प्रदत्त है और क्षणभंगुर भी है, अतः किसी का समय यह शरीर मृत्यु-लोक में पहुँच सकता है, इसलिए इस पर किसी का अधिकार नहीं है। मानव-जीवन तो आकाश पर उंगली से बनाए गए चित्र के समान है, जिसका केवल आभास किया जा सकता है, वास्तविक रूप में देखा नहीं जा सकता। अतः जिस प्रकार शून्य (आकाश) में चित्र बनते ही नहीं, केवल क्षण भर आभास हो सकता है और वह भी साथ-ही-साथ मिटता जाता है, उसी प्रकार संसार का प्रत्येक प्राणी और पदार्थ भी जन्म के साथ ही समाप्ति की ओर अग्रसर होने लगता है, अतः उसका होना या न होना समान ही है। नंद कहता है कि इस तथ्य पर विचार करने के पश्चात् मेरे मन में एक प्रश्न उठता है कि जब होने न होने की स्थितियाँ समान हैं तब उन्होंने मेरा मुण्डन क्यों करवाया? तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति के केश कटवाने से ही वह प्रवृत्ति मार्ग का त्याग कर निवृत्ति मार्ग नहीं बन जाता। अतः ये सभी दर्शन एवं सिद्धान्त अपने आप में भ्रम ही है, सत्य वही है जिसे हम देखते एवं भोगते हैं।

विशेष :

1. नंद के अर्द्धचन्द्र का चरम् रूप परिलक्षित होता है।
2. जीवन क्षणभंगुर है’ की सार्वभौमिक सत्य को प्रतिपादित किया है।
3. बुद्ध के ‘शून्यवाद’ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।
4. लक्षणा शब्दशक्ति है।
5. प्रसाद गुण का समोवश हुआ है।
6. दार्शनिक परिचर्चा के कारण भाषा अर्थगांभीर्य से परिपूर्ण है।
7. शान्त रस

8. भाषा प्रसंगानुकूल है।

9. प्रतीकात्मक शैली है।

‘जान लेती, तो कम से कम दूसरी बार के आघात से तो बच जाती। यह आकृति एक दुःस्वप्न नहीं..... यथार्थ है..... मेरा अपना यथार्थ क्या मैं उसका सामना कर सकती हूँ? क्या एक बार इतना भी कह सकती हूँ.... कि आपने..... आपने मेरे पास से जाकर यह सब कैसे हो जाने दिया..... क्यों हो जाने दिया?’

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यावतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ से अवतरित है। जब नंद तथागत से केश कर्तित करवाने के बाद वापिस सुन्दरी के पास आता है तो सुन्दरी सोई हुई होती है। सुन्दरी की ज्यों ही आँखें खुलती हैं तो केश कर्तित नंद को देखकर चकित रह जाती है। वह अलका से इसी बात का वर्णन करती हुई कहती है—

व्याख्या : अलका अगर मैं यह जान लेती कि वह नंद ही है और उसने गौतम बुद्ध का निर्वाण प्राप्त कर लिया है। अगर मैं इन बातों पर विश्वास कर लेती तो मुझे आघात न लगता यह जो मैंने केश कर्तित नंद की आकृति स्वप्न में देखी है यह दुःस्वप्न नहीं है यह तो कटु सत्य है, अर्थात् यथार्थ ही है कि नंद ने केश कटवा लिए हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या मैं इस बात का सामना कर सकती हूँ। अर्थात् क्या मैं अपने पति नंद को अपने प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग में जाते देख सकती हूँ। क्या मैं उन्हें यह उलाहना भी दे सकती हूँ कि आपने मेरे पास से जाकर केश क्यों कटवा लिए? क्यों आप निवृत्ति मार्ग को अपनाना चाहते हो। अतः सुन्दरी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती कि उसका पति निवृत्ति मार्ग को अपनाए।

विशेष:

1. सुन्दरी का धीमे और कोमल स्वर में निवृत्ति मार्ग का विरोध उजागर हुआ है।
2. नंद का निवृत्ति मार्ग को अपनाना उजागर हो गया है।
3. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति
4. शान्त रस
5. प्रसाद गुण का समावेश हुआ है
6. भाषा सहज, सरल एवं पात्रानुकूल है
7. प्रतीकात्मक शैली है।
8. सुन्दरी का यह संवाद बड़ा ही मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी है।

“कोई दूसरा ही!....तो क्या सचमुच मैं कोई दूसरा ही हूँ? भिक्षु ने यही कहा था.... तुम भी अब यही कह रही हो..... परन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि मैं कोई दूसरा कैसे हूँ? मात्र इसलिए कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए हैं?”

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यावतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ से उद्धृत है। नंद तथागत के पास जाकर अपने केश कटवाकर वापिस अपनी पत्नी सुन्दरी के पास आ जाता है तो सुन्दरी उसे स्वीकार नहीं कर पाती क्योंकि वह गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को अपना चुका है। अतः सुन्दरी, भिक्षु, अलका उसे वही नंद न कहकर कोई ओर ही कहती है। यहाँ नंद इसी बात को उजागर कर रहा है।

व्याख्या : नंद कहता है कि क्या मैं वास्तव में ही दूसरा हूँ? क्या मैं पहले वाला नंद नहीं रहा? भिक्षु भी यही कहता है कि मैं पहले वाला नंद नहीं हूँ और सुन्दरी तुम भी यही कह रही हो। अर्थात् पहले नंद प्रवृत्ति मार्गी था और केश कर्तित करवाने के बाद वह निवृत्ति मार्गी बना गया। इसीलिए उसको सभी कोई ओर ही कह रहे हैं। नंद फिर कहता है कि मैं जानना चाहता हूँ कि केवल मुझे इसीलिए दूसरा व्यक्ति कहा जा रहा कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए? अर्थात् नंद ने अपनी मर्जी से केश नहीं कटवाए लेकिन सत्य तो यही है कि वह केश कटवाने के लिए गया था। वास्तव में वह सुन्दरी के निवृत्ति मार्ग से विमुख हो गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को अपनाने के लिए ही गया था, जिसमें केश कटवाना आवश्यक शर्त थी। इसीलिए उसने केश कटवा लिए, लेकिन वह सुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य पर इतना अधिक मुग्ध था कि वह उसे न छोड़ पा रहा था और न ही निवृत्ति मार्ग को अपना ही पा रहा था।

विशेष :

1. नंद के अन्तर्द्वन्द्व अपने चर्मोत्कर्ष पर है।
2. नंद का निवृत्ति मार्ग से वापिस प्रवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर होना दिखाया है।
3. यहाँ लहरों पर तैरते, डोलते राजहंसों की ही तरह हंस की मनः स्थिति उजागर हुई है।
4. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।
5. शान्त रस का परिपाक है।
6. प्रसाद गुण का समावेश किया गया है।
7. भाषा सहज, सरल एवं प्रसंगानुकूल है।
8. शैली प्रतीकात्मक है।

“तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है। घर से.... और अपने-आपसे भी अकेला! जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।

लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिए उसके पास कोई आवरण नहीं है।”....परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता।..... तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे।..... जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक-साथ घेर लिया है! व्याघ्र से लड़कर भी मन को शांति नहीं मिली.....लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है.... ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं ।..... मन में मृत्यु का भय है.... किसी भी प्रकार की मृत्यु का.... परन्तु उस भय में साथ एक आकर्षण भी दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न..... केवल एक प्रश्न चिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों.... .. पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे जानना है..... आज ही और अभी....।”

प्रसंग : प्रस्तुत अवतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत ‘लहरों के राजहंस’ नाटक से उद्धृत है। नंद गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को अपनाता है। वह केश कटवा लेता है लेकिन वह केश कटवाकर वापिस सुन्दरी के पास आता है। सुन्दरी उसे इस स्थिति में स्वीकार नहीं करती क्योंकि वह प्रवृत्ति मार्गी है और नंद अब निवृत्ति मार्गी नजर आता नहीं है। नंद द्वन्द्वग्रस्त है कि उससे न अपनी पत्नी को छोड़ते बनता और न

ही पूर्णतया से गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को अपनाकर बनता। वे केशकटवाकर अपने को अकेला महसूस करता है। इसी स्थिति को उजागर करता हुआ वह कहता है।

व्याख्या : जब मैंने केश कटवाए, गौतम बुद्ध के निवृत्ति मार्ग को अपनाकर हेतु वहां गया और उन्होंने मेरे केश काट दिए तब मुझे नहीं लगा था कि मैं इतना अकेला पड़ जाऊँगा, मुझे दोबारा से सुन्दरी नहीं स्वीकारेगी। लेकिन उन्होंने मेरे केश काटकर मुझे सुन्दरी के सामने और अपने में भी अकेला और असमर्थ असहाय कर दिया है। अब मेरे अन्दर सामर्थ्य और शक्ति नहीं है कि मैं सुन्दरी के समक्ष जा सकूँ। जिसके प्रति मैं अत्यधिक आकर्षित, सुन्दरी के प्रति था उसके पास ही मुझे असहाय बनाकर फेंक दिया गया हूँ।

मुझे ऐसा लगता है कि मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं। अर्थात् मैं एक ऐसा व्यक्ति हूँ जो न तो पूर्णतः प्रवृत्ति मार्गी है और न ही पूर्णतः निवृत्ति मार्गी और मुझे प्रवृत्तिमार्गी (गौतम बुद्ध) भी लील लेना चाहता है। अतः मुझे हर दिशा अपनी ओर खींच रही है। हर दिशा अपना आवरण चढ़ाना चाहती है और मेरे पास अपने को ढकने लिए कोई अलग से आवरण या मार्ग नहीं है। लेकिन मैं इस असहायता और द्वन्द्वग्रस्त की स्थिति में नहीं रह सकता। जब मैं गौतम बुद्ध के पास गया तब उन्होंने मेरे प्रवृत्ति मार्गी के बारे में और जीवन के बारे में प्रश्न पूछे थे लेकिन अब मुझे उनके पास जाकर कई-कई प्रश्न पूछने होंगे ये सभी प्रश्न उनके निवृत्ति मार्ग और व्यक्ति के जीवन के बारे में होंगे। मैं जीने की इच्छा रखता हूँ तभी तो कितने-कितने प्रश्नों ने मुझे घेर लिया है। एक और प्रवृत्ति मार्ग प्रश्न कर रहा है जिसमें स्वयं मेरी पत्नी विद्यमान है। दूसरी ओर मेरे भाई गौतम बुद्ध है जो निवृत्ति मार्गी है और प्रश्न कर रहे हैं। मुझे व्याघ्र से लड़कर भी शांति नहीं मिली अर्थात् निवृत्ति मार्ग को अपनाकर भी शांति नहीं मिली। ऐसा लगता है कि अभी लड़ना है। जीवन में और संघर्ष करना है और किसी ऐसे से लड़ना है जिसके पास भुजाएं नहीं हैं सिर्फ प्रश्नों की, दर्शनों की लड़ाई है। उन प्रश्नों के साथ ही लड़ना है जिनका उत्तर मेरे पास नहीं था आज गौतम बुद्ध के पास जाकर मैं भी कुछ ऐसे ही प्रश्न करूँगा आज अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना द्वन्द्वग्रस्त है। मेरी चेतना एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दी गई है अर्थात् मैं पूर्णतः प्रवृत्ति मार्गी हूँ या निवृत्ति मार्गी इन दोनों में से मेरा अस्तित्व कहाँ है। मेरा अस्तित्व है या नहीं है। मैंने सबसे पहले गौतम बुद्ध के पास जाकर इसी प्रश्न का उत्तर जानना है। तात्पर्य यह है कि नंद दोनों ही मार्गों में से पूर्णतः किसी भी एक मार्ग को अपना नहीं पा रहा है।

विशेष :

1. नंद की चेतना अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त है।
2. नंद की स्थिति प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के बीच लहरों पर तैरते-डोलते राजहंसों-सी है।
3. नंद अपने अस्तित्व को लेकर गौतम बुद्ध से प्रश्न करना चाहता है।
4. अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्ति है।
5. शान्त रस-योजना है।
6. प्रसाद गुण का समोवश किया गया है।
7. भाषा सहज सरल एवं पात्रानुकूल है।
8. प्रतीकात्मक शैली है।

इतना ही समझ पाए हैं वे? (मुंह से हाथ हटाकर) जाओ तुम लोग। जाओ, मुझे इस समय एकांत

चाहिए। जा, तू भी जा अलका! मैंने कहा है, मुझे एकांत चाहिए, बिल्कुल एकांत! (रूँधे हुए गले से) इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग!.... बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है।

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यावतरण आधुनिक नाटक के मसीहा मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' से उद्धृत है। जब नंद तथागत के पास केश कर्तित करवाकर वापिस सुन्दरी के पास लौटता है तो सुन्दरी यह उसके इस रूप से हैरान होती है और उसे स्वीकार नहीं कर पाती। नंद यह देख कि उसकी पत्नी ने उसे नहीं स्वीकारा। वह फिर से तथागत के पास चला जाता है और वह अपने केश वापिस लाना चाहता है। सुन्दरी को अलका से इन सब बातों का पता चलता है तो वह कहती है—

व्याख्या : अलका उन्होंने यह कहा कि मैं केश वापिस लेने के लिए जा रहा हूँ, ये केश मेरी पत्नी को चाहिए। मेरी पत्नी को मेरा सौन्दर्य चाहिए। सुन्दरता के लिए केशों का होना अत्यन्त आवश्यक है। अलका ये पुरुष इतना ही समझ पाते हैं ये यह नहीं जानते कि सुन्दरता क्या होती है और पत्नी को किस चीज की आवश्यकता है? अलका तुम भी चली जाओ। मुझे एकांत चाहिए। अलका आज तक पुरुषवादी मानसिकता यही तो सोच पायी है कि पत्नी को केवल पुरुष की सुन्दरता चाहिए जबकि ऐसा नहीं है। वास्तव में नारी को भी पुरुष का एकनिष्ठ, समर्पणयुक्त प्रेम चाहिए जो नंद ने नहीं दिया वह अपने भाई गौतम बुद्ध के मत में दीक्षित होने के लिए तथागत से केश कर्तित कटवाकर आया था। लेकिन बात यहाँ केशों की नहीं है। यहाँ बात है विचारधाराओं की, मार्गों की।

विशेष:

1. सुन्दरी का यह संवाद उसे आधुनिक नारी की सोच के रूप में उभारता है।
2. पुरुषवादी मानसिकता पर करारी चोट की है।
3. अभिधा एवं लक्षणा, व्यंजना तीनों ही शब्द शक्तियों का प्रयोग हुआ है।
4. शान्त रस-योजना है।
5. प्रसाद गुण का समोवश हुआ है।
6. भाषा सहज सरल एवं प्रसंगानुकूल है।
7. काव्यात्मकता, भावात्मकता और विद्यमान है।
8. प्रतीकात्मक शैली है।

अंधायुग

धर्मवीर भारती

खण्ड-क

आलोचना

1. धर्मवीर भारती: व्यक्तित्व और कृतित्व
2. अन्धायुग की कथा-योजना
3. अन्धायुग की प्रवृत्तियाँ
4. अन्धायुग: काव्य-रूप
5. अन्धायुग में नाटकीयता एवं कवित्व का सामंजस्य या अन्धायुग का नाट्य-काव्य रूप
6. अन्धा-युग अभिनेयता
7. अन्धायुग के कृष्ण का चरित्र-चित्रण
8. अन्धायुग के अश्वत्थामा का चरित्र-चित्रण
9. अन्धायुग के युधिष्ठिर का चरित्र-चित्रण
10. अन्धायुग के धर्मराष्ट्र का चरित्र-चित्रण
11. अन्धायुग की गांधारी का चरित्र-चित्रण
12. अन्धायुग के संजय का चरित्र-चित्रण
13. अन्धायुग के युयुत्सु का चरित्र-चित्रण
14. अन्धायुग के विदुर का चरित्र-चित्रण
15. अन्धायुग के कृपाचार्य का चरित्र-चित्रण
16. अन्धायुग का शिल्प-निधान
17. अन्धायुग की अलंकार योजना
18. अन्धायुग की प्रतीक-योजना
19. अन्धायुग की लय और तुक-योजना
20. अन्धायुग का संदेश

खण्ड-ख

व्याख्या

खण्ड (क)

आलोचना

अध्याय-1

धर्मवीर भारती: व्यक्तित्व और कृतित्व

वास्तव में कृतिकार का व्यक्तित्व ही उसके कृतित्व के स्वरूप को निर्धारित करता है। प्रत्येक कृतिकार अपने परिवेश के केंद्र में स्थित रहता है। कृतिकार परिवेश से अर्थ और भाषा लेता है और उनको आत्मसात् करके अपने व्यक्तित्व की चाँदनी से सजाकर नए रूप में पुनः परिवेश को लौटा देता है। परिवेश से अर्थ और भाषा का अर्जन ही उसके सर्जन में बदल जाता है। डॉ० सोनवणे के मतानुसार, "साहित्य की प्रत्येक रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है, इसलिए रचनाकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा करके रचना को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।" इसी को ध्यान में रखते हुए धर्मवीर भारती का संक्षिप्त जीवन एवं व्यक्तित्व परिचय दिया जा रहा है।

जन्म तथा परिवार

धर्मवीर भारती का जन्म उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले के अतरसुइया मुहल्ले में 25 दिसम्बर, 1906 ई० को हुआ। इनके पिता का नाम श्री चिरंजीव लाल तथा माता का नाम श्रीमती चन्द्रादेवी था। धर्मवीर भारती के बाबा शाहजहाँपुर के निकट खुदागंज कस्बे के जमींदार थे। इनके पिता ने वंश-परम्परा से चले आ रहे जमींदारी रहन-सहन को त्यागकर रुड़की में ओवरसियरी की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ दिन में बर्मा में सरकारी नौकरी एवं ठेकेदारी करते रहे। फिर वहाँ से लौटकर पहले मिर्जापुर तथा बाद में स्थाईरूप से इलाहाबाद में बस गए। इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण की भारती के जीवन और व्यक्तित्व पर अमिट छाप रही है। अतः भारती के जीवन का पर्याप्त समय इलाहाबाद में ही व्यतीत हुआ। डॉ० सोनवणे के अनुसार भारती की माँ आर्यसमाजी थीं। अतः उन्होंने भारती के जीवन में आर्यसमाजी संस्कार डालने का प्रयत्न अवश्य किया होगा।

शिक्षा-दीक्षा

धर्मवीर भारती की आरम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। चौथी कक्षा में इन्हें डी०ए०वी० हाई स्कूल इलाहाबाद में प्रवेश दिलाया गया। जब ये आठवीं कक्षा में थे तो इनके पिता स्वर्गवासी हो गए। इनके मामा अभयक षण जौहरी ने इस गंभीर संकट के समय आश्रय प्रदान किया। अपने 'परिचय' में स्वयं भारती ने मामा के सम्बन्ध में लिखा है, "पिता की मृत्यु आज से तेरह-चौदह वर्ष पहले हो गई थी, तब मामा का संरक्षण मिला, जिनका प्रोत्साहन अमूल्य वरदान साबित हुआ।" इनके मामा की प्रेरणा से इनकी शिक्षा का क्रम निरन्तर निर्बाधरूप से चलता रहा। इन्होंने कायरथ

पाठशाला इण्टर कॉलेज से इण्टरमीडिएट की परीक्षा सन् 1942 में उत्तीर्ण की। सन् 1942 के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण एक वर्ष के लिए पढ़ाई छोड़नी पड़ी। सन् 1943 में प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया। सन् 1945 में इन्होंने बी०ए० की परीक्षा में सर्वाधिक अंक लेने पर उन्हें 'चिन्तामणि घोष स्वर्ण पदक' प्रदान किया गया तथा सन् 1947 में इन्होंने एम०ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसी बीच में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निकट सम्पर्क में आए तथा डॉ० वर्मा का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारती ने अपनी पुस्तक 'मानव-मूल्य और साहित्य' उन्हें समर्पित करते हुए लिखा है, "अपने परम आदरणीय आचार्य डॉ० धीरेन्द्र वर्मा को, क्योंकि उन्हीं के सम्पर्क में निर्भीक चिन्तन का मूल्य जान सका हूँ।" भारती ने डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में 'सिद्ध-साहित्य' पर शोधकार्य किया और डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की।

आजीविका

भारती जी को अपने जीवन में अनेक विषमताओं के बीच संघर्ष करना पड़ा। बी०ए० कक्षा में पढ़ते समय अपना काम ट्यूशन करके चलाते थे। सन् 1948 में वे पं० इलाचन्द्र जोशी के पत्र 'संगम' में सह-सम्पादक नियुक्त हुए तथा दो वर्ष तक कार्य करते रहे। अपने जीवन के इसी काल खण्ड के बारे में लिखते हैं - "रोजी पत्रकारिता से चलती है।.... जीवन संघर्ष बहुत तीखा रहा और अब भी है, पर उसने एक अजीब-सी दृढ़ता और मस्ती दे दी।" इसके बाद प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य किया तथा सन् 1960 तक वे अध्यापन कार्य करते रहे। सन् 1960 में इन्होंने अध्यापन का कार्य छोड़कर 'धर्मयुग' पत्रिका के प्रधान सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया। भारती जी इस दायित्व को आज तक सफलतापूर्वक निभा रहे हैं।

यात्रा

प्रतिष्ठित सम्पादक और पत्रकार के रूप में भारती जी ने अनेक यात्राएँ की। 'कॉमन वेल्थ' के आमन्त्रण पर सन् 1960 में इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों की यात्रा पर गए तथा सन् 1962 में उन्होंने जर्मनी की यात्रा की। सन् 1966 में इन्होंने भारतीय दूतावासों के अतिथि बनकर इण्डोनेशिया और थाईलैण्ड की यात्राएँ की। सितम्बर 1971 के युद्ध तथा क्रान्ति का आँखों देखा हाल 'धर्मयुग' में प्रस्तुत किया। सन् 1972 में भारत सरकार ने इनकी विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धियों के लिए 'पद्मश्री' उपाधि से सम्मानित किया।

रचनाएँ

भारती जी ने गद्य और पद्य दोनों विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। इन्होंने निम्नलिखित कृतियों की रचना की है जिनका विवरण इस प्रकार से है-

1. **मुक्तक काव्य**
 - (i) ठण्डा लोहा (सन् 1952 ई०)
 - (ii) सात गीत वर्ष (सन् 1959 ई०)
2. **प्रबन्ध काव्य**
 - (i) खण्ड काव्य
 - (ii) कनुप्रिया (सन् 1959 ई०)

3. **नाट्य काव्य**
 - (i) अन्धायुग (सन् 1955 ई०)
4. **उपन्यास**
 - (i) गुनाहों का देवता (सन् 1949 ई०)
 - (ii) सूरज का सातवाँ घोड़ा (सन् 1952 ई०)
5. **कहानी-संग्रह**
 - (i) मुर्दों का गाँव (सन् 1946 ई०)
 - (ii) चाँद और टूटे हुए लोग (सन् 1955 ई०)
 - (iii) बन्द गली का आखरी मकान (सन् 1969 ई०)
6. **एकांकी-संकलन**
 - (i) नदी प्यासी थी (सन् 1958 ई०)
7. **ललित गद्य**
 - (i) ठेले पर हिमालय (सन् 1958 ई०)
 - (ii) पश्यन्ती (सन् 1969 ई०)
 - (iii) कहानी-अनकहनी (सन् 1970 ई०)
 - (iv) मुक्त क्षेत्र: युद्ध क्षेत्र (सन् 1971 ई०)
8. **आलोचना**
 - (i) प्रगतिवाद: एक समीक्षा (सन् 1949 ई०)
 - (ii) मानव मूल्य और साहित्य (सन् 1960 ई०)
9. **शोध**
 - (i) सिद्ध-साहित्य (सन् 1955 ई०)
10. **अनुवाद**
 - (i) ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ (सन् 1959 ई०)
 - (ii) देशान्तर (समकालीन विदेशी कविता का संग्रह (सन् 1980 ई०))
11. **सहयोगी लेखन**
 - (i) ग्यारह सपनों का देश (उपन्यास सन् 1960 ई०)

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में कहा जा सकता है कि भारती का जीवन-संघर्ष अत्यन्त प्रखर रहा। इसी जीवन संघर्ष ने उन्हें अत्यन्त भावुक और चिन्तनशील बनाया। भारती जी ने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में प्रचुर साहित्य की सृष्टि की है।

अध्याय-2

अन्धायुग की कथा-योजना

‘अन्धायुग’ धर्मवीर भारती की सबल कल्पना और पौराणिक कथानक पर आधारित है। इसमें पौराणिक कथा सूत्रों को अनुप्रेरक रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। इस काव्य रूपक का कथानक महाभारत के अन्तिम दिन के युद्ध और उसके बाद की घटनाओं-परिणामों से सम्बद्ध है, जिसे डॉ० भारती ने रंगमंच की सुविधा के लिए निम्नलिखित पाँच अंकों और स्थापना, अन्तराल एवं समापन में विभक्त किया गया है-

1. स्थापना - अन्धायुग
2. पहला अंक - कौरव-नगरी
3. द्वितीय अंक - पशु का उदय
4. तीसरा अंक - अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य
5. अन्तराल - पंख, पहिये और पट्टियाँ
6. चौथा अंक - गांधारी का शाप
7. पाँचवाँ अंक - विजय: एक क्रमिक हत्या
8. समापन - प्रभु की मृत्यु

इसमें महाभारत के शल्य पर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व, शान्ति पर्व, आश्रमवासिक पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व, मौसल पर्व में फैले विस्तृत कथानक को अत्यन्त कौशल के साथ बहुत ही सघन और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अन्धायुग के कथानक के प्रारम्भ के पूर्व ‘स्थापना’ के अन्तर्गत ‘मंगलाचरण’ है जो महाभारत से ज्यों-का-त्यों संस्कृत में ही ग्रहण कर लिया गया है। इसके बाद ‘उद्घोषणा’ के अन्तर्गत भारती जी ने ‘विष्णु पुराण’ के कलियुग वर्णन की पंक्तियाँ देकर उनके भावों को अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः ‘स्थापना’ में पूरा ‘अन्धायुग’ बीज-रूप में विद्यमान है। इसमें अन्धायुग को ज्योति के माध्यम से कही गई अंधों की कथा बतलाया गया है। चर्चित नाट्य काव्य अन्धायुग की कथा नाटकीय विधान के अनुरूप अनेक अंकों में विभाजित है।

पहला अंक - कौरव नगरी

पहले अंक का शीर्षक है ‘कौरव नगरी’। अंक के आरम्भ में ‘कथा गायन’ के रूप में महाभारत के युद्ध में कौरवों और पाण्डवों द्वारा किए गए अमर्यादित आचरण और मूल्यात्मक विघटन का उल्लेख किया गया है। युद्ध के अन्तिम दिन की संध्या का समय है। कौरवों के महलों में घूमते हुए दो प्रहरियों के बातचीत से कौरवों के राज्य-नाश एवं कुल-नाश का बोध होता है। अचानक उन्हें कुरुक्षेत्र की दिशा में असंख्य गिद्धों का उड़ता हुआ समूह दिखाई पड़ता है जो उन्हें अपशकुन

सूचक प्रतीत होता है। उसी बीच विदुर प्रवेश करते हैं, जो घटनाओं की जानकारी के लिए संजय की प्रतीक्षा करते हैं। विदुर अन्तःपुर में गांधारी और ध तराष्ट्र के पास पहुँचकर कौरवों द्वारा किए गए मर्यादाहीन और अनैतिक आचरण की ओर ध तराष्ट्र का ध्यान आकृष्ट करते हैं। तब ध तराष्ट्र प्रथम बार यह स्वीकार करते हैं कि जन्मांध होने के कारण वे मर्यादाओं के पालन में असफल रहे। विदुर उन्हें समझाते हैं कि यदि उनका ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ न होकर भगवान कृष्ण के प्रति अर्पित होता तो किसी भी प्रकार की आशंका न रहती। यह सुनकर गांधारी आवेश में आकर कृष्ण को वंचक और मर्यादा का हत्यारा घोषित करती है तथा नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति आदि आदर्शों को पाखण्ड बताती है। इसी बीच 'जयकार' करता हुआ व द्ध याचक प्रवेश करता है। यह वही ज्योतिषी है जिसने कौरव दल की विजय की बहुत पहले भविष्यवाणी की थी। भविष्यवाणी के गलत होने के कारण वह कृष्ण को मानता है, जिन्होंने अपने अनासक्त कर्म से नक्षत्रों की गति को मोड़ दिया। अंक के अन्त में दोनों प्रहरी अंक के अन्त में 'कथागायन' में कौरव नगरी के सूनेपन को दर्शाया गया है।

दूसरा अंक - पशु का उदय

दूसरे अंक का नाम 'पशु का उदय' है। इस अंक के प्रारम्भ में पहले अंक के कथासूत्र को पुनः ग्रहण किया गया है। संजय कृतवर्मा को अर्जुन द्वारा किए गए कौरव दल के विनाश का समाचार सुनाता है कि स्वयं उसके (संजय) के वध के लिए भी सात्यकि ने शस्त्र उठाया था, किन्तु व्यास ने उसे 'अवध्य' बताकर मुक्त करा दिया। संजय कृतवर्मा को भीम के साथ हुए 'गदा युद्ध' में दुर्योधन के घायल होने की सूचना देता है। तभी टूटे हुए धनुष को लेकर अश्वत्थामा प्रवेश करता है। वह पाण्डवों द्वारा छलपूर्वक किए गए पिता द्रोणाचार्य के वध से विक्षुब्ध होने के कारण पाण्डवों के वध की प्रतिज्ञा करता है। तभी वन मार्ग से आता हुआ संजय उसे दिखाई पड़ता है और वह उसका गला दबोच लेता है। तभी कृपाचार्य और कृतवर्मा लपककर संजय को अश्वत्थामा से मुक्त कराते हैं। इसी समय अश्वत्थामा को कौरव-नगरी से लौटता हुआ भविष्यवक्ता याचक दिखाई पड़ता है, जिसका अश्वत्थामा तत्काल वध कर देता है। अश्वत्थामा और कृतवर्मा को सोने का आदेश देकर कृपाचार्य स्वयं पहरा देने लगते हैं। अंक के अन्त में जो कथागायन दिया है वह तीसरे अंक की ओर संकेत करता है।

तीसरा अंक - अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य

इस अंक के आरम्भ में दिए गए 'कथागायन' में युद्ध क्षेत्र से लौटती हुई कौरव-सेना का उल्लेख किया गया है, जिसमें केवल बूढ़े, घायल और बौने ही शेष रह गए थे। हारी हुई घायल सेना के साथ आए हुए युयुत्सु को देखकर नगरवासी भयभीत हो उठते हैं। युयुत्सु पाण्डव-पक्ष की ओर से लड़ने के कारण आत्म-ग्लानि से ग्रस्त दिखाई पड़ता है। गांधारी युयुत्सु पर कठोर व्यंग्य करती है। तभी संजय गदा युद्ध में दुर्योधन की पराजय का समाचार लाते हैं। अश्वत्थामा कृपाचार्य को बताता है कि भीम ने गदा युद्ध में अधर्मपूर्वक दुर्योधन की जंघाओं पर प्रहार किया जो गदा युद्ध के नियमों के विरुद्ध है। वह आवेश में आकर पाण्डवों के वध की प्रतिज्ञा करता है। कृपाचार्य अश्वत्थामा को कौरव दल के सेनापति पद पर नियुक्त करते हैं। कृतवर्मा और कृपाचार्य को सोने का आदेश देकर सेनापति अश्वत्थामा स्वयं पहरा देने लगता है। तभी रात्रि के सन्नाटे में उसे व क्ष पर एक उल्लू दिखाई पड़ता है। जो सोये हुए कौवे पर आक्रमण करता है तथा उसका वध करके नाचने लगता है। इस प्रसंग से प्रेरित होकर अश्वत्थामा पाण्डवों के वध की योजना मन में लेकर पाण्डव-शिविर की ओर प्रस्थान करता है।

अन्तराल

तीसरे अंक के बाद 'अन्तराल' है जिसका शीर्षक है 'पंख, पहिये और पट्टियाँ।' यहाँ अश्वत्थामा द्वारा मारे गए व द्ध याचक की प्रेतात्मा प्रवेश करती है। युयुत्सु, संजय, विदुर आदि पात्र प्रेतात्मा के पीछे खड़े होकर अपनी-अपनी आन्तरिक असंगति से उत्पन्न पीड़ा को व्यक्त करने लगते हैं। पाण्डव शिविर के द्वार पर एक विशालकाय दानव पुरुष के रूप में महादेव शिव अश्वत्थामा को शिविर में प्रवेश करने से रोकते दिखलाई पड़ते हैं।

चौथा अंक - गांधारी का शाप

इस अंक में आशुतोष महादेव अश्वत्थामा की स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाण्डव शिविर में प्रवेश करने की अनुमति देते हैं। अश्वत्थामा धृष्टधुम्न, शतानीक और शिखण्डी की हत्या करता है। जान बचाकर भागने की चेष्टा करते हुए शेष पाण्डव योद्धाओं को द्वार पर स्थित कृतवर्मा और कृपाचार्य मौत के घाट उतार देते हैं। कृपाचार्य के मुख से अश्वत्थामा द्वारा की गई पाण्डवों की विनाश लीला का वर्णन सुनकर गांधारी प्रसन्न होती है, किन्तु इसी बीच दुर्योधन की मृत्यु हो जाती है, जिसका समाचार सुनकर यह मूर्च्छित हो जाती है। इस अंक के मध्य में दिए गए 'कथागायन' में म त कौरव-वीरों के तर्पण के लिए युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान करते हुए युयुत्सु, धृतराष्ट्र, संजय आदि का उल्लेख है। अर्जुन के बाणों से घायल अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है। कृष्ण के कहने पर अर्जुन अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को काटने के लिए अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं, किन्तु व्यास के कहने पर वे उसे वापिस लौटा लेते हैं।

अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ पर गिरता है, किन्तु कृष्ण म त शिशु को जीवित करने का आश्वासन देते हैं तथा अश्वत्थामा को शाप देते हैं कि वह पीप घावों से युक्त शरीरवाले दुर्गम स्थानों पर भटकता रहेगा। उधर गांधारी युद्ध-भूमि में दुर्योधन के अस्थि-पंजर को देखकर कृष्ण को शाप देती है, "तुम स्वयं अपने वंश को विनाश करके किसी साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे।"

पाँचवाँ अंक - विजय: एक क्रमिक हत्या

इस अंक के कथागायन में पाण्डव-राज्य की स्थापना का उल्लेख है। कौरव-नगरी में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो गया है। भीम की कटूक्तियों से मर्माहत होकर धृतराष्ट्र तथा गांधारी वन चले जाते हैं। युयुत्सु अपमानित होकर भाले से आत्महत्या का प्रयास करता है किन्तु सफल नहीं होता। कुन्ती, गांधारी, धृतराष्ट्र भीषण दावाग्नि में भस्म हो जाते हैं।

समापन - प्रभु की मृत्यु

अन्तिम अंक के बाद 'समापन' है, जिसका शीर्षक 'प्रभु की मृत्यु' है। झाड़ी के पीछे से निकलकर 'जरा' नामक व्याध कृष्ण के बाएँ पैर को म ग-मुख समझकर बाण चलाता है। अश्वत्थामा प्रभु के शरीर से बहते हुए पीप-भरे नीले रक्त को देखकर प्रसन्न होता है। उसे लगता है कि जैसे प्रभु ने अपने रक्त से उसकी ही पीड़ा को व्यक्त किया हो। उसके मन में प्रभु के प्रति आस्था का उदय होता है। व्याध के कथन से स्पष्ट होता है कि प्रभु ने अपनी इच्छा से ही मृत्यु को वरण किया है। व्याध द्वारा दुहराये गए प्रभु के शब्दों से ज्ञात होता है कि अंधे युग में प्रभु का अंश निष्क्रिय (संजय), आत्मघाती (युयुत्सु) और विगलित रहेगा तथा उनका दूसरा अंश मानव मन के उस मंगलकारी व त्त में निवास करेगा जो ध्वंसों पर नूतन निर्माण करेगा। नूतन स जन, निर्भयता, साहस और मर्यादायुक्त आचरण में प्रभु बार-बार जीवित हो उठेंगे।

भारती ने कथा-संवाद में अनेक पद्धतियों का सहारा लिया है, जिनके कारण कथा के गठन में अद्भुत आकर्षण उत्पन्न हो गया है। कथावस्तु-संयोजन की निम्नलिखित पद्धतियाँ अपनाई गई हैं, जिन्हें कथावस्तु की प्रकृति भी माना जा सकता है-

1. **संक्षेपण** - अन्धायुग में महाभारत के उत्तरार्द्ध के जिस कथाफलक को चुना गया है, वह शल्य पर्व से लेकर महाप्रस्थानिक पर्व तक के सात पर्वों में व्याप्त है। इतने बड़े कथा-फलक को अन्धायुग के कथानक में समेटने में भारती ने विलक्षण समाहार-क्षमता एवं संक्षेपण का परिचय दिया है। भारती ने संक्षेपण की पद्धति के माध्यम से महाभारत की कथा के विस्तारों को छोड़ने और अत्यन्त आवश्यक तीखे प्रसंगों को चुनकर संयोजित करने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है।
2. **प्रतीकीकरण** - इस चर्चित कृति के कथावस्तु के गठन में भारती ने पात्रों और प्रसंगों को प्रतीकीरूप में प्रस्तुत किया है। इस पद्धति से पात्र और प्रसंग अत्यन्त प्रभावशाली तथा मार्मिक रूप में चित्रित हुए हैं। पात्रों के प्रतीकार्य स्थान-स्थान पर प्रकट होते चलते हैं। कृष्ण को अनासक्त कर्मयोगी के रूप में चित्रित किया गया है - "वह है भविष्य का रक्षक वह है अनासक्त।" धृतराष्ट्र की जन्मान्धता कथानक को उसकी मोहान्धता का प्रतीक बन गई है। संजय तटस्थ सत्यवक्ता का प्रतीक है। अश्वत्थामा बर्बर पशु का प्रतीक है। इस प्रकार प्रतीक पद्धति ने कथानक के सौन्दर्य को निखारा है।
3. **उद्भावना** - कथानक को संजीवता एवं मार्मिकता प्रदान करने के लिए भारती ने कुछ पात्रों एवं प्रसंगों की स्वयं उद्भावना की है। व द्रुपदाचक, गूंगा सैनिक और प्रहरी ऐसे ही उद्भूत अथवा कल्पित पात्र हैं। युयुत्सु की आत्महत्या का प्रसंग तथा उसके बाद उसका प्रेतरूप में उपस्थित होना भी कवि की निजी कल्पना है।
4. **रूपान्तरण** - रूपान्तरण का अर्थ है रूप में परिवर्तन। कुछ पात्रों तथा प्रसंगों में कवि ने कहीं गौण और कहीं मौलिक परिवर्तन किए हैं। महाभारत में 'जरा' नामक व्याध (शिकारी) एक स्वतन्त्र पात्र है। जिसके बाण से कृष्ण की मृत्यु होती है किन्तु अन्धायुग में कल्पित पात्र व द्रुपदाचक की प्रेतात्मा को ही जरा नामक प्रख्यात पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है

**"अब मैं व द्रुपदाचक हूँ,
नाम मेरा जरा है।
पहले मैं था व द्रुपदाचक ज्योतिषी।"**

अन्धायुग में पात्रों और प्रसंगों के रूपान्तरण के और भी अधिक उदाहरण मिलते हैं।

5. **सहयोजन** - सहयोजन का अर्थ है प्रसंगों की साथ-साथ योजना। कवि ने सम-विषय प्रकृति के प्रसंगों की एक साथ योजना द्वारा कथा की मार्मिकता में विशेष अभिवृद्धि की है। उदाहरण के लिए युयुत्सु और गूंगा सैनिक के प्रसंगों को आमने-सामने सटाकर कवि ने पूरे प्रसंग को मार्मिकता प्रदान की है। महाभारत में कृष्ण के स्वर्गारोहण के समय न तो अश्वत्थामा उनके समीप है और न ही वह उन्हें जरा नामक व्याध के बाण से घायल होते हुए देखता है।
6. **कथा-गायन** - कथा-संयोजन की पद्धतियों में कथा-गायन प्रमुख है। भारती ने प्रथम अंक में तीन, दूसरे में दो, तीसरे में एक, चौथे में तीन, पाँचवें में दो तथा समापन में चार कथागायनों की योजना है। ये कथा-गायन भूत, वर्तमान तथा भविष्य में व्याप्त कथा-प्रसंगों

को अन्विति के सूत्र में बाँधते हैं तथा प्रसंगों के पीछे निहित अनुभूति की कवित्वपूर्ण अभिव्यजना करते हैं।

7. **रहस्योद्घाटन** - प्रसंगों और पात्रों पर रहस्य का पर्दा डालकर उनके प्रभाव को और भी घनीभूत करने की प्रवृत्ति को ही रहस्योद्घाटन कहते हैं। यह प्रकृति अन्धायुग के पौराणिक कथानक के अनुरूप है। अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र चलाना, व्यास की आकाशवाणी, संजय की दिव्य दृष्टि, पाण्डव-शिविर की रक्षा के लिए भगवान शंकर का द्वारा पर उपस्थित होना आदि अनेक प्रसंगों में रहस्योद्घाटन की यह पौराणिक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। वद्वयाचक भी एक रहस्य पात्र है जो मरने के बाद भी प्रेतात्मा बनकर जरा नामक व्याध के रूप में प्रस्तुत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्धायुग के पूरे कथानक में तीखे और प्रखर पात्रों एवं प्रसंगों की योजना की गई है। सम्पूर्ण कथानक बहुत प्रभावशाली एवं मार्मिक बन पड़ा है। धर्मवीर भारती ने एक प्रबुद्ध कलाकार के रूप में संदर्भ-संयोजन की अनेक पद्धतियों का उल्लेख करके कथानक में भावात्मक सघनता उत्पन्न की है। निश्चय ही महाभारत पर्व आधारित यह कथानक अनुकूल और गंभीररूप में समायोजित कर नाट्य-काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है इसमें जहाँ कथानक की क्रमबद्धता है, वहीं काव्यात्मकता की प्रभावी प्रस्तुति आधार है। अन्धायुग का कथानक अपने पौराणिकता नवीनता लिए हुए आकर्षण अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

अध्याय-3

अन्धायुग की प्रवृत्तियाँ

‘अन्धायुग’ धर्मवीर भारती द्वारा रचित एक उद्देश्य प्रधान रचना है अन्य सभी सार्थक कृतियों की भाँति ‘अन्धायुग’ भी एक मूल्य-निरूपक, कथ्य प्रधान, सन्देश प्रधान एवं सोद्देश्य कृति है। ‘अन्धायुग’ की प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं, जो इस प्रकार से हैं-

1. **युद्ध के विनाश का चित्रण** - अन्धायुग की प्रमुख प्रवृत्ति है कि युद्ध की विभीषिका का चित्रण करना। युद्ध मानव-नियति का सबसे बड़ा अभिशाप है। इसमें हार-जीत दोनों का ही परिणाम घातक और निराशाजनक होता है। जिस सिंहासन के लिए इतने दिन संग्राम हुआ, पराजित धराष्ट्र और गांधारी उसी को छोड़कर अपने सौ मृत पुत्रों को तर्पण करने के लिए वन चले गए और अन्त में भीषण दावाग्नि में भस्म हो गए। विजयी पाण्डवों को भी अन्त में अपनी विजय के खोखलेपन का ज्ञान होता है। युधिष्ठिर की दृष्टि में विजय तिल-तिलकर फलीभूत होने वाला आत्मघात है-

**“और विजय क्या है?
एक लम्बा और धीमा
और तिल-तिल कर फलीभूत
होने वाला आत्मघात”**

2. **युद्ध के माध्यम से मोहान्धता के विनाशकारी प्रभाव को दर्शाना** - इस कृति में कवि ने महाभारत के युद्ध के माध्यम से मोहान्धता के दुष्परिणामों को दर्शाना चाहा है। किन्तु इसका मूल्य-बोध नकारात्मक ही नहीं, वरन् कवि ने विनाश के माध्यम से सर्जन की प्रेरणा को रेखांकित किया है। वास्तव में ज्योति की कथा कहना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है, किन्तु उसने इसे कलात्मक ढंग से अंधों के माध्यम से कहा है। कवि के अनुसार-

**“यह कथा उन्हीं अंधों की है,
या कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से”**

3. **आचरण की शुद्धता** - असात्त्विक और अशुद्ध आचरण अनेक विकारों को जन्म देते हैं। ये विकार मनुष्य और मनुष्यता दोनों के लिए हितकार नहीं हैं। केवल मर्यादित और संयमित आचरण ही मनुष्य का वास्तविक कवच है जो उसे हर प्रकार की विपत्तियों से बचाता है-

**“केवल स्वम् किया हुआ
मर्यादित आचरण कवच है
जो व्यक्ति को बचाता है।”**

भारती जी ने इस कृति में सात्त्विक और शुद्ध आचरण की महत्ता को प्रतिपादित किया है।

4. **कर्मयोग का सन्देश** - भारती जी ने 'अन्धायुग' को गीता के निष्काम कर्मयोगी की महत्ता को प्रतिपादित किया है। मनुष्य अपने कर्म के बल से नक्षत्रों की दिशा को भी बदल सकता है। मनुष्य का भाग्य पूर्व निर्धारित नहीं है बल्कि मानव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। बलशाली मानव जब अपने कर्म को पूरा करने के लिए कृतसंकल्प हो जाता है तो सभी विपरीत परिस्थितियाँ उसके आगे नतमस्तक हो जाती हैं। अनासक्त कर्मयोग की स्थापना करता हुआ व द्ध याचक कहता है-

**"जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।"**

5. **मर्यादाहीन अनैतिक आचरण का विरोध** - अन्धायुग की एक अन्य प्रवृत्ति है मर्यादाहीन अनैतिक आचरण का विरोध। महाभारत के युद्ध में दोनों ही पक्षों ने न्यूनाधिक रूप में मर्यादा का खण्डन कर अपनी विवेकहीनता का परिचय दिया है। विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं कि मर्यादाओं का सम्मान करना चाहिए नहीं तो खण्डित क्रोधित मर्यादाएँ मानव को नष्ट कर देती हैं-

**"मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर-सी
गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।"**

6. **अस्तित्ववाद के निर्णय-सिद्धान्त एवं कर्म सिद्धान्त का समावेश** - अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य का कर्म ही उसके अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करता है। मनुष्य लाचारी के कारण ही निष्क्रिय रहने का अभिशाप भोगता है। इस कृति के अनेक पात्र निरर्थकता का तीखा अनुभव करते हैं। संजय निष्क्रियता का अनुभव करते हुए कहता है -

**"पर मैं तो निष्क्रिय
खोता जाता हूँ क्रमशः
अर्थ अपने अस्तित्व का।"**

7. **मानवीय विघटन** - पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का विघटन जिस तीव्रता से हो रहा है, उसका प्रभाव काव्य पर भी पड़ा। इलियट के 'वेस्टलैंड', 'होलोमैन', और 'मर्डर इन कैथेड्रल' में उन विघटनशील मान्यताओं को मार्मिकरूप में चित्रित किया गया है। इलियट की इन कृतियों का प्रभाव धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धायुग' पर भी देखा जा सकता है। 'अन्धायुग' में इस विघटन को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

**"उस दिन जो अन्धायुग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अधियारा गहरा होता जाता है।"**

8. **प्रकृति चित्रण** - भारती ने केवल मानव की मानसिक उलझनों का ही चित्रण नहीं किया वरन् उसकी दृष्टि प्रकृति की ओर भी गई है। डॉ० धर्मवीर भारती ने प्रकृति का अत्यन्त

आकर्षक वर्णन अपनी कृति में प्रस्तुत किया है। कवि मर्यादा का मानवीकरण करते हुए कहता है-

**"मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर-सी।"**

9. **अलंकार योजना** - जिस प्रकार बिना आभूषणों के स्त्री सुन्दर नहीं लगती उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य रोचक नहीं बन सकता। अन्धायुग में डॉ० धर्मवीर भारती ने अलंकारों का प्रयोग भाषा की शक्ति और ऊर्जा में वृद्धि के लिए किया है। भारती जी ने उपमा, रूपक, मानवीकरण आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। परन्तु कवि का मन उपमा अलंकार में ही अधिक रमा है। उपमा अलंकार का यह उदाहरण दृष्टव्य है-

**"मैंने मरोड़ दिया
अपने इस धनुष को
कुचले हुए साँप-सा।"**

10. **प्रतीक योजना** - प्रतीक योजना के द्वारा भारती ने अपनी इस कृति से अपनी भाषा की क्षमता में असीम वृद्धि की है। कवि ने बौद्धिक चेतना को पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से अत्यन्त सशक्तरूप से अभिव्यक्त किया है। 'अन्धायुग' तो पूर्णतः प्रतीकात्मक रचना है जिसका प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी प्रतीक का द्योतक है। यहाँ प्रतीक का उदाहरण दृष्टव्य है-

**"दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन।"**

11. **बिम्ब विधान** - अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारती के काव्य की अन्य उल्लेखनीय प्रवृत्ति है सशक्त बिम्ब विधान/पौराणिक, मनोवैज्ञानिक, प्रकृति एवं व्यक्ति बिम्बों का उनके काव्य में बाहुल्य है। डॉ० गोविन्द चातक का मत है कि उनकी भाषा बिम्ब विधान में बहुत सक्षम है। निम्न पंक्तियों में कवि ने ब्रह्मास्त्र के मिथक का सहारा लेकर एक गत्वर बिम्ब का चित्रण किया है-

**"ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकरायें
सूरज बुझ जाएगा
धरा बंजर हो जाएगी।"**

12. **लयात्मकता** - छन्द और लय की दृष्टि से भी 'अन्धायुग' एक सशक्त कृति है। इस कृति के 15 कथागायनों में उत्तम कोटि की छन्दोबद्ध कविता के नमूने मिलते हैं। संवादों में लय पर इतना बल नहीं है जितना अनुभूतियों के उतार-चढ़ाव को टोन या सुर और बलाघात के सहारे प्रभावशालीरूप में प्रस्तुत करने पर।

संक्षेप में गीता के निष्काम कर्मयोग की महत्ता को प्रतिपादित करना, युद्ध की विभीषिका का चित्रण, सात्त्विक और शुद्ध आचरण की महत्ता, कर्म सिद्धान्त का समर्थन, कृष्ण को व्यक्ति के अतिरिक्त मंगलविधायिनी चेतना या सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करना इस कृति की अनुभूतिगत प्रवृत्तियाँ हैं। बिम्ब-विधान, प्रतीक योजना, सुसंगठित कथावस्तु, अलंकार योजना, छन्द और लय अन्धायुग की शिल्पगत विशेषताएँ हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारती कृत अन्धायुग कथ्य और शिल्प की दृष्टि से प्रौढ़ और उत्कृष्ट रचना है।

अध्याय-4

अन्धायुगः काव्य-रूप

‘अन्धायुग’ काव्य-रूप की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा से भिन्न है। यह नाटक के रूप में लिखा हुआ काव्य है और काव्य के रूप में लिखा हुआ नाटक। नाटकीयता और कवित्व के मधुर सामंजस्य के कारण इसका काव्यरूप विशिष्ट और मौलिक है। इसे हम एक सफल नाटक भी कह सकते हैं और एक प्रभावपूर्ण काव्य भी। इसकी रचना के मूल में टी०एस० इलियट के ‘वैस्ट लैण्ड’ जैसे नाट्य-काव्यों की प्रेरणा रही है। डॉ० प्रेमपती ने इसकी रूपगत विशेषता के सन्दर्भ में निम्नलिखित पाँच तत्त्वों को चित्रित किया है- (1) संवादों का मुक्त छन्द में होना, (2) आवश्यकतानुसार लय परिवर्तन करते चलना, (3) ग्रीक कोरस के निम्नवर्ग के पात्रों की भाँति दो प्रहरियों को पेश करना, (4) ‘अन्तराल’ में व्रतगन्धी गद्य का प्रयोग करना, (5) कथानक में कुछ उत्पाद्य तत्त्वों का समावेश।

‘अन्धायुग’ का काव्य-रूप हिन्दी समालोचकों के सामने एक विवाद का प्रश्न रहा है। स्वयं धर्मवीर भारती अपनी इस कृति के नामकरण के विषय में आश्वस्त नहीं हैं। उन्होंने इसे ‘द श्य नाटक’, ‘नाटक’, ‘गीतिनाट्य’, ‘काव्य’, ‘लम्बा नाटक’ आदि नाम दिए हैं। पाश्चात्य कवि और आलोचक टी०एस० इलियट ने नाटकीय काव्य कृतियों को ‘पोयटिक प्ले’ या ‘पोयटिक ड्रामा’ या ‘वर्स प्ले’ नाम दिए हैं और कहीं-कहीं पर उन्हें ‘ड्रेमेटिक पोयट्री’ भी कहा है। इलियट ने ‘ड्रेमेटिक पोयट्री, और ‘पोयटिक ड्रामा’ शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया है। डॉ० परम्परानन्द श्रीवास्तव ने इसे काव्य-कृति के रूप में रचित माना है-“कठिनाई यह है कि बहुत कुछ एक सम्पूर्ण काव्य-कृति के रूप में भारती ने इसकी रचना की है।” अन्धायुग की रचना किसी गद्य नाटककार ने नहीं की अपितु भारती जी ने अपने कवित्व-शक्ति का परिचय देते हुए ‘अन्धायुग’ की रचना की। टी०एस० इलियट नाटकीयता और कवित्व के संयोजन से निर्मित रचनाओं के लिए कवि की प्रतिभा की आवश्यकता समझते हैं। इलियट का कहना है “पोयटिक ड्रामा की रचना कविता लिखना सीखनेवाले गद्य नाटककारों की अपेक्षा नाटक लिखना सीखनेवाले कवियों द्वारा अधिक सम्भव है।” यह बात धर्मवीर भारती पर पूरी तरह लागू होती है।

नाटकीयता एवं कवित्व कोई पथक वस्तुएँ नहीं है। ‘अन्धायुग’ में नाटकीयता एवं कवित्व का सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। क्रिया-व्यापारों की तीव्रता ने नाटकीयता को अनुभूति की तीव्रता ने कवित्व को प्रकट किया है। इस कृति में नाटकीयता और कवित्व में सामंजस्य को सम्भव बनाने वाले निम्न घटक इस प्रकार से हैं-

- (क) **मर्मस्पर्शी प्रसंग** - अन्धायुग के कथ्य को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि इसमें क्रोध, आक्रोश, अनास्था, घणा, नियति, निराशा, प्रतिशोध, निरर्थकता, विनाश की तीखी अनुभूतियों को जागृत करने वाले मार्मिक प्रसंगों की सपन्न योजना हुई है। ये प्रसंग क्रिया-व्यापार की तीव्रता के कारण नाटकीय भी हैं और काव्यात्मक भी।
- (ख) **पात्र निरूपण** - कृष्ण, विदुर जैसे एक, दो पात्रों को छोड़कर इस कृति के प्रायः सभी पात्र असन्तुलित एवं असामान्य हैं। प्रत्येक पात्र किसी मूल मनोवृत्ति का प्रतीक है, जैसे धतराष्ट्र मोहान्धता का, गांधारी आहत मातृत्व की और अश्वत्थामा प्रतिशोध से प्रेरित

पशुता। पात्रों की तीखी प्रतिक्रियाओं ने मार्मिक क्रिया-व्यापारों और उद्गारों में ढलकर उत्तम नाटकीयता एवं कवित्व की सृष्टि की है।

(ग) **कथोपकथन (संवाद)** - अन्धायुग के संवादों में नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य को सम्भव बनाने वाली निम्न प्रवृत्तियाँ इस प्रकार से हैं-

1. **भाषा में सजीवता** - अन्धायुग के संवाद जीवन के यथार्थ सन्दर्भों और उनसे जुड़ी बोलचाल की भाषा की सजीवता लिए हुए हैं। जब एक प्रहरी दूसरे प्रहरी से कहता है -

“सूने गलियारे-सा सूना यह जीवन भी बीत गया।”

इस संवाद में बोलचाल की भाषा की सजीवता दृष्ट्य है।

2. **बिम्ब योजना** - अन्धायुग की दूसरी विशेषता है उनकी बिम्बधर्मिता जिसमें नाटकीय सन्दर्भों एवं संवेदनाओं का सही सम्पूर्णन हुआ है। व्यास जी ने विनाश के प्रभाव के धनीभूत रूप में साकार करनेवाले दो बिम्बों को एक साथ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

**“ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकरायेंगे
सूरज बुझ जायेगा।
धरा बंजर हो जायेगी।”**

3. **संवादों में टोन या सुर को सुरक्षित रखना** - भारती ने बोलचाल की सहजता से नाटकीयता और कवित्व का सामंजस्य साधने के लिये बोलचाल की भाषा की टोन या सुर को या लहजे को अनेक संवादों में सुरक्षित रखा है। इससे नाटकीय एवं काव्यात्मक प्रभाव में वृद्धि तथा स्वाभाविकता का समावेश हुआ है। व्याध को लक्ष्य करके संजय द्वारा कहा गया यह कथन सुर या टोन की सृष्टि से दृष्ट्य है -

**“ठहरो, ओ ठहरो।
आह। वह सुनता नहीं
ज्योति बुझ रही है वहाँ”**

4. **नाटकीय विडम्बना या ड्रैमैटिक आयरनी** - प्रस्तुत कृति में नाटकीय विडम्बना या ड्रैमैटिक आयरनी के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नाटकीय विडम्बना और ड्रैमैटिक आयरनी ऐसे स्थलों पर होती है, जहाँ पात्र अवास्तविक परिस्थितियों को ही वास्तविक मानकर संशयवश कुछ कहते हैं और कुछ करते हैं। नेपथ्य से वद्वयाचक की ध्वनि- “दुर्योधन की जय हो” सुनकर धृतराष्ट्र का यह कहना - “विदुर देखो, संजय आये।” और तब गांधारी के मुख से निकल पड़ता है-

**“जीत गया
मेरा पुत्र दुर्योधन
मैंने कहा था
वह जीतेगा निश्चय आज।”**

उपर्युक्त उद्धरण नाटकीय विडम्बना का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण अन्धायुग में सुलभ हैं।

5. **लयात्मकता** - भारती ने संवादों में गद्य और कविता के मध्य की मुक्त छन्द पद्धति का अनुसरण किया है, जिसमें परिस्थितियों और मनःस्थितियों के अनुरूप पंक्तियाँ लम्बे या छोटे आकार वाले विभिन्न छन्दों के चरणों में ढलती गई हैं। अन्तराल में व तगन्धी गद्य का प्रयोग किया गया है। व तगन्धी मूलरूप में गद्य होते हुए भी अपने प्रभाव की तीव्रता के कारण छन्दात्मक लय का आभास कराता है।

कथानक, पात्र-योजना और संवाद-योजना के उक्त तत्त्वों ने अन्धायुग में नाटकीयता और कवित्व का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। डॉ० सुरेश चन्द्र गुप्त ने अन्धायुग में नाटकीयता एवं कवित्व के इस समन्वय को ध्यान में रखकर इसे काव्य नाटक नाम से अभिहित किया है, किन्तु साथ ही वे अन्धायुग में काव्य-तत्त्व की प्रधानता भी मानते हैं। डॉ० नामवर सिंह ने इसमें नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य को स्वीकार करते हुए कहा है, "इस नाट्यकृति ने पहली बार हिन्दी नाट्य में यह स्थापित किया है कि काव्य और नाटक का बड़ा गहरा सम्बन्ध है।"

संक्षेप में अन्धायुग में नाटकीयता और कवित्व का उत्कृष्ट सामंजस्य है। इसकी कथावस्तु को प्रभावित करनेवाला मूल तत्त्व कवित्व ही है। निष्कर्षतः अन्धायुग को काव्य-नाटक की अपेक्षा नाट्य-काव्य कहना ही अधिक समीचीन एवं युक्तिसंगत है।

अध्याय-5

अन्धायुग मे नाटकीयता एवं कवित्व का सामंजस्य या अन्धायुग का नाट्य-काव्य रूप

अन्धायुग की रचना किसी गद्य नाटककार ने नहीं की अपितु भारती जी मूलतः कवि हैं। उन्होंने अपनी कवित्व शक्ति का परिचय अन्धायुग की रचना करके दिया है। भारती जी सजग एवं अनुभूतिशील कलाकार हैं। टी०एस० इलियट का कहना है-

“पौयटिक ड्रामा की रचना कविता लिखना सीखनेवाले गद्य नाटककारों की अपेक्षा नाटक लिखना सीखनेवाले कवियों द्वारा अधिक संभव है।” यह बात धर्मवीर भारती पर पूरी तरह लागू होती है।

नाटकीयता और कवित्व कोई पथक वस्तुएं नहीं हैं। क्रिया-व्यापारों की तीव्रता में अनुभूति की तीव्रता निहित रहती है जो नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य को प्रभावी एवं सफल बनाती है। इस कृति में नाटकीयता एवं कवित्व के घटक निम्नलिखित हैं-

- (क) **हृदय स्पर्शी प्रसंगों की योजना** - अन्धायुग के कथानक पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि इसमें क्रोध, प्रतिशोध, आक्रोश, अनास्था, निराशा, नियति, निरर्थकता एवं विनाश की तीखी अनुभूतियों को जाग्रत करनेवाले मार्मिक प्रसंगों की सफल योजना हुई है। ये प्रसंग क्रिया-व्यापार की तीव्रता के कारण नाटकीय एवं काव्यात्मक दोनों हैं।
- (ख) **पात्र-निरूपण योजना** - कृष्ण, विदुर जैसे एक, दो पात्रों को छोड़कर इस कृति के सभी पात्र प्रायः असामान्य एवं असंतुलित हैं। प्रत्येक पात्र किसी न किसी मूल मनोवृत्ति का प्रतीक है, जैसे अंधा धराष्ट्र मोहान्धता का, गांधारी आहत मातृत्व की और अश्वत्थामा बदले की भावना से प्रेरित पशुता का। इस प्रकार पात्रों की तीखी परिस्थितियों और मनःस्थितियों ने एक ओर नाटकीय क्रिया-व्यापार को गति एवं शक्ति प्रदान की है तो दूसरी ओर कवित्व को भी मार्मिकता प्रदान की है।
- (ग) **संवाद योजना** - अन्धायुग के संवादों में नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य को सहज सम्भव बनानेवाले निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ इस प्रकार से हैं-
1. **बोलचाल की भाषा की सजीवता** - अन्धायुग के संवाद जीवन के यथार्थ संदर्भों और उनसे जुड़ी हुई भाषा सजीवता लिए हुए हैं। जब एक प्रहरी दूसरे प्रहरी से कहता है-

“सूने गलियारे-सा वह जीवन भी बीत गया” तो गलियारे के सूनेपन के बोध से जीवन की शून्यता मूर्त दिखलायी पड़ने लगती है। उपर्युक्त संवाद में बोलचाल की भाषा की जीवन्तता दर्शनीय है।

2. **भाषा की बिम्बधर्मिता** - अन्धायुग की भाषा बिम्बधर्मिता है, जिसमें सन्दर्भ और संवदेना का संयुक्त रूप साकार होता चलता है। भावी विनाश के प्रभाव को धनीभूत रूप में मूर्त करनेवाले दो बिम्बों को एक साथ व्यास जी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

"सूरज बुझ जायेगा धरा बंजर हो जायेगी।"

3. **संवादों में सुर या टोन को सुरक्षित रखना** - कवि ने बोलचाल की सहजता से नाटकीयता और कवित्व का सामंजस्य स्थापित करने के लिए बोलचाल की भाषा की टोन या सुर या लहजे को ही अनेक संवादों में सुरक्षित रखा है। इससे अन्धायुग के नाटकीयता और काव्यात्मक प्रभाव में वृद्धि है।

सुर या टोन के कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

- i. **"ठहरो! ठहरो!**
ठहरो, झूठे भविष्य
ठहरो, वृद्ध।"
- ii. **"झुक जाओ**
झुक जाओ
ढालों के नीचे
छिप जाओ।"

4. **नाटकीय विडम्बना या ड्रेमेटिक आयरनी** - नाटकीय विडम्बना और ड्रेमेटिक आयरनी ऐसे स्थलों पर होती है, जहाँ पात्र अवास्तविक परिस्थितियों को ही वास्तविक मानकर भ्रान्ति के कारण कुछ कहते और करते हैं और इस प्रकार वास्तविकता को जाननेवाले पात्रों और पाठकों की दृष्टि से उपहास के पात्र बनते हैं। भारती द्वारा रचित इस कृति के संवादों में नाटकीय विडम्बना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दुर्योधन की विजय की सूचना पाने के लिए संजय की प्रतीक्षा करता हुआ धृतराष्ट्र विदुर के पैरों की आहट सुनकर पूछता है - "कौन संजय?" इसी प्रकार नेपथ्य से वृद्ध याचक की "दुर्योधन की जय हो।" ध्वनि सुनकर धृतराष्ट्र का यह कहना "विदुर देखो! संजय आये।" और गान्धरी के मुख से निकल पड़ता है -

"जीत गया
मेरा पुत्र दुर्योधन
मैंने कहा था
वह जीतेगा निश्चय आज।"

5. **लयात्मकता** - अन्धायुग में भारती जी ने गद्य और पद्य के मध्य की मुक्त-छन्द पद्धति का अनुसरण किया है। जिसमें मनःस्थितियों और परिस्थितियों के अनुसार पंक्तियाँ लम्बे या छोटे आकारवाले विभिन्न छन्दों के चरणों में ढलती गई हैं। अन्तराल में व तगन्धी गद्य का प्रयोग किया गया है। व तगन्धी गद्य मूलरूप से गद्य होते हुए भी अपने प्रभाव की तीव्रता के कारण छन्दात्मक लय का आभास कराता

है। कथा गायनों में लय और छन्द का सामंजस्य भी मिलता है। इस कति में कथा गायनों की संख्या 15 है। अन्धायुग की कविता संवादों में संजोयी गई अनुभूतियों की अखण्ड प्रवाह में है।

डॉ० कथूरिया के अनुसार, "अन्धायुग कितनी ही बार सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुका है। द श्यकाव्य तो वह है ही। डॉ० प्रेमपति ने अन्धायुग को टी०एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' और 'मर्डर इन द कैथीड्रल' की प्रेरणा से रचित कृति माना है। उन्होंने इसे एक 'थीसिस नाटक माना है और इसे रोमांस से ओत-प्रोत घोषित किया है। डॉ० नामवर सिंह ने नाटकीयता और कवित्व का सामंजस्य स्थापित करते हुए लिखा है-

"इस नाट्य-कृति ने पहली बार हिन्दी नाट्य से यह स्थापित किया है कि काव्य और नाटक का बहुत गहरा सम्बन्ध है।" वस्तुतः इसके रेडियो प्रसारण से इसकी सफलता अनेक बार सिद्ध हो चुकी है।

अध्याय-6

अन्धायुगः अभिनेयता

‘अन्धायुग’ डॉ० धर्मवीर भारती द्वारा रचित आधुनिक युग का एक सफल एवं प्रभावशाली नाट्य-काव्य है। भारती जी ने इस कृति की रचना एक रंगमंचीय नाट्य-काव्य के रूप में की है। उन्होंने इसक मंच-विधान के बारे स्वयं लिखा है, मंच-विधान जटिल नहीं है एक पर्दा पीछे स्थाई रहेगा। उसके आगे दो पर्दे रहेंगे। सामने का पर्दा अंक के आरम्भ में उठेगा और अंक के अन्त तक रहेगा।..... मंच की सजावट कम-से-कम होनी चाहिए। प्रकाश व्यवस्था में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए।” इसी सम्बन्ध में वे आगे लिखते हैं मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था। यहाँ यह उसी मूल रूप में छापा जा रहा है। लिखे जाने के बाद उसका रेडियो रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके संवादों की लय और भाषा को भाँजने में काफी सहायता मिली। मैंने इस बात को भी ध्यान में रखा है कि मंच-विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंच वाले लोकनाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अत्यधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।”

अभिनय की सफलता और रंगमंचीय प्रभाव को दृष्टि में रखकर भारती जी ने यथारथान कोष्ठकों में आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय सम्बन्धी रंग-संकेत दिए हैं। आंगिक और वाचिक अभिनय के सम्बन्ध में रंग-संकेत प्रस्तुत करते हुए भारती ने लिखा है- अश्वत्थामा आक्रमण करता है। गला दबोच लेता है। नेपथ्य में पुनः पुकार “अश्वत्थामा मा ।” कृतवर्मा पुकारता है- “कृपा चार्य...चार्य”। भारती ने आहार्य अभिनय को ध्यान में रखकर विभिन्न पात्रों की वेशभूषा के सम्बन्ध में भी रंग-निर्देश दिए हैं। “कवच पर हाथ करते हुए रो पड़ती है” में दुर्योधन के कवच का उल्लेख किया है। लेकिन वेशभूषा या आहार्य अभिनय सम्बन्धी विशेष निर्देश नहीं दिए हैं।

डॉ० धर्मवीर भारती ने अभिनय सम्बन्धी उपर्युक्त रंग-संकेतों के साथ ही यथा स्थान बीच-बीच में प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि-प्रभाव के विषय में रंग-संकेत दिए हैं। भारती जी ने एक साथ ध्वनि-प्रभाव और प्रकाश व्यवस्था का एक साथ प्रयोग किया है। इसका यह उदाहरण दृष्ट्य है -

अन्धायुग के आरम्भ में प्रस्तुत ‘स्थापना’ में ‘मंगलाचरण’ और उद्घोषण के साथ-साथ मंच पर नर्तक द्वारा भाव-नाट्य के प्रदर्शन की व्यवस्था है। शंखध्वनि के साथ-साथ पर्दा खुलता है तथा मंगलाचरण के साथ-साथ उसकी मुद्राएँ बदलती जाती हैं। पहले अंक का प्रारम्भ तीन बार तूर्य नाद के बाद होता है।

अभिनय के लिए कथानक, पात्र-चयन, संवाद, कथागायन, भाषा शैली आदि का होना आवश्यक है। इन सभी का प्रयोग भारती जी ने अपनी इस कृति में किया है।

1. **कथानक** - अन्धायुग का कथानक विविध क्रिया-व्यापारों से परिपूर्ण है। सारा कथानक भावों और विचारों को उत्तेजित करनेवाले दृश्यों, सनसनीपूर्ण घटनाओं तथा क्रिया

व्यापारों की सुगठित श्रंखला है। अभिनय की दृष्टि से कथानक में नाटकीय विडम्बना के अनेक प्रसंग प्रभावपूर्ण हैं।

2. **पात्र-चयन** - अभिनय में पात्र चयन तत्त्व का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पात्रों की संख्या इस कृति में न तो बहुत अधिक है और न ही बहुत कम। कृष्ण, विदुर जैसे एक दो पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र असन्तुलित एवं असामान्य हैं। भारती ने कृष्ण को प्रभु के रूप में चित्रित किया है। सभी पात्र विविध अनुपात में भावुक और चिन्तनशील हैं।
3. **संवाद** - अन्धायुग के सभी संवाद गत्वर, दृश्यात्मक, मार्मिक एवं सशक्त हैं। स्वगत कथनों के रूप में एक पात्रीय अभिनय की योजना भी मिलती है। अभिनय की दृष्टि से संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है, कविता में भी वार्तालापों की सहजता को सुरक्षित रखना। संवादों की टोन और लय भी अभिनय के प्रभाव को बढ़ाने में सहायक है।
4. **कथागायन** - अभिनय की दृष्टि में कथागायनों का भी विशेष महत्व है। कथानक की जो घटनाएँ मंच पर नहीं दिखाई जा सकती, उनकी सूचना देने, वातावरण की मार्मिकता को और गहन बनाने या कहीं-कहीं उसके प्रतीकात्मक अर्थों को भी स्पष्ट करने के लिए कथागायन की पद्धति बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। भारती जी के मतानुसार, "कथा गायक दो रहने चाहिए, एक स्त्री और एक पुरुष, कथागायन में जहाँ छन्द बदला है, वहाँ दूसरे गायक को कथासूत्र ग्रहण कर लेना चाहिए। कथागायन के साथ अधिक वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। गायक-स्वर ही प्रमुख रहना चाहिए।" श्रव्य-सामग्री को रेडियो के माध्यम से कैसे परिणत किया जाता है, इसके उदाहरण दृष्टव्य हैं-

i. "गोद में रखो सर
मुँह खोलो
ऐसे, हाँ
खोलो आँखें।"

ii. "कैसे उठाऊँ हाथ
अपना आशीष का
भूल गयी हैं बाँहें
कन्धों के पास ले।"

7. **भाषा शैली** - अभिनय की दृष्टि में भाषा शैली का बहुत महत्व है। अन्धायुग में अरबी भाषा के शब्दों तथा संस्कृत के तत्सम् शब्दों का बाहुल्य है। भारती जी ने दिन काटना, लोहा लेना, दम तोड़ना, हाथ पसारना आदि मुहावरों का सफल प्रयोग अपनी कृति अन्धायुग में किया है। अभिनेयता में भाषा सजीवता, सरसता एवं रोचकता प्रदान करती है। संयुक्त एवं महाप्राण ध्वनियों की अन्धायुग में प्रधानता है। भारती जी ने बिम्बों के सजन में अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का यह उदाहरण दृष्टव्य है -

"कौए के कटे पंख-सी काली
रक्तरंगी घना है भयानक उसकी
अदम्य।"

रोने, चीखने, हाँफने के अतिरिक्त भयानक विस्फोट, गड़गड़ाहट, गर्जन, विकट अट्टहास, आकाशवाणी, हँसी आदि क्रियाओं को रेडियो के माध्यम से बहुत सफलतापूर्वक दर्शाया

जा सकता है। इस कृति में द श्यों का बाहुल्य है, जो रंगमंचीय अभिनय में कहीं-कहीं बाधक भी हो सकता है, किन्तु रेडियो के माध्यम से द श्य परिवर्तन की कोई समस्या ही नहीं है। कृपाचार्य पीछे-पीछे पुकारते हुए जाते हैं-“अश्वत्थामा मा ॥ अश्वत्थामा मा ॥ अश्वत्थामा मा ॥” यह ध्वनि धीरे-धीरे दिगन्त में खो जाती है। अन्धायुग को रेडियो पर अत्यधिक सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः इसके रेडियो प्रसारण में इसकी सफलता अनेक बार सिद्ध हो चुकी है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अभिनेयता की कसौटी पर कसने पर अन्धायुग एक सफल नाट्य-काव्य सिद्ध होता है। अन्धायुग रेडियो-नाटक की कसौटी पर भी पूर्णतः खरा उतरता है। प्रकाश-व्यवस्था, कथानक, पात्र-योजना, कथागायन, संवाद आदि तत्वों ने मिलकर इस कृति को रंगमंचीय नाट्य-काव्य होने का गौरव प्रदान किया है। निष्कर्षतः ‘अन्धायुग’ डॉ० धर्मवीर भारती द्वारा रचित एक सफल अभिनेय नाट्य-काव्य है।

अध्याय-7

अन्धायुग के कृष्ण का चरित्र-चित्रण

कृष्ण का चरित्र युग-युगों से भारतीय संस्कृति और जन चेतना को आप्लावित करता आ रहा है। पौराणिक काल से ही कृष्ण भारतीय जन-मानस को प्रेरित करते आ रहे हैं इसीलिए इनके अनेक रूपों का चित्रण भारतीय साहित्य में हुआ है। इनके रसिक रूप को यदि छोड़ दिया जाए तो तीन महत्त्वपूर्ण रूपों में श्रीकृष्ण हमारे सामने आते हैं और वे रूप हैं - भगवान, राजनीतिज्ञ और योगिराज। वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत इनका चित्रण ईश्वर रूप में हुआ है और इनका यह रूप भारतीय जन-मानस को इतना भाव-विह्वल करता रहा है कि इस देश में चलने वाले सभी धार्मिक आन्दोलनों में कृष्ण भक्ति शाखा सर्वाधिक विस्तृत और सुसंगठित रही है। योगिराज रूप में इनके चरित्र का विशुद्ध चित्रण अत्यल्प हुआ है किन्तु एक प्रखर राजनीतिज्ञ के रूप में महाभारत में सर्वप्रथम उनके दर्शन होते हैं और उसके बाद अन्य अनेक रचनाओं में उनका यह रूप देखा जा सकता है। महाभारत में तो युग की समस्त राजनीति के नियंता के रूप में ही उनका प्रादुर्भाव होता है और एक विलक्षण राजनीतिज्ञ के रूप में युग की नकेल उनके हाथ में दिखाई देती है। महाभारत युद्ध के संचालक स्वयं कृष्ण थे और इसीलिए उन्हें महाभारत का अस्त्रविहीन संचालक माना जाता है।

पहले तो महाभारत के युद्ध को रोकने के लिए श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत के रूप में दुर्योधन के पास गये और उससे शान्ति वार्ता करनी चाही किन्तु दुर्योधन की मदान्धता से निराश होकर उन्होंने पाण्डवों को युद्ध करने के लिए उकसाया और उन्हें विजय दिलाने के लिए अपनी समस्त कूटनीति का प्रयोग किया। युद्ध के प्रारम्भ में ही अर्जुन के युद्ध विरत हो जाने पर उन्होंने उसे कर्मयोग का उपदेश दिया और 'युद्ध में मैं ही मरूँगा बार-बार' कहकर अर्जुन को प्रेरित किया। इतने पर भी पूर्ण विश्वास न होने के कारण वह अर्जुन को बहका कर संसप्तकों को मारने के नाम पर कहीं दूर ले गये, ताकि कौरव उसके पुत्र अभिमन्यु की हत्या कर सकें और इस प्रकार अर्जुन पूर्णतः युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाए। यही हुआ और अर्जुन की प्रतिशोधाग्नि ने महाभारत जैसा युद्ध भारत को दिया। कृष्ण की कूटनीति से ही भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन जैसे अपराजेय वीर भूलुंठित हो गए तथा विजयश्री पाण्डवों को मिली।

'अन्धायुग' गीतिनाट्य में भी सर्वाधिक प्रभविष्णु चरित्र कृष्ण का ही है और यह चरित्र राजनीतिज्ञ एवं भगवान् दोनों ही रूपों में उजागर हुआ है। यद्यपि इस नाटक के अधिकांश पात्र उन्हें अन्यायी, प्रभुता का दुरुपयोग करनेवाला, शत्रु और कूट बुद्धि ही कहते हैं किन्तु उनके चरित्र में यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रखर राजनीतिज्ञ, अमित शौर्यवान, कर्मयोग के प्रणेता-प्रेरक, दयालु, मर्यादा और मानव-भविष्य के रक्षक, क्षमावान, शत्रु को भी अपना समझनेवाले और प्रभामण्डित किन्तु शान्त व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। गौंधारी को तो प्रारंभ में ही उनकी प्रभुता पर संदेह हो जाता है और वह विदुर को प्रताड़ित करती हुई अत्यन्त विक्षुब्ध स्वर में कह उठती है-

**‘इसमें संदेह है
और किसी को मत हो
‘अर्पित कर दो मुझको मनोबुद्धि’
उसने कहा है यह जिसने पितामह के वाणों से
आहत हो
अपनी सारी ही
मनोबुद्धि खो दी थी?
उसने कहा है यह
जिसने मर्यादा को तोड़ा है बार-बार।’ (प० 20)**

इस प्रकार गाँधारी उन्हें मर्यादा को तोड़ने वाला सबसे बड़ा मर्यादाहीन व्यक्ति मानती हैं और दूसरी ओर स्वयं उनके भाई बलराम भी उन्हें कूटबुद्धि और मर्यादाहीन मानते हैं-

**‘जानता हूँ मैं तुमको शैशव से
रहे हो सदा से ही मर्यादाहीन कूटबुद्धि’ (प० 61)**

बलराम कृष्ण को कूटबुद्धि इसलिए कहते हैं क्योंकि उन्हीं के संकेत पर भीम ने दुर्योधन पर अधर्म-वार किया था और दुर्योधन मारा गया था। कृष्ण की इसी दुर्नीतियुक्त प्रेरणा से गाँधारी और अश्वत्थामा भी उन्हें अन्यायी कहते हैं, जब गाँधारी यह कहती है कि-

**‘अन्यायी कृष्ण इसके बाद अश्वत्थामा को
जीवित नहीं छोड़ेंगे।’ (प० 81)**

और अश्वत्थामा भी यही कहता है कि मुझे अकेला जानकर कृष्ण पाण्डवों के साथ मिलकर मुझे मार डालना चाहते हैं-

**‘मैं था अकेला और अन्यायी कृष्ण पाण्डवों के सहित
मेरा वध करने को आतुर थे।’ (प० 63)**

प्रायः सभी कौरव पक्षी यही मानते हैं कि यदि कृष्ण की इच्छा न होती तो महाभारत युद्ध को रोका जा सकता था। किन्तु कृष्ण ने ऐसा नहीं होने दिया। उन्होंने अपनी चतुराई से अपराजेय कौरवों को पराजित कर दिया क्योंकि उन्होंने अवध्य शिखण्डी के द्वारा भीष्म को मरवाया, युधिष्ठिर से झूठ बलवा कर गुरु द्रोण को अस्त्रहीन करवा दिया और धृष्टद्युम्न ने उनकी हत्या कर दी, कर्ण को भी तब मरवाया जब वह निहत्था होकर अपने रथ के धँसे पहिये को ठीक कर रहा था तथा तथा दुर्योधन के उस स्थान पर भीम द्वारा आक्रमण कराया जो उचित न था, इससे दुर्योधन भी मृत्युगामी हो गया। इसीलिए गाँधारी कहती है कि धर्म, नीति या मर्यादा से सब केवल दिखाने की वस्तुएँ हैं, निर्माण के क्षण में इनका कोई महत्त्व नहीं रहता-

**‘मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति मर्यादा, यह सब हैं केवल आडम्बर मात्र,
मैंने यह बार-बार देखा था।’ (प० 21)**

गाँधारी को जब यह ज्ञात होता है कि कृष्ण ने अश्वत्थामा को भ्रूण हत्या का शाप दे दिया है और कोढ़ फूट आने के कारण अश्वत्थामा का शरीर अत्यन्त विकृत और घणास्पद हो गया है, तब वह

अत्यधिक खिन्न हो उठती है और उसे लगता है कि इस सारे विनाश की जड़ कृष्ण हैं। वह क्रोधावेश में उन्हें शाप दे बैठती हैं-

**‘प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तो की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे
प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।’ (प० 100)**

गाँधारी को लगता है कि कृष्ण ने अपनी प्रभुता का दुरुपयोग किया है। किन्तु इन आरोपों के बाद भी कृष्ण के उदात्त चरित्र में कोई कमी नहीं आई है। गाँधारी के शाप को अपनी महानता के कारण कृष्ण स्वीकार कर लेते हैं तो वहाँ पर एक तो उनके भगवान होने का पूर्ण परिचय मिल जाता है और दूसरे उनमें स्थित गाम्भीर्य तथा धैर्य के भी दर्शन हो जाते हैं। गाँधारी का शाप सुनकर वह केवल इतना ही कहते हैं-

**‘प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा
तुम माता हो।’ (प० 101)**

इसके साथ ही वह अपने कर्ता और फल-भोक्ता होने की बात कहकर भी अपने ईश्वरत्व को प्रकट कर देते हैं-

**‘सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योग क्षेम मैं
वहन करूँगा अपने कंधों पर
अठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार।’**

× × × ×

**‘जीवन मैं हूँ
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ मौं!’ (प० 100)**

कृष्ण के इसी उदार और ममत्व भरे चरित्र के कारण गाँधारी उनके प्रति कटु होती हुई भी अपने शाप के प्रति स्वयं रो पड़ती हैं, उनके प्रति अपनी अगाध ममता का प्रदर्शन करती हुई वह व्यथित स्वर में कहती है-

**‘कोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है**

**कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुख होता।' (प० 101)**

श्रीकृष्ण को इस कृति में सर्वत्र मर्यादा के रक्षक-रूप में दिखाया गया है। नाटककार के प्रारम्भ में ही जो उद्घोषणा करता है, उसमें वह स्पष्ट कह देता है कि एक पतली डोरी मर्यादाकी शेष रह गयी है और वह भी कौरव-पाण्डव दोनों पक्षों में उलझी हुई है। केवल कृष्ण में ही उसे सुलझाने की क्षमता और साहस है। व द्ध याचक की प्रेतात्मा के इस कथन में भी उनकी मर्यादा की शक्तिमत्ता का वर्णन किया गया है-

**'नहीं, उनमें सारे समय के प्रवाह की मर्यादा बँध जाती है
बँध नहीं सकता हूँ उसको मैं।' (प० 105)**

कृष्ण के चरित्र में दयालुता का भी अजस्र स्रोत मिलता है। वह पूर्ण क्षमाशील है। गाँधारी जब कृष्ण को वंचक कहकर पुकारती है तो विदुर कृष्ण की अभ्यर्थना करते हुए कहते हैं कि गाँधारी पुत्रशोक से जर्जर है इसलिए उसकी उद्धत अनास्था को वह क्षमा कर दें। जब आस्था को उन्होंने अपने चरणों में स्थान दिया है तो फिर अनास्था को कौन देगा? इसी प्रकार जब अश्वत्थामा क्रोधावेश में अपने ब्रह्मास्त्र को उत्तरा के गर्भ पर फेंक देता है तो कृष्ण उसकी हत्या नहीं करते वरन् उसे शाप देकर और मणि लेकर क्षमा कर देते हैं। इसी प्रकार जिस व द्ध याचक की हत्या अश्वत्थामा ने की थी उसे भी यह कहकर वह मुक्ति प्रदान कर देते हैं-

**'अश्वत्थामा ने किया था तुम्हारा वध
उसका था पाप, दण्ड मैं लूँगा
मेरा मरण तुमको मुक्त करेगा प्रेतकारा से।' (प० 126)**

मर्यादा के रक्षक होने के साथ ही वह मानव-भविष्य के रक्षक भी हैं इसीलिए अश्वत्थामा द्वारा उत्तरा के गर्भ पर फेंके गए ब्रह्मास्त्र की चिन्ता से पाण्डवों को मुक्त कराते हुए कहते हैं-

**'बोले वे
यदि यह ब्रह्मास्त्र गिरता है तो गिरे
लेकिन जी मुर्दा शिशु होगा उत्पन्न
उसे जीवित करूँगा मैं देकर अपना जीवन।' (प० 66)**

और अन्त में व्याध के बाण लगने के उपरान्त वह मानवता के समक्ष अपना यह संदेश देकर जाते हैं कि संसार का कल्याण और मानव-भविष्य की सुरक्षा किस प्रकार हो सकती है-

**'सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
× × × ×
'मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस व त्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर।
मर्यादायुक्त आचरण में**

नित नूतन स जन
 निर्भयता के
 साहस के
 ममता के
 रस के
 क्षण थे
 जीवित और सक्रिय हो उड़ूंगा मैं बार-बार।'

अन्ततः 'अन्धायुग' में चित्रित कृष्ण के चरित्र के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम यही कह सकते हैं कि उनका चित्रण आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है। वह ईश्वर या परात्पर चाहे हों या नहीं, एक सफल नीतिज्ञ और युग पुरुष अवश्य हैं जो इतिहास की गति को बदल देने में समर्थ हैं, जैसा कि व द्ध याचक ने ध तराष्ट्र के समक्ष स्वयं कहा है-

'पता नहीं
 प्रभु हैं या नहीं
 किन्तु, उस दिन यह सिद्ध हुआ
 जब कोई भी मनुष्य
 अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
 उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।'

और यह अनासक्त पुरुष कृष्ण ही थे जिन्होंने भविष्य वक्ता की भविष्यवाणी को भी झुठला दिया और इतिहास को चुनौती देकर नक्षत्रों की दिशा ही बदल दी थी।

अध्याय-8

अन्धायुग के अश्वत्थामा का चरित्र

अश्वत्थामा गुरु द्रोणाचार्य का एकमात्र पुत्र तथा दुर्योधन का सबसे विश्वनीय मित्र है। महाभारत युद्ध में अपने पिता की निर्मम हत्या ने उसे जीवन से प्रायः विरक्त कर दिया है। जब महाभारत का अन्तिम दिन का युद्ध हुआ और भीम ने कृष्ण के मार्गदर्शन से अधर्म-युद्ध कर दुर्योधन को पराजित कर दिया, उस समय अश्वत्थामा उस दृश्य को देखकर इतना दुखी हो गया कि उसने अपने धनुष को तोड़ दिया और आर्तनाद करता हुआ वन गमन कर गया। दुर्योधन की हार ने उसे भीतर तक झकझोर कर रख दिया। वह इस बात से दुखी था कि अपने मित्र दुर्योधन की दयनीय हार देखकर भी उसकी कोई मदद नहीं कर सका। वह वन में अन्तर्मथन में लीन होकर अपनी आन्तरिक दशा का मनन इस प्रकार कर रहा है-

**“यह मेरा धनुष है
धनुष अश्वत्थामा का
जिसकी प्रत्यंघा खुद द्रोण ने चढ़ाई थी
आज जब मैंने दुर्योधन को देखा
निःवस्त्र, दीन
आँखों में आँसू भरे।”**

अन्धायुग में अश्वत्थामा के चरित्र-चित्रण में धर्मवीर भारती को सर्वाधिक सफलता मिली है। जीवन की यथार्थताओं के बीच से उसके व्यक्तित्व का विकास हुआ है। इसलिए वह अधिक वास्तविक प्रतीत होता है। भारती ने उसके व्यक्तित्व की विकृतियों और उनके मूल में निहित कारणों का निरूपण अत्यन्त तीखी और यथार्थ सापेक्ष शब्दावली में किया है।

अन्धायुग में अश्वत्थामा का चरित्र अत्यन्त सराहनीय है। अपनी अनेक अनेक क्रूरताओं और विकृतियों के बावजूद वह पाठकों की सहानुभूति पाता है। उसमें विकृतियों का विकास परिस्थितियों के अनुकूल हुआ। मूलतः अश्वत्थामा विकृत और क्रूर पात्र नहीं है। वह पित भक्त होने के साथ ही निर्भीक, स्वाभिमानी और एक शूरवीर योद्धा है। कई स्थानों पर हमें ऐसा देखने को मिला है कि अनेक कारणों से उसकी पित-भक्ति और स्वामीभक्ति को ठेस लगती है, उसके आस्थावान् व सात्त्विक मन को गहरा धक्का लगता है। दो कारणों से वह क्रूर व हिंसक प्रवृत्तियों को अपनाते को मजबूर हुआ। पहला कारण था उन युधिष्ठिर का अर्द्धसत्य, जिन्होंने धर्मराज होकर भी रणक्षेत्र में यह घोषणा कर दी कि ‘अश्वत्थामा मारा गया, नर था या कुँजर’। इसी अर्द्धसत्य से प्रेरित होकर अश्वत्थामा के पिता गुरु द्रोणाचार्य ने युद्धभूमि में शस्त्र डाल दिए, क्योंकि उन्हें युधिष्ठिर के वचनों में अटूट आस्था थी। गुरु द्रोण को निहत्था देखते ही द्रुपद पुत्र धृष्टधुम्न ने शास्त्रों से उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। अश्वत्थामा की मानसिक विकृति दूसरा प्रमुख कारण था गदा-युद्ध में भीम द्वारा नियमों का उल्लंघन करना। गदा युद्ध के नियम के अनुसार नाभि के नीचे प्रहार करना वर्जित है। किन्तु कृष्ण का इशारा पाकर भीम ने दुर्योधन की जाँघों पर प्रहार करके उसे हरा दिया। इन सभी कारणों ने उसमें प्रतिशोध व प्रतिहिंसा जैसी खतरनाक भावनाओं को जन्म दिया।

**“अन्धायुग बैठ गया था मेरी नस-नस में
अन्धी प्रतिहिंसा बन
जिसके पागलपन में मैंने क्या किया
मुझे ज्ञात नहीं।”**

अश्वत्थामा पराजय की एक अन्धी गुफा में भटक जाता है उसके मन में इस हार ने एक ऐसी हीनभावना का विकास कर दिया। अब तो उसे अपना जीवन भी भार लगने लगा है। वह सोचता है कि ऐसे नपुंसक जीवन को जीने से अच्छा है कि आत्महत्या कर लूँ। किन्तु तभी उसे अपने नाम की पुकार सुनाई देती है और उसका उलझा तथा कुण्ठाग्रस्त मन एकाएक चौंक उठा और उसकी सोई हुई हिंसा जाग उठी। बदले की भावना से जाग्रत होते ही वह आत्महत्या का निर्णय छोड़कर जीवित रहने और इस प्रकार अपने पिता और दुर्योधन की हत्या में शामिल लोगों से बदला लेने का निर्णय कर लेता है। युधिष्ठिर ने अपने अर्द्धसत्य से उसे पशु समान घोषित कर दिया है। इसी के फलस्वरूप वह युधिष्ठिर की बात को सत्य चरितार्थ कर देने को प्रतिबद्ध है। अब अश्वत्थामा के जीवन का एकमात्र लक्ष्य हत्याएं करना है। वह कर्तव्य भावना को बिल्कुल भूल गया है, चाहे व्यक्ति तटस्थ और अवध्य ही क्यों न हो उसे तो केवल वध करना है। इसलिए जब संजय उधर से निकल रहे थे तो अश्वत्थामा ने उनका गला दबोच लिया और क्रूर अट्टहास किया। कृपाचार्य संजय को तटस्थ तथा अवध्य बताता है इस पर अश्वत्थामा कहता है-

**‘तटस्थ?
मातुल मैं योद्धा नहीं हूँ
बर्बर पशु हूँ
यह तटस्थ शब्द
है मेरे लिये अर्थहीन।’**

युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने उसकी समस्त मानवता का गला घोंट डाला है और उसमें विवेक, नीति या आचरण की मर्यादा शेष नहीं रह गई है। युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने उसे इतना चिढ़ा दिया है कि वह अब तनिक भी झूठ सहन नहीं कर पाता है। अब तो वह केवल एक ऐसा पशु है जो बर्बर व घातक है। उसकी मनोदशा इतनी असन्तुलित हो गई है कि उचित-अनुचित को भूल चुका है। वह हमेशा यही सोचता है कि किस विधि से पाण्डवों का वध किया जाए। एक दिन वह बलराम श्रीकृष्ण वार्ता सुन लेता है। बलराम कहता है कि सभी कौरव एक दिन अधर्म से मारे जाएंगे। अब अश्वत्थामा निराश हो जाता है। वह निर्णय करता है कि वह भी अधर्म से ही पाण्डवों की हत्या छिपकर करेगा-

**“वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से।
सोच लिया
मातुल मैंने बिल्कुल सोच लिया
उनको मैं मारूँगा।”**

निर्देश ग्रहण उनके चरित्र में मुख्य रूप से चरितार्थ हुआ है। जब वह रात्रि के घने अन्धकार में एक उलूक द्वारा निर्ममता पूर्वक सोये हुए कौए के वध की घटना देखकर आह्लाद से चिल्ला उठता है- “मातुल सत्य मिल गया बर्बर।” अश्वत्थामा को इस घटना से उसके वध-सम्बन्धी संकल्प की पुष्टि होती है, साथ ही उसे वध करने की प्रक्रिया और पद्धति का भी संकेत मिल जाता है। वह तुरन्त कृतवर्मा और कृपाचार्य को लेकर पाण्डव शिविर के द्वार पर पहुँचता है। वहाँ वह एक-एक करके धृष्टधुम्न शतानीक, शिखण्डी आदि पाण्डव योद्धाओं का वध करता है। इतना होने पर भी

जब वह दुर्योधन के निकट जाता है और कृपाचार्य दुर्योधन से कहते हैं कि इसने पाण्डवों का नाश कर दिया है, अश्वत्थामा कहता है कि अभी मेरी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई है। अभी मैं आपका प्रतिशोध नहीं ले पाया हूँ, किन्तु यह वचन देता हूँ कि उसे भी पूरा करूँगा।

वह केवल पराक्रमी ही नहीं बल्कि उसके पास ब्रह्मास्त्र भी है यद्यपि वह इस नरसंहार के बाद तपोवन में चला गया था किन्तु अर्जुन के अग्निबाणों से आहत होकर उसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना पड़ा। इस विनाशकारी अस्त्र का प्रयोग न करने के लिए व्यास अश्वत्थामा से अनुरोध करते हैं। इस पर वह कहता है कि मेरे पिता ने मुझको या मेरे अस्त्रों को केवल आक्रमण की रीति सिखायी है पीछे हटना नहीं। इससे प्रतीत होता है कि वह पराक्रमी पिता का एक पराक्रमी पुत्र है।

अश्वत्थामा के चरित्र में एक गुण यह है कि वह दूसरों के गुणों की सराहना करना नहीं भूलता। कृष्ण को वह अपना परम शत्रु मानता है किन्तु युयुत्सु की अन्धी प्रेतात्मा जब कृष्ण के मरण को कायर के मरण रूप में स्वीकार करती है, तो अश्वत्थामा अपनी गुणग्राहिता का परिचय इस प्रकार देता है-

**“कायर मरण?
मेरा था शत्रु वह
लेकिन कहूँगा मैं
दिव्य शान्ति छायी थी
उसके स्वर्ण-मस्तक पर।”**

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि जीवन अनास्थावादी रहने के उपरान्त जब कृष्ण की मृत्यु उसके घावों की पीड़ा को हर लेती है तो वह सहसा आस्थामय हो उठता है। आस्था की एक नयी अनुभूति उसे मिलती है और वह अनायास ही कह उठता है-

**यह जो अनुभूति मिली है
क्या यह आस्था है?**

अश्वत्थामा एक केन्द्रिय पात्र, इसके ईद-गिर्द सारी घटनाएँ और सारे प्रमुख तथा गौण पात्र घूमते नजर आते हैं। उसी के माध्यम से कवि अन्धत्व की ज्योति में और अनास्था में परिणिति दिखलाकर 'अन्धों के माध्यम से' ज्योति की कथा कहने में समर्थ हुआ है।

अध्याय-9

अन्धायुग के युधिष्ठिर का चरित्र-चित्रण

युधिष्ठिर पाण्डवों के अग्रज और धर्मराज हैं। शासन के वास्तविक उत्तराधिकारी होने के बावजूद धर्मराष्ट्र उनको शासन सूत्र न सौंपकर अपने पुत्र दुर्योधन को राजा बना देते हैं। इसी अन्याय को लेकर महाभारत युद्ध हुआ था। 'अन्धायुग' में युधिष्ठिर का चरित्रांकन पूर्व रूप में ही हुआ है। वह अत्यन्त शान्तिकायी और विरक्त स्वभाव के हैं। उन्होंने आजीवन सत्यव्रती रहने का निर्णय किया किन्तु फिर भी एक बार कृष्ण के अत्यधिक दबाव डालने पर उन्हें एक अर्द्धसत्य बोलना पड़ा था। भीम ने अश्वत्थामा नामक एक हाथी का वध किया और युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के सामने जोर से यह कह दिया कि अश्वत्थामा मारा गया और इसके बाद उनका सारथी रथ को द्रोण से दूर उड़ा ले गया तथा द्रोण युधिष्ठिर का धीमे से कहा गया यह कथन नहीं सुन सके कि 'नरो वा कुँजरी वा'। इसी एक झूठ के कारण द्रोणाचार्य की हत्या हो गयी और अश्वत्थामा उनके इस झूठ से भड़क उठता है। उसके मन में प्रतिहिंसा की ज्वाला सुलग उठती है और उसे युधिष्ठिर से चिढ़ हो जाती है क्योंकि उन्हीं के झूठ ने उसके पिता की हत्या की है। इस घणा और प्रतिहिंसा ने उसके शान्त जीवन को परिवर्तित कर दिया और वह मनुष्यता त्याग कर पशु बन जाने की घोषणा करता है। युधिष्ठिर की इस अर्द्धसत्यजन्य घणा को वह कई स्थलों पर स्पष्ट व्यक्त करता है-

**'अर्द्धसत्य से ही
युधिष्ठिर ने उनका
वध कर डाला।
उस दिन से
मेरे अन्दर भी
जो शुभ था, कोमलतम था
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने कर दी
धर्मराज होकर वे बोले
'नर वा कुँजर'
मानव को पशु से
उन्होंने पथक् नहीं किया।' (प० 34-35)
अथवा
'एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।' (प० 42)**

युधिष्ठिर चाहे अश्वत्थामा की इस घणा से अनजान हों किन्तु उन्हें अपने आचरण की शुद्धता पर विश्वास नहीं रह गया था। महाभारत ने उनकी अन्तरात्मा को झिंझोड़ डाला। वह विजयी थे और शासनारूढ़ हो गए थे किन्तु भावी दुश्चिन्ताओं ने व्यथित और प्रायः जर्जर कर डाला था भावी

विकृत युग के सपने सदैव उनके माथे पर चिन्ता की रेखाओं के रूप विद्यमान थे-

**‘थे एक युधिष्ठिर
जिनके चिन्तित माथे पर
थे लदे हुए भावी विकृत युग के सपने’ (प० 103)**

वह जानते थे कि कृष्ण शापग्रस्त हो चुके हैं। उनके अवसान के उपरान्त युद्धजन्य विभीषका और उत्पीड़न युग के समस्त ज्ञान को नष्ट कर डालेगा लंगड़ी संस्कृति लड़खड़ा कर गिर पड़ेगी और समस्त संसार में अज्ञान, जड़त और कुण्ठाएँ व्याप्त हो जाएँगी। इसीलिए वह प्रायः चिन्तित रहा करते और चिन्तन में तल्लीन रहा करते थे-

**सीढ़ी पर बैठे घुटनों पर माथा रखे
अक्सर डूबे रहते थे निष्फल चिन्तन में
देखा करते थे सूनी-सूनी आँखों से
बाहर फैले-फैले निस्तब्ध तिमिर घन में।’ (प० 104)**

उनकी चिन्ता का प्रमुख विषय था कि इस युद्ध ने उन्हें क्या दिया? वह कौन-सी उपलब्धि है जो युद्ध से उन्होंने प्राप्त की? वरन् इसने तो उनके मन व शांति को ही छीन लिया है, उन्हें अशान्त बना दिया है। झूठ, छल, भीषण नरसंहार और हिंसा से विजय प्राप्त करके भी अपने को पराजित अनुभव करना यही उनकी उपलब्धि है और इसी उपलब्धि की यातना को वह भोगने को विवश हैं-

**‘ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है।’ (प० 104)**

विजय प्राप्त करने के उपरान्त युधिष्ठिर यह अनुभव करते हैं कि उनके सभी भाई अज्ञानी, मूर्ख, घमण्डी अथवा खोखले हो गए हैं। भीम के व्यवहार से तो वह अत्यधिक खिन्न हो गए हैं, क्योंकि वह बार-बार युयुत्सु का अपमान करता रहता है। युधिष्ठिर जानते हैं कि भीम के ही व्यवहार से खिन्न होकर ध तराष्ट्र और गौंधारी वन में चले गए और तब से युयुत्सु उन्हीं के आश्रित है किन्तु भीम फिर भी अपने दर्प में उसका अपमान करने से नहीं चूकता। इससे युधिष्ठिर को मानसिक आघात पहुँचता है-

**‘जिनके लिए युद्ध किया है
उनको यह माना कि वे सब कुटुम्बी अज्ञानी हैं,
जड़ हैं, दुर्विनीत हैं, या जर्जर हैं।’ (प० 104)**

युधिष्ठिर इस बात से व्यथित हैं कि जो राज्य उन्होंने प्राप्त किया है उसके सिंहासन के पीछे चूँकि अज्ञान और अंधता की कभी न नष्ट होनेवाली परम्परा जुड़ी है, इसलिए उससे स्वस्थ शासन और जन-कल्याण सम्भव ही नहीं है। सिंहासन ही नहीं बल्कि राज्य की प्रजा भी उसी अंधे शासन की विकृतियों से ग्रस्त है तथा उसी में जीने की आदी है। ऐसे में शासक यदि बदल भी जाएँ तो भी वह नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता-

**‘सिंहासन प्राप्त हुआ है जो
यह माना कि उसके पीछे अंधेपन की
अटल परम्परा है;
जो हैं प्रजाएँ
यह माना कि वे पिछले शासन के
विकृति साँचे में हैं ढली हुई।’ (प० 104)**

यही सोचते-सोचते वह गहन अंधकार में ऐसे भयावह और अनिष्टकारी अमंगल के विषय में सोचने लगते हैं, जिनकी कल्पना ही व्यक्ति को कँपकँपा देती है। उन्हें यह भी कम कष्टकर नहीं लगता कि हत्यारे अश्वत्थामा की मणि को वह अपने शीश पर धारण करें और ऐसे क्लेशयुक्त वातावरण में भी जीवन को बनाये रखें। किन्तु वह अपनी दुश्चिन्ताओं, भावी अमंगल की कल्पना और अपनी वैयक्तिक चिन्ताओं के विषय में किसी से कुछ कह भी तो नहीं सकते। अपने उस अज्ञानी, घमण्डी और जर्जर परिवार के प्रति उन्हें विशेष चिन्ता है जो अपने दर्प में भविष्य में घटित होनेवाले अमंगल के प्रति असावधान हैं-

**‘यह है मेरा
हासोन्मुख कुटुम्ब,
जिसे कुछ ही वर्षों में बाहर घिरा हुआ
अंधेरा निगल जाएगा,
लेकिन जो तन्मय हैं भीम के
अमानुषिक विनोदों में।’ (प० 105)**

इन सब दुराशाओं-आशँकाओं ने उन्हें जीवन से ही विरक्त कर दिया है। सिंहासन का सुखोपभोग उन्हें कष्टकर और अप्रीतिकर अनुभव होता है क्योंकि वह एक असफल शासक हैं, जो न तो दण्ड ही दे पाते हैं और न दया ही प्रदर्शित कर पाते हैं। वह अपने परिवार को ही नियंत्रण में नहीं रख पाते तो फिर प्रजा उनके नियंत्रण में कैसे रह सकती है। ध तराष्ट्र, गौंधारी और कुन्ती के वन में जल मरने के समाचार ने उन्हें तोड़ डाला था और निकट भविष्य में कृष्ण के अवसान का ध्यान आते ही वह अत्यधिक विक्षुब्ध होकर विदुर से हिमालय के शिखरों में जाकर गल मरने की बात कहने लगते हैं-

**‘और विजय क्या है?
एक लम्बा और धीमा
और तिल-तिल कर फलीभूत
होनेवाला आत्मघात
और पथ कोई भी शेष
नहीं है अब मेरे आगे।’ (प० 117)**

अन्ततः हम यही कह सकते हैं कि युधिष्ठिर के चरित्र में केवल शान्ति कामना है। बरबस थोपे गए युद्ध ने उन्हें असत्य भाषण के लिए विवश किया और युद्ध से उन्हें घोर वित ष्णा है। यह वित ष्णा उनके समग्र चरित्र का मेरुदण्ड है और इस कृति में तो उनके केवल इसी वित ष्णा रूप का ही मर्मस्पर्शी चित्रांकन हुआ है। अपनी इस भावना से उन्होंने शासक का पद भी छोड़ दिया था। उनके चरित्र की विशेषताएँ नाटक के संवाद में आद्योपांत दिखाई देती हैं।

अध्याय-10

अन्धायुग के ध तराष्ट्र का चरित्र-चित्रण

ध तराष्ट्र अपने बड़े भाई पाण्डु के रोगग्रस्त होने के कारण अन्धे होते हुए भी शासनारूढ़ हुए। किन्तु युधिष्ठिर आदि के युवा होने के उपरान्त भी उन्होंने पद-त्याग नहीं किया और व द्वावरथा होने के कारण अपने पुत्र दुर्योधन को शासन सौंप देना चाहा। युधिष्ठिर दुर्योधन से बड़े थे अस्तु इस अन्याय का पाण्डवों ने विरोध किया किन्तु अन्धे ध तराष्ट्र ने अपने पुत्रों की ममता के वशीभूत होकर फिर भी उचित मार्ग को नहीं माना। दुर्योधन आदि कौरवों ने पाण्डवों का अपमान किया, किन्तु ध तराष्ट्र जानते हुए भी अनजान बने रहे। महाभारत में चित्रित ध तराष्ट्र का यही चरित्र 'अन्धायुग' में भी चित्रित हुआ है। ध तराष्ट्र अपने पुत्रों की ममता में इतने लिप्त थे कि उन्हें उचित-अनुचित का कोई ध्यान न था और उनकी इसी असावधानी से प्रोत्साहित होकर दुर्योधन पाण्डवों का निरादर करता रहा और ध तराष्ट्र चुप रहे। किन्तु जब महाभारत का भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ और कौरव पराजित होने लगे तो सबसे पहले ध तराष्ट्र ही आशंकाग्रस्त व्यक्ति के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। कौरवों की पराजय ने उन्हें चिंताग्रस्त बना दिया है और वह अपनी आशंका को विदुर के सम्मुख इन शब्दों में व्यक्त करते हैं-

'विदुर!

जीवन में प्रथम बार

आज मुझे आशंका व्यापी है।' (प० 16)

किन्तु विदुर उन्हें बताते हैं कि आपको अब आशंका व्यापी है? वास्तव में जो आशंका आपको आज हो रही है वह तो सभी को वर्षों पहले हिला गई थी। भीष्म और गुरु द्रोण के कहने के साथ ही कृष्ण भी उनके समक्ष यही कह गये थे-

'मर्यादा मत तोड़ो

तोड़ी हुई मर्यादा

कुचले हुए अजगर सी

गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर

सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।'

ध तराष्ट्र विदुर के सामने स्पष्ट करते हैं कि मुझे सब कुछ याद है किन्तु तुम मेरी परिस्थिति को क्यों नहीं समझते? मैं जन्म से अन्धा था, इसलिए इस समाज के बाहरी यथार्थ और उसकी मर्यादा को मैं कैसे ग्रहण कर सकता था। विदुर के यह कहने पर कि तुमने जिस प्रकार इस संसार को अपने अन्धेपन के बावजूद ग्रहण कर लिया उसी प्रकार मर्यादा और यथार्थ को भी ग्रहण कर सकते थे। इस पर अपना तर्क देते हुए ध तराष्ट्र कहते हैं-

'पर वह संसार

स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था।

मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था

केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत

इन्द्र जाल की माया-सृष्टि के समान
घने गहरे अन्धियारे में
एक काले बिन्दु से
मेरे मन ने सारे भाव किए थे विकसित
मेरी सब वस्तियाँ उसी से परिचालित थीं।
मेरा स्नेह, मेरी घणा, मेरी नीति, मेरा धर्म।
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था।'

इतना होते हुए भी धराष्ट्र को जब अपने स्वनिर्मित संसार और तज्जन्य सत्य का अनुभव हुआ और अपने एक-एक पुत्र की मृत्यु का समाचार उन्हें मिलता रहा तब उन्हें यह ज्ञान हो गया कि उनके स्वनिर्मित सत्य के अतिरिक्त भी कोई सत्य हुआ करता है-

'आज मुझे भान हुआ।
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ।
सहसा यह उगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषमय जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अन्तर्मन में बैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चित किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ।' (प० 16)

वह यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि अपने पुत्रों का विनाश स्वयं उन्होंने अपनी अदूरदर्शिता के कारण किया। किन्तु आज उनकी वह धारणा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है कि बाह्य संसार से उनका कोई सम्बन्ध न था। इतना होने पर भी धराष्ट्र के चरित्र में गांधारी की भाँति अन्ध ममता नहीं है वरन् वह उससे अधिक विवेकी, धैर्यवान और आत्मसजग हैं। उन्हें अपनी स्थिति और अपनी भूल का परिज्ञान हो चुका है, इसीलिए वह विदुर को प्रताड़ित करती हुई गांधारी से कहते हैं-

'शान्त रहो,
शान्त रहो,
गांधारी शान्त रहो
दोष किसी को मत दो
अन्धा था मैं' (प० 20-21)

गांधारी की भाँति पुत्र शोक से त्रस्त और दुःखी होने पर भी धराष्ट्र विक्षुब्ध नहीं दिखाई देते। वास्तव में उनका शोक अन्तर्मुखी है जो उन्हें अन्दर ही अन्दर छलनी किए जाता है। किन्तु जब युद्ध के अन्तिम दिन की संध्या में उन्हें दुर्योधन की पराजय का समाचार मिलता है और दूसरे दिन वह अपंग सैनिकों को टटोल-टटोलकर उनसे युद्ध की विभीषिका का अनुमान लगाते हैं तब उनके आन्तरिक दुःख और उनकी मर्मन्तिक पीड़ा का अनुमान सहज हो जाता है-

'देख नहीं सकता हूँ,
पर मैंने छू-छूकर

अड्ग-भड्ग सैनिकों को
 देखने की कोशिश की
 बाँह के पास से
 हाथ जब कट जाता है।
 लगता है वैसा जैसे मेरे सिंहासन का
 हत्था है।
 सिर्फ मैं संजय के शब्दों से
 सुनता आया था जिसे
 आज उसी युद्ध को हाथों से छू-छूकर
 अनुभव करने का अवसर पाया है।' (प० 48)

उनकी मर्यान्तक व्यथा उस समय और भी अधिक बढ़ जाती है जब गूंगे सैनिक के संकेत को समझकर विदुर उनसे कहते हैं कि वह संकेत से ध तराष्ट्र की जय बोल रहा है। उस समय ध तराष्ट्र की मानसिक व्यथा विद्रूप बनकर इन शब्दों में अभिव्यक्त होती है-

**'गूंगों के सिवा आज
 और कौन बोलेगा मेरी जय।' (प० 49)**

इतना विनाश देख चुकने पर भी जब विपक्ष से मिला हुआ उनका एक पुत्र युयुत्सु पुनः उनके पास लौट आता है तो उनके खण्डित हृदय को जैसे एक सहारा मिल जाता है और वह उसे खोना नहीं चाहते-

**'मेरा है केवल एक पुत्र शेष
 खोकर उसे कैसे जीवित रहूँगा? (प० 89)**

यहाँ तक कि जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि अश्वत्थामा ने गर्भिणी उत्तरा के गर्भ और पाण्डव कुल के उत्तराधिकारी को नष्ट करने के लिए ब्रह्मास्त्र फेंक दिया है, तो उनकी ममता फिर जाग्रत हो उठती है और अपने निहित स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त हर्षित होकर युयुत्सु से कहते हैं-

**'वत्स, तुम मेरी आयु लेकर भी
 जीवित रहो
 अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र
 यदि गिरा है उत्तरा पर
 तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर
 सब राजपाट तुमको ही सौंप दें।' (प० 95)**

किन्तु अन्त में उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान हो जाता है कि जिस ममता और स्वार्थ ने उन्हें अब तक अन्धा बना रखा था वह निरर्थक थे। मनुष्य के जीवन में ये केवल एक भटकाव बनकर रह जाते हैं और वह समझता है कि उसी ने सिद्धि पायी है। वन की धधकती आग में कुन्ती को जलती और गाँधारी को विवश हो बैठती देख ध तराष्ट्र वास्तविकता का साक्षात्कार करते हैं और संजय के सुरक्षित स्थान की ओर चलने के प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहते हैं-

**'संजय
 अब सब प्रयत्न व्यर्थ हैं।
 छोड़ दो तुम मुझे यहीं,**

जीवन भर मैं
 अंधेपन के अंधियारे में भटका हूँ
 अग्नि है नहीं, यह है ज्योति व त्त
 देख कर नहीं यह सत्य ग्रहण कर सका तो आज
 मैं अपनी व द्ध अस्थियों पर
 सत्य धारण करूँगा
 अग्निमाला सा।' (प० 113)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि ध तराष्ट्र स्वार्थी हैं और तन से ही नहीं मन से भी अंधे हैं अर्थात् अविवेकी हैं, अपने पुत्रों की ममता को ही अपना अन्तिम सत्य मान बैठे हैं किन्तु इतना होने पर भी उनके चरित्र में सपाट-बयानी, सहजता और दुर्बलताओं को निस्संकोच स्वीकार कर लेने की महानता भी है। वह जो कर चुके हैं उसके प्रति अपने अज्ञान और भूल को भी स्वीकार कर लेते हैं। अपने कर्मों के दुष्परिणामों को ग्रहण करने की यह क्षमता ही उनमें पाठकीय संवेदना जगाती है और पाठक अथवा दर्शक उनके चरित्र से अत्यधिक प्रभावित होते हैं।

अध्याय-11

अन्धायुग की गांधारी का चरित्र-चित्रण

गांधारी राजा धृतराष्ट्र की महारानी और सौ कौरवों की ममतामयी माँ है किन्तु महाभारत में केवल उसके नाम का उल्लेख किया गया है और उसके चरित्र की पूर्णतः उपेक्षा की गयी है। इतना भीषण संग्राम हुआ, उसके सभी सौ पुत्र केवल अठारह दिनों में उस युद्ध की भेंट चढ़ गये किन्तु फिर भी गांधारी की पीड़ा को अव्यक्त ही रखा गया है। वह कितनी अभागी माँ है जो अपने पुत्रों को एक-एक करके मरते देखकर भी किसी से कुछ नहीं कह सकती। महाभारत एवं अन्य पौराणिक ग्रंथों में उसके विषय में केवल इतना ही कहा गया है कि वह एक पति-परायणा साध्वी स्त्री थी और पति के अंधत्व के प्रति अपनी सहानुभूतिस्वरूप अपनी आँखों पर भी पट्टियाँ बाँध ली थीं। इसके अतिरिक्त गांधारी के विषय में सभी पौराणिक ग्रंथ मौन हैं।

किन्तु 'अंधायुग' में गांधारी का चोट खाया हुआ नारी-हृदय साकार हो उठा है। उसकी आँखों की पट्टियों को नाटककार ने प्रतीकार्थ रूप में प्रयोग किया है और यह प्रतीकार्थ है उसकी अंधी ममता। उसे अपने पुत्रों से इतनी ममता है कि जब धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के मरण का वृत्तान्त कहते हैं तो गांधारी चीत्कार कर उठती है—

**'महाराज!
मत दोहरायें वह
सह नहीं पाऊँगी।' (प० 19)**

वह जानती थी कि महाभारत के सूत्रधार कृष्ण ही हैं। यदि वह चाहते तो यह युद्ध टल सकता था किन्तु उन्होंने अपनी कूटनीति से उसके पुत्रों को एक-एक कर मार डाला। इस पर भी जब विदुर उसके सामने कृष्ण की प्रशंसा करते हैं तो उसका आक्रोश इन शब्दों से फूट पड़ता है—

**'इसमें संदेह है
और किसी को मत हो
मुझको है।
'अर्पित कर दो मुझको मनोबुद्धि'
उसने कहा है यह
जिसने पितामह के बाणों से
आहत हो
अपनी सारी ही
मनोबुद्धि खो दी थी?
उसने कहा है यह,
जिसने मर्यादा को तोड़ा है बार-बार?'**

वह कृष्ण को मर्यादाहीन कहकर अपनी निर्भीकता का परिचय देती है। उसकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता कृष्ण की कटु आलोचनाओं में देखी जा सकती है। वह झूठे आडम्बर से घना करती है इसलिए उसने आँखें रहते हुए भी अपनी आँखों पर पट्टियाँ बाँध ली हैं—

‘लेकिन अन्धी नहीं थी मैं।
 मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था
 धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडम्बर मात्र,
 मैंने यह बार-बार देखा था।
 निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
 व्यर्थ सिद्ध होते आए हैं सदा
 हम सबके मन में कहीं एक अन्ध गहवर है।
 बर्बर पशु, अन्धा पशु वास वहीं करता है,
 स्वामी जो हमारे विवेक का,
 नैतिकता, मर्यादा, अमासक्ति, कृष्णार्पण
 यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें
 जिनमें कटे कपड़ों की आँखें सिली रहती हैं
 मुझको इस झूठे आडम्बर से नफरत थी
 इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी।’ (प० 21)

उसके चरित्र में हमें निर्मम यथार्थ के दर्शन होते हैं। कटु सत्य कहने में भी वह हिचकिचाती नहीं है। धर्म के प्रति उसकी आस्था है और वह दुर्योधन को अधर्म से रोकती भी है। किन्तु जब वह पाती है कि दोनों ही ओर अधर्म की विजय हो रही है तो वह अधर्म की पक्षधर बन जाती है। पाण्डवों ने ही कौन-सा धर्मयुद्ध किया जो वह अपने पुत्रों की अवहेलना करे—

‘मैंने कहा था दुर्योधन से
 धर्म जिधर होगा ओ मूर्ख!
 उधर जय होगी!
 धर्म किसी ओर नहीं था, लेकिन!
 सब ही थे अन्धी वृत्तियों से परिचालित।’ (प० 21)

गांधारी का व्यक्तित्व आक्रामक है और ममतामयी होते हुए भी परिस्थितियों ने उसे इतना क्रूर बना दिया है कि उसे उचित और अनुचित तक का ध्यान नहीं रहता। संजय से जब उसे यह ज्ञात होता है कि अर्द्ध रात्रि में पाण्डवों के शिविर में घुसकर अश्वत्थामा ने सोये हुए धृष्टद्युम्न को शय्या से नीचे उतार कर अपने घुटनों के बीच दबाते हुए जीवितावस्था में ही उसकी दोनों आँखें निकाल लीं, तो गांधारी निर्ममता जैसी अट्टहास कर उठती है। वह प्रसन्न होकर अश्वत्थामा की प्रशंसा करती हुई कहती है—

‘अन्धा कर दिया उसको पहले ही
 कितना दयालु है अश्वत्थामा। (प० 79)

पुत्र-शोक ने उसे इतना जर्जर कर दिया है कि अब किसी के मुख से वह अपने लिए ‘माता’ शब्द भी नहीं सुनना चाहती। कृष्ण ने भी तो उसे माता ही कहा था और उन्हीं के कारण गांधारी के सभी पुत्र एक-एक कर सत्रह दिनों के अन्दर ही मार डाले गए। इसलिए इस ‘माता’ शब्द को सुनकर उसकी छाती धधकने लगती है और यह शब्द उसे जलती लोहे की छड़ों की भाँति प्रतीक होता है जो पसलियों को जला डालता है—

‘सत्रह दिन के अन्दर
 मेरे सब पुत्र एक-एक कर मारे गए
 अपने इन हाथों से

मैंने उन फूलों सी बहुओं की कलाइयों से
चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से
सेंदूर की रेखाएँ पोंछी हैं। (प० 22)

पुत्रों की ममता ने गांधारी को इस सीमा तक अविवेकी बना दिया है कि उसे कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का भी ध्यान नहीं रहता। उसका एक पुत्र युयुत्सु सत्य का पक्षधर होने के कारण युधिष्ठिर के पक्ष में लड़ता है और जब युद्धान्त पर वह पुनः वापस लौटता है तो विदुर प्रसन्न होकर उसे गांधारी के पास ले जाते हैं गांधारी पहले तो उसकी उपेक्षा करती है किन्तु फिर अपने व्यंग्यवाणों से उसके आहत हृदय को छलनी कर डालती है। गांधारी की प्रताड़ना का उग्रतम रूप निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है, जो उसके विक्षोभजन्य अविवेक को प्रस्तुत करती हैं—

‘पूछो विदुर इससे
कुशल से है?
बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बंधु जनों का
वध करते-करते?
पाण्डव के शिवरों के वैभव के बाद
तुम्हें अपना नगर तो
श्रीहत सा लगता होगा?
चुप क्यों हो?
थका हुआ होगा यह
विदुर इसे फूलों की शय्या दो
कोई पराजित दुर्योधन नहीं है यह
सोये जो जाकर
सरोवर की
कीचड़ में।’

उपर्युक्त उद्धरण में व्यक्त आक्रोश के पीछे गांधारी का पुत्र शोक और ममता छिपी हुई है। अश्वत्थामा के द्वारा किए गए नरसंहार का वर्णन कर वह उल्फुल्लित हो उठती है। संजय के द्वारा वर्णन प्रस्तुत किए जाने पर जिज्ञासा करती जाती है और जब विदुर उसकी भर्त्सना करते हुए कहते हैं क्या उसका हृदय पत्थर का है जो इतने वीभत्स वर्णन को इतनी तन्मयता से सुन रही है, तब गांधारी अत्यन्त कठोर स्वर में कहती है—

‘पत्थर के खानों से मणियाँ निकलती हैं
बाधा मत डालो विदुर
संजय फिर’ (प० 80)

और जब संजय यह कहता है कि अश्वत्थामा अग्नि की लपटों में धधकते शव-शिविर में बड़ा भयानक लग रहा था, तब गांधारी उससे अनुरोध करती हैं कि वह अपनी दिव्य दृष्टि से एक बार गांधारी को अश्वत्थामा के दर्शन करा दे ताकि वह अपनी खुली आँखों से देखकर अश्वत्थामा के तन को वज्र का बना सके। इससे अश्वत्थामा पाण्डवों के लिए अवध्य हो जाएगा। संजय जब यह

कहता है कि गांधारी उसे देखकर वित ष्ण हो जाएँगी क्योंकि इस समय वह अत्यन्त कुरूप और भयावह हो उठा है तब गांधारी कहती हैं कि चाहे कुछ भी हो वह बड़ा पराक्रमी है—

**‘किन्तु वीर है
उसने वह किया है
जो मेरे सौ पुत्र नहीं कर पाए
द्रोण नहीं कर पाए
भीष्म नहीं कर पाए।’ (प० 81)**

और अन्ततः संजय उसे अपनी दिव्य दृष्टि से सारा दृश्य दिखाने को तैयार हो जाता है किन्तु अपने पुत्र दुर्योधन के प्रति उसकी ममता उसे मरणोन्मुख दुर्योधन को देखने से रोक देती है। जब संजय इसका कारण पूछते हैं तो वह मर्माहत होकर अपने क्षत-विक्षत ममत्व का प्रदर्शन इन शब्दों में करती हैं—

**‘नहीं! नहीं! नहीं!
देख नहीं पाऊँगी,
किसी भी तरह मैं
मरणोन्मुख दुर्योधन को
रहने दो संजय
यह पट्टी बँधी है बँधी रहने दो।’ (प० 84)**

किन्तु जब अश्वत्थामा उसे मिलता है तो प्रतिहिंसावश वह अपनी पट्टी उतार देती है और अश्वत्थामा के तन को वज्र का बना देती है। अपने पुत्र का कंकाल देखकर वह इतनी विह्वल-विक्षुब्ध हो उठती है कि आवेश में आकर कृष्ण को शाप दे बैठती है। किन्तु कृष्ण के उस शाप को चुपचाप स्वीकार करते ही उसकी चेतना लौट आती है और वह अपने ही किए पर रोने लगती है। वह अपने पुत्रों के प्रति ममतालु होती हुई भी कृष्ण के प्रति अगाध ममता रखती है और आर्तनाद करती हुई कहती है—

**‘यह क्या किया तुमने
कोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है।
कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुःख होता।
मैं थी निराश, मैं कटु थी,
पुत्रहीना थी।’ (प० 101)**

और फिर वह चीत्कार करती हुई विदुर से कहती है कि यह मैंने क्या कर डाला। इस पाश्चाताप में घुलती गांधारी अन्ततः यह समझती है कि जो शाप उसने कृष्ण को दिया था आज वह समस्त नगरों और वन में फैल गया है और वन की अग्नि में अपने शाप की प्रथम समिधा वह स्वयं बन गई है। इस प्रकार वन की अग्नि में वह अन्त में जलकर मर जाती है।

यह निर्विवाद है कि गांधारी का चरित्रांकन ‘अन्धायुग’ में उसके पूर्व रूप की छाया में और भी अधिक निखर उठा है। उसके चरित्र में सर्वत्र मौलिकता के दर्शन होते हैं। उसके पास केवल अंधी ममता नहीं है वरन् तर्क और प्रज्ञा भी है जिनका प्रदर्शन वह कई स्थलों पर करती है।

अध्याय-12

'अन्धायुग' के संजय का चरित्र-चित्रण

संजय को महाभारत में दिव्य दृष्टि सम्पन्न तटस्थ वक्ता के रूप में दिखाया गया है और वह महाभारत युद्ध में अपनी दिव्य दृष्टि से जो कुछ देखते हैं उसे स्पष्ट शब्दों में धृतराष्ट्र को बता देते हैं। 'अन्धायुग' में भी संजय के इसी रूप के दर्शन हमें होते हैं। वह सत्रह दिनों तक अपनी दिव्य दृष्टि से जो कुछ देखते हैं उसका सत्य-कथन धृतराष्ट्र से करते हैं किन्तु अठारहवें दिन वह भी मोहग्रस्त होकर मार्ग में भटकने लगते हैं।

संजय तटस्थ द्रष्टा शब्दों के शिल्पी हैं और उनका दायित्व अत्यन्त गहन है किन्तु वह क्या करें, जो भाषा उन्हें मिली है वह अपूर्ण है और श्रोता अन्धे हैं किन्तु फिर भी यह निश्चित है कि संकट के क्षण में सत्य वही कहेंगे, लेकिन आज—

**'वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कंटक-पथ पर।' (प० 84)**

वह इस दुश्चिन्ता में पड़ जाते हैं कि यद्यपि वह सत्रह दिन तक समस्त युद्ध समाचार धृतराष्ट्र और गांधारी को देते रहे हैं। किन्तु आज अन्तिम दिन की पराजय ने जो अनुभव उन्हें दिया है उसने तो सत्य की प्रकृति को ही बदल डाला है फिर, वही पुराने शब्द इस नयी अनुभूति को कैसे वहन कर पाएँगे?

**'अन्धों से
किन्तु कैसे कहूँगा हाय
× × ×
घरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया
कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से?' (प० 31)**

किन्तु फिर भी संजय अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हैं और अपने दायित्व को पूरा करने के लिए कटिबद्ध। यद्यपि उन्हें मानसिक ऊहापोह ने जकड़ लिया है किन्तु फिर भी—

**'सत्य कितना कटु हो
कटु से यदि कटुतर हो
कटुतर से कटुतम हो
फिर भी कहूँगा मैं
केवल सत्य, केवल सत्य, केवल सत्य
है अन्तिम अर्थ।' (प० 37)**

और अपने इस निर्णय के साथ ही संजय शीघ्रता से हस्तिनापुर की ओर चल पड़ते हैं तभी अश्वत्थामा उन पर आक्रमण कर देता है और उनका गला दबोच लेता है। संजय को लगता है जैसे वह अपने दायित्व से मुक्त होने जा रहे हैं किन्तु तभी कृपाचार्य और कृतवर्मा उन्हें बचा लेते हैं। उस पर क्षुब्ध होकर संजय कह उठते हैं—

**‘मत छोड़ो मुझे
कर दो वध
जाकर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मन्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।’ (प० 38)**

संजय के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि वह तटस्थ रहकर केवल सत्य कथन कह सकते हैं किन्तु कर्म मार्ग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म लोक से तो वह बहिष्कृत हैं। न वह स्वयं कर्म कर सकते हैं और न किसी को उस ओर प्रवृत्त कर सकते हैं और न ही तटस्थ द्रष्टा होने के कारण कर्म मार्ग के दर्शन का ही परित्याग कर सकते हैं। उनकी स्थिति दो पहियों के बीच लगे उस शोभा-चक्र की सी है, जो व्यर्थ तो है किन्तु अपनी धुरी से उतर भी नहीं सकता—

**‘मैं संजय हूँ
जो कर्मलोक से बहिष्कृत है
मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर पथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है।
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता। (प० 74)**

फिर भी वह अपना कर्तव्य निर्वाह करते हैं और ध तराष्ट्र तथा गांधारी को दुर्योधन के मरण के समाचार के साथ ही अश्वत्थामा द्वारा किए गए नरसंहार का समाचार भी सुनाते हैं। गांधारी को अश्वत्थामा के दर्शन कराने के फेर में वह अपनी दिव्य दृष्टि भी खो बैठते हैं। मानव-मूल्य के निकट जा ही नहीं सकते और न ही मानव-भविष्य की सुरक्षा की ही सामर्थ्य उनमें है—

**‘कर्म से पथक्
खोता जाता हूँ क्रमशः
अर्थ अपने अस्तित्व का।’ (प० 125)**

अध्याय-13

'अन्धायुग' के युयुत्सु का चरित्र-चित्रण

वास्तव में एक युयुत्सु ही इस कृति का ऐसा पात्र है जो सर्वथा दयनीय रहा है। वह भी दुर्योधन की भाँति धृतराष्ट्र का पुत्र है किन्तु अपनी सत्यनिष्ठा के कारण वह अन्यायी दुर्योधन का साथ न देकर पाण्डवों के पक्ष में लड़ता है और यही सत्यनिष्ठा उसके लिए जीवन भर का अभिशाप बन जाती है। वह विजयी होकर जब पुनः कौरव नगरी में लौटता है तो नगरवासी उसे विपक्षी योद्धा समझकर भयत्रस्त हो उठते हैं और अपने-अपने घरों में जा छिपते हैं। कोई उसे नरभक्षी गिद्ध कहता है, कोई मायावी दैत्य और कुछ उसे लुटेरा समझते हैं। वह अपने आगमन के साथ ही मिले इस अपमान से विक्षुब्ध हो उठता है और सोचता है कि आज सम्भवतः अपने ही महल में उसके अपने माता-पिता जहर बुझे भाले से उसका स्वागत करें—

‘डरने में
उतनी यातना नहीं है,
जितनी वह होने में जिससे
सबके सब केवल भय खाते हैं।
वैसा ही मैं हूँ आज
ये हैं महल
मेरे पिता, मेरी माता के
लेकिन कौन जाने
यहाँ स्वागत हो
मेरा
‘एक जहर बुझे भाले से।’ (प० 52)

वह आत्म-चिन्तन में लीन हो जाता है और सोचने लगता है कि उसने ऐसा कौन सा अपराध किया जिसके कारण उसे आज यह असह्य यातना सहनी पड़ रही है। क्या सत्य का पक्ष लेना इतना बड़ा अपराध है कि उसके लिए व्यक्ति को अपमानित और लांछित होना पड़े। यदि हाँ, तो—

‘मेरा अपराध सिर्फ इतना है
सत्य पर रहा हूँ मैं दृढ़
द्रोण, भीष्म
सबके सब महारथी
नहीं जा सके
दुर्योधन के विरुद्ध
फिर भी मैंने कहा
पक्ष में असत्य का नहीं लूँगा

**मैं भी हूँ कौरव
पर सत्य बड़ा है कौरव वंश से।' (प० 53)**

वास्तव में इन पंक्तियों में युयुत्सु उस बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतीक बन जाता है। जो दुर्योधन रूपी सत्ता से विमुख होकर सत्य का पक्ष लेता है। सत्ता झूठ और अन्याय की है और वह उसका विरोध करता है। किन्तु सत्य पर सदैव दृढ़ रहना और सत्याग्रह को अपना संकल्प बना लेना सहज नहीं है। युयुत्सु इसका प्रमाण है। सत्य के आग्रह के कारण ही उसे अपमानित और लांछित होना पड़ता है और उसे निराश होकर कहना पड़ता है—

**'मैं भी
सह लेता यदि
सब उच्छंखलता दुर्योधन की
आज मुझे इतनी घणा तो
न मिलती
अपने ही परिवार में।' (प० 53)**

और अन्ततः वही होता है जिसकी आशंका युयुत्सु को थी। यद्यपि विदुर ने उसे पूर्ण आश्वस्त कर दिया था किन्तु ज्यों ही माता गांधारी से उसका साक्षात्कार होता है और माता गांधारी उसे अपने व्यंग्य प्रहारों से मर्माहत कर देती है, तो उसे प्रतीत होता है कि उसकी सत्यनिष्ठा मात्र एक प्रमाद थी और गांधारी ने एक ही झटके में उसके मुलम्में को चीर फेंका है। इस प्रहार ने सत्य के प्रति उसकी चिरसंचित आस्था को तहस-नहस कर दिया—

**'अच्छा था यदि मैं
कर लेता समझौता असत्य से।' (प० 56)**

किन्तु विदुर पुनः उसे आश्वस्त करते हैं कि असत्य से समझौता कर लेना आसान तो है लेकिन यह समस्या का समाधान तो नहीं है। यदि तुम असत्य से समझौता कर लेते तो बाहर से भले ही सुखी रहते किन्तु अन्दर से जर्जर हो जाते। इसके प्रत्युत्तर में युयुत्सु दोनों की ही परिणति को एक समान सिद्ध करता है—

**'अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।' (प० 57)**

और उसकी आस्था क्रमशः अनास्था में परिवर्तित होती है। यह वह स्थिति है जब असत्य और अन्याय की पोषक सत्ता के विरुद्ध बौद्धिक वर्ग सत्य का पक्ष लेता है किन्तु फिर भी उसे प्रताड़ना ही मिलती है तो उसकी आस्था डगमगा जाती है। वह किसी को स्नेह और दया भी देना चाहता है तो वह भी कोई स्वीकार नहीं करता। युयुत्सु के साथ भी ऐसा ही होता है। वह एक गूंगे सैनिक को पानी पिलाना चाहता है किन्तु विडम्बना यह है कि उसके घुटने युद्ध में स्वयं युयुत्सु के अग्निबाणों से झूलसे हैं और वह जब अपने पानी पिलाने वाले का मुख देखता है तो भाग खड़ा होता है। विदुर इसका कारण पूछते हैं और युयुत्सु अपने विषाद को इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

‘मैं ही अपराधी हूँ
 यह था एक अश्वारोही कौरव सेना का
 मेरे अग्निवाणों से
 झुलस गये थे घुटने इसके
 नष्ट किया है खुद मैंने
 जिसका जीवन
 वह कैसे अब
 मेरी ही करुणा स्वीकार करे
 स्नेह भी अगर मैं दूँ
 तो वह स्वीकार नहीं औरों को
 × × ×
 जय है यह कृष्ण की
 जिसमें मैं वधिका हूँ
 मात वंचित हूँ
 सबकी घणा का पात्र हूँ।’ (प० 58-59)

उसकी यह स्थिति है कि वह अपने मृत बंधुजनों का दाह-संस्कार भी नहीं कर सकता क्योंकि उसने युद्ध में स्वयं उनकी हत्या की है। इस दयनीय दशा में आकर तो वह पूर्णतः अनास्थावादी हो जाता है और पुकार-पुकार कर कृष्ण से कहता है—

‘जिसने किया हो खुद वध
 उसकी अजलि का तर्पण
 स्वीकार किसे होगा भला?
 वे मेरे बन्धु हैं
 मेरे परिजन
 किन्तु सुनो कृष्ण
 आज मैं किस मुँह से उनका तर्पण करूँगा?’ (प० 87)

किन्तु परिस्थितियाँ उसे उस निर्णायक मोड़ पर ले जाती हैं जहाँ उसकी अनास्था आत्मघात की ओर उसे ले जाती है। विजय के उपरान्त भीम बार-बार उसका अपमान करता है और एक दिन गूँगा सैनिक भी उसका वीभत्स अपमान करता है जिससे क्षुब्ध होकर वह प्रहरी के भाले से ‘आत्महत्या’ कर लेता है। वह जानता है कि वह घणास्पद कार्य कर रहा है किन्तु वह विवश हो जाता है और आत्महत्या के उपरान्त वह अन्धा प्रेत बन जाता है। कृष्ण के मरण पर जब एकाएक अश्वत्थामा को आस्था का बोध होता है तो वह क्रूर अट्टाहास कर उठता है—

‘आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
 अब मिला अश्वत्थामा को
 जिसे नकली और छोटा समझकर मैं
 कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले।’ (प० 123-124)

उसे कृष्ण के प्रति पूर्ण अनास्था हो जाती है और वह कृष्ण की आस्था को झूठी तथा उस आस्था के ज्योतिवत्त को एक भूल भुलैया मानते हुए कहता है—

**‘जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को
मरने का नाटक रचकर वह चाहता है
बौधना हमको
लेकिन मैं कहता हूँ
वंचक था, कायर था, शक्तिहीन था वह।’ (प० 124)**

किन्तु फिर भी उसे मानव-भविष्य की चिन्ता है और वह चाहता है कि किसी प्रकार भी हो मानव-भविष्य सुरक्षित रहना चाहिए। लेकिन उसे इसका उत्तर नहीं मिलता और स्वयं को वह इसमें नितान्त असमर्थ पाता है।

इस प्रकार युयुत्सु के चरित्र के माध्यम से लेखक ने बौद्धिक वर्ग का विश्लेषण किया है जो पथभ्रष्ट होने के कारण अपनी उर्ध्वमुखी आस्था को खो बैठता है।

अध्याय-14

'अन्धायुग' के विदुर का चरित्र-चित्रण

विदुर को महाभारत के अनुरूप ही 'अंधायुग' में चित्रित किया गया है। वह एक नीतिज्ञ हैं और प्रायः गाँधीवादी विचारों से ओतप्रोत हैं। महाभारत में भी उन्हें राजपाट से विरक्त एक कृष्ण भक्त राजनीतिज्ञ के रूप में दिखाया गया है, जो परम शांतवादी होने के कारण बार-बार ध तराष्ट्र को पाण्डवों के प्रति हो रहे अन्याय से अवगत कराते हैं और उन्हें पाण्डवों से शान्ति वर्ता करने को प्रेरित करते रहते हैं। किन्तु दुर्योधन की हठवादिता के कारण वह अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाते। 'अंधायुग' में भी विदुर का यही शांतिकामी और सत्याश्रयी चरित्र उजागर हुआ है। वह शोक संतप्त ध तराष्ट्र को धैर्य प्रदान करते हुए उनसे सच्चाई को पहचान लेने और उसका अनुसरण करने को प्रेरित करते हैं—

**'भीष्म ने कहा था,
गुरु द्रोण ने कहा था,
इसी अन्तःपुर में
आकर कृष्ण ने कहा था—
'मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर सी
गुँजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।' (प० 17)**

यह बात नहीं है कि कौरवों के विनाश से उनके हृदय को आघात न लगा हो। कौरव नगरी के ऊपर उड़ते असंख्य गिद्धों को देख वह यह अनुमान लगा लेते हैं कि हस्तिनापुर पर कोई भयानक संकट आनेवाला है। इसे अपशकुन मानकर वह पहले तो महल के गलियारे में खड़े प्रहरियों से पूछते हैं कि क्या इस अशुभ की सूचना ध तराष्ट्र तक पहुँचा दी गई है और फिर वह स्वयं ध तराष्ट्र के समक्ष आकर अपनी चिंता को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

**'विह्वल है सारा नगर आज
बचे-खुचे जो भी दस-बीस लोग
'कौरव-नगरी में हैं,
अपलक नेत्रों से
कर रहे प्रतीक्षा हैं
संजय की।' (प० 16)**

ध तराष्ट्र को यथार्थ का साक्षात्कार करने के लिए वह प्रेरित करते हैं किन्तु जब ध तराष्ट्र अपनी अंधता के आच्छेद में इससे मुकरना चाहते हैं तो विदुर स्पष्ट शब्दों में उनकी भर्त्सना करने में नहीं हिचकिचाते। ध तराष्ट्र जब उनकी भर्त्सना सुनकर अपने वैयक्तिक और स्वनिर्मित सत्य की दुहाई देने लगते हैं तब भी हमें उनकी स्पष्टवादिता के दर्शन होते हैं—

**‘पहले ही दिन से किन्तु
आपका वह अन्तिम सत्य
कौरवों का सैनिक बल
होने लगा था सिद्ध झूठा और शक्तिहीन
पिछले सत्रह दिन से
एक-एक कर
पूरे वंश के विनाश का
संवाद आप सुनते रहे।’ (प० 18)**

किन्तु जब धृतराष्ट्र अपने सत्य के मिथ्यात्व को पहचान लेते हैं और वह स्वीकार कर लेते हैं कि मेरे वैयक्तिक सत्य से इतर भी कोई सत्य है तथा वह उस पर पश्चाताप करने लगते हैं तो विदुर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

**‘यह जो पीड़ा ने
पराजय ने
दिया है ज्ञान
दढ़ता ही देगा यह।’ (प० 19)**

इसी प्रकार पुत्र शोक से जर्जर गांधारी को वह धैर्य प्रदान करते हुए अपनी कटुता को त्याग कर यथार्थ को ग्रहण कर लेने का परामर्श देते हैं। क्योंकि सत्य अन्ततः सत्य है और उसका साक्षात्कार किसी न किसी क्षण में अवश्य ही करना पड़ता है किन्तु जब गांधारी की कटुता का शमन नहीं हो पाता और वह उनके आराध्य देव श्रीकृष्ण पर निर्मम व्यंग्य-प्रहार करने लगती हैं तो वह गांधारी की ओर से कृष्ण से क्षमा याचना करते हुए कहते हैं कि गांधारी की आवेशमयी उद्धत अनास्था उनकी कटु निराशा का ही परिणाम है। इसीलिए वह प्रभु श्रीकृष्ण से विनती करते हुए कहते हैं—

**‘यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है।
क्षमा करो प्रभु!
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो!
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन?
क्षमा करो प्रभु
पुत्र शोक से जर्जर माता हैं गांधारी।’ (प० 22)**

कृष्ण के प्रति उनकी अटल आस्था है और वह उन्हें ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं, जब वद्व याचक यह कहता है कि अचानक ही एक व्यक्ति के उभ्युदय ने नक्षत्रों की दिशा को बदल कर दुर्योधन की विजय को पराजय में बदल दिया और उसकी भविष्यवाणी को झूठा सिद्ध कर दिया तो विदुर एकदम से कह उठते हैं कि वह उनके प्रभु कृष्ण ही थे क्योंकि—

**‘उनकी गति में ही
समाहित है सारे इतिहासों की,
सारे नक्षत्रों की दैवी गति।’ (प० 24)**

जब युयुत्सु युद्धान्त पर पुनः कौरव-नगरी में लौटता है और वह सर्वत्र यही अनुभव करता है कि उसने यद्यपि सत्य का पक्ष लिया था किन्तु फिर भी लोग उसका अपमान कर रहे हैं, तब विदुर उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

**‘इस पर विषाद मत करो युयुत्सु
अज्ञानी, भय डूबे, साधारण लोगों से
यह तो मिलता ही है सदा उन्हें
जो कि एक निश्चित परिपाटी
से होकर पथक
अपना पथ अपने आप
निर्धारित करते हैं।’ (प० 54-55)**

किन्तु युयुत्सु की आत्म पीड़ा ने उन्हें एक बार हिला ही दिया। वह सोचने लगते हैं कि जब युयुत्सु ने सत्य का पक्ष लिया तो फिर उसे इतना निरादर क्यों मिल रहा है और इतनी लांछना क्यों मिल रही है? क्या सचमुच कृष्ण साधारण व्यक्ति हैं जिनके प्रति वह आज तक इतने आस्थावन रहे? और इसी अन्तर्मथन ने उनके मन को कुछ देर के लिए कृष्ण के प्रति अनास्थामय बना ही डाला—

**‘जाने क्या झूठा पड़ गया कहाँ
सबके सब जैसे
उतर आए हैं अपनी धुरी से आज
एक-एक कर सारे पहिये
हैं उतर गए जिससे
वह बिल्कुल निकम्मी धुरी
तुम हो
क्या तुम हो प्रभु?’ (प० 59)**

और फिर जब वद्ध याचक की प्रेतात्मा की मंत्र शक्ति के वशीभूत होकर वह अपना परिचय देते हैं तब तो उनकी अनास्था पूर्णतः मुखर हो उठती है—

**‘मैं विदुर हूँ
कृष्ण का अनुगामी, भक्त और नीतिज्ञ
पर मेरी नीति साधारण स्तर की है
और युग की सारी स्थितियाँ असाधारण हैं
और अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है
क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिए उतर गए हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती।’ (प० 74)**

किन्तु अचानक ही उन्हें लगता है कि अपने मन में कृष्ण की प्रभुता के संशय को पालकर वह एक पाप करने जा रहे हैं, जो अनुचित है और वह पुनः आस्थावन हो उठते हैं।

उनके हृदय में सत्यवादिता और शान्तिकामिता के साथ ही अत्याधिक संवदेनशीलता भी है। वह किसी के दुःख को देखकर तुरन्त पसीज जाते हैं। संजय जब गांधारी से अश्वत्थामा के द्वारा किए

गए नरसंहार का वर्णन करते हैं तो वह उन्हें रोकने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार गूंगे सैनिक द्वारा युयुत्सु को पत्थर मारे जाने से भी उन्हें हार्दिक पीड़ा होती है और वह आह कह उठते हैं। अपने मानववादी दृष्टिकोण के कारण वह मृत्युन्मुखी युयुत्सु की परिचर्या करते हैं ताकि उसके प्राण बच सकें। इसी प्रकार वह युधिष्ठिर को भी हिमालय के शिखरों पर जाकर आत्मघात करने से रोकते हैं। इसी प्रकार युयुत्सु के आत्मघात के संदर्भ में वह अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

**‘मुक्ति मिल जाती है सबको कभी न कभी
वह जो बंधु घाती है
हत्या जो करता है माता की प्रिय की,
बालक की, स्त्री की
किन्तु आत्मघाती
भटकता है अन्धियारे लोकों में
सदा-सदा के लिए बन कर प्रेत।’ (प० 111)**

अन्ततः हम यही कह सकते हैं कि विदुर एक शान्तिकामी नीतिज्ञ हैं, जो परिस्थितिवश कुछ क्षणों के लिए अनास्थावादी बन जाते हैं किन्तु जिनका विश्वास मानवता, सत्य, धर्म, अहिंसा और प्रेम पर है, वह कभी अनास्थावादी बन ही नहीं सकते। विदुर सच्चे अर्थों में एक गाँधीवादी उदार व्यक्ति हैं।

अध्याय-15

'अन्धायुग' के कृपाचार्य का चरित्र-चित्रण

कृपाचार्य कौरव दल के प्रमुख योद्धा थे। महाभारतकार ने उन्हें अश्वत्थामा का मामा और शस्त्र विद्या में पारंगत बताया है, ब्राह्मण होते हुए भी ये क्षत्रियोचित वीरत्व से परिपूर्ण हैं। 'अंधायुग' में उन्हें एक निर्भीक सैनिक के रूप में चित्रित किया गया है। दुर्योधन की पराजय के बाद कृपाचार्य कृतवर्मा और अश्वत्थामा ये तीन ही वीर शेष रह गए थे। कृपाचार्य के दर्शन हमें इस कृति में सर्वप्रथम तब होते हैं जब वह विक्षिप्त अश्वत्थामा को पुकारते हुए वन में भटकते हैं और अनायास ही कृतवर्मा से इनकी भेंट हो जाती है। कृतवर्मा के यह पूछने पर कि क्या अश्वत्थामा भी जीवित है? वह उत्तर देते हुए कहते हैं—

**'जीवित हूँ
केवल हम तीन
आज!'** (प० 33)

उनमें उचित और अनुचित को समझने की दृष्टि है। जब वह देखते हैं कि अश्वत्थामा ने संजय का गला दबोच रखा है तो वह उसे प्रताड़ित करते हुए कृतवर्मा को संजय की मुक्ति का प्रयास करने के लिए कहते हैं। अश्वत्थामा जैसे बर्बर नर पशु की भर्त्सना करने में भी वह नहीं हिचकिचाते—

**'वध-लेकिन शत्रु का
कैसे योद्धा हो अश्वत्थामा?
संजय अवध्य है
तटस्थ है।'** (प० 37)

अश्वत्थामा के मामा होने के कारण स्वभावतः वह उसके प्रति स्नेहिल हैं। अश्वत्थामा की विक्षुब्ध दशा देखकर वह उसे धैर्य प्रदान करते हैं और कहते हैं कि अभी से निराश होना उचित नहीं है। अभी तो दुर्योधन जीवित है, चलो उसके पास चलकर आदेश ले लो फिर आगे का कार्यक्रम बनाएँगे। किन्तु किसी भी सम्भावित संकट के प्रति सावधान रहना भी वह अपना कर्तव्य समझते हैं इसीलिए तो वार्तालाप के मध्य जब वह देखते हैं कि कोई अनजाना व्यक्ति उनकी ओर आ रहा है तो वह छिप जाने की सलाह देते हैं—

**'निकल चलो
इसके पहले कि हमको
कोई भी देख पाए।'** (प० 40)

उनमें इतनी दृढ़ता है, कि वह प्रतिशोध की आग में जल रहे विक्षिप्त अश्वत्थामा को प्रताड़ित भी कर सकते हैं और उसे डाँटने के बाद जब उन्हें उसकी मानसिक अवस्था का ज्ञान होता है तो वह उसके अन्तर्नाद को दूर करने के लिए स्वयं उसका कमरबन्द ढीला करके उसका पसीना पोंछते हुए उसे बिठा देते हैं और संयत शब्दों में विश्राम करने की सलाह देते हैं। वह अश्वत्थामा को शांत करते हुए कहते हैं—

**‘बैठो
विश्राम करो
तुमने कुछ नहीं किया
केवल भयानक स्वप्न देखा है।’ (प० 43-44)**

जब क तवर्मा अश्वत्थामा द्वारा किए गए व द्ध याचक के वध को अनुचित ठहराते हुए इसे जघन्य अपराध मानते हैं और व्यंग्यपूर्वक कहते हैं कि हम इसीलिए शेष बचे हैं कि बूढ़े और निहत्थों की छिपकर हत्या किया करें तब हमें कृपाचार्य के विवेकी चरित्र का परिचय मिलता है। उनका यह कहना कितना तर्कसंगत और अवसरोचित है—

**‘शान्त रहो कृतवर्मा
योद्धा नामधारियों में
किसने क्या नहीं
किया है
अब तक?
द्रोण थे बूढ़े निहत्थे
पर
छोड़ दिया था क्या
उनको धृष्टद्युम्न ने?
या हमने छोड़ा अभिमन्यु को
यद्यपि वह बिल्कुल निहत्था था
अकेला था
सात महारथियों ने ।’ (प० 45)**

उनमें इतना साहस और पराक्रम है कि जब किसी व्यक्ति के आने की आहट उन्हें घोर वन में मिलती है और वह समझते हैं कि सम्भवतः विजयी पाण्डवगण उनकी हत्या करने आ रहे हैं तो वह कृतवर्मा को सावधान करते हुए कहते हैं—

**‘ठहरो।
उठाओ धनुष
वह आ रहा है कौन?’ (प० 60)**

आत्मरक्षा के प्रति उनकी यह तत्परता उनके पराक्रमी व्यक्तित्व का ही परिचय देती है। किन्तु जब अश्वत्थामा को क्रोधाभिभूत होकर कृतवर्मा को मारने को उद्यत हो जाता है तो वह उसे ‘पागल’ करार देते हुए कहते हैं।

**‘कुछ भी मर्यादा बुद्धि
तुम में क्या शेष नहीं।’ (प० 67)**

वह न्याय युद्ध के पक्षधर हैं। अन्याय युद्ध या छिपकर वार करना उन्हें रुचिकर नहीं। जब अश्वत्थामा उनसे कहता है कि जिस प्रकार धृष्टद्युम्न और भीम ने द्रोण और दुर्योधन की अधर्म से हत्या की थी उसी प्रकार वह भी अधर्म से ही पाण्डवों की हत्या करेगा, तब ‘कृपाचार्य’ उसे समझाते हुए कहते हैं कि हम भी तुम्हारे साथ हैं किन्तु छिपकर आक्रमण करना अच्छी बात नहीं है, कोई दूसरा मार्ग निकालो—

**‘हम सब हैं साथ तुम्हारे
इस प्रतिहिंसा में
किन्तु यदि छिपकर आक्रमण के सिवा
कोई दूसरा पथ निकल आए’ (प० 64)**

वास्तव में वह युद्ध से ऊबे हुए सैनिक हैं और केवल अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा को पूरा करने के लिए ही पुनः शस्त्र थामते हैं। इसीलिए न्याय युद्ध के पक्षधर होते हुए भी उन्हें अन्त में अश्वत्थामा के अधर्म युद्ध में सम्मिलित होना पड़ता है।

विजय के बाद पाण्डवों में मदान्धता छा गयी और मदोन्मत्त भीम बार-बार अपने दुर्व्यवहार से युयुत्सु को अपमानित कर देता था। इससे विक्षुब्ध होकर युयुत्सु ने आत्मघात कर लिया। कृपाचार्य ने अपने चिन्तन से यह पाया कि यह आत्मघात ही वास्तव में भविष्य का दर्शन बन जाएगा और इस भावी आशंका ने उन्हें हिला दिया—

**‘यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन-व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अन्तिम लक्ष्य मानव का’ (प० 110)**

और वह यह निर्णय कर लेते हैं कि युधिष्ठिर की इस आत्मघाती संस्कृति में वह न रह सकेंगे। इसीलिए वह विदुर से हस्तिनापुर को छोड़ देने की बात कहते हैं—

**‘लेकिन अब यह जो
आत्मघाती नपुंसक हासोन्मुख प्रवृत्ति उभर आई है
अब तो मैं छोड़ दूँ हस्तिनापुर
इसी में कुशल है विदुर!’
× × ×
नहीं! नहीं!
योद्धा रहा हूँ मैं
आत्मघात वाली इस
युधिष्ठिर की संस्कृति में
मैं नहीं रह पाऊँगा।’**

इस प्रकार कृपाचार्य एक कुशल योद्धा, धर्मप्राण, न्याय के पक्षधर और ऊबे हुए सैनिक के रूप में इस कृति में चित्रित हुए हैं।

अध्याय-16

'अन्धायुग' का शिल्प-निधान

शिल्प के लिए शैली, भाषा शैली या कला पक्ष नाम दिए जाते हैं। शिल्प शब्द अंग्रेजी के टेकनीक (Technique) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। "मानक हिन्दी कोश" में शिल्प शब्द का अर्थ दिया गया है- "हाथ से काम करने का हुनर, दस्तकारी या दस्तकला।" डॉ० पुष्पा बंसल ने अपने लेख 'अन्तराल शिल्प' में शिल्प को इन शब्दों में परिभाषित किया है- "शिल्प वह अदा है, वह विधि है, वह तरीका है, जिसके द्वारा उपन्यासकार अपनी वस्तु को रूप देते हैं।"

कलात्मक अभिव्यक्ति तथा शिल्प-सौष्ठव की दृष्टि से अन्धायुग एक उल्लेखनीय कृति है। इसका कथानक आक्रोश, प्रतिहिंसा, संघर्ष, घणा, मोह, द्वन्द्व आदि मानवीय वृत्तियों से जुड़ा होने के कारण अत्यन्त मार्मिक है। धर्मवीर भारती कृत 'अन्धायुग' नयी कविता-युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है। नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य ने संवेदना और शिल्प की दृष्टि से इस कृति को बहुत प्रभावशाली बना दिया है। 'अन्धायुग' के काव्य सौंदर्य में निम्नलिखित घटक सहायक हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार से किया गया है।

- (1) कथानक या सन्दर्भ संयोजन- अन्धायुग के प्रारम्भ में 'स्थापना' के अन्तर्गत कवि ने युद्ध के उपरान्त की विसंगतियों की ओर संकेत किया है। पहले अंक का शीर्षक 'कौरव नगरी' जिसमें अन्धे राजा धृतराष्ट्र और गांधारी की मोहान्धता के दुष्परिणामों को दर्शाया गया है। 'पशु का उदय' दूसरा अंक है। जिसमें पाण्डवों द्वारा अर्द्धसत्य का सहारा लेकर छल से मारे गये द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा प्रतिहिंसा के आवेश में पशु बन जाता है और पाण्डवों के वध का संकल्प करता है। तृतीय अंक का शीर्षक है, 'अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य' जिसमें अश्वत्थामा का मरणासन्न दुर्योधन के द्वारा सेनापति पद पर अभिषेक किया जाता है। चौथा अंक है, 'गांधारी का शाप' जिसमें अश्वत्थामा पाण्डव-शिविर में घुसकर सोई हुई सेना का संहार करता है। 'विनय: एक क्रमिक आत्महत्या' पाँचवाँ अंक है जिसमें कुन्ती, गांधारी, धृतराष्ट्र भीषण दावाग्नि में भस्म हो जाते हैं। इसके बाद 'समापन' में 'प्रभु की मृत्यु' का निरूपण है।

अन्धायुग के सारे कथानक में विवेकहीनता या अन्धत्व से उत्पन्न विसंगतियों का नाटकीय और काव्यात्मक शैली में विन्यास ही कवि का लक्ष्य रहा है। भारती ने महाभारत के कथा-प्रसंगों को अन्धायुग के लघु कलेवर में संजोने के लिए सन्दर्भ संयोजन की निम्नलिखित पद्धतियों का आश्रय लिया है—

- (क) संक्षेपण—अन्धायुग में महाभारत के उत्तरार्द्ध के शल्य पर्व से लेकर महाप्रस्थानिक पर्व तक के सात पर्वों की कथा को समेटा गया है। कृतिकार ने संक्षेपण की पद्धति अपनाकर विस्तारों को छोड़ने और तीखे मार्मिक प्रसंगों को चुनकर संयोजित करने में अनोखे कलात्मक संयम का परिचय दिया है।

- (ख) प्रतीकीकरण—अन्धायुग में धर्मवीर भारती ने सभी पात्रों को प्रतीक रूप में चित्रित किया है। ऐसा करने से कथानक में स्थूल वितरण की अपेक्षा अर्थ में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।
- (ग) उद्भावन—भारती जी ने कुछ पात्रों और प्रसंगों को अपनी ओर से प्रस्तुत किया है। वृद्ध याचक, गूंगा सैनिक और प्रहरी कल्पित पात्र हैं। युयुत्सु की आत्महत्या का प्रसंग भी उद्भूत है। महाभारत में युयुत्सु अन्त तक जिन्दा रहता है।
- (घ) संकेतन—भारती ने सांकेतिक प्रसंगों की योजना द्वारा कथ्य में मार्मिकता पैदा कर दी है। कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ने वाले गिद्धों का बादल-युद्ध की विभीषिका का संकेत करता है।
- (ङ) पर्यालोचन—भारती जी ने दो प्रहरियों की योजना द्वारा अन्य पात्रों और प्रसंगों का पर्यालोचन कराया है। ये समीक्षक पात्र हैं जिनकी समीक्षा प्रसंगों में निहित अर्थों का उद्घाटन करती चलती है।
- (च) कथा-गायन—इस कृति में 15 कथागायन हैं जिनके माध्यम से कथा के अगले-पिछले प्रसंगों का सामंजस्य स्थापित किया गया है।
- (2) पात्र-योजना—भारती जी ने पात्र-योजना के विषय में भी अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। पात्रों की संख्या न तो बहुत अधिक है और न ही बहुत कम। कृष्ण, बिदुर जैसे एक दो पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र असन्तुलित और असामान्य हैं। प्रत्येक पात्र प्रतिहिंसा, मोह, संत्रास आदि किसी न किसी मूल प्रवृत्ति का प्रतीक है। सत्य और असत्य, मर्यादा और मर्यादाहीनता, आस्था और अनास्था की चक्की में पिसते हुए कुछ पात्र हैं युयुत्सु, वृद्ध याचक और दोनों प्रहरी। इन पात्रों के द्वारा मानव-जीवन की विडम्बनाओं और विवशताओं को तीखेपन के साथ उभारा गया है।
- (3) शब्द चयन—अन्धायुग के शब्द चयन में डॉ० धर्मवीर भारती ने शुद्ध जनतान्त्रिक दृष्टिकोण अपनाया है। तीखी और कठोर अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले शब्दों को चुना है। उर्दू तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रभावी चित्रण भारती जी ने अपनी कृति में की है। कृतिकार ने दिन काटना, पाट देना, लोहा लेना, दम तोड़ना, हाथ पसारना आदि मुहावरों का प्रयोग भी अभिव्यक्ति को मार्मिकता प्रदान करने के उद्देश्य से किया है। कठोर और उग्र भावों की अभिव्यक्ति के लिए टवर्गीय ध्वनियों वाले शब्दों की बाहुलता है। 'ण' ध्वनि के प्रति भारती जी का विशेष आकर्षण रहा है। इसी प्रकार संयुक्त एवं महाप्राण ध्वनियों की अन्धायुग में प्रधानता है।
- (4) बिम्ब-विधान—भारती जी की भाषा की सबसे बड़ी शक्ति बिम्ब-विधान है। डॉ० गोविन्द चातक के मतानुसार, "उनकी भाषा बिम्ब-विधान में बहुत सक्षम है।" कवि ने निम्न पंक्तियों में ब्रह्मास्त्र के मिथक का सहारा लेकर एक गत्वर बिम्ब अंकित किया है—

“ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ से टकरायेंगे

सूरज बुझ जाएगा

धरा बंजर हो जाएगी।”

- (5) प्रतीक योजना—अन्धायुग में नामकरण, पात्र-योजना घटना-क्रम, प्रसंग सभी कुछ प्रतीकात्मक हैं। नामकरण की दृष्टि से अन्धायुग स्वयं प्रतीकात्मक शीर्षक है। कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ने वाले नरभक्षी गिद्ध युद्ध की विभीषिका के प्रतीक हैं। अन्धापन अविवेक का प्रतीक है। इन पंक्तियों में विवेक की पराजय अन्धत्व की विजय द्वारा 'अन्धायुग' के शीर्षक पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार—

“वो छोड़ चले वह रत्नजटित सिंहासन”

'सिंहासन' सत्ता और प्रभुता का तथा 'रत्नजटित' भोग-विलास और राजसी ठाट-बाट का प्रतीक है। प्रतीक-योजना द्वारा भारती ने भाषा की क्षमता में असीम वृद्धि की है। यहाँ प्रतीक का उदाहरण प्रस्तुत है—

**“दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन।”**

- (5) लयात्मकता—अन्धायुग के 15 कथागायनों में उत्कृष्ट कोटि की छन्दोंबद्ध कविता के नमूने मिलते हैं। कथागायनों में 22 या 24 मात्राओं वाले विलम्बित गति से युक्त छन्दों का प्रयोग भारती जी ने अपनी इस कृति में किया है। छन्द और लय की दृष्टि से भी 'अन्धायुग' एक सशक्त कृति है।

संक्षेप में, अन्धायुग एक उत्कृष्ट रचना है जिसमें नाटकीयता और कवित्व का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। इस कृति में प्रतिशोध, आक्रोश, भय, संत्रास, घणा जैसी उग्र एवं तीखी अनुभूतियों को बिम्ब, अलंकार, प्रतीक, भय आदि भाषिक माध्यमों से बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय-17

'अन्धायुग' की अलंकार योजना

भारती जी अनुभूतिशील कवि हैं तथा अपने युग के प्रति पूर्ण सचेत हैं। उन्होंने इस कृति के अन्त में प्रभु से शब्द, रस, अलंकार योजना प्रदान करने की प्रार्थना करते हुए कहा है—“दो मुझे शब्द, दो रसानुभाव, दो अलंकार।” उपर्युक्त प्रार्थना से कवि की कलात्मक सजगता सिद्ध होती है।

सुरेश गौतम का मानना है कि “अन्धायुग का अलंकार-विधान पूर्णरूप से सहज और स्वाभाविक है। जहाँ अर्थालंकारों का समुचित प्रयोग काव्य में अर्थगौरव एवं चमत्कार की अभिवृद्धि करता है, वहाँ शब्दालंकारों का प्रयोग भी शब्द श्रवीयता में सहायक रहा है।” धर्मराष्ट्र के राज्य में विकृत मर्यादा और उसके दुष्प्रभाव की समता विकृत अंगों वाली वेश्या और उसके संसर्ग से फैलने वाले रोग से की गई है—

**“जिसके अन्धेपन में मर्यादा
गलित अंग वेश्या-सी
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी।”**

भारती जी ने 'अन्धायुग' में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, पुनरुक्ति-प्रकाश आदि अलंकारों का प्रयोग किया है किन्तु भारती जी को उपमा अलंकार ही विशेष प्रिय है। जिस प्रकार कुचला हुआ अजगर सूखी लकड़ी को अपने में लपेट कर तोड़ डालता है। कहने का भाव यह है कि चोट खाया हुआ अजगर अधिक भयंकर और उग्र हो जाता है उसी प्रकार खण्डित मर्यादाएँ भी कुपित होकर भयंकर और उग्र हो जाती हैं।

**“मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर-सी
गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेटकर
सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।”**

कुछ स्थलों पर सदृश प्रसंगों की योजना उपमान रूप में की गई है। आक्रोश और प्रतिहिंसा से पागल अश्वत्थामा गर्भवती उत्तरा को भी कुचल कर समाप्त कर देने का निश्चय अपने मन में संजोये हुए है। कवि उस पागल हाथी के प्रसंग का उपमान-रूप में प्रस्तुत करता है जो आवेश में आकर कमल-कलियों को कुचलता हुआ चला जाता है—

**“पागल कुंजर
से कुचली कमल-कली की भौंति
छोड़ूँगा नहीं उत्तरा को भी।”**

उपमा की ही भाँति भारती जी ने रूपक-अलंकार का प्रभावपूर्ण उल्लेख अपनी कृति में किया है। कवि ने अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल उपमानों की योजना की है। व्यास अश्वत्थामा को ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के दुष्परिणामों से अवगत कराते हुए कहते हैं—हे अश्वत्थामा। तुम्हें ब्रह्मास्त्रों के प्रयोग के बुरे परिणामों के बारे में कुछ भी पता नहीं। हे नर के रूप में पशु अवश्वत्थामा। यदि ब्रह्मास्त्र ठीक लक्ष्य पर पड़ गया तो सदियों तक पृथ्वी पर रसमय वनस्पति पैदा नहीं होगी। यहाँ पर नर को पशु के रूप में चित्रित किया गया है। रूपक अलंकार का सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है—

**“मैं हूँ व्यास
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का?
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर-पशु।
तो आगे आनेवाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी।”**

अन्धायुग में कुछ उदाहरण उत्प्रेक्षा अलंकार के हैं। कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ने वाले गिद्धों को देखकर मौत के ऊपर से निकल जाने की आशंका व्यक्त की गई है—

**“लो ये मुड़ गए
कुरुक्षेत्र की दिशा में
मौत जैसे
ऊपर से निकल गई।”**

भारती जी ने कुछ स्थलों पर पुनरुक्ति प्रकाश अलंकारों का प्रयोग भी अपने काव्य में प्रभावपूर्ण ढंग से किया है। शिष्टाचार, न्याय, धर्म आदि की सीमाओं को दोनों पक्षों ने तोड़ दिया। मर्यादा को खण्डित करने के कार्य में कौरवों ने पाण्डवों से अधिक वीरता का प्रदर्शन किया। पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का यह उदाहरण देखिए—

**“टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा।”**

कुछ स्थलों पर भारती जी ने अपनी इस कृति में सांगरूपकों की योजना की है। सांगरूप अलंकार का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

**“मैं संजय हूँ
जो कर्मलोक से बहिष्कृत है
मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा-चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है।”**

अन्धायुग में एक-दो स्थलों पर दोहरी उपमान-योजना के उदाहरण मिलते हैं। निम्न उदाहरण में अश्वत्थामा अपने टूटे हुए धनुष की उपमा कुचले हुए साँप से देता है और अन्त में टूटे हुए धनुष की तुलना अपने मन से करता है। कवि ने अश्वत्थामा की विकृति एवं कुण्ठित मनोदशा को दोहरे उपमान द्वारा साकार किया है—

**“कुचले हुए सोंप-सा
भयावह किन्तु
शक्तिहीन मेरा धनुष
जैसा है मेरा मन।”**

संक्षेप में सद श्य विधान भारती की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण तत्त्व है, जिसका चरमोत्कर्ष लम्बे-लम्बे सांगरूपकों की योजना में दिखलाई पड़ता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है यद्यपि भारती जी ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, पुनरुक्ति प्रकाश तथा सांगरूपक आदि अलंकारों का उल्लेख अपनी कृति अन्धायुग में किया है तथापि भारती जी को उपमा एवं रूपक अलंकार ही अधिक प्रिय हैं।

अध्याय-18

'अन्धायुग' की प्रतीक-योजना

'प्रतीक' शब्द अत्यन्त व्यापक है किन्तु काव्य में प्रतीक से हमारा आशय अनुभूति की आस्था विशेष के शाब्दिक रूप से है। प्रतीकों के प्रयोग से भाषा में एक अर्थवत्ता, नई शक्ति आती है। विद्वानों ने काव्य में प्रतीकों को तीन कोटियों में विभक्त किया है, (1) परम्परागत प्रतीक, (2) व्यक्तिगत प्रतीक (3) प्राकृतिक प्रतीक।

अन्धायुग में नामकरण, पात्र-योजना, घटना-क्रम, प्रसंगोद्भावना आदि प्रतीकात्मक हैं। नामकरण की दृष्टि से अन्धायुग स्वयं प्रतीकात्मक शीर्षक है। 'पशु का उदय', 'पंख', 'पहिये और पट्टियाँ' आदि उप-शीर्षक हैं, जो किसी-न-किसी घटना और विचारधारा की अभिव्यक्ति करते हैं। डॉ० धर्मवीर भारती द्वारा रचित अन्धायुग में अनेक प्रतीकात्मक प्रसंगों की उद्भावना की गई है। कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़नेवाले नरभक्षी गिद्धों के प्रसंग द्वारा कृतिकार ने युद्ध की विभीषिका और गदायुद्ध में दुर्योधन की पराजय और मृत्यु की ओर कलात्मक संकेत करके कथानक को अर्थयुक्त बना दिया है।

अन्धायुग का प्रख्यात एवं उत्पाथ्य सम्पूर्ण कथ्य ही प्रतीकात्मक ताने-बाने से निर्मित है। युयुत्सु की उपेक्षा और उसके द्वारा आत्महत्या, युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य से द्रोण की अमानुषिक हत्या और उससे उत्पन्न अश्वत्थामा की विकृत मनोग्रन्थियाँ, कृष्ण की मृत्यु, गांधारी का शाप आदि घटनाओं में नाटकीयता के साथ प्रतीकात्मकता है। इस कृति में दो सौ छह पंक्तियों का उपयोग करके पन्द्रह बार कथागायन की योजना की गई है, जिसके प्रयोग से प्रतीकात्मकता की अस्पष्टता को दूर करने तथा उसे सहज, सुलभ एवं सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिए—

**"दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन।"**

अन्धायुग में अन्धापन अविवेक का प्रतीक है। इन पंक्तियों में विवेक की पराजय और अन्धत्व की विजय द्वारा 'अन्धायुग' शीर्षक पर प्रकाश डाला गया है। इसी तरह—

"वे छोड़ चले वह रत्न जटित सिंहासन"

'सिंहासन' सत्ता और प्रभुता का और 'रत्नजटित' भोग विलास, ऐश्वर्य-सम्पन्नता एवं राजसी टाट-बाट का प्रतीक है। "कथानक के अलावा पात्र भी प्रतीकात्मक अर्थों के द्योतक हैं।" अश्वत्थामा इस कृति का सबसे सशक्त पात्र है, जिसकी विद्रोही आत्मा ने उसे हिंसक पशु बना दिया। अश्वत्थामा के रोम-रोम में वेदना अंगड़ाइयाँ लेती है तथा वह इनसे जूझ कर कहता है—"युधिष्ठिर के एक अर्द्धसत्य ने मेरे भविष्य की हत्या कर डाली।" कोमल भावों की भ्रूण हत्या हो जाने पर केवल हत्या करना उसका धर्म बन जाता है और उसके अन्दर प्रतिहिंसा का ज्वालामुखी दहकता है, जिसके फलस्वरूप वह अनीति, अमर्यादा, पशुता, बर्बता का प्रतीक बनकर

उपस्थित होता है। युयुत्सु सत्य का जीता-जागता प्रतीक है। सबकी उपेक्षा और मामन्तिक अपमान उसकी आत्मा को छलनी कर देते हैं और वह उस यंत्रणा से आहत होकर आत्मघात कर लेता है।

कवि ने वद्ध याचक के रूप में एक अद्भुत अर्थपूर्ण पात्र की कल्पना की है। जो मानव भविष्य को शिव से सुशोभित करने का उपदेश देता है। अन्धायुग में प्रहरी युग्म दास व ति और जनसामान्य के प्रतीक हैं। प्रहरियों की बातचीत में व्यंग्य, विडम्बना एवं वेदना विद्यमान हैं। ये प्रहरी जीवन की निरर्थकता से थके हुए तथा आधुनिक मानव की नियति के प्रतीक हैं। इस कृति में प्रकृति से सम्बद्ध प्रतीकों का सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है। इनको हम स्थलीय प्रतीक, जलीय प्रतीक, वानस्पतिक प्रतीक आदि में विभक्त कर सकते हैं। स्थलीय प्रतीक का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

**“उस दिन से मैं हूँ
पशुमात्र, अन्ध बर्बर पशु
किन्तु आज मैं भी एक अन्धी गुफा में हूँ भटक गया
गुफा यह पराजय की।”**

युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र अन्धी शक्ति-उपासना और विस्तारवादी प्रेरणा का संकीर्ण स्वार्थ भावना के प्रतीक हैं। कृष्ण मर्यादा और दायित्व के प्रतीक हैं। कृष्ण प्रभु अवश्य हैं किन्तु उनकी अनासक्त कर्म-पद्धति उनसे भी बड़ी है। कृष्ण कवि की अटूट आस्था के साथ-साथ साहस, स्वतन्त्रता, स जन एवं मानव-मूल्यों के प्रतीक हैं। व्यास शान्तिकामी नेता का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा गूंगा सैनिक युद्ध के पश्चात् विकलांग हुए मानव का प्रतीक है। द्रोण, भीष्म आदि योद्धा अपनी सत्यप्रियता और न्यायप्रियता को कौरवों के नमक की कीमत चुकाने के लिए त्याग देते हैं। वे ऐसे बेबस आदमियों के प्रतीक हैं जो सत्य को मन से स्वीकारते हुए भी असत्य का पक्ष लेते हैं।

भारती जी ने कुछ स्थलों पर पात्रों के नामों को प्रतीक रूप में प्रयोग किया है। ‘अर्जुन’ का प्रयोग मोह और विषाद से ग्रस्त व्यक्ति के रूप में किया गया है। ‘अश्वत्थामा’ और ‘संजय’ का प्रतीकार्थ अमानुषिक बर्बरता और निष्क्रिय तटस्थ दृष्टि है—

1. **“किसने यह छोड़ दिया धनुष यहाँ?
क्या फिर किसी अर्जुन के
मन में विषाद हुआ?”**
2. **“हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है।”**

कहीं-कहीं मानव कृत वस्तु-प्रतीक भी कृति की प्रतिकात्मकता को सौन्दर्य प्रदान करते हैं। भाव यह है कि मर्यादा, नैतिकता आदि की ओट लेकर ही दुष्ट प्रवृत्तियों का घिनौना खेल-खेला जाता है—

**“नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
यह सब है अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें।”**

कृष्ण के किरीट से गिरा हुआ मोर पंख कृष्ण की मर्यादा और सत्यप्रवृत्तियों का प्रतीक है। इसी प्रकार भारती जी ने पट्टियाँ शब्द का प्रयोग ‘मोहान्धता’ के अर्थ में किया है। जो पट्टियाँ गांधारी

के नेत्रों पर हैं वे ही संघर्ष और युद्ध का कारण बनकर सैनिकों के जख्मों पर हैं। अन्धापन अविवेक का प्रतीक है।

अन्धायुग में भारती जी ने कथानक, पात्र-योजना, प्रकृति-योजना आदि का प्रयोग प्रतीकात्मक अर्थ में असीम सफलता प्राप्त की है। डॉ० जयदेव तनेजा के मतानुसार—“चरित्रों, घटनाओं, शीर्षकों, प्रसंगों और सन्दर्भों से लेकर शब्दों तक प्रतीकात्मकता का विस्तार न केवल इस कृति को काव्य वैभव से समृद्ध करता है, बल्कि सघन, तीव्र एवं बहुआयामी अनुभव का आधार भी प्रदान करता है।” संक्षेप में अन्धायुग में भारती ने प्रतीकों का सफल प्रयोग किया है। उनके अधिकतर प्रतीक पुराने और रूढ़ न होकर नवीन और सदय-स्फुरित हैं, उनकी अभिव्यंजना उनके सन्दर्भों से शक्ति ग्रहण करती है।

अध्याय-19

'अन्धायुग' की लय और तुक-योजना

धर्मवीर भारती ने अन्धायुग में नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य के उद्देश्य से तुकों एवं लयों के क्षेत्र में विविध प्रयोग सफलतापूर्वक किए हैं। पात्रों के संवादों के माध्यम से कथानक का विकास होता है, वहीं कथागायनों के माध्यम से कवि स्वयं कथानक के अगले-पिछले सूत्रों को जोड़ता चलता है। यही कारण है कि कथा गायनों में उत्कृष्ट कविता के नमूने प्राप्त होते हैं।

अन्धायुग के प्रथम अंक में तीन, दूसरे में दो, तीसरे में एक, चौथे में तीन, पाँचवें में दो तथा समापन में चार कथागायनों की योजना की गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर इस कृति में पन्द्रह कथागायन हैं। अन्धायुग के सारे कथागायनों में छन्दों में मात्राओं की संख्या इस प्रकार है—

पहला अंक	— — —	22 मात्राएँ, 22 मात्राएँ, 22 मात्राएँ
दूसरा अंक	— — —	24 मात्राएँ, 22 मात्राएँ
त तीय अंक	— — —	32 मात्राएँ
चौथा अंक	— — —	24 मात्राएँ, 22 मात्राएँ, 24 मात्राएँ
पाँचवा अंक	— — —	24 मात्राएँ, 22 मात्राएँ
समापन	— — —	24 मात्राएँ, 16 मात्राएँ, 24 मात्राएँ, 24 मात्राएँ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कथागायनों में 22 मात्रा के छन्द का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है तथा दूसरे स्थान पर 24 मात्रा के छन्द का प्रयोग किया गया है। मन्थर गतिवाली लय का निम्न उदाहरण दृष्टव्य है जो अनुभूति की मार्मिकता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है—

**“उस दिन जो अन्धायुग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह-रह कर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अधियारा गहरा होता जाता है।”**

अन्धायुग में संवादों से विविध प्रकार की लयों का प्रयोग किया गया है। कवि परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के अनुसार पात्रों के बदलते हुए मनोभावों को ध्यान में रखकर आवश्यकतानुसार छोटी-बड़ी पंक्तियों का प्रयोग करता चला है। भारती ने स्वयं कहा है, “पात्रों के कथोपकथन में सभी पंक्तियाँ एक ही लय में हो यह आवश्यक नहीं, मुक्त छन्द में कोई लिरिक प्रकृति की कविता अलग से लिखी जाए तो छन्द की मूल योजना वही बनी रह सकती है, किन्तु नाटकीय कथन में इसे मैं बहुत आवश्यक नहीं मानता। कहीं-कहीं लय का यह परिवर्तन मैंने जल्दी-जल्दी ही किया है।”

भारती जी ने मुक्त छन्द के माध्यम से पात्रों की पल-पल बदलती हुई मनोदशा का चित्रण किया है। पात्रों की मनः स्थिति और अनुभूति के उतार-चढ़ाव पर बल रहने के कारण अन्धायुग में संवादों की लय संगीत की अपेक्षा सुर या टोन पर अधिक आश्रित है। निम्नलिखित पंक्तियों में अश्वत्थामा प्रतिशोध से प्रेरित होकर भावावेश में ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने को विवश हो जाता है।

“सुनो तुम सब नभ के देवगण
अपने-अपने
विमानों पर आरूढ़
देख रहे हो जो इस युद्ध को
साक्षी रहोगे तुम
विवश किया है मुझे अर्जुन ने
यह लो
यह है ब्रह्मास्त्र”

यह सुर का आरोह अथवा ओवरटोन का उदाहरण है। इसी प्रकार अन्धायुग में सुर के अवरोह अथवा अण्डरटोन के भी उदाहरण मिलते हैं। यह उदाहरण दृष्टव्य है—

“महाराज!
मत दोहराये वह
सह नहीं पाऊँगी।”

भारती जी ने ‘अन्तराल’ में व तगन्धी गद्य का प्रयोग भी किया है। व त या छन्द से युक्त होने के कारण ही उसे व तगन्धी गद्य कहते हैं। सच्चाई तो यह है कि कवि ने युक्त छन्द और व तगन्धी गद्य में कोई स्पष्ट सीमा रेखा नहीं खींची। अन्तराल में भी मुक्त छन्द जैसी लयवाली पंक्तियाँ भिन्न जाती हैं—

“हाँ, यह उन्हीं के रथ की घण्टियाँ
रोक लूँ उनका रथ
जैसे रोक दिया है प्रवाह मैंने कथा का?”

कथागायनों में लय और तुकों के संयोजन से कवि ने काव्य के संवेदना पक्ष के साथ-साथ उसके शिल्प-पक्ष को भी निखारने का प्रयास किया है। जहाँ कथागायनों में तुकों का नियमित प्रयोग किया गया है वहाँ संवादों में कवि का तुक के प्रति कोई आग्रह नहीं, फिर भी भावों के मांग के अनुरूप तुकों का प्रयोग कहीं-कहीं पर स्वाभाविकरूप से किया गया है—

“वे माया से सिमट जाएँ
दूरी मिट जाए
क्षितिज रेखा के पार
दृष्टि से छिपे हैं जो दृश्य वे निकट और जाएँ।”

संवादों में भी तुकों का प्रयोग सावधानीपूर्वक किया गया है।

“शान्त हो युयुत्सु
और सहन करो
गहरी पीड़ाओं को गहरे में वहन करो।”

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्धायुग के कथागायनों का शिल्प-पक्ष उत्कृष्ट है। संवादों में तुकों का प्रयोग कम ही देखने को मिलता है। किन्तु संवाद-योजना में कवि का ध्यान पात्रों की परिस्थितियों तथा मनः स्थितियों के प्रभावपूर्ण प्रकाशन पर ही केन्द्रित होने के कारण उसने मुक्त का आश्रय लिया है। तुक और लय की दृष्टि से भी अन्धायुग एक उत्कृष्ट और सफल नाट्य-काव्य है।

अध्याय-20

'अन्धायुग' का संदेश

कोई भी रचना निरुद्देश्य नहीं हो सकती। यदि कथानक कृति का कलेवर है तो संदेश उसकी आत्मा। संदेश कृति के समग्रस्वरूप में प्रच्छन्नरूप में निहित रहता है। डॉ० धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धायुग' भी एक संदेश प्रधान नाट्य काव्य है। इस रचना में कवि ने महाभारत के युद्ध के माध्यम से मोहान्धता के विनाशकारी प्रभाव को दिखाना चाहा है। इस कृति का मूल्य-बोध नकारात्मक ही नहीं वरन् कवि ने विनाश के माध्यम से स जन की प्रेरणा को चित्रित किया है। वस्तुतः ज्योति की कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है, परन्तु उसने इसे अत्यन्त कथात्मक ढंग से अन्धों के माध्यम से कहा है। कवि ने कृति के आरम्भ में ही यह घोषणा करता है—

**“यह कथा उन्हीं अन्धों की है;
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।”**

धर्मवीर भारती की मान्यता है कि प्रत्येक युद्ध के मूल में मानव का अविवेक या मानव प्रकृति की विकृति निहित रहती है। इस प्रकार कवि ने अविवेक के विनाशकारी प्रभाव को अपना कथ्य बनाया है। महाभारत के युद्ध में दोनों ही पक्षों ने न्यूनाधिक रूप से मर्यादा का खण्डन करके अपनी विवेक शून्यता का परिचय दिया।

**“अन्धों से शोभित या युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा।”**

अन्धायुग का प्रमुख उद्देश्य विकृति के माध्यम से संस्कृति का संदेश देना है। प्रस्तुत कृति के कथानक में विषम परिस्थितियों और असन्तुलित पात्रों से जुड़ी विसंगतियों एवं विकृतियों की प्रधानता है। कवि ने मानव-प्रकृति के विकृत पक्ष के माध्यम से ही संस्कृति का रचनात्मक, रसात्मक, आस्थामय एवं प्रेरक संदेश दिया है। भारती जी ने अपनी रचना के आरम्भ में ही लिखा है, “निराशा, कुण्ठा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अन्धापन इनसे हिचकिचाना क्या, इन्हीं में तो सच्चाई के दुर्लभ कण छिपे हुए हैं, तो इनमें क्यों न निडर धसूँ। इनमें धँसकर, भी मैं मर नहीं सकता।” कवि ने यही उद्घोषणा करते हुए कहा है—

**“पर शेष अधिकतर अन्धे
पथ-भ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है,
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।”**

इस रचना के अनेक पात्र विकृति के बीच से गुजरकर अन्त में पुनः संस्कृति की ओर लौटते हैं। वे आस्था के बीच अनास्था अर्जित करते हैं। अन्धायुग में ध तराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा आदि पात्र अनास्था, अर्द्ध सत्य, घ णा के दुष्परिणामों को भोगकर पुनः आस्था और सत्य की उपलब्धि प्राप्त करते हैं। वे पुनः कृष्ण की ओर उन्मुख होते हैं जो मर्यादा, सत्य और सर्जन के प्रतीक हैं।

अन्धायुग के उद्देश्य, कथ्य या मूल्य-बोध का प्रेरणा स्रोत है—गीता का निष्काम कर्मयोग तथा अस्तित्ववादी चिन्तन। अनासक्त कर्मयोग की स्थापना करता हुआ व द्ध याचक कहता है—

**“जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।”**

अस्तित्व की सार्थकता कर्म में है, निष्क्रियता में नहीं—

**“निष्क्रियता नहीं
आचरण में ही
मानव-अस्तित्व की सार्थकता है।”**

अस्तित्वाद के अनुसार मनुष्य का कर्म ही उसके अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करता है। विवशता के कारण ही मानव रहने का अभिशाप भोगता है। संजय निष्क्रियता का अनुभव करते हुए कहते हैं—

**“पर मैं तो हूँ निष्क्रिय
खोता जाता हूँ क्रमशः
अर्थ अपने अस्तित्व का।”**

‘अन्धायुग’ में कृष्ण को व्यक्ति के अतिरिक्त ‘ब्रह्म’ के रूप में चित्रित किया गया है। वे नूतन सर्जन की प्रेरणा से युक्त, मर्यादा युक्त-आचरण, सद्गति की ओर प्रेरित करनेवाले एवं सत्य के प्रतीक हैं। गांधारी, अश्वत्थामा आदि अमंगलकारी पात्र भी अन्त में इसी मंगल-चेतना का वरण करते हैं। युयुत्सु कृष्ण के प्रति अनास्थावादी होते हुए भी मानव भविष्य के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए उसी मंगल-सत्ता के प्रति समर्पित होता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ‘अन्धायुग’ का कथानक विकृति के माध्यम से संस्कृति, अनास्था के माध्यम से आस्था और विनाश के माध्यम से सर्जन की प्रेरणा प्रदान करता है। कवि ने आस्था, सत्य, मर्यादा, नैतिक आचरण को मानव-मूल्यों के रूप में चिन्तित किया है, इन्हीं से मनुष्य अपना जीवन सफल एवं सार्थक बना सकता है। अन्धायुग का कथानक मूल्य चेतना से ओत-प्रोत है। अन्धायुग में यह तथ्य सभी प्रकार से रेखांकित किया गया है कि मोहान्धता, अविवेक, असत्य और मर्यादाहीनता से ही युद्ध का जन्म होता है; जो विजेता और पराजित दोनों के समानरूप से घातक होता है। निष्कर्षतः अन्धायुग “अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा है।”

अन्धायुग: धर्मवीर भारती

खण्ड (ख)

व्याख्या

1

उस भविष्य में
धर्म-अर्थ हासोन्मुख होंगे
क्षय होगा धीरे-धीरे सारी धरती का।

‘ततश्चार्थ एवाभिजन हेतु।’
सत्ता होगी उनकी।
जिनकी पूँजी होगी।

‘कपटवेष धारणमेव महत्त्व हेतु।’
जिनके नकली चेहरे होंगे
केवल उन्हें महत्त्व मिलेगा।
‘एवम् चाति लुब्धक राजा
सहाशैलानामन्तरद्रोणी : प्रजा संश्रियष्यवन्ति।’
राजशक्तियाँ लोलुप होंगी,
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेगी। (प० 1-2)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य काव्य ‘अन्धायुग’ से उद्धृत हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० धर्मवीर भारती हैं। उन्होंने विष्णु पुराण का उल्लेख किया है। उनके अनुसार विष्णु पुराण ने भावी कलियुग के विषय में अपना दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया है।

व्याख्या: चर्चित साहित्यकार डॉ० धर्मवीर कहते हैं कि विष्णु पुराण के अनुसार, भविष्य में आनेवाले युग में धर्म और अर्थ के प्रति किसी भी व्यक्ति में आस्था नहीं रहेगी और इस प्रकार धर्म और अर्थ संबंधी कार्य क्रमशः पतन की ओर अग्रसर होंगे। इसके कारण सम्पूर्ण पृथ्वी धीरे-धीरे विनष्ट होती जाएगी। अधर्म और अनर्थ बढ़ते जाएँगे तथा व्यक्ति और व्यक्तित्व संकुचित होता जाएगा। व्यक्ति अपने आप में महत्त्वहीन हो जाएगा। ऐसा समय आएगा कि जो पूँजीपति होंगे, (उन्हीं के हाथों में शासन सूत्र होगा अर्थात् पूँजीवाद के समक्ष मानवता नतमस्तक हो जाएगी। केवल वही व्यक्ति समाज में सम्मान प्राप्त कर सकेंगे जो अपने वास्तविक मुखोश के ऊपर एक वंचक मुखौटा धारण करते होंगे अर्थात् जिस व्यक्ति का मुखोश दूहरी भूमिका का सफलता से निर्वाह करेगा वही महत्त्व

पाएगा। शासनारूढ़ शक्तियाँ अपने स्वार्थों में लिप्त रहेंगी और जनसेवा की अपेक्षा स्वयंसेवा का दुराग्रह उनमें होगा, वे लालची होंगे और सदैव अपना ही घर भरते रहेंगे। ऐसे निहित स्वार्थी शासकों से जनता त्रस्त और उत्पीडित रहेगी तथा भ्रमत्रस्त होकर गहरी अधेरी गुफाओं में जा छिपेगी अथवा शंकालु और कृण्ठित मन के अन्धेरो में छिप जाएगी।

विशेष:

- (1) लोक कल्याणकारी दो जीवन मूल्यों के हास का चित्रण।
- (2) वर्तमान युगीन कुंठाओं से ग्रस्त-सामान्य व्यक्ति के उत्पीड़न का चित्रण।
- (3) पूंजीवादी व्यवस्था का परिचय।
- (4) आकर्षक अभियेता तथा स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (5) प्रसाद-माधुर्यगुण सम्पन्न शैली।
- (6) आकर्षक लयात्मकता।
- (7) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (8) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।
- (9) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (10) गतिशील भाव-चित्रण।
- (11) भावानुकूल मानक हिंदी भाषा का रूप।

2

युद्धोपरांत

यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्धगुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है;
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से (प० 2)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अन्धायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० धर्मवीर भारती हैं। साहित्यकार ने उद्घोषणा के रूप में अपने काव्य रूपक 'अन्धायुग' के वर्ण्य विषय की ओर इंगित करते हुए उस युग के अन्धेपन का परिचय देता है—

व्याख्या: डॉ० भारती कहते हैं कि इस भयंकर महायुद्ध के पश्चात् अन्धायुग अर्थात् कलियुग इस धरती में आया, युग के अन्धे होने के कारण इसमें अवस्थित स्थितियाँ मन की इच्छाएँ और व्यक्तियों की आस्थाएँ सभी विकारों से युक्त हैं। अर्थात् जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति किसी चित्र या खण्ड चित्र को उसके वास्तविक रूप में न देखकर अपनी इच्छा शक्ति से विकृत रूप में देखता है, उसी प्रकार यह युग अन्धा है। तो उसके समस्त कार्यकलाप भी अन्धे व्यक्ति की भाँति ही विकृत हैं। इस युग में एक पतली और क्षीण डोरी की भाँति मर्यादा अभी भी विद्यमान है किन्तु वह पाण्डव और कौरव पक्ष अर्थात् सत्य और असत्य के बीच उलझी हुई है। दोनों ही पक्ष उसे स्वहित में उपयोग करना चाहते हैं और इस प्रकार वह दोनों पक्षों में उलझ कर रह गई है। केवल एक कृष्ण ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें इसको सुलझाने का साहस है। वही श्रीकृष्ण वास्तव में मानव-भविष्य के रक्षक हैं और वह आसक्तिहीन हैं। उनके अतिरिक्त जितने भी लोग हैं वे सब अधिकतर अन्धे अर्थात् विवेकहीन हैं, उनमें ज्ञान और विवेक शक्ति नहीं है। वे पथ भ्रष्ट हैं और अपने हाथ से हारे अथवा छले हुए हैं तथा उनमें मनोबल का अभाव है। वे अपने कुंठित मन की अन्धी गुफाओं में निवास करते हैं अर्थात् कुण्ठाग्रस्त हैं। 'अन्धायुग' में वर्णित यह कथा ऐसे ही विवेकहीन व्यक्तियों की है जिन्होंने अपनी मूर्खता के कारण देश के वैभव और लक्ष्मी को विनष्ट करने का अपयश पाया है। इस कृति में अन्धे और विवेकहीन लोगों के माध्यम से प्रकाश अर्थात् ज्ञान की कथा कही गई है। यह ज्ञान है मानव-भविष्य के सुख और उसकी सम्पन्नता का।

विशेष:

- (1) इस कथा में सत्य और असत्य, कौरव और पाण्डवों पक्षों के मध्य कृष्ण ही एक साहसी व्यक्तित्व हैं।
- (2) डॉ० धर्मवीर भारती ने नेपथ्य से उद्घोषणा के द्वारा अपने उद्देश्य को प्रकट किया है।
- (3) यथार्थ से आदर्श की स्थापना करना लेखक का उद्देश्य है।
- (4) कृष्ण के रूप में भारत को भविष्य का रक्षक और अनासक्त घोषित किया है।
- (5) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (6) आकर्षक लयात्मकता।
- (7) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
- (8) गतिशील भाव-चित्रण।
- (9) भावानुकूल मानक हिंदी का रूप।
- (10) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (11) प्रसाद-माधुर्यगुणसम्पन्न शैली।

3

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
 उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
 पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
 यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है

यह अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
 दोनों पक्षों को खोना ही खोना है
 अन्धों से शोभित या युग का सिंहासन
 दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
 दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
 भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन
 अधिकारों का अन्धापन जीत गया
 जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
 वह हार गया द्वापर युग बीत गया (प० 3)

प्रसंगः प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियां महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ० धर्मवीर भारती हैं। कथा-गायन के द्वारा रूपककार ने महाभारत के युद्ध से उत्पन्न विषमता, विनाश और रक्तपात की ओर संकेत करते हुए पाठकों-दर्शकों को नायक की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया है। महाभारत युद्ध द्वारा हुई अपूरणीय क्षति के बारे कहा गया है—

व्याख्या: साहित्यकार कहता है कि इस महायुद्ध ने मर्यादा को खण्डित करके रख दिया और कई चीथड़ों के समान उसकी धज्जियाँ उड़ा दी है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मर्यादा को किसी एक पक्ष ने ही खण्डित किया है वरन् उसको तोड़ने के भागीदार दोनों ही हैं इतना अवश्य है कि पाण्डवों का इसमें कुछ कम दोष है और कौरवों का अधिक किन्तु दोषी दोनों हैं। यह विनाशकारी युद्ध-जिसमें लाखों-करोड़ों का रक्त बहा है कब समाप्त होगा? यह युद्ध इतना विलक्षण रहा है कि इसमें विजय किसी भी पक्ष ने नहीं पाई, क्योंकि इसमें दोनों ही पक्ष श्रीहत हो चुके हैं और सभी प्रकार से रिक्त हो गए हैं। अन्दर से खोखला कर देनेवाले इस युद्ध में यद्यपि प्रत्यक्षतः पाण्डव विजयी रहे हैं किन्तु वास्तविक विजय उन्हें इस युद्ध में नहीं मिली है, क्योंकि कौरव पक्ष की भाँति ही वे भी अपना सब कुछ इस युद्ध में खो चुके हैं। अतः दोनों पक्षों ने इसमें केवल खोया ही है पाया कुछ नहीं।

जब महाभारत युद्ध प्रारम्भ हुआ था तब सिंहासन पर अन्धा धराष्ट्र शासनारूढ़ था अतः अन्धेपन की विजय अवश्यम्भावी थी। मूर्खता से भरा हुआ यह युद्ध पूर्णतः मूर्खतापूर्ण था और मूर्ख शासनतंत्र तथा जनता ने इसमें सहयोग दिया। इसलिए यह निश्चित ही था कि इस युद्ध में विवेक की पराजय होती। विवेक हार गया और दोनों पाण्डव और कौरव पक्षों में अन्धेपन अर्थात् मूर्खता को ही विजय मिली। तात्पर्य यह है कि जिसने भी विवेक और मर्यादा का उल्लंघन किया वही विजयी रहा। यदि एक पक्ष में भी विवेक होता तो युद्ध टल सकता था किन्तु ऐसा नहीं हुआ और विवेकी युयुत्सु को जो सत्य और न्याय के लिए कौरव होकर भी पाण्डवों के पक्ष में लड़ा, कौरव और पाण्डव दोनों ही पक्षों से लाञ्छित तथा प्रताड़ित किया गया। अभिमन्यु के अमर्यादापूर्ण वध से कौरवों में उत्साह का संचार हुआ, गुरु द्रोणाचार्य को शस्त्रहीन रूप में घट्टधुम्न ने मारा तब पाण्डव विजयी हुए, अश्वत्थामा ने सोये हुए घट्टधुम्न और पाण्डव-पुत्रों की हत्या की तो उसकी विजय हुई तथा इसी प्रकार भीम ने अधर्म वार करके दुर्योधन को मार डाला, यहाँ पाण्डवों की विजय हुई। इस प्रकार मर्यादा किसी ने भी नहीं निभायी और दोनों ही पक्षों का विवेक हार गया।

इस युद्ध में विजय केवल भय के अन्धेपन ममता के अन्धेपन और अधिकारों के अन्धेपन को ही मिली और वह सब तक पराजित हो गए जिनमें सौंदर्य था, कल्याणकारी भावना थी और जो अत्यधिक

कोमल था। इस प्रकार से इस जय-पराजय के साथ ही मर्यादापूर्ण, श्री सम्पन्न और कल्याण भावना से भरा हुआ द्वापर युग समाप्त हो गया।

विशेष:

- (1) प्रतीकात्मक ढंग से वर्तमान युग का कुशल चित्रण।
- (2) 'शोभित' शब्द व्यंग्यार्थ है, इससे आशय है सिंहासन का कलंकित होना।
- (3) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (4) आकर्षक लयात्मकता।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (6) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (7) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।
- (8) गतिशील भाव-चित्रण।
- (9) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (10) आकर्षक अभियेता।
- (11) भावानुकूल मानक हिंदी भाषा का रूप।

4

**यह महायुद्ध के अंतिम दिन की संध्या
है छाई चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी**

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० धर्मवीर भारती हैं। इस पद्यांश में कवि ने महाभारत युद्ध के अंतिम दिन की संध्या का बड़ा विषादपूर्ण चित्रण किया है।

व्याख्या: डॉ० भारती ने महाभारत युद्ध के अंतिम दिन की विषादपूर्ण बेला का वर्णन किया है। महाभारत का विनाशकारी युद्ध अपनी अन्तिम अवस्था में है और इस युद्ध की यह अठारहवीं तथा अंतिम संध्या है। युद्ध से उत्पन्न सर्वनाश और विषाद की साक्षी नगर में छायी हुई यह गहरी उदासी दे रही है। कौरवों के उजाड़ महलों के गलियारों के सूनेपन में केवल दो बूढ़े प्रहरी पहरा देते हुए घूम रहे हैं।

विशेष:

- (1) अपने विगत वैभव और हर्ष के स्मरण से उदासी चित्रण।
- (2) सुनसान गलियों तथा महलों के अतीत का स्मरण।
- (3) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
- (4) गतिशील भाव-चित्रण।

- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (6) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (7) आकर्षक लयात्मकता।
- (8) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (9) आकर्षक अभिनेयता।
- (10) सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग।
- (11) शब्दों का मर्मस्पर्शी योग।

5

**थके हुए हैं हम,
पर घूम-घूम पहरा देते हैं
इस सूने गलियारे में (प० 4)**

प्रसंगः प्रस्तुत नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित कृति 'अंधायुग' से उद्धृत हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० धर्मवीर भारती हैं। प्रस्तुत प्रसंग में महाभारत के अंतिम क्रि की संध्या को वर्तमान युगीन दासवृत्ति ग्रस्त जन-मनोवृत्ति का परिचय देते हुए कहा गया है कि यहाँ पहला पहरेदार दूसरे से कह रहा है।

व्याख्या: डॉ० भारती द्वारा कहा गया है। इस विकट युद्ध ने हमें मानसिक रूप से थका डाला है और असुरक्षित महलों का निरन्तर पहरा देते हुए भी हम शारीरिक रूप से थक गए हैं। युद्ध ने हमें जर्जर और शक्तिहीन बना दिया है, यह अनुभव करते हुए भी, विडम्बनावश हम सुनसान गलियारे में पहरा देने को बाध्य हैं। अर्थात् आप महलों की गलियों के इस सूनेपन ने ही हमें थकान और केवल एक दूसरे का ही मुख देख पाते हैं इसलिए हम थकान अनुभव करते हैं।

विशेषः

- (1) महलों की चहल-पहल की समाप्ति का चित्रण।
- (2) 'घूम घूम' में पुनरुक्ति अलंकार का सुन्दर चित्रण।
- (3) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का सुन्दर योग।
- (4) गतिशील भाव चित्रण।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (6) आकर्षक लयात्मकता।
- (7) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (8) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (9) आकर्षक अभिनेयता।
- (10) भाषा का सरल एवं सहज प्रयोग।

6

सूने गलियारे में
जिसके इन रत्न-जटित फर्शों पर
कौरव-वधुएँ
मंथर मंथर गति से
सुरभित पवन-तरंगों-सी चलती थीं
आज वे विधवा हैं। (प० 4)

प्रसंग—प्रस्तुत भावपूर्ण पक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता चर्चित साहित्यकार डॉ० धर्मवीर भारती हैं। इसमें महाभारत के युद्ध की अन्तिम संध्या बेला के अवसर पर जब प्रथम प्रहरी पहरा देते-देते अपनी थकान और ऊबाहट को व्यक्त करता है तो उसके प्रत्युत्तर में दूसरा प्रहरी कहता है—

व्याख्या—साहित्यकार द्वारा यह तो सत्य है कि हम इस प्रकार सूनी गलियों में पहरा देते-देते थक गए हैं। वास्तव में यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि हमें इन सुनसान गलियों का पहरा देना पड़ रहा है। यह सुनसान गलियारा जिसके फर्श पर रत्न जड़े हुए हैं और जिस पर कौरव कुल की वधुएँ अपने कोमल चरणों के द्वारा इटलाती बलखाती उसी प्रकार चलती थीं जैसे सुगंधयुक्त वायु के झकोरे वातावरण को मादक बना देते हैं अर्थात् इन गलियों में मंथर गति से प्रयाण करनेवाली कौरव-रानियाँ विविध प्रकार के शं गार प्रसाधनों से सुसज्जित होकर इटलाती हुई आया करती थीं, किन्तु आज इस विनाशकारी महाभारत के युद्ध ने उनके सिंदुर को पोंछ कर उनके शं गार को अस्त व्यस्त कर दिया है। उनके पति रणभूमि में वीर गति को प्राप्त हो गए हैं तथा वे विधवा हो गई हैं। उनके इस विधवापन ने उस चहल-पहल और मादक वातावरण को लील लिया है। इसलिए गलियारे अब सुनसान हो गए हैं।

विशेष:

- (1) 'मंथर मंथर गति' से में कौरव-रानियों के शं गार और उन्मादक यौवन का बोध।
- (2) 'सुरभित पवन-तरंगों-सी' में उपमा अलंकार।
- (3) 'मंथर मंथर' में पुनरुक्ति अलंकार है।
- (4) दुःख और पीड़ा की सम्प्रेषणीयता देखी जा सकती है।
- (5) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (6) सूक्ष्म भावों की प्रस्तुति।
- (7) गतिशील भाव-चित्रण।
- (8) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (9) आकर्षक लयात्मकता।
- (10) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (11) सरल एवं सहज भाषा का सुन्दर प्रयोग।

7

थके हुए हैं हम,
इसलिए नहीं कि
कहीं युद्धों में हमने भी
बाहुबल दिखाया है
प्रहरी थे हम केवल
सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में
भाले हमारे ये,
ढालें हमारी ये,
निरर्थक पड़ी रहीं
अंगों पर बोझ बनी
रक्षक थे हम केवल
लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ (प० 4)

प्रसंगः प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित 'अन्धायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ० धर्मवीर भारती हैं। महाभारत के अन्तिम दिन की संध्या में पहला पहरेदार युद्ध की लोमहर्षता तथा अपनी उपहासास्पद स्थिति का वर्णन करते हुए दूसरे पहरेदार से अपनी थकान का कारण स्पष्ट कर रहा है।—

व्याख्या: साहित्यकार के द्वारा मैंने कहा था कि हम थक चुके हैं। यह सत्य है कि हम थक चुके हैं। यह सत्य है कि हम थक गए हैं किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि इस निकट युद्ध में कभी-कहीं पर हमने भी अपने पराक्रम का प्रदर्शन किया हो। वास्तव में हमने कोई युद्धकौशल नहीं दिखाया क्योंकि हम सैनिक नहीं बल्कि केवल पहरेदार थे, जिनको इन महलों का पहरा देना था, विगत सत्रह दिनों से यह भयंकर युद्ध चल रहा है। हमारे भाले और ढालें व्यर्थ ही हमारे शरीरों पर बोझ बनकर पड़े रहे। इनका कोई उपयोग न हो सका। हम इन महलों के पहरेदार थे लेकिन हमने किसका पहरा दिया क्योंकि यहाँ तो रक्षा करने योग्य कुछ था ही नहीं।

विशेषः

- (1) युद्ध में जनवधन की भारी क्षति का चित्रण।
- (2) गतिशील भाव चित्रण।
- (3) भाषा का सहज एवं सरल प्रयोग।
- (4) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली का प्रयोग हुआ है।
- (5) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (6) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (7) आकर्षक लयात्मकता।
- (8) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (9) आकर्षक अभियेता।
- (10) मनमोहक अभिव्यंजना।

8

रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ
 संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अन्धे की
 जिसकी सन्तानों ने
 महायुद्ध घोषित किए,
 जिसके अन्धेपन में मर्यादा
 गलित अंग वेश्या-सी
 प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी
 उस अन्धी संस्कृति,
 उस रोगी मर्यादा की
 रक्षा हम करते रहे
 सत्रह दिन। (प० 4-5)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ० धर्मवीर भारती हैं। इसमें जब पहला पहरेदार यह कहता है कि हमें रक्षा के लिए नियुक्त किया तो गया है किन्तु रक्षा करने योग्य कोई वस्तु यहाँ नहीं है, तब दूसरा पहरेदार उससे उत्तर में कहता है—

व्याख्या—डॉ० भारती ने पहरेदारों की वार्तालाप का चित्रण करते हुए कहा है—तुम्हारा यह कहना किसी सीमा तक ठीक ही है कि हमें जिसकी रक्षा करने के लिए नियुक्त किया गया है ऐसी कोई वस्तु यहाँ नहीं है किन्तु फिर भी यहां कुछ है जिसकी रक्षा के लिए हमें नियुक्त किया गया है और वह रक्षणीय वस्तु है—एक अंधे और बूढ़े शासक की संस्कृति। हमें उसी व दृढ़ और अंधे शासक ध तराष्ट्र की संस्कृति की रक्षार्थ यहाँ नियुक्त किया गया है। उस अंधे और अविवेकी राजा ध तराष्ट्र की सन्तानों कौरवों ने यह विनाशकारी युद्ध घोषित किया है। उस अंधे ध तराष्ट्र की मूर्खता के कारण मर्यादा का रूप इतना विकृत हो गया था कि वह राज्य की जनता को रोगी बनाती चली गई। जैसे एक गुप्त रोग से ग्रस्त और गले हुए शरीर वाली वेश्या अपने साथ सम्भोग करनेवाले सभी लोगों को रुग्ण बना देती है, उसी प्रकार उस गली हुई मर्यादा ने भी समस्त प्रजा में मनोविकार उत्पन्न कर दिए थे। और हम चूंकि प्रहरी हैं इसलिए विगत सत्रह दिनों से हम उस मूर्खताओं से भरी संस्कृति और विकृत मर्यादा की रक्षा करते आ रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हम उन मनोविकारों की रक्षा कर रहे हैं जिनके कारण कौरव-वंश निर्मूल हो गया है।

विशेष:

- (1) मूर्खों की संस्कृति का चित्रण।
- (2) 'गलित अंग वेश्यासी' में उपमा अलंकार है।
- (3) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (4) गतिशील भाव-चित्रण।
- (5) प्रसाद-माधुर्ययुक्त भाषा शैली का प्रयोग।
- (6) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (7) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।

- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) भाषा का भावानुकूल प्रयोग।
- (10) आकर्षक अभिनेयता।

9

जिसने अब हमको थका डाला है
मेहनत हमारी निरर्थक थी
आस्था का,
साहस का,
श्रम का,
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था (प० 5)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इनके रचयिता डॉ० धर्मवीर भारती हैं। महाभारत के विनाशकारी युद्ध की अठारहवीं संध्या को लोमहर्षक युद्ध से उत्पन्न सूनेपन में पहरा दे रहे दूसरे प्रहरी ने जब यह कहा कि अविवेक से भरी हुई जर्जर संस्कृति और विकारयुक्त मर्यादा की रक्षा के लिए ही हम यहाँ नियुक्त किये गए हैं, तो पहला प्रहरी उसका उत्तर देते हुए कहता है—

व्याख्या: साहित्यकार ने चित्रित किया है—हम क्या करें जिस व द्ध और अन्धे ध तराष्ट्र की अविवेक से भरी हुई जर्जर और गलितांग मर्यादा की रक्षा हम करते आ रहे हैं, उसने हमें निचोड़ कर रख दिया है और हमारा अंग-अंग उसकी रक्षा करते-करते थक गया है। इस कार्य को सम्पन्न करने में हमने जो भी परिश्रम किया वह व्यर्थ था। इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में जो परिश्रम करता है उसका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य होता है और इसीलिए वह अटूट आस्था के साथ साहसपूर्वक परिश्रम करता है किन्तु दुःख तो यह है कि हमारी आस्था हमारे साहस और हमारे परिश्रम का कोई ही नहीं था इसीलिए हमारा अस्तित्व निरर्थक हो गया। जब हमारा अस्तित्व ही संदिग्ध है तो हमारा परिश्रम करने को मन ही क्यों करेगा और हम अपने आप में साहस तथा आस्था का संचार ही किस भाँति कर सकेंगे। वास्तव में हम स्वयं एक व्यर्थ बोझ को अपने ऊपर ओढ़े हुए हैं इसीलिए ये सभी तत्त्व अर्थहीन होना स्वाभाविक ही है।

विशेष:

- (1) भाषा का सरल एवं सहज प्रयोग किया गया है।
- (2) सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।
- (3) गतिशील भावाभिव्यंजना।
- (4) तद्भव तथा तत्सम शब्दों का सुन्दर चित्रण हुआ है।
- (5) प्रसाद-माधुर्यगुण सम्पन्न शैली।
- (6) मनमोहक अभिव्यंजना।

- (7) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (10) नैराश्य बोध और अनस्तित्व का बोध।

10

अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था
जीवन के अर्थहीन
सूने गलियारें में
पहरा दे देकर
अब थके हुए हैं हम
अब चुके हुए हैं हम (प० 5)

प्रसंग: प्रस्तुत नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियां महाभारत की कथा पर आधारित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। महाभारत के अंतिम दिन में भी संध्या बेला के विनाशकारी दृश्य का वर्णन करते हुए जब पहले पहरादेदार ने यह बताया की अविवेकी धराष्ट्र द्वारा निर्मित जर्जर संस्कृति और विकृत मर्यादा की रक्षा करते हुए उसे यह अनुभव होता है कि इन्हें दूषित करके रख दिया है और अब मानव-जीवन का अस्तित्व संदिग्ध-सा हो गया है। तब इसके उत्तर के दूसरा पहरादेदार कहता है-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती के द्वारा कौरवों ने मानव संस्कृति और मर्यादा को इतना दूषित कर दिया है कि इस व्याख्या में हमारी आस्था हमारा साहस और हमारा परिश्रम निरर्थक सिद्ध हुआ है, तुम्हारा ऐसा कहना उचित ही प्रतीत होता है। वास्तव में हमारे जीवन का कोई अर्थ अथवा उद्देश्य नहीं रह गया है और हम अपने इस निरुद्देश्य जीवन की महलों के इस सुनसान गलियारे में पहरा देते हुए बिता देने को विवश हो गए हैं। जिन महलों में कभी जीवन था, आज वे सुनसान पड़े हैं और इसी एकान्तता एवं निर्जनता में पहरा देते-देते हम न केवल थककर चकनाचूर हुए हैं वरन् स्वयं हमारा जीवन भी नष्ट हो गया है। आशय यह है कि महाभारत के विनाशकारी युद्ध ने मानव-जीवन को अस्तित्वहीन बनाकर रख दिया है। मानव-मन की आकांक्षाएँ तक निचुड़ कर सूख गई हैं और अब केवल निरर्थकता बोध ही शेष रह गया है।

विशेष:

- (1) 'गलियारा' को कर्मक्षेत्र के रूप में है।
- (2) 'जीवन के अर्थहीन सूने गलियारे में' में प्रतीकात्मकता है।
- (3) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
- (4) भावानुकूल मानक हिंदी भाषा का रूप।
- (5) आकर्षक लयात्मकता।
- (6) मनमोहक अभिव्यंजना।

- (7) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (8) अप्रस्तुत भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (9) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (10) आकर्षक अभिनेयता।

11

**सुनते हो
कैसी है ध्वनि यह
भयावह? (प० 5)**

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन की संध्या के सुनसान गलियारे में पहरा देते हुए पहरेदार जब कौरवों की मर्यादाहीनता और उनकी जर्जर संस्कृति पर वार्तालाप कर रहे थे, तभी उन्हें अँधी आने की-सी ध्वनि सुनाई दी। पहला प्रहरी उस ध्वनि को कान लगाकर सुनता है और भयभीत होकर अपने दूसरे साथी से कहता है-

व्याख्या: साहित्यकार ने कहा है कि-मित्र क्या तुम भी इस भयानक ध्वनि को सुन रहे हो? यदि हाँ, तो तुम मुझे बताओ कि यह किस प्रकार की ध्वनि है। यह तो बड़ी भयानक प्रतीत हो रही है। सुनो, यह ध्वनि कितनी अजीब लग रही है।

विशेष:

- (1) प्रहरी की भयत्रस्तता का चित्रण।
- (2) सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
- (3) भावानुकूल भाषा प्रयोग
- (4) प्रसार-माधुर्य युक्त शैली का प्रयोग।
- (5) स्पष्ट भावों का चित्रण।
- (6) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (7) गतिशील भाव चित्रण।
- (8) आकर्षक अभिनेयता।
- (9) भाषा का सरल एवं सहज प्रयोग।

12

**सहसा अँधियारा क्यों होने लगा
देखो तो
दीख रहा है कुछ? (प० 5)**

प्रसंग: प्रस्तुत, भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्यकाव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत है। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। महाभारत के युद्ध की अंतिम संध्या को निर्जन गलियारे में दो प्रहरी परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। भयानक ध्वनि की आवाज होने पर दोनों प्रहरी उस पर चर्चा कर रहे हैं।

व्याख्या: साहित्यकार के द्वारा अरे, इस ध्वनि के साथ ही चतुर्दिक अंधकर छाने लगा है। अचानक ही यह अंधकार क्यों हो रहा है? मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आ रहा है कि यह क्या होने जा रहा है। जरा तुम देखो तो, मुझे तो अब कुछ दिखाई भी नहीं दे रहा है। क्या तुम्हें कुछ दिखाई दे रहा है? मेरे सामने तो केवल अन्धकार ही अन्धकार है, तुम कुछ देख रहे हो तो मुझे भी बताओ।

विशेष:

- (1) युद्ध के उत्पन्न भयंकर ध्वनि का चित्रण।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (3) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (4) गतिशील भाव-सम्प्रेषण।
- (5) भावानुकूल भाषा का सहज प्रयोग।
- (6) प्रसाद-माधुर्ययुक्त शैली का प्रयोग।
- (7) आकर्षक लयात्मकता
- (8) तत्सम एवं तद्भव शब्दों का सुन्दर चित्रण।
- (9) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (10) आकर्षक अभिनेयता।

13

अन्धे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे?

दीख नहीं पड़ता कुछ

हाँ, शब्द बादल है (प० 5-6)

प्रसंग: प्रस्तुत नाट्य काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से उद्धृत की गई है। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती हैं। महाभारत के युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुए असंख्य सैनिकों के शवों को खाने के लिए अपार गिद्धों की पंक्तियाँ आकाश में मंडराने लगी थीं, जिन्हे पहरेदार देख नहीं सके, केवल अन्धकार को देखकर ही वह भयत्रस्त हो गए थे। जब दूसरे पहरेदार ने इस अन्धकार में कुछ न देख पाने की अस्मर्थता प्रकट की और पहले पहरेदार से इसके विषय में बताने को कहा तो पहले पहरोदार ने अपनी अज्ञानता को प्रकट करते हुए कहा-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती ने कहा है कि - मित्र हम तो उस शासक की प्रजा है जो स्वयं अन्धा है। तब अन्धे राजा की प्रजा ही क्या देख सकती है। तात्पर्य यह है कि जब हमारा शासक ही अविवेकी है तो हममें समझने-बूझने की शक्ति कहाँ से आएगी क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा

की उक्ति के अनुसार हम अपने राजा की भ्रांति ही मूर्ख हैं। अन्धकार और प्रकाश अथवा अविवेक और विवेक की परख तो उसी को होती है जिसके पास दृष्टि हो। जब हमारा शासक ही दृष्टिहीन अर्थात् विवेकहीन है तो हममें विवेक कहाँ से आएगा कि हम ज्ञान और मूर्खता में भेद कर सकें। हाँ जहाँ तक मैं समझता हूँ, सम्भवतः ये घनघोर बादल ही हैं जिनके कारण प्रकाश धरती तक नहीं आ पा रहा है और धरती अन्धकार में डूब गई है।

विशेष:

- (1) 'अन्धे' शब्द को दो अर्थों में-दृष्टिहीन और अविवेक के रूप में प्रयोग किया गया है।
- (2) 'शायद बादल है' में भ्रांतिमान अलंकार है।
- (3) प्रसाद-माधुर्यगुण सम्पन्न शैली।
- (4) आकर्षक लयात्मकता।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति हुई है।
- (6) गतिशील भाव-चित्रण।
- (7) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (8) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
- (9) भाषा सरल एवं सहज है।
- (10) आकर्षक अभिनेयता।

14

**बादल नहीं है
वे गिद्ध हैं
लाखों-करोड़ों
पाँखे खोले (प० 6)**

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत हैं। इसके रचयिता डॉ० धर्मवीर भारती हैं। महाभारत युद्ध में वीर गति को प्राप्त सैनिकों के शवों का आहार करने के लिए आकाश में असंख्य गिद्ध मंडराने लगे जिससे कौरव नगरी में घटाटोप अन्धेरा छा गया। तब पहला प्रहरी उन्हें बादल कहता है और भयभीत होकर दूसरा प्रहरी भी उसके निकट आकर उन्हें देखने लगता है।

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती के द्वारा नहीं, ये बादल नहीं हैं। तुम्हें बादलों का भ्रम हो गया है, वास्तव में ये लाखों-करोड़ों गिद्ध हैं जो अपने पाँखों को खोलकर आकाश में विचरण कर रहे हैं और उन्हीं अपरिमित उड़ते गिद्धों के कारण धरती पर पूर्ण अन्धकार छा गया है, जिसे तुम बादलजन्य समझ रहे हो।

विशेष:

- (1) युद्ध भूमि के लोमहर्षक दृश्य का चित्रण।

- (2) सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग हुआ है।
- (3) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति हुई है।
- (4) गतिशाल भावचित्रण।
- (5) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (6) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (7) आकर्षक अभिनेयता।
- (8) अप्रस्तु भावों की सुन्दर प्रस्तुति
- (9) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (10) आकर्षक लयात्मकता।

15

लो
सारी कौरव नगरी
का आसमान
गिद्धों ने घेर लिया (प० 6)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य काव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत है। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। महाभारत युद्ध में वीर गति को प्राप्त सैनिकों का शवाहार करने के लिए आकाश पर असंख्य गिद्ध मंडराने लगे। उनके पंखों की ध्वनि बड़ी भयावह थी और उनसे समस्त कौरव नगरी में अन्धकार छा गया। इस दृश्य को देखते हुए पहला प्रहरी भयभीत होता हुआ कहता है-

व्याख्या: साहित्यकार के द्वारा-लो देख लो, इन असंख्य गिद्धों ने सारी कौरव नगरी के आकाश को अपने पंखों से ढक लिया है तथा इसी कारण यहाँ अन्धकार व्याप्त हो गया है। लो तुम भी इस भयानक दृश्य को देख लो। अब तो नगर के ऊपर आकाश में केवल गिद्ध ही गिद्ध दिखाई दे रहे हैं और उन्होंने सारे आकाश और प्रकाश को ही जैसे लील लिया है।

विशेष:

- (1) पहरेदार के कथन में नैराश्य भाव।
- (2) भाषा सरल एवं सहज है।
- (3) माधुर्य-प्रसाद युक्त शैली का प्रयोग हुआ है।
- (4) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति हुई है।
- (5) आकर्षक लयात्मकता।
- (6) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (7) आकर्षक अभिनेयता।

- (8) तद्भव व तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
 (9) गतिशील भाव चित्रण।

16

झुक जाओ
 झुक जाओ
 ढालों के नीचे
 छिप जाओ
 नरभक्षी हैं
 वे गिद्ध भूखे हैं। (प० 6)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता चर्चित साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती हैं। रणक्षेत्र में वीर गति को प्राप्त हुए सैनिकों का शवाहार करने के लिए आकाश में असंख्य गिद्ध मंडराने लगे और पहला पहरेदार कहता है कि नगर के सारे आकाश को इन गिद्धों ने ढक लिया है, तो दूसरा पहरेदार भयत्रस्त हो कर पहले पहरेदार से कहता है-

व्याख्या: साहित्यकार ने पहरेदार के माध्यम कहा है कि ये गिद्ध बड़े चले आ रहे हैं और प्राण-रक्षा के लिए अब केवल यही उपाय रह गया है कि तुरन्त झुक जाओ तथा अपने शरीर को ढालों के नीचे छिपा लो अन्यथा ये गिद्ध हमें अपना आहार बना लेंगे। क्योंकि एक तो ये नरभक्षी हैं और दूसरे, इस समय लगता है कि ये अत्यधिक भूखे हैं। यदि हमने अपना बचाव नहीं किया तो निश्चित जानों कि ये हमें खा जाएँगे।

विशेष:

- (1) अप्रत्याशित संकट से उत्पन्न भयत्रस्तता का चित्रण।
- (2) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (3) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (4) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (5) गतिशील भाव-चित्रण।
- (6) भाषा का भावानुकूल रूप।
- (7) आकर्षक अभिनेयता।
- (8) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (9) मनमोहक अभिव्यंजना।

17

लो ये मुड़ गए
 कुरुक्षेत्र की दिशा में (प० 6)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। महाभारत युद्ध के अंतिम दिन की संध्या में जब दो पहरेदार महलों का पहरा देते हुए कौरवों द्वारा मर्यादा और मानव-संस्कृति को नष्ट किए जाने पर चर्चा कर रहे थे तभी रणभूमि के वीर गति को प्राप्त हुए सैनिकों का शवाहार करने के लिए अपरिमित गिद्ध आकाश में मंडराने लगे। उनसे भयभीत होकर दोनों पहरेदार छिपने का उपक्रम कर रहे थे कि तभी पहले पहरेदार ने दूसरे पहरेदार से कहा-

व्याख्या: डॉ. भारती ने पहरेदारों के माध्यम से कहा है कि चलो म त्तु निकट आते-आते वापस लौट गई है, क्योंकि साक्षात् म त्तुरुपी गिद्ध कुरुक्षेत्र की ओर मुड़ गए हैं अर्थात् कुरुक्षेत्र में ही असंख्य वीर मारे गए हैं इसलिए उनका आहार करने के लिए ये गिद्ध उसी ओर को मुड़ गए हैं।

विशेष:

- (1) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (2) आकर्षक लयात्मकता।
- (3) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (4) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (5) गतिशील भाव-चित्रण।
- (6) भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
- (7) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (8) आकर्षक अभिनेयता।

18

मौत जैसे

ऊपर से निकल गई (प० 6)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। अपरिमित गिद्धों के समूह से आकाश आच्छादित हो गया था जिसके कारण कौरव नगरी में अंधकार छा गया। दोनों प्रहरी इन गिद्धों को देखकर भयत्रस्त हो गए, तभी गिद्ध कुरुक्षेत्र की ओर को मुड़ गए। उन्हें मुड़ता देख दूसरा पहरेदार पहले पहरेदार से कहता है-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती ने पहरेदारों के माध्यम से कहा है- तुम ठीक ही कहते हो, ये गिद्ध कब कुरुक्षेत्र की ओर को मुड़ गए हैं और ऐसा लगता है जैसे मौत हमारे ऊपर होकर गुजर गई हो अर्थात् आसन्न म त्तु अब टल गई है।

विशेष:

- (1) भाषा भावोनुकूल है।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।

- (3) प्रसाद-माधुर्य सम्पन्न शैली।
- (4) आकर्षक लयात्मकता।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरमा प्रस्तुति।
- (6) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (7) गतिशील भाव-चित्रण।
- (8) मनमोहक अभिव्यंजना।

19

**अपशकुन है
भयानक वह।
पता नहीं क्या होगा
कल तक
इस नगरी में (प० 6-7)**

प्रसंगः प्रस्तुत नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। अपार गिद्धों के कुरुक्षेत्र की ओर मुड़ते ही दोनों पहरेदारों को जैसे पुर्नजीवन मिल गया था। गिद्धों के कुरुक्षेत्र की ओर मुड़ते ही पहला पहरेदार चिन्तित स्वर में दूसरे पहरेदार से कहता है-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती ने पहरेदारों की वार्तालाप का चित्रण करते हुए कहा है कि कौरवों की नगरी के ऊपर खुले आकाश में गिद्धों का इस प्रकार छा जाना शुभ लक्षण नहीं है। यह तो एक भयानक अपशकुन है। मेरा मन तो अभी से संशयग्रस्त हो रहा है कि कल तक न जाने इस नगरी में क्या होनेवाला है अर्थात् मेरा मन कह रहा है कि कोई बहुत ही अशुभ घटना कौरव-नगरी में घटित होनेवाली है और उसी अमंगल की सूचना ये नरभक्षी गिद्ध दे गए हैं। यह अपशकुन अवश्य ही कोई विकट विपत्ति इस नगर पर लाएगा।

विशेषः

- (1) भाषा सरल, सरस एवं भावोनुकूल है।
- (2) प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (3) आकर्षक लयात्मकता।
- (4) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (5) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (6) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (7) गतिशील भाव-चित्रण।
- (8) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।

20

मैं हूँ
विदुर
देखा ध तराष्ट्र ने?
देखा यह भयानक द श्य? (प० 7)

प्रसंग: प्रस्तुत नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई है। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। गिद्धों के कुरुक्षेत्र की ओर मुड़ते ही पहला प्रहरी कहता है कि यह भयानक अपशकुन है और नगरी के लिए विपत्ति का सूचक है तभी वहाँ पर विदुर महाराज प्रवेश करते हैं। विदुर को पहचान न सकने के कारण पहला प्रहरी जब उनको टोकते हुए उनका परिचय पूछता है तो विदुर कहते हैं।

व्याख्या: साहित्यकार के द्वारा-मैं विदुर हूँ। अभी-अभी जो गिद्धों का अपार समूह आकाश में मंडरा रहा था, क्या उस भयानक द श्य को राजा ध तराष्ट्र ने भी देख लिया है या नहीं, ओह वह कितना भयंकर और अमंगल की सूचना देनेवाला द श्य था।

विशेष:

- (1) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (2) प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (3) आकर्षक लयात्मकता।
- (4) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (5) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (6) गतिशील भाव-चित्रण।
- (7) भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) शब्दों का सुन्दर प्रयोग।

21

देखेंगे कैसे वे?
अन्धे हैं।
कुछ भी क्या देख सके
अब तक
वे? (प० 7)

प्रसंग: प्रस्तुत नाट्य काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई है। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। जब अपार गिद्धों को आकाश में मँडराते और

कुरुक्षेत्र की ओर लौटते हुए भयत्रस्त विदुर ने देखा तो उन्होंने भयभीत होकर प्रहरी से पूछा कि क्या इस अपशकुन की सूचना ध तराष्ट्र तक पहुँचा दी गई है, तब प्रहरी ने प्रत्युत्तर में कहा-

व्याख्या: साहित्यकार के द्वारा कौरव नगरी के ऊपर मँडराते इन अपार गिद्धों को राजा ध तराष्ट्र कैसे देख सकते हैं क्योंकि वह अंधे है अथवा उन तक इस अपशकुन की सूचना पहुँचाने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि वह अविवेकी है और अब तक उनके सारे अविवेकपूर्ण कार्य रहे हैं; जो नहीं होना चाहिए था, अब तक वह वही तो करते रहे हैं। फिर इस अपशकुन की सूचना देने से क्या लाभ है? अर्थात् उन्हें इस प्रकार की सूचना देना निष्प्रयोजन ही है क्योंकि उनके सारे कार्य ही अविवेकपूर्ण रहे हैं।

विशेष:

- (1) 'अंधे हैं' का यहाँ श्लिष्ट प्रयोग है।
- (2) 'देखेंगे कैसे वे अंधे हैं' में काकुवक्रोक्ति शब्दालंकार है।
- (3) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (4) गतिशील भाव-चित्रण।
- (5) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (6) स्पष्ट भावाभिव्यंजन।
- (7) सरल एवं सहज भाषा का सुन्दर प्रयोग।
- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) मनमोहक अभिव्यंजना।

22

**मिलूँगा उनसे मैं
अपशकुन भयानक है
पता नहीं संजय
क्या समाचार लाए आज? (प० 7)**

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य काव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। आकाश में मँडराते गिद्धों को अपशकुन मानकर जब विदुर भयत्रस्त होकर प्रहरी से पूछते हैं कि क्या इस अपशकुन की सूचना ध तराष्ट्र तक पहुँचा दी गई है, तो प्रहरी से उत्तर मिलता है कि वह तो अंधे है, वे इस दृश्य को कैसे देख सकते थे अथवा वह मूर्ख है उन पर इस घटना का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। विक्षुब्ध विदुर तब निराश होकर कहते हैं-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती द्वारा इन गिद्धों का कौरव नगरी के ऊपर इस प्रकार मँडराना एक भयानक अपशकुन है, पता नहीं निकट भविष्य में क्या हो। मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही है इसलिए

में आज ही राजा ध तराष्ट्र से मिलूँगा। उधर कुरुक्षेत्र में आज निर्णायक युद्ध हो रहा है, पता नहीं संजय क्या समाचार लाए? चलो जरा वस्तु स्थिति का पता करूँ।

विशेष:

- (1) युद्ध से विरत गाँधीवादी आदर्शों के प्रतीक विदुर की व्यग्रता और चिंता का चित्रण।
- (2) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली का प्रयोग।
- (3) भावानुकूल भाषा का सहज प्रयोग।
- (4) स्पष्ट भाव-चित्रण।
- (5) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (6) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (7) आकर्षक लयात्मकता।
- (8) गतिशील भाव-चित्रण।
- (9) आकर्षक अभिनेयता।

23

हे कुरुक्षेत्र से कुछ भी खबर न आई
जीता या हारा बचा-खुचा कौरव-दल
जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा
यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल
अन्तःपुर में मरघट की-सी खामोशी
कृश गांधारी बैठी है शीशा झुकाए
सिंहासन पर ध तराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाए। (प० 7)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्यकाव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती हैं। विदुर जब गिद्धों के इस प्रकार कौरव नगरी के ऊपर मंडराने की भयानकता से चिन्तित होकर पूछते हैं कि क्या यह सूचना ध तराष्ट्र तक पहुँचा दी गई है तो प्रहरी कहता है कि वह अविवेकी है उन्हें सूचना देने से कोई लाभ नहीं है। यह सुनकर प्रहरी चले जाते हैं और विदुर अपने स्थान पर ही चिन्तित खड़े रह जाते हैं, तथा नेपथ्य से कथागायन प्रारम्भ हो जाता है।

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती प्रहरी और विदुर की वार्तालाप को प्रकट करते हुए कहा है कुरुक्षेत्र से कोई भी समाचार अब तक नहीं आया है। पता नहीं कौरव पक्ष का बचा-खुचा दल जीत गया या हार गया, अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। आकाश में मंडराता हुआ यह नरभक्षी गिद्धों का समूह न जाने किसके मत शरीर को चीरने के लिए नीचे उतरेगा। कौरवों के महलों में उसी प्रकार की भयानक शांति परिव्याप्त है जैसे श्मशान में छाई रहती है। और उन सूने महलों के एक कक्ष में दुर्बल और अभागिनी गांधारी अपने चिन्ताबोझिल सिर को झुकाए हुए बैठी है। राजसिंहासन पर

क्षुब्धता और चिन्ता से चुप हुए ध तराष्ट्र बैठे हुए हैं तथा संजय युद्ध-क्षेत्र से वापस नहीं लौटे हैं।

विशेष:

- (1) ध तराष्ट्र और गांधारी की शोभाकुलता और चिन्ता का अत्यन्त सशक्त और मार्मिक चित्रण।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (3) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (4) आकर्षक लयात्मकता।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (6) भाषा का सरल एवं सहज प्रयोग।
- (7) गतिशील भाव-चित्रण।
- (8) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
- (9) आकर्षक लयात्मकता।

24

नहीं।

विदुर हूँ

महाराज।

विहवल है सारा नगर आज

बचे-खुचे जो भी दस-बीस लोग

कौरव नगरी में हैं

अपलक नेत्रों से

कर रहे प्रतीक्षा हैं

संजय की

महाराज

चुप क्यों हैं इतने

आप

माता गांधारी भी मौन हैं। (प० 8)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण नाट्य-काव्यात्मक पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित चर्चित कृति 'अंधायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती हैं। गिद्धों को कौरव नगरी के ऊपर मंडराते देख जब चिन्तातुर विदुर इसे एक भयानक अपशकुन समझकर महल में जाकर ध तराष्ट्र के निकट पहुँचते हैं तो ध तराष्ट्र पदचाप सुनकर यह अनुमान लगाते हैं कि सम्भवतः संजय युद्ध क्षेत्र से लौट आए हैं। वह व्याकुल होकर पुकार पुकार उठते हैं, कौन संजय है क्या।

व्याख्या: डॉ. भारती ने ध तराष्ट्र की आतुरता का चित्रण किया है। ध तराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर में

विदुर कहते हैं कि, नहीं मैं विदुर हूँ। महाराज, आज महाभारत युद्ध का निर्णायक दिन है और समस्त नगरवासी निर्णय को जानने के लिए चिन्तित दिखाई दे रहे हैं। कौरव नगरी के अधिकांश लोग तो इस महायुद्ध की बलि चढ़ गए हैं किन्तु जो दस-बीस बचे-खुचे लोग शेष रहे हैं, वे बड़े व्याकुल होकर और निर्निमेष दृष्टि से उस मार्ग पर आँखे लगाए बैठे हैं जिधर से संजय आनेवाले हैं अर्थात् वे संजय के आगमन की प्रतीक्षा इसलिए कर रहे हैं, ताकि उन्हें युद्ध के परिणाम की जानकारी अविलम्ब मिल जाए। विदुर इतना कहकर चुप हो गए किन्तु प्रत्युत्तर में जब धृतराष्ट्र ने मौन ही रखा है तो वह उस मौन को तोड़ने के लिए पुनः बोल पड़े, महाराज क्या बात है, आप आज इतने चुप क्यों हैं? माता गांधारी भी तो नहीं बोल रही हैं। आखिर ऐसी क्या बात हो गई है जो आप दोनों ने चुप्पी धारण कर ली है?

विशेष:

- (1) कवि की मनोवैज्ञानिकता।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (3) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (4) आकर्षक लयात्मकता।
- (5) गतिशील भाव-चित्रण।
- (6) भावानुकूल सहज भाषा का प्रयोग।
- (7) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (8) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।
- (9) अप्रस्तुत भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (10) मनोवैज्ञानिक भावों का सटीक चित्रण।

25

विदुर

जीवन में प्रथम बार

आज मुझे आशंका व्यापी है। (प० 8)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अंधायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। विदुर के आगमन पर जब धृतराष्ट्र चौंककर उन्हें संजय कहकर पुकारते हैं तो विदुर अपना परिचय देते हैं और अंतिम दिन के निर्णायक युद्ध के विषय में नगरवासियों की विह्वलता और आतुरता को स्पष्ट करते हैं, तब पहले तो धृतराष्ट्र मौन रहते हैं किन्तु फिर विदुर के पूछने पर कहते हैं-

व्याख्या: साहित्यकार ने विदुर और धृतराष्ट्र के संवादों का चित्रण करते हुए कहा है विदुर। मैंने जीवन के कितने ही उतर-चढ़ाव देखे हैं किन्तु इस प्रकार की जड़ता मुझमें पहले कभी नहीं आई थी। आज मैं सचमुच बहुत उद्विग्न हो उठा हूँ इसीलिए मैंने मौन धारण कर लिया है, क्योंकि जीवन में पहली बार मुझे भविष्य में घटित होनेवाले अनिष्ट की आशंका और भय का अनुभव हो रहा है

अर्थात् मुझे यह निश्चित प्रतीत हो रहा है कि मेरा वंश अनिष्ट में घिर गया है।

विशेष:

- (1) ध तराष्ट्र के परिज्ञान का चित्रण।
- (2) भावानुकूल मानक हिंदी भाषा का रूप।
- (3) गतिशील भाव-चित्रण।
- (4) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (5) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (6) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (7) आकर्षक लयात्मकता।
- (8) प्रसाद-माधुर्यगुण सम्पन्न शैली।
- (9) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (10) आकर्षक अभिनेयता।

26

आशंका?

आपको जो व्यापी है आज

वह वर्षों पहले हिला गयी थी सबको (प० 8)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अंधा-युग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। जब ध तराष्ट्र अपना मौन तोड़कर यह कहते हैं कि जीवन में पहली बार मुझे भविष्य में घटित होनेवाले अनिष्ट की आशंका ने झकझोर डाला है, तो विदुर उनकी आशंका को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

व्याख्या: साहित्यकार ने विदुर और ध तराष्ट्र की चिन्तातुर स्थिति का चित्रण किया है। हे महाराज, आप जिस आशंका-कुशंका से आज चिन्तित हो रहे हैं, वह तो कई वर्ष पूर्व ही सब लोगों को हिला गयी थी। अर्थात् आपको तो युद्ध के इस निर्णायक दिन में यह आशंका व्यापी है किन्तु अन्य लोग तो उसी दिन कौरव-वंश के समूल नाश का अनुमान कर चुके थे, जब दुर्योधन ने पाण्डवों को सुई की नोक भर भूमि भी बिना युद्ध के देने से अस्वीकार कर दिया और छल से भरे जुए में द्रोपदी को जीतकर उसका अपमान किया था।

विशेष:

- (1) अनागत की आशंका का चित्रण।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (3) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (4) मनमोहक अभिव्यंजना।

- (5) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (6) गतिशील भाव-चित्रण।
- (7) भाषा का सरल एवं सरस प्रयोग।
- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) सुन्दर अभिनेयता।

27

पहले पर कभी भी तुमने यह नहीं कहा (प० 8)

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्ति महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अंधायुग' से उद्धृत की गई है। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। जब विदुर ध तराष्ट्र की इस आशंका को स्पष्ट करते हैं कि कौरवों का विनाश अवश्यम्भावी है तो ध तराष्ट्र आश्चर्य मिश्रित खेद प्रकट करते हुए कहते हैं-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती द्वारा किन्तु विदुर। जब तुम्हें यह मालूम था कि भविष्य में क्या घटित होने वाला है तब तुमने मुझसे पहले कभी इस तथ्य को क्यों नहीं बताया? अर्थात् जब तुम यह जानते थे कि कौरवों पर निकट भविष्य में अनिष्ट के बादल मंडराने वाले हैं तब तुमने यह सत्य मुझ पर क्यों नहीं प्रकट किया, मुझसे क्यों इस सत्य को छिपाते रहे?

विशेष:

- (1) गतिशील भाव चित्रण।
- (2) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (3) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (4) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (5) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (6) प्रसाद-माधुर्य गुण सपन्न शैली।
- (7) भाषा का भावानुकूल प्रयोग।
- (8) आकर्षक अभिनेयता।
- (9) मनोवैज्ञानिक विचारधारा का चित्रण।

28

भीष्म ने कहा था,
गुरु द्रोण ने कहा था,
इसी अन्तःपुर में
आकर कृष्ण ने कहा था-

**‘मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर - सी
गुजलिका में कौरव-वंश को लपेटकर
सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।’ (प० 8-9)**

प्रसंगः प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य ‘अन्धायुग’ से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। विदुर के यह कहने पर कि कौरवों के अनिष्ट की आशंका तो कई वर्ष पहले ही लोगों को हो गयी थी, धृतराष्ट्र ने पूछा कि फिर तुमने मुझे इस सत्य से क्यों नहीं परिचित कराया, तब विदुर कहते हैं-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती के द्वारा कि विदुर के यह कहने पर कि कौरवों के अनिष्ट की आशंका तो कई वर्ष पहले हो चुकी थी। जब जुए में द्रोपदी को जीतकर दुर्योधन ने उसको नग्न करने का प्रयास किया था तब भीष्म पितामह ने स्पष्ट कहा था कि मर्यादा को तोड़ना अनिष्टकारी है। उनके साथ ही कई बार गुरु द्रोणाचार्य ने भी दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न किया था। क्या यह घटना आपके सामने नहीं घटी थी? इतना ही नहीं, इसी अन्तःपुर में जहाँ आप इस समय विराजमान हैं, भरी सभा में पाण्डवों के दूत के रूप में श्रीकृष्ण ने आकर कहा था कि दुर्योधन! मानव-मर्यादा का उल्लंघन न करो क्योंकि तोड़ी हुई मर्यादा कुचले गए अजगर की भाँति तुम्हें निचोड़ डालेगी। अर्थात् जिस प्रकार कुचला हुआ अजगर क्रोधित हो कर अपने फन की लपेट में पड़ी सूखी लकड़ी को टुकड़े-टुकड़े कर डालता है, उसी प्रकार उल्लंघित मर्यादा भी समूचे कौरव वंश को विनष्ट कर अपने उदर में लील जाएगी। क्या यह कौरव-वंश के भावी विनाश का सूचक तथ्य न था?

विशेषः

- (1) अंतिम पंक्तियों में उपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।
- (2) मर्यादा की महत्ता और आचरण की शुद्धता का प्रतिपादन हुआ है।
- (3) आदर्शवादिता पर बल दिया गया है।
- (4) सूक्ष्म भावों की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है।
- (5) भाषा सरल एवं भावोनुकूल है।
- (6) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (7) गतिशील भाव-चित्रण।
- (8) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (9) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।

29

**समझ नहीं सकते हो
विदुर तुम।
मैं था जन्मान्ध।**

कैसे कर सकता था।

ग्रहण में

बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को? (प० 9)

प्रसंगः प्रस्तुत पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अंधायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। धृतराष्ट्र अपने अंधेपन की आड़ लेकर कहते हैं कि विदुर में अंधा होने के कारण बाहरी यथार्थ अर्थात् सामाजिकता को पहचान नहीं पाया इसी कारण युद्ध की विभिषिका को नहीं रोक पाया और युद्ध करने की अनुमति दे दी। तब विदुर उस पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं।

व्याख्याः साहित्यकार के द्वारा आपका यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि जन्मान्ध होने के कारण तुम्हें बाहरी यथार्थ और सामाजिक मर्यादा का ज्ञान नहीं था। वास्तविकता तो यह है कि जब आप अपने अंधेपन के बावजूद इस संसार को मोह, माया, ममता और जीवेषणा को ग्रहण कर सकते हैं, एक पक्ष के प्रति अनिष्ट भावना और दूसरे के हित को संरक्षण प्रदान कर सकते हैं। अर्थात् आपने अपने पुत्रों की हित-कामना के पीछे यह भी भुला दिया कि इससे पाण्डवों को क्या कष्ट मिल रहे हैं। इस प्रकार आपने स्वयं ही मर्यादा का उल्लंघन किया है। यदि आप इस स्वार्थ भाव से प्रेरित न होते तो यह महाभारत युद्ध होता ही नहीं और न आपका वंश निर्मूल होता। यह दुष्कर्म तो आपके ही हाथों सम्पन्न हुआ है।

विशेषः

- (1) धृतराष्ट्र के निहित स्वार्थों का चित्रण।
- (2) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (3) गतिशील भाव-चित्रण।
- (4) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (5) आकर्षक लयात्मकता।
- (6) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (7) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
- (8) आकर्षक अभिनेयता।
- (9) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली का प्रयोग।
- (10) भाषा का भावोनुकूल रूप।

30

“पर वह संसार

स्वतः अपने अन्धेपन से उपजा था।

मैंने अपने वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था

केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत्

इन्द्रजाल की माया-सृष्टि के समान

घने गहरे अँधियारे में

एक काले बिन्दु से

मेरे मन ने सारे भाव किये थे विकसित
मेरी सब व त्तियों उसी से परिचालित थीं।
मेरा स्नेह, मेरी घ णा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था।
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदंड था ही नहीं।
कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे।
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी,
मर्यादा थी।” (प० १)

शब्दार्थ: सम्बेदन-वेदना, बोध, अनुभव; व त्तियों-स्वभाव, आदत।

प्रसंग: प्रस्तुत पद्यावतरण कविवर धर्मवीर द्वारा प्रणीत ‘अन्धायुग’ से उद्ध त है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ध तराष्ट्र के अन्धेपन और उसकी अन्धी, लोभी, स्वार्थी मानसिकता का प्रकाशन किया है।

व्याख्या: ध तराष्ट्र विदुर से कहते हैं कि उन्होंने जिस स्वार्थ और लोभ के संसार का निर्माण किया है वह उसके शारीरिक और मानसिक अन्धेपन की देन है। ध तराष्ट्र कहते हैं कि मैंने अपने बोध अथवा अनुभव के आधार पर बाहरी वस्तुओं का जितना ज्ञान प्राप्त किया केवल वही मेरा संसार है। मेरे द्वारा निर्मित संसार किसी मायावी द्वारा रचित मायाजाल के समान है जो वास्तविक न होकर भ्रममात्र है। मेरे मन के किसी अंधेरे कोने में स्थित विकृति रूपी काले बिन्दु ने मेरे मन में लोभ, मोह और स्वार्थ आदि की प्रव त्तियों को जन्म दिया और मेरा सारा स्वभाव इन्हीं प्रव त्तियों से परिचालित होने लगा। ध तराष्ट्र कहते हैं कि मेरा स्नेह, घ णा, धर्म, नीति आदि व त्तियों मेरी व्यक्तिगत उपज हैं क्योंकि अन्धा होने के कारण बाह्य जगत् को देखने-समझने का अवसर ही नहीं मिला। ध तराष्ट्र आगे कहते हैं कि कौरव मेरी स्थूल काया से उत्पन्न थे, अतः मेरी सारी ममता उन्हीं को समर्पित थी। मेरी ममता ही कौरवों के प्रति मेरे समस्त आचरण को परिचालित करती थी क्योंकि वे मेरे लिए अन्तिम सत्य थे।

भावार्थ: मोहान्ध ध तराष्ट्र की ममता का उद्घाटन किया गया है जो उसके समस्त आचरण और व त्तियों को परिचालित करती थी तथा जो कौरवों के प्रति पूरी तरह समर्पित थी।

विशेष:

- (1) ममता का मोहक चित्रण।
- (2) आकर्षक अभिनेयता।
- (3) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (4) भावानुकूल भाषा-प्रयोग।
- (5) मनोरम अभिव्यंजना।
- (6) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्नता।
- (7) अनुकरणीय लयात्मकता।
- (8) अप्रस्तुत की सुन्दर प्रस्तुति
- (9) आकर्षण बिम्ब-विधान
- (10) तद्भव बहुल शब्द-चयन।

31

“लेकिन अन्धी नहीं थी मैं।
 मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत् अच्छी तरह जाना था
 धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडम्बर मात्र,
 मैंने यह बार-बार देखा था।
 निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
 व्यर्थ सिद्ध होते आए हैं सदा
 हम सबके मन में कही एक अन्ध गहर है।
 बर्बर पशु, अन्धा पशु वास वहीं करता है,
 स्वामी जो हमारे विवेक का
 नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
 यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें
 जिनमें कटे कपड़ों की आँखे सिली रहती है
 मुझे इस झूठे आडम्बर से नफरत थी
 इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों
 पर पट्टी चढ़ा रखी थी।” (प० 12)

शब्दार्थ: गहर-गुफा।

प्रसंग: प्रस्तुत अवतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा रचित ‘अन्धायुग’ से उद्धृत है। प्रस्तुत पंक्तियों में गांधारी धर्म, नीति, मर्यादा आदि पर व्यंग्य करते हुए इनको निरर्थक और धोखा बतलाती हैं।

व्याख्या: गांधारी धर्मतराष्ट्र और विदुर से कहती हैं कि मैं अन्धी नहीं थी और मैंने इस बाह्यजगत् का भली प्रकार अध्ययन किया है। मैंने अपने जीवन-काल में बार-बार देखा है। धर्म, नीति और मर्यादा केवल दिखावटी वस्तुएँ हैं, उनमें तत्त्व नहीं है। जब किसी कार्य में निर्णय का समय आता है तो विवेक और मर्यादा उस कठिन परिस्थिति में अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। हम सबके अन्दर विकृति की एक अन्धी गुफा है। उस गुफा में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का क्रूर, हिंसक और अन्धा पशु निवास करता है। गांधारी धर्मतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहती है कि वास्तव में काम, क्रोध, मोह आदि प्रवृत्तियाँ ही मानव के स्वरूप को रूपायित करती हैं। नैतिकता, मर्यादा, कृष्णार्पण जैसे उदात्त भाव वास्तव में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से ग्रसित मानव के आवरण हैं; जिनको धारण करके मानव अपनी विकृतियों पर पर्दा डाल लेता है। गांधारी कहती है कि मुझे मानव के ऐसे झूठे और नकली स्वरूप से घृणा है। मैं मानव के ऐसे नकली और झूठे स्वरूप को देखना नहीं चाहती इसलिए मैंने स्वेच्छा से अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी है।

भावार्थ: प्रस्तुत पंक्तियों में मानव के उस स्वरूप को झूठा और धोखा बतलाया गया है जिसमें वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकृतियों से परिचालित होता है और नैतिकता, मर्यादा, धर्म, कृष्णार्पण आदि उदात्त भावों को विकृतियों पर परदा डालने के लिए ऊपर से धारण करता है।

विशेष:

- (1) मानवीय प्रवृत्तियों का चित्रण।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।

- (3) मनोरम अभिनेयता।
- (4) भावानुकूल भाषा।
- (5) संवादात्मक शैली।
- (6) आकर्षक लयात्मकता।
- (7) सुन्दर प्रस्तुति।
- (8) मनभावन अभिव्यंजना।
- (9) अनुकरणीय बिम्ब-विधान।
- (10) सरल शब्द-चयन।

32

“माता मत कहो मुझे
 तुम जिसको कहते हो प्रभु
 वह भी मुझे माता ही कहता है।
 शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों-सा
 मेरी पसलियों में धँसता है।
 सत्रह दिन के अन्दर
 मेरे सब पुत्र एक-एक कर मारे गये
 अपने इन हाथों से
 मैंने उन फूल-सी वधुओं की कलाइयों से
 चूड़ियाँ उतारी हैं
 अपने इन आँचल से
 सिंदूर की रेखाएँ पोंछी है।” (प० 13-14)

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर धर्मवीर भारती द्वारा रचित ‘अन्धायुग’ से उद्धृत हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में गांधारी के शोक और युद्धजन्य स्थिति का मार्मिक उद्घाटन किया गया है।

व्याख्या: विदुर गांधारी को माता कहता है तो गांधारी ‘माता’ शब्द को सुनकर कुपित हो जाती है तथा विदुर को मना करती है कि वह उन्हें माता नहीं कहे। गांधारी कहती है कि कौरवों के विनाश के पीछे जिस मायावी कृष्ण का हाथ है वह भी उसे ‘माता’ कहकर सम्बोधित करता था। गांधारी कहती है कि इस शब्द मान की रक्षा किसी ने नहीं की इसलिए यह शब्द जलते हुए लोहे की सलाखों-सा उनकी पसलियों में धँसता है। कहने का तात्पर्य है कि यह शब्द उन्हें संतप्त और संत्रस्त करता है। महाभारत के इस युद्ध में उनके सभी वीर पुत्र एक-एक करके मारे गए। पुत्रों के मारे जाने के पश्चात् विधवा हुई पत्नियों की कलाइयों से चूड़ियाँ उतार ली गईं जो उनके सौभाग्य और मंगल का प्रतीक थी। गांधारी कहती है कि चूड़ियाँ उतारने के साथ-साथ मैंने आँचल से बहुओं की माँग में पड़े सिंदूर को पोंछ दिया। कहने का आशय यह है कि सभी उसे माता कहते थे, लेकिन युद्ध में उसे नुकसान पहुँचाने से कोई पीछे नहीं रहा।

भावार्थ: प्रस्तुत पंक्तियों में गांधारी के शोक का उद्घाटन किया गया है तथा युद्ध के दुष्परिणामों

पर प्रकाश डालने के साथ यह बतलाया गया है कि युद्ध में अपना हित ही सर्वोपरि होता है।

विशेष:

- (1) युद्धजन्य भीषण परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण।
- (2) सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
- (3) भावानुकूल भाषा।
- (4) संबोधनात्मक शैली।
- (5) आकर्षण लयात्मकता।
- (6) सुन्दर अभिव्यंजना।
- (7) उत्तम बिम्ब-विधान।
- (8) श्रेष्ठ अभिनेयता।
- (9) सरल सहज शब्द-चयन।
- (10) सलाखों-सा, फूलों-सी में
- (11) उपमा अलंकार

33

“सहसा एक व्यक्ति
ऐसा आया जो सारे
नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।
उसने रणभूमि में
विषादग्रस्त अर्जुन से कहा-
मैं हूँ परात्पर।
जो कहता हूँ करो
सत्य जीतेगा
मुझसे लो सत्य, मत डरो।” (प० 15)

शब्दार्थ: विषादग्रस्त-शोकग्रस्त, परात्पर-ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ।

प्रसंग: प्रस्तुत पद्यांश कविवर धर्मवीर भारती द्वारा विरचित ‘अन्धायुग’ से अवतरित है। प्रस्तुत पंक्तियों में कृष्ण की महत्ता को रेखांकित किया गया है तथा अपने सभी भावों को कृष्णार्पित करने की प्रेरणा दी गई है।

व्याख्या: याचक ध ताराष्ट्र से कहता है कि युद्ध के सम्बन्ध में उसके द्वारा की गई सभी भविष्यवाणियाँ पहली बार झूठी साबित हुईं। याचक कहता है कि उसने ग्रह-नक्षत्रों की गति और दिशा को देखकर अपनी भविष्यवाणी की थी, लेकिन तभी एक ऐसा व्यक्ति आया जो नक्षत्रों की गति से भी अधिक शक्तिशाली था। कहने का आशय यह है कि उसकी शक्ति ने नक्षत्रों की गति और दिशा

को परिवर्तित कर अपने पक्ष में कर लिया। उस व्यक्ति ने युद्ध क्षेत्र में शोकग्रस्त अर्जुन को कहा कि मैं ईश्वर हूँ। हे अर्जुन! जो मैं कहता हूँ तुम वैसा ही करो। दोनो पक्षों के मध्य चल रहे इस संग्राम में सत्य की विजय होगी। तुम मुझसे सत्य ग्रहण करो और निडर होकर सत्य को विजयी बनाने में जुट जाओ। इस प्रकार उस व्यक्ति की प्रेरणा ने शोकग्रस्त अर्जुन नवीन ऊर्जा का संचार कर उसे सत्य की प्राप्ति के लिए भीषण युद्ध करने के लिए प्रेरित किया।

विशेष:

- (1) सत्य की विजय का चित्रण।
- (2) कृष्ण जिधर, सत्य उधर, विजय उधर।
- (3) श्रेष्ठ अभिनेयता।
- (4) उत्तम लयात्मकता।
- (5) अनुकरणीय बिम्ब-विधान।
- (6) सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
- (7) सरल बोधगम्य शब्दावली।
- (8) भावानुकूल भाषा।
- (9) जीवनोपयोगी भाव।
- (10) संबोधनात्मक शैली।
- (11) श्रेष्ठ काव्यात्मकता।

34

“जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।
नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित-
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।” (प० 15-16)

शब्दार्थ: अनासक्त-विरक्त, तटस्थ; नियति-भाग्य।

प्रसंग: प्रस्तुत पद्यांश कविवर धर्मवीर भारती द्वारा प्रणीत ‘अन्धायुग’ से अवतरित है। प्रस्तुत पद्यांश में बतलाया गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है।

व्याख्या: याचक गांधारी, विदुर आदि से कहता है कि उसके द्वारा की गई समस्त भविष्यवाणियों झूठी साबित हुई क्योंकि किसी व्यक्ति ने नक्षत्रों की गति और दिशा को बदल दिया। वह नक्षत्रों की गति को बदल कर भविष्य को अपने पक्ष में करनेवाला शक्तिशाली पुरुष प्रभु थे या नहीं यह तो मुझे पता नहीं लेकिन एक बात स्पष्ट है कि जब कोई मनुष्य तटस्थ और निर्लिप्त भाव से इतिहास को चुनौती देता है, उस दिन नक्षत्रों की दिशा भी परिवर्तित हो जाती है। बलशाली व्यक्ति को चुनौती की प्रबलता शक्तिशाली नक्षत्रों की दिशा को भी परिवर्तित कर अपने पक्ष में कर लेती

है। मनुष्य का भाग्य पूर्व-निर्धारित नहीं है अपितु मानव का निर्णय उसके भाग्य का निर्माता है। कहने का आशय है कि मनुष्य भाग्य के वशीभूत नहीं है अपितु शक्तिशाली, समर्थ व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से नक्षत्रों की दिशा को परिवर्तित कर भाग्य को अपने काबू में कर लेता है।

विशेष:

- (1) समर्थ और बलशाली व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होता है।
- (2) गतिशील व उपयोगी भाव।
- (3) सरल सहज भाषा।
- (4) प्रसाद-माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
- (5) आकर्षक बिम्ब-विधान।
- (6) मनोरम लयात्मकता।
- (7) अनुकूल भाव प्रवणता।
- (8) सरल व्यावहारिक शब्दावली।
- (9) आकर्षण अभिव्यंजना।

35

जो शुभ था, कोमलतम था,
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने कर दी
धर्मराज होकर वे बोले-
'नर या कुँजर'
मानव को पशु से
उन्होंने पथक् नहीं किया
उस दिन मैं हूँ
पशुमात्र, अन्ध बर्बर पशु
किन्तु आज मैं भी एक अन्धी गुफा में हूँ भटक गया
गुफा यह पराजय की।"

शब्दार्थ: भ्रूण-गर्भ; कुँजर-हाथी; बर्बर-जंगली।

प्रसंग: प्रस्तुत पद्यावतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा प्रणीत 'अन्धायुग' से अवतरित है। इसमें युधिष्ठिर द्वारा बोले गए अर्द्धसत्य के प्रति अश्वत्थामा के आक्रोश का चित्रण किया गया है।

व्याख्या: अश्वत्थामा युधिष्ठिर के द्वारा बोले गए अर्द्धसत्य पर कुपित है। अश्वत्थामा कहता है कि युधिष्ठिर के कारण उसके अपराजेय पिता की हत्या हो गई। अश्वत्थामा कहता है-उसके पिता की हत्या ने उसको हिंसक और बर्बर बना दिया है। अश्वत्थामा के अन्दर पनम रहे शुभ और कोमल भावों की जन्म लेने से पूर्व गर्भ में ही हत्या हो गई। इन कोमल और शुभ भावों की हत्या का कारण युधिष्ठिर का अर्द्धसत्य है। युधिष्ठिर ने कहा कि अश्वत्थामा मारा गया 'नर' था या

‘हाथी’। धर्मराज होकर भी उन्होंने नर और पशु में कोई भेद नहीं किया। जब कि उन्हें स्पष्ट बतलाना चाहिए था कि नर मारा गया था या हाथी मारा गया। युधिष्ठिर की वाणी में गहन आस्था रखनेवाले गुरु द्रोण ने पुत्र-शोक से व्याकुल होकर अपने हथियार रख दिए और पापी धृष्टद्युम्न ने गुरु द्रोण का वध कर दिया। अश्वत्थामा कहता है पिता की मृत्यु से आहत वह अब केवल जंगली पशु मात्र रह गया है क्योंकि उसके अन्दर की सभी मानवीय भावनाओं की भ्रूण-हत्या हो गई है। अश्वत्थामा कहता है कि मैं अब भी पराजय की अन्धी गुफा में भटक रहा हूँ।

विशेष:

- (1) युद्ध में स्वार्थ के वशीभूत छल-कपट का आचरण किया जाता है।
- (2) युद्ध में प्रयुक्त छल और कपट के आचरण का चित्रण।
- (3) युद्ध मानवीय संवेदनाओं को कुचल कर बर्बर पशु बना देता है।
- (4) ‘पशुमात्र’, ‘अन्ध बर्बर पशु’ में रूपक का प्रयोग है।
- (5) ‘अन्धी गुफा’ विकृति का प्रतीक है।
- (6) सरल, गतिशील भाव।
- (7) सुन्दर अभिनेयता।
- (8) आकर्षक बिम्ब-विधान।
- (9) मनोहर अभिव्यंजना।
- (10) सुन्दर लयात्मकता।
- (11) मनभावन प्रस्तुति।
- (12) सरल, शब्द-चयन।
- (13) प्रसाद गुणसम्पन्न शैली।

36

जीवित रहूँगा मैं
 अन्धे बर्बर पशु-सा
 वाणी हो सत्य धर्मराज की
 मेरी इस पसली के नीचे
 दो पंजे उग आयें
 मेरी ये पुतलियाँ
 बिन दाँतों के चोथ खायें
 पाये जिसे!
 वध, केवल वध, केवल वध
 अंतिम अर्थ बने
 मेरे अस्तित्व का।”

प्रसंग: प्रस्तुत अवतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धायुग' से अवतरित है। इसमें कवि ने युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य से कुपित अश्वत्थामा के बर्बर, क्रूर रूप का उद्घाटन किया है।

व्याख्या: युधिष्ठिर के द्वारा बोले गए अर्द्धसत्य से गुरु द्रोण की हत्या हो जाती है। अपने पिता गुरु द्रोण की हत्या को देखकर अश्वत्थामा अपना मानसिक सन्तुलन को खो देता है। दुःखी अश्वत्थामा के मन में आत्महत्या का विचार आता है, लेकिन वह आत्महत्या के विचार का परित्याग कर एक क्रूर और बर्बर पशु के रूप में जीवन जीने का निश्चय करता है। धर्मराज युधिष्ठिर ने घोषणा की थी कि अश्वत्थामा मारा गया नर है या हाथी। अश्वत्थामा कहता है कि युधिष्ठिर ने धर्मराज होकर भी नर और पशु में कोई भेद नहीं किया। इसलिए अब मैं भी पशु बनकर ही अपने जीवन को जीऊँगा और इस प्रकार युधिष्ठिर की वाणी भी सत्य हो जाएगी। प्रतिहिंसा की आग में जल रहा अश्वत्थामा कहता है कि मेरी पसली के नीचे दो पंजे उग आएँ। वह कामना करता है कि मेरी पुतलियाँ जिसे भी पाये बिना दाँतों के ही चबा जाएँ। बदला लेने की प्रबल भावना से संचालित अश्वत्थामा प्रतिज्ञा करता है कि मेरे जिन्दा रहने का एकमात्र लक्ष्य विपक्षियों का वध है।

भावार्थ: युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए छल-कपट का आचरण सामान्य बात है, लेकिन ऐसा आचरण दूसरे व्यक्ति की कोमल भावनाओं की हत्या कर उसे भी छली, कपटी, क्रूर और बर्बर बना देता है। इस प्रकार युद्ध में मानवीय कोमल और शुभ पक्षों की हत्या हो जाती है।

विशेष:

- (1) युद्ध में कोमल भावनाओं की हत्या हो जाती है तथा क्रूर, बर्बर शक्तियाँ सक्रिय हो जाती हैं।
- (2) आहत व्यक्ति की मनोव्यथा का मार्मिक प्रकाशन किया गया है।
- (3) 'अन्धे बर्बर पशु-सा' में उपमा अलंकार का प्रयोग है।
- (4) सरल, गतिशील भाव।
- (5) सुन्दर अभिनेयता।
- (6) आकर्षण बिम्ब-विधान।
- (7) मनोहर अभिव्यंजना।
- (8) सुन्दर लयात्मकता।
- (9) मनभावन प्रस्तुति।
- (10) सरल शब्द-चयन।
- (11) प्रसाद गुणसम्पन्न शैली।

37

“आज इस पराजय की बेला में
सिद्ध हुआ

झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की
केवल कर्म सत्य है
मानव जो करता है, इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का।
इसीलिये उसने कहा
अर्जुन
उठाओ शस्त्र
विगतज्वर युद्ध करो
निष्क्रियता नहीं
आचरण नहीं
मानव-अस्तित्व की सार्थकता है।”

शब्दार्थ: निहित-स्थापित; विगतज्वर-अतीत की मानसिक व्यथा।

प्रसंग: प्रस्तुत पद्यावतरण कविवर धर्मवीर भारती प्रणीत 'अन्धायुग' से उद्धृत है। इसमें कवि ने बतलाया है कि मानव का भविष्य उसके कर्मों पर अवलम्बित है।

व्याख्या: भविष्यवक्ता व द्ध याचक स्वयं से कहता है कि भविष्य के बारे में भविष्यवाणी करना बेकार है। वह फिर कहता है कि दुर्योधन की पराजय से यह सिद्ध हो जाता है कि भविष्य के बारे में कोई भी पूर्वानुमान झूठा साबित होता है। मानव का भविष्य उसके द्वारा किए गए कर्मों पर अवलम्बित होता है। मानव वर्तमान में जैसे कर्म करेगा उसका भविष्य भी वैसा ही बनेगा। इसीलिए कृष्ण भगवान ने अर्जुन को अतीत की समस्त मानसिक व्यथा को भूलकर कर्म करने के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने अर्जुन को कहा कि शस्त्र उठाओ और अपने कर्म करो क्योंकि कर्म में सक्रियता में ही मानव के जीवन की सच्ची सार्थकता है। कहने का आशय है कि मनुष्य के कर्म ही उसके भविष्य का निर्धारण करते हैं।

भावार्थ: मनुष्य का भविष्य उसके कर्मों पर अवलम्बित है। मनुष्य जैसे कर्म करेगा उसका भविष्य भी वैसा ही बनेगा। निष्क्रिय जीवन निरर्थक है। मानव-जीवन की सार्थकता सक्रियता में है।

विशेष:

- (1) मानव को अच्छे कर्मों में प्रवृत्त होने का संदेश दिया गया है।
- (2) मानव-जीवन की सार्थकता कर्म करने में है।
- (3) मानव का भविष्य उसके कर्मों पर अवलम्बित है।
- (4) गतिशील उपयोगी भाव।
- (5) सरल सहज भाषा।
- (6) प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली।
- (7) आकर्षण बिम्ब-विधान।
- (8) मनोरम लयात्मकता।

- (9) अनुकूल भाव प्रवणता।
- (10) सरल व्यावहारिक शब्दावली।
- (11) आकर्षण अभिव्यंजना।

38

“मेरा अपराध सिर्फ इतना है
सत्य पर रहा मैं दढ़
द्रोण भीष्म
सबके सब महारथी
नहीं जा सके
दुर्योधन के विरुद्ध
फिर भी मैंने कहा
पक्ष मैं असत्य का नहीं लूँगा
मैं भी हूँ कौरव
पर सत्य बड़ा है कौरव-वंश से।”

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर धर्मवीर भारती द्वारा विरचित ‘अन्धायुग’ से ली गई हैं। इसमें युयुत्सु बतलाता है कि सत्य और असत्य में से सत्य ही वरेण्य है।

व्याख्या: धृतराष्ट्र पुत्र युयुत्सु कहता है कि कौरवों के राजमहल में आज मेरी उपेक्षा हो रही है। जबकि मेरा अपराध केवल इतना ही है कि मैंने सत्य और असत्य में से सत्य को ग्रहण किया। द्रोण, भीष्म जैसे बड़े-बड़े योद्धा भी यह जानते हुए कि सत्य किधर है उस ओर नहीं जा सकें। उन्होंने असत्य का ही पक्ष लेने का निर्णय किया। लेकिन मैंने यह दढ़ निश्चय कर लिया था कि मैं असत्य का पक्ष नहीं लूँगा। युयुत्सु कहता है कि वह भी कौरव है, लेकिन सत्य समस्त कौरव-वंश से बड़ा है। कहने का तात्पर्य है कि सत्य और कौरव-वंश में से सत्य ही श्रेष्ठ और वरेण्य है।

भावार्थ: कहने का आशय है कि सत्य और असत्य में से सत्य श्रेष्ठ और ग्रहणीय है क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर है।

विशेष:

- (1) सत्य की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।
- (2) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (3) मनोरम अभिनेयता।
- (4) भावानुकूल भाषा।
- (5) संवादात्मक शैली।
- (6) आकर्षण लयात्मकता।

- (7) सुन्दर प्रस्तुति।
- (8) मनभावन अभिव्यंजना।
- (9) अनुकरणीय बिम्ब-विधान।
- (10) सरल शब्द-चयन।

39

“धुआँ, लपट, लोये, घायल घोड़े, टूटे रथ
रक्त मेद, मज्जा, मुण्ड,
खंडित कबन्धों में
टूटी पसलियों में
विचरण करता था अश्वत्थामा
सिंहनाद करता हुआ
नररक्त से वह तलवार उसके हाथों में
चिपक गई थी ऐसे
जैसे वह उगी हो
उसी के भुजमूलों से।”

शब्दार्थ: मेद-चरबी; मज्जा-हड्डी के भीतर का गूदा; मुण्ड-सिर; काबन्ध-बिना सिर का धड़; लोये-लोग।

प्रसंग: अश्वत्थामा ने बचे हुए कौरव वीरों कृपाचार्य और कृतवर्मा के साथ पाण्डवों के शिविर पर रात को आक्रमण कर दिया। रात के अन्धकार में गहरी निद्रा में लीन बच्चों, व द्वाँ, स्त्रियाँ और वीरों को अश्वत्थामा तथा उसके साथियों ने मौत के घाट उतार दिया। पाण्डव शिविरों में आग लगी है तथा धुआँ उठ रहा है। चारों तरफ घायल घोड़े, टूटे रथ, रक्त, चरबी, मज्जा, कटे हुए सिर, बिना सिर के धड़ और टूटी पसलियाँ दिखाई दे रही हैं। इन सब वस्तुओं के मध्य प्रतिहिंसा की प्रतिमूर्ति अश्वत्थामा सिंहनाद करता हुआ विचरण कर रहा है। जिन व्यक्तियों का उसने वध किया है, उनका रक्त सूख गया है और उसके सूखने के कारण अश्वत्थामा की तलवार उसके हाथों से चिपक गई है। उसके हाथों से रक्त से चिपकी तलवार ऐसे प्रतीत हो रही है जैसे वह उसके कन्धों से उगी हो।

भावार्थ: प्रतिहिंसा की भीषण आग में जलते अश्वत्थामा की क्रूरता और बर्बरता का चित्रण किया गया है। युद्ध इसी प्रकार क्रूरता और बर्बरता का नियामक होता है।

विशेष:

- (1) अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा का सशक्त निरूपण किया गया है।
- (2) युद्ध से उत्पन्न विकट, भयंकर परिस्थिति का मार्मिक अंकन किया गया है।
- (3) उदाहरण अलंकार का प्रयोग है।

- (4) पुरुष शब्दावली के द्वारा युद्धोपरान्त की भयंकरता का सजीव चित्रण किया गया है।
- (5) आकर्षण अभिनेयता।
- (6) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (7) भावानुकूल भाषा-प्रयोग
- (8) मनोरम अभिव्यंजना
- (9) प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्नता।
- (10) अनुकरणीय लयात्मकता
- (11) अप्रस्तुत की सुन्दर प्रस्तुति
- (12) आकर्षक बिम्ब-विधान।
- (13) तद्भव बहुल शब्द-चयन

40

“मैं हूँ व्यास
 ज्ञात क्यों तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का।
 यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ तो नरपशु।
 तो आगे आनेवाली सदियों तक
 पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
 शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
 सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी
 जो कुछ भी ज्ञात संचित किया है मनुष्य ने
 सतयुग में, त्रेता में, द्वार में
 सदा-सदा के लिये होगा विलीन वह
 गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
 नदियों में बह-बह कर आयेगी पिघली आग।”

शब्दार्थ: ब्रह्मास्त्र-मंत्र के बल से चलने वाला अस्त्र; विकलांग-अपंग, जिसका कोई अंग खराब हो; कुष्ठग्रस्त-कोढ़ग्रस्त।

प्रसंग: विवेच्य अवतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा विरचित ‘अन्धायुग’ से अवतरित है। इसमें कवि ने ब्रह्मास्त्रों के प्रयोगों के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है।

व्याख्या: अश्वत्थामा सोये हुए पाण्डव योद्धाओं का रात के गहन अन्धकार में वध कर देता है। कृष्ण और अर्जुन अश्वत्थामा से उसके इस कृत्य का बदला लेना चाहते हैं। क्रोधित अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर देता है। व्यास अश्वत्थामा को ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के दुष्परिणामों से अवगत करते हुए कहते हैं कि हे अश्वत्थामा! तुम्हें ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के बुरे परिणामों के बारे में कुछ भी पता नहीं। हे नर के रूप में पशु अश्वत्थामा! यदि ब्रह्मास्त्र ठीक लक्ष्य पर पड़ गया तो सदियों तक पृथ्वी पर रसमय वनस्पति पैदा नहीं होगी। जो शिशु पैदा होंगे वे भी अपंग और कोढ़ग्रस्त होंगे। ब्रह्मास्त्र

के प्रयोग से सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी। मनुष्य ने सतयुग, त्रेता युग और द्वापर युग में जो भी ज्ञान अर्जित किया है वह समस्त ज्ञान नष्ट हो जाएगा। पथ्वी ज्ञान-विज्ञान से रहित हो जायेगी। गेहूँ की बालों से भयंकर विषधर फुफकारेंगे। नदियों में शीतल जल की अपेक्षा पिघली हुई आग बहेगी। कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्मास्त्रों के प्रयोग से पथ्वी का समस्त वर्तमान स्वरूप नष्ट हो जाएगा।

भावार्थ: आग्नेय अस्त्रों और ब्रह्मास्त्र का प्रयोग मानव के लिए हितकर नहीं है। अतः मनुष्य को इनके प्रयोग से सदा बचना चाहिए।

विशेष:

- (1) आग्नेय अस्त्र और ब्रह्मास्त्र पथ्वी की समस्त रसमयता को नष्ट कर देंगे, सम्पूर्ण मानव जाति को अपंग और कोढ़ग्रस्त बना देंगे। अतः इनसे सचेत रहना चाहिए।
- (2) युद्ध मानव के लिए कभी भी हितकर नहीं होता। युद्ध अभिशाप है इससे बचना चाहिए।
- (3) 'नरपशु' में रूपक अलंकार का प्रयोग है।
- (4) 'नदियों में बह-बहकर कर.....' में रूपक अलंकार का प्रयोग है
- (5) सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
- (6) भावानुकूल भाषा।
- (7) संबोधनात्मक शैली।
- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) सुन्दर अभिव्यंजना।
- (10) उत्तम बिम्ब-विधान।
- (11) श्रेष्ठ अभिनेयता।
- (12) सरल सहज शब्द-चयन।

41

“तो देख उधर,
कृष्ण के कहने से, पहले ही
अर्जुन ने छोड़ दिया था नभ में अपना ब्रह्मास्त्र
लेकिन नराधम
ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकरायेंगे।
सूरज बुझ जायेगा।
धरा बंजर हो जायेगी।”

शब्दार्थ: नराधम-नीच पुरुष; बंजर-ऊसर भूमि।

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर धर्मवीर भारती द्वारा लिखित 'अन्धायुग' से ली गई हैं। प्रस्तुत पंक्तियों

में व्यास अर्जुन और अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गए ब्रह्मास्त्रों के दुष्परिणामों पर चिन्ता अभिव्यक्त कर रहे हैं।

व्याख्या: प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित अश्वत्थामा व्यास के मना करने पर भी अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ देता है और कहता है कि अगर कृष्ण में सामर्थ्य है तो वे इस धरा की रक्षा कर लें। दूसरी ओर कृष्ण के कहने से पहले ही अर्जुन भी आकाश में अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ देते हैं। व्यास मनुष्यों में अधम अश्वत्थामा से कहते हैं कि ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी आकाश में टकराएंगे। इनकी टकराव से सूरज बुझ जाएगा और सारी रसवती धरती बंजर बन जाएगी। कहने का आशय यह है कि ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग सृष्टि का विनाश कर देगा।

विशेष:

- (1) युद्ध से किसी भी प्रकार मानवता का हित नहीं।
- (2) युद्ध मानवता के लिए अभिशाप है।
- (3) ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग तो पृथ्वी के लिए अत्यधिक घातक है।
- (4) श्रेष्ठ अभिनेयता।
- (5) उत्तम लयात्मकता।
- (6) अनुकरणीय बिम्ब-विधान।
- (7) सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
- (8) सरल बोधगम्य शब्दावली।
- (9) भावानुकूल भाषा।
- (10) जीवनोपयोगी भाव।
- (11) संबोधनात्मक शैली।
- (12) श्रेष्ठ काव्यात्मकता।

42

“माता धैर्य धारण करें!
कवच यह मिथ्या था
केवल स्वयम् किया हुआ
मर्यादित आचरण कवच है
जो व्यक्ति को बचाता है।”

शब्दार्थ: मिथ्या-झूठा।

प्रसंग: प्रस्तुत अवतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा विरचित ‘अन्धायुग’ से अवतरित है। इसमें कवि संयमित आचरण को मनुष्य का कवच बताता है।

व्याख्या: संजय और विदुर के साथ गांधारी म तक दुर्योधन के दर्शनार्थ जाती है। शोक-विह्वल

गांधारी के हाथ दुर्योधन का कवच लगता है। गांधारी कवच को हाथ में लेकर अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति कर रही है, तभी विदुर गांधारी को समझाते हुए कहते हैं कि हे माता गांधारी! धैर्य धारण करें। आप जिस कवच को हाथ में लेकर शोक प्रकट कर रही हैं, वास्तव में वह कवच मनुष्य का रक्षक नहीं है। उस कवच को धारण करने के पश्चात् मनुष्य अपनी सुरक्षा के सन्दर्भ में आश्वस्त हो जाता है। सत्य तो यह है कि यह कवच मिथ्या है धोखा है। केवल मर्यादित, संयमित आचरण ही मनुष्य का वास्तविक कवच है जो हर प्रकार की विपत्तियों से सुरक्षित रखता है।

विशेष:

- (1) मर्यादित, संयमित, शिष्ट आचरण ही मनुष्य का वास्तविक कवच है जो हर प्रकार के खतरे से उसकी रक्षा करता है।
- (2) आकर्षण अभिनेयता।
- (3) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (4) भावानुकूल भाषा-प्रयोग।
- (5) मनोरम अभिव्यंजना।
- (6) प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्नता।
- (7) अनुकरणीय लयात्मकता।
- (8) अप्रस्तुत की सुन्दर प्रस्तुति
- (9) आकर्षक बिम्ब-विधान
- (10) तद्भव बहुल शब्द-चयन।

43

“प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याघ्र के हाथों मारे जाओगे
प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशु की तरह।”

शब्दार्थ: परात्पर-परमात्मा, परब्रह्म; व्याघ्र-शिकारी, बहेलिया।

प्रसंग: विवेच्य पद्यावतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा प्रणीत ‘अन्धायुग’ से अवतरित है। प्रस्तुत

पंक्तियों में पुत्र-शोक से पीड़ित माता गांधारी कृष्ण को साधारण व्याघ्र के हाथों मारे जाने का शाप देती है।

व्याख्या: पुत्र-शोक से पीड़ित गांधारी अपने पुत्रों के तथा अपने समस्त वैभव के विनाश का कारण कृष्ण को समझती है। इसलिए वह कहती है - हे कृष्ण! तुम प्रभु हो या परमब्रह्म, मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हारा सारा वंश पागल कुत्तों की तरह एक-दूसरे को फाड़ खाएगा। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार हे कृष्ण, तुम्हारे कारण कौरव-वंश का वैभवशाली परम्परा का विनाश हो गया, उसी प्रकार तुम्हारे वंश का भी समूल विनाश हो जाएगा। गांधारी शाप देती हुई आगे कहती है-अपने वंश को नष्ट करने के पश्चात् किसी घने जंगल में कृष्ण भी किसी साधारण शिकारी के हाथों मारे जाएंगे। हे कृष्ण। तुम प्रभु हो लेकिन तुम्हारा अन्त पशुओं की तरह होगा।

विशेष:

- (1) पीड़ित माता का शोक, हिंसक और उग्ररूप धारणकर शाप रूप में प्रकट हुआ है।
- (2) पुत्र-शोक से पीड़ित गांधारी के हृदय की पीड़ा का मार्मिक अंकन किया गया है।
- (3) 'पागल कुत्तों की तरह', 'मारे जाओगे पशुओं की तरह' में उपमा अलंकार है।
- (4) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (5) मनोरम अभिनेयता।
- (6) भावानुकूल भाषा।
- (7) सवांदात्मक शैली।
- (8) आकर्षक लयात्मकता।
- (9) सुन्दर प्रस्तुति।
- (10) मनभावन अभिव्यंजना।
- (11) अनुकरणीय बिम्ब-विधान।
- (12) सरल शब्द-चयन।

44

**“ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीत कर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव कर
यह भी यातना ही है।”**

प्रसंग: प्रस्तुत अवतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धायुग' से अवतरित है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने विजयी युधिष्ठिर की आन्तरिक वेदना का प्रकाशन किया है।

व्याख्या: युधिष्ठिर कहते हैं कि महाभारत का भीषण संग्राम हुआ और पाण्डव ने छल-कपट, रक्तपात और क्रूरता से इस युद्ध पर विजय प्राप्त की। कहने का आशय यह है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए जो कुछ किया जा सकता था, वह पाण्डवों ने किया और विजयी रहे। युधिष्ठिर कहते हैं कि जिस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए वे नीच-से-नीच कर्म करने से भी नहीं

चूके उस युद्ध में विजयी होने के पश्चात् वे अपने आप को पराजित अनुभव कर एक मानसिक यंत्रणा भोग रहे हैं। कहने का आशय यह है कि युद्ध में पराजित पक्ष तो पराजित होता ही है, साथ ही विजयी पक्ष भी पराजित भी होता है।

भावार्थ: युद्ध से दोनों पक्षों का अहित होता है। विजयी पक्ष युद्ध में जीत कर भी हार जाता है क्योंकि लाशों, रक्त के लोथड़ों, विधवाओं के विलाप, निपूति माताओं के क्रन्दन, अनाथ बच्चों के रोदन और धूल-धूसतरित वैभव के अतिरिक्त उसे विजयोपहार के रूप में और कुछ नहीं मिलता।

विशेष:

- (1) युद्ध के दुष्परिणाम का चित्रण।
- (2) गतिशील उपयोगी भाव।
- (3) सरल सहज भाषा।
- (4) प्रसार-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली।
- (5) आकर्षक बिम्ब-विधान।
- (6) मनोरम लयात्मकता।
- (7) अनुकूल भाव-प्रवणता।
- (8) सरल व्यावहारिक शब्दावली।
- (9) आकर्षण अभिव्यंजना।
- (10) 'हारा हुआ' में अनुप्रास अलंकार है।

45

“बुझ गये सभी नक्षत्र, छा गया तिमिर गहन
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर बन
जिस क्षण प्रभु ने प्रस्थान किया
द्वापर युग बीत गया उस क्षण
प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत
कलियुग ने रक्खा प्रथम चरण।
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर बन।”

प्रसंग: प्रस्तुत पद्यावतरण कविवर धर्मवीर भारती द्वारा प्रणीत 'अन्धायुग' से अवतरित हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में श्री कृष्ण के देहावसान के पश्चात् आए परिवर्तनों की कवि ने मार्मिक व्यंजना की है।

व्याख्या: शिकारी का बाण पैर में लगते ही कृष्ण का देहावसान हो जाता है। कवि उस समय की परिस्थिति का अंकन करता हुआ कहता है कि सभी नक्षत्र बुझ गए और चारों ओर भीषण अन्धकार छा गया। इससे भयंकर जंगल और भी अधिक भयंकर लगने लग गया। जिस क्षण प्रभु श्री कृष्ण का देहावसान हुआ उसी क्षण द्वापर युग का अन्त हो गया। प्रभु से रहित धरा पर कलियुग

ने कदम रखा। इस युग के कदम रखते ही समस्त विश्वास और आस्थाएँ मर गईं। मरी हुई आस्थाओं से युक्त कलियुग और भी अधिक भयंकर भासित होता था।

भावार्थ: जब तक प्रभु में हमारी अटूट आस्था और श्रद्धा नहीं होगी तब तक हम अपने जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप से नहीं जी सकते। इसलिए कलियुग के इस युग में भी हमें अपनी आस्था और भावना को कृष्णार्पित कर देना चाहिए।

विशेष:

- (1) सुख-दुख का क्रमिक परिवर्तन।
- (2) युग-परिवर्तन चित्रण।
- (3) सरल, गतिशील भाव।
- (4) सुन्दर अभिनेयता।
- (5) आकर्षक बिम्ब-विधान।
- (6) मनोहर अभिव्यंजना।
- (7) सुन्दर लयात्मकता।
- (8) मनभावन प्रस्तुति।
- (9) सरल शब्द-चयन।
- (10) प्रसाद गुणसम्पन्न शैली।
- (11) 'लगने लगा' में अनुप्रास अलंकार।
- (12) भयानक रस का परिपाक।

46

उसके इस नये अर्थ में
 क्या हर छोटे से छोटा व्यक्ति
 विकृत, अर्द्धबर्बर, आत्मघाती, अनास्थामय
 अपने जीवन की सार्थकता या जायेगा?
 निश्चय ही।
 वे हैं भविष्य
 किन्तु हाथ में तुम्हारे हैं।
 जिस क्षण चाहो उनको नष्ट करों
 जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन लो।
 किन्तु मैं निष्क्रिय अपंग हूँ।
 मैं हूँ अमानुषिक
 और मैं हूँ आत्मघाती अन्ध। (प० 106-107)

प्रसंगः प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। जब वद्व याचक ने कृष्ण के उन अम त-वचनों का बिरद-गान किया जिसके व्यवहार से ही मानव-भविष्य सुरक्षित रह सकता है। यहाँ पर अश्वत्थामा द्वारा विचार व्यक्त किया गया है।

व्याख्या: डॉ. भारती ने लिखा है कि कृष्ण ने जो कुछ कहा है क्या उसके इस नये अर्थ में प्रत्येक छोटे-से-छोटा व्यक्ति विकारयुक्त, आत्मघातक, आत्महत्या करनेवाला, आस्थाहीन होकर अपने जीवन को सार्थक बना सकेगा? अर्थात् यह सम्भव ही नहीं है। तब वद्व याचक उसका समाधान करते हुए कहता है कि हाँ, निश्चय ही यह सम्भव है। श्रीकृष्ण भविष्य हैं किंतु वह तुम्हारे ही साथ में हैं। तुम जब चाहो उन्हें नष्ट कर सकते हो और जिस क्षण में चाहो उनको जीवन दे भी सकते हो। यह सुनकर संजय कहते हैं कि मैं तो अकर्मण्य और अपंगु हो गया हूँ फिर मुझसे यह कैसे होगा, अश्वत्थामा कहता है, और मैं मानवी गुणों से रहित हूँ। अश्वत्थामा के तुरन्त बाद युयुत्सु कहता है, और मैं अपना हत्यारा और अंधा हूँ।

विशेषः

- (1) व्यक्ति के विकारयुक्त भाव का चित्रण।
- (2) मानव मन की उलझनों का सुन्दर एवं मनोहारी चित्रण।
- (3) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (4) आकर्षक लयात्मकता।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (6) गतिशील भाव-चित्रण।
- (7) भावानुकूल मानक हिंदी का भाषागत रूप।
- (8) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (9) आकर्षक अभिनेयता।
- (10) प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली का प्रयोग।

47

वे हैं निराश
 और अन्धे
 और निष्क्रिय
 और अर्द्धप्रशु
 और अधियारा गहरा और गहरा होता जाता है।
 क्या कोई सुनेगा
 जो अन्धा नहीं है, और विकृत नहीं है, और
 मानव-भविष्य को बचायेगा?

मैं हूँ जरा नाम व्याध
 और रूपान्तरण यह हुआ मेरे माध्यम से
 मैंने सुने हैं ये अन्तिम वचन
 मरणासन्न ईश्वर के
 जिसको मैं दोनों बाँहें उठाकर दोहराता हूँ
 कोई सुनेगा।
 क्या कोई सुनेगा.....
 क्या कोई सुनेगा.... (प० 107)

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अन्धायुग' से ली गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। यहाँ पर व द्ध याचक ने कृष्ण के उन अम त-वचनों का विरद-गान किया जिसके व्यवहार से ही मानव-भविष्य सुरक्षित रह सकता है। अश्वत्थाना का विचार इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती ने कहा है कि इन सबकी बातों को सुनकर व द्ध याचक स्वतः कहता है, इनमें से कोई तो निराश है, कोई अन्धा है, कोई अकर्मण्य है और मानवी गुणों से रहित आधा पशु है। मैं देख रहा हूँ कि अंधेरा गहन से गहनतम होता जा रहा है। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो मेरी बात को सुनेगा? क्या कोई ऐसा है जो अन्धा न हो, न ही अंग से हीन हो तथा वह मनुष्य के भविष्य की रक्षा करने में समर्थ हो? मैं जरा नाम का व्याध हूँ और प्रभु कृष्ण का यह रूपांतरण मेरे ही माध्यम से हुआ है। मैंने मरते हुई ईश्वर के ये अन्तिम वचन सुने हैं, जिनको मैं अपनी दोनों बाँहें उठाकर फिर से दोहराता हूँ। क्या कोई व्यक्ति ऐसा है जो मेरी बात को सुनने की सामर्थ्य रखता हो?

विशेष:

- (1) मानव मन की असीम उलझनों का चित्रण।
- (2) मनोवैज्ञानिकता का सुन्दर चित्रण।
- (3) भावानुकूल भाषा का रूप।
- (4) गतिशील भाव-चित्रण।
- (5) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (6) तद्भव शब्दों का तत्सम शब्दों के साथ सुन्दर योग।
- (7) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (8) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (9) आकर्षक लयात्मकता।
- (10) प्रसाद-माधुर्य गुणसम्पन्न शैली का प्रयोग।
- (11) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (12) आकर्षक अभिनेयता।

48

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
 बीतता नहीं रह-रह कर दोहराता है
 हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
 हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है।
 हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
 अंधियारा है, अश्वत्थामा हैं, संजय है,
 है दासवृत्ति, उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
 अन्धा संशय है लज्जा जनक पराजय है
 पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में
 साहस में, स्वतन्त्रता में, नूतन सर्जन में
 वह है, निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में,
 दायित्वमुक्त, मर्यादित मुक्त आचरण में,
 उतना जो अंश हमारे मन का है-
 वह अर्द्धसत्य से ब्रह्मास्त्रों के भय से-
 मानव-भविष्य की हरदम रहे बचाता
 अन्धे संशय, दासता, पराजय से। (प० 108)

प्रसंग: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ महाभारत की कथा पर आधारित नाट्य-काव्य 'अन्धायुग' से उद्धृत की गई हैं। इसके रचयिता डॉ. धर्मवीर भारती हैं। भारती ने इस विशेष सन्दर्भ को गंभीरता से प्रकट किया है-

व्याख्या: डॉ. धर्मवीर भारती कहते हैं कि उस दिन जब श्री कृष्ण का शारीरिक रूपान्तरण हुआ था, तब से जो अन्धायुग इस पृथ्वी में आरम्भ हुआ वही अब भी समाप्त नहीं होता है, बल्कि बार-बार अपनी पुनरावृत्ति करता जाता है यहाँ कहीं-न-कहीं प्रत्येक क्षण में प्रभु की मृत्यु होती है और प्रत्येक क्षण में मानव-भविष्य के सामने बढ़ता अंधेरा और अधिक गहरा होता जा रहा है।

हम सबके मन में अन्धायुग समा गया है, जिसमें घना अंधेरा है, शिशु भविष्य का हत्यारा अश्वत्थामा है और कर्म मार्ग से विमुख संजय हैं। इनके साथ ही उन दोनों प्रहरियों के रूप में हममें दासवृत्ति भी अभी मौजूद है। इसके अतिरिक्त एक अविवेकपूर्ण संदेह तथा लज्जाजनक हार भी हममें समायी हुई है। जिससे हम सभी अभी भी मुक्त नहीं हो पाते।

किन्तु फिर भी मनुष्य के मन में बीजस्वरूप एक तत्त्व अभी भी अवस्थित है जो मनुष्य के साहस, उसकी स्वतन्त्रता और उसके नव-निर्माण में छिपा हुआ है। वह तत्त्व मनुष्य के जीवन में तटस्थ होकर रहता है तथा वह भार से मुक्त, मर्यादित और शुद्ध आचरण में निहित है। वही

अंश जो कि हमारे मन मे अवस्थिति है, मनुष्य को अर्द्धसत्य और ब्रह्मास्त्रों के भय से तथा अविवेकपूर्ण संदेह, दासता एवं पराजय से मनुष्य के भविष्य को सदैव बचाता रहेगा, उसकी सुरक्षा करता रहेगा।

विशेष:

- (1) गंभीर भावों का सुन्दर चित्रण।
- (2) 'रह-रह' में पुनरुक्ति अलंकार।
- (3) स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
- (4) प्रसाद-माधुर्य युक्त सम्पन्न शैली का प्रयोग।
- (5) सूक्ष्म भावों की मनोरम प्रस्तुति।
- (6) आकर्षक लयात्मकता।
- (7) मनमोहक अभिव्यंजना।
- (8) तद्भव शब्दों के साथ तत्सम शब्दों का सुन्दर योग।
- (9) अप्रस्तुत भावों की सुन्दर प्रस्तुति।
- (10) गतिशील भाव-चित्रण।
- (11) भाषा का सरल एवं सरस प्रयोग।
- (12) आकर्षक अभिनेयता।

हिंदी नाटक और रंगमंच

(ब)

पंचम प्रश्न पत्र

विकल्प-द्वितीय

Paper-5

Option-2

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)

M.A. Hindi (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system
or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or
otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK - 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

(क) नाटक

एक सत्य हरिश्चन्द्र

खण्ड (क) आलोचना	5
खण्ड (ख) व्याख्या	104

एक कंठ विषपायी

खण्ड (क) आलोचना	143
खण्ड (ख) व्याख्या	214

(ख) रंगमंच

रंगमंच-नाटक

रंगमंच-नाटक अध्ययन का स्वरूप	
नाटक का विधागत वैशिष्ट्य	452
नाटक और रंगमंच का अंतःसंबंध	460
नाटक में दृश्य और श्रव्य तत्त्वों का समायोजन	467
नाट्य भेद	483
पारंपरिक नाट्य रूप	503
हिंदी नाटक का विकासात्मक संक्षिप्त इतिहास	512
हिंदी रंगमंच (व्यावसायिक-अव्यावसायिक)	521

एम०ए० हिंदी (उत्तराद्ध) हिंदी नाटक और रंगमंच

प्रश्न-पत्र-पंचम

विकल्प-द्वितीय

समय: 3 घण्टे

पूर्णांक: 100

- नोट:**
1. प्रथम प्रश्न में से 'खण्ड क' में निर्धारित सभी छः नाट्य-कृतियों में से एक-एक व्याख्या पूछी जाएगी, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं तीन की सप्रसंग व्याख्या करनी होगी। प्रत्येक व्याख्या दस अंकों की होगी और पूरा प्रश्न तीस अंकों का होगा।
 2. खण्ड-क में निर्धारित किन्हीं चार नाट्यकृतियों पर चार आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जायेंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं दो प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न पन्द्रह अंकों का होगा।
 3. षष्ठ प्रश्न में 'खण्ड-ख द्रुत पाठ' से आठ लघूत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं पांच प्रश्नों के (लगभग 250 शब्दों में) उत्तर लिखने होंगे। प्रत्येक प्रश्न चार अंकों का होगा। पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।
 4. सप्तम प्रश्न 'खण्ड ख' के 'पाठ्य विषय' पर आधारित होगा। इसमें दस अति लघूत्तरी अनिवार्य प्रश्न पूछे जाएंगे। परीक्षार्थियों को सभी प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लगभग पचास शब्दों में होना चाहिए। प्रत्येक प्रश्न दो अंकों का होगा, पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।

(क) नाटक

एक सत्य हरिश्चन्द्र-डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

एक कंठ विषपायी-दुष्यंत कुमार

(ख) रंगमंच

नाट्य अध्ययन का स्वरूप

नाटक का विधागत वैशिष्ट्य

नाटक और रंगमंच का अंतःसंबंध

नाटक में दृश्य और श्रव्य तत्त्वों का समायोजन

नाट्य भेद

भारतीय रूपक-उपरूपकों के भेद (सामान्य परिचय)

पारंपरिक नाट्य रूप-रामलीला, रासलीला, स्वांग, नौटंकी आदि।

हिन्दी नाटक का संक्षिप्त इतिहास-विकास

हिन्दी रंगमंच: लोक-नाट्य, (व्यावसायिक-अव्यावसायिक)

पारसी रंगमंच, पथी थियेटर, नुक्कड़ नाटक, इष्टा

एक सत्य हरिश्चन्द्र

खण्ड (क) आलोचना

एक सत्य हरिश्चन्द्र

1. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का कथासार

हिन्दी साहित्य के चर्चित नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने विशिष्ट नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में वस्तु, शिल्प और रंगशिल्प की दृष्टि से अनेकानेक प्रयोग किये हैं। इसमें सर्वप्रमुख प्रयोग यह है कि वह नाटक में एक और नाटक की रचना कर देते हैं। समकालीन जीवन की समस्याओं को आधार बना कर एक नाटक चल रहा है कि वह पौराणिक युग से नाटक की कथा उठा लाते हैं और उसे मूल नाटक के साथ समन्वित कर लेते हैं। वह उससे भी वही अर्थ निकाल लाते हैं जो मूल नाटक से निकल रहे थे। इस प्रकार वह मिथक के प्रयोग को समकालीनता के साथ प्रासंगिक बना देता है साथ ही कथानक को नया रूप मिल जाता है।

इस नाटक में सात दृश्य हैं, परन्तु नाटक का आरम्भ पहले दृश्य से नहीं होता, उससे भी पहले हो चुका है। यहाँ दृश्य योजना से पहले है- प्रस्तावना जहाँ नाटक का कार्यव्यापार आरम्भ हो चुका है। यह नाट्य शिल्प का एक आकर्षक प्रयोग है, जिसका प्रयोग प्रायः हिन्दी नाटकों में नहीं होता। इससे नाट्य कृति को नवीनता मिली है।

प्रस्तावना आरम्भ होते ही एक दृश्य सामने आया जो मुख्य रूप से सवर्ण-अवर्ण, ऊँची जाति-नीची जाति के वर्गों के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है। सवर्णों का नेता है- देवधर जो पहले जमींदार था और अब राजनेता है। दूसरे वर्ग का नेता है- लौका जो सामान्य लोगों के बीच सामान्य है, परन्तु अपने गुणों और प्रभाव के कारण विशिष्ट से भी अधिक विशिष्ट है। यह नाटक का सर्वाधिक प्रभावशाली पात्र है।

नाटक के प्रारम्भ में पुरोहित सत्यनारायण की कथा शुरू करता है और उधर देवधर अपने स्वभाव के अनुसार राजनीति की चालें चलता रहता है। वह अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न कर रहा है और लौका उसके प्रभाव को कम कर रहा है।

देवधर ने कहा- मैं तो जनता को ही सबसे ऊपर मानता हूँ। जनता ही मालिक है।

लौका ने इस पर कहा, अगर जनता मालिक है तो अब जनता तुम्हें नहीं चाहती। वह उसे चाहती है जो उसका हो, जिस पर उसका पूरा अधिकार हो।

देवधर लौका को अपनी शक्ति का परिचय कराने लगता है। उसके साथी जीतन और गपोले मिलकर उसका पक्ष ले रहे हैं, वे लौका को नीची जाति का कह रहे हैं परन्तु उसके ऊँचे कर्मों की सराहना भी कर रहे हैं।

देवधर ने लौका को प्रलोभन देने की कोशिश की जिसे वह स्वीकार नहीं करता है।

इसके बाद सत्यनारायण की कथा समाप्त हो गई। लौका ने सबको आमन्त्रित किया कि रविवार को सत्यनारायण की कथा सुनने के लिए उसके घर आँ। उसने सबको सादर निमन्त्रित किया।

देवधर ने इसका राजनीतिक लाभ उठाने की योजना बनाई। उसने अपने साथियों को समझा दिया कि गाँव में जाकर प्रचार करें। ब्राह्मणों को बता दे कि शूद्र लौका सत्यनारायण की कथा कहने जा रहा है।

पहला दृश्य एक गीत से शुरू होता है जिसे लोग गा रहे थे। देवधर और जीतन भी वहाँ पहुँच गए। वे सत्यनारायण की कथा सुनने आये थे। वास्तव में, वे चाहते थे कि अगर ऐसा है तो लौका के विरुद्ध, नीची जाति के विरुद्ध आग भड़काई जाए। वैसे वे मानते हैं कि लौका चरित्रवान है और सबका विश्वासपात्र है। समाज में आदर भाव से लोग देखते हैं।

जीतन ने सुझाव दिया कि लौका सत्य बोलता है और यह मानता है कि सत्य जीया जाता है। इसलिए उसे प्रभावित किया जा सकता है, क्योंकि सत्य तो राजा हरिश्चन्द्र भी नहीं जी सके इसके लिए उन्हें पूरा जीवन तबाह करना पड़ा। फिर लौका तो काबू में आ ही जायेगा।

देवधर को यह सुनकर अच्छा लगा। उसने कहा, लौका को बरबाद कर दो और मुँह माँगा इनाम पाओगे। तभी गपोले ने आकर सूचना दी कि लौका सत्य हरिश्चन्द्र नाटक खेलने की तैयारी कर रहा है जिसमें वह हरिश्चन्द्र की भूमिका निभा रहा है। दो अभिनेताओं की कमी पड़ रही है। यह सुनकर देवधर की बाँछें खिल पड़ी। उसे विश्वास हो गया कि अब उसकी योजना सफल होगी। उसी समय उसे सूचना मिली कि हरिजनों और ब्राह्मणों के बीच दंगा हो गया। गाँव के गाँव जल गए और हरिजनों पर खूब जमकर अत्याचार हुए। इससे देवधर प्रसन्न हो गया। उसकी इच्छा पूरी होती नजर आने लगी।

जीतन को विश्वामित्र और देवधर को इन्द्र की भूमिका में उतारा गया। साथ ही पदमा को शैव्या की भूमिका दी गई। पदमा तो देवधर की सचिव थी। देवधर ने उसे समझाया, यह मेरा काम है। तुम लौका को हुस्न की डोर में बाँध लो। तुम्हें मुँह माँगा इनाम दूँगा।

बस, सत्य हरिश्चन्द्र नाटक शुरू हो गया। सत्यवादी हरिश्चन्द्र का यश उनके अयोध्या राज्य से बाहर दूर-दूर तक फैल गया। इससे स्वर्ग के राजा इन्द्र का सिंहासन हिल गया। इन्द्र ने मुनि विश्वामित्र को भेजा कि उसके सत्य की परीक्षा ली जाए।

विश्वामित्र ने माया रची और हरिश्चन्द्र ने एक सपना देखा जिसमें उन्होंने विश्वामित्र को सारा राज्य दान में दे दिया। दक्षिणा देने के लिए कुछ बचा नहीं था। इसलिए वह पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित को साथ लेकर काशी नगरी में बिकने के लिए चल दिये।

पहला दृश्य यहाँ पर समाप्त हो गया जब गाँव के लोग उन्हें जाते हुए देखकर यह गीत गा रहे थे- "कहो तुम कब तक कहाँ बिकोगे ?"

दूसरे दृश्य में हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित को लेकर मुनि विश्वामित्र के साथ काशी नगरी के मार्ग पर जा रहे थे तभी एक चरवाहा बांसुरी बजाता हुआ वहाँ दिखाई दिया। वह बांसुरी पर गीत गा रहा था। विश्वामित्र ने पूछा क्या गा रहा है ? रोहित ने बताया- गीत के लिए अपने को बेच दूँगा पर उसे नहीं बिकने दूँगा।

रोहित ने कहा- उसे किसी ने मंत्र से बाँध रखा है। जैसे वह दान नहीं, छल था। उसी तरह यह संगीत नहीं, मायाजाल है।

शैव्या ने भी ऐसे विचार व्यक्त किये। हरिश्चन्द्र अपने आदर्शों और सिद्धान्तों पर अटल थे। विश्वामित्र ने उन्हें कई तरह से उनके पथ से भटकाने (डिगाने) का प्रयत्न किया, परन्तु वह अडिग ही रहे।

तीसरे दृश्य में कथा फिर उन्हीं पात्रों के हाथों में आ गई जिन से यह नाटक शुरू हुआ था। नाटक के बीच जो नाटक चल रहा था वह वहीं रूक जाता है।

पता चला, देवधर ने कुछ गाँवों में आग लगवा दी थी। वे गाँव शूद्रों के थे। आग बुझा दी गई। सवर्णों और अवर्णों के बीच टकराव की भूमि तैयार हो गई थी, परन्तु लौका ने उन्हें समझा-बुझा दिया है। लौका का कहना है कि हिंसा का जवाब हिंसा नहीं है।

यहाँ यह भी आभास मिला कि विश्वामित्र की भूमिका में उतरने के बाद जीतन कुछ-कुछ बदलने लगा। वह सच्चाई को जानने का प्रयत्न करने लगा। देवधर के दिमाग में एक ही योजना थी कि किस प्रकार लौका के प्रभाव को समाप्त किया जाए। फिर भी वह कुछ भी नहीं कर पा रहा है।

चौथे दृश्य में काशी के बाजार का दृश्य सबसे पहले सामने आता है। बाजार में तरह-तरह की चीजें बिक रही हैं। वहीं एक ओर वेश्या का कोठा भी है। बाजार में फूलवाला, पटधर, तमोली, भाँगवाला, नारंगी वाली अपने-अपने माल को बेचने के लिए आवाज लगा रहे थे वहीं वेश्या के कोठे से भी अलग ढंग की आवाजें आ रही हैं। और वहाँ भी सौदेबाजी चल रही है।

इसी गहमा-गहमी में, हल्के-फुल्के वातावरण के दौरान वहाँ नारद जी आ गए और उन्होंने सूचना दी कि विश्वामित्र की दक्षिणा के लिए हरिश्चन्द्र काशी में बिकने आ गए। तभी वे सब वहाँ आ पहुँचे। रंगा ने आगे का काम पूरा किया।

पूरे बाजार में यह सूचना रंगा ने दे दी कि ये तीन प्राणी काशी के बाजार में बिकने के लिए आए हैं इनका मूल्य तीन हजार स्वर्ण मुद्राएँ हैं। आगे आओ और जिसे आवश्यकता हो, मुद्राएँ देकर इन्हें ले जाओ।

एक डोम आगे आया। उसने हरिश्चन्द्र को देखा जो पसन्द आया। तब उसने अपना परिचय दिया- मेरा नाम डोम है। मेरे पास मरघट का ठेका है। इसके लिए दो हजार स्वर्ण मुद्राएँ देता हूँ। यह लीजिए।

विश्वामित्र तो तैयार ही थे। हरिश्चन्द्र भी कहाँ पीछे थे। शैव्या बीच में आ गई बोली- पहले मैं बिकूँगी। हरिश्चन्द्र बोले- इससे क्या अन्तर पड़ता है कि कौन कब बिका, अगर तुम ज्यादा ही अपनी बात पर बल देती हो तो यह भी सुन लो कि पुरुष के सामने स्त्री नहीं बिक सकती।

दोनों पति-पत्नी के बीच तर्क-वितर्क चल ही रहा था कि विश्वामित्र बीच में आ गये और बोले- क्या रखा है, तुम अब भी अपनी बात बदल सकते हो।

हरिश्चन्द्र ने व्यंग्य किया- शब्दजाल हमारी दुनिया नहीं है।

विश्वामित्र ने अपनी बात को और अधिक बलपूर्वक कहा- तुम्हारी जो भी दुनिया हो, तुम जहाँ भी जाओगे संघर्ष तुम्हारा पीछा करता रहेगा।

हरिश्चन्द्र और रोहित ने उसकी हर बात काट दी। वह बहुत दुखी हुए। उन्हें यह लग रहा था कि जब उनके बिकने की बारी आई तो ये पति-पत्नी आपस में झगड़ने लगे। शायद वे अपनी बात से फिर जाएँ, परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

विश्वामित्र ने एक बार फिर यत्न किया किन्तु वे अडिग रहे। विश्वामित्र का मनचाहा नहीं हो रहा है। इससे वह दुखी हैं। विश्वामित्र ने राज्य दान में मांगा, हरिश्चन्द्र ने दे दिया। विश्वामित्र

ने ले लिया। वास्तव में विश्वामित्र को राज्य की इच्छा नहीं है। उन्हें शासन नहीं करना है। मुनि को क्या जरूरत है कि वह राज्य का शासन चलाएँ। वह तो उन्हें सत्य के पथ से हटाना चाहते हैं।

विश्वामित्र कई प्रकार से बार-बार यत्न कर रहे हैं। वह हर बार अपने कार्य में विफल हो रहे हैं। अनहोनी घट रही है। वे बहुत कुछ झेल रहे हैं, सब सह रहे हैं फिर भी, अपने निश्चय से नहीं हट रहे हैं।

पति-पत्नि के बीच बिकने का विवाद भी ठंडा हो गया है। विश्वामित्र की दाल यहाँ भी नहीं गली। इसे लेकर विश्वामित्र दुखी हुए। मन मार कर रह गए। वह अगले अवसर की तलाश में व्यस्त हो गए।

तभी वहाँ पतुरिया (वेश्या) आ गई। उसने मुनि विश्वामित्र को प्रणाम किया। अपना परिचय दिया- मैं काशी की नगरवधू हूँ। मेरा नाम रूपा है। मुझे पता चला है कि यह स्त्री बिक रही है। मैं इसे खरीदना चाहती हूँ। बोलो इसका क्या मूल्य है ?

रंगा ने सूचना दी कि इस नारी का मूल्य एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ हैं। उसने एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली विश्वामित्र को दे दी।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र और शैव्या बिक गए। भाग्य का कैसा चक्कर था कि जो व्यक्ति कल तक चक्रवर्ती सम्राट था, आज वह डोम के घर मरघट की रखवाली के लिए बिक गया, जो कल तक राजा की रानी थी, आज वेश्या के कोठे की शोभा बन गई। यह अजीबोगरीब संयोग है। पता नहीं कैसे घटित हुआ, परन्तु इतना तो तय था कि वैसा कुछ हो गया जो उनके बिल्कुल प्रतिकूल था।

तभी मुनि विश्वामित्र ने एक और चाल चली वह बोले- अब मुझसे दक्षिणा मुक्त हो गए राजा हरिश्चन्द्र। अब भी समय है चाहो तो अपनी बात बदल दो और सुख-चैन से जीवन बिताओ। मैं अब भी तुम्हारा हित चाहता हूँ।

इसका उत्तर रोहित ने दिया- तुम्हारी भूख अभी भी नहीं मिटी और हर राजा ने प्रजा को यही कह कर टगा है कि वह उसका हित चाहता है।

इसके बाद विश्वामित्र ने कई तर्क दिए और यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि जो हुआ, वह अच्छा नहीं हुआ। यह सब भावना के आवेग के कारण हुआ। सारी बातों पर कारणों पर ठण्डे दिल-दिमाग से विचार नहीं हुआ। उन्होंने उसका आधार बताया। शैव्या जैसी पतिव्रता एवं शीलवती पतुरिया यानी वेश्या के हाथों बिक गई। यह तो अधर्म हो गया। हरिश्चन्द्र स्वयं डोम के हाथों बिक गए और चाण्डाल का काम करेंगे। यह कौन सा सत्य धर्म है? रोहित अनाथ हो गया है। इसके पीछे हरिश्चन्द्र का अहंकार है।

ये सारी बातें सही थीं। समस्या विकट थी मुनि विश्वामित्र ने कुछ भी गलत नहीं कहा था। ये बातें किसी भावुक व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर मथ सकती थीं। उसे भावनाओं में बहाकर निर्णय बदलने के लिए विवश कर सकती थीं। हरिश्चन्द्र डगमगा सकते थे। हरिश्चन्द्र डगमगा जाएँ यही तो विश्वामित्र चाहते थे। इससे वह हारी हुई बाजी जीत सकते थे। असली समस्या उनके सामने यह थी कि वह बाजी जीतने के लिए सब कुछ दांव पर लगाते थे और बाजी जीत जाते थे। बाद में पता चलता था कि वह तो हार गए। इस प्रकार उनकी हर जीत हार में बदलती गई। तो इस बार फिर हरिश्चन्द्र को उकसाने की कोशिश बेकार हो गई। हरिश्चन्द्र और रोहित ने उसकी एक नहीं चलने दी। जिनके तर्कों और व्यावहारिक जीवन आदर्शों ने एक बार फिर उन्हें मात दी। जिस व्यक्ति को मनचाहा सब कुछ मिल गया, अब वह दुखी क्यों है ? जिस व्यक्ति ने दूसरों का सब कुछ छीन लिया वह उनके लिए चिन्तित क्यों है ?

तब विश्वामित्र ने अपने तूणीर से एक और तीर निकाला और बोले- मैं रोहित को अपने साथ ले जाऊँगा। रोहित मेरी प्रजा है। जो शेष बचा है वह राज्य की सम्पत्ति है।

विश्वामित्र ने एक और तर्क दिया- मैं रोहित को इस तरह स्वतन्त्र नहीं छोड़ सकता। तुम मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रच सकते हो। पिता का प्रतिशोध लेने के लिए अयोध्या पर आक्रमण करके पिता का राज्य वापिस ले सकते हो।

अन्त में विश्वामित्र यहाँ भी हार गए। वह रोहित को अपने साथ नहीं ले जा सके। वह उनकी बातों से इतने अभिभूत हुए कि तीनों को वहीं छोड़कर चले गए। रोहित अपनी माँ शैव्या के साथ गया और पत्तुरिया के कोठे पर ही रहने लगा। इस घटनाक्रम का यही संयोग था, क्योंकि यह अगली घटनाओं की एक कड़ी थी।

चौथे द श्य का अन्त एक गीत से होता है जिसमें हरिश्चन्द्र का गुणगान है। इसका भावार्थ इस प्रकार है- हरिश्चन्द्र धन्य हैं। वह इस माया जगत में धर्मी इंसान हैं। उन्होंने राजपाट आदि सब छोड़ दिया, परन्तु सत्य को नहीं छोड़ा।

पाँचवें द श्य में फिर मूल नाटक का द श्य उभरता है जिसमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की विभिन्न भूमिकाओं में उतरे हुए पात्र अपने सामान्य जीवन रूप में आ जाते हैं। देवधर ने अपने सहयोगी जीतन से कहा अब तो नाटक खत्म हुआ, चलो मेरे साथ। मैंने लौका को खत्म करने का पूरा इंतजाम कर लिया है। इस बार हिन्दू-मुसलमानों के बीच लड़ाई होगी और लौका उसमें भस्म हो जाएगा।

यह विचार जीतन को पसंद नहीं आया। पहले उसने अपनी स्पष्ट राय नहीं दी। फिर साफ-साफ कह दी। उसने कहा- हम सब हरिश्चन्द्र हैं तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में। वहाँ राजा इन्द्र एक था, यहाँ अनेक हैं। तभी देवधर को क्रोध आ जाता है। वह बोला- तुम सबके दिमाग ठीक करना मेरी जिम्मेदारी है।

यहाँ आकर बात बिगड़ गई, सब लोग उसके विरुद्ध हो गए। उसने अपना रूख बदल दिया। देखो भई, नाटक चल रहा है। उसमें रंग में भंग मत करो। यह जनता का नाटक है और इसे जनता देख रही है।

इस पर जीतन ने खरा खरा उत्तर दिया- नहीं, यह नाटक तुम्हारा, यानी सत्ताधारी का बनाया हुआ है। देवधर बिगड़ गया और जीतन को विधर्मी बताया जो धर्म के नाटक में विघ्न डालता है। यहीं से देवधर के सहयोगी उसके विरोधी बन गए। दरअसल उन्होंने सत्य को पहचान लिया। वे पहले देवधर के अनुभव से काम लेते थे। अब उनकी आँखे खुल गईं। उन्होंने सोच-विचार शुरू कर दिया। वे अपने अनुभव से काम लेने लगे। इसलिए उन्हें देवधर की राजनीति से घणा हो गई जिसमें परम्परा के निर्वाह की बात थी। परम्परा पर इसलिए बल दिया जाता था जिससे स्थिति यथावत् बनी रहे। शासक शासन करता रहे और जनता शोषित-पीड़ित ही रहे। अवर्ण लोग सिर न उठायें।

आम जनता के लोगों में भारी परिवर्तन आया। वे जैसे नींद से जाग गए। जनता शक्ति बनने लगी। उन्हें जगाने का काम उन्हीं के दुःखों ने किया जिन की अति हो गई थी। देवधर जैसे सत्ताधारियों के चरित्र ने उनके सामने सच्चाई रख दी।

अब आम जनता यह नहीं चाहती कि वे आगे भी बहकाए जाते रहें, उनके लिए लड़ाई लड़ने का नाटक देवधर जैसे लोग करें। अब वे अपनी लड़ाई अपने आप लड़ेंगे। यही है असली सत्यनारायण की कथा और इससे जीवन में नई चेतना आती है।

देवधर के साथी उसका साथ छोड़ गए। फिर भी उसे चिन्ता नहीं है। उसे केवल लौका की चिन्ता

है जिसका प्रभाव अनेक लोगों पर है और जो भी उसके सम्पर्क में आता है, उसी पर उसका जादू हो जाता है।

इसी बिन्दु पर देवधर स्वयं लौका से मिलना चाहता है, पता चलता है कि वह हरिश्चन्द्र के रूप में श्मशान घाट पर मिलेगा। उसे वहाँ इन्द्र के वेश में जाना होगा। छठे दृश्य का आरम्भ एक गीत से होता है। इसे रंगा गाता है और गाँव के लोग दोहराते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाटक में नाटक आरम्भ हो गया है। यह दृश्य बहुत छोटा है जिसके अन्त में पता चलता है कि खेले जाने वाला नाटक अब शुरू होगा।

गीत का भावार्थ इस प्रकार है। अब तुम हमारी पीठ पर नहीं चढ़े रह सकते। तुम्हारा बोझ असह्य लगने लगा है। तुम समाज के उजले आँगन में गहरे अंधेरे हो और हम सूरज के संगी साथी है, तुम्हें जलाएँगे। हम अवश्य परिवर्तन लायेंगे। सत्ताधारी राजनेता पर व्यंग्य करने के बाद गीत में आम जनता को जगाने का आह्वान है।

सातवें और अन्तिम दृश्य में परदा खुलता है तो पुत्ररिया के कोठे का महौल दिखाई देता है। वहाँ ग्राहक आते हैं जो अपनी मौज मस्ती मनाते हैं। गीत के साथ संगीत और नृत्य चल रहा है। हँसी मजाक के दौरान भांग वाला आता है और यह संदेश देता है कि छैला ने नई बाई को बुलाया है।

तब सब लोगों ने शैव्या के दर्शन किये और चमत्कृत रह गए। उनकी आँखों में चकाचौंध भर गई और कुछ भी दिखाई नहीं देता था। वह भांग वाले के साथ चली गई। बाद में पता चला कि छैला पर शैव्या का ऐसा चमत्कारी प्रभाव हुआ कि उसका उपभोग नहीं कर सका। उसे लगा वह मायाविनी है और वह जैसे अपनी ही परछाई के पीछे दौड़ता रहा।

इसी स्थल पर रोहित और छैला के बीच वाद विवाद हुआ जो धीरे-धीरे तेज हो गया। वह संघर्ष में बदल गया और छैला ने उसे छुरे से मार डाला। रोहित ने मरते समय कहा था कि वह विलास के हाथों बिका हुआ मनुष्य नहीं, काला सर्प था। जैसे ही उसने छुआ तो शरीर में विष फैल गया।

रोहित की लाश पर शैव्या गिर पड़ी और रोने लगी। उसके पास उसे कफन उढ़ाने के लिए वस्त्र नहीं था और न खरीदने के लिए पैसे थे। इसलिए उसने अपनी पहनी हुई साड़ी को फाड़कर उसे कफन के तौर पर रोहित को उढ़ा दिया। तब वह उसे श्मशान घाट पर ले गई जहाँ राजा हरिश्चन्द्र डोम के रूप में मौजूद थे। शैव्या ने बताया कि उनका बेटा मर गया है, उसका जल प्रवाह कर दो। हरिश्चन्द्र का यही काम था। परन्तु उनके सामने नियम भी था। पहले श्मशान का कर चुकाया जाए। तभी अन्तिम क्रिया हो सकेगी। शैव्या ने कई तर्क दिये, उनकी भावना को उकसाया। उस सबका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह अपनी बात पर अटल रहे।

शैव्या के शरीर पर आधी साड़ी रह गई थी। उसने उसे हरिश्चन्द्र की सलाह पर शरीर से उतारा और कर के रूप में हरिश्चन्द्र को दे दिया। तभी अन्तिम संस्कार हो गया।

उसी समय वहाँ नारद, विश्वामित्र और इन्द्र आ गए। इन्द्र बोले-धन्य हरिश्चन्द्र, पूरी हो गई परीक्षा। तुम्हारा नाम सत्यवादी हरिश्चन्द्र के रूप में अमर रहेगा। स्वर्ग जाओ.....।

हरिश्चन्द्र ने उसे स्वीकार नहीं किया। वह झूठे स्वर्ग को नहीं मानते। इसी धरती पर सबके साथ रहेंगे, सबके साथ मरेंगे। हर समय तूने हमें बेचा है झूठे शब्दों के बाजार में, स्वर्ग का लालच दिखाकर।

इस पर देवधर ने पूछा- यह कहाँ है नाटक में ?

हरिश्चन्द्र का उत्तर था- यह नाटक तुम्हारा था जिसमें स्वर्ग भेजने का झूठा अभिनय किया गया था। यह है सत्यनारायण की कथा जहाँ हरिश्चन्द्र सब कुछ भोगकर अपनी पत्नी पर खड़ा रहता है।

स्थिति यहाँ तक बदलती है कि लौका ने देवधर को परीक्षा देने के लिए कहा और तर्क दिया कि हरिश्चन्द्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और देवधर रूपी इन्द्र परीक्षा लेता रहे, अब यह नहीं चल सकता। देवधर ने सत्ता के मद में सबको कठपुतली बना रखा था। उसी ने अपने अनुसार नाटक बनाया और स्वयं ही सूत्रधार बना। अब वह समाप्त हो गया है। अब देवधर को अपने सत्य की परीक्षा देनी ही होगी।

रोहित और शैव्या ने भी देवधर की सच्चाई को तार-तार कर दिया। जीतन और गपोले ने सत्य का पक्ष लिया। तब गाँव के लोगों ने एक स्वर से कह दिया- अब कोई नहीं होगा इन्द्र, कोई नहीं होगा विश्वामित्र, सब होंगे हरिश्चन्द्र।

इसका तात्पर्य यह है कि जब इन्द्र और विश्वामित्र यानी सत्ताधीश और उनके दलाल नहीं होंगे, तो सब हरिश्चन्द्र ही होंगे जो अपने कार्यों और विचारों में सच्चे होंगे। उन्हें सताने वाला, संकट में डालने वाला कोई नहीं होगा।

अन्त में, लौका ने घोषणा की- पंचों यह है सत्यनारायण की कथा। यहीं पर आरती होती है जो सत्यनारायण की आरती से बिल्कुल अलग है। यह आरती भारतमाता के प्रति है। इसमें जनता के भाव हैं, यह आरती देश के धर्मों के बीच सद्भावना एवं भाईचारे की कल्पना करती है, और वर्गविहीन और आदर्श समाज की रचना करती है।

पूरा कथानक सत्य के पालन पर सब कुछ समर्पित करने के लिए तत्पर दिखाई देता है। इसके माध्यम से उद्घोष किया गया है कि मानव मूल्य के विकास के लिए सत्य का अनुपालन होना चाहिए।

2. कथानक की समीक्षा

कथानक का अर्थ है- किसी कृति में कथावस्तु प्रस्तुत करने का ढंग। इसमें विवेचनीय होता है कि रचनाकार ने अपने कथ्य को किस प्रकार सजाया संवारा है। उसे जो अभिव्यक्ति देनी है और जो कथा ली है उसका संयोजना किस रूप में किया गया है। वास्तव में, कथा के गठन को कथानक कहते हैं। उसका सूत्रपात रचना की सफलता का प्रमाण है।

साहित्यकार सर्वप्रथम कथा का चयन करता है। यह चयन इतिहास, पुराण, आधुनिक जीवन की घटनाओं में से करता है। पूर्व युग की बनी बनाई कथा को आधार बनाना अधिक आसान है, जबकि समकालीन जीवन की घटनाओं में से कथा चयन अत्यधिक कठिन कार्य है। तो कथा का चयन लोक प्रसिद्ध कथाओं से लिया जा सकता है और कल्पना के बल पर आधुनिक जीवन की घटनाओं में से भी कथा को गढ़ा जा सकता है। कल्पनाशीलता दोनों स्थितियों में अपेक्षित है।

कथा के चयन के पश्चात् कथानक निर्माण का कार्य होता है। कथा को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए, कहाँ से आरम्भ करें, बीच में क्या-क्या रखें, कैसे रखें और समापन किस बिन्दु पर ले जाकर दें- यह सब कथानक की संरचना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी पूर्व योजना बनती है और रचनात्मक क्षणों में पूर्वयोजना में थोड़े-बहुत परिवर्तन करने होते हैं। अन्ततः वह

कृति में जिस रूप में झलकता है वही कथानक का स्वरूप है और इस रूप में विवेचन योग्य है।

किसी नाटक में कथानक से तात्पर्य है कि नाटककार ने कथा का संयोजन दृश्यों, अंकों में विभाजित करके तथा अन्य आधारों, माध्यमों के सहारे किस प्रकार किया है। किसी कवि की सफलता स्तरीयता, सक्षमता का आधार कथा चयन के बाद कथानक ही है।

अब यहाँ 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में यह देखना है कि नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने कथा का संयोजन किस प्रकार किया है और कथानक कितना सक्षम या अक्षम है।

इस नाटक के कथानक की सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसमें एक नाटक के भीतर दूसरा नाटक भी है। यह एक प्रयोग है जो सामान्यतः हिन्दी नाटक में नहीं मिलता। नाटक के भीतर नाटक रखने की परिकल्पना ही कुछ और है।

नाटककार ने समकालीन जीवन से नाटक को उठाया और समकालीन जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत किया। उसमें वर्ग भेद, वर्णभेद की प्रधानता है, अर्थात् समाज दो वर्गों में विभाजित है- उच्च वर्ग और निम्न वर्ग, सवर्ण और अवर्ण, सम्पन्न और विपन्न। पहला वर्ग समाज, राजनीति, धर्म, अर्थ आदि सभी क्षेत्रों में हावी है। जबकि दूसरा वर्ग सबसे पीछे और नीचे है। पहला वर्ग अधिकार प्राप्त है, दूसरा अधिकारविहीन। पहला वर्ग शासक दूसरा शासित। पहला वर्ग सत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखना चाहता है और दूसरे वर्ग को इस हद तक दबाए रखना चाहता है कि वह ऊपर न उठ सके। इसके लिए वह धर्म का प्रयोग करता है और अर्थ को उसमें झोंक देता है।

समकालीन जीवन में चलने वाला नाटक चल ही रहा था कि उसमें दूसरा नाटक शुरू हो गया। वह था- 'सत्य हरिश्चन्द्र' जिसकी कथा पुराणों से ली गई। इसे सामान्यतः मिथक कथा पर आधारित नाटक कहा जा सकता है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र के त्याग और बलिदान को विशेष रूप से उभारा है। फिर भी उसमें यह बात मुख्य नहीं है। मुख्य मुद्दा यह है कि इन्द्र के संकेत पर ही सब कुछ होता है और हरिश्चन्द्र जैसे सत्य धर्म के पालक हमेशा लुटते रहते हैं। यह भी, कि सत्य की परीक्षा हरिश्चन्द्र की ही होती है, इन्द्र की परीक्षा नहीं होती। क्या यह क्रम उलट-पुलट नहीं हो सकता ?

नाटक के अन्त में दोनों नाटक एक हो जाते हैं। मिथक को समकालीनता के साथ जोड़ दिया जाता है और दोनों का निष्कर्ष एक ही निकलता है। कहना चाहिए कि दोनों नाटक एक दूसरे में समा जाते हैं जैसे, दो धाराएँ एक जगह मिलकर संगम बनाती हैं।

यह नाटक के कथानक की विशेषता है जिसे नाटककार ने अच्छी तरह ग्रंथित किया है और दो-दो नाटकों की इस प्रकार प्रस्तुति की है कि वे दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए ही नहीं, बल्कि एक दूसरे में समाविष्ट भी हैं।

नाटक और नाटक में नाटक के स्वतन्त्र कथानक भी नहीं हैं, बल्कि कथानक का संयोजन इस प्रकार हुआ है कि दोनों समानान्तर होकर नहीं चलते, एक दूसरे के साथ सटकर या मिलकर चलते हैं।

इसी बात को दूसरे ढंग से उठाया जाए। अगर यहाँ नाटक में नाटक है यानी इसमें दो नाटक हैं तो क्या इन्हें अलग-अलग निकाल कर दो स्वतन्त्र नाटक बनाए जा सकते हैं ? उत्तर होगा नहीं। कारण यह है कि ये दोनों नाटक एक दूसरे के सहयोग पर टिके हैं और दोनों को मिलाकर एक पूर्णनाटक बनता है। यह है लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा प्रयुक्त कथानक जिससे 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक बन सका।

अब इसके दूसरे पहलू पर बात की जाए। नाटककार नाटक में कथानक का सुग्रांथन करने के लिए अंक योजना, दृश्य योजना का आधार लेता है। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में अंक योजना नहीं है। अतः नाटककार ने कथा का विभाजन सीधा दृश्यों में किया है जो नाटककार की मानसिकता और योजनानुसार है।

इस नाटक में सात दृश्य हैं जो आकार में छोटे या बड़े हैं। वे कथानक की आवश्यकता के अनुसार हैं। उल्लेखनीय है कि नाटक का आरम्भ पहले दृश्य से नहीं होता बल्कि उससे भी पहले हो चुका है। यहाँ दृश्य योजना से पहले है- प्रस्तावना जहाँ नाटक का कार्य व्यापार आरम्भ हो चुका है। यह शिल्प का एक प्रयोग है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब नाटककार ने सात दृश्यों से पहले प्रस्तावना रखी है तो आठ दृश्य ही क्यों न रख दिए ? इस प्रश्न का आधार यह है कि प्रस्तावना स्वयं में एक दृश्य है और पूर्ण दृश्य है। इस पर विचार करने के बाद पता चलता है कि इस प्रस्तावना में दृश्यात्मकता तो है परन्तु यह दृश्यमात्र नहीं, बल्कि उससे कुछ अधिक है। जो बात प्रस्तावना के माध्यम से सशक्त होकर उभरी है, वह दृश्य के संयोजन से नहीं हो सकती थी।

सबसे पहले यहाँ प्रस्तावना के कथानक को देखा जाए। इसके आरम्भ में नाटककार ने कुछ रंग संकेत दिये हैं जो मंच व्यवस्था के बारे में हैं। जैसे मंच पर गाँव का दृश्य। दो तरफ कुएँ हैं- पक्का और कच्चा, जो सवर्णों और अवर्णों के लिए हैं। पक्के कुएँ पर पुजारी पूजा की तैयारी में है। उसके बाद अन्य कार्यकलाप के संकेत, उसके बाद एक गीत जिसे पहले एक पीड़ित फिर लौका गाता है और उसके बाद बहुत से गरीब स्त्री-पुरुष गाते आते हैं। उधर पक्के कुएँ पर पुरोहित ने सत्यनारायण की कथा शुरू कर दी।

इसके पश्चात् पक्के कुएँ पर एक ओर सत्यनारायण की कथा चल रही है तो दूसरी तरफ राजनीति की बात भी हो रही है। यहाँ दो पक्ष स्पष्टतः सामने आते हैं। एक का प्रतिनिधित्व देवधर दूसरे का लौका करता है। एक अधिकार सम्पन्न, दूसरा अधिकार विहीन है। कथा चलती रहती है तर्क वितर्क होता रहता है।

यहाँ कथा समाप्त हो जाती है। लौका कहता है, सत्यनारायण की कथा में बार-बार यह बताया जाता है कि जो सत्यनारायण की कथा नहीं सुनता उसे तरह-तरह के कष्टों को झेलना पड़ता है, परन्तु यह कोई नहीं बताता सत्यनारायण की कथा क्या है ?

लौका सबको आमन्त्रित करता है कि रविवार को सब मेरे घर आएँ। हम सबको सत्यनारायण की कथा सुनायेंगे। इसे देवधर धर्म के साथ इस रूप को जोड़ देता है कि शूद्र नारायण की कथा कहेगा जो हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। वह अपने साथियों को कहता है कि गाँवों में ब्राह्मणों को भड़का दो, बस शूद्रों के लिए यही काफी है। सत्यनारायण की आरती के साथ प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

प्रस्तावना में ही मूल समस्या का बीजारोपण हो गया। नाटक में क्या होगा, इसके संकेत सूत्र मिल गए। पाठक-दर्शक के सामने एक जिज्ञासा भी आ गई कि आगे क्या होगा। इस 'प्रस्तावना' में कथानक का ढाँचा जिसे नाटककार ने कौशल के साथ बुना है।

नाटक के पहले दृश्य में मूल नाटक के पात्र एकत्र होते हैं और पता चलता है, लौका ने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक खेलने की तैयारी कर ली है और नाटक शुरू हो जाता है। नाटक के मूल पात्र नाटक में नाटक की भूमिकाओं में उतर जाते हैं। इन्द्र की चिन्ता कि हरिश्चन्द्र इन्द्रासन लेना चाहते हैं। विश्वामित्र के साथ इन्द्र का विचार विमर्श, विश्वामित्र का आश्वासन और माया रचना, हरिश्चन्द्र को स्वप्न, राज्य का दान और दक्षिणा के लिए काशी में बिकने जाना।

पहले द श्य के कथानक पर विचार करें तो देखेंगे कि नाटककार ने अपनी योजना और मानिसिकता के अनुसार महत्वपूर्ण कथाओं का चयन किया गया है जिन्हें एक सूत्र में पीरो दिया गया है। इसे नाटककार की कुशलता ही कहना चाहिए कि वह कथानक में यथा आवश्यक प्रसंगों को सहजता के साथ गूँथ देता है।

दूसरा द श्य रंगा से आरम्भ होता है और रंगा के साथ ही उसका समापन होता है। ऐसा लगता है रंगा इस नाटक का अघोषित सूत्रधार है जिसने पहले द श्य में भी नाटक का सूत्र सम्भाल रखा था। इस द श्य में हरिश्चन्द्र, रोहित और शैव्या के साथ मार्ग में चले जा रहे हैं। वे विश्वामित्र के साथ है जो उन्हें काशी में बेचने के लिए जा रहे हैं।

इस द श्य में हरिश्चन्द्र नाटक के पात्रों के बीच आपसी बातचीत होती है। इसमें बांसुरी वादक चरवाहे की भूमिका भी है जिसे आधार बनाकर उनके आपसी विचारों का परिचय मिलता है। आपसी टकराव भी होता है। यों तो पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित पूर्णतः हरिश्चन्द्र के साथ हैं परन्तु वे अपने स्वतन्त्र विचारों को अभिव्यक्ति देते हैं।

इस प्रकार नाटककार नाटक की कथा को समतल धरातल पर ही नहीं चलाता, बल्कि आपसी टकराव दिखाकर कथा में संघर्ष पैदा करता है और विभिन्न आयाम प्रस्तुत करता है। नाटक की कथा संघर्ष के बीच में से निकलती हुई ऊपर नीचे उठती गिरती है और क्रमशः आगे बढ़ती है। उसमें गति बनी रहती है। मुनि विश्वामित्र का प्रयत्न है कि हरिश्चन्द्र अपने सत्य धर्म से डिग जाए, परन्तु हरिश्चन्द्र अपनी जगह पर डटे रहते हैं।

तीसरे, पाँचवें और छठे द श्यों में मूल नाटक के पात्र अपने मूल रूप में आ जाते हैं और नाटक गति पकड़ता है। ये पात्र अधिक खुलते हैं और उनका विकास होता है जिनके साथ कथा भी आगे बढ़ती है और उसमें कई मोड़ आते हैं पात्रों की जीवंतता के साथ नाटक की कथा में भी जीवंतता बनी रहती है। ये पात्र स्थिर नहीं रहते हैं और कथा प्रवाह के साथ इनमें बदलाव आता है। इससे नाटक में नाटक की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इन द श्यों में भी खेले जाने वाले नाटक का संदर्भ बराबर बना रहता है, भले ही वह किसी रूप में हो।

इन द श्यों में कथा का संयोजन कुछ इस प्रकार हुआ है कि कहीं भी तनाव शिथिल नहीं होता, बल्कि तनावग्रस्तता बराबर बनी रहती है। कथानक की बनावट बारीक तो है ही, उसमें एकसूत्रता भी है। नाटक की कथा अपने लक्ष्य की ओर शनैः-शनैः अग्रसर होती रहती है।

चौथे और सातवें द श्यों का संयोजन विशेष रूप से काशी पर केन्द्रित है। उसमें भी काशी का बाजार मुख्य है और बाजार में भी पतुरिया यानी वेश्या का कोठा प्रमुख है। यहाँ नाटककार कथा को अधिक आकर्षक ही नहीं बनाता चटपटा ही नहीं बनाता, उसे गहन अर्थ से भी भर देता है। उल्लेखनीय है कि नाटककार का आग्रह मनोरंजन पर आवश्यक है परन्तु वह उसे केवल साधन मानकर अपने अभीप्सित अर्थ को स्पष्टतः उजागर करता है। इस प्रयत्नशीलता में नाटक की कथा का तनाव शिथिल नहीं होता, बल्कि उसमें और अधिक तनाव ग्रस्तता आ जाती है और नाटक के कथानक की बनावट सराहनीय लगती है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक के बारे में श्री पाल जैकब का एक वक्तव्य है जो इस नाटक के मंचन के बाद ‘लिंग’ नामक अंग्रेजी पत्रिका में छपा था। वही इस नाटक में ‘पूर्वरंग’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसे नाटक की भूमिका भी कहा जा सकता है। श्री जैकब नाटक और रंगमंच के विशेषज्ञ हैं। उनकी टिप्पणी नाटक के विभिन्न पक्षों को स्पष्टतः विवेचित करती है।

इस नाटक के शिल्प पक्ष को उद्घोषित करते हुए विशेष रूप से कथानक के बारे में लिखते

हैं- इस नाटक के रूपबंध का आधार संस्कृत नाटकों का है। संस्कृत नाटक की बुनियादी बातें, वे बुनियादी तत्त्व जिन्हें आज कलात्मक रूप में हृदयगम करना कठिन हो गया, इसके नाट्य स्वरूप में परिव्याप्त है। स्पष्ट और गहरे ढंग से उसका प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए संस्कृत नाट्य का बुनियादी तत्त्व है गोलाई, व त्ताकार में चालन। कहना बार-बार कुछ कहना, और फिर वही कार्य में अभिनीत करना। एक परिधि में, संगीत के एक-एक राग में व त्ताकार घूमना, संस्कृत नाट्य के इस आधार को लाल ने ज्यों का त्यों, बिना कुछ तोड़े मरोड़े अपने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के नाट्य में परम स जनात्मक ढंग से प्रयुक्त किया है। स्थान, देश, काल के परिवर्तन दिखाने, कथा और कार्य का आरोह प्रस्तुत करने द श्य उपस्थित करने के लिए जो रंगशैली संस्कृत नाट्य में है वही यहाँ है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मीनारायण लाल का यह नाटक एक विशिष्ट कृति है जिसका कथानक सुगठित है।

'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की प्रमुख विशेषता है कि प्रस्तावना समेत अन्य सातों द श्य एक दूसरे के साथ इस सीमा तक अन्तरग्रंथित है कि बीच में कहीं कोई व्यवधान नहीं आता और नाटक की कथा अपने निर्धारित गन्तव्य की ओर क्रमिक विकास के साथ अग्रसर होती रहती है। जिस प्रकार 'प्रस्तावना' में जो कुछ घटित होता है, वह तो होता ही है, अगले द श्य यानी पहले द श्य की योजना भी बन जाती है कि वहाँ क्या होगा। साथ ही पूरे नाटक की घटनाओं, संघर्षों की झलक भी यही मिल जाती है कि ऊँट किस करवट बैठेगा।

अब छठे द श्य की योजना को लिया जाए। यह इस नाटक का सबसे छोटा द श्य है जो केवल दो प ष्टों में है। इसमें कोई विशेष घटना नहीं है। केवल एक गीत है जो अपेक्षाकृत लम्बा है जिसे गाँव के लोग गाते हैं और दो संवाद हैं जो गपोले और रंगा के बीच होते हैं। बस, यह द श्य इतना ही है। गीत के दो भाग हैं उसका पूर्व भाग देवधर को लक्षित है और इसका भावार्थ यह है कि अब तुम हमारी पीठ पर चढ़े नहीं रह सकते। इसका उत्तर भाग दलितों और पीड़ितों के लिए प्रेरणा श्रोत है कि जब पानी का प्रवाह अपने आप रास्ते खोज लेता है तो आप लोग अपने लिए रास्ते क्यों नहीं बना सकते।

दो ही संवादों के द्वारा नाटक के पूर्व द श्य के बारे में सूचना है कि क्या हो चुका है और अगले द श्य के आरम्भ होने का संकेत भी है। इन्हीं कारणों से यह छोटा सा द श्य सार्थक हो गया है। यही स्थिति अन्य द श्यों की भी है जो केवल एक दूसरे से गहराई के साथ जुड़े हुए हैं। यह है नाटक की कथा का समुचित संयोजन जिससे नाटक के कथानक की कुशलता का परिचय मिलता है।

नाटक में कथा को समुचित गठन करके कथानक बनता है, परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें द श्य संयोजन भी होता है। द श्य एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हो और कथा क्रमशः आगे बढ़ती जाए जो अपने लक्ष्य तक पहुँच कर रूक जाए। उससे और आगे कथा नहीं जा सकती। कहाँ से आरम्भ हो, उनमें कब कौन-कौन से मोड़ आएँ, वह कहाँ तक पहुँचें, इसकी योजना रचनाकार को बनानी होती है। लक्ष्मीनारायण लाल अनुभवी नाटककार है। उन्होंने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नामक नाटक में अपने अनुभव का लाभ उठाया है और एक श्रेष्ठ कृति हिन्दी नाटक जगत को दी। इसी श्रेष्ठता में नाटक के कथानक के सुयोजन को भी श्रेय जाता है।

नाटककार ने इस नाटक 'सत्यनारायण की कथा' को केन्द्र में रखा है इसी पर सारा कथानक बुना है। नाटक के आरम्भ में प्रस्तावना है जिसमें सत्यनारायण की कथा एक पुरोहित सुनाते हैं। जिससे गाँव के लोग सुनते रहते हैं। इस कथा में किसी की कोई भूमिका नहीं है और न संलग्नता। कथा चलती रहती है और राजनीति पर बहस होती रहती है। कथा में लोगों की न आस्था है, न श्रद्धा भाव है। तन्मयता भी नहीं है। बस सब कुछ औपचारिकता मात्र है।

इस कथा पर सवर्ण लोगों का एकाधिकार है जिसे अवर्णों को वंचित रखा जाता है। इतना ही नहीं अवर्णों के प्रति घणाभाव को भी बढ़ाया जाता है। इस कथा को पूर्व जमींदार और वर्तमान नेता देवधर एक अस्त्र के रूप में काम में लाता है जिससे धर्म के नाम पर, सामाजिक परम्परा के नाम यथा स्थिति बनी रहे।

इस प्रकार नाटककार ने यह दिखाया है कि सत्यनारायण की कथा में लोगों की आस्था तो हो सकती, परन्तु उसका उपयोग निर्हीन स्वार्थों के अस्त्र के रूप में नहीं किया जा सकता। अतः वह सच्चे अर्थों में समय के अनुकूल दूसरी सत्यनारायण की कथा को प्रस्तुत करता है। इसके लिए वह सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के मंचन की योजना को कार्यान्वित करता है। यह कथा अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु स्वस्थ सामाजिकता के विकास की दृष्टि से एकदम आधुनिक है जो साधारण जन के लिए भी ग्राह्य है। नए ढंग की सत्यनारायण की कथा दृश्य एक से लेकर दृश्य सात तक चलती है, अर्थात् पूरे नाटक में प्रवाहित होती है और लक्ष्य पर पहुँचकर रूक जाती है। यहाँ सत्यनारायण से अभिप्राय-सत्य धर्म, सत्य का चरमोत्कर्ष, सत्य की सर्वोच्च ऊँचाई और गरिमा जो हमें नारायण या भगवान तक ले जाती है। सत्यनारायण से एक और आशय भी है जिसे यहाँ देख लेना चाहिए।

प्रायः साधारण जन, निर्धन आदि को दरिद्रनारायण कहा जाता है। साथ ही यह माना जाता है कि इस वर्ग का व्यक्ति झूठ नहीं बोलता, सत्य बोलता है। सत्यधर्म का पालन करने में अनेक अड़चने आती हैं, परीक्षा देनी पड़ती है, त्याग और बलिदान का जीवन बिताना होता है। इसी साधारण जन का प्रतीक या प्रतिनिधि हरिश्चन्द्र है जिसकी कथा इस नाटक में टुकड़े-टुकड़े में आती है और चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार नाटककार ने सच्चे अर्थों में सत्यनारायण की कथा कह दी है जो साधारण जन के लिए है। उसे प्रेरणा एवं स्फूर्ति देती है। उसके अपने जीवन को प्रतिबिम्बित करती है और नई चेतना से भर देती है। इससे सही और गलत, उचित-अनुचित, न्याय और अन्याय का विवेक भी मिलता है।

पहली सत्यनारायण की कथा अविचारित धर्म के भ्रम जाल में भटकाती है और दूसरी कथा सुविचारित सत्य धर्म की ओर बरबस ले जाती है। पहली कथा समाज में वर्णभेद और वर्गभेद की भावना का प्रसार करती है, समाज को तोड़ती है और यथास्थिति बनाए रखने में सहायक होती है। यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नाटक में इस कथा का दुरुपयोग करते हुए दिखाया गया है जो अनुचित है। दूसरी कथा सामूहिक भावना का प्रसार करती है, समाज को जोड़ती है और यथास्थिति को तोड़कर स्थितियों में बदलाव लाने में सहायक होती है।

इस प्रकार नाटककार ने कथानक का तानाबाना बुनते समय पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में दो कथा प्रसंगों को अपने ढंग से उठाया है। उनके माध्यम से जो बात नाटककार ने कही है, जो निष्कर्ष निकाले हैं, उसका अपना महत्त्व है और उससे कृति की सार्थकता प्रमाणित होती है। यह सामान्य बात नहीं है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मीनारायण लाल अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के माध्यम से पाठक, दर्शक के लिए मनोरंजन सामग्री ही नहीं जुटाते हैं, बल्कि विचारों की अभिव्यक्ति को भी कथानक में संयोजित किया है। उन्होंने इन्द्र और उनके इशारों पर चलने वाले विश्वामित्र की सच्चाइयों का उद्घाटन ही नहीं किया है, बल्कि देवधर बाबू की मानसिकता को उजागर करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। उन्होंने ऐसा दिखाया है कि इन्द्र और विश्वामित्र जैसे प्रभावशाली कदम-कदम पर पराजित होते हैं। उसी प्रकार देवधर जैसा अपराजेय व्यक्तित्व धीरे-धीरे अपने मुँह की खाता है। यह विषय केवल चरित्र चित्रण का नहीं है, बल्कि कथानक से सीधा-सीधा जुड़ा है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में कथा का संयोजन व्यापक धरातल पर बहु आयामी दृष्टि को लेकर किया है। उसका कथानक सुगठित ही नहीं, प्रभावशाली भी है। कथानक सुगठित है जिससे दिलचस्प कथा ही नहीं मिलती, बल्कि वैचारिक दृष्टि भी खुलती है। इससे स्वस्थ समाज के सुदृढ़ निर्माण की सुदृढ़ नींव रखने में मदद मिल सकती है और ऐसे उच्च स्तरीय नाटक संख्या में कम ही लिखे जाते हैं। सुन्दर कथानक इस नाटक के लिए वरदान सिद्ध हुआ है।

3. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' : उद्देश्य

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में युग परिदृश्य गम्भीरता से उभरा है। जब डॉ. लाल 1974-75 ई. में 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की रचना कर रहे थे, तब उनके पास जीवन के विविध क्षेत्रों के अनुभव थे। ये अनुभव उन्हें समाज, राजनीति, धर्म, अर्थ से प्राप्त हुए थे। उन्होंने अपने आसपास और दूरदराज के बहुपक्षीय जीवन को व्यापक संदर्भों में देखा और समझा था। वह जीवन की सच्चाई की गहराइयों में डूबकर देख रहे थे और अनुभव कर रहे थे। वह जीवन के इन विविध रूपों को छठे दशक से ही अपने नाटकों में अंकित कर रहे थे और नए-नए अनछुए क्षेत्रों की ओर बढ़ रहे हैं।

वह इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह से जानते थे कि हमारा समकालीन जीवन अनेक समस्याओं से ग्रस्त और त्रस्त है। ये समस्याएँ अत्यन्त विकट हैं जो व्यक्ति को स्वाभाविक ढंग से जीने नहीं देती। व्यक्ति उनसे असहाय, विवश जान पड़ता है। वह फिर भी उनके आगे घुटने नहीं टेकता, वह उससे थोड़ा बहुत प्रभावित होकर नये सिरे से साहस जुटा कर खड़ा होता है और सामना करता है।

डॉ. लाल ऐसे नाटककार हैं जो जीवन की सच्चाई की उपेक्षा नहीं करते अपितु उन्हें स्वीकार कर अपने नाटक में उसी रूप में उठाते हैं। इसी के साथ ही वे आशा और विश्वास बनाए रखते हैं। उनके एक छोर पर सच्चाई होती है दूसरे छोर पर विश्वास होता है और इन दोनों के बीच में संघर्ष या प्रयत्नशीलता होती है। इस क्रम से गुजरते हुए वह अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचते हैं और नया रास्ता खोज निकालते हैं।

जो रचनाकार जीवन की सच्चाई के साथ गहराई से जुड़ा है और जीवन के प्रति अत्यन्त आशावान है उसके पास अवश्य ही स्वस्थ दृष्टि होती है। इसे डॉ. लाल ने अपने हर नाटक में प्रमाणित किया है। आलोच्य नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में भी यही स्थिति सराहनीय रूप में उभरी है।

उन्हें नाटक सज्जन करने से पूर्व ज्ञात रहता है कि वे नाटक में क्या और क्यों देना चाहते हैं। वह यह भी जानते हैं कि यही क्यों देना चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि वह नाटक रचने से पूर्व पूरी योजना बना लेते हैं। उनके सामने कथ्य ही नहीं होता, दृष्टि भी होती है। इतना ही नहीं, यह दृष्टि ही उनकी कथा को अपने ढंग से संचालित करती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि किसी नाटक में कथा का चयन, कथानक की बुनावट, पात्रों का चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल वातावरण, भाषा सौष्टव, अभिनेयता और रंगमंच ही काफी नहीं है, रचनादृष्टि और उद्देश्य भी आवश्यक है। कहा जा सकता है कि रचनादृष्टि सबसे अधिक आवश्यक है।

एक बात यह भी है कि 'उद्देश्य' शब्द इतना व्यापक नहीं है जितना व्यापक है- 'रचनादृष्टि' शब्द। वैसे तो उद्देश्य भी पूरे नाटक में समाहित होता है, परन्तु इससे सामान्यतः यह अर्थ लिया जाता था कि नाटककार अपने नाटकों में किन निष्कर्ष पर पहुँचता है। अतः नाटककार नाटक

के अन्त में कुछ न कुछ ऐसा रख देता था जो नाटक का उद्देश्य समझ लिया जाता था। रचना दृष्टि के साथ यह बात नहीं है, अपितु यह तो समूचे नाटक आद्यान्त समाहित या प्रवाहित होती है, बाहर से आरोपित नहीं होती।

इस आधार पर यह देखा जा सकता है कि 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का उद्देश्य क्या है, उसकी रचना दृष्टि क्या है। इस नाटक में एक ओर मूल नाटक की कथा है तो दूसरी ओर मूल नाटक में उस नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' की कथा है जो खेला जा रहा है। इस प्रकार नाटक में नाटक उभर कर आता है। एक स्थल पर ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और एक निश्चित लक्ष्य पर जाकर समाप्त हो जाते हैं। सम्पूर्ण नाटक एक ही गन्तव्य की ओर प्रवाहित है जिसे उद्देश्य कहे या रचना दृष्टि।

इस नाटक में एक व्यक्ति है जो केन्द्रिय धुरी है जिसमें गतिशीलता, प्रगतिशीलता नहीं है बल्कि उसके विकास को रोके रखना चाहता है और खुद जमे रहना चाहता है, अगर उसे यह लगता है कि कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी उभर रहा है तो उसे समाप्त करने का उद्देश्य है, वह पहले जमींदार या उस नाते अपनी प्रजा पर शासन करता था। जमींदारी प्रथा समाप्त होने पर उसने राजनीति में प्रवेश पा लिया और पूर्व जमींदार होने के नाते राजनीति के खिलाड़ियों में अपनी धाक जमा ली। अतः वह प्रभावशाली राजनेता हो गया।

उसके बाद भी उसने अपने आप को नहीं बदला। वह जिस प्रकार पहले अपनी प्रजा पर नियन्त्रण रखता था, लोभ, भय या दण्ड का उपयोग करता था, वही सिलसिला राजनेता बनने के बाद भी चलता रहा। वह नए जमाने की माँग और जनता की आवाज को अनसुना करता रहा। इस प्रकार न वह बदला और न उसने जनता को बदलने दिया। आखिर वह दिन भी आया जब जनता अपने दुःखों से तंग आ गई और उसके असली चरित्र को समझ गई। तभी क्रान्ति हो गई जिस पर नियन्त्रण पाना उसके वश में नहीं था।

उस व्यक्ति का नाम है- देवधर जो दमन की राजनीति में ही विश्वास नहीं रखता, बल्कि व्यवहार में भी लाता है, उसके हाथ में सत्ता है और सभी अधिकार उसकी मुट्ठी में है। जब नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के सामने ऐसा व्यक्तित्व आया तो उनकी कल्पना शक्ति पुराण की ओर गई और वहाँ मिल गया- इन्द्र जो इन्द्र लोक का स्थायी शासक था। जब वह पृथ्वी लोक में किसी को विशेषतः उभरते हुए देखता था तो उस का इन्द्रासन डगमगा जाता था। तब वह विश्वामित्र की सहायता से उसे अपने रास्ते में से हटा देता था।

ऐसी ही स्थिति में नाटककार के सामने आया- हरिश्चन्द्र जो सत्यवादी हरिश्चन्द्र या सत्य हरिश्चन्द्र के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसी इन्द्र के संकेत पर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की परीक्षा ली थी जिसमें उसका परिवार भी बुरी तरह प्रभावित हुआ था। हरिश्चन्द्र स्वयं राजा था, परन्तु अपने से बड़ी सत्ता के फैलाए हुए जाल में फँस गया और अपनी आन की बात पर लुट-पिट गया। इसके बाद नाटककार फिर वर्तमान की ओर लौटा तो उसने पाया कि एक व्यक्ति ऐसा है जो जनता के हृदय पर शासन करता है। वह जाति से नीचा है, परन्तु काम बड़े करता है। वह सत्य का पालन ही नहीं करता बल्कि सत्य को जीतता है। उसे देखकर देवधर को इन्द्र की भाँति ईर्ष्या हो गई और वह बार-बार योजना बनाता रहा कि किस प्रकार लौका को समाप्त किया जाए। उसे यह भी आशंका थी कि कहीं वह देवधर का स्थान न ले ले।

बस, फिर क्या था! नाटककार ने आधुनिक काल और प्राचीन काल से मनवांछित कथा ले ली और उसका तारतम्य बैठाते हुए नाटक की रचना कर दी। उसने अपने सामने यह उद्देश्य रख लिया कि जो लोग सत्ता पर आसीन हैं और जनहित का काम न करके अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए तरह-तरह के षड्यन्त्र रच रहे हैं, वे लोग नहीं हैं, इसलिए उनके असली चेहरे पर लगे हुए नकली

चेहरे को उतार कर एक ओर रख दिया जाए और उनका असली चेहरा सबको दिखाया जाए। स्पष्ट है, इससे यह पता चल जाएगा कि वे सच्चे अर्थों में जनहित के काम नहीं कर रहे हैं, बल्कि जनता के दुश्मन हैं और जनता को दबाए रखने में ही उनका हित है।

दूसरी ओर नाटककार के सामने यह भी रहा है कि जो शोषित, पीड़ित, दीन-दुखी, निर्धन, वंचित और पददलित हैं, उनको वाणी दी जाए, उनमें चेतना जाग त की जाए जिससे वह संगठित होकर अपने बलबूते पर खड़े हो सकें। कोई और उनकी चिन्ता न करे और न अन्य कोई और उनकी लड़ाई लड़े। इसके स्थान पर वे अपनी चिन्ता स्वयं करें और अपनी लड़ाई खुद ही लड़ें। इस प्रकार नाटककार ने अपना काम कर दिया है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक में नाटककार ने एक जैसी स्थितियाँ नहीं रहने दी हैं, बल्कि विशेष दृष्टि को सामने रखते हुए उनमें पर्याप्त उलट फेर कर दिया है, पूरी तरह बदलाव ला दिया है। पहले जीतन, गपोले आदि देवधर के पक्षधर थे। उन्होंने आगे चलकर सच्चाई को पहचान लिया और वे देवधर के विरोधी शिविर में चले गए, अर्थात् वे लौका के पक्षधर बन गए। वास्तव में ऐसा नहीं है। पहले वे देवधर के पक्षधर थे, अब सच्चाई जान लेने के बाद वे सत्य एवं न्याय के पक्ष में आ खड़े हुए। उन्होंने अमानवीयता को त्याग कर न्याय और मानवीयता का पक्ष लिया और सामान्य जनता के हितों के साथ खड़े हो गए।

इस सन्दर्भ में देवधर और जीतन का संवाद देखिए, जहाँ जीतन के व्यक्तित्व का उन्वयन हो चुका है। वह संवाद इस प्रकार है-

देवधर: मेरा अनुभव है, लौका बदमाश है।

जीतन: पर यह सच नहीं है।

देवधर: सच कोई चीज नहीं है।

जीतन: यही मैं सोचता था, पर यह मेरा अनुभव नहीं था। जो आप सोचते थे, वही मुझे करना पड़ता था।

देवधर: मैं अब भी कहता हूँ- सत्य जैसी कोई चीज नहीं है।

जीतन: अर्थात् सब कुछ असत्य है।

देवधर: केवल शक्ति को छोड़कर

जीतन: शक्ति माने, कुछ चंद लोगों की राजनीति ?

देवधर: केवल ‘मैं’

जीतन: वही ‘मैं’ इन्द्र है।

यहाँ स्थिति का बदलाव उल्लेखनीय है जो पूर्वार्ध पर क्रम को प्रस्तुत करता है, पूर्व से वर्तमान के अन्तर को स्पष्ट करता है। जीतन की इस आत्मस्वीकृति में कितनी स्पष्टता है कि मैं भी पहले यही मानता था कि सच कोई चीज नहीं होती, परन्तु यह मेरा अनुभव नहीं था। वह देवधर की हाँ में हाँ मिलाता था। जब देवधर शक्ति की बात कहता है तो जीतन का कहना है कि शक्ति का सम्बन्ध थोड़े से ऊँचे लोगों की राजनीति से है।

नाटक की कथा कुछ और आगे बढ़ती है। तब जीतन उसी देवधर पर जबरदस्त प्रहार करता है- हम सब हरिश्चन्द्र हैं तुम्हारी राजनीति में। वहाँ राजा इन्द्र एक था, यहाँ राजा इन्द्र अनेक हैं पुलिस अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल, गुंडा यही है तुम्हारी राजनीति।

इससे स्पष्ट है कि सत्य, न्याय और उचित के पक्ष को हमेशा दबा कर नहीं रखा जा सकता। वह एक दिन उभरता ही है और अगर उस दिशा में प्रयत्न किया जाए तो यह अवश्य होकर रहेगा। इस नाटक में यही स्वस्थ दृष्टि है जिसे विकसित होते हुए देखा जा सकता है।

नाटक के अन्त में चरमोत्कर्ष उस बिन्दु पर हुआ है जब लौका ने साधारण जनता का पूर्ण विश्वास पा लिया। तब उसने अपनी और हरिश्चन्द्र की सारी परीक्षाओं से गुजरने के बाद स्पष्ट शब्दों में देवधर को सम्बोधित करते हुए कहा- चुप रह जाना हमारा विरोध था, परन्तु तुम उस भाषा को नहीं समझ सके। सत्ता है तुम्हारे पास, हम सब सिर्फ तुम्हारे हाथ के कठपुतले थे। यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था और तुम्हीं इसके सूत्रधार थे। चलो, अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की।

इस प्रकार यहाँ नाटककार ने सत्ता का पराभव और साधारण जनता का उत्कर्ष दिखाया है। सत्य से तात्पर्य है- ऐसे लोग जो सत्ता के मद में चूर होकर वह सब कुछ करते हैं जहाँ उचित-अनुचित की कोई सीमा नहीं होती। इसके साथ ही साधारण जनता से तात्पर्य यह है कि जिसके पास अपने लिए और कुछ नहीं है, बस सत्ताधारी के कोरे वादे हैं और अपने शोषित-पीड़ित होने के अनेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष चिन्ह हैं।

तो नाटककार ने यह पराभव और उत्कर्ष का कमाल दिखाया है, वह संतुलन लाने के लिए है अर्थात् जो ऊपर है उसे नीचे ले जाओ। बस, सब कुछ ठीक ठाक हो जाएगा नाटककार के सामने यह उद्देश्य रहा है कि नीचे गिरे हुए लोगों को ऐसा स्वरूप प्रदान किया जाए। जिससे उनमें अधिकार पाने की उत्कंठा जोर पकड़े और वे गलत कार्य करने वालों के विरुद्ध जम कर खड़े हो जाएँ। नाटककार का यह उद्देश्य सामान्य नहीं है, बल्कि विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अब तक विशेष सन्दर्भ राजनीति का था। अब समाज, अर्थ और धर्म को भी देख लें। इन आधारों पर इस नाटक में दो वर्ग दिखाए गए हैं- गरीब-अमीर, सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच, सम्पन्न-विपन्न। नाटककार ने जीवन की सच्चाइयों के आधार पर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सभी वर्णों और वर्गों के समान विकास के बिना हमारे सम्पूर्ण समाज और देश की प्रगति नहीं हो सकती। अतः भेद-भाव मिटाकर स्वस्थ समाज का विकास किया जाए, यही नाटककार का उद्देश्य है और यही कार्य उसने इस नाटक में किया है।

नाटककार ने दिखाया है कि गाँव में दो कुएँ हैं- एक कच्चा और दूसरा पक्का जो दूर-दूर हैं। उनमें से एक सवर्णों का, दूसरा अवर्णों का है। दोनों वर्ग अपने-अपने कुएँ से ही पानी भर सकते हैं, सामान्य स्थिति में ही नहीं, असमान्य स्थिति में भी। नाटक में एक जगह यह प्रसंग आया है कि देवधर ने अपनी राजनीति के चक्कर में हरिजन टोले में आग लगा दी। उस आग को बुझाने के लिए ज्यादा पानी की जरूरत थी, वे दोनों कुओं से पानी खींचने के लिए दौड़े। उस समय भी सवर्णों ने अपने कुएँ से पानी लेने नहीं दिया। इतना ही नहीं, उनकी खूब जमकर पिटाई भी कर दी गई।

अगर सवर्ण लोग कुएँ से पानी निकाल रहे हैं, कोई अवर्ण उधर से गुजरे और पीने के लिए पानी न मिले तो यह गलत है। सवर्ण मानता है कि अवर्ण को प्यास लगती ही नहीं वह मनुष्य ही नहीं अगर उसे प्यास है तो अपने कुएँ पर जाकर पानी पीये, तभी तो पुरोहित इस नाटक में घुमंतू को झाड़ पिलाकर भगा देता है- "शूद्र कही का, कुएँ पर चढ़ आया, भागता है या यह कहकर वह अपने ऊपर जल छिड़कता है।

अब देखिए, जब समाज में इस प्रकार का भेद-भाव हो तो वहाँ आपसी सद्भाव और भाईचारा

कैसे बन सकता है। हम आज भी समाज को गतिशील नहीं बनाना चाहते और कोई बदलाव लाने का प्रयत्न नहीं करते हैं। नाटककार ने अपने इस नाटक द्वारा समाज में व्यापक परिवर्तन लाने के लिए भरपूर प्रयत्न किये हैं और यही नाटक का उद्देश्य है। नाटककार को अपने उद्देश्य में अवश्य ही सफलता मिलती है।

अवर्ण धर्म की दृष्टि से भी सवर्णों के समान स्तर पर नहीं है। उन्हें यह अधिकार नहीं है कि वे सत्यनारायण की कथा सवर्णों के साथ बैठकर सुन सकें। वे सत्यनारायण की कथा करने के अधिकारी भी नहीं हैं। इस नाटक में एक प्रसंग आता है जब पुरोहित सत्यनारायण की कथा सुनाता है। उसके लगभग अन्त में लौका सबको आमन्त्रित करता है कि इसी इतवार के संध्या समय मेरे घर पधारें, हम सब सत्यनारायण की कथा सुनेंगे।

उसके जाने के बाद देवधर सवर्ण लोगों को भड़काता है। वह कहता है- हट, शूद्र लौका सत्यनारायण की कथा कहेगा। यह सरासर अधर्म है। हिन्दू धर्म खतरे में है। लौका जान-बूझकर हमारे शान्त इलाके में साम्प्रदायिक आग भड़काना चाहता है। सत्यनारायण की कथा हिन्दू धर्म है। धर्म विश्वास है, उसी विश्वास पर यह नीच चोट करना चाह रहा है। भूख, शूद्र और अज्ञान-ये तीनों धर्म साधना के बहुत बड़े विघ्न हैं। सतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति में कहा है- अब्राह्मण और शूद्र ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं हैं। शूद्र को वेद पढ़ने की मनाही है। शूद्र श्मशान समान है। यदि वह धर्म ग्रन्थ पढ़ते-सुनते पाया जाए तो उसकी जबान काट देनी चाहिए, उसके कान को पिघले शीशे और लाख से भर देना चाहिए।

यह समाज का स्वस्थ रूप नहीं है कितनी बड़ी घणा का भाव व्यक्त हो रहा है। यह भाव समाज को तोड़ता है। देवधर जैसे लोग हमारे समाज में आज भी हैं जो आदमी को आदमी नहीं समझते। कितनी गलत बात है कि हम अपने ही समाज के अभिन्न अंग के प्रति इस प्रकार के घणित विचार रखें और सार्वजनिक तौर पर उनके विरुद्ध प्रचार करते रहें। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के नाम लेकर उनके विरुद्ध माहौल को गरमाएँ, भले ही उन धर्म-ग्रन्थों में यह सब कहा गया हो तो उसके अर्थ कुछ और हों।

अगर उन धर्मग्रन्थों में इसी अर्थ में यह सब लिखा है जो देवधर कह रहा है, तो भी आज हम उसे नहीं मानते। आज हम 21वीं सदी की ओर बढ़ रहे हैं और इस प्रकार के भेदभाव पूर्ण विचारों को पकड़ें रहे जो हमारे दिमाग में कीड़े उपजाते हैं तो यह अनुचित है। निश्चित ही इस प्रकार के विद्वेषपूर्ण विचार समाज के विकास में अत्यंत घातक हैं जिन्हें नाटककार ने समझ लिया है और इस महत् उद्देश्य को अपने सामने रख कर ही उसने इस नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की रचना की है। यह अवश्य ही सफल नाटक है। वास्तव में, देवधर जैसे लोग बहुत खतरनाक होते हैं। वे अपने हितों के साधन में व्यस्त रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए मुख्य बात यह है कि वे उस व्यक्ति या वर्ग को कभी सहन नहीं कर सकते जो उनके पक्ष में न हो। अगर उन्हें किसी से कोई खतरा नजर आता है तो वही उनका सच्चा दुश्मन है, भले वह किसी वर्ग, धर्म, जाति का हो। देवधर को लौका पसंद नहीं है, वह उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभर रहा है। अवर्ण लोग भी पसंद नहीं हैं, क्योंकि वे लौका को अपना सम्पूर्ण समर्थन दे रहे हैं।

इतना ही नहीं, आगे चलकर उसके करतब ही ऐसे रहे जिसके कारण उसके सहयोगी और सवर्णों के प्रतिनिधि जीतन, गपोले आदि भी उनके विरुद्ध हो गए, अर्थात् वे सच्चाई को जान गए। वे उसका खुलकर विरोध करने लगे। इस पर देवधर ने उन्हें भी आड़े हाथों लिया और उनके लिए भी लगभग उसी शब्दावली का प्रयोग किया जिसे वह लौका आदि के लिए बोलता था।

देवधर जीतन पर आरोप लगाता है कि वह लौका की जबान बोल रहा है। वह यहाँ तक कहता है- यह विधर्मी है। धर्म के नाटक में विघ्न डालता है। नाटक को पूरा नहीं होने देता। नाटक के अन्त में हरिश्चन्द्र को स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग पाने के लिए उसे कुछ कष्ट सहने पड़ेंगे। यही तो बात है। यह कुछ समझता क्यों नहीं और लोगों को समझने नहीं देता। सोचने की बात है, वर्तमान के बिना दुख झेले, बिना चरित्र की परीक्षा दिये सुखद भविष्य कहाँ से आएगा। इस दरिद्र पृथ्वी पर स्वर्ग लाने के लिए प्रजा की तपस्या जरूरी है।

तात्पर्य यह है कि देवधर अपनी चालाकी से इस बात को धर्म के साथ जोड़ देता है। वह स्वयं भौतिक जीवन के सारे सुख भोगना चाहता है और जनता को सुखद भविष्य का सपना दिखाता है, जिसे पहले कष्ट झेलने होंगे। यह जीवन का दोहरा मानदण्ड है जिसे वह अपनाकर चलता है। नाटककार नाटक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसकी असलियत की पोल खोल देता है। यह इस नाटक का उद्देश्य है।

इस प्रकार नाटककार ने जीवन यथार्थ के आलोक में धर्म, अर्थ, राजनीति और समाज के विभिन्न क्षेत्रों को उभारा है और नाटक में अनेक विसंगतियों को घटित होते हुए दिखाया है। नाटककार यह दिखा देता है कि हमारा समाज बीमार है। वह क्यों बीमार है ? उसे क्या-क्या बीमारियाँ हैं ? उसे बीमार बनाने वाला वर्ग कौन सा है उसकी बीमारियाँ कैसे दूर हो सकती हैं ? उसके लिए क्या-क्या उपचार करने होंगे ? नाटककार इस नाटक में इन सभी प्रश्नों के उत्तर भी दे देता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में अपने सामने महत् उद्देश्य लेकर चलते हैं और उनका निर्वाह भी भली भाँति करते रहे हैं। यह वर्ग-भेद और वर्ग-भेद के कारणों की खोज करते रहे हैं, विद्वेष के आधार को हमारे सामने रखते हैं और अस्वस्थ समाज की चेतना जगाने में असमर्थ होते हैं। उन्होंने समाज के कथाकथित ठेकेदारों के विरुद्ध अभियान छेड़कर, साधारण जनता में चेतना जगाकर उसे एकजुट कर दिया है, जिससे अब आशा बँध गई है कि भविष्य उज्ज्वल होगा। यह नाटककार की स्वस्थ रचना दृष्टि है, जिसे नाटक में सक्षमता के साथ प्रस्तुत किया है।

निश्चय ही 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का उद्देश्य प्रतिपादन की दृष्टि से सफल नाट्यकृति है।

4. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' : अभिनेयता की दृष्टि से समीक्षा

महान नाटककार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल की लेखनी से रचित 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' ऐसा नाटक है जो सुपाठ्य तो है ही, अभिनेय भी है। इसका प्रमाण यह है कि इसका सफल मंचन कितनी ही बार विभिन्न नाट्यमंचों से हो चुका है। इसकी सर्वप्रथम प्रस्तुति सन् 1975 ई. में हुई थी जबकि इसका मंचन नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा ने नई दिल्ली में किया था। इसका निर्देशन एम. के. रैणा ने किया था जो कि एक युवा निर्देशक थे और अपनी निर्देशन प्रतिभा का प्रमाण अन्य नाटकों के मंचन में दे चुके थे।

इस नाटक के मंचन में युवा प्रतिभा और अनुभवी प्रतिभा का अद्भुत संगम हुआ था, क्योंकि नाटक के रचयिता लक्ष्मीनारायण लाल अपने अनेक नाटकों द्वारा हिन्दी नाट्य जगत में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उन्होंने इस क्षेत्र में धूम मचा दी थी। अतः इस नाटक की प्रस्तुति में नाटककार और निर्देशक की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। परस्पर समन्वय एवं सहयोग की भावना बनी रही है।

जब दो प्रतिभाएँ एक जगह मिलें तो अवश्य ही चमत्कार होगा और इस विशिष्ट नाटक के

विशिष्ट मंचन से यह प्रमाणित हो गया कि वास्तव में विशिष्टों का योग रंग लाता ही है। ये दो व्यक्तित्व ऐसे थे जो अपने-अपने क्षेत्र के ज्ञाता ही नहीं थे बल्कि व्यवहारिक अनुभव प्राप्त भी थे। एम. के. रैणा यह जानते थे कि वह किस नाटक को उठाये कि सक्षम और प्रभावी अभिव्यक्ति हो। इसलिए उन्होंने लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' को उठाया जो अत्यन्त सफल रहा।

लक्ष्मीनारायण लाल इस नाटक से पहले दो दशक से भी अधिक समय नाटकों की रचना करते रहे थे। वह नाटक लिखते ही नहीं थे, बल्कि रंगकर्म से भी पूरी तरह जुड़े हुए थे। रंगकर्म से अभिप्राय नाटक के मंचन से सम्बन्धित अनेक पक्ष जिनमें निर्देशन, अभिनय, मंच-व्यवस्था, वेशभूषा, प्रकाश व्यवस्था प्रमुख हैं। यह सच्चाई है कि वह नाटक में अभिनय भी करते थे।

यह सर्वज्ञात एवं सर्वमान्य तथ्य है कि नाटक एक दृश्य काव्य है। अतः मंच ही उसकी कसौटी है। नाटक में नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की संलग्नता इस सीमा तक थी कि वह अनेक नाटकों के मंचन से पूर्व उनके पूर्वाभ्यास देखा करते थे। वह नाटक और रंगमंच के प्रति पूरी तरह समर्पित थे तथा इसी समर्पण भाव के कारण उच्चस्तरीय नाटक की रचना कर सके।

वह नाटक की रचना करने से पूर्व नाटक के कथ्य और रंगमंच की स्थिति की कल्पना एक साथ किया करते थे। उनके सामने यह स्पष्ट था कि नाटक के कथ्य को रंगमंच की आवश्यकता के अनुसार ढालना होता है, तभी नाटक सच्चे अर्थों में नाटक बन सकता है। वह नाट्य संयोजन की पूर्व कल्पना के अनुसार ही नाट्य रचना में संलग्न होते थे। अतः उनका नाटक इसी क्रम में क्रमशः आगे बढ़ता है और अन्त में उस बिन्दु तक पहुँच जाता है जो उनका गन्तव्य है।

जब वह अपनी निर्धारित रचना प्रक्रिया के अनुसार नाटक की रचना कर लेते थे तो उसका मंचन कराते थे। वह मंचन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में विद्यमान रहते थे। वह नाट्य कलाकारों के संवाद सुनते थे। साथ ही नाट्य प्रभावों पर ध्यान देते थे और तदनुसार अपनी नाट्य पाण्डुलिपि में संशोधन करते थे। उसके उपरान्त ही वह नाटक का प्रकाशन कराते थे। इस प्रकार उनकी नाट्य कृति पूर्णतः मंचन के अनुकूल होती थी। स्पष्ट है मंचन के बाद ही यह प्रकाशित होती थी। उनके संदर्भित नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के साथ भी ऐसा ही हुआ और सामान्यतः नाटक के लिए यही उचित पद्धति है।

लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' रंगमंच की दृष्टि से पूर्ण सफल नाट्यकृति है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? इसमें रंगकर्म के सभी पहलुओं पर पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। इसमें नाट्य स्थितियों का अंकन अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है। इसके साथ ही इसमें अन्य दृष्टि से भी बारीकियाँ विद्यमान हैं जिन्हें इसके पढ़ने और मंचन को देखने से जाना जा सकता है।

इस प्रकार 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की संकल्पना पूर्णतः अभिनेयता को ध्यान में रख कर की गई है जिसका कुशल एवं कलात्मक निर्वाह आरम्भ से अन्त तक किया गया है। इसमें सर्वप्रथम नाटककार ने 'प्रस्तावना' का अयोजन किया है जो नाटक के सातों दृश्यों से नितान्त अलग है। यह प्रस्तावना नाटक से सम्बन्धित ही नहीं है, बल्कि नाटक का अभिन्न अंग भी है। इसे नाटक का पूर्वराग या पूर्वाभास भी कहा जा सकता है, परन्तु यह इससे भी कहीं अधिक है।

सच्चाई यह है कि 'प्रस्तावना' नाटक के लिये इतनी महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य है कि इसकी अनुपस्थिति में नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती। अवश्य ही यह नाटक आरम्भ होने की पूर्व स्थिति है जिसमें कुछ आवश्यक सूचनाएँ दी गई हैं। वास्तव में ये रंग-निर्देश हैं जिन्हें

नाटककार ने नाट्य निर्देशन की सुविधा के लिए दिया है। नाटक का निर्देशक इन्हीं के अनुसार रंगमंच की व्यवस्था कर सकता है। वैसे वह चाहे तो कुछ संशोधन भी कर सकता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दिया जाए कि 'प्रस्तावना' में रंग संकेत तो दिये गए हैं, परन्तु इसमें इससे भी अधिक बहुत कुछ है, इसे यहाँ देख लिया जाए। परदा उठ चुका है। पात्र एक-एक करके मंच पर आने लगे। कार्यव्यापार आरम्भ हो चुका है। इतना ही नहीं, एकपक्षीय संवाद भी आरम्भ हो चुके हैं। रंग स्थापना के बाद नाटक का मुख्य कार्यव्यापार चल पड़ा है। नाटक का पहला दृश्य खुलने से ही नाटक अपना आधार सुदृढ़ कर लेता है, उससे भी अधिक यह कार्य कि वह पाठकों या दर्शकों को पूरी तरह अपनी जकड़ में ले लेता है।

प्रस्तावना में ही एक अन्य बात दिखाई देती है। नाटककार ने नाटक की कथा को गाँव की पृष्ठभूमि में घटित होते दिखाया है। एक गाँव है, गाँव में दो कुएँ हैं, एक पक्का दूसरा कच्चा। नाटक का कार्य व्यापार कुएँ पर दिखाया गया है, परन्तु कच्चे कुएँ पर भी कुछ न कुछ चल रहा है।

नाटककार को पता है कि क्या दिखाना है और किस पर कितना जोर देना है। पुरोहित सत्यनारायण की कथा सुना रहा है और कथा सुनाना नाटककार का मुख्य काम नहीं है। अतः वह यह दिखा देता है कि जो लोग कथा सुन रहे हैं, वे राजनीति पर बहस कर रहे हैं। इसका सूत्रपात भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर ने किया है जो कथा को आधार बना कर वहाँ श्रोताओं को एकत्र कर लेता है और वातावरण को अपने पक्ष में कर लेना चाहता है।

इस प्रकार नाटककार उन्हीं बिन्दुओं को उभारता है जो उसे उस मार्ग पर ले चलते हैं जहाँ से नाटक की कथा को प्रवाहित करते हुए वह अपने गन्तव्य पर ले जाता है। यह नाटककार का नाट्य कौशल है जिसके बल पर वह नाटक की कथा को पूरे मंच पर घटित होते हुए दिखाता है, अर्थात् मंच के तीन स्थलों पर कार्य व्यापार चलता है- कच्चे कुएँ पर, पक्के कुएँ के चबूतरे पर, चबूतरे के सामने और दाईं ओर के स्थल पर। इसे अन्धकार और प्रकाश के माध्यम से बखूबी दिखाया जा सकेगा।

नाटककार ने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में अंक विभाजन नहीं किया है। सबसे पहले प्रस्तावना और फिर सात दृश्य हैं। कहा जा सकता है कि इसमें एक ही अंक है जो कथित नहीं है। फिर भी इसे एकांकी नाटक नहीं कह सकते। यह पूर्ण नाटक है। इसकी परिकल्पना उसी समयावधि के हिसाब से की गई है जो समय किसी बड़े नाटक को खेलने में लगता है यानी दो-ढाई घण्टे।

'प्रस्तावना' में नाटक के सभी महत्वपूर्ण पात्र आ गए हैं और मुख्य कथा भी आ गई है। इसमें भावी कथा के संकेत भी हैं और नाटक की मुख्य समस्या का आधार भी यहीं बन जाता है। उल्लेखनीय है कि शेष नाटक में सब का विस्तार होता है और नाटक में उन अंशों को अवश्य दिखाया जाता है जिनसे नाटक की मुख्य कथा-भूमि बनती है। 'प्रस्तावना' में नाटक शुरू हुआ जो आधुनिक काल में खुलता है और संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार होती है जो आगे जाकर स्पष्ट हो जाती है।

पहला दृश्य गाँव की पृष्ठभूमि में है जहाँ मूल नाटक के पात्र एकत्र होते हैं और लौका की योजना के अनुसार नाटक में नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' शुरू हो जाता है। इस नाटक में वे ही पात्र विभिन्न भूमिकाओं में उतरते हैं जो मूल नाटक के मुख्य पात्र हैं जो आगे तक अपनी दोहरी भूमिका निभाते हैं।

नाटककार ने मुख्य नाटक के भीतर नाटक की परिकल्पना युगानुरूप की है जो पात्रों के अनुसार भी बिल्कुल उपयुक्त बैठती है। यह सामान्य योजना नहीं है, अपितु अति विशिष्ट है। मिथक से

ऐसी कथा का चयन अपने आप में महत्त्व रखता है कि उसे आधुनिक जीवन के साथ चरितार्थ दिखाया जा सके। इन्द्र की भूमिका में देवधर और हरिश्चन्द्र की भूमिका में लौका विशेष संदर्भ ही नहीं रखते, सार्थक भी हैं।

तो पहले द श्य में नाटक शुरू हुआ और वहीं हरिश्चन्द्र ने अपना सारा राज्य स्वप्न में मुनि विश्वामित्र को दान में दे दिया जो इन्द्र की योजना के अनुसार था। अब दक्षिणा देने के लिए अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित को लेकर मुनि विश्वामित्र के साथ काशी की ओर चल दिए।

दूसरा द श्य मार्ग में खुलता है जहाँ हरिश्चन्द्र पहले द श्य के अन्तिम भाग की स्थिति में चले जा रहे हैं। वे आपस में बातचीत करते जा रहे हैं, बीच-बीच में एक बाँसुरी बजाने वाला चरवाहा आकर उस एकरूपता को भंग करता है और बातचीत का सूत्र आगे बढ़ता है। अंत में रंगा का गीत है जिसमें उस समय की बाहरी स्थिति है और हरिश्चन्द्र को विश्वामित्र की मानसिकता की झलक मिल जाती है।

तीसरा द श्य पुनः गाँव में ही खुलता है जहाँ मूल नाटक के मूल पात्र एकत्र होते हैं और अपनी-अपनी मानसिकता के अनुसार आपस में बातें करते हैं। अन्त में पदमा का गीत और न त्य होता है।

पहले तीन द श्यों की योजना में स्थान की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। वे लगभग एक जैसे हैं। पाँचवें और छठे द श्य भी वैसे ही हैं। उन द श्यों के मंचन में कोई कठिनाई नहीं आएगी। नाटककार ने सभी द श्यों के लिए साधारण रंगमंच की कल्पना की है कोई विशेष अन्तर नहीं है। वे लगभग एक जैसे हैं। कोई विशेष साज-सज्जा की व्यवस्था नहीं है।

हाँ, चौथा द श्य और सातवाँ, यानी अन्तिम द श्य अवश्य ही कुछ अलग है। चौथे द श्य के आरम्भ में नाटककार ने रंग संकेत इस प्रकार दिए हैं- काशी का बाजार। दुकानें लगी हैं, चीजों के बेचने वाले आवाजें लगा रहे हैं। एक और काशी की प्रसिद्ध पतुरिया का कोठा है।

सातवाँ द श्य भी काशी के बाजार में ही खुलता है जहाँ बाजार मुख्य नहीं है। बल्कि पतुरिया का कोठा ही केन्द्र में है, जहाँ लोग बैठे हैं। संगीत और न त्य चल रहा है। जब छैला के हाथों रोहित की हत्या हो जाती है तो इसमें द श्यान्तर होता है और घटना-केन्द्र श्मशान घाट पर पहुँच जाता है। रोहित की मृत्यु पर जो करुणा प्रवाहित होती है, वह इस द श्यान्तर में बनी रहती है।

अन्ततः नाटक में जो नाटक चल रहा था, वह समाप्त हो जाता है और पुनः मूल पात्र अपने मूल रूप में आ जाते हैं। तब नाटक अपनी पूर्ण प्रभाव-क्षमता के साथ समाप्त हो जाता है।

अभिनेयता और रंगमंच की दृष्टि से यह सफल नाटक है और सशक्त भी इसमें नाटककार ने द श्यों की जो योजना बनाई है, वह रंगमंच और अभिनेयता की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त है। नाटककार ने जगह-जगह जहाँ आवश्यक हुआ है, रंग संकेत दिए हैं। ये रंग संकेत न संख्या में अधिक हैं और न कम हैं। इनसे पात्रों का मंच पर प्रवेश और प्रस्थान ही नहीं पता चलता, अन्य कार्य कलाप का आभास भी मिल जाता है। इनकी मदद से दो स्थितियों या कार्यों के बीच का अन्तराल भी स्पष्ट हो जाता है।

इस नाटक के संवाद भी सशक्त हैं। उनमें विविधरूपता भी मिलती है। कहीं संवाद छोटे हैं, कहीं बड़े हैं, कहीं उनमें जीवन की ठोस स्थितियाँ हैं, कहीं दर्शन है, कहीं भावमयता है और कहीं वैचारिकता है, कहीं प्रेम, रोमांस है, कहीं राजनीति की चालें हैं, कहीं सामान्य स्थिति है और कहीं विशेष स्थिति, कहीं पात्रों का बाहरी रूप खुल रहा है और कहीं उनका भीतरी स्वरूप प्रकट हो रहा है, कहीं हँसी प्रकट हो रही है और कहीं क्रोध का आवेश है, कहीं सीधी-सादी अभिव्यक्ति है और कहीं व्यंग्यमयी अभिव्यक्ति है।

कहीं संवाद पात्रों के बीच है जबकि पात्र आमने सामने हैं और कहीं संवाद केवल एक दो पात्रों से है, शेष पात्र उन्हें नहीं सुन रहे हैं। कहीं स्वागत कथन है और कहीं दर्शकों को संबोधित है। कहीं पूरे संवाद हैं, कहीं अधूरे हैं, कहीं एक पात्र अपनी बात को बीच में छोड़ देता है और दूसरा पात्र उसे पूरा करता है। इस अन्तिम रूप का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है-

लौका: गरीबों की मुफलिसी कहती है.....

वद्ध: ई कैसा सुराज है भइया, इससे तो अंग्रेजी राज अच्छा रहा।

लौका: और यहाँ की अमीरी कहती है

गपोले: कैसा बेकार का सड़ा लोक है, इसके लिए इतना किया जाता है, पर यह नमक हराम है। संवाद दिए हैं, वे यथार्थ जीवन पर आधारित हैं, गहन अनुभव से उपजे हैं, इतना ही नहीं, वे नाटक की बदलती हुई माँग के अनुसार हैं और जीवंत भी।

इसमें पश्चिमी नाटक का रंगमंच नहीं है, बल्कि प्राचीन भारतीय रंगमंच को आधार बनाया गया है। विशेष बात यह है कि इसमें प्राचीन भारतीय रंगमंच को यथावत् नहीं अपनाया गया है, बल्कि उसे नाटककार ने अपनी आवश्यकता के अनुसार तोड़ा-मरोड़ा है और अपने हिसाब से ही उसे अपनाया है। कहा जा सकता है कि नाटककार ने इसमें आधुनिकता का पुट दिया है। इस प्रकार उसने प्राचीन भारतीय नाट्य शास्त्र को युगानुरूप आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया है, यानी उसे आधुनिक रूप दे दिया गया है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक की भूमिका श्री पाल जैकब द्वारा लिखी गई है जो नाटक में सबसे पहले ‘पूर्व रंग’ के रूप में है। यह अपने मूल रूप में है। यह अपने मूल रूप में नाटक की मंचीय प्रस्तुति हो जाने के बाद “लिक” अंग्रेजी पत्रिका में समीक्षा के रूप में प्रकाशित हुई थी। इसमें इस नाटक के नाट्य शिल्प, विशेष रूप से इसकी रंगमंचीय क्षमता का अच्छा परिचय मिलता है। वह कहते हैं- इसका नाट्य जितना ही प्राचीन है, वही इसका अपना आधुनिक है। शुद्ध संस्कृत नाटक के समान इस नाटक का जीवन यथार्थ अपने नाट्य के साथ विकसित हुआ है, यथार्थ से सत्य की ओर बढ़ता है- पूरी भौतिकता से सत्य की ओर जाता है और फिर अपने मौलिक धरातल और जीवन यथार्थ के सम पर लौट आता है। यह प्रत्यावर्तन, आवर्तन बार-बार होता है।

पाल जैकब यह भी कहते हैं कि इस नाटक में लाल का नाट्य स्वरूप, रंगशिल्प, शुद्ध रूप से शास्त्रीय भारतीय नाट्य की समझ और पहचान से उद्भूत है। यह पहचान और समझ जो बताती है कि जो शास्त्रीय में परम्परा से ही चिरंतन आधुनिकता है।

पाल जैकब एक और महत्वपूर्ण बात कहते हैं- इस नाटक के रूपबन्ध का आधार संस्कृत नाटकों का है। संस्कृत नाटक की बुनियादी बातें, वे बुनियादी तत्त्व जिन्हें आज कथात्मक रूप से हृदयंगम करना कठिन हो गया, इसके नाट्य स्वरूप से परिव्याप्त है। स्पष्ट और गहरे ढंग से उसका प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए संस्कृत नाट्य का बुनियादी तत्त्व है गोलाई, व ताकार में चालन। कहना, बार-बार कुछ कहना और फिर वही कार्य में अभिनीत करना।

इस प्रकार नाटककार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने प्रमुख नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ में अभिनेयता और रंगमंच के क्षेत्र में विशेष सामर्थ्य को प्रदर्शित किया है। उन्होंने संस्कृत नाटक की सूत्रधार की योजना को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है जो उनकी निजी मौलिक प्रस्तुति है। जैसे प्रस्तावना के अन्त में ही लौका सूत्रधार के काम को अपने हाथ में ले लेता है और स्वयं

ही सूचना देता है कि रविवार की शाम को सत्यनारायण की कथा सुनने के लिए सभी लोग उसके निवास पर आमंत्रित हैं।

इसके बाद पहले दृश्य में रंगा सूत्रधार की भूमिका को स्वयं ही सम्भाल लेता है जिसके लिए कोई भूमिका बाँधने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। वह नाटक की शुरुआत इस प्रकार करता है -

**महा मुक्तिदायक अहा मंगल मोद निधान
सत्य हरिश्चन्द्र का चरित सुनो लगाकर कान।**

इस प्रकार यहाँ से लेकर नाटक में नाटक के अन्तिम दृश्य स्थल तक रंगा के हाथ में नाटक की कथा का सूत्र होता है और वह बीच-बीच में पिछली अगली कथा के सूत्रों को जोड़ता हुआ नाटक की कथा के साथ चलता रहता है। यह अद्भुत योजना है जो रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है।

इस नाटक में जगह-जगह गीतों का प्रयोग किया गया है। गीत नाटक की मूल चेतना के आधार पर हैं। नाटक की मूल चेतना ग्रामीण जीवन का आधार बना कर चलती है। इसलिए यह नाटक लोकनाट्य को लेकर चलता है। कह सकते हैं, यह नाटक नौटंकी के रूप में है और इसलिए गीत उसी चेतना को उद्घटित करते नजर आते हैं। एक उदाहरण लें-

**माया के मोहक बन की क्या कहूँ कहानी परदेसी,
भय है हँस से कह दोगे मेरी नादानी परदेसी।
इस उपवन की पगडंडी से बच कर जाना परदेसी,
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेसी।**

इस लोक नाट्यधर्मी नाटक में एक और गीत देखिए-

**नजर लगी राजा तोरे बंगले में,
जो मैं होत्यूँ राजा बेला चमेली
गमकि रहत्यूँ राजा तोरे बंगले में
जो होती राजा कारी कोइलिया
कूहुकि रहत्यूँ राजा तोरे बंगले में।**

इस नाटक में संस्कृत नाटक की भाँति भरत वाक्य की योजना भी है जो नाटककार लाल की कल्पना के अनुसार मौलिकता लिये हुए है। वह नाटक के अन्त में आरती के माध्यम से इस भरत वाक्य को नए रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। उदाहरण लीजिए-

**भारत जननि तेरी जय हो विजय हो।
युग-युग से करते आए धर्म कथा कीर्तन
युग-युग से सुनते आए ऋषियों के प्रवचन
चिर रहस्य में डूबे धार्मिक उपदेशों के
किन्तु नहीं बदलाव है जन मन का जीवन
सोचो फिर कैसे जीवन अभय हो।
धर्म रहस्य है नहीं, धर्म है सजीवन
सत्य है वही जी सका यह जीवन
अन्न, धूप, माटी के पूत हम सनातन
नव विहान सब समान प्रान सब सदय हो।**

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के रचयिता डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अभिनेयता और रंगमंच का बराबर ध्यान रखा है। इसका निर्वाह आदि से अन्त तक भली प्रकार किया है। उन्होंने इस आधार पर अनेक प्रयोग किए हैं। वह प्राचीन भारतीय संस्कृत नाट्यशास्त्र के ऋणी हैं जिसका उपयोग उन्होंने इस नाटक में किया है। फिर भी उनकी प्रतिभा अवश्य ही सराहनीय है जिसके अनुसार उन्होंने प्राचीन नाट्य रूपों को नए रूपों में प्रस्तुत किया है। इससे कहीं भी किसी भी रूप में बोझिल अभिव्यक्ति नहीं हुई है। वह सरल सहज नाट्य शैली को अपनाकर प्रभावी अभिव्यक्ति देने में पूर्णतः सफल हुए हैं। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक रंगमंच के पूर्ण अनुकूल है। यह नाटक केवल कथ्य की महत्ता के कारण ही नहीं, शिल्प की परिपक्वता, अभिनेयता और रंगमंच की शक्ति लेकर उल्लेखनीय और सराहनीय है।

5. "एक सत्य हरिश्चन्द्र का व्यंग्य विधान"

लक्ष्मीनारायण लाल अपने नाटकों, कहानियों और उपन्यासों में व्यंग्य के विविध आयामों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम समाज को सहजता से प्रेरित करने के लिए बनाते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वह जीवन के जिन यथार्थ क्षेत्रों का अंकन अपने साहित्य में करते रहे हैं। हाँ जीवन स्थितियाँ अत्यन्त विषम हैं। विषमता से एक ओर त्रासद स्थितियाँ उभरती हैं तो दूसरी ओर संघर्ष को आधार मिलता है। एक सच्चा साहित्यकार इन्हें अंकित किए बिना नहीं रह सकता।

जब इतनी विकट स्थितियाँ हों तो सामान्यतः रचनाकार को दो रास्तों में से एक चुनना होता है या तो वह करुणा विगलत स्थितियाँ दिखाएगा जहाँ पात्र भाग्य और भगवान के मारे हुए हैं या उनकी कृपा से वंचित हैं और ऐसी स्थिति में वह शोषित पीड़ित पात्र या पात्रों की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित करा देगा। दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि वह स्थिति शक्तिशाली व्यक्ति, व्यवस्था आदि में से किसी एक पर या सब पर जबरदस्त व्यंग्य करेगा। वह कहीं पर "सौ चोट सुनार की" लगाएगा और कहीं "एक चोट लोहार की" से ही काम चला लेगा।

लक्ष्मीनारायण लाल ने अपनी रचनाओं में आँसू बहाना पसन्द नहीं किया। इसलिए वह हमेशा व्यंग्य का सहारा लेते हैं। उन्होंने अपने सभी नाटकों में इसे बखूबी अपनाया है और 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में भी इसकी प्रधानता है। शुरु से लेकर आखिर तक व्यंग्य की भरमार है, चोट पर चोट है, हल्की-फुल्की और भारी भरकम चोट है।

सामान्य रूप से देखें तो पता चलेगा कि इस नाटक की कथा ही कुछ ऐसी है, जिसमें अश्रुधारा के प्रवाह की बड़ी गुंजाइश थी, परन्तु डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह है कि आँसू तो व्यक्ति की कमजोरी, दुर्बलता की निशानी हैं अर्थात् वह असम विषय स्थितियों को झेलने में असमर्थ है। अतः वह व्यंग्य को शक्ति मानकर उभारते थे अर्थात् किसी भी कारण से दुर्बल या असमर्थ व्यक्ति व्यंग्य की शक्ति से युक्त होकर किसी शक्तिशाली व्यक्ति या व्यवस्था के समकक्ष हो जाता है और फिर उस पर व्यंग्य कर सकता है।

नाटककार ने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में यही किया है। वह कमजोर के हाथ में व्यंग्य की शक्ति सौंप कर उसे शक्तिशाली बना देते हैं, जो बड़ी से बड़ी विरोधी या प्रतिरोधी शक्ति के साथ खुशी-खुशी भिड़ सकता है। इस क्रम में यह आवश्यक नहीं कि दुर्बल व्यक्ति की हड्डी पसली टूट जाए, वह शक्तिशाली की हड्डी पसली का चूर्ण भी बना सकता है। इस नाटक में नाटककार लाल ने यही किया है।

इससे स्पष्ट हो ही जाता है कि नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल अपनी अन्य रचनाओं, विशेष रूप से अन्य नाटकों की भाँति 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में व्यंग्य का भरपूर उपयोग करते हैं। उन्होंने

व्यंग्य को शस्त्र या अस्त्र के रूप में अपनाया है। वह जब चाहते हैं, अग्निबाण चला देते हैं, राकेट छोड़ देते हैं या नापाम बम गिरा देते हैं। वह स्थिति की आवश्यकता के अनुसार उसका प्रयोग अवश्य करते हैं।

वह व्यंग्य शक्ति का प्रयोग विनाश करने के लिए नहीं करते हैं, बल्कि उचित-अनुचित न्याय-अन्याय, ग्राह्य-अग्राह्य सही-गलत में से प्रथम पक्ष की पक्षधरता निभाते हुए दूसरे पक्ष का विरोध करते हैं।

सबसे पहले वह इन युग्मों के अनुसार घटित घटना आदि को समझने का विवेक देते हैं, फिर पक्षधरता निभाते हैं और तब चोट करते हैं। इस प्रकार वह उस पक्ष पर व्यंग्य करते हैं जो गलत है, अनुचित है, अग्राह्य है और अन्यायपूर्ण है।

उनके व्यंग्य, व्यंग्य के लिए नहीं हैं बल्कि व्यक्ति और समाज के कुरूप चेहरे पर हैं अर्थात् उनके गलत कार्यों को ही अपनी रचनात्मकता का आधार बनाया है। इससे वह एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो अपने मूल रूप से स्वस्थ हो। इसके लिए वह पहले बीमारी की खोज करते हैं और फिर आपरेशन कर डालते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि कभी-कभी नश्वर भी चुभो देते हैं, तो नाटककार ने व्यंग्य का प्रयोग कृति को जीवन बनाने के लिए और समाज को नई चेतना एवं दिशा देने के लिए किया है। यह स्वागत योग्य है।

व्यंग्य की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की जाती है। व्यंग्य कथित होता है और व्यंजित भी। व्यंग्य शब्दों में होता है और अर्थ में भी। व्यंग्य प्रत्यक्ष होता है और परोक्ष भी। वह सीधे-सीधे होता है और कहने के अंदाज में भी। उसमें हल्की-हल्की चुभन होती है और मारक शक्ति भी। वह नाटक के संवाद में होता है और उसकी सिचुएशन यानी विशेष स्थिति में भी वह जीवंत होता है और जीवन को गतिशीलता देने वाला भी उसमें सक्रियता होती है और संलग्नता भी।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक की ‘प्रस्तावना’ में नाटककार ने रंग संकेत दिए हैं। गाँव का दृश्य, एक और हरिजनों का कच्चा कुआँ और दूसरी ओर सवर्णों का पक्का कुआँ। यह अपने आप में एक व्यंग्य है। जिसे स्थितिगत व्यंग्य कहा जा सकता है।

इसके आगे नाटककार ने दिखाया है कि जैसे ही पुरोहित कुएँ से जल भरा लोटा निकालता है, प्यासा धुमंतू चमार आ जाता है। वह पुरोहित से पानी पिलाने के लिए कहता है तो पुरोहित उसे दुतकार कर भगा देता है। कितनी अजीब बात है- चमार को भी प्यास लगती है और उसे पानी पिलाने से धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। वहीं पुरोहित भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर के आने पर उसे झुककर प्रणाम करता है, भूतपूर्व जमींदार या ऐसा ही कोई सम्पन्न व्यक्ति ही तो राजनेता हो सकता है, निर्धन आम आदमी नहीं हो सकता। एक तो दुतकारना और दूसरे के सामने बिछ जाना यह सब व्यंग्य की सबलता का द्योतक ही है।

ऐसे ही स्थितिगत व्यंग्य को उभार कर रखने में नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल को सिद्धहस्तता प्राप्त है। वह दो विभिन्न स्थानों, स्थितियों, कार्यकलाप, व्यक्तियों के बीच अन्तराल को सूक्ष्म कलात्मकता के साथ दिखा देते हैं और हम दंग रह जाते हैं। इसी दौरान व्यंग्य उभर आता है जो नाटक के पाठक-दर्शक को जकड़ लेता है।

व्यंग्य विशेष रूप से तब उभर कर आता है जब दो विरोधी स्थितियाँ आमने-सामने खड़ी कर दी जाएं या जब सामाजिक विसंगतियाँ प्रभावी बनकर हमारे सामने आएँ। लक्ष्मीनारायण लाल ने बड़ी खूबी के साथ इन दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया है और अपनी कल्पनाशीलता के बल पर इस अंकन को ज्वलंत बना दिया है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक में व्यंग्य पर विचार करने के लिए एक अन्य पहलू को उठाते हैं।

प्रश्न है, व्यंग्य कब, किस स्थिति में अपने ज्वलंत रूप में तीखेपन के साथ व्यक्त होता है ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि नाटक में यथार्थ का आधार जितना अधिक मजबूत होगा और यथार्थ जितना अधिक विकटता के साथ अभिव्यक्त होगा, व्यंग्य उतनी ही अधिक तीव्रता के साथ व्यक्त होगा। स्पष्ट है कि भावमयता और भावुकता से ओत-प्रोत जो अभिव्यक्ति होगी व्यंग्य उससे उतना ही दूर होगा। अतः व्यंग्य की कचोट के लिए यथार्थ की कचोट अत्यन्त आवश्यक है।

इस आधार पर यह देखा जा सकता है कि इस नाटक में व्यंग्य की मारक शक्ति इसीलिए इतनी प्रबल है क्योंकि इसका आधार हमारे जीवन यथार्थ की कसमसाहट से भरपूर कुलबुलाहट है। साथ ही जीवन की सच्चाइयों से निकलने वाली करुणाद्रता और तल्खी है। इससे व्यंग्य अपनी सबलता के साथ उभर कर आता है और नाटक में नए आयामों के द्वार खुलते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ जीवन सरल गति से सपाट होकर नहीं चलता है, बल्कि ठोस यथार्थ की ऊँची-नीची धरती पर से होकर गुजरता है।

अब इस आलोक में इस नाटक के उन संदर्भों को देखा जाए जो "प्रस्तावना" में आते हैं। जैसे पुरोहित चबूतरे पर सत्यनारायण की कथा शुरू करता है तो सवर्ण लोग चबूतरे से दाएँ और सामने बैठते हैं। गरीब लोग अपने कुँए के पास बैठे हैं, यह स्थिति अपने आप में एक व्यंग्य है जहाँ भक्तिभाव की कथा को सभी लोग एक साथ बैठकर नहीं सुन सकते और हर मामले की त ह र ह धर्म में भी भेद-भाव बना रहता है।

इसी से जुड़ा हुआ प्रसंग है। इधर कथा हो रही है जिसे सवर्ण लोग नहीं सुन रहे हैं, हालांकि पुरोहित बार-बार कथा के बीच यह कहता रहता है कि जो सत्यनारायण की कथा को नहीं सुनता, उसे पाप लगता है और उसकी हानि होती है। फिर भी कोई नहीं सुनता। यहाँ भी नाटककार ने व्यंग्य किया है कि उस कथा का कोई प्रभाव किसी पर, किसी रूप में नहीं होता, यह सब विश्वास का मामला है।

यह बात तब और अधिक विकट हो जाती है जब कथा चलती रहती है और सवर्ण लोग राजनीति पर बहस करते रहते हैं। इसकी शुरुआत देवधर बाबू ही करते हैं। यह ठीक ऐसे ही जैसे एक राजनेता किसी कार्यक्रम का उद्घाटन कर रहा हो। इसका नमूना यहाँ प्रस्तुत है।

देवधर: हाँ तो किसने कहा, 'अब हमें देवधर बाबू की जरूरत नहीं है ? देवधर बाबू को किसने बनाया ?

गपोले: भगवान ने बनाया।

देवधर: नहीं, जनता ने बनाया। सबने बनाया। तभी तो जनता को जनार्दन कहा गया है।

वद्व: साहेब, आप हमारे मालिक हैं, पर आपका मालिक कौन है ?

देवधर: जनता, तुम लोग।

लौका: गुलाम भी कभी मालिक हुआ है ?

इस संवाद पर विचार करें तो पता चलता है कि एक ओर राजनेता की चालाकी और राजनीति की चाल है तो दूसरी ओर सहजता और भोलापन है। यह प्रश्नोत्तर से स्पष्ट हो जाता है कि राजनेता अपना जाल फैलाकर सीधे-सादे लोगों को फँसाने का प्रयत्न कर रहा है तो दूसरी ओर उसकी मिश्रित प्रतिक्रिया है। कुछ लोग आँख बन्द करके उसके साथ हैं, परन्तु दूसरे लोग उसके जाल में फँसने से बचते हैं, अब तक उसकी चालों से परिचित हो चुके हैं।

यह प्रश्न कितना सहज और स्वाभाविक है कि आप हमारे मलिक है, पर आप का मालिक कौन है ? जब देवधर उसका उत्तर देता है कि मेरा मालिक जनता है, यानि तुम लोग हो, तो विश्वास नहीं होता। इसका चरमोत्कर्ष उस बिन्दु पर होता है जब लौका प्रश्न करता है, क्या गुलाम भी कभी मालिक हुआ है ? उल्लेखनीय है कि व्यंग्य धीरे धीरे पनप रहा था। यहाँ आकर सच्चाई पर पड़ी धुन्ध एकदम छट गई। लौका का प्रश्न ही अपने आप में उत्तर बन गया। यह व्यंग्य की चोट है जो अर्थवान होकर अधिक प्रभावी हो गई है। यहाँ पर परस्पर दो विरोधी शक्तियों को सहज ही आमने-सामने खड़ा कर दिया है और व्यंग्य की शक्ति विशेष रूप से उभर कर सामने आयी है। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में एक मूल नाटक है दूसरा नाटक में नाटक है। इस प्रकार इसमें दो प्रकार के पात्र हैं एक मूल पात्र जो नाटक के भीतर नाटक में विभिन्न भूमिकाओं में उभरते हैं। इस नाटक की दोनों कथा-भूमियों को पात्रों आदि में यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ-साथ व्यंग्यमयी अभिव्यक्ति मिलती है। व्यंग्य उक्ति प्रायः सभी पात्रों द्वारा सामने आती है। बस, देवधर व्यंग्य न करके सीधी बात करता है और हरिश्चन्द्र व्यंग्य नहीं करता सीधी आदर्शवादी बातें करता है।

दूसरी ओर हरिश्चन्द्र की भूमिका अदा करने वाला मूल पात्र लौका स्वयं हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतरने से पहले व्यंग्य करता है, बाद में नहीं करता। अन्य सभी शोषित-पीड़ित पात्र व्यंग्य करते हैं और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की भूमिकाओं में उतरने वाले पात्र व्यंग्य करते रहते हैं। उनका लक्ष्य बदल जाता है।

कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। काशी में बिकने के लिए हरिश्चन्द्र जा रहे हैं- मुनि विश्वामित्र के साथ। साथ में पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित भी हैं। वे मार्ग में ही हैं। बातों-बातों में मर्यादा का संदर्भ आता है। तब हरिश्चन्द्र कहते हैं- ऋषि विश्वामित्र हमारे साथ हैं।

शैव्या अपने पति के प्रति अत्यन्त आदर एवं समर्पण का भाव रखती है। फिर भी वह विचारवान तो है ही उसके अपने विचार हैं और वह सीधी सच्ची बात कह सकती है। इतना ही नहीं वह व्यंग्य भी कर सकती है। वह अपने पति की बात काटते हुए कह देती है- कैसे ऋषि, कैसे ज्ञानी जिसे भूख हो राजसिंहासन की।

स्पष्ट है कि शैव्या के भीतर क्रान्तिकारी स्त्री बैठी है। वह सीधा तौर पर शब्दों को नहीं मानती। उसे लगता है शब्द अपना अर्थ खो बैठे हैं और अब अर्थहीन शब्दों का क्या होगा ? इसलिए वह सच्चाई को आधार बना कर व्यंग्य करती है। उसका निशाना स्पष्टतः मुनि विश्वामित्र की ओर है।

इसी सन्दर्भ में रोहित को देखा जाए। कुछ समय तक रोहित और विश्वामित्र के बीच तर्क-वितर्क चलता है। हरिश्चन्द्र उससे कहते हैं- तर्क मत करो रोहित ऋषि महाज्ञानी हैं। इस पर रोहित अपने ढंग से कटाक्ष करता है। वह कहता है- महाज्ञानी से दान धर्म के उस रहस्य को जानना चाहता हूँ जिसके कारण एक लेने वाला बनता है, दूसरा देने वाला बनता है।

रोहित के कारण महाज्ञानी का अर्थ ही कुछ और है अर्थात् महाज्ञानी वह है जो रहस्यमय ढंग से मायाजाल रच सके और देने वाले से उसका सर्वस्व ले ले। इसलिए वह ऐसे महान् व्यक्ति से महाज्ञान का मंत्र जान लेना चाहता है जिसे जानकर वह भी लाभान्वित हो सके। उल्लेखनीय है यहाँ शब्द को नहीं उल्टा गया है, बल्कि शब्द के अन्य अर्थ को लेकर उसे उलट पलट दिया है।

यहाँ शैव्या और रोहित के व्यंग्य में अन्तर है। शैव्या विश्वामित्र को ऋषि व ज्ञानी ही मानने को तैयार नहीं है, बल्कि वह सत्ता के लोभी व्यक्ति को ऋषि व ज्ञानी नहीं मान सकती। रोहित भी उन्हें सच्चे अर्थों में महाज्ञानी नहीं मानता, वह व्यंग्योक्ति के द्वारा महाज्ञानी अर्थ को उलट देता है। शैव्या की बात में अस्वीकार है और रोहित की बात में स्वीकार है। शैव्या की सीधी अभिव्यक्ति है और रोहित की व्यंग्यार्थ उक्ति है। एक ही प्रसंग में नाटक में व्यंग्य के दो आयाम प्रस्तुत किये हैं। इसमें दूसरा अधिक महत्वपूर्ण है।

अब व्यंग्य के नमूने के तौर पर एक और प्रसंग लें। हरिश्चन्द्र और शैव्या क्रमशः डोम और पतुरिया के हाथों बिक चुके हैं। मुनि विश्वामित्र को वांछित दक्षिणा मिल चुकी है। फिर भी मुनि विश्वामित्र उनका पीछा नहीं छोड़ रहे हैं। उन्हें सामाजिकता और नैतिकता का पाठ पढ़ा रहे हैं ताकि कटु यथार्थ की वास्तविकता को जानकर अपना निर्णय बदल लें। इस संदर्भ में चलने वाला संवाद इस प्रकार है-

विश्वामित्र: अब मुझसे दक्षिणा मुक्त हो गए राजा हरिश्चन्द्र, पर अब भी समय है हाँ को न कहने का और न को हाँ कहने का।

रोहित: तुम्हारी भूख अब भी नहीं मिटी ?

विश्वामित्र: सोच लो हरिश्चन्द्र, मैं अब भी तुम्हारा हित चाहता हूँ।

रोहित: हर राजा ने सदा यही कह कर प्रजा को ठगा है।

इन संवादों में सरसरी तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि इनमें सीधी-सादी अभिव्यक्ति है जो अभिधा में है। गहराई में जाकर देखें तो जैसे कुछ और ही उभर कर आता है जो व्यंग्य का तीखापन लिये हुए है।

एक, विश्वामित्र की बात हरिश्चन्द्र के लिए है जो स्वयं ही निर्णय लेने वाला है, परन्तु उत्तर देता है रोहित। दो, जो हरिश्चन्द्र अभी-अभी डोम के घर बिक चुका है, बिक्री का धन भी मिल गया है, उसे राजा कहकर सम्बोधित किया गया है। तीन, अब भी समय वाली उक्ति झूठ नहीं तो और क्या है ? चार, पेट की भूख मिट सकती है अन्य कोई भूख नहीं मिट सकती। पाँच, 'अब भी तुम्हारा हित चाहता हूँ' जैसे शब्दावली बोलने वाले का भीतरी बाहरी रूप एकदम स्पष्ट होता है यानी ऐसा व्यक्ति कुछ और ही चाहता है। छः, हर युग में सत्ता जनहित का ढाँग रचती रही है परन्तु सच्चाइयाँ कुछ और होती हैं।

यहाँ पूर्वोक्त संवादों पर जो छः बिन्दु उभरे हैं, उनमें व्यंग्य स्पष्टतः लक्षित है जो बढ़िया ढंग से आया है। यहाँ व्यंग्य नये आयाम तो प्रस्तुत करता ही है उच्चस्तरीय भी है। नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल यह अच्छी तरह जानते हैं कि कब, कहाँ, कौन सी बात, किस प्रकार कही जा सकती है। यह नमूना स्पष्ट है जो आज के जीवन के लिए पूर्णतः प्रासंगिक है जहाँ राजनीति के खिलाड़ी नई-नई चाल चलते रहते हैं और अपनी गोटी को सही जगह पर जमाने में व्यस्त रहते हैं।

एक और प्रसंग लेकर 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में व्यंग्य की गति-स्थिति को देखा जाए। हरिश्चन्द्र के बिकने के बाद उस नाटक के पात्र विराम की मुद्रा में अपने मूल रूप में हैं। वे आपस में बात कर रहे हैं और बात बहुत गम्भीर हो गई है।

देवधर: तुम लोग नाटक के साथ मजाक कर रहे हो। परम्परा को जरा भी तोड़ा तो जेल की हवा खानी पड़ेगी।

जीतन: तुम्हारी इसी राजनीति से लोगों को घणा हो चुकी है।

देवधर: राजनीति शक्ति है। यहाँ की प्रजा हमेशा शक्ति की पूजा करती आई है।

जीतन: प्रजा अब शक्ति बन रही है। लोग जग रहे हैं।

देवधर: कौन जगा रहा है उन्हें ?

गाँव के लोग: हमारे दुःख हमें जगा रहे हैं, तुम्हारे चरित्र हमें समझा रहे हैं।

अन्य प्रसंगों की भाँति इस प्रसंग में भी यथार्थ की कटुता विद्यमान है जिसमें से व्यंग्य अपनी तीव्रता के साथ उभर रहा है। देवधर राजनीति को अपने ढंग से चला रहा है और धर्म एवं समाज को भी स्वयं ही संचालित करने की मानसिकता में है। इसलिए जब उसे पता चलता है कि नाटक का अन्त वह नहीं है जो परम्परा से चलता आ रहा है तो वह बिगड़ उठता है और कहता है कि यह नाटक के साथ मजाक है। यहाँ वह परम्परा की दुहाई भी देता है।

जीतन उसका सहयोगी था। अब तक उसके सामने जो सत्य बनके आया, वह कुछ और नहीं था, इसलिए वह सच्चाई बयान कर देता है कि लोग तुम्हारी इसी राजनीति के कारण तुमसे घणा करने लगे हैं।

तर्क वितर्क के बीच एक और सच्चाई सामने आती है कि आम जनता के दुःख का अतिरेक ही उनमें नई चेतना भर रहा है। अब देवधर के वास्तविक चरित्र को भी लोग समझ गए हैं।

इस प्रकार नाटककार ने व्यंग्य की हल्की-हल्की चोट करने के बाद यहाँ हथौड़ा उठा लिया है और धर्म, समाज, राजनीति को विकृत रूप कर देने वाले देवधर पर जबरदस्त चोट की जा रही है। व्यंग्य का तीखापन बढ़ता जा रहा है।

निश्चय ही डॉ० लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में व्यंग्य का भरपूर प्रयोग किया है। व्यंग्य के अनेक रूप, उसकी अनेक छवियाँ पूरे नाटक में यत्र-तत्र मिल जाती हैं। इन्हें नाटककार अपने लक्ष्य के साथ जोड़कर प्रस्तुत करता है। उसने व्यंग्य का प्रयोग यों ही नहीं किया है, बल्कि अपने विवेक से काम लिया है। वह व्यंग्य उन लोगों पर नहीं करता जो शोषित और पीड़ित हैं, बल्कि उन पर करता है जो ऊँचे आसन पर विराजमान हैं और अपने दायित्वों का समुचित वहन नहीं करते। इसलिए वह व्यंग्य सत्ता, व्यवस्था पर करता है या उन पर नियन्त्रण करने वाले लोगों पर। उसने व्यंग्य को हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया है। वह व्यंग्य की शक्ति के माध्यम से स्वस्थ समाज की स्थापना करना चाहता है, जहाँ शोषण और उत्पीड़न न हो, समानता और आपसी भाईचारा हो। इसका बढ़िया निर्वाह इस नाटक में बहुत अच्छी तरह से हुआ है और यह नाटक अपने उद्देश्य में सफल है। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है यह व्यंग्य प्रधान नाटक समाज को अनुप्रेरित करने वाला श्रेष्ठ नाटक है।

6. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' : नाटक के शीर्षक की सार्थकता

साहित्य मनुष्य की सर्वोत्तम कृति है, इसलिए नामकरण पर विशेष ध्यान देते हैं। किसी पुस्तक का शीर्षक रखते हुए कई आधार सामने आते हैं। उनमें से एक को चुन लिया जाता है। शीर्षक के आधार पर इस प्रकार हो सकते हैं- (i) नायक या नायिका को केन्द्र में रखकर (ii) कथ्य के मूल विचार सूत्र को लेकर (iii) किसी घटना को केन्द्र में रखकर (iv) किसी विशेष स्थान को सामने रख कर (v) कृति के निष्कर्ष को ध्यान में रखकर

इस आलोच्य नाटक का शीर्षक-'एक सत्य हरिश्चन्द्र'। यह शीर्षक रखते समय नाटककार के

सामने कोई पूर्वलिखित आधार नहीं था। ऐसा लगता है नाटककार ने कई आधारों को मिलाकर इस नाटक का नामकरण किया है।

इस नाटक का नायक है- राजा हरिश्चन्द्र जो अयोध्या का सम्राट है और बाद में राज्य को दान में देने के बाद दक्षिणा के रूप में स्वयं भी डोम के घर बिकना पड़ा। उसने सत्य की डोर अपने हाथ में पकड़ी थी और उसे कभी नहीं छोड़ा। राजा रहते उसने सत्य का पालन किया। राज्य गँवाने के बाद भी सत्य को अपनाए रहा। दक्षिणा चुकाने के लिए पत्नी को भी एक वेश्या के हाथ बेच दिया। तब भी सत्य से नहीं डिगा।

डोम के घर बिकने के बाद वह मुर्दाघाट पर तैनात हो गए। संयोग ऐसा हुआ कि उनके पुत्र रोहित की मृत्यु हो गई। उनकी पत्नी शैव्या पुत्र रोहित के शव को लेकर श्मशान घाट पर आई। उसके पास न पैसा था न श्मशान का कर चुकाने के लिए पैसा। अतः उसने अपनी आधी साड़ी फाड़कर उसे ही कफन के रूप में अपने पुत्र के शव को लपेटा।

हरिश्चन्द्र श्मशान घाट के नियमानुसार बिना कर चुकाए अपने ही पुत्र का अन्तिम संस्कार करने को तैयार न थे। उन्होंने शैव्या से कहा- बाकी आधी साड़ी उतार कर, कर के रूप में दे दो। अब यही उपाय है। ऐसा ही हुआ। यह है सत्य पालन करने के लिए सुदृढ़ रहने वाली मानसिकता।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र ने जीवन भर सत्य धर्म का पालन किया। वह संकटों के समय भी अडिग रहे। उनके सभी त्याग और बलिदान इसी दिशा में बढ़ते हुए कदम थे। इससे वह सत्यवादी हरिश्चन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। आज तक उनका गुणगान होता है और भविष्य में भी होता रहेगा।

नाटककार ने नाटक की इसी मुख्य कथा के नायक हरिश्चन्द्र के नाम को नाटक का शीर्षक देने के लिए चुना। उन्होंने जीवन भर सत्य का पालन किया इसलिए शीर्षक देने में 'सत्य' को भी ले लिया। इस प्रकार शीर्षक हुआ- 'सत्य हरिश्चन्द्र'। इस शब्द युगल के पहले एक शब्द और रख दिया है। अतः शीर्षक हुआ- एक सत्य हरिश्चन्द्र।

इसका अर्थ यह हुआ- ऐसे हरिश्चन्द्र जिन्होंने 'एक सत्य' को अपनाया। सच्चाई यह है कि सत्य न तो विभाजित होता है न उसका गुणा होता है अर्थात् एक, दो, तीन सत्य नहीं हो सकता।

इसका अर्थ यह हुआ कि 'एक संख्यावाचक विशेषण' 'सत्य' के साथ नहीं है बल्कि 'हरिश्चन्द्र' के साथ है। यह इस प्रकार बना कि 'एक हरिश्चन्द्र' जिसने 'सत्य' को अपनाया इस प्रकार शीर्षक बना- 'एक सत्य हरिश्चन्द्र'।

हमारे इतिहास, पुराण आदि बताते हैं कि सत्य बोलने वाले अनेक लोग हुए हैं जैसे- युधिष्ठिर भी थे परन्तु उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर के नाम से ही हम जानते हैं। सत्यवादी के रूप में एक ही नाम विख्यात है और वह है 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' अतः सत्यवादी का विशेषण केवल उनके नाम के साथ ही जुड़ा है, किसी अन्य के साथ नहीं। नाटककार ने 'वादी' शब्दांश को छोड़ दिया है और नामकरण कर दिया है- 'एक सत्य हरिश्चन्द्र'। एक बात और यहाँ हरिश्चन्द्र मात्र सामान्य व्यक्ति नहीं है, बल्कि एक धारणा है। वह व्यक्ति से अधिक एक भाव है, विचार है जिसका मूर्त रूप इस नाटक में विद्यमान है और यही रूप नाटककार को अधिक प्रिय है जिसे उसने नाटक में विशेष रूप से अपनाया है। अतः शीर्षक रखते समय भी नाटककार ने इसी धारणा को मुख्य आधार बनाया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटककार ने इस नाटक में सत्य की धारणा को मुख्यतः प्रस्तुत किया है। अर्थात् नाटक के शीर्षक का अर्थ हुआ- एक सत्य धारणा।

उल्लेखनीय है कि सत्य की धारणा एक विचार सूत्र है जो समस्त नाटक में आरम्भ से अन्त तक छाया हुआ है और जो नाटककार का अभिप्रेत है। हम कहना चाहते हैं कि नाटककार नाटक में इसी विचार सूत्र को लेकर चला है और इसी का निर्वाह उसने किया है। अतः शीर्षक रखते समय उसने विचार सूत्र को प्राथमिकता दी है। नामकरण के इस आधार को इसी टिप्पणी के पहले पैराग्राफ में देखा जा सकता है।

अगर यह माना जाए कि हरिश्चन्द्र नाटक का नायक है और सत्य एक विचार सूत्र है जिसका निरन्तर उपयोग नाटक में होता रहा है तो यह कहा जाएगा कि नाटक के नामकरण में दो आधारों को मिला दिया गया है।

यह भी कहा जा सकता है कि एक ही हरिश्चन्द्र ऐसे हुए हैं जो सत्य को पकड़े रहे हैं। एक अन्य भावार्थ यह भी है कि एक हरिश्चन्द्र ही सत्य है बाकी सब झूठ हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' शीर्षक में अत्यधिक अर्थवत्ता, व्यपकता है और विविध पक्षों का समावेश है। यह शीर्षक नाटक के मुख्य कथा प्रसंग के अनुसार रखा गया है, जिसमें सब कुछ समा गया है जो प्राचीन कथा को स्वर देता है और नये युग के साथ जोड़ता है। अतः इस शीर्षक की प्रासंगिकता है और यह समूचे नाटक में व्याप्त है।

यह आवश्यक नहीं कि जो शीर्षक रखा गया है, उसे एक या एक से अधिक बार नाटक में शब्द में कहा जाए। इससे अतिरिक्त यह सच्चाई है कि अगर शीर्षक कथित होता है तो अच्छा नहीं लगता। अगर शीर्षक बार-बार कथित होता है तो वह एक दोष है। यह बात उस स्थिति पर लागू नहीं है जब शीर्षक एक विचार सूत्र के रूप में होता है। जैसे इस नाटक में नाटककार ने एक विशेष धारणा या कॉन्सेप्ट को मुख्य आधार बनाया है और उसी पर शीर्षक रख दिया है। स्पष्ट है धारणा की बात को नाटककार बार-बार करेगा ही। वह उसके पक्ष-विपक्ष को उठाएगा।

कहा जा सकता है कि यह शीर्षक इस नाटक में एक बार या बार-बार कथित नहीं है, बल्कि वह धारणा या विचार सूत्र के रूप में ही किसी न किसी प्रकार से अवश्य आया है। हर संदर्भ, हर कथा और उसका हर मोड़ उससे पूरी तरह सम्बद्ध है या संदर्भित है।

अब इस बिन्दु पर विचार करने के लिए नाटक के उन सभी सन्दर्भों को देखना है जहाँ यह धारणा किसी न किसी रूप में व्यक्त हुई है या जिससे शीर्षक की सार्थकता प्रमाणित होती है। यह भी कि शीर्षक युक्तियुक्त है या नहीं और शीर्षक क्यों रखा गया है, क्या इससे बेहतर शीर्षक हो सकता था ?

'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का आरम्भ सत्यनारायण की कथा से होता है जिसे एक पुरोहित सुना रहा है। यह पौराणिक कथा है जिसमें भगवान सत्यनारायण की कथा सुनने का महत्त्व बताया जाता है और अवहेलना करने पर पाप लगता है या कोई न कोई क्षति होती है। यह कथा क्या है, इसका कहीं पता नहीं चलता, यह कोई नहीं सुनाता।

यह बात लौका ने सबके सामने कही। उसने सबको निमन्त्रण भी दिया कि रविवार की शाम को उसके घर पर सत्यनारायण की कथा सुनाई जाएगी। सभी लोग आएँ।

तो सबसे पहले नाटक की 'प्रस्तावना' में सत्यनारायण की कथा के रूप में इस शीर्षक का सन्दर्भ आता है। इस कथा का सम्बन्ध धर्म, विश्वास और आस्था से है, परन्तु नाटककार ने नाटक में धर्म को आधार नहीं बनाया है, विश्वास एवं आस्था को अवश्य ही आज के बदलते हुए सन्दर्भों में लिया है।

उल्लेखनीय है कि जब सत्यनारायण की कथा चल रही थी, तब तथाकथित उच्च वर्ग के लोग अपने राजनीतिक हितों की बात कर रहे थे और धार्मिक भाव के प्रति उनकी आस्था और विश्वास का कोई लक्षण नजर नहीं आ रहा था। स्पष्ट है कि सत्यनारायण की कथा को औपचारिकता निभाने के रूप में ही लिया गया है।

उसके बाद देवधर नामक राजनेता ने यह सवाल उछाला कि शूद्र लौका सत्यनारायण की कथा कैसे कहेगा ? यह धर्म के विरुद्ध है। वह इसका राजनीतिक लाभ उठाने की पूरी तैयारी कर लेता है और उच्चवर्ग, निम्नवर्ग ऊँची जाति, नीची जाति के बीच आपसी संघर्ष का बिगुल बजा देता है। इस प्रकार सत्यनारायण की कथा आपसी संघर्षों को आधार दे देती है।

यहाँ नाटककार ने अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रश्न उठा दिया है कि यह कैसा धर्म है जिससे आपसी संघर्ष को हवा दी जाए। धर्म में ऊँच-नीच की भावना आज के इस युग में भी इस हद तक क्यों बलवती है जहाँ सत्यनारायण की कथा कहने का अधिकार एक वर्ग के पास हो और दूसरे वर्ग के पास न हो ? इस प्रकार नाटककार दर्शकों और पाठकों को झकझोर रहा है कि वे विवेक से काम ले और सत्यनारायण या धर्म की मूल भावना को समझें।

लौका ने लोगों को सत्यनारायण की कथा के लिए आमन्त्रित किया था, परन्तु अपनी योजना के अनुसार उसने एक नाटक खेलना आरम्भ कर दिया था और वह था- सत्य हरिश्चन्द्र। उसमें लौका स्वयं हरिश्चन्द्र की भूमिका कर रहा है।

तनिक इस बात पर विचार किया जाए। बात तो थी सत्यनारायण की कथा की और उसकी जगह शुरू हो गया नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र'। प्रश्न है, क्या इन दोनों में कोई साम्य है या नहीं, क्या लौका ने झूठ बोला या धोखा दिया ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। लौका के बारे में यह सर्वज्ञात है कि वह हमेशा सत्य ही बोलता है। इतना ही नहीं, वह सत्य जीता भी है। तब वह झूठ नहीं बोल सकता। इसीलिए वह अवश्य ही सत्यनारायण की कथा और सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के बीच कोई ऐसा सूत्र पाता है जिससे दोनों के बीच कोई तारतम्य और अन्तिम परिणति की एकरूपता मिलती है। सत्यनारायण की कथा का प्रभाव पहले देखा जा चुका है। अब उसके स्थान पर खेले जा रहे नाटक की परिणति को भी देख लिया जाए।

नाटक खेलने से पहले जीतन, गपोले, पदमा आदि के पूर्व जमींदार और अब राजनेता देवधर के पक्षधर थे। नाटक की भूमिकाओं में उतरने के बाद वे बदल गए। वे देवधर के विरोधी और लौका के पक्षधर हो गए। वास्तव में वे न किसी के विरोधी हुए और न किसी के पक्षधर, बल्कि उन्होंने सत्य को पहचान लिया। उनका उदात्तीकरण हो गया और वे अपने विवेक से काम लेने लगे।

स्पष्ट है कि सत्यनारायण की कथा सुनने से जो सत्य का सन्धान नहीं हुआ था, वह सत्य हरिश्चन्द्र नाटक खेलकर हो गया। इसके कई कारण हैं। एक में सबकी संलग्नता नहीं थी, सभी सुन रहे थे, पुरोहित सुना रहा था। नाटक में उनकी संलग्नता थी। एक में सुनने में भी ध्यान नहीं था। ध्यान था राजनीति में, दूसरे का अहित करने में। दूसरे में पूरी तरह डूबना था, ध्यान अन्यत्र था ही नहीं नाटक के पात्र जैसे जीवन जी रहे थे और अपने अन्दर नई चेतना की अनुभूति कर रहे थे।

इससे नाटक के शीर्षक की व्याप्ति, गहन अर्थवता, प्रासंगिकता स्वतः स्पष्ट हो जाती है और यह भी कि यह शीर्षक कितना सार्थक है कि पूरा नाटक सत्य के सन्धान पर केन्द्रित है। एक सत्यनारायण की कथा का सत्य और दूसरा सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का सत्य। एक का सत्य स्वार्थी से जोड़ता है और मनुष्य को मनुष्य से अलग करता है। दूसरे का सत्य उदात्तीकरण करता है और मनुष्य को मनुष्य के साथ जोड़ता है जहाँ सारा मैल धुल जाता है और जीवन

का वह पक्ष उभर कर आता है जो ग्राह्य है, कल्याणकारी है जिससे समाज का स्वस्थ विकास होगा।

अब तक यह बात स्पष्ट हो गई कि सत्यनारायण और सत्य हरिश्चन्द्र में 'सत्य' का साम्य है, क्योंकि यह शब्द दोनों में शामिल है। प्रश्न है, नारायण का स्थान हरिश्चन्द्र ने कैसे ले लिया। अगर नाटककार का यही आशय था तो धर्म में आस्था रखने वाले अनेक लोग इसे स्वीकार नहीं करेंगे, बल्कि इसके विरुद्ध विद्रोह कर देंगे।

अगर इस बिन्दु पर ध्यान दिया जाए तो यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाएगा कि ऐसा नहीं है। नाटककार ने हरिश्चन्द्र को नारायण रूप देने का प्रयत्न कहीं नहीं किया है, बल्कि उसे एक साधारण व्यक्ति के रूप में ही प्रस्तुत किया है, जैसे लौका की स्थिति है। वह शोषित, दलित और पीड़ित है, बिल्कुल दास की तरह है जिसे किसी के संकेत पर बिकना पड़ता है। उसे जिसने खरीद लिया है उसी के संकेत पर चलना पड़ता है। वह कहीं भी कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि दूसरों की इच्छाओं का दास है।

प्रश्न है, फिर नारायण और हरिश्चन्द्र में क्या साम्य है ? इस का उत्तर खोजते समय यह देखें कि नारायण का प्रयोग किन-किन अर्थों में किया जाता है। नारायण भगवान के अर्थ में तो प्रयुक्त होता ही है परन्तु अन्य रूपों में भी इसका प्रयोग होता है। विशेष रूप से उन लोगों के लिए जिन्हें शूद्र कहा जाता है या जो निर्धन है।

निर्धनों के लिए एक शब्द बहुत लम्बे समय से प्रयोग में है- दरिद्र नारायण। महात्मा गाँधी 'हरिजन' शूद्रों के लिए कहते थे। एक कहावत है- 'हरि को भजै सो हरि को होई' इसलिए अनेक भक्त और सन्त भगवान या नारायण के समान पूजनीय हो गये हैं तो इसी अर्थ में यहाँ हरिश्चन्द्र शब्द का अन्तर्निहित अर्थ होगा- एक ऐसा व्यक्ति जो अपने सत्य के प्रयोगों के बल पर मनुष्य से ऊपर उठ गया। वह नारायण न हो गया हो, परन्तु सत्य का अन्तिम रूप नारायण अवश्य हो गया। कहा जा सकता है, हरिश्चन्द्र सत्य का अवतार है।

एक बात और, सत्यनारायण की कथा का धर्म चरम सत्य है, क्योंकि सत्य पालन की कहानी इससे बढ़कर सुनने में नहीं आई।

इस सन्दर्भ में एक बात पहले कही जा चुकी है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र हम भारतवासियों के लिए कोई व्यक्ति नहीं है। एक पौराणिक पात्र है और हमारे भीतर इस तरह उतर चुके हैं कि वह हमसे अलग नहीं लगते। वह हमारे लिए मिथक बन गए हैं। हमने उन्हें उस रूप में अपना लिया है जहाँ वह हमारे अंग हैं या हम उनके अंग हैं और वह हम से बहुत ऊपर हैं। उनके होने या न होने का प्रश्न ही नहीं है। वह हमारे लिए एक विचार सूत्र या धारणा के प्रतीक बन गए हैं।

अतः सत्यनारायण कथा के स्थान पर सत्य हरिश्चन्द्र का नाटक सटीक बैठता है, क्योंकि सत्य हरिश्चन्द्र से तात्पर्य यह है- सत्य की अवधारणा। तो सत्य की अवधारणा को लेकर जो नाटक खेला गया है, उसने अभिनेताओं के हृदय में जागति का भाव पैदा कर दिया और उससे दर्शकों, पाठकों का उदात्तीकरण भी होगा।

क्या अब तक के विवेचन से नाटक के शीर्षक की सार्थकता स्पष्ट नहीं हो गई ? अवश्य ही, नाटक का शीर्षक समूचे नाटक में पूर्णतः समाहित है और नाटक का मुख्य या मूल भाव ही इसके शीर्षक में आकर समा गया है। वह पूरी तरह व्यावहारिक जीवन की सच्चाइयों को प्रस्तुत ही नहीं करता बल्कि दार्शनिक ढंग से जीवन की ऊँचाइयों को भी अभिव्यक्ति देता है।

इस पर एक और दृष्टि से विचार किया जाए। सत्यनारायण की कथा की समाप्ति पर पुरोहित आरती गाता है जिसके साथ-साथ लोग भी गाते हैं। वह इस प्रकार है-

**जय लक्ष्मी रमणा जय लक्ष्मी रमणा
सत्य नारायण स्वामी बन पातक हरणा
रत्न जटित सिंहासन अदभुत छवि राजे
नारद करत निरन्तर घण्टा ध्वनि बाजे।**

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक समाप्त हो जाता है। गाँव के लोग यह घोषणा कर देते हैं कि अब कोई नहीं होगा इन्द्र, कोई नहीं होगा विश्वामित्र, सब होंगे हरिश्चन्द्र। हरिश्चन्द्र से तात्पर्य है शोषित पीड़ित नहीं, बल्कि सत्य के पक्षधर। इसीलिए लौका यह घोषणा कर देता है- पंचो, यही है सत्यनारायण की कथा। उसके बाद आरती होती है जो इस प्रकार है :

**भारत जननि तेरी जय हो विजय हो
युग-युग से करते आए धर्म कथा कीर्तन
युग युग से सुनते आए ऋषियों के प्रवचन
चिर रहस्य में डूबे धार्मिक उपदेशों के
किन्तु नहीं करता है जन-जन का जीवन
सोचो, फिर कैसे यह जीवन अभय हो।
धर्म रहस्य है नहीं, धर्म है सजीवन
सत्य है वही जो जी सका यह जीवन
अन्न, धूप माटी के पूत हम सनातन
नव विहान सब समान प्रान सब सदय हो।**

यहाँ इस आरती के अर्थ की व्यापकता को देखा जा सकता है। यह आरती केवल हिन्दू धर्म वालों के लिए नहीं है बल्कि सभी धर्म मानने वालों के लिए है। कहना चाहिए, समस्त मानव जीवन के लिए है। इसमें भारतमाता का जयगान है। यह आपस में भ्रातृ भाव की प्रेरणा देती है और अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर कर्म करने के लिए आह्वान करती है। इस प्रकार नाटककार के सामने एक महज उद्देश्य रहा है और उसने नाटक रचते समय एक बड़ा सपना दिखाया है कि किस प्रकार साधारण जनता को जागृत कर दिया जाए और उसे एकजुट होकर काम करने की प्रेरणा दी जाए।

नाटककार नाटक में जो कहना चाहता है उसने उसे इस शीर्षक में रख दिया है- "एक सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक में उसने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि सत्य की अवधारणा को अपनाया जाए। इसमें कोई शोषक और शोषित नहीं होगा, सभी समान होंगे इस शीर्षक की सार्थकता इससे भी स्पष्ट होती है कि नाटककार सत्यवादी व्यक्ति को प्रतिष्ठा देना चाहता है।

7. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' का तात्त्विक विवेचन

जिस प्रकार मानव शरीर पाँच तत्त्वों से बना है। इसी प्रकार नाट्य कृति के भी कुछ तत्त्व माने गए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार नाटक के तीन तत्त्व माने जाते हैं- वस्तु, नेता, रस। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार नाटक के छः तत्त्व होते हैं: कथावस्तु, पात्र एवं चरित्र चित्रण, कथनोपकथन या संवाद, देशकाल वातावरण, भाषा शैली और उद्देश्य।

इन दोनों ही शास्त्रों का अपना-अपना महत्त्व होता है और इनके अनुसार नाटक का अध्ययन उनकी सम्पूर्णता में किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक के

बारे में जमकर लिखा गया और नाट्यशास्त्र पंचम वेद कहलाया। भारतीय काव्यशास्त्र के तीन तत्त्वों में ही पाश्चात्य के छः नाट्य तत्त्व शामिल हो जाते हैं। फिर भी सामान्यतः आज नाटक का अध्ययन पाश्चात्य तत्त्वों के आधार पर ही किया जाता है।

अवश्य ही डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' एक विशिष्ट नाट्यकृति है, जिसका सफल मंचन पहली बार सन् 1975 ई. में हुआ। उसके बाद कितनी ही बार इसकी प्रस्तुति अलग-अलग मंच से हो चुकी है।

इसमें एक मूल नाटक है जिसमें समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन की समस्याओं को उठाया गया है। उसके बाद इसमें नाटक के बीच में एक और नाटक शुरू हो जाता है जिसका नाम है- 'सत्य हरिश्चन्द्र'। यह नाटक मूल नाटक के पात्रों द्वारा ही खेला जाता है। बीच-बीच में मूल नाटक भी चलता है। हिन्दी नाटक क्षेत्र में यह एक प्रयोग है जो अत्यन्त सफल रहा है।

वास्तव में इसमें दो नाटक नहीं हैं और न ही इनकी कथा समानान्तर चलती है। यह एक ही नाटक है जिसमें दूसरा नाटक ऐसा जुड़ जाता है कि दोनों एक हो जाते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा उतनी ही ली गई है जितनी मूल नाटक को प्रभावित करती है।

यह नाटक ग्रामीण पृष्ठभूमि में है जहाँ सवर्ण-अवर्ण दो वर्ग हैं। सवर्णों के मोहल्ले में पुरोहित सत्यनारायण की कथा सुनाता है उधर श्रोता लोग आपस में राजनीति पर बहस कर रहे हैं। यह कथा भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान नेता देवधर के संकेत पर आयोजित की गई है जो उसकी राजनीति का अंग है। वह धर्म के मंच पर सवर्णों को अपने पक्ष में रखने और अवर्णों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है। वह पिछड़े हुए लोगों के नेता लौका को साम, दाम, दण्ड भेद से अपने पक्ष में करना चाहता है, जिससे उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई न रहे। उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह कहता है- सत्यनारायण की कथा मेरे घर पर होगी सभी आएँ।

वहाँ कुछ और ही हुआ। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक खेला जा रहा था। मूल नाटक के सभी पात्र उसमें कोई न कोई भूमिका निभा रहे थे। हरिश्चन्द्र की भूमिका में लौका, इन्द्र की भूमिका में देवधर उतरे। जीतन, गपोले, पदमा क्रमशः विश्वामित्र, नारद और शैव्या की भूमिका में थे। कुल मिलाकर ऐसा तारतम्य बन रहा था कि प्रमुख मूल पात्र और दूसरे नाटक के पात्र एक दूसरे में गड्ढमड्ढ हो गए। वही समस्याएँ, कहीं अहंकार, वहीं छलछद्म, वहीं त्याग एवं बलिदान की भावना, सब कुछ एकाकार हो गया था।

इस प्रकार आधुनिक जीवन के साथ एकरूपता दिखाने के क्रम में नाटककार ने प्राचीन जीवन से कथासूत्र उठाया। दोनों को एक दूसरे में बुन दिया। फिर उनसे जो निष्कर्ष निकला, वह अपने आप में विशिष्ट है। नाटककार ने मिथक का बहुत अच्छा प्रयोग किया है, जिसके साथ नाट्य शिल्प का परिपाक उल्लेखनीय है। कथानक की बनावट भी अपने आप में प्रभावी है।

इसमें दिखाया गया है कि राजनेता (देवधर : इन्द्र) अपनी राजसत्ता पर आँच नहीं आने देना चाहता। जब उसे कोई प्रतिद्वन्द्वी (लौका : हरिश्चन्द्र) अपने सत्य, त्याग आदि गुणों के कारण उभरता हुआ दिखाई देता है तो उसे अपनी सत्ता खतरे में दिखाई देती है। तब वह जीतन और गपोले की सहायता लेकर प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। उसमें उसे सफलता नहीं मिलती है। यह नाटक राजसत्ता पर साधारण जनता की जीत के साथ समाप्त हो जाता है।

इस नाटक में पात्रों की संख्या बहुत अधिक है। प्रमुख पात्रों की संख्या तो कम ही है जो पूरे

नाटक में छाये हुए हैं। इसका नायक लौका (हरिश्चन्द्र) और प्रतिनायक देवधर (इन्द्र)। अन्य प्रमुख पात्रों में जीतन, गपोले हैं, परन्तु पदमा (शैव्या), रोहित की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शेष पात्र आवश्यकता होने पर, वातावरण निर्माण के लिए, कथासूत्र को आगे बढ़ाने के लिए आते रहते हैं।

नाटककार को पता है कि उसे नाटक में क्या देना है, किन समस्याओं को उठाना है और उनके लिए किन प्रमुख पात्रों तथा सहायता पात्रों की कब कितनी आवश्यकता होगी। इसी के हिसाब से उसने पात्रों का चयन किया है। उसने एक भी पात्र पेसा नहीं लिया जिसे फालतू घोषित किया जा सके। अगर किसी पात्र को निकाल दिया जाए तो नाटक लड़खड़ा जाएगा।

नाटककार ने पात्रों का चयन करने के बाद उनके चरित्र का चित्रण किया है। वे अपने वातावरण की उपज है और मुख्य कथा के प्रवाह के साथ पूरी तरह जुड़े हुए हैं। उनके चरित्र के विभिन्न रूप विभिन्न उपयुक्त सन्दर्भों में उद्घटित होते हैं। ये पात्र कहीं से कृत्रिम नहीं लगते, बल्कि सजीव एवं सहज हैं। ये जीवन के प्रचुर अनुभवों से गुजरने के बाद अपनी कर्मभूमि में उतरे हैं जो पाठक-दर्शक को पूर्णतः अपने साथ बहा ले जाने में समर्थ हैं। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में चरित्र चित्रण की कई पद्धतियाँ अपनाई गई हैं जिससे उनके पात्रों की विश्वसनीयता बनी रहती है और वे पूरी तरह उभर कर हमारे सामने आते हैं। एक, वह कोई दृश्य दिखाते हैं जिसमें प्रमुख पात्र के बारे में इधर-उधर से सूचनाएँ मिलती हैं जो नाटककार की ओर से रंग संकेत के रूप में भी होती है, जैसे- "इसी समय गाँव का भूतपूर्व जमींदार और आज के राजनेता देवधर दार्यी ओर से आता है।

दो प्रमुख पात्र के कार्यकलाप से उसके स्वभाव आदि का पता चलता है जैसे पुरोहित की ओर देख उसकी ओर बढ़ता है। पुरोहित झुककर प्रणाम करता है। दोनों में कुछ रहस्यमय बातें होती हैं। देवधर कुछ रुपये पुरोहित को देकर आगे निकल जाता है।"

तीन, वह समय-समय पर अपने बारे में, विभिन्न संदर्भित विषयों पर क्या कहता है और दूसरों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है ?

चार, दूसरे लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, सामने क्या कहते, पीछे क्या कहते हैं ?

इसके बाद मुख्य बात यह आती है कि अन्य पात्रों की दृष्टि में उसकी छवि कैसी है और दर्शक पाठक पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है।

नाटककार लाल ने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में चरित्र-चित्रण इन सभी पद्धतियों को अपनाया है और पात्रों के चरित्रों का अंकन बढ़िया ढंग से किया है उनके पात्र जीते जागते मनुष्य हैं, भावनाओं और विचारों से ओतप्रोत हैं, सम्बन्धित घटनाओं से प्राभावित होते हैं उन पर यथोचित प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। वे स्थिर नहीं हैं बल्कि गतिशील हैं, विभिन्न स्थितियों और समस्याओं से जूझते हैं और विकासशील हैं। उनका यथार्थ तो ठोस धरातल पर टिका ही है, उनका आदर्श भी इसी धरती की सच्चाइयों में से उभरा है।

पहली दो चरित्र पद्धतियों के नमूने पहले दिए जा चुके हैं। अब यहाँ तीसरी और चौथी पद्धति के नमूने प्रस्तुत किए जा रहे हैं। एक उदाहरण लें जहाँ देवधर जीतन से कहता है। अन्य लोग भी वहाँ विद्यमान हैं। सच बात यह है कि यह मेरी जगह लेना चाहता है? हे तुझमें यह हिम्मत ? बड़ा चला है स्वप्न देखने, स्वराज्य का नाम लेने। कान खोलकर सुनो, जो सीधी सादी प्रजा को बहकाएगा, उसे मैं जिन्दा नहीं रहने दूँगा ? जब जीतन उससे कहता है कि आप आइए, अपना काम देखिए। उसका आशय यह है कि देवधर नाटक में अपनी भूमिका को देखे? इस

पर देवधर का उत्तर है- लौका को खत्म करने के अलावा भी मेरा कोई और काम है?

पदमा देवधर के बारे में स्वागत कथन कहती है- इसके लिए अपना हुस्न बेचो, यही इसका काम है। पता नहीं, यह किस-किस चीज का दलाल है। इसका संवाद उसकी शक्ति है, इसके लिए स्त्री जादू है और बिजली है। लौका मनुष्य नहीं, शूद्र है।”

गपोले देवधर से कहता है- “देखो न, आप सोने को हाथ लगाते हो, मिट्टी क्यों हो जाती है ? आप बाते पक्की करते हो, पर कच्ची क्यों हो जाती है।”

रोहित पुनः जीकर खड़ा हो जाता है और कहता है- अब तक हम जी रहे थे तुम्हारे अनुभव से। अब हम जीएंगे अपने अनुभव से।”

इस प्रकार इन विविध माध्यमों से देवधर का चरित्र हमारे सामने भली प्रकार उजागर हो जाता है। इस प्रकार अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण को भी देखा जा सकता है। अवश्य ही नाटककार ने पात्रों का चयन कथावस्तु के अनुसार ही किया है और उनका चरित्रांकन समझ बूझ के साथ किया है जो प्रसंग, सदर्थ, वस्तु और स्थिति की आवश्यकता की देन है।

नाटक के लिए संवाद अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, हम बिना संवाद के नाटक की कल्पना कर ही नहीं सकते। संवाद शक्ति है, संवाद अभिव्यक्ति का माध्यम है।

नाटक में संवाद के माध्यम से ही सब कुछ या बहुत कुछ व्यक्त होता है। संवाद से नाटक की कथावस्तु सामने आती है और संवाद के सहारे ही उसका कथानक बुना जाता है। संवाद के माध्यम से ही पात्र आते हैं, उनका स्वरूप खुलता है, चरित्र का विकास होता है। नाटक में किस स्थान की कहानी या घटना है और किस समय की है, यह भी संवाद से ही उभरता है। उसकी भाषा शैली, रचनात्मक दृष्टि और उद्देश्य भी संवाद के माध्यम से ही व्यक्त होते हैं और सामर्थ्य को प्रमाणित करते हैं ऐसा क्या है जो संवाद के माध्यम से नहीं किया जा सकता। नाटक में संवाद या कथोपकथन की इतनी अधिक व्याप्ति के कारण ही भारतीय आचार्यों ने इसे नाटक के तत्त्वों के अन्तर्गत विवेचित नहीं किया, क्योंकि जो सर्वत्र व्याप्त है उस पर अलग से क्यों रखना है। तभी तो वे केवल वस्तु, नेता और रस से काम चला लेते हैं।

वैसे नाटककार द्वारा प्रयुक्त रंग संकेतों या निर्देशन द्वारा प्रयुक्त विकसित आधुनिकता तकनीकी कौशल (प्रकाश योजना, वस्त्रादि, आंगिक अभिनय, मुखमुद्रा आदि संगीत नृत्य, ध्वनि, पृष्ठभूमि संगीत) के माध्यम से भी नाटक में बहुत कुछ कहा जाता है जिनकी अभिव्यक्ति संवादों से नहीं हो सकती। इन सभी साधनों का उपयोग इस नाटक में किया गया है जिन्हें प्रायः रंग संकेतों में देखा जा सकता है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक में संवादों के अनेक रूप मिलते हैं। एक जहाँ वह कार्य व्यापार द्वारा गुपचुप संवाद करा देते हैं, आंगिक अभिनय से काम चला लेते हैं या एकाध शब्द ही काफी समझते हैं, दो, कहीं वह सीधी-साधी अभिव्यक्ति देते हैं। तीन, जहाँ संवादों में व्यंजक अभिव्यक्ति होती है। चार, जहाँ वह नाटक में जीवन के गहन गम्भीर दार्शनिक जीवन सत्य को सहज बनाकर प्रस्तुत कर देते हैं। पाँच, कहीं इसमें छोटे और कहीं लम्बे संवाद हैं, छः, कहीं हँसी मजाक है और कहीं व्यंग्य की चोट है।

नमूने के तौर पर एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनसे उनके संवाद कौशल की झलक मिल सकती है। जब देवधर लौका से कहता है कि राजनीति ने मनुष्य का बड़ा कल्याण किया है, उसे आजादी दी है तो कुछ प्रमुख पात्रों के बीच जो संवाद होता है, उसका एक अंश देखिए।

लौका: नए गुलाम बनाने की।

देवघर: बन्द कर जुबान अपनी।

गपोले: देखता नहीं, पूजा हो रही है क्या।

जीतन: राजनीति एक रोशनी है, अंधेरा मिटा देती है।

गपोले: इस बात को जरा समझा कर कहिए, यह मान जाएगा। भला मानुस है।

जीतन: जैसे टार्च की रोशनी होती है न.....

लौका: जिसके हाथ में होती है उसके लिए अंधेरा उजाला हो जाता लेकिन उससे दूर अंधकार और गहरा हो जाता है।

यह संवाद सरल सहज भाषा शैली से है जिसमें अभिव्यक्ति को वहन करने की जबरदस्त क्षमता है। छोटे-छोटे वाक्य, उछलते-कूदते शब्द, धारा के प्रवाह में बहती हुई भाषा। इसमें मात्र प्रश्नोत्तरी नहीं है बल्कि स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। बात करने का अन्दाज कितना मौलिक, प्रभावी और निजी है। जरापवार का संवाद देखिए- बन्द कर जबान अपनी। उसने अपनी बात प्रचलित ढंग से न करके, नया मुहावरा गड़ा है। इसी प्रकार नए-नए ढंग से बात आगे बढ़ती जाती है और संवाद कौशल की झलकियाँ मिलती हैं।

श्री मित्र 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के पूर्व उदाहरण से संवाद शक्ति के साथ-साथ भाषा शैली का नमूना लिया जाता है। वह आसान शब्दों में गहन अर्थ भर देते हैं। और गहरी से गहरी बात को इतने सरल ढंग से कह देते हैं कि देखते ही बनता है। हल्के-फुल्के शब्द, छोटे-छोटे वाक्य, एक दूसरे से जुड़े हुए वाक्यों से बने हुए संवाद जीवन के व्यावहारिक पक्ष को ही नहीं, वैचारिकता को भी बड़ी आसानी से स्पष्ट कर देते हैं। उन्हें पता है, कब, क्या, कैसे कहा जाए और उन्होंने इस नाटक में अपनी इसी क्षमता का उपयोग खुलकर और जमकर किया है।

उनकी भाषा का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत किया जाता है इसका सन्दर्भ काशी के बाजार का है। नारद ने यह घोषणा कर दी कि काशी के बाजार में बिकने के लिए राजा हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित के साथ आ रहे हैं। उसके बाद के संवादों में भाषा का नमूना देखिए-

गुंडा: अरे रे-रे-रे-रे।

ब्राह्मण: बचो नारद से। नारद से बचो।

कुटनी: क्यों भला, नारद की बात तो सुनो।

ब्राह्मण: किसी आग में तेल डालने आए होंगे।

नारंगी वाला: अरे नारंगी देख नारंगी।

कुटनी: ऊपर देख हरिगंगी।

गुंडा: मार गोरी नैना फाट जाए बदरा।

पानवाला: गुरु। सावधान, यह नारद है।

यह चटखारे लेने वाली भाषा है जिसमें चंचलता है, चुहुलबाजी है, मस्ती है। इसमें सीधी सहज अभिव्यक्ति शैली है। भाषा दमदार है कितनी स्वभाविकता है, कहीं कोई बनावट नहीं, गिरावट नहीं। जैसे चूरन चटनी वाला अपनी तरह-तरह की पुड़िया दिखाए। इसे बाजारू भाषा भी कह सकते हैं जो बाजार के वातावरण को रंग दे रही है।

इस नाटक में भाषा के अनेक रूप हैं। विषय, प्रसंग, सन्दर्भ के अनुसार भाषा का रूप बदल जाता

है और उसी के अनुसार बदल जाती है। शैली जो अभिव्यक्ति का प्रकार है। इस नाटक में भाषा के ही नहीं, शैली के भी अनेक रूप दिखाई देते हैं। नाटककार ने दिलचस्प भाषा शैली में अपनी बात कही है और सर्वत्र जीवंतता मिलती है। इस दृष्टि से नाटक विशिष्ट प्रयोग है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक में नाटककार ने देशकाल वातावरण का निर्वाह बहुत अच्छे ढंग से किया है। यह नाटक गाँव के जीवन में घटित होते हुए दिखाया गया है। इसलिए इसमें लोकनाट्य शैली के माध्यम से सशक्त अभिव्यक्ति दी गई है और नाटककार लाल ग्राम्य जीवन का वातावरण कुशलता के साथ तैयार करते हैं। वह गाँव के जीवन में रचे पाए पात्रों को समकालीन सन्दर्भों में उठाते हैं और मिथक से राजा हरिश्चन्द्र की कथा को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए उसके निष्कर्षों को समकालीन जीवन से जोड़ देते हैं।

जब मूल नाटक चलता है तो उसका वातावरण स्थान भेद के अनुसार कुछ और है तथा जब नाटक के भीतर नाटक आ जाता है तो देश ही नहीं बदल जाता है, काल भी बदल जाता है इसलिए उसके उपयुक्त वातावरण का निर्माण नाटककार ने किया है। जब हरिश्चन्द्र विश्वामित्र के साथ रास्ते में काशी की ओर जा रहे हैं तो वहाँ का स्थान अलग है और जब वे लोग काशी के बाजार में पहुँच जाते हैं तो उसके अनुसार वहाँ बाजारू वातावरण तैयार करने में नाटककार को सफलता मिली है।

नाटक के अन्त में समकालीन लोक चेतना की जागृति का वातावरण मिलता है और भारतीय जनता के बीच सद्भावना की गुभेच्छा का सुखद दृश्य मिलता है। इस प्रकार नाटक, तनावों, कलात्मक सौंदर्य और मनोरंजन के बीच गुजरता हुआ अन्त में तनाव मुक्त बाकी स्थिति में आ जाता है। अब एक अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर बात की जाए और वह है- नाटक में प्रयुक्त रचना दृष्टि और उद्देश्य। विशेष बात यह है कि अगर नाटक बहुत अच्छा चल रहा है, उसकी रचना दृष्टि ही कही दोषपूर्ण हो जाए या उद्देश्य ही गड़बड़ा जाए तो नाटक लिखना ही बेकार हो जाता है।

यहाँ यह देना आवश्यक है कि रचना दृष्टि कथित न होकर व्यक्ति हो तो नाटक सफल है। अगर उद्देश्य कहीं बीच में या अन्त में शब्दों में कथित हो तो नाटक स्तरीय नहीं हो सकता। अवश्य ही नाटककार जो सन्देश अपनी कृति के माध्यम से देना चाहता है, वह नाटक में समाहित हो। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ अवश्य ही सराहनीय है, क्योंकि उसमें नाटक की रचना दृष्टि या उद्देश्य शब्दों में कथित नहीं है, बल्कि उसके भीतर आदि से अन्त तक प्रवाहित है।

इसमें जातिवाद और वर्गवाद का बोलबाला है, धर्म ने प्रभाव जमा रखा है। उच्च वर्ग के लोग पिछड़ी हुई जातियों को यथास्थिति में ही रखना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि उनमें से कोई लौका उभरे और उच्चवर्णीय राजनीति के लिए आने वाले कल में खतरा बने, देवधर का प्रतिद्वंदी बने। इसलिए वे उसे दबा देना चाहते हैं, नाटककार ने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि किसी भी प्रकार का भेदभाव गलत है, हम सद्भावना से काम करें और योग्यता के बल पर ही आगे बढ़ें। उल्लेखनीय है कि नाटककार अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुआ है। इस प्रकार ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक वास्तविक दृष्टि से श्रेष्ठ नाटक है।

8. ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ की पात्र योजना

नाटक की कसौटी रंगमंच है और रंगमंच का प्रमुख अंग पात्र है। भारतीय साहित्य शास्त्र में तीन तत्त्व माने गए हैं- वस्तु, नेता और रस। आचार्यों ने नेता को ही सर्वप्रमुख माना है और अन्य पात्रों को गौण

माना है। पश्चिमी काव्य-शास्त्र में 'नेता' के स्थान पर पात्र चरित्र-चित्रण को रखा है। हिन्दी नाट्य शास्त्र ने कुछ प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र से लिया है और कुछ पश्चिमी काव्यशास्त्र से। आज हम हिन्दी नाटक में मात्र नेता की बात नहीं करते, बल्कि पात्र चरित्र-चित्रण की बात करते हैं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटक में नेता यानी नायक ही सब कुछ नहीं है, बल्कि नायिका, अन्य सहयोगी पात्र या प्रमुख पात्र भी आवश्यक होते हैं। इतना ही नहीं, अन्य ऐसे पात्र भी होते हैं जिनकी भूमिका छोटी सी होती है परन्तु वे नाटक के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं। उन्हें ऐसे ही नहीं छोड़ा जा सकता। वे नाटक के विकास आदि में बहुत सहायक होते हैं।

जब नाटक में पात्र होंगे तो उनका चरित्र-चित्रण भी होगा। वे पात्र ही क्यों लिए गए हैं ? वे ऐसे क्यों हैं ? कुछ और क्यों नहीं हैं ? क्या स्थिर हैं या गतिशील हैं ? उनके विकास की क्या सम्भावनाएँ हैं ? उनका रूप कैसा है ? उनका स्वरूप कैसा है ? वे अच्छे हैं या बुरे हैं ? क्या वे अच्छे बुरे के अतिरिक्त कुछ और हैं ? इस प्रकार उनके गुणों-अवगुणों का सम्बन्ध उनके चरित्र से है और नाटक में हमें यह देखना होता है कि उसमें जो-जो पात्र आए हैं, उनके चरित्र का चित्रण नाटककार ने किस राय में किया है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उस चित्रण का क्या स्तर है और नाटककार ने किन आधारों को अपनाया है।

तो मोटे तौर पर इन आधारों पर डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में पात्रों और उनके चरित्र-चित्रण का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

इसमें प्रमुख पात्र सात हैं और शेष अन्य पात्र भी हैं जो संख्या में काफी हैं। नाटक की योजना कुछ इस प्रकार है कि यहाँ नाटक में नाटक चलता है। मूल नाटक समकालीन जीवन की समस्याओं पर आधारित है उसके बाद उसमें एक ओर नाटक आ जाता है जिसका अभिनय मूल नाटक के पात्र ही करते हैं। इसलिए एक-एक पात्र दो-दो भूमिका अदा करता है। नाटक के बीच-बीच में और फिर अन्त में मूल नाटक चलता है। इस प्रकार पात्र की भूमिका अधिक जटिल और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अतः इसमें पात्रों का चरित्रांकन उस प्रकार नहीं किया गया है जैसा अन्य सामान्य नाटकों में होता है।

इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र दो ही हैं- लौका और देवधर। लौका नायक है और देवधर प्रतिनायक है। लौका की भूमिका सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण है। वह हरिश्चन्द्र की भूमिका में भी उतरता है, देवधर की भूमिका अपने निजी रूप में बहुत अधिक है, परन्तु जब वह इन्द्र की भूमिका में उतरता है तो उसकी भूमिका नगण्य हो जाती है और वहाँ लौका (हरिश्चन्द्र) की छाया रहता है। इसका कारण यह है कि नाटक में नाटक खेला गया है, वह है- सत्य हरिश्चन्द्र जिसमें हरिश्चन्द्र की भूमिका ही सबसे अधिक होनी थी और वही है।

मूल नाटक के अन्य विशेष पात्र हैं- जीतन और गपोले। इनके बाद इसमें थोड़ी सी भूमिका पदमा की भी है। ये तीनों पात्र देवधर के सहयोगी और साथी हैं जो देवधर के इशारों पर चलते हैं। उल्लेखनीय है कि देवधर का प्रतिद्वन्द्वी है- लौका और लौका के पक्षधर है अन्य अनेक लोग जो सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं अर्थात् लौका के साथ है साधारण जनता।

देवधर उस वर्ग का प्रतीक है जिसके पास शक्ति, वैभव, अधिकार, धन-दौलत, उच्चवर्ग और वर्ण की विरासत और उसका वरदान है। वह अपने अधिकार आदि का उपयोग करना जानता है और करता भी है। पद का उपयोग ही नहीं, दुरुपयोग भी करता है। वह उस वर्ग और वर्ग पर शासन करता है जो शक्तिहीन, अधिकार वंचित, निर्धन, निम्नवर्ग और निम्नवर्ण का है जो पहले ही शोषित, दलित और पीड़ित है।

वह पहले जमींदार था। स्वतन्त्र भारत में जमींदारी छिन गई तो वह सत्ताधारी राजनीतिक दल से जुड़ गया और सफल राजनेता के रूप में उभर आया, उसके पास पहले भी सब कुछ था अब भी सब कुछ है। वह उन चालाक और अवसरवादी लोगों में से है जिसके लिए आदर्श और सिद्धान्त महत्त्व ही नहीं रखते। बस अवसर का सर्वोत्तम उपयोग ही सब कुछ होता है। इसीलिए वह हर स्थिति में समाज पर छाया रहता है और अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करता रहता है।

वह अपनी कुर्सी को सँभाले रखना जानता है, अगर कोई खतरा दिखाई देता है तो वह फिर से तैयार हो जाता है और सारा वातावरण अपने पक्ष में कर लेता है। जब उसे यह आभास हुआ कि लौका उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में बड़ी तेजी से उभर रहा है तो वह उसके विरुद्ध अपना पूरा मोर्चा लगा देता है और भय, लोभ, प्रीति और दण्ड के सभी उपाय अपनाता है जिससे लौका को नियन्त्रण में रखा जा सके।

लौका साधारण जनता प्रतिनिधि है। वह उस वर्ग से उभरा है जहाँ उपेक्षा है, शोषण और उत्पीड़न है, गरीबी और भुखमरी है। लौका नीचे से ऊपर आया है और देवधर ऊपर ही ऊपर रहा है। लौका सिद्धान्त और आदर्श को अपना कर चलता है और देवधर निहित स्वार्थों की राजनीति करता है। लौका सत्य को जीवन में जीता है और देवधर की सत्य में कोई आस्था नहीं है, वह तो बस सत्ता का पुजारी है।

यह संयोग है या नाटककार की योजना है कि मूल नाटक में इन दोनों पात्रों का जो स्वरूप है, उसी के अनुसार नाटक के भीतर नाटक यानी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इन दोनों पात्रों को वही भूमिकाएँ दी गई जो उनकी प्रकृति के अनुसार उपयुक्त बैठती हैं, जैसे सत्य को जीवन में उतारने वाला लौका राजा हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतरता है जिसने सत्य को जीवन में जीने के लिए त्याग और बलिदान किए तथा अनेक कष्ट झेले। इसी प्रकार सत्ता का भूखा, सत्ता पर नियन्त्रण रखने वाला, उभरने वाले प्रतिद्वंद्वियों को समाप्त करने वाला देवधर उसी स्वभाव के राजा इन्द्र की भूमिका में उतरता है।

विशेष बात यह है कि इन दोनों विशिष्ट पात्रों का अपना स्वभाव है, अपनी मानसिकता है जिसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक कोई बदलाव नहीं आता। वे अपनी-अपनी जगह पर ही रहते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे स्थिर हैं, उनमें कोई गति नहीं है और उनका विकास नहीं होता। वे अपने-अपने ढंग से बाहरी दुनिया से जुड़े रहते हैं और बराबर सक्रिय रहते हैं। जहाँ तक चरित्रगत, स्वभावगत बदलाव का प्रश्न है, वह इतना आसान नहीं होता जितना समझ लिया जाता है। यह सिद्धान्त नहीं व्यावहारिक दृष्टि है जो मानव मनोविज्ञान पर आधारित है।

इस नाटक के अन्य पात्रों में हैं- जीतन, गपोले और पदमा। पहले दो पात्र देवधर के सहयोगी, अनुयायी और समर्थक हैं। पदमा देवधर की निजी सचिव है। अतः ये सभी पात्र देवधर के इशारे पर चलते हैं अर्थात् देवधर जैसा चाहता है, वही सोचते हैं और वैसा ही काम करते हैं। न उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और न अपनी इच्छा के अनुसार कोई काम करते हैं। सही-गलत, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित पर विचार करना और स्वतन्त्र निर्णय लेना उनका काम नहीं है। ऐसा लगता है जैसे देवधर ने उन पर गोस्मरेजम का प्रभाव डाल रखा है और वे देवधर के प्रति अपनी पक्षधरता निभाते हैं। इसी में अपनी सार्थकता समझते हैं और देवधर उनका उपयोग अपने लिए करता है।

जब मूल नाटक में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक शुरू हो जाता है तो ये पात्र अपनी-अपनी भूमिका में उतर आते हैं जैसे जीतन विश्वामित्र का अभिनय करता है, गपोले को नारद की भूमिका

मिलती है और शैव्या की भूमिकाओं का प्रभाव पड़ता है और क्रमशः उनमें बदलाव आ जाता है। इस प्रकार उनके चरित्र का क्रमशः विकास होता है।

नाटक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते सब कुछ उलट-पुलट हो जाता है जीतन और गपोले देवधर के शिविर से निकलकर लौका के शिविर में पहुँच जाते हैं। यहाँ तक कि पदमा पर से भी देवधर का जादू उतर जाता है और उसे लगता है कि वह सही नहीं है, बल्कि सत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत रखने के लिए वह समाज को प्रवाहमान नहीं रहने देता और परिणामस्वरूप उसके विकास को अवरुद्ध कर देने के लिए पूर्णतः कटिबद्ध है। इस राजनेता के असली चेहरे को सभी जान जाते हैं।

इस प्रकार इन पात्रों के चरित्र के अंकन में नाटककार ने दूसरी दृष्टि से काम लिया है। सच्चाई यह है कि व्यक्ति स्वभाव नहीं बदलता परन्तु व्यक्ति का विकास तो होता ही है। वह अपने अनुभव से बहुत कुछ सीखता है। जब तक वह दूसरे के पीछे आँख बन्द करके चलता रहता है तब तक स्थिति और होती है और जब वह आँख खोलकर देखता है तो उसके सामने सच्चाई खुल जाती है। नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में यही किया है। उन्होंने सच्चाई को खोलकर रख दिया है। तब जीतन, गपोले और यहाँ तक पदमा की दृष्टि ही बदल गई। नाटक के माध्यम से ही सही, उनके सामने जो अनुभव आए यानी जिन अनुभवों से वे गुजरे उससे उन्हें व्यक्तित्व मिला। जब उन्हें व्यक्तित्व मिल गया, अपनी सोच मिल गई तो वे सही निर्णय लेने में समर्थ हो गए। यह है पात्रों का चरित्रगत विकास।

"एक सत्य हरिश्चन्द्र" में इस प्रकार के पात्र लिए गए हैं? अब इस प्रश्न पर विचार करते हैं। इसके पात्र अपने मूल रूप में समकालीन सामाजिक आर्थिक राजनीतिक क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। यही पात्र आगे जाकर सत्य हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा के साथ जुड़ जाते हैं। इस प्रकार आधुनिक पात्र एवं मिथक पात्र एक दूसरे में घुलमिल जाते हैं। इससे फिर समकालीन पात्रों के स्वरूप को गढ़ने का काम किया जाता है और इस प्रकार पात्र नए रूप में हमारे सामने आते हैं।

नाटककार ने इसमें जिन पात्रों को लिया है, वे हमारी ही धरती के लोग हैं, ठोस यथार्थ पर स्थित हैं। उनकी भावनाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, उनके विचार और उलझाव हैं, उनके जीवन की ललक और उत्कण्ठता है। उनमें गुण हैं और अवगुण भी, वे समर्थ हैं और असमर्थ भी, सफल होते हैं, असफल भी रहते हैं। वे दबाते हैं, दबते भी हैं। वे मजबूत हैं, कमजोर भी।

इस सबके केन्द्र में स्थितियाँ हैं। स्थितियों के अनुसार ही पात्र स्वतः विकसित होते हैं और वे विभिन्न रूप धारण करते रहते हैं। उदाहरण के लिए हम देवधर के चरित्र को लेते हैं। वह जमींदार वर्ग से आया है जहाँ वह सत्ता का आस्वादन कर चुका था। जमींदारी गई तो राजनेता बना। अतः सत्ता सुख का सिलसिला बना रहा। वह जनता के चुनिंदा लोगों का उपयोग अपने लिए करता रहा और साधारण जनता को उल्लू बनाता रहा। आगे चलकर स्थिति फिर बदल गई और जनता में जागरूकता आने के बाद उसकी कलाई खुल गई और लोग उसके विरुद्ध हो गए।

इसे यहाँ उदाहरणों से समझा जाए।

वह लौका को धमकी देते हुए अपने असली स्वरूप का बखान करता है- तू जानता नहीं, मैं क्या हूँ ? शायद तुझे मेरी ताकत का पता नहीं है ? मेरा इलाका है यह मेरी जन्मभूमि है। मुझे कभी यहाँ अपनी ताकत दिखाने की जरूरत नहीं पड़ी। जब प्रेम से काम चल जाता है.....।

देवधर मनुष्य को मनुष्य नहीं समझता उसके पास धन की ताकत भी है। वह लौका को खरीदने का प्रस्ताव रखता है- पता लगाओ क्या है कीमत इसकी और भुगतान कर दो।

कुछ ही आगे चलकर देवधर कहता है- तो कहना, क्या चाहिए तुझे ? माँग मुझसे आ अकेले में बात कर ले।

पदमा तो देवधर की सचिव है। वह उसके बारे में न किसी से सही बात कह सकती है और न देवधर से ही। इसलिए उसका स्वमत कथन है। हर कोई इसके लिए एक चीज है। इनके इस्तेमाल की चीज आखिर अब नाटक ही तो है इनके लिए। मेरे लिए वही जीवन है।

कुछ और आगे चलकर जीतन स्वयं ही देवधर से कहता है- हम सब हरिश्चन्द्र है, तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में वहाँ राजा इन्द्र एक था, यहाँ राजा इन्द्र असंख्य है- पुलिस, अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल, गुंडा यही है तुम्हारी राजनीति। वह अन्धकार।

कुछ और आगे चलकर गपोले देवधर से कहता है देखो न, आप सोने को हाथ लगाते हो, मिट्टी क्यों हो जाती है ? आप बातें पक्की करते हो, कच्ची क्यों हो जाती है ?

और नाटक के अन्त में लौका देवधर से कहता है- मैंने इस नाटक में राजा बनकर देख लिया। जब तक तुम हो, हम केवल बनाए ही जा सकते हैं, अपने आप कुछ नहीं हो सकते। पर अब बनने और होने का मर्म हमें मिल गया, चुप रह जाना हमारा विरोध था। पर तुम उस भाषा को नहीं समझ सके। सत्ता है तुम्हारे पास, हम सब तुम्हारे हाथों के कठपुतले थे। यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था और तुम्ही इसके सूत्रधार थे चलो, अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की।

अभी-अभी इस नाटक से कुछ उदाहरण दिए गए हैं जो इसके प्रमुख पात्र देवधर के बारे में हैं। इन संवादों में या तो वह स्वयं बोलता है या दूसरे पात्र उसके बारे में उसी को बताते हैं या अपने आप से कहते हैं। इनसे यह भी पता चलता है कि वह क्या करता है, क्या सोचता है और दूसरे लोगों के विचार उसके बारे में कैसे हैं।

वास्तव में, किसी पात्र के चरित्र के बारे में सही-सही जानने के सही आधार होते हैं या हो सकते हैं कि अमुक पात्र क्या सोचता है, वह क्या कहता है, क्या करता है, दूसरे लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं और क्या कहते हैं। इस सबको मिलाकर किसी पात्र की तस्वीर बनती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाए कि नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में पात्रों के चरित्रांकन में यही आधार अपनाया है जिसे देवधर के चरित्र पर लागू करके देखा जा चुका है। इस प्रकार देवधर का सम्पूर्ण स्वरूप हमारे सामने अपनी विविधरूपता के साथ स्वयं स्पष्ट हो जाता है। उसका चरित्रांकन पूरे सन्दर्भों में विभिन्न स्थितियों में उभरता हुआ दिखाई देता है।

नाटककार ने अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी इसी पद्धति को अपनाया है और वे पात्र अपने निर्धारित स्वरूप में अपने आप खुलते चले जाते हैं। इस प्रकार वे अपने विकास पथ पर अग्रसर होते हैं। उन सभी पात्रों को पूरे सन्दर्भों में उभारा गया है।

इस प्रश्न को एक बार फिर देखा जाए कि इस नाटक में किस प्रकार के पात्र हैं और उनका चरित्र-चित्रण कैसा हुआ है।

मुख्य रूप से इसमें दो वर्गों और वर्णों के पात्र हैं- अमीर-गरीब, अधिकार प्राप्त और अधिकार वंचित, सवर्ण और अवर्ण। इनका नेतृत्व क्रमशः देवधर और लौका करते हैं। अन्य सभी पात्र इधर या उधर हैं या इधर से उधर हो जाते हैं यानि देवधर की पक्षधरता छोड़कर लौका की पक्षधरता अपना लेते हैं।

कहा जा सकता है कि ये टाइप चरित्र है जो किसी न किसी वर्ग से सम्बन्धित है और उनके अन्दर ये सब गुण-अवगुण हैं जो प्रमुख वर्ग में प्रायः देखने को मिलते हैं। वैसे यह भी सही है कि नाटककार लाल ने पात्रों का क्रमिक विकास दिखाकर उनके टाइप चरित्र को तोड़ा है।

एक अजीब बात यह है कि "एक सत्य हरिश्चन्द्र" के पात्र या तो अच्छे हैं या बुरे हैं, वे या तो देवता हैं, या राक्षस हैं। उदाहरण के लिए उनमें से लौका पहले वर्ग में आता है और देवधर दूसरे वर्ग में है।

सामान्यतः अच्छे, बुरे, देवता, राक्षस की अवधारणा पुरानी है और आज इसमें लोगों का विश्वास नहीं है। आज यही माना जाता है कि न कोई व्यक्ति बहुत अच्छा होता है और न बहुत बुरा। सच्चाई यह है कि हर आदमी में अच्छाई-बुराई दोनों होती है केवल देखना यह होता है कि कब कौन सी प्रवृत्ति मनुष्य के अन्दर उभर आए। यह बात स्थिति और वातावरण पर निर्भर होती है। तो नाटककार लाल नए युग की नई धारणा को न अपना कर अपनी पुरानी अवधारणा को ही लेकर चलते हैं। उन्होंने अपनी आँखों पर जो रंगीन चश्मा चढ़ा रखा है, उसी से वह हर पात्र को देखते हैं और जैसा देखा, वैसा प्रस्तुत करते हैं।

एक और बात भी है। पहले यह माना जाता था कि जो व्यक्ति जितना बड़ा है, वह उतना ही ऊँचा है। वह न कोई गलत काम कर सकता है और न कोई झूठ बोल सकता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति जितना छोटा होता है, उतना ही नीचा होता है। वह झूठ बोल सकता है, गलत काम कर सकता है। यह वर्गगत चेतना और श्रेष्ठता का सिद्धान्त था जो पहले बहुत चलता था।

आज उसे मान्यता नहीं दी जाती। आज स्थिति कुछ और है। आज की अवधारणा यह है कि कोई व्यक्ति जाति या वर्ग से ऊँचा या नीचा नहीं होता, बल्कि उसके कर्म ही उसे छोटा या बड़ा, ऊँचा या नीचा बनाते हैं। अतः वर्ग, जाति, वंश, गोत्र आदि महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कहीं जन्म हुआ, यह आवश्यक नहीं है, उसके कैसे विचार हैं, कैसे कर्म हैं, असली बात यही है। इसी को आधार बनाकर नाटक में पात्रों का चरित्रगत गठन किया जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में पात्रों का चयन और उनके चरित्रांकन का एक अन्य आधार अपनाया है। ऐसा लगता है, वह यही मानकर चलते हैं कि उच्च वर्ग या जाति का व्यक्ति ही अच्छा नहीं हो सकता और न होता है, बल्कि निम्नवर्गीय और निर्धन व्यक्ति ही अच्छा होता है। इसीलिए नाटककार ने लौका को आदर्श पात्र के रूप में और देवधर को सबसे बुरे पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। कहा जा सकता है कि यह स्वस्थ दृष्टि नहीं है और अस्वस्थ दृष्टि का प्रभाव समाज के सम्यक विकास पर पड़ता है।

वैसे अगर यह देखा जाए कि उच्चवर्ग में सभी पात्र बुरे हो सकते हैं और निम्न वर्ग में सभी पात्र अच्छे होते हैं तो यह स्वीकार्य नहीं है। हाँ इसमें अपवाद अवश्य हो सकते हैं। निम्न वर्ग में अच्छे व्यक्ति हो सकते हैं और उच्च वर्ग में बुरे भी।

नाटककार यह स्थापित नहीं करना चाहता है कि उच्च वर्ग में सभी पात्र बुरे होते हैं। अगर ऐसा होता तो जीतन और गपोले भी बुरे होते। नाटककार ने यह नहीं किया है। उसने इन दोनों पात्रों को नाटक के भीतर नाटक के माध्यम से ही सही, गतिशीलता का अवसर अवश्य दिया है। वे जैसे-जैसे नाटक के भीतर नाटक खेलने की भूमिका में बैठते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें बदलाव के लक्षण दिखाई देने लगते हैं, और बिल्कुल बदल जाते हैं। यह एक एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिससे ये दोनों पात्र गुजरते हैं।

वैसे ये दोनों पात्र और तीसरा पात्र पदमा बिल्कुल बुरे नहीं हैं, परन्तु स्थितियों के कुचक्र में फँसकर

वे देवधर के समर्थक या पक्षधर है। इतना ही नहीं, वे अपने किसी कदम के सही गलत होने पर विचार नहीं करते हैं, देवधर के साथ हैं और आँख भीच कर साथ हैं। आगे चलकर जब उन्हें अनुभव होता है तो उनकी वैचारिकता जाग जाती है। वे उचित और अनुचित पर विचार करने लगते हैं और सत्य और असत्य के बीच के अन्तर को समझ जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वे वास्तव में लौका के पक्षधर नहीं बन जाते बल्कि सत्य के पक्षधर बन जाते हैं, अतः इनकी दोहरी भूमिका नहीं है बस, इकहरी भूमिका है जो निर्धारित विषय सीमा के अन्दर ठीक-ठाक है।

प्रचलित कहानी के अनुसार रोहित ही म त्तु बाग में फूल चुनते हुए साँप के काटने से होती है। यहाँ नाटककार लाल ने अपने नाटक में दिखाया है कि उसकी म त्तु हत्या का मामला है। यह काम किसी विलासी व्यक्ति ने किया जिसके छिछोरेपन को रोहित नहीं सह सका था। तब नाटककार ने रोहित के मुँह से जो कहलाया है, उससे उसने प्रचलित कहानी के साथ सम्बन्ध कर दिया है।

रोहित म त्तु शैया पर पड़े-पड़े अपनी अन्तिम बात इस प्रकार कहता है- विलास के हाथों में बिका हुआ वह मनुष्य नहीं काला सर्प था। जैसे कछुआ उसने, मुझ में विष फैल गया उसके जहर का। मैं जाता हूँ, पर रहूँगा तुम्हारी सांसों में देखूँगा, क्या अन्त होता है देवताओं के दर्द का। पिता से कहना रोहित सुरपुर नहीं गया। स्वर्ग वह झूठा है। यहीं कहीं माटी में छिप गया जिसे लोगों ने फूँका और लूटा है।

अपनी माँ शैव्या को सम्बोधित ये शब्द बहुत मार्मिक हैं। इनसे एक ओर नाटककार की नई परिकल्पना का तालमेल प्रचलित कहानी से बिठाया गया है तो दूसरी ओर इससे उसके विचारों की दृढ़ता का पता भी चलता है। वह कल्पना में नहीं जीता, भावुकता में नहीं बहता, आदर्शों में नहीं फँसता, बल्कि यथार्थ लोक में रहता है। उसने अपने पिता के साथ कष्टों का वरण किया, हालांकि इसके लिए वह उत्तरदायी नहीं है। वह भाववादी न होकर बुद्धिवादी है और अपने तर्क के बल पर विश्वामित्र को भी आड़े हाथों लेता है। नाटककार ने रोहित के चरित्र-संजन के लिए विशेष कौशल दिखाया है।

रंगा का स्वरूप बिल्कुल अलग है। वह न किसी के पक्ष में है और न किसी के विपक्ष में है। बल्कि तटस्थ बना रहता है। इसे संयोग कहें या यह नाटककार की सुविचारित योजना के अन्तर्गत है, कि जैसे ही नाटक के भीतर नाटक (सत्य हरिश्चन्द्र) आरम्भ होता है, रंगा नाटक की कथा के सूत्र को स्वयं मंच पर आकर सँभाल लेता है, अर्थात् वह घोषित सूत्रधार नहीं है। बल्कि स्वयं ही सूत्रधार बन जाता है। अवश्य ही वह इस काम को बहुत बढ़िया ढंग से करता है और दर्शकों-पाठकों की रुचि बराबर बनाए रखता है।

अन्य पात्रों में घुमंतू है जो प्यासा है और पुरोहित से पानी पिलाने के लिये अनुरोध करता है। पुरोहित उसे दुत्कार कर भगा देता है। घुमंतू कच्चे कुँए पर बैठकर गीत गाने लगता है। इस गीत की सार्थकता है। कुछ देर तक नाटक जारी रहने के बाद घुमंतू एक और सार्थक गीत गाने लगता है। माया के मोहक बन की क्या कहूँ कहानी परदेशी। इसके बाद वह कभी मंच पर नहीं आता।

इसके अतिरिक्त इसमें एक वृद्ध है। गाँव के लोग हैं, ऊँची जाति के लोग हैं। पंच, अंगरक्षक, पतुरिया, फूलवाली नारंगी वाली, पटहार, छैला, भांगवाला, गुंडा, पुरोहित, चरवाहा, कुटनी, डोम, सिपाही, ब्राह्मण, शूद्र आदि पात्र भी हैं। ये सभी पात्र नाटक की आवश्यकता और माँग के अनुसार गढ़े गए हैं। ये नाटक को अगली पिछली कहानी से जोड़ने, पूर्वापर, तारतम्य बिठाने, नाटक का माहौल बदलने के काम करते हैं और अवश्य ही प्रासंगिक बने रहते हैं।

नाटककार लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में अनेक पात्रों का स जन किया है जो उतनी दूर तक ही यात्रा करते हैं जितना आवश्यक है। वे प्रसंग के अनुसार अपनी भूमिका निभाने के बाद स्वयं ही मंच से हट जाते हैं। और फिर नहीं आते। यह जीवन के उस सिद्धान्त सूत्र के अनुसार है जहाँ आवागमन लगा ही रहता है। कुछ अधिक देर तक बने रहते हैं, और अन्य लोग आते जाते रहते हैं।

फिर भी इस नाटक में विशेष पात्र दो ही हैं- लौका और देवधर। लौका हरिश्चन्द्र ही और देवधर इन्द्र की भूमिका में भी उतरते हैं और ये क्रमशः नायक एवं प्रतिनायक हैं जो एक दूसरे के विरोधी हैं। देवधर में कड़वाहट भरी हुई है, परन्तु लौका में नहीं है। प्रश्न है ऐसा क्यों है ? देवधर की पृष्ठभूमि ही ऐसी है जिससे उनका मनोविज्ञान पनपा है। वह लौका से ही भयभीत नहीं है, बल्कि उसमें असुरक्षा का भाव है।

देवधर जमींदार था। जमींदार का अपना दबदबा होता है। वह तानाशाह होता है जो अब भी उनके स्वभाव में है। दूसरी बात यह है कि स्वतन्त्र भारत में जमींदारी खत्म हो गई। तब उसने राजनीति में प्रवेश किया और जोड़तोड़ कर के सत्ता में बना रहा। वह राजनेता बन गया। तब उसने लौका को उभरते हुए पाया तो बौखला गया। उसे रोके रखने के लिए उसने धर्म, जाति, वर्ण आदि का उपयोग किया और इस चक्र में उसने तरह-तरह के षड्यन्त्र रचे, परन्तु बात बनी नहीं है।

लौका ऊँचे आदर्शों को लेकर चला उसके पास कुछ भी नहीं था। इसलिये उस कुछ भी छीनने की चिन्ता नहीं थी। फिर वह क्यों दुःखी न होता ? उसमें कुंठाएँ क्यों पनपती ? इसे निम्न वर्ण पर होते अत्याचारों का देखा जिनका मुँह तोड़ जवाब दिया जा सकता था, परन्तु नहीं दिया। चुप रह कर विरोध करता रहा। लोग उसके साथ आते गए, उसकी शक्ति बढ़ती गई। उसने लोगों में चेतना जाग त की। लोगों ने उसका नेतृत्व स्वीकार किया। इस प्रकार इन दोनों की स्थितियों में और दोनों के मनोविज्ञान में बड़ा भारी अन्तर दिखाई देता है।

इस विवेचन के बाद अब एक प्रश्न शेष रह जाता है। क्या यह सही है कि कुछ पात्रों के साथ नाटककार लाल की सहानुभूति है और कुछ पात्रों के प्रति उनका विद्वेष भाव है ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि ऐसा आभास केवल दो पात्रों के कारण होता है- लौका और देवधर। अवश्य ही नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में इन दोनों पात्रों का चित्रांकन पूरे सन्दर्भ में, व्यापक पृष्ठभूमि में विकासात्मक ढंग से किया है। इस क्रम में दोनों के मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखा गया है। फिर भी, ऐसा लगता है कि नाटककार की सहानुभूति लौका के प्रति है जो पूर्णतः योग्य है और बदलाव का संवाहक भी है और यह सहानुभूति देवधर को नहीं मिल सकी है। वैसे यह सही है कि इस नाटक में पूर्णतः रचनात्मकता का आधार लिया गया है।

इस प्रकार इस नाटक की पात्र योजना विशेष आकर्षक और सफल है।

9. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की संवाद योजना

नाट्य कृति के प्रमुख तत्त्वों में पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान होता है, ऐसे किसी नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें संवाद न हों, भले ही संवाद विभिन्न पात्रों के बीच हो या एकपात्री हों। इससे यह समझा जा सकता है कि संवाद नाटक के लिए कितना महत्वपूर्ण तत्त्व है।

संवाद से तात्पर्य है- एक दूसरे से चर्चा करना, बराबर कहना, आपस में वार्ता करना। यह कहने की प्रवृत्ति मनुष्य में शुरु से होती है। उसे उस कहने का कोई अर्थ नहीं है जिसे सुना न जाए। तो यह कहना और सुनना ही संवाद कहलाता है।

कोई भी व्यक्ति संवाद के बिना नहीं रह सकता या वह संवाद के बिना अकेला और अधूरा है। इसका कारण यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह सामाजिक तभी बनता है जब वह दूसरों से संवाद करता है अर्थात् उनके साथ भाव और विचारों का आदान-प्रदान करता है। संवाद अभिव्यक्ति का आवश्यक ही नहीं सशक्त माध्यम है। संवाद के द्वारा मनुष्य अपने अन्दर हल्कापन महसूस करता है। वह संवाद द्वारा बहुत कुछ सीखता है, दूसरों को सिखाता है। वह संवाद द्वारा वह बटोरता है और बिखेरता है। संवाद से वह आगे बढ़ता है। संवाद से ही विकास होता है। संवाद से गतिशीलता आती है। संवाद से चेतना जगती है। संवाद में शक्ति है, सामर्थ्य है।

नाटक आकर्षक दृश्य काव्य है जिसका अनिवार्य सम्बन्ध देखने से है और देखा उसे जाता है जो सामने हो रहा है। जो सामने होता है, वह कार्यव्यापार है, घटना है। कार्यव्यापार और घटना का अटूट सम्बन्ध पात्र या पात्रों के साथ होता है जो परस्पर संवादों के माध्यम से व्यक्त होता है। संवाद नाटक का हृदय है जो बराबर धड़कता रहता है और इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि हृदय धड़कना बन्द कर दे तो क्या हो ? संवाद की धड़कन से नाटक के रक्तचाप का पता चलता है। इससे नाटक का कथानक गतिशील होता है।

डॉ० लाल द्वारा लिखित नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की संवाद योजना अनूठी है। वह अपने संवाद कौशल का प्रमाण नाटक में बराबर देते हैं, इसमें एक ओर संवादों की विविधरूपता मिलती है तो दूसरी ओर उनकी प्रयोगधर्मिता का नमूना भी मिलता है। इससे उनकी नाट्य क्षमता का आभास मिलता है।

नाटक की 'प्रस्तावना' एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है- "प्यासा घुमंतू पानी माँगता है। पुरोहित उसे देखकर दुत्कारता है, छिः शूद्र कहीं का कुँ पर चढ़ आया। भागता है या। अपने ऊपर जल छिड़कता है।"

यह इस नाटक के संवाद का एक रूप है। इसमें स्पष्टतः एकपक्षीय या एकपात्रीय संवाद है, परन्तु सच्चाई यह है कि दूसरा पात्र घुमंतू भी संवादरत है। उसे जो कुछ कहना था उसने कह दिया। अगर उसने न कहा होता तो पुरोहित उससे कुछ भी कैसे कह देता या वह स्वतः प्रेरित संभाषण होता।

यहाँ घुमंतू कुँ पर चढ़ गया। यह उसका कार्यव्यापार है जो अपने आप में संवाद बन गया। यह भी एक नाट्य कौशल है जब किसी पात्र का कार्यव्यापार ही संवाद बन जाता है। इसे अबोला संवाद कहा जाता है। इसके बाद घुमंतू ने संकेत से पानी माँगा इसे मूक संवाद कहा जाता है। नाटक में इसकी कारगर भूमिका होती है। यह नाटक में संवाद का दूसरा रूप है जिसे डॉ. लाल ने अपनाया है।

कार्यव्यापार के रूप में संवाद, मूक संवाद, शब्द संवाद के बाद फिर कार्यव्यापार है। इससे नाटक में अभिव्यक्ति कई रूपों में होती है। यहाँ गत्यात्मकता भी देखने को बनती है जो नाटक की प्रभाव शक्ति के लिए आवश्यक है। विविधरूपता उसकी दूसरी शक्ति है जो पूर्व उल्लेखित प्रसंग में ही नहीं, समूचे में जगह-जगह मिलती है।

यहाँ इस पर भी बात कर ली जाए कि संवाद शब्दों के माध्यम से होता है परन्तु कई बार हम ऐसी स्थिति में होते हैं कि बोल नहीं सकते। फिर भी, सच है कि हम मौन रहकर भी बहुत कुछ कह देते हैं। एक ओर 'मौन स्वीकृति लक्षणम्' होता है, तो दूसरी ओर उसमें बोलने की अपेक्षा कई गुना शक्ति होती है। नाटककार ने संवाद के इस रूप को भी नाटक में अपनाया है।

संवाद का दूसरा उदाहरण लीजिए- इसी समय गाँव का भूतपूर्व जमींदार और आज का राजनेता देवधर दाईं ओर से आता है। चारों ओर देखकर फिर आगे बढ़ता है। उसके हावभाव से लगता है, वह बहुत परेशान और क्षुब्ध है। पुरोहित की ओर देख उसकी ओर बढ़ता है। पुरोहित झुककर प्रणाम करता है। दोनों में कुछ रहस्यमय बातें होती हैं। देवधर कुछ रुपये पुरोहित को देकर आगे निकल जाता है। हरिजन कुँ पर खड़ा लौका यह सारा दृश्य देखता है।

संवाद का यह रूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ कार्यव्यापार की सबलता है। मंच के एक छोर से दूसरे छोर तक बहुत कुछ हो जाता है और यह अनबोले रह कर ही होता है। वास्तव में यह अनबोलापन नहीं है, बिना शब्दों के ही, मूक रहकर बहुत कुछ कह दिया गया है। इससे पात्रों की मनःस्थिति भी पाठक-दर्शक के सामने आ जाती है। यहाँ शब्दों में संवाद नहीं है परन्तु संवाद तो है। वास्तव में, संवाद का अर्थ होता है, अपनी बात को दूसरों तक पहुँचाना। यह काम यहाँ बखूबी हुआ है।

संवाद का एक और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है, जब 'प्रस्तावना' में ही सत्यनारायण की कथा प्रारम्भ हो चुकी है और उसी के साथ ही राजनीति पर बहस भी शुरू हो गई है जिसके माध्यम से देवधर अपना पक्ष मजबूत करना चाहता है। संवाद इस प्रकार है :

देवधर: हाँ, तो किसने कहा, 'अब हमें देवधर बाबू की जरूरत नहीं है ? देवधर बाबू को किसने बनाया ?

गपोले: भगवान ने बनाया।

देवधर: नहीं, जनता ने बनाया। सबने बनाया तभी तो जनता को जनार्दन कहा गया है।

वद्ध: साहेब, आप हमारे मालिक हैं, पर आपका मालिक कौन है ?

देवधर: जनता। तुम लोग।

लौका: गुलाम भी कभी मालिक हुआ है ?

देवधर: समझ लो, यह झूठा भ्रम फैला रहा है। मालिक जनता है।

लौका: अगर जनता मालिक है, तो सुनो, अब जनता तुम्हें नहीं चाहती है।

देवधर: फिर किसे चाहती है ?

लौका: अपने आप को चाहती है। उसे चाहती है, जो उसका हो। जिस पर उसका पूरा अधिकार हो।

देवधर: मुझ पर अधिकार नहीं है क्या ?

लौका: नहीं।

इन संवादों में कही कुछ भी जटिल नहीं है, कहीं कोई उलझाव नहीं है। न भाषा की जटिलता है और अर्थ का उलझाव है। न शैली की दुरुहता है और न विचारों का उलझाव है। नाटककार ने सीधी, सरल सहज भाषा में स्पष्ट बात कह दी है। इनमें छोटे-छोटे वाक्य हैं, हल्की-फुल्की भाषा है। बात राजनीति की चल रही है जिसके लिए अपेक्षित भाषा और वाक्य संरचना का उपयोग नाटककार ने किया है। नाटककार जानता है कि विषय के अनुकूल भाषा को रखकर किस प्रकार संगत और प्रभावी अभिव्यक्ति दी जा सकती है।

ये संवाद विषय के अनुरूप ही नहीं हैं, इसमें विभिन्न पात्रों की तात्कालिक प्रक्रिया भी मिलती है और पात्रों की मानसिकता हमारे सामने उभर कर आती है। इतना ही नहीं इन संवादों के माध्यम से स्थिति का बोध होता है और संघर्ष की भूमिका भी उभरती है। एक बात और है, इन

संवादों में पैनापन है जिसके कारण ये एकदम भीतर चले जाते हैं और दूसरों को छीलते जाते हैं।

अवश्य ही 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में नाटककार ने ऐसे संवाद रखे हैं जो समय, स्थान, प्रसंग के अनुसार चलते हैं। वे कभी-कभी आक्रामक मुद्रा में होते हैं और कभी कभी व्यंग्य का पुट लेकर आते हैं जिससे अर्थव्यंजकता अधिक सक्षम होकर हमारे सामने आती है। कभी-कभी व्यंग्य की हल्की चोटें होती हैं। कभी-कभी उनमें व्यंग्य के हथौड़े जैसे प्रहार होते हैं। इस सन्दर्भ में प्रस्तावना में ही गपोले का संवाद देखा जाए- लौका तो नीच जाति का है, क्या। लेकिन, हाँ, इनके कर्म ऊँचे। हम लोग ऊँची जाति के हैं, कर्म चाहे जैसा करें ? सारा सवाल पूर्व जन्म का है।

यह बात तो सीधी सच्ची है कि कोई कहीं किसी जाति में उत्पन्न हो, उससे उसके कर्म, उसका स्वभाव, उसके गुण नहीं बनते, बल्कि वह क्या करता है, कैसे विचार रखता है, इसी बात पर सब कुछ निर्भर होता है। जैसे लौका नीच जाति में पैदा हुआ, परन्तु उसके कर्म ऊँचे हैं। गपोले इन शब्दों में भी व्यंग्यार्थ निकाल तथाकथित ऊँचे वर्ग के लोगों पर व्यंग्य करता है। जहाँ तक प्रश्न ऊँची जाति का है उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। वे भले ही नीच कर्म करें। वे ऊँची जाति में जन्म लेने के कारण नीचे नहीं हो जाते।

'सारा सवाल पूर्व जन्म का है' जैसा वाक्य जातिवाद की सच्चाइयों को और भी व्यंजकता के साथ प्रस्तुत करता है। इसमें पूर्व जन्म के कर्मवाद सिद्धान्त पर भी चोट की है। आज जो जैसा है, वैसा है। वह आज जो कष्ट भोग रहा है, वह सब पूर्वजन्म के कर्मों के कारण है। ऐसे सिद्धान्त वाक्यों में व्यवस्था को साफ बचा लिया जाता है। इनका संचालन निहित स्वार्थी लोग करते हैं। नीची जाति वाले लोगों के भाग्यवाद, पूर्वजन्म के कर्मवाद को ही कारण बताते हैं। कहीं ऐसा न हो कि वे दूषित व्यवस्था की सच्चाई को जानकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर दें। इस प्रकार नाटककार ने ऊँची जाति के गपोले के मुख से ऐसी व्यंजक अभिव्यक्ति सहज ही करा दी है।

इस नाटक में व्यंग्य से भरपूर संवादों के अनेक स्थलों पर हुए हैं। असली बात यह है कि जब सीधी अभिव्यक्ति से बात नहीं बनती है तो संवादों में व्यंग्य का सहारा लिया जाता है। इसलिए डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के संवादों में व्यंग्य को अपनाया है और इस प्रकार वह सहज ही प्रभावी अभिव्यक्ति करने में सफल हुए हैं।

नाटककार लाल व्यंग्य करके बात को, व्यक्ति को उड़ाते ही नहीं, अपने संवादों में गहन गम्भीर विषयों, प्रसंगों और प्रश्नों को भी रख देते हैं।

ऐसे स्थलों पर वह जीवन सत्यों का उद्घाटन करते हुए दर्शन की गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त दिखाई देते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसे पाँचवें दृश्य से लिया गया है जहाँ सारी स्थिति उलट हो गई है-

देवधर शक्ति हमेशा ऊपर के लोगों के हाथ रही है। नीचे का रक्त युगों से ठंडा हो चुका है। तभी वहाँ भाग्य है, धर्म है और न जाने कितनी-कितनी कमाएँ दबी पड़ी हैं, उस बर्फ की धरती में।

जीतन वह बर्फ पिछला रही है। चोटियाँ ढह रही हैं। अब तक मैं समझता था, जब वह राज्य है, तब तक राजनीति रहेगी। पर अब पता चला, जब तक मनुष्य है, छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा तब तक रहेगा यह राजनीति। जिस दिन एक असहाय ने घुटने टेककर, आँखों में आँसू भरकर दृश्य से अदृश्य की ओर देखा उसी दिन जन्म हुआ ईश्वर का और वहीं से पनपी पहली राजनीति धर्म की। इसी में एक हुआ इन्द्र बाकी सब हुए हरिश्चन्द्र।

ये संवाद अपेक्षाकृत बड़े हैं। जिनमें जीवन की सच्चाइयाँ हैं, वैचारिक दृष्टि है, चिंतन की भूमि है, दर्शन की गुत्थी है। ऐसा होने पर भी कहीं कठिनाई, विलम्बता या जटिलता नहीं है। भाषा ऐसी सरल है कि दर्शक भावों तक सरलता से पहुँच जाता है। भाषा में सरल शब्दों को ही अपनाया गया है। यह नाटककार की सफलता है कि सरल शब्दों की बोधगम्य भाषा में अपने भावों को दर्शक तक सरलता से पहुँचा देता है। नाटककार लाल महान रंगशिल्पी हैं। इसलिए उन्होंने भाषा का सरल और संवरा रूप ही अपनाया है। इसके कारण उनकी भाषा में मनमोहक संप्रेषणीयता है। सरल भाषा में विचार या भाव पारे की तरह तैरते हुए दर्शक को प्रभावित करते रहते हैं। इनके संवाद कहीं कहीं छोटे हैं, तो कहीं-कहीं पर लम्बे भी हो गए हैं। सफल नाटककार यह विस्तार भावानुसार करता है। इसके कारण नाटक कहीं भी बोझिल नहीं लगता है। भावों की अभिव्यक्ति में संवाद की अनूठी भूमिका है।

डॉ० लाल विषयानुसार संवाद को व्यंग्यात्मक अथवा सरल रूप प्रदान करते हैं। इनके हास्य-व्यंग्य भरे संवादों में जीवन के विभिन्न पहलू प्रकट हो गए हैं। इससे दर्शकों का एक ओर मनोरंजन होता है, तो दूसरी ओर भावों की प्रभावी अभिव्यक्ति होती है।

हास्य, व्यंग्य के दृश्य को देखकर सामान्य दर्शक को भी हँसने के लिए विवश होना पड़ता है। यह नाटक की सफलता का परिचायक है।

गपोले: अरे, अरे रे, यह क्या कहा है तू क्या! सारा नाटक तू गाकर सूना देगा, तो हमारा क्या होगा, क्या ?

रंगा: भाई, जो बात सब जानते हैं, उसे दिखाने में क्या फायदा।

गपोले: क्या ? मैं समझा नहीं क्या ?

रंगा: मतलब सतयुग में हरिश्चन्द्र एक राजा थे।

गपोले: राजा नहीं सत्यवादी राजा थे।

रंगा: इन्द्र को उससे हुई परेशानी।

गपोले: यह थी उसकी नादानी।

रंगा: इन्द्र ने विश्वामित्र से कहा मुनिवर उसकी परीक्षा।

गपोले: अच्छा।

रंगा: विश्वामित्र बोले।

गपोले: क्या बोले ?

संवाद का यह गतिशील रूप कितना आकर्षक है। रंगा के हाथ में नाटक का कथानक था। वह गा-गा कर सत्य हरिश्चन्द्र की कहानी सुना सूत्रधार का सहयोगी बन जाता है। उसके आते ही नया रूप मिलता है नाटक को एक रसता आ रही नाटक को गतिशीलता और आकर्षक रूप मिल जाता है।

इस नाटक के गंभीर संदर्भ को भी संवाद मनोरंजक रूप प्रदान करता है। कथानक में हास्य-व्यंग्य से दर्शक खिलखिला उठते हैं। सारा कथानक एक प्रवाह में दर्शकों को बाँध लेता है। कथानक में कथानक आने पर भी रसात्मक रूप बना रहता है।

चौथे दृश्य में आया संवाद दर्शनीय है-

नारंगी वाली: हे। यह तो बड़ा मुरहा लग रहा है।

गुण्डा: बड़े छोटे हैं गुरु, परमयोगी हैं।

ब्राह्मण: अरे चुपो। चुपो। परम योगी हैं योगी।

नारद: नहीं भाई। सब गप्प है। अरे गुरु एक बीड़ा पान तो खिवाया हो।

नारंगी गाली: हमार नौरंगिया ?

नारद: राजा हो। हमें तनिको अच्छा नाही लागत नारंगी।

नारंगी वाली: हैं! बड़ा मुरहा हवै।

ब्राह्मण: अरे, इनकी यही मुराही झाड़ने के लिए तो विष्णु भगवान ने एक बार उनका सारा चेहरा ही बंदर का बना दिया था।

नारद: हे भाई! तू कहाँ से आ गया बीच में गप्प झाड़ने।”

इस नाटक के संवाद न अति लम्बे हैं और न अति लघु। इनका आकार भी नाटक के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। तुकान्त प्रयोग से अभिव्यक्ति का प्रभावी रूप मिला है। नाटककार ने लोक नाट्य मंच को भी दृष्टि में रखा है। इस प्रकार क्षेत्रीय रंग भी नाटक में यत्र-यत्र प्रभावी है। इस नाटक की घटनाओं में समसामयिक घटनाएँ भी पिरोई गई हैं। इसलिए दर्शक को अपना जीवन भी नाटक में दिखाई देता है।

नाटककार शब्द शिल्पी है। सटीक शब्दों के चयन में उसे महारत हासिल है। वह कम से कम शब्दों में अपने गंभीर भावों को हृदयस्पर्शी रूप में प्रकट कर देता है। वाक्य-रचना में रिक्तता, संबोधन और ध्वन्यामक्ता विशेष रंग भरती है। कितना मोहक रूप है संवाद का-

लौका: गरीबों की मुफलिसी कहती है.....

वद्ध: ई कैसा सुराज है, भइया इससे तो अंग्रेजी राज अच्छा रहा।

लौका: यहाँ की अमीरी कहती है.....

गपोले: कैसा बेकार का सड़ा लोक है इसके लिए इतना किया जाता है, पर यह नमक हराम है।

जब रिक्त वाक्य प्रयोग किया जाता है, तो संवाद अधिक रोचक हो जाता है। वाक्य अधूरा होता है, उसे दूसरा पात्र पूरा करता है। यह संयोजक और दर्शक को बाँधने की अनूठी कला है। निश्चय ही संवाद संक्षिप्त और सारगर्भित हैं।

संवाद के बीच में की गई गीत योजना से दर्शकों को मंत्रमुग्ध करने का अवसर नाटक में पर्याप्त रूप में हैं। लयात्मक प्रस्तुति में दर्शक झूम उठते हैं-

रंगा: **बिना सवारी के ही, पानी ने नापे रास्ते,
बस्ती से लेकर जंगल तक गाती है जलधार,
हर अभाव को सहकर भी, पानी ने खोजे रास्ते,
शीश उठाओ, आगे आओ, तुम हो पानीदार
 तुम हो पानीदार।”**

डॉ० लाल ने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में मार्मिक कथानक को सरल, आकर्षक और अभिन्यात्मक संवाद में सजा कर अनूठी गतिशीलता प्रदान की है।

निश्चय ही डॉ० लाल ने एक महान रंग शिल्पी के रूप में 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में अनेक नवीन उपक्रमों को अपनाकर इसे आकर्षक रूप प्रदान किया है। भाव-प्रवण अनुकूल अभिनेयता से सम्पन्न संवाद योजना 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के लिए वरदान सिद्ध हुई है।

10. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' का देशकाल-वातावरण

रचनाकार देशकाल और वातावरण से प्रभावित रहता है। नाटक में अन्य तत्वों के साथ-साथ देशकाल वातावरण भी आवश्यक तत्व है। किसी भी स्थिति में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। देश से तात्पर्य है कोई स्थान और काल से अभिप्राय है कोई समय या समयावधि। अतः देशकाल से तात्पर्य होगा कि नाटक में किसी ऐसी कथा को लिया जाए जो किसी विशेष स्थान पर घटित हुई हो और किसी विशेष समयावधि में सिमटी हुई हो।

देशकाल पर आगे विचार करने से पहले वातावरण को देखकर लिया जाए। वातावरण के लिए दूसरा शब्द है माहौल और इसका तात्पर्य है- कोई विशेष स्थिति या स्थितियाँ। अतः देशकाल वातावरण से अभिप्राय है- नाटक में किसी विशेष स्थिति या स्थितियों को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि अमुक स्थान और समयावधि का समुचित चित्रण हो जाए। अमुक स्थान से यह अर्थ न लिया जाए कि वह कथा दिल्ली पर आधारित है तो अन्य महानगरों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी यह तो निश्चित है कि दिल्ली पर आधारित नाटक में दिल्ली का वातावरण उभरे।

वैसे किसी नगर, महानगर या गाँव में घटित कथा में और स्वतन्त्रता के बाद की कथा में स्थितियों में अन्तर तो होगा ही। गाँव की कथा में गाँव का और नगर की कथा में नगर का वातावरण सजीव होकर आए- यह अत्यन्त आवश्यक है।

इस आधार को लेकर डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के देशकाल का अध्ययन किया जाए। इसमें यह पाते हैं कि नाटककार ने देशकाल वातावरण का निर्वाह अच्छे ढंग से किया है। इस नाटक की मूल कथा की पृष्ठभूमि गाँव है और उसी में मूल नाटक को घटित होते दिखाया है।

इस नाटक का आरम्भ प्रस्तावना से होता है। इसमें स्पष्ट दिखाया गया है कि गाँव का दृश्य है। इसमें दो कुएँ हैं। एक बड़ा कुआँ है जो पक्का है। यह सवर्णों के लिए है। इससे दूर हटकर दूसरे छोर पर एक छोटा कुआँ है जो कच्चा है। यह अवर्णों का है। पक्के कुएँ पर पुरोहित पानी खींच रहा है जहाँ प्यासा घुमंतू आता है, पानी पिलाने के लिए कहता है। उसे पुजारी दुतकार कर भगा देता है। घुमंतू कच्चे कुएँ पर जाकर बैठ जाता है। पक्के कुएँ पर भूतपूर्व जमींदार एवं वर्तमान राजनेता देवधर आता है जिसे पुजारी झुककर प्रणाम करता है। लौका कच्चे कुएँ पर खड़ा-खड़ा सब कुछ देखता है। देवधर पुरोहित से गुपचुप बात कर कुछ रुपये देकर चला जाता है।

इसके बाद घुमंतू कच्चे कुएँ पर खड़ा-खड़ा गीत गाता है। फिर कुछ गाँव वाले वहीं पर गाते हुए आ जाते हैं। इन गीतों में दर्द भरी कथा है। पक्के कुएँ पर पुरोहित सत्यनारायण की कथा शुरू करता है। कथा चलती रहती है और देवधर के नेतृत्व में राजनीति पर बहस चलती रहती है।

इससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रस्तावना वाला दृश्य स्थल गाँव का है और गाँव कहीं का भी हो सकता है, परन्तु संवादों की भाषा और लोकगीतों के चयन से यह पता चलता है यह गाँव पूर्वी उत्तर प्रदेश में कहीं है। अधिकांश दृश्य स्थल ऐसे ही हैं। एक दृश्य उस समय का भी है जब हरिश्चन्द्र सपरिवार काशीनगरी में बिकने जा रहे हैं। यहाँ दृश्य स्थल मार्ग का है। इसमें चरवाहा बाँसुरी बजाता जा रहा है और ऐसे ही बिन्दुओं से आभासित होता है, मार्ग ग्रामीण क्षेत्र में ही कहीं है। दो दृश्य काशी बाजार के हैं जिनमें एक यानी अन्तिम दृश्य में मरघट का छोटा-सा दृश्य भी है।

तो ये बातें देश यानी स्थान से सम्बन्धित हैं। अब काल या समय का सन्दर्भ देखें। इसमें कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं कि मूल नाटक की घटनाएँ स्वतन्त्रता से पहले घटित नहीं हुई थीं। जैसे देवधर का परिचय देते हुए कहा गया है कि वह भूतपूर्व जमींदार है। इसका अर्थ यह है कि इस नाटक में जो भी घटित होता है वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही घटित हुआ होगा। उल्लेखनीय है कि जमींदारी प्रथा का उन्मूलन स्वतन्त्र भारत की पहले कांग्रेस सरकार ने १९५५ ई. में किया था। उसके बाद दूसरा आम चुनाव सन् १९५७ में हुआ था। इसका तात्पर्य यह है कि देवधर जल्दी से जल्दी राजनेता १९५७ ई. में बना होगा जब स्वतन्त्र भारत का दूसरा आम चुनाव हुआ था। तीसरा आम चुनाव १९६२ ई. में हुआ और अगले चुनाव के समय पर ही उसे अपना अस्तित्व संकट में नजर आया होगा। अतः नाटककार ने इस नाटक में १९६२ ई. के आसपास घटित घटनाओं को आधार बनाया है जिसे समय या काल के अन्तर्गत रखते हैं। देशकाल मिलकर ही दिक्काल बनता है।

अपने इस आधार के समर्थन में एक बात और कहनी होगी कि नाटककार न देशकाल की अवधारणा का खंडन करता है और न उसकी पुष्टि करता है, परन्तु उससे सम्बन्धित वातावरण का सजन अवश्य करता है। ग्राम जीवन में घटित इस नाटक में नाटककार ने विशेष रूप से लोकनाट्य शैली को अपनाया है और तदनुसार गीत-संगीत, नृत्य की योजना प्रस्तुत की है। इतना ही नहीं, नौटंकी की अपनी माँग और आवश्यकता होती है जिसका बेहतर उपयोग नाटककार ने बड़े कौशल के साथ किया है। ऐसे ही अनेक कारणों से वह ग्राम संसार का प्रभावी वातावरण बनाने में सक्षम रहे है।

वह योजना बनाते है। अपनी विशेष दृष्टि का उपयोग करते हैं, कल्पनाशीलता से काम लेते हैं। इस प्रकार ग्राम जीवन में रचे नये पात्रों को समकालीन सन्दर्भों में उठाते है तथा मिथक के पास जाकर राजा हरिश्चन्द्र की कथा को ले आते है और उसके निष्कर्षों को समकालीन जीवन के साथ जोड़ देते है।

यहाँ एक विशेष तथ्य का उल्लेख किया जा रहा है। जब मूल नाटक चल रहा है तो उसका वातावरण स्थान भेद के अनुसार कुछ और है तथा जब नाटक के भीतर नाटक सत्य हरिश्चन्द्र आ जाता है तो देश ही नहीं, काल भी बदल जाते है। अतः उसके उपयुक्त वातावरण का निर्माण नाटककार ने किया है।

इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जब सत्य हरिश्चन्द्र मुनि विश्वामित्र के साथ रास्ते में काशी नगरी की तरफ बढ़ रहे थे, तो वहाँ का वातावरण अलग था और जब काशी के बाजार में पहुँचे तो वातावरण पूर्णरूपेण अलग था। यहाँ का बाजार विशेष वातावरण से सुसज्जित किया गया था। लाल ने अपनी नाट्य प्रतिमा से ऐसा चमत्कार किया है।

नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस नाटक में आधुनिक जीवन चेतना और प्राचीन जीवन की मिथक चेतना को मिलाकर एक घोल तैयार किया है जो वास्तव में जीवन औषधि है। इसलिए नाटक के अन्त में समकालीन लोक चेतना की जाग्रति का वातावरण मिलता है और भारतीय जनता के बीच सद्भावना की गंगा प्रवाहित हो गई है। बिल्कुल अन्त में आरती के रूप में शुभेच्छा का सुखद दृश्य है अतः कहा जा सकता है कि यह नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' तनावों, कलात्मक सौन्दर्य और मनोरंजन के बीच गुजरता हुआ अन्त में तनाव-मुक्तता की स्थिति में आ जाता है। इसे किसी हालात में तनावों की शिथिलता नहीं कहा जा सकता और जो एक नाट्यदोष बनकर आए, बल्कि इस नाटक की तनाव मुक्तता एक गुण बनकर आती है।

एक बात यह भी है कि नाटक में देशकाल वातावरण इस प्रकार प्रयुक्त होता है कि उसमें अमुक

समय की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्थितियों की समाप्ति अपने आप हो जाती है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ कुछ गड़बड़ है। इस तत्त्व के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाब राय लिखते हैं कि 'व्यक्ति के निर्माण में वातावरण का बहुत कुछ हाथ होता है। जिस प्रकार बिना अंगूठी के नगीना शोभा नहीं देता है, उसी प्रकार बिना देशकाल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटनाक्रम भी देशकाल वातावरण के अनुसार होता है।'

इस प्रकार नाटक में पात्रों का चित्रण किस प्रकार हुआ है, उनका विकास किस प्रकार हुआ है, उनका क्या व्यक्तित्व बना है, घटनाएं किस क्रम से घटी हैं, इस सबमें वातावरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह भी निश्चित है कि स्थान या देश और समय या समयावधि के बिना वातावरण तैयार नहीं हो सकता। इस आधार पर 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' को देखते पता चल जाता है कि उसमें लौका और देवधर के चरित्र अपने समय के वातावरण की उपज है। इसलिए वे दोनों दो छोर पर हैं और उनके व्यक्तित्व का विकास उसी क्रम से हुआ है। उनका और विकास दिखाने के लिए ही सत्य हरिश्चन्द्र नाटक को खेलने की योजना बनाई जिसके कारण इन दोनों के चरित्र और अधिक निखरे हैं। इसीलिए नाटककार हरिश्चन्द्र और इन्द्र के चरित्रों को उसने आधार बनाया है जिससे मूल पात्र और अधिक स्पष्ट होकर हमारे सामने आते हैं। घटनाक्रम भी देशकाल वातावरण के अनुसार खुलता है।

नाटक का अधिकांश भाग गाँव की पृष्ठभूमि में चलता है। प्रस्तावना, पहला दृश्य, तीसरा दृश्य, पाँचवा दृश्य, छठा दृश्य गाँव की पृष्ठभूमि में ही है। दूसरा दृश्य अयोध्या और काशी के बीच के पथ पर दिखाया जाता है। केवल चौथे और सातवें दृश्य काशी के बाजार को हमारे सामने लाते हैं। पथ का दृश्य भी गाँव के अधिक निकट है। सातवें दृश्य के अंत में गाँव के पात्र अपने मूल रूप में आ जाते हैं। इस प्रकार यह नाटक मुख्य रूप से ग्रामीण पृष्ठभूमि में है। अतः इसमें जिस देश या स्थल या स्थान का अंकन है, वह ग्रामीण क्षेत्र में घटित होता है। नाटककार ने ग्राम के वातावरण का अंकन बढ़िया ढंग से किया है और उसमें उसे सफलता मिली है।

ग्रामीण क्षेत्र की कुछ विशेषताएँ हैं। उनमें से एक यह है कि वे कूटनीति का सहारा नहीं लेते। वे जो कुछ है, जिस रूप में है, अपने आप को वैसा ही दिखाते हैं। वे अपने चेहरे पर नकाब नहीं चढ़ाते, चेहरे पर चेहरा नहीं लगाते। वे अपने मूल रूप में सहज ही प्रकट हो जाते हैं और अपने आप को छिपाने का प्रयत्न नहीं करते। इस क्रम में उनकी शक्ति ही नहीं, कमजोरी भी स्पष्ट हो जाती है। वे प्यार करते हैं, घृणा करते हैं, दोस्ती रखते हैं, दुश्मनी रखते हैं, परन्तु सब कुछ सामने होता है। तात्पर्य यह है कि उनके आपसी सम्बन्ध, उनकी आशाएं, महत्त्वकाक्षाएं, उनकी भावनाएं, विचार और व्यवहार सभी कुछ स्पष्ट हैं उनके मिलने बिन्दु और मतभेद एक दूसरे पर उजागर हैं।

जब नाटककार ने ग्रामीण संदर्भ में इस प्रकार के पात्र प्रस्तुत कर दिए हैं तो वे अवश्य ही जीवंत लगते हैं और उनके लिए अवश्य ही जीवन्त वातावरण तैयार कर दिया गया है। यह है नाटक में चित्रित देश यानी स्थान का वातावरण और नाटककार लाल को इस क्षेत्र में विशेष सफलता मिली है।

अब देखिए अयोध्या से काशी की ओर जाते समय मार्ग का दृश्य जिसमें नाटककार ने सशक्त वातावरण तैयार किया है। यह वातावरण एक गीत द्वारा तैयार किया गया है कि राजपाट छोड़ कर जा रहे हैं, उन पर क्या बीत रही है, मौसम कैसा है आदि।

**रंगा - राजा रानी सुत सहित सतधारी गणधाम
त्याग अयोध्या को चले करके अंत प्रणाम।
त्याग किया नहीं सत्य न प सब राज अपना तज दिया
मुनिराज के संग मुक्ति मन हो गमन काशी को किया।
सूरज तपे धरती जलै ज्वाला फुंके लूँ चले
संकट अनेकन सहि रहे त णभर नहीं प्रण से टले।**

यहाँ नाटककार ने द श्य के आरम्भ में ही जीवन्त वातावरण तैयार कर दिया है कि वे कौन-कौन हैं जो अयोध्या को अन्तिम प्रणाम करके चल दिए। राजा ने अयोध्या का राज छोड़ा। परन्तु सत्य ही छोड़ा। चेहरे पर कोई शिकन नहीं। गरमी का मौसम है, सूरज तप रहा है, आग निकल रही है, धरती जल रही है। लू चल रही है, अनेक संकटों को झेल रहे हैं, परन्तु अपने प्रण से नहीं हट रहे हैं।

इसके बाद नाटककार ने दिखाया है कि रास्ते में बाँसुरी बजाता हुआ एक चरवाहा मिलता है। बाँसुरी का संगीत उभरकर पूरे वातावरण में छाने लगता है। इस सिलसिले में आपस में बातचीत होती है कि चरवाहा क्या गा रहा है, क्यों गा रहा है। इस पर तर्क-वितर्क होता है। यात्रा चलती रहती है। फिर वहीं चरवाहा बाँसुरी बजाता हुआ दिखाई देता है। इस बार वह दूसरा गीत गा रहा था। दोनों गीतों का संदर्भ हरिश्चन्द्र के सत्य वचन, सपने में राज्य का दान आदि ही है। इसके बाद चरवाहा बाँसुरी बजाता हुआ चला जाता है। बातचीत होती है। यात्रा चलती रहती है जो सूत्रधार रंगा के गीत के साथ समाप्त हो जाती है।

नाटककार लाल के पास जबरदस्त कल्पनाशीलता है। उसने बाँसुरी बजाते हुए चरवाहे का उपयोग सुविचारित योजना के अन्तर्गत किया है और देश यानी स्थान का सशक्त वातावरण तैयार कर दिया है। जो नाटक के कथ्य से भी जुड़ा हुआ है। एक बात यह भी है कि नाटककार इस द श्य में आधुनिक काल से प्राचीन काल में पहुँच गया है, परन्तु उसने ऐसे कौशल से काम लिया है कि कहीं कुछ भी अखरता नहीं है। हमें लगता है कि उसने देश का नहीं, काल का वातावरण भी तैयार कर दिया है। इस प्रकार देशकाल वातावरण के समुचित अंकन में नाटककार को सिद्धहस्तता प्राप्त है। जिसकी सराहना करनी ही पड़ती है।

नाटक का चौथा द श्य काशी के बाज़ार में खुलता है। जहाँ हरिश्चन्द्र और शैव्या को बिकना है। नाटककार ने बाज़ार का बहुत बढ़िया वातावरण तैयार किया है। काशी का बाज़ार, दुकानें लगी हैं। चीजों के बेचने वाले आवाजें लगा रहे हैं। एक ओर काशी की पुतरिया का कोठा है।

फूलवाला : अरी गुलमेंहरी वारि ओ फुलवारी फूल रहीं कलियां
अरी चलु बाग तमासे ओ भलमानस तोरन दे कलियां

पटहार : अरी सिखं का जूरा मांग सिन्दुरा मोतिन मांगि भरी
अरी दरियाई चोली ठीक किनारी ऊपरी पटसारी
असी अतरस का लहंगा मोल महंगा ऊपर चादरिया।

तमोली : काशी का पान जोड़ी शंकर पारबती सुजान
पान मगही का कील कांटा जुड़ाओं कगही का
पान चुरमुरा है असली जवानी पै चढ़ा है।

भांगवाला : शिवशंकर हरा हरा ! एक गोली से पूरी, ब्रह्माण्ड भरा नवरतन पड़ा।
शिवजतन किया। बमभोले गुपचुप।

अब पतुरिया के कोठे का द श्य देख लिया जाए। बाज़ार की चहल-पहल एक तरफ और इधर मस्ती भरा वातावरण। एक नमूना प्रस्तुत है-

छैला : आय हाय। मोसो से जिया चढ़ल नहिं जाइ हो।
बिनु प्यारी जिय अकुलाइ हों।

कुटनी : हाय छैला, छम छम छम! ऐसी नारि निकारे दम।
किधर तेरा ध्यान ऊपर देश पतुरिया !

छैला : (पतुरिया को देखकर)
अरे नखड़ा करू थोड़ा राम निहोरा लागन वे छतियां
ओ मालिन दे एक गजरा
हाय ! तेरी आंख को कजरा
आह गजब की रसीली कमर की पतरियां।

इसके पहले और इसके बाद अनेक द श्य हैं जिनमें जीवंत है, ताज़गी है ये द श्य एक से एक बढ़िया है। इनमें जिन्दगी है, जिंदादिली है, कलात्मकता है, और ये सन्दर्भ के अनुसार है। इनमें नाटककार की कल्पनाशीलता है पाठक, दर्शक की दिलचस्पी बनी रहती है। इनमें नाटकीयता है तीव्र प्रवाह है और घटनाक्रम के साथ जुड़ाव भी है ये द श्य पैबन्द से नहीं लगते, बल्कि मुख्य घटना तक पहुँचाने में सहायक है। इनमें मन रमा रहता है और आगे के लिए उत्सुकता बनी रहती है।

आगे चल कर रोहित की हत्या हो जाती हैं यहाँ शैव्या के विलाप का द श्य आता है। जिसमें माँ की ममता है और करुणा रस की धारा बहती है। यह द श्य उस समय और भी करुणाजनक हो जाती है जब शैव्या रोहित के म त शरीर को लेकर श्मशान घाट जाती है वहाँ अन्तिम क्रिया होनी है, तब चलता है भावना और कर्तव्य के बीच द्वन्द्व जिसमें कर्तव्य की ही विजय होती है। करुणा और अधिक गहरा जाती है। इन सभी द श्यों में नाटककार ने अच्छा अंकन किया है। वह यथार्थ के साथ बन्ध कर भी भावनाओं के अंकन में कौशल का परिचय देता है और देशकाल वातावरण का बेहतरीन चित्रण होता है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के महत्वपूर्ण नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में कथ्य, शिल्प की ऊँचाई ही नहीं है। अभिनेयता की गतिशीलता ही नहीं है, बल्कि देशकाल वातावरण के समुचित निर्माण और निर्वाह की प्रयत्नशीलता भी है। इसमें स्थान अलग-अलग है। इसकी घटनाओं के समय अलग-अलग है, जिनके बीच बहुत बड़ा अंतराल है। फिर भी, नाटककार ने अपनी कल्पनाशीलता के बल पर द श्यों का सजीव अंकन किया है और नाट्य कौशल के बल पर गहरे एवं व्यापक अंतराल को ऐसा प्रस्तुत किया है कि कहीं अन्तराल है ही नहीं। उसने स्थान, समय और कार्य की एकता के माध्यम से देशकाल वातावरण का सफल, सशक्त और सार्थक अंकन किया है। अवश्य ही, यह सिद्धहस्तता बहुत कम नाटककारों में और बहुत कम नाटकों में लक्षित होती है। परिवेश का मोहक चित्रांकन लाल की सफलता का परिचायक है।

11. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' : समस्या चित्रण

आधुनिक जीवन में समस्याओं का होना स्वाभाविक है। समस्याएं पहले भी थीं आज भी हैं, पहले व्यक्ति आज की अपेक्षा कम जागरूक था। हमारा दैनिक जीवन नाना प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त और त्रस्त दिखाई देता है और हम लाचार रह जाते हैं।

जब हमारे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन में समस्याएं मुँह बाए खड़ी हो तो कोई भी रचनाकार उनसे कैसे बच सकता है, कैसे उनकी उपेक्षा कर सकता है वह स्वयं अपने समय की उपज होता है और समस्याओं से अपने जीवन में ही कहीं न कहीं टकराता है, तो रचना करते समय वे समस्याएं उस पर हावी रहती हैं। वह अपने अनुभव का लाभ उठाकर, दूसरों के अनुभव से गुजरते हुए, अपने समय को अभिव्यक्ति देता है जिसमें बहुत कुछ उद्घटित हो जाता है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपनी जीवन के अनुभव अपने समय की अनेक इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं से अर्जित किए थे जिन्हें उन्होंने अपने नाटकों में अभिव्यक्ति दी थी। अपने इस नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में भी उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत अपने समय की सच्चाईयों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

इस नाटक में उन्होंने व्यापक जीवन को आधार बनाया है और अपने अनुभवों को अनुभूति पर उतार कर रचनात्मकता प्रदान की है। इसमें जीवन के विविध क्षेत्रों की अनेक समस्याएं नाटककार ने सहज ही उठाई हैं और प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति दी है। उनकी दृष्टि व्यापक है और पकड़ जबरदस्त है।

जहाँ समस्याएं होती हैं, वहाँ तनाव भी होता है, क्योंकि समस्याएं तनावों को जन्म देती हैं। कुछ रचनाकार तनाव को पैदा करना जानते हैं, परन्तु तनाव की चरमता से पहले ही वे सुखद जीवन का कोई न कोई नुस्खा निकाल लेते हैं और तनावों को शिथिल कर देते हैं। नाटककार डॉ० लाल ने ऐसा कुछ नहीं किया है। वह धीरे-धीरे तनावग्रस्तता के साथ-साथ तनावहीनता का दूसरा वातावरण तैयार करते हैं और नाटक को वहाँ ले जाकर समाप्त कर देते हैं जहाँ तनाव की चरमता के साथ तनाव-मुक्तता भी स्वतः आ जाती है।

नाटक का पहला दृश्य 'प्रस्तावना' के रूप में खुलता है जहाँ हमारे समाने दो कुएँ आ जाते हैं—एक पक्का कुआँ और दूसरा कच्चा कुआँ। पहला कुआँ सवर्णों का और दूसरा अवर्णों का है, यही से समाज में व्याप्त भेदभाव की बीमारी विद्यमान है। एक बड़ा है दूसरा छोटा, एक अमीर दूसरा गरीब, एक शोषक है दूसरा शोषित, एक वंचक है दूसरा वंचित, एक नियंत्रक है दूसरा नियंत्रित, एक शासक है दूसरा शासित, एक अत्याचारी है और दूसरा सब कुछ सहता है।

घुमन्तू को प्यास लगी है। पुजारी कुएँ से पानी निकाल रहा है। घुमन्तू पानी पिलाने के लिए निवेदन करता है और पुजारी उसे दुत्कार कर भगा देता है। यह है समकालीन समाज व्यवस्था जहाँ प्यासे को पानी नहीं पिलाया जा सकता है। प्यास और पानी के बीच जातिवाद बाधक बन जाता है। यह दूषित व्यवस्था का द्योतक है, जहाँ आपसी सद्भाव ही गायब है और भेदभाव की भावना अपने चरम पर है।

इसी प्रसंग में भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर का प्रवेश होता है जो पुजारी के कान में कुछ कहता है और उसे कुछ रुपये देता है। इससे स्पष्ट है कि षडयन्त्र का सिलसिला शुरू होता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया है कि देवधर में किसी को भी खरीदने की शक्ति है और धन के बल पर किसी को भी खरीदा जा सकता है। इससे उसका चरित्र ही स्पष्ट नहीं होता, उसकी बुरी नीयत की भी जानकारी मिलती है। वह अपने लिए पुजारी का उपयोग करता है।

नाटक की कथा कुछ आगे चली। पुजारी ने सत्यनारायण की कथा शुरू कर दी। यह धर्म का उपयोग देवधर के राजनीतिक प्रभाव का विस्तार करने के लिए था। एक ओर कथा चल रही

थी, दूसरी ओर देवधर ने राजनीति पर बहस शुरू कर दी। उसके समर्थक उसका पक्ष ले रहे थे और सबका निशाना था लौका, जो देवधर का प्रतिद्वन्द्वी था। देवधर साम, दाम, दण्ड, भेद का उपयोग करके लौका को अपने पक्ष में करने के लिए प्रयत्नशील था, परन्तु लौका उसके काबू में नहीं आ रहा था।

इससे सत्ता की राजनीति का खेल सामने आ जाता है जिसके लिए देवधर तरह-तरह के षडयन्त्र रच रहा है। मूल्यहीन राजनीति समकालीन जीवन में विशेष रूप से लक्षित होती है, यह समस्या भी नाटक में मिलती है। नाटककार ने कुछ इस प्रकार की परिकल्पना भी की है कि सत्ता की राजनीति और मूल्यहीन राजनीति धराशायी हो जाती है।

भारत में जातिवाद सिर उठाए हुए है। कहीं से छोटी सी चिंगारी छोड़ दी जाती है जो अपना पूरा काम कर जाती है। राजनेता अपने निहित स्वार्थों के लिए इसका दुरुपयोग करते हैं और उसका चमत्कारी परिणाम सामने आता है। 'प्रस्तावना' के अन्त में देवधर अपने पक्ष के लोगों के कान में यह मंत्र फूंक देता है, "इन-इन गाँवों में ब्राह्मणों को भड़का दो चमार, शूद्रों के खिलाफ। सत्यनारायण की कथा लौका कहने जा रहा था- आग लगाने के लिए इतना काफी है।"

पहले दृश्य में देवधर के सामने गपोले एक सूचना देता है जो देवधर की ही योजना का परिणाम है। बताता है- "हरिजन और ब्राह्मणों में दंगा हो गया है। गाँव के गाँव जल गए। आग बुझाने के लिए कुँ से पानी नहीं लेने दिया ब्राह्मणों, ठाकुरों ने। खूब पिटाई की। किसी की आँखें निकाल दी, किसी की नाक काट ली।"

यह सुनकर देवधर को अच्छा लगा, क्योंकि उसकी योजना रंग ले आई थी। वास्तव में हिंसा की यह राजनीति बड़ी वाहियात है। एक बार शुरू हो जाए फिर थमने का नाम नहीं लेती। वह देश और समाज को नष्ट कर देती है। इसलिए लौका उसमें विश्वास नहीं करता। वह मूल्यहीन राजनीति को पसन्द करता और राजनीति में मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। उसका सपना है कि देश में वास्तविक स्वराज्य वह होगा जिसमें जाति, धर्म और वर्ग का भेदभाव नहीं होगा। इसीलिए सवर्णों और अवर्णों में झगड़ा हो जाने के बाद लौका ने उन्हें समझाया कि हिंसा का जवाब हिंसा नहीं है। तब वे सभी शांत हो गए जो बहुत उत्तेजित थे। इस प्रकार नाटककार समस्या प्रस्तुत करता है और समाधान भी निकालता है। यह समाधान यों ही शब्दों में नहीं है, बल्कि उसे व्यावहारिक रूप दिया गया है।

'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में मुख्य समस्या है- खरीदने और बेचने की। यह समस्या शाश्वत है। यह पुराने युग में थी और आज भी है। इस बीच स्थितियाँ बदली हैं, तौर तरीके बदले हैं, परन्तु मानसिकता वही है। इससे राजा हरिश्चन्द्र के सन्दर्भ में तो पता चलता है कि उस पौराणिक युग में भी खरीदने बेचने की मानसिकता थी। यहाँ आशय यह नहीं है कि सामान बिकता था जो आज भी बिकता है, बल्कि मनुष्य बिकता था जो आज भी बिकता है, केवल रूप बदला है।

विश्वामित्र ने माया रची। हरिश्चन्द्र ने स्वप्न देखा। स्वप्न में सारा राज्य विश्वामित्र को दान में दे दिया। दक्षिणा शेष रह गई विश्वामित्र उसे लेने के लिए आ गए। दक्षिणा के लिए उसके पास देने के लिए कुछ नहीं था, इसलिए सपरिवार विश्वामित्र के साथ काशी में बिकने के लिए चल दिये। जब वह मार्ग में जा रहे थे तो गाँव के लोग जमा हो गए। वे बिकने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए गीत गाने लगे और इस क्रम में उन्होंने बिकने का इतिहास सुना दिया। उस गीत की मार्मिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

**हरिश्चन्द्र कहो तुम कब तक कहाँ बिकोगे ?
बोली बोलेगा कौन हाट वह होगी कैसी ?**

कौन उठाए डांड बाट वह होगी कैसी ?
 देगा कीमत कौन भला क्या बता सकोगे। हरिश्चन्द्र.....
 माया रचकर जिसने ऐसा स्वप्न दिखाया
 लूटा उस को दान जहाँ से जैसा पाया
 वही खरीदेगा तुमको अब जहाँ बिकोगे। हरिश्चन्द्र.....
 हरिश्चन्द्र बिके हाथ सतयुग की हाट में
 त्रेता में ही बिके देवता लंक हाट में
 भीष्म बिके आखिर द्वापर के राजपाट में
 सभी बिकाऊ है कलियुग में कुछ भी ले लो
 हरिश्चन्द्र बोलो किन दामों यहाँ बिकोगे। हरिश्चन्द्र.....

हरिश्चन्द्र अपने सत्य धर्म का पालन करने के लिए बिके और भीष्म शासन के लिए बिक चुके थे, इसीलिए सत्य-धर्म का पालन नहीं कर सके। आज के युग में यहाँ सब कुछ बिक्री के लिए है। फिर भी प्रश्न शेष रह जाते हैं, क्या हरिश्चन्द्र जैसे अद्भुत अपूर्व व्यक्ति का मूल्य कोई दे सकता है ? क्या उसकी कीमत आंकी जा सकती हो ? प्रश्न यह भी है कि सत्य पर टिकने वालों की बिक्री आखिर कब तक होती रहेगी ?

इसी खरीदने बिकने की समस्या पर नाटककार ने कई पात्रों के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। शैव्या कहती है- "तो बिकती हूँ। अपने हृदय से समस्त संकोच और दुराव को हटाकर बिकती हूँ। सुनो जब तक बिकना धर्म है तब तक खरीदना धर्म है। यदि एक के प्रति धर्म करने के लिए, दूसरे के प्रति अधर्म करना पड़े, तो जिसे हम धर्म समझते हैं, वह अधर्म है। मुझे वह भी स्वीकार है।"

शैव्या भूतपूर्व राजा की रानी है। फिर भी बिक रही है। वह इससे सहमत नहीं है कि उसके पति ने सपने में ही अपने राज्य को दान में दे दिया और दक्षिणा चुकाने के लिए अब बिक रहे हैं। फिर भी, वह अपने पतिव्रता धर्म का पालन करने के लिए बिक रही है। उसके सामने एक और विचार है, और दूसरी और कर्तव्य है। उसमें से उसने कर्तव्य को चुना है और वह कर्तव्य है अपने पति की मानसिकता को दृढ़ता प्रदान करना, जबकि वह त्याग और बलिदान के दृढ़ प्रतिज्ञ है।

मनुष्य को खरीदने बेचने का प्रश्न हरिश्चन्द्र के सामने भी है इस सम्बन्ध में नाटककार ने उनके विचार भी प्रस्तुत किए हैं, जो इस प्रकार हैं- यह डोम, यह पतुरिया, ये लोग कहाँ के हैं ? कैसे आए ? मेरी तरह एक क्षण इनके भी जीवन में आया होगा- जहाँ इन्हें बिक जाना पड़ा होगा। जब तक खरीदने वाला रहेगा, कभी न कभी सबको बिकना पड़ेगा। उसे भी, जो खरीद रहा है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि खरीदने बेचने की समस्या चिर पुरातन है जो आज भी चल रही है। नाटककार ने मनुष्य व्यापार की समस्या को उठाया है और बहुत अच्छे ढंग से उसे प्रभावी अभिव्यक्ति दी है। इतना ही नहीं, उसने समस्या की जड़ को समझ लिया है। उसका कहना है कि इस मनुष्य व्यापार का सिलसिला केवल चला आ रहा है क्योंकि यहाँ खरीदार हैं। यह सच है अगर खरीदार न हो तो कोई बिक ही नहीं सकता। जब खरीदार मौजूद है यानि किसी के पास धन है तो वह उसके बल पर किसी को भी बिकने का प्रलोभन दे सकता है और बिकने वाला तैयार हो जाता है, अगर एक व्यक्ति तैयार नहीं है तो दूसरा मिल जाएगा।

हरिश्चन्द्र ने कहा कि पतुरिया भी कभी बिकी होगी। इससे स्पष्ट है कि खरीदार ने अपने काम को चलाने के लिए धन के बल पर खरीदा होगा। खरीदना व्यापार का हिस्सा है यानि यह पूँजी

निवेश है। धन लगाकर ही व्यापार बढ़ता है। अब वही पतुरिया इस स्थिति में आ गई है कि वह शैव्या को खरीद सकती है। इसके पीछे भी मानसिकता यही है कि उसे उसने व्यापार को चमकाना है। डोम की मानसिकता भी वैसी ही है, वह हरिश्चन्द्र को धन के बल पर खरीद कर अपना सारा काम उससे कराएगा। काम हरिश्चन्द्र करेगा, परन्तु उसे जो प्राप्ति होगी, उस पर अधिकार डोम का होगा।

धन का चमत्कारी काम होता है। जिसके पास धन होता है, वह आराम से हाथ पर हाथ धरे बैठता है और धन के बल पर खरीदे गए गुलाम उसके लिए काम करते हैं। वह क्यों काम करें ? उसका काम तो बिना कुछ किए ही चल जाता है। यह पूँजीवादी मानसिकता है जो व्यक्ति शोषण को प्रोत्साहन देती है और इस पर कोई अंकुश नहीं है।

हरिश्चन्द्र और शैव्या की बिक्री हुई और रोहित की बिक्री नहीं हुई। वह अपनी माँ के साथ गया, समस्या की इस विकटता पर ध्यान दिया जाए। वहाँ रोहित की क्या स्थिति थी ? क्या वह आत्मनिर्भर था ? क्या वह स्वतन्त्र रह कर अपना काम कर सकता था ? क्या उसका निजी व्यक्तित्व था ? क्या वह क्रीट दास माँ के साथ रहकर अपना विकास कर सकता था। आज भी हम जानते हैं कि वेश्याओं के बच्चों को कोई अच्छी दृष्टि से नहीं देखता, तब भी यही स्थिति और मानसिकता रही होगी। उसका भविष्य अधर में लटक गया और उसे अपमान का जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह इसी अपमान बोध की पीड़ा का शिकार हुआ और छैला के हाथों मारा गया।

इसमें एक समस्या यह भी है कि जिन कोठों पर देह व्यापार होता है, वहाँ अपराध भी पनपते हैं, हत्याएँ होती रहती हैं। जो लोग कोठों पर नियमित रूप से जाते हैं, वे दुस्साहसी होते हैं। वे खुले आम अपराध करते हैं और कोई व्यक्ति उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वे जघन्य हत्या जैसा अपराध करके आराम से चले जाते हैं, उनका बाल-बांका भी नहीं होता। इसी संदर्भ में रोहित की हत्या को देखा जाए। रोहित की हत्या हुई, हत्यारा चला गया। किसी ने पुलिस में रिपोर्ट नहीं की, पुलिस नहीं आई, अन्त तक नहीं आई। शैव्या ने भी उस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया। यह सत्य अनैतिक है, गैर कानूनी है। अनैतिक और गैर कानूनी यह भी है कि शैव्या अपने पुत्र की लाश को लेकर मरघट गई जहाँ चांडाल हरिश्चन्द्र ने अन्तिम संस्कार करने से पहले कर तो माँगा परन्तु मृत्यु का प्रमाण पत्र नहीं माँगा। इस नाटक में यह समस्या भी विद्यमान है जिसकी ओर पाठको-दर्शकों का ध्यान न गया और नाटककार ने भी इसे अछूता ही रहने दिया।

इस नाटक में एक समस्या यह भी है कि हरिश्चन्द्र के युग में मनुष्यों की बिक्री होती थी। उसके लिए बाजार होते थे और काशी का बाजार उस दृष्टि से एक बड़ा बाजार था जहाँ हरिश्चन्द्र सपरिवार बिकने के लिए अयोध्या से चल कर आए थे। विश्वामित्र वहाँ लाए थे, वहाँ उनकी बोली लगी थी और खरीदार खरीदने के लिए आए थे। अंततः वे बिक गए और विश्वामित्र को पूरे दाम मिल गए।

कितनी गलत बात है, कहते हैं हरिश्चन्द्र जिस युग में थे, वह सतयुग था। सतयुग में भी वेश्यावृत्ति होती थी और मनुष्य की खरीद बिक्री भी होती थी, न कोई नैतिक बंधन था और न कोई कानूनी अड़चन थी। एक ओर हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी थे तो दूसरी ओर अनेक लोग ऐसे थे जिनका जीवन मूल्यों से कोई सरोकार नहीं था। समाज नहीं था, बल्कि व्यक्ति आत्मकेन्द्रित हो गया था। हरिश्चन्द्र से सम्बन्धित जितने पात्र हैं, वे अपने भीतर से बाहर निकलते ही नहीं।

इसी से सम्बन्धित यह समस्या भी इस नाटक में है कि काशी के लोग महानगरीय मानसिकता में जीते हैं अपने आप में मस्त और आत्मकेन्द्रित। वे न तो दूसरों का साथ देते हैं और न अपनी सहानुभूति ही प्रकट करते थे। सुख में कोई साथ न दे तो कोई बात नहीं दुःख में भी साथ न देना तो अमानवीयता है। रोहित की हत्या हुई। कोई संवेदना प्रकट करने भी नहीं आया। पतुरिया ने भी साथ नहीं दिया। क्या व्यावसायिक दृष्टि है उसकी। मरघट भी कोई नहीं गया। यह अकेलेपन की त्रासदी और पराएपन की भावना एक बहुत विकट समस्या है। बस वहाँ पर विश्वामित्र जो यह सुझाव देने को आए थे- अब इस निर्जीव शरीर का अन्तिम संस्कार करो। वह भी इसलिए आए, क्योंकि हरिश्चन्द्र की अगली परीक्षा लेनी थी। देखिए न, खरीदार नहीं आया, बेचने वाला आया और वह भी अपने स्वार्थ से आया।

खरीदने बेचने या बिकने की यह समस्या पुराण-युग से आज तक चली आई है और नाटककार ने इसे समकालीन जीवन में भी दिखाया है। जीतन अपनी बात देवधर से कहता है जो लौका के बारे में है- हर चीज यहाँ बदल रही है। इसकी बात की कोई कीमत है नहीं। इस पर गपोले दूसरी बात कहता है- कीमत है, यही तो बात है, पता लगाओ, क्या है कीमत इसकी और भुगतान कर दो।

इससे स्पष्ट है कि भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर के पास सत्ता और धन की शक्ति है जिसके बल पर वह उसे खरीदना चाहता है जिसकी कीमत है, जिससे कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी न रहे और वह निर्द्वन्द्व सत्ता में बना रहे। इसीलिए तो इन्द्र ने राजा हरिश्चन्द्र को अपने मार्ग से हटाने के लिए मुनि विश्वामित्र के माध्यम से काशी के बाजार में बिकवा दिया था।

इस प्रकार 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में अनेक समस्याएँ आती हैं। कुछ समस्याओं पर विचार किया जा चुका है। अब अन्य समस्याओं को छोड़कर केवल एक समस्या पर बात करनी है, वह समस्या है-सत्य को जीवन में अपनाने या जीने की समस्या। देवधर ने लौका को उद्घात करते हुए कहा हर सत्य नया होता है। वह जिया जा सकता है। जो जिया न जा सके, उसे सत्य नहीं मानता। इस पर जीतन व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है- सोचिए भला, यहाँ कौन जी सका है अपने सत्य को ? सत्य हरिश्चन्द्र नहीं जी सके, सिर्फ यह साबित करने में कि वह सत्य हरिश्चन्द्र है सारी जिन्दगी तबाह हो गई। सब कुछ बिक गया और राजा इन्द्र बना रहा।

हरिश्चन्द्र का सत्य यह है कि यहाँ देकर ही पाया जाता है और त्याग कर ही भोगा जाता है। हरिश्चन्द्र उस ऊँचाई पर पहुँच चुके हैं जहाँ राजा रहे या चाण्डाल उनके लिए काशी हो या अयोध्या, दोनों एक ही हैं। उनके सामने अनेक कष्ट आए, अनेक प्रलोभन आए, वह सत्य पथ से नहीं हटे, वह शब्दजाल में विश्वास न रखकर कर्म में विश्वास रखते हैं। उनके लिए कर्म ही आस्था का परिचय है, सत्य ही जीवन है और जीवन में भय एवं लालच की चिन्ता नहीं।

वह सत्य से इतने चिपके हुए हैं कि झूठा स्वर्ग भी नहीं चाहिए। और यहीं पर लौका एवम् हरिश्चन्द्र एकाकार हो जाते हैं। वह अब यह सहन नहीं कर सकते, कि हरिश्चन्द्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे, देवधर (इन्द्र) परीक्षा लेता रहे। अब उसे अपने सत्य की परीक्षा देनी होगी। इस समस्या को नाटककार ने मूर्त रूप प्रदान किया है।

इस प्रकार एक सत्य हरिश्चन्द्र में धन-बल के आगे समाज को लाचार होते दर्शाया गया है। सत्य के पालन में सही गई यातनाएँ नाटक को पर्याप्त संवेदनशील बनाती हैं।

12. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' : भाषा-शैली

भाषा ही नाटककार का शरीर और शैली है, जीवन संचालन का एक तरीका। जैसे जीवन शैली होती है, उसी प्रकार रचना शैली होती है और रचना शैली ही नाटक में आकर नाट्य शैली बन जाती है। हम अपने सामान्य जीवन में कैसे खाते हैं, कैसे वस्त्रादि पहनते हैं, कैसे चलते हैं आदि। वह सब मिलकर हमारी जीवन शैली बनती है।

इसी प्रकार नाटक कैसे लिखा जाए, नाटक में कथ्य को कैसे प्रस्तुत किया जाए, आदि प्रश्नों पर विचार करते समय हमारे सामने शैली ही मुख्य होती है। इसी सन्दर्भ में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

सबसे पहली बात तो यह है कि नाटककार ने इसमें विशुद्ध भारतीय शैली को अपनाया है, परन्तु इसमें उनकी मौलिक दृष्टि भी है। भारतीय शैली के अनुसार कथा को पाँच से दस तक के अंकों में विभक्त होना चाहिए, उसमें प्रस्तावना, नांदीपाठ, भरतवाक्य, विष्कंधक आदि की व्यवस्था यथास्थान करनी होती है। नाटक का नायक राजा या देवता होना चाहिए।

इस आधार पर 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' को देखें। इस नाटक में अंक योजना नहीं है, केवल दृश्य योजना है, कहा जा सकता है कि इस नाटक का हर दृश्य ही नाटक का एक अंक है। इसमें कुल सात दृश्य हैं।

इसमें हर दृश्य अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण है और सामान्यतः एक दृश्य में ही बिन्दु, स्थल या दृश्य घटना की योजना होती है। बस, कहीं-कहीं दृश्यान्तर हुआ है। जैसे सातवें दृश्य में दृश्यस्थल है, पतुरिया का कोठा और फिर दृश्यान्तर होता है तो नाटक का दृश्य स्थल श्मशान घाट हो जाता है। इसी प्रकार का थोड़ा सा दृश्यान्तर पहले दृश्य में भी हो जाता है। यह दृश्यान्तर तथ्य की माँग ही नहीं होती, विकल्पहीन स्थिति भी होती है।

इसमें प्रस्तावना, नांदी पाठ तो है ही विष्कंधक और भरत वाक्य भी है। 'प्रस्तावना' तो पूरा एक दृश्य है जो नाटक शुरू होने से पहले रखा गया है जिसमें अगले नाटक की नींव पक्की हो जाती है। 'प्रस्तावना' के अन्त में सत्यनारायण की कथा समाप्ति पर आरती का आयोजन होता है जिसे नांदी पाठ कहा जा सकता है।

इस नाटक का छठा दृश्य विष्कंधक है जिसके अनुसार नाटक की भावी घटनाओं के संकेत मिलते हैं। वैसे तो पहले दृश्य के अन्त में भी ऐसे ही संकेत दिए हैं कि अगले दृश्य में क्या होगा, परन्तु इस प्रकार के स्पष्ट संकेत नहीं थे कि अगले दृश्य में ये सब लोग केवल पथ में चल रहे होंगे।

नाटककार को यह सिद्धहस्तता प्राप्त है कि जो बात वह कहना चाहता है उसे कैसे कहे जैसे यहाँ पर एक उदाहरण लें- पाँचवें दृश्य के अन्त में नाटककार यह दिखाना चाहता है कि आगे क्या घटने वाला है तो उसने बड़े कौशल के साथ इसे दिखा दिया है। देवधर ने कहा लौका को बुलाओ, मैं उसे मिलना चाहता हूँ।

इसका उत्तर गपोले ने इतनी बढ़िया अभिव्यक्ति के साथ दिया- हरिश्चन्द्र, श्मशान पर मिलेगा। इन्द्र के वेश में जाइये। क्या बात है, क्या जबरदस्त अभिव्यक्ति है। नाटक खेला जा रहा है। इस बीच में इन्टरवल हुआ तो नाटक के पात्र बैठे हुए गपशप कर रहे थे, परन्तु नाटक का अगला भाग भी शुरू होना है। तभी देवधर अपने राजनेता के रूप में गपोले को आदेश देता है कि लौका को बुलाओ, मैं उसे मिलना चाहता हूँ।

उसे गपोले ने याद दिलाया कि इस समय लौका, लौका नहीं है बल्कि हरिश्चन्द्र की भूमिका में

है। वह इस समय श्मशान घाट पर मिलेगा। अगर आपको उससे मिलना है तो वहीं जाना होगा- देवधर के रूप में नहीं, बल्कि इन्द्र के वेश में जाइए।

इससे स्पष्ट है कि देवधर यह न भूल जाए कि वह इन्द्र की भूमिका में है। उसे यह याद रखना चाहिए कि वह इन्द्र है, जिसकी भूमिका आने वाली है। वह तैयार रहे।

इस सूचना से दर्शक या पाठक यह जान लेते हैं कि वे श्मशान पर मिलेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि श्मशान तक पहुँचने के लिए पहले जीवन फिर मृत्यु से गुजरना होगा। तो हमें ये सांकेतिक सूचना भी मिल जाती है।

अतः हम पाँचवे दृश्य के इस अन्तिम चरण को विष्कंधक के अन्तर्गत रख सकते हैं, भले ही यह अपने उस मूल रूप में न हो जो संस्कृत में व्यवहृत है। इसका कारण यह है कि लक्ष्मीनारायण लाल जैसे प्रतिभावान नाटककार मौलिक उद्भावनाएँ करते ही रहते हैं।

अब 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में भरत वाक्य की प्रयोगशीलता पर आते हैं। नाटककार ने नाटक बिल्कुल अन्त में एक गीत रखा है। वह गीत परम्परा के अनुसार भरत वाक्य है, परन्तु परम्परा से अलग हटकर भारत माता का जय गान है। गीत के चुर्नीदा अंश इस प्रकार है-

**भारत जननि तेरी जय हो विजय हो
युग-युग से करते आए धर्मकथा कीर्तन**

* * * * *
किन्तु नहीं बदला है जनमन का जीवन।
* * * * *

**अन्न धूप माटी के पूत हम सनातन
नव विहान सब समान प्राण सब सदय हो।**

इसमें बताया गया है कि धर्म कथा-कीर्तन से जीवन में कोई बदलाव नहीं आया है। अतः धर्म वह है जो जीवन में उतरता है या रहता है और सत्य जीवन में जिया जाता है। हम सबको मिलजुल कर निर्भर होकर रहना चाहिए और दूसरों के प्रति सद्भावना रखनी चाहिये।

इस नाटक की यह शुभेच्छा बहुत महत्वपूर्ण है जो हमें जीवन की सच्चाइयों से साक्षात्कार कराती है और हमारा कर्तव्य पथ सुनाती है कि हमें क्या करना है।

अतः नाटक का दृश्यों में विभाजन, कथा वस्तु का संगठन, गीतों की व्यवस्था आदि से यही सिद्ध होता है कि इस नाटक की रचना भारतीय शैली में की गई है। इतना ही नहीं, यह नाटक सुखान्त भी है, मनोरंजक या आन्नददायक तो है ही। नाटक की सुखान्त भावना भी यह सिद्ध करती है कि यह नाटक भारतीय काव्य शास्त्र की प्रमुख स्त्रोत नाट्यशैली को आधार बनाकर लिखा गया है।

पाल जैकब ने इस नाटक की भूमिका स्वरूप 'पूर्वरंग' में इसकी नाट्यशैली के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं जो इस प्रकार हैं- रंगशैली और नाट्यवस्तु, रूपबंध और कथ्य का ऐसा अपूर्व संयोग पहली बार हुआ। साथ ही तथाकथित आधुनिकता जिसकी लोग तमाम बातें करते हैं, डींगे हँकते हैं, जो पश्चिमी रंगमंच के अपने कुछ नए अविष्कार हैं, बल्कि चमत्कार हैं, उसको लाल ने त्यागकर अपने आधुनिक को प्राप्त किया है। "अतः वह कहते हैं- इस नाटक में लाल का नाट्यस्वरूप, रंगशिल्प, शुद्धरूप से शास्त्रीय भारतीय नाट्य की समझ और पहचान से उद्भूत है। वह पहचान और समझ, जो बताती है कि शास्त्रीय में, परम्परा में, ही चिरतन आधुनिकता है।" इसके बाद इस मुद्दे पर निष्कर्ष रूप में उनका कथन है- "इसी गहरी समझ

के कारण, सत्य हरिश्चन्द्र की जिस कथावस्तु और नाट्य सामग्री को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने केवल पारम्परिक रूप में लिया, लाल ने उसे इतना गहन आधुनिक सन्दर्भ और अर्थ दिया।”

इससे उनकी नाट्यशैली की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. रंगशैली और नाट्यवस्तु रूपबंध और कथ्य का अपूर्व संयोग।
2. अपनी मौलिक आधुनिकता का समावेश।
3. शास्त्रीयता और नवीनता का संगम।
4. नवीन उद्भावनाओं का प्रयोग।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक की विशेषता यह है कि इसमें नाटक के भीतर का प्रयोग किया गया है। यह शैलीगत प्रयोग है। इसमें नाटककार ने नाटक की कथा को आधुनिक जीवन से उठाया जिसमें आधुनिक जीवन की समस्याओं को भर दिया है। इसमें प्रमुख समस्या है जातिगत एवम् वर्णगत भेदभाव की और यहाँ पर शोषित, ऊँचा-नीचा, सवर्ण-अवर्ण, अमीर-गरीब, के खानों में समाज बंटा हुआ है और एक वर्ग दूसरे वर्ग को उभरने ही नहीं देता। एक व्यक्ति यानी देवधर (इन्द्र) सारे हथकंडे अपनाता है और दूसरा व्यक्ति लौका (हरिश्चन्द्र) अपने सत्य, न्याय के पथ पर अडिग रहता है।

नाटककार ने इस आधुनिक जीवन की समस्याओं को अधिक प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति देने के लिए एक अन्य नाट्य कथा का सहारा लिया है और इसके लिए वह सुदूर अतीत में गए हैं, जहाँ उन्हें समाज धर्म कथा मिल गई। वह कथा राजा हरिश्चन्द्र की है जिसके चुनीन्दा अंशों का बेहतरीन उपयोग नाटककार लाल ने किया है। इसमें विशेष बात यह है कि नाटककार ने मूल नाटक के प्रमुख पात्रों का प्रयोग हरिश्चन्द्र के नाटक में कर लिया है जो यह नाटक खेलते हैं। मूल नाटक के पात्रों का मनोविज्ञान और अधिक कलात्मक ढंग से उद्घटित होता है।

इस प्रकार नाटककार ने आधुनिक समस्याओं को चित्रित करने के लिए आधुनिक जीवन को आधार बनाया है। इसे खेलेने के लिए उन्होंने मिथक का उपयोग भी किया है। जैसा हम जानते हैं, राजा हरिश्चन्द्र एक पौराणिक पात्र है जो हमारे जीवन में इतना रच बस गया है कि वह काल्पनिक पात्र नहीं लगता और सच होते हुए भी हमारी कल्पना का एक अंग है। यही है उनके व्यक्ति और उनके बारे में प्रचलित कथा का मिथकत्व। सच यह है कि मिथक का इतना अच्छा उपयोग बहुत कम नाटककार कर पाते हैं। लक्ष्मीनारायण लाल ने यह काम किया है। यह उनका शैलीगत चमत्कार ही है।

नाटक की शैली की एक विशेषता यह भी है नाटककार ने ‘प्रस्तावना’ में सत्यनारायण की कथा का आयोजन कर दिया है। उन्होंने उस कथा के साथ राजनीति क्षेत्र में स्थापित राजनेता देवधर के राजनीतिक प्रचार को भी रख दिया है। दरअसल राजनेता उस कथा का उपयोग अपने लिए ही करता है। इसी को कहते हैं, राजनीति के साथ धर्म को जोड़ना। तो नाटक में कथा चल रही है साथ-साथ राजनीति पर भी तर्क-वितर्क चल भी हो रहा है। वैसे यह मुद्दों की राजनीति नहीं है, बल्कि अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाकर या उसे दबाकर स्वयं जमें रहने या उभरने की राजनीति है।

इस नाटक में शैलीगत प्रयोग अनेक हुए हैं। उसमें से एक प्रयोग पर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। यह प्रयोग है जब एक ब्राह्मण नारद के कारनामों के विषय में कथा सुनाता है। वास्तव

में वह एक किस्सागो द्वारा सुनाया गया किस्सा है। किस्सा बहुत मजेदार है। सन्दर्भ काशी के बाजार का है। वहाँ नारद हरिश्चन्द्र के बारे में घोषणा कर चुके हैं कि वह अभी आयेगें और वहाँ बिकेगें।

यह किस्सा इस प्रकार है- “एक बार ऐसा हुआ कि नारद जी गए शंकर भगवान के पास। शंकर जी समाधि लगाए तपस्या में मगन। वहाँ उनकी कोई दाल न गली। सो लपक कर पहुँचे पार्वती के पास। लगे बड़ाई करने शंकर भगवान की और प्रेम करा दिया पार्वती का बम भोले से। फिर पहुँचे पार्वती के माता-पिता के पास। लगा दी आग। आपकी बेटा एक पागल भिखारी से विवाह करने जा रही है। तो मच गया हुड़दंग, यह है नारद का रंग।”

तनिक ध्यान दीजिए नाटक में कहानी का प्रयोग कितने बढ़िया ढंग से किया है। दिलचस्प कथा की प्रस्तुति एक अन्य शैलीगत विशेषता है। नारद भी मिथक पात्र हैं, जो अपने स्वरूप के लिए प्रसिद्ध हैं और उनके बारे में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं।

नाटककार ने शैलीगत अभिव्यक्ति के लिए गीतों का प्रयोग भी खुलकर किया है। नाटक का आरम्भ गीत से होता है, और उसी के साथ नाटक का अन्त। इसमें छोटे-बड़े, तरह-तरह के गीत हैं। गीत भाव का वहन करते हैं। गीत कथा को आगे ले जाते हैं। गीत प्रेम और सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं, गीत भावनाओं को उद्घटित करते हैं गीत में व्यक्ति दर्द है और समाज की पीड़ा है। इसमें लोकगीत हैं और साहित्यिक गीत हैं। इनमें तरह-तरह के छन्द हैं, छन्दों में प्रवाह और तीव्र आवेग है।

शैली की दृष्टि से यह नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ बहुत अच्छा है जहाँ शैलीगत प्रयोगों की विविधता मिलती है इसमें नए-पुराने, भारतीय शास्त्रीयता और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र, परम्परा, आधुनिकता, नाट्य सिद्धान्त और मौलिकता के बीच जो संयोजन हुआ है, वह अपने आप में विशिष्ट है। जीवन्त और प्रवाहमान शैली के लिए यह नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

13. ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’: गीत-योजना

यह बात सर्व प्रसिद्ध है कि भारत कृषि प्रधान देश है जो सच है। यह भी उतना ही सच है कि भारत गीत प्रधान देश है। बदलती हुई ऋतुओं के गीत, मौसम के गीत, शिशुजन्म पर गीत, विवाह और मृत्यु पर गीत, त्यौहारों पर गीत जैसे चारों ओर गीतों का वातावरण बना रहता है। इस प्रकार हम समय समय पर गीतों का त्यौहार मनाते रहते हैं।

जब हमारे भारतीय आचार्यों ने नाट्यशास्त्र बनाया तो नाटक के गीतों का विधान सुनिश्चित किया। जैसा कि हम जानते हैं, भारतीय नाट्यशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि चार वेदों के तत्त्व लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्य वेद की रचना हुई। चार वेदों के चार तत्त्व ही नाटक के आधारभूत तत्त्व कहे जा सकते हैं। इन वेदों के बारे में एक श्लोक इस प्रकार है :

“अग्राह पाठम् ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदाभिनयान् रसानाथर्वेदाद्रापि।”

इसका आशय यह है कि ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्वेद से रस तत्त्व लेकर नाट्यवेद की रचना हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भरतमुनि ने नाटक के लिए गीत तत्त्व को अत्यावश्यक माना था। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों में गीतों

की प्रचुरता मिलती है। यह भी सच है कि हमारे यहाँ नाटककार को सफल कवि होना आवश्यक बताया गया है। हिन्दी में इस परम्परा को अपनाया गया। हिन्दी के प्रारम्भिक नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में प्रचुर संख्या में गीत पाए जाते हैं। आगे चलकर जयशंकर प्रसाद ने भी अपने नाटकों में गीतों का प्रयोग बहुतायत से किया है।

यहाँ यह प्रश्न उठना सहज स्वाभाविक है कि नाटक में गीत योजना बनाते समय नाटककार को कुछ मामलों में अवश्य सचेत रहना चाहिए। प्रश्न यह है कि इस मामले में नाटककार को क्या करना चाहिए और किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ? इसे हम यों भी कह सकते हैं कि आखिर नाटक में गीतों का प्रयोजन क्या है ? नाटक में गीत क्यों रखे जाते हैं ? उनका काम क्या है ? गीतों की क्या सार्थकता है ? ये मुद्दे इस प्रकार हैं-

1. गीतों का प्रयोग नाटकीय कथा के विकास में सहायक होता है और होना चाहिए।
2. गीत के द्वारा पूर्व कथा का आभास मिलता है, वर्तमान कथा को आधार मिलता है और भविष्य का संकेत मिलता है।
3. गीत से किसी पात्र के मनोभावों का पता चलता है, उसके व्यक्तित्व और विचारों को जानने में सहायता मिलती है।
4. गीत में सामाजिक जीवन का चित्रण होता है, विशेष रूप से समूह गान में सामाजिक जीवन का चित्रण होता है। विशेष रूप से समूह गान में सामाजिक समस्या मिलती है।
5. गीत मनुष्य और बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध को दिखाते हैं।
6. गीत मनुष्य की शुभेच्छा सद्भावना को व्यक्त करते हैं।
7. गीत नाटक के उद्देश्य को प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं।

प्रश्न यह भी है कि गीत कैसे हो, कैसे न हो। उनमें ऐसा क्या हो सकता है जिससे बचना चाहिए। वह क्या है जिससे गीत बाधक हो सकते हैं ?

नाटक में गीतों की योजना सुविचारित, सोद्देश्य और सार्थक होनी चाहिए। गीतों की संख्या उतनी ही होनी चाहिए, जितनी अपेक्षित है। उनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, परन्तु गीतों की भरमार बिना सोचे-समझे यों ही नहीं हो सकती। नाटक में लम्बे-लम्बे गीत न हों बल्कि छोटे-छोटे ही हों। ऐसे हो जिनमें दर्शक रमें रहें, उनसे ऊब न जाएं। गीत सरल और सरस हो। गीतों को दार्शनिक और विलास नहीं होना चाहिए।

अब यहाँ यह देखना है कि डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में गीतों का जो प्रयोग किया है, वह कैसा है, किस स्तर का है। उसमें विविधता है या नहीं। इसके साथ ही यह देखना है कि पूर्व घोषित सात सूत्री योजना के अनुसार वे उपयुक्त हैं या नहीं। सबसे पहले तो यह जान लेना चाहिए कि यह नाटक इठसन, लक्ष्मीनारायण मिश्र की शैली में रचित समस्या नाटक नहीं है, इसमें बौद्धिकता की प्रमुखता नहीं है। फिर यह जयशंकर प्रसाद की परम्परा में रचित संस्कृति प्रधान ऐतिहासिक नाटक भी नहीं है। वैसे इसमें समस्याएं भी हैं और संस्कृति भी विद्यमान है। यह अपने समय का अलग नाटक है जिसकी माँग अलग है और उस माँग की पूर्ति करता है।

यह लोक नाट्य परम्परा का नाटक है जिसमें नौटंकी का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। अतः इसमें गीतों को भी इसी रूप में देखना होगा। यह नगरीय पृष्ठभूमि पर रचित नाटक नहीं है

बल्कि ग्रामीण आधार को लेकर चलता है। उसके गीतों में साहित्यिकता न देखकर लोकगीतों की सहजता, सरलता, अकृतिमता को ही देखना होगा। इसमें जो गीत दिए गए हैं, वे या तो लोकगीत ही हैं या लोकगीत शैली में रचित हैं।

इस नाटक में सबसे पहले 'प्रस्तावना' है जिसमें सर्वप्रथम गीत को नांदी के रूप में लिया जा सकता है। इसकी पहली कड़ी घुमन्तू गाता है और दूसरी कड़ी लौका गाता है जो पहली ही कड़ी का थोड़ा परिवर्तित रूप है। इस गीत में सत्य की प्रतिष्ठा की गई है जो नाटक का मूल मंत्र है। तो ये दोनों कड़ियाँ इस प्रकार हैं-

**साहेब केके पांव बांधों घुंघरु
के के पांव रेशम डोर
चलत-चलत अब रात बीती
सांधु सो कराय देव भेंट। (लौका गा पड़ता है)
मेरे पांव बांधो घुंघरु
मोरे पांव रेशम डोर
चलत-चलत अब रात बीती
सांधु सो कराय देव भेंट।**

इस गीत में सत्य से साक्षात्कार कराने की तमन्ना है। लौका इसे अपने लिए आमंत्रण के रूप में स्वीकार करता है अर्थात् वह अपने पैरों में घुंघरु बांध कर सत्य से साक्षात्कार करने के लिए लालायित है।

इस गीत की समाप्ति पर कच्चे कुएँ की ओर से कुछ गरीब स्त्री-पुरुष यह गीत गाते हुए आते हैं :

**का का नाहीं भयो
का का नाहीं कियो
मारियों फूंकियों घर जल्यो।
जब हम पंचन रोइ रोइ पूछ्यो
मालिक ई का भयो ?
तो मालिक न्याय का करें उलटे और कुकर्म कियो
सत लुटी जोरु मुंह पै आंचर बांधि कुंआ मा डुबि मर्यो।
अर्थी कांधे उठाय हम पंच मरघट चल्यो
बंदूक तान मालिक रस्ता रोक के कह्यो
'मेरी जमीन है'
अर्थी ले जाय बन्दे नाहीं बन्यो।**

नांदी के बाद यह पहला ही गीत नाटक की मुख्य समस्या को हमारे सामने उजागर कर देता है। स्पष्ट है कि यह अवर्णों का गीत है जिसमें उनपर हर प्रकार का अत्याचार होता है। वे शोषण के लिए बाधित और शापित हैं। उन्हें मनुष्य ही नहीं समझा जाता। उनके साथ पशुवत् व्यवहार करने वाला तत्त्व है- सवर्ण वर्ग और उनमें से भी वे लोग जिनके हाथ में सत्ता है, शक्ति है। यह आक्रोश का गीत नहीं है, बल्कि दर्द भरा गीत है जिसके माध्यम से सहज रूप में हमारे सामने उनकी भोगी हुई पीड़ा की अनुभूति अपना मूर्त रूप धारण करके आ जाती है।

'प्रस्तावना का तीसरा गीत केवल चार पंक्तियों का है जिसे घुमन्तू ने गाया है जिसमें सन्दर्भ है- देवधर का यह अप्रत्यक्ष प्रस्ताव कि मुझ से माँगो, जो माँगना चाहो। इस धन के आकर्षण के प्रति

चेतावनी देता हुआ गीत अवश्य ही अपनी सार्थकता एवं प्रयोजन रखता है। वह गीत इस प्रकार है -

**माया के मोहक बन की क्या कहूं कहानी परदेसी।
भय है हंस के कह दोगे मेरी नादानी परदेसी।
इस उपवन की पगडंडी से बचकर जाना परदेसी।
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचना परदेसी।**

यह गीत अपनी सहजता में दिलचस्प बन गया है। इसमें सांकेतिक संदेश है जिसे घुमन्तू लौका के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रेषित कर रहा है। इस प्रकार यह गीत अर्थवत्ता को प्रस्तुत कर रहा है, वह नाटक की कथा के मेल में है। इतना ही नहीं अब तक के अन्य गीतों की अपेक्षा यह गीत संरचना और संप्रेषण की दृष्टि से अलग और विशिष्ट है जो मात्र भाव ही नहीं है, वैचारिक दृष्टि से भी उल्लेखनीय है।

‘प्रस्तावना’ का चौथा गीत सत्यनारायण की कथा के अन्त में आरती के रूप में जिसे पुरोहित के साथ अन्य लोग गाते हैं। यह गीत हिन्दू संसार में बहुत परिचित और प्रचलित है। यह धर्म से सीधा सम्बन्ध रखता है।

इस प्रकार ‘प्रस्तावना’ के चारों गीत छोटे-छोटे हैं। इनमें दर्शकों को रमाने की क्षमता है। ये चारों सरल, सहज और सरस हैं। इनका भावार्थ एकदम स्पष्ट है और इनमें कहीं कोई उलझाव नहीं है। इनमें विषय ओर कल्प सम्बन्धी विविध रूपता मिलती है जो रुचिकर लगती है। इनके विषय हैं क्रमशः सत्य का दर्शन, सामाजिक विषमता और जीवन का यथार्थ, धन और धर्म। कलागत विविधता की दृष्टि से अलग-अलग छन्द हैं, अलग रूप हैं और अलग शैली है। यह अलग होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनके माध्यम से विशिष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

पहले, दूसरे, छठे और सातवें दृश्यों का आरम्भ भी गीत के साथ होता है जैसे प्रस्तावना में हुआ था। चौथे दृश्य का आरम्भ भी कवितात्मक गीत या गीतात्मक कविता या पद्यात्मकता के साथ ही होता है। उल्लेखनीय है कि पांचवें दृश्य के अतिरिक्त ऐसा कोई दृश्य इस नाटक में नहीं है जिसमें कोई न कोई गीत न रहा हो। नाटक का आरम्भ गीत से और समापन भी गीत के साथ होता है। नाटक के आरम्भ में नांदी की योजना है और नाटक का अन्तिम गीत भरत वाक्य के रूप में है। इस प्रकार नाटककार ने पूर्णतः शास्त्रीय आधार को अपनाया है और अपनी मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं।

आइए, पहले यहाँ यह देखा जाए कि पांचवें दृश्य में कोई भी गीत क्यों नहीं है ? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि नाटक में गीतों के उपयोग का प्रयोजन को जान लेना चाहिए। इस सिलसिले में तैयार एक सात सूत्री योजना इस प्रकार है- 1. कथा विकास में सहायक 2. कथा का पूर्वापर आभास 3. मनोभावों की अभिव्यक्ति 4. सामाजिक जीवन 5. अन्तर्बाह्य सम्बन्ध 6. सद्भावना 7. उद्देश्य। अतः पांचवें दृश्य में ऐसी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी कि गीत या गीतों को रखा जाए। बिना गीतों के काम चल गया और बहुत कुछ काम चल गया। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पांचवें दृश्य में मूल नायक के मुख्य पात्रों के बीच जो तनाव पैदा हुआ था, वह अपने सर्वोच्च शिखर पर ही है। यह तनाव आधुनिक सन्दर्भों में है।

मूल नाटक के मूल पात्रों के बीच में छाया हुआ तनाव संघर्ष के स्तर तक पहुँच जाता है। इसकी विशेष बात यह है कि देवधर के दो विश्वसनीय सहयोगी थे- जीतन और गपोले, वे दोनों दृश्य में उसके विरुद्ध खड़े हो गए हैं।

देखिए न, जहाँ आधुनिक सन्दर्भों में तनाव इस हद तक गहराता हो, संघर्ष फूट पड़ने को है तो वहाँ गीत का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? वैसे भी यह न सामाजिक-पारिवारिक मामला है और न धार्मिक ही है बल्कि पूरा का पूरा राजनीतिक मामला है जहाँ गीत की कोई आवश्यकता ही नाटककार को महसूस नहीं हुई।

इससे यह देखा जा सकता है कि नाटककार ने इस नाटक में गीतों का प्रयोग अवश्य किया है, जमकर किया है, परन्तु आँखे बन्द करके नहीं किया उसने यह नहीं मान लिया कि गीतों को हर जगह टूंस दे, जहाँ आवश्यकता हो वहीं रखना है और जहाँ स्थिति अनुकूल न हो, वहाँ नहीं रखना है, सचमुच पांचवें द श्य में अगर गीत रखे जाते तो तनाव शिथिल हो जाता, जो नाटककार को स्वीकार्य नहीं था।

‘प्रस्तावना’ के अन्त में सत्यनारायण कथा की समाप्ति पर आरती का गीत है जिसमें घण्टा आरती है। नाटक के अन्त में सत्यपथ पर चलने वालों की कथा समापन है और यही पर एक आरती गीत है, न यह कथा प्रचलित सत्यनारायण की कथा है, बल्कि एक नई उद्भावना और संकल्पना है। अतः यह आरती भी अलग होगी और इसका संगीत भी अलग होगा। पहली वाली आरती धर्म से सम्बन्ध रखती है और दूसरी आरती भारत माता की आरती है, जिसमें शुभेच्छा और सद्भावना व्यक्त की गई है जो नए युग की है।

इसका एक अंश देखिए-

भारत जननि तेरी जय हो विजय हो

* * * * *

धर्म रहस्य है नहीं कर्म है संजीवन

सत्य है वही जो जी सका यह जीवन

अन्न, धूप माटी के पूत हम सनातन

नव विहान सब समान प्रान सब स दय हो। भारत जननि. . . .

गायक की संख्या के आधार पर सामान्यतः गीत दो प्रकार के होते हैं- एक, एकल गीत जिन्हें एक ही व्यक्ति गाता है। दो, युगल गीत जिन्हें दो व्यक्ति गाते हैं। तीन, समूह गान जिन्हें अधिक लोग गाते हैं। इस नाटक में युगलगीत नहीं हैं। एकल गीत की संख्या बहुत कम है, परन्तु समूहगान के गीतों की भरमार है। पहले वर्ग में जो गीत रखे हुए हैं, वे इस प्रकार हैं- घुमन्तू के गीत, लौका का गीत, पदमा का गीत, छैला का गीत, पतुरिया का गीत। कुछ समूह गान इस प्रकार हैं- प्रस्तावना में गरीब स्त्री-पुरुषों का गीत, प्रस्तावना के अन्त में आरती गीत, पहले द श्य का आरम्भिक गीत और अन्तिम गीत, छठे द श्य का गीत और अन्त में भारत माता का आरती गीत।

विषय वस्तु की दृष्टि से देखें तो इस नाटक के गीतों में विविधता मिलती है। इसमें एक ओर भक्तिगीत है तो दूसरी ओर भारत माता का गीत है। सत्य धर्म पालन का गीत है तो दुखद स्थिति का गीत है, धुमन्तू का चेतना गीत है तो पहले द श्य का जागरण गीत है जिसका नमूना यहाँ देखिए-

जागो रे जागो दीया जलाओ महल घुसा अब चोर

महल हला चारे रे पलनिया डगमग डगमग डोले रे।

चारि जने मिलि लूटें नगरिया, नगरिया लागी आगी रे

करेजा मोर थरथर कांपे रे।

इसमें एक गीत ऐसा भी है जो युगीन प्रश्न को उठाता है, व्यवस्था विरोध को स्वर देता, अपनी

विवशता को दर्शाता है। यह गाँव के लोगों का समूह गान है जिसमें हरिश्चन्द्र की बिक्री को लेकर कई प्रश्न हैं और इनकी प्रासंगिकता आज भी है। इसका एक अंश यहाँ भी प्रस्तुत किया जाता है -

**हरिचंद कहो तुम कब तक कहाँ बिकोगे ?
देगा कीमत कौन भला क्या बता सकोगे ?
पानी बिके बाजार भिखारी दान बाँटता
लूटे सकल बाजार उलटकर दाम मांगता।
नदिया सूखी अूबा कैसे नाब चढोगे ?
हरिचंद कहो तुम कब तक कहाँ बिकोगे ?**

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक में प्रेम और सौन्दर्य के गीत भी हैं जिनका अलग अंदाज है। उनमें नाटककार ने विषय के अनुरूप भाषा और शिल्प को बदला है और पूरी तरह निमग्न होकर अभिव्यक्ति की है। नाटककार ने भाव सौन्दर्य को निखारा है। कुछ नमूने देखिए-

संगीत बज रहा है पदमा न त्य कर रही है और गीत गा रही है-

**नजर लागी राजा तोरे बंगले में
जो मैं होत्यूं राजा बेला चमेली
गमकि रहत्यूं राजा तोरे बंगले में।**

इसी क्रम में अगला गीत पतुरिया का है जो सातवें दृश्य का प्रथम गीत है। पतुरिया के कोठे संगीत और न त्य के बीच चलने वाले इसी गीत का अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

**मेरे जीवन में लाल जड़े
बहुत खरे ओ महाराज रें।
कोरु मूंगा कोरु सोना कहत है
परखन वाले पर गाज पड़े
बहुत खरे ओ महाराज रे।**

इस नाटक में कुछ गीत ऐसे हैं जो कवित्वमय हैं तो दूसरे केवल पद्यमय हैं। कुछ बिना संगीत या सामान्य संगीत के साथ यानी मात्र पृष्ठभूमि संगीत के साथ चलते हैं, तो कुछ संगीतमय गीत हैं। कुछ गीत केवल संवाद के रूप में आते हैं, तो कुछ गीत पिछली कथा प्रस्तुत करते हैं जैसे रंगा के गीत। इनमें कुछ सामान्य गीत हैं, तो कुछ शोक गीत हैं। शोक गीतों के नमूने शैव्या के विलाप में देखे जा सकते हैं जो सीधे हृदय में उतर जाते हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मीनारायण का नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ मुख्य रूप से गीतमय नाटक है जिसमें लोकनाट्य परम्परा को अपनाया गया है। अतः समस्त नाटक संगीत प्रधान है। इसके गीतों के विषय और अभिव्यक्ति में विविधता है। ये गीत सार्थक, संदर्भित, सरस छोटे-छोटे और विषय के अनुरूप हैं।

14. ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ : प्रासंगिकता

किसी कृति की प्रासंगिकता का प्रश्न कब उठता है और क्यों उठता है ? प्रासंगिकता पर विचार करते हुए सबसे पहला प्रश्न यही उठता है। यह प्रश्न सामान्यतः तब उठता है जब हम किसी पुरानी कृति या पुराने कृतिकार पर बात करते हैं और यह देखना चाहते हैं कि आज उसकी क्या स्थिति है, क्या वह बदलते हुए समय संदर्भ में आज भी उतनी ही मूल्यवान है जितनी वह अपने प्रकाशन काल में थी ? क्या वह आज के लिए उपयुक्त नहीं है ?

दूसरी बात यह है कि आधुनिक अमुक कृति के प्रकाशन को अधिक समय तो नहीं हुआ, परन्तु उसका कथ्य ऐसा है जिससे प्रासंगिकता का प्रश्न उठता है, प्रश्न है, कथ्य में ऐसा क्या आ जाता है, इसका उत्तर यही है कि जब प्राचीन या प्रति प्राचीन कथा को मुख्य आधार बनाया जाए या मिथक से कथा को उठाया जाए, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अमुक कृति कितना या कैसा तालमेल आज के समय संदर्भों से है ? अर्थात् आज उसकी क्या प्रासंगिकता है।

सच्चाई यह है कि प्रायः कृतियों का मूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन होता रहता है जिसे बदलते हुए समय संदर्भों में ही देखा जाता है। इसे दूसरे शब्दों में यों कहें कि पूर्व कृतियों को या कुछ वर्ष पूर्व की कृतियों को हम इस दृष्टि से देखें कि उनमें ऐसा क्या है जहाँ हमारे वर्तमान जीवन की धड़कनें हैं और ऐसा क्या हर गया जहाँ ऐसा नहीं है। प्राचीन युग की सामान्य या मिथक कथा वाली कृति में समसामयिक जीवन के कौन से प्रसंग प्रतिभासित होते हैं।

अतः कृति की प्रासंगिकता से तात्पर्य है कि अमुक कृति आज प्रसंग वाली है। प्रसंग से तात्पर्य है- चर्चा, विषय सन्दर्भ। इसमें काल, समय, युग अन्तर्निहित है। इस आधार पर प्रासंगिकता का अर्थ हुआ जो कृति आज के समय में चर्चा में है या जिस कृति का विषय वर्तमान काल है या जो आज के युग सन्दर्भों में है वास्तव में वही कृति महत्त्वपूर्ण होती है जिसमें भूतकाल चित्रित हुआ हो या भविष्य, परन्तु वर्तमान काल की झलक अवश्य मिलती हो, जो हमारे समय को घटित होता हुआ दिखाए, जो समय और समाज को गति दे और इस काल के लिए दिशा निर्देशक बने। यही कृति का असली महत्त्व है।

इस आधार पर यह आसानी से तय हो सकता है कि कोई कृति पूर्व काल में, बहुत पहले रचित होने के बाद भी आज के ही युग के लिए प्रासंगिक हो सकती है। दूसरी ओर परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं कि आज के ही समय में लिखित कृति भी अप्रसांगिक हो सकती है। इसका कारण यह है कि कृति भी अप्रासंगिक हो सकती है। इसका कारण यह है कि कृति में आज के समय सन्दर्भ ही न चाहिए, आज की घटित घटनाएं ही न दिखाई जाएं, बल्कि उसमें वह दृष्टि भी होनी चाहिए जो सच्चे अर्थों में अमुक कृति को प्रासंगिक बनाती है।

इस आधार पर डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' को देख लिया कि वह हमारे समय के लिए प्रासंगिक है या नहीं। यह नाटक कितना प्रासंगिक है ? क्या इस दृष्टि में इस में कुछ खटकने-फटकने वाली बातें हैं या सच्चे अर्थों में प्रासंगिकता का समुचित निर्वाह इस नाटक में किया गया है ? ऐसे ही प्रश्नों के आलोक में आइए इस नाट्य की जाँच परख कर लें और यह भी देख लिया जाए कि इस नाट्य कृति का स्तर क्या है। यह सही है कि प्रासंगिकता में कृति की स्तरीयता का प्रश्न भी शामिल होता है अर्थात् अगर कृति उच्च कोटि की या स्तरीय नहीं है तो वह क्या प्रासंगिक होगी। अतः स्पष्ट है कि कृति की प्रासंगिकता के लिए महत्त्वपूर्ण आधार या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार स्तरीयता का है।

'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की मुख्य कथा समकालीन जीवन सूत्रों से बनी हुई है जिसमें मुख्य है राजनीति, परन्तु धर्म, समाज, कला और संस्कृति भी इसके वर्ण्य विषय हैं। नाटककार ने इस समस्याओं को ग्रामीण अंचल के सन्दर्भ में उठाया है और हर प्रकार से पूरा माहौल तैयार कर दिया है, इस नाटक का आधार उत्तर प्रदेश का, विशेष रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक गाँव है। फिर भी ऐसा देश है कि इसमें अंकित समस्याएं पूर्वी उत्तर प्रदेश या उत्तर प्रदेश की ही हैं, यह तो बस कोई-न-कोई आधार लेने के लिए है अन्यथा यही पूरे देश में व्याप्त है। ये समस्याएं गाँव की ही नहीं, शहरों में भी हैं, परन्तु यह नाटक शहर का नाटक नहीं है। नाटक का योंही सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। इसके लिए नाटककार को दृश्यात्मकता के

सहारे विशेष को सामान्य में बदलना होता है और यह काम रचनात्मक कलात्मक स्तर पर करना होता है। इस नाटककार ने यह काम कौशल के साथ किया है।

तो इस नाटक में मूल कथा समकालीन जीवन को लेकर चलती है। इसे और प्रभावी बनाने के लिए नाटककार सुदूर अतीत में गया है। वह एक ऐसे युग में जा पहुँचा जो इतिहास से भी परे था अर्थात् पुराण युग में चला गया। उसे लगा कि आज के युग की समस्याओं की झांकी तो वहाँ भी मिलती है। उसने वहाँ से एक कथा उठा ली। यह कथा राजा हरिश्चन्द्र की थी जो सत्यवादी हरिश्चन्द्र के नाम से विख्यात है। इन्हीं हरिश्चन्द्र को लेकर भारतीय साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है। हिन्दी नाटक के पितामह भारतेन्दु ने भी एक नाटक की रचना की थी जो आज भी जीवन्त है।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र की कथा अति प्रसिद्ध है। जिस कथा को लेना आसान नहीं था, बल्कि अत्यन्त चुनौती पूर्ण था। जिस कथा को लेकर भारतेन्दु जैसे कुशल नाटककार नाटक की रचना कर चुके हैं, उस कथा को लेना खतरे से खाली नहीं था। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने उस चुनौती को स्वीकार किया और प्रसिद्ध कथा को काट-छाँट कर अपने अनुकूल बनाया। उन्होंने यह तय किया, क्या लेना है, कैसे लेना है और फिर रचना कर डाली।

हरिश्चन्द्र का चरित्र स्वयं मिथक बन चुका है और उनसे सम्बन्धित कथा मिथक कथा है। प्रश्न है, मिथक क्या है? मिथक से तात्पर्य ऐसे चरित्र या कथा से है जो सत्य है, सत्य नहीं है, जो कल्पित है, परन्तु हमें यथार्थ से लगता है जो हमारे अन्दर इस हद तक उतर चुका है कि ऐसा लगता ही नहीं कि यह नहीं था, भले ही वह कभी न रहा हो, परन्तु वह हमारा अभिन्न अंग बन चुका है। वह प्रबुद्ध व्यक्तियों में नहीं लोक चेतना पर छा चुका है। यह भी हो सकता है कि वह लोक चेतना से उतरता हुआ प्रबुद्ध लोगों तक पहुँचा हो। हरिश्चन्द्र व्यक्ति के रूप और सम्बन्धित कथा के रूप में मिथक ही है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में उसी मिथक कथा को उठाया और अपने नाटक की मूल कथा के साथ यथावश्यक सम्बन्ध कर दिया। उन्होंने पूरी कथा को नहीं लिया है। उसे ज्यों का त्यों नहीं चलाया है। कथा को दोहराना उनका काम नहीं था, बल्कि उसमें से चुर्नीदा अंशों को अपने ढंग से प्रस्तुत करना था जिससे अपनी मूल कथा के साथ उस पूर्व कथा को जोड़कर नया तालमेल बिठाया जा सके और कुछ निष्कर्ष निकाले जा सके। उन्होंने यही किया है और उन्हें सफलता मिली है।

एक बात यह भी है, नाटककार लाल ने यह 1974-75 में लिखा। इसका प्रथम मंचन सन् 1975 ई० में हुआ। इसके बाद इसका प्रथम प्रकाशन 1976 ई० में हुआ। इस समय सन् 1992 में से गुजर रहे हैं। इसकी रचना को लगभग अठारह वर्ष हो चुके हैं। इस बीच विभिन्न केन्द्रों से इसका मंचन अनेक बार हो चुका है। इसे नाट्य विशेषज्ञों ने अपनाया और दर्शकों ने भी खूब सराहा। आज भी यही स्थिति है। आज जब दर्शक इसे देखता है, पाठक इसे पढ़ता है तो उसके सामने जीवन्त दृश्य तैर जाते हैं। वह भाव विभोर होकर वाह-वाह करता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि यह नाटक उनका अपना नाटक है। इसके चरित्र अपने सामने प्रत्यक्ष है और इसकी कथा अभी-अभी घटित हो रही है अतः इसकी प्रासंगिकता स्वतः प्रमाणित है।

इसमें अनेक समस्याएँ उठाई गई हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक समस्याओं को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि इसके रचनाकाल का युग हमारे सामने पूरी तरह प्रत्यक्ष हो जाता है। वे समस्याएँ आज भी उसी रूप में बनी हुई हैं इतना ही नहीं, आज की स्थितियाँ और अधिक विकट हो गईं। इन समस्याओं से पूरा समाज ग्रस्त है और आज का व्यक्ति इनसे त्रस्त है।

व्यक्ति को ऐसा नहीं लगता कि इन समस्याओं से कहीं कोई त्राण मिल सकता है। वह इनसे इतना अधिक आतंकित हो गया है कि कहीं कोई छुटकारा नहीं है, कोई राहत की सांस नहीं है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक में इन समस्याओं को बहुत अच्छी तरह चित्रित किया गया है। इसके साथ ही यह भी है कि यह नाटक हमारी चित्तव तियों को मूर्तिमान करता है। एक अन्य बात यह भी है कि यह नाटक दर्शक पाठक को संघर्ष करने की शक्ति देता है, पूरी तरह तैयार करता है और राहत की सांस देता है। अब देखिए न, नाटक के भीतर नाटक अभिनीत करते समय और उसके बाद कोई पात्र धीरे-धीरे बदलते हुए पूर्णतः बदल गए। विशेष रूप से जीतन और गपोले ऐसे ही पात्र जो मूल रूप में कुछ और थे, परन्तु बाद में कुछ और हो गए। वे देवधर क

पक्षधरता को छोड़कर उसके तथाकथित दुश्मन लौका के पक्षधर हो गए। यह बदलाव सुधारवाद के माध्यम से नहीं होता है बल्कि इसमें स्थितियों की महती भूमिका है और इसका आधार मनोविज्ञान है। यही इस नाटक की प्रासंगिकता है और इसका महत्त्व आज भी है।

हम इस नाटक में देखते हैं कि राजनीति सबके हित में नहीं है, वह व्यक्ति केन्द्रित है। जिस व्यक्ति को जो पद मिल गया है, वह उसका उपयोग जनहित में नहीं करता, बल्कि अपने पद को सुरक्षित रखने के लिए करता है। वह दूसरे लोगों का उपयोग अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए करता है और यह काम अमानवीयता के स्तर तक पहुँच जाता है। दूसरे लोग कष्ट झेलते हैं तो झेलते रहें, अपने लिए सारे सुख वैभव सुरक्षित रहें। इसके लिए काम सीधी तरह से हो जाए तो ठीक है, नहीं तो कुछ भी किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर इसी कुटिल राजनीति का खेल खेलता है। उसे यह आशंका है कि लौका कल मेरी जगह हथिया लेगा, क्योंकि वह चरित्रवान है, सच बोलता है, सत्य को अपने जीवन में जीता है और लोगों पर उसका बेहद प्रभाव है। इसलिए वह साम, दाम, दण्ड, भेद के बल पर लौका को अपने रास्ते से हटाना चाहता है, उसे खत्म करना चाहता है। उस चक्कर में गाँव के गाँव जला दिए जाते हैं और अवर्णों पर अत्याचार होते हैं। इसी को कहते हैं कि गेहूँ के साथ घुन भी पिस जाता है। यह कथा आधुनिक राजनीति से उठाई गई है।

इसी प्रकार मिथक से ली गई कथा में भी समान स्थितियाँ हैं देवराज इन्द्र इस बात से आतंकित है कि सत्यवादी हरिश्चन्द्र का सत्य तप इतनी ऊँचाई पर पहुँच गया है जहाँ इन्द्रासन उनसे छिन सकता है। अतः वह मुनि विश्वामित्र की मदद लेते हैं जो हरिश्चन्द्र को सत्य की परीक्षा में ऐसा उलझाते हैं कि हरिश्चन्द्र को अपना राजपाट दान में देकर काशी में बिक जाना होता है, वह स्वयं और उनका परिवार दुखद स्थितियों से गुजरता है। कुछ भी होता रहें, इसकी परवाह न देवराज इन्द्र को है और न मुनि विश्वामित्र को है। अपनी-अपनी जगह सुरक्षित रहते हैं और हरिश्चन्द्र परिवार समेत कहीं के नहीं रहते हैं।

यह देवराज इन्द्र की कुटिल राजनीति थी जिसके बल पर उन्होंने अपनी चालें चली और बाजी उनके हाथ रही। उन्होंने मुनि विश्वामित्र का उपयोग अपने हितों के लिए किया। मुनि ने अपनी छल-छद्म की राजनीति का सहारा लिया। वह दूसरे के हाथ की कठपुतली बने, परन्तु गंदी राजनीति का सहारा लेकर सब कुछ उलट-पुलट कर दिया, तहस-नहस कर दिया।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि राजनीति कितनी छिछली है कि व्यक्ति की भावनाएं मर गई हैं। वह बहुत हिसाबी-किताबी हो गया है नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह गया है,

मानवीय सम्बन्ध खत्म हो गए हैं। मानवीय मूल्यों का हास हो गया है। राजनीति और मानवीय मूल्य दो विरोधी चीजें हैं और आम आदमी पिस रहा है।

‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ इसी बिन्दु को केन्द्र में लेकर चला है और यह हमारे लिए प्रासंगिक है। पूर्व विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस नाटक के रचनाकाल के समय और आज भी इस नाटक की प्रासंगिकता बनी हुई है।

पहले स्थापित किया जा चुका है कि कृति की प्रासंगिकता से तात्पर्य यह भी है कि वह कृति विशिष्ट है, महत्त्वपूर्ण है और समय के पार जाती है या नहीं। इस संदर्भ में यहाँ इस नाटक के ‘पूर्व रंग’ के लेखक श्री पाल जैकब को उद्धृत करना अत्यन्त आवश्यक है। वह लिखते हैं- ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ पूर्णतः मौलिक, अपनी मिट्टी से, अपनी नाट्य परम्परा और रंग संस्कारों से उपजा हुआ एक अप्रतिम नाटक, जो आधुनिक तो है ही, पर साथ ही कालजयी और विशिष्ट है।

अब देखिए न, जो नाटक कालजयी है, वह प्रासंगिक तो होगा ही, अर्थात् इसे दूसरे सिरे से देखे जो नाटक प्रासंगिक नहीं है यानी आज के लिए नहीं हैं तो वह समय के परे जाकर कालजयी कैसे हो सकता है ? स्पष्ट है, ऐसा नहीं हो सकता। अतः यह नाटक इस दृष्टि से भी पूर्णतः प्रासंगिक है। इसकी प्रासंगिकता संदिग्ध है।

15. ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ : नायकत्व

नाटक के नायक के महत्त्वपूर्ण पद पर किस पात्र को प्रतिष्ठित किया जाए, यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके लिए भारतीय आचार्यों ने अनेक प्रकार से अध्ययन, चिन्तन-मनन किया और फिर निष्कर्ष पर पहुँचे। आचार्य भरत मुनि की यह स्थापना है कि वह सभी पात्रों में से सबसे अधिक व्यसन और अभ्युध्य का भागी होता है। इसका तात्पर्य यही है कि वह विचारों, कार्यों और उपलब्धियों की दृष्टि से सबसे आगे हो।

नायक के प्रमुख चार भेद बताए गए हैं- धीर ललित, धीर प्रशांत, धीरोदात्त, धीरोद्धत। उल्लेखनीय है कि धीरता उसका ऐसा गुण है जिसे हर नायक में होना चाहिए। अन्य गुणों के अनुसार नायक का वर्ग निर्धारित हो जाता है जो क्रमशः इस प्रकार होंगे- राजा, ब्राह्मण, वाणिक आदि अमात्य सेनापति आदि, देव आदि। वैसे ये गुण व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार एक दूसरे वर्ग के नायक में संचरण कर जाते हैं और राजा भी धीरोदात्त हो सकता है।

सामान्यतः नाटको में धीरोदात्त नायक हुआ करता है चाहे वह किसी भी वर्ग से सम्बन्ध रखता हो। धीरोदात्त नायक में कुछ गुण अवश्य होने चाहिए जो सामान्यतः इस प्रकार हो सकते हैं- महाप्राण, अति गम्भीर, क्षमाशील, स्थिर, अभिमान के भाव गुप्त रखने वाला, द द्रवती कहते हैं कि उसे कृपावान भी होना चाहिए।

नायक के लिए यह शर्त है कि उसे उच्च कुल और उच्च पदस्थ होना चाहिए।

अब नायक के लिए निर्धारित सैद्धान्तिक आधार पर यहाँ यह देखा जाए कि डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ का नायक कौन है और उस पर ये लक्षण घटित होते हैं या नहीं या किस सीमा तक घटित होते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस नाटक का सर्वप्रमुख पात्र लौका है जो इसके अंतर्गत अभिनीत नाटक ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ में हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाता है। अवश्य ही वह विचारों, कार्यों और उपलब्धियों की दृष्टि से इस नाटक के अन्य पात्रों से आगे है। यह पात्र सबसे अधिक प्रभावशाली

भी है। अन्य सभी पात्र किसी न किसी रूप में उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हैं। अन्य पात्रों में सबसे प्रभावशाली पात्र है- देवधर जो 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में इन्द्र की भूमिका निभाता है देवधर अपने स्वभाव आदि के कारण नायक के पद पर आसीन नहीं किया जा सकता। उसे प्रतिनायक ही कहा जा सकता है, अतः नाटक का नायक लौका ही है।

जहाँ तक नायक के भेद प्रश्न का है तो हम कहेंगे लौका धीरोदात्त नायक है। धीरता का उसमें विशेष गुण है। वह सब कुछ देखता है, सुनता है, सहन करता है, किन्तु सहसा आक्रोश में नहीं आता। वह धीर और गम्भीर ही बना रहता है, वीर इस अर्थ में है कि महत् आदर्शों के लिए संघर्ष करता है, लड़ाई लड़ता है, हिम्मत ही नहीं हारता। कुछ थक कर, कुछ रुक कर फिर खड़ा हो जाता है। वह अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर रहता है। लड़ाई में कूदता है और अन्ततः जीत जाता है।

धीरोदात्त नायक में जो गुण होते हैं, वे सभी उसमें विद्यमान हैं। प्रतिरोधी शक्तियों और विपरीत स्थितियों से लौका जैसा महाप्राण ही जूझ सकता है, निबट सकता है, यह किसी सामान्य व्यक्ति का काम नहीं। वह किसी व्यक्ति या स्थिति से नहीं घबराता। वह हर हाल में अत्यन्त गम्भीर बना रहता है।

अब यहाँ लौका के चरित्र को प्रस्तुत करने के लिए अन्य पात्रों के विचार दिये जा रहे हैं। जिससे लौका का सही रूप उद्घटित होता है जहाँ वह काफी ऊँचाई पर है।

देवधर : कहाँ फंस गए इस नाटक में ? इससे तो अच्छा था, लौका सत्यनारायण की कथा कहता, यहाँ ब्राह्मणों और शूद्रों में मारपीट होती, लौका अब जेल में होता। गाँवों में आग लगकर बुझ गई।

जीतन : लौका ने कहा- हिंसा का जवाब हिंसा से मत दो भाईयों। सब उसकी बात मानकर चुप रह गए।

इससे पता चलता है कि देवधर लौका के विरुद्ध जाल बुन रहा है। वह कुछ कर नहीं पा रहा। वह हर स्थिति में गम्भीर बना रहता है और अहिंसा में विश्वास रखता है, हिंसा का जवाब हिंसा ही नहीं देना चाहता। लोग उसकी बात मानते हैं और वह हिंसा के विष को आगे नहीं बढ़ने देना चाहता। यह उसकी क्षमाशीलता ही नहीं है, बल्कि इससे उसके स्थिर चित्र का आभास भी मिलता है। वह अपने विचारों पर दृढ़ रहता है और कभी किसी भय और प्रलोभन के सामने आत्म-समर्पण नहीं करता, वह अभिमानी नहीं है और अपनी बात पर दृढ़ रहने वाला है।

जैसा कि हम इस नाटक में देखते हैं, लौका में अनेक गुण हैं, उसकी अनेक विशेषताएँ हैं फिर भी वह न राजा है, न कोई देवता है। वह किसी उच्च कुल का व्यक्ति भी नहीं है। वह एक साधारण व्यक्ति है जो अवर्ण कुल में पैदा हुआ है और अवर्णों को आज भी सवर्णों के समान दरजा नहीं दिया जाता। फिर लौका इस नाटक का नायक कैसे हो सकता है ? आइए इसका उत्तर खोजें।

प्रथम तो यह कि साहित्य शास्त्र के नियम बहुत पुराने हैं। तब सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी थी। सामाजिक मान्यताएँ भी ऐसी थीं। आज समाज व्यवस्था में बदलाव आ गया है और मान्यताएँ भी बदल गई हैं। अनेक महापुरुषों द्वारा संचालित समाज सुधार के आन्दोलन के फलस्वरूप अब यह माना जाता है कि कौन व्यक्ति कितना ऊँचा या नीचा है, उसके जाति, कुल वर्ण में जन्म लेने के आधार पर नहीं, बल्कि उसके विचारों, कार्यों और परिणाम पर आधारित है। ऊँची जाति में जन्म लेने, ऊँचे पद पर आसीन होने के कारण नहीं, उसके विचारों के कारण या कार्यों के

द्वारा घटिया या अच्छा होता है जैसे 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में देवधर। दूसरी ओर नीची जाति में जन्म लेने, किसी पद प्राप्ति की दौड़ से बाहर रहकर भी लौका एक आदर्श पुरुष हैं इसका आधार है- उसके ऊँचे विचार और समाज हित में किये जाने वाले कार्य। अतः पुराने शास्त्रीय नियमों की जकड़ में पूरी तरह बंधा नहीं जा सकता।

दूसरी बात यह है कि नाटककार डॉ० लाल ने इस नाटक की रचना करते समय एक ओर तो प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र को अपनाया, दूसरी ओर आधुनिक दृष्टि से संयुक्त किया। इस प्रकार उन्होंने पुराने और नए का संयोजन किया है। इस प्रकार नाटक की रचना करते समय उनके सामने यह स्पष्ट था कि वह लौका को नायक का पद दे रहे हैं और उसकी यह दृष्टि पूरे नाटक में बनी रही। इस कार्य में उन्हें सफलता भी मिलती है।

इसलिए नाटककार ने अपनी कल्पना और योजना के अनुसार लौका के चरित्र को नायिकोचित गुणों या विशेषताओं से संयुक्त कर दिया। उसमें ऐसे अनेक गुण हैं जो इस नाटक के किसी भी अन्य पात्र में नहीं हैं। उनमें ऐसा कोई दुगुण नहीं है जो उसे मनुष्य के दरजे से गिरा दें या जो नायकत्व की मान्य प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। वह सचमुच ऐसा व्यक्तित्व है जिसमें नायकत्व की गरिमा का संरक्षण हुआ है।

नेता का शब्दार्थ है जो कथा आगे ले जाने वाला हो। भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के तीन तत्त्व माने जाते हैं- वस्तु, नेता, रस। इनमें से एक है नेता जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

कोई जमाना था जब केवल नेता यानी नायक को मुख्य आधार बनाकर नाटक की रचना होती थी। आज ऐसा नहीं है। कई बार स्थितियाँ ही ऐसी होती हैं और कोई व्यक्ति नायक नहीं होता।

नेता नाटक की कथा को तो आगे ले ही जाता है, वह समाज को भी आगे ले जाता है। इसका अभिप्रायः यह है कि समाज को नेतृत्व प्रदान करें, कुरीतियों और पतन के गर्त में फंसे हुए समाज को उनसे बाहर निकाल कर उन्नति एवं विकास के मार्ग पर ले जाएं, वह नेता या नायक होता है। नायक, नाटक में ही छाया नहीं रहता वह समाज में भी सम्मानित होता है।

इन आधारों पर 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि वह नाटक को आगे ले ही जाता है, समाज को भी नेतृत्व प्रदान करता है। फिर उसे नाटक का नायक मान लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। यह प्रमुख पात्र नाटक पर छाया रहता है, अपने गतिशील व्यक्तित्व से सभी पात्रों को प्रभावित करता है और समाज को सुखद भविष्य की ओर ले जाता है।

एक बात और भी है, इस नाटक के भीतर भी एक और नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' चलता है जिसे इस नाटक के पात्र ही खेलते हैं। इसमें लौका राजा हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाता है। इसमें नायक हरिश्चन्द्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि अप्रत्यक्ष रूप से लौका ही इस नाटक का नायक है। फिर लौका को 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' का नायक क्यों नहीं माना जा सकता ?

अभिनीत नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाने वाले लौका पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है। देवधर ने कहा- "शूद्र लौका हरिश्चन्द्र का पार्ट कैसे कर सकता है। यह गौर करने की बात है। राजा-महाराजा, देवता, पंच स्वरूपों का अभिनय करने वालों का चयन केवल ब्राह्मण जाति में से ही होता है।"

बस, प्रश्न उठकर ही रह गया। इस पर विवाद नहीं छिड़ा और देवधर का मुद्दा हवा में ही लटक कर रह गया। लौका ही हरिश्चन्द्र की भूमिका करता रहा। देवधर ने इससे और न बाद में इस

प्रश्न पर चुनौती नहीं दी। कहा जा सकता है कि उसने लौका को हरिश्चन्द्र की भूमिका को अपनी अनुमति दे दी। अन्य शेष पात्र भी लौका से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने इस मुद्दे को कभी नहीं उठाया।

लौका के नायकत्व के सन्दर्भ में यहाँ नाटक के विशेष प्रसंगों को आधार बनाकर अपनी बात की पुष्टि की जाएगी।

पहला प्रसंग नाटक के आरम्भ में 'प्रस्तावना' का है। इसमें देवधर के इशारे पर सत्यनारायण की कथा का आयोजन किया जाता है। पुरोहित कथा वाचन का कार्य करता रहा और देवधर ने अपना राजनीति का प्रचार शुरू कर दिया। वह अपने प्रतिद्वन्दी को नीचा दिखाने में व्यस्त रहा। लौका कभी अपने विचार व्यक्त करता कभी चुप हो जाता। इसका सूत्र भी देवधर के हाथ में था।

जब कथा समाप्त हो गई तो सूत्र लौका ने सहसा अपने हाथ में ले लिया और विजय श्री भी उसे मिली देवधर बौखलाता रह गया। उसके हाथ में और कुछ नहीं था। उसने एक जबरदस्त चाल चली थी जो उसके विरुद्ध गई। लौका और अधिक शक्तिशाली रूप में उभर आया।

कथा के अन्त में लौका ने एक टिप्पणी दी- "पंचों आपने बड़े ध्यान से, भक्ति से सत्यनारायण की कथा सुनी। यही कथा हमारे बाप-दादा, बाबा, परबाबा सुनते चले आ रहे हैं। इसमें कही हुई सारी कथाएं हमें यह बताती है कि जो सत्यनारायण की कथा नहीं सुनता वह तमाम नाना प्रकार की विपत्तियों, दुखों को प्राप्त होता है। पंचों, लेकिन यह कोई नहीं सुनाता कि वह सत्यनारायण की कथा क्या है।"

लौका ने विरोध नहीं किया, परन्तु धर्म का ऐसा अकाट्य तर्क प्रस्तुत किया जिससे देवधर की सारी योजना चौपट हो गई। इसके बाद उसने एक प्रस्ताव रखा- "तो पंचों मैं हाथ जोड़कर आप से प्रार्थना करता हूँ कि इसी इतवार को संध्या के समय मेरे घर पधारिए। हम सब सत्यनारायण की कथा सुनेंगे।"

देखिए न, कितनी विनम्रता और विनयशीलता है इस चरित्र में। यह नहीं कहा कि मैं सत्यनारायण की कथा सुनाऊंगा। बस यही कहा हम सब सुनेंगे। इससे उसका व्यक्तित्व और भी ऊँचा हो गया है।

इस नाटक में दूसरा प्रमुख प्रसंग वह है जो पूरे नाटक में फैला हुआ है। इससे लौका का नायकत्व का मामला स्पष्ट हो जाता है। वह प्रसंग इस प्रकार है कि वह हरिश्चन्द्र की जीवन पर एक नाटक खेलने की तैयारी करता है और फिर उस नाटक में उसकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है। कोई भी पात्र चाहे वह इन्द्र या विश्वामित्र ही क्यों न हो, लौका के समकक्ष नहीं बन पाया है।

उसका एक मात्र प्रतिद्वन्दी देवधर है जो अपने कारनामों और लौका के विशिष्ट गुणों के आगे स्वयं ही परास्त हो जाता है। जीतन और गपोले तो देवधर की ओर थे किन्तु बाद में वे भी लौका के समर्थक हो गए। पदमा तो देवधर की निजी सचिव है, परन्तु वह नाटक में कहीं भी लौका के विरुद्ध नहीं है। वह शैव्या की भूमिका में उतरने के बाद देवधर की विरोधी और लौका की पक्षधर हो जाती है। इस प्रकार लौका के नेतृत्व में सभी पात्र व्यस्त रहते हैं और नाटक की सारी कथा उसी के सहारे चलती है। अतः लौका ही नाटक का नायक है।

16. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के नायक लौका का चरित्र-चित्रण

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' का सबसे प्रमुख और विशिष्ट पात्र

है-लौका। वह इस नाटक का नायक भी है। वह हमारे सामने दो रूपों में आता है- अपने मूल रूप में और सत्यवादी हरिश्चन्द्र के रूप में। वह वर्तमान युग का हाड़माँस का जीवन्त व्यक्ति है, पर इस नाटक के भीतर अभिनीत नाटक में वह हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतरता है।

अवश्य ही उसके दो रूप हैं, परन्तु उसके दो चेहरे नहीं हैं। वह चेहरे के ऊपर चेहरा नहीं चढ़ाता, बल्कि वह उसी रूप में हमारे सामने आता है जो वह है। वह जैसा ही व्यवहार करता है। जैसा वह है वह अकेला नहीं है यानी लौका है जब वह हरिश्चन्द्र होता है वह लौका होते हुए भी हरिश्चन्द्र होता है और हरिश्चन्द्र होते हुए भी लौका होता है।

लौका के दो रूप हैं और दोनों में एकरूपता है। एकरूपता उस हद तक है दोनों में अन्तर नहीं है, अन्तराल भी नहीं है। दोनों दो हैं और दोनों एक हैं एक प्राचीन युग का है और दूसरा आधुनिक युग का है। कह सकते हैं कि दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति का प्रतिरूप है या उसका अवतार है या उसके अन्दर पहले की आत्मा प्रविष्ट हो गई है। सो दोनों भिन्न हैं और दोनों अभिन्न हैं। यह भिन्नता में अभिन्नता है और अभिन्नता में भिन्नता है। अजीब बात है, दोनों दो हैं और दो नहीं हैं। यह पता नहीं चलता कि ऐसा कैसे हो गया, परन्तु यह सच है कि यह सच हो गया।

1. लोकप्रियता : लौका इस नाटक के पहले ही पष्ठ से लेकर अन्तिम पष्ठ तक छाया हुआ है। शुरु में मंच पर वह केवल दर्शक है, कर्ता नहीं जबकि उससे पहले देवधर अपने कार्य कलाप में सक्रिय हो चुका है-“देवधर कुछ रूपये पुरोहित को देकर आगे निकल जाता है। हरिजन कुएँ पर खड़ा लौका यह सारा दृश्य चुपचाप देखता है।” यहाँ नाटक के दोनों प्रमुख पात्रों को नाटककार ने एक दूसरे के साथ ही नहीं आमने-सामने खड़ा कर दिया है। देवधर अपने जोड़-तोड़ में व्यस्त है, परन्तु लौका अभी स्थितियों को पहचान रहा है। वह बाद में सक्रिय होता है। वह सक्रिय ही नहीं होता, सबके आगे निकल जाता है, सब पर छा जाता है। वह एक प्रकार से जन आन्दोलन का सर्वप्रिय-लोकप्रिय नेता बन जाता है।

2. आदर्शवादी : लौका लगातार संघर्ष कर जनता का हित साधता है। नाटक के अन्त का दृश्य दर्शनीय है- “लौका-पंचों, यही है सत्यनारायण की कथा। अब आरती होगी।” इसके साथ ही लौका के मुख्य स्वर के साथ आरती होती है। जिसमें जन सद्भावना मिलती है। स्पष्ट है कि यह पात्र के व्यक्तित्व का विकास क्योंकि वह दर्शक मात्र से जनता का सर्वमान्य नेता बन गया।

लौका इस नाटक का आदर्श पात्र है जो किसी के विरुद्ध नहीं है। न वह किसी के विरुद्ध सोचता है और न कोई कार्य करता है। वह सबके हितों की बात करता है और सबके हित में काम करता है। वह आम जनता में से एक है और आम जनता का पक्षधर है। वह आम जनता के अधिकारों के लिए प्रयत्नशील है और अंततः जन जागृति का मंत्र फूंक देता है जिसमें सफल होता है। वह साफ आदमी है, बात को सही रूप में समझने की कोशिश करता है और सबको उसकी वास्तविकता बता देता है।

लौका वर्तमान में जीता है। जहाँ अनेक समस्याएँ हैं और एक वर्ग दूसरे वर्ग को दबाता है, तुच्छ समझता है और हितों को सुरक्षित रखने की प्रयत्नशीलता में दूसरे के हितों पर कुठाराघात करता है लौका जानता है, यह अन्याय है और अन्याय को सहन करना अनुचित है। वह उसका विरोध करता है, परन्तु कभी स्वयं चुप लगा जाता है तो कभी अपने साथियों को भी चुप लगाने के लिये कहता है। उसकी मान्यता है कि हिंसा का जवाब हिंसा नहीं है। अन्त में उसके निरन्तर प्रयत्नों से वह जनता को जागृत करने में सफल हो जाता है और रक्त हीन क्रांति कर देता है। जब सारी जनता उस के साथ है और वह जनता के साथ है तो फिर अन्याय कैसे हो सकता है।

3. कर्मठता : वह वर्तमान में जीकर भविष्य के लिए सपने देखता है। उसका सपना है समाज में ऐसी व्यवस्था करना जिसे पूरे देश में जाति और धर्म के भेदभाव नहीं होंगे। उनमें सर्वोपरि होगा- मनुष्य धर्म। उसकी मान्यता है कि हमें तभी सच्चा स्वराज्य प्राप्त हो सकता है, जब समता मूल समाज की स्थापना होगी।

वह कर्मठ है, विचारक है, विचारों को कर्म में बदलने वाला व्यक्ति है। इतना ही नहीं वह देवधर के जातिवाद और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाता है। उल्लेखनीय है कि देवधर भूतपूर्व जमींदार और राजनेता है जिसका दबदबा है, परन्तु वह जनमत को अपने पक्ष में जाग्रत कर लेता है। देवधर जैसे व्यक्ति को मात देना आसान काम नहीं है, परन्तु ऐसे कठिन काम करने में वह पूरी तरह जुट जाता है। जीतन और गपोले शुरू-शुरू में देवधर के पक्षधर हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे लौका के पक्षधर बन जाते हैं। यह लौका के आदर्शों की शानदार जीत है।

देवधर को यह डर है कि लौका उसकी जगह लेना चाहता है यानी उसे अपदस्थ करके स्वयं राजनेता बनना चाहता है। इससे देवधर परेशान है। उसकी परेशानी यह है कि अब लोगों के अनुसार सोचना शुरू कर दिया है। अगर यह चलता रहा तो उच्च वर्ग के लोग कहीं के नहीं रहेंगे। लोगों पर लौका का प्रभाव है वे उसकी हर बात मानते हैं। देवधर यह भी स्वीकार करता है कि लौका चरित्रवान है और सबका विश्वासपात्र है देवधर उसके इस गुण से भी अभिभूत है कि वह सच बोलता है और उसकी सच्चाई की धाक पूरे इलाके में है।

4. प्रभावी व्यक्तित्व : देवधर उसके बारे में यह भी कहता है कि लौका के अनुसार हर सत्य नया होता है। वह जिया जाता है जो जिया न जा सके, उसे सत्य नहीं मानता।

इससे यह स्पष्ट होता है कि नाटककार ने लौका के ऐसे चरित्र की परिकल्पना की है। जिससे उसके विरोधी भी आंतकित हैं और प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से उसके गुणों का बखान कर देते हैं इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह भी क्या व्यक्ति है जिसका गुणगान उसका कट्टर विरोधी भी करता है। सच्चाई यह है कि आखिर वास्तविकता की उपेक्षा कब तक की जा सकती है या कैसे की जा सकती है।

आगे चलकर जीतन और गपोले नए अनुभव से गुजरते हैं तो उनकी मानसिकता में बदलाव आ जाता है। फिर तो यह सिलसिला चलता है कि देवधर जो कुछ कहता है, उसी को वे दोनों उलट देते हैं। तब एक स्थल पर देवधर आक्रोश में भरकर उनमें कहता है-“बदमाश! विश्वासघाती! मुझे यह पता नहीं था कि तुम लोग मेरी ही आरस्तीन के साँप बन जाओगे। पर मुझे तुम जैसे लोगों की चिंता है केवल उस लौका की, जिसके पास न धन है न कोई साधन है, लोग उसके प्रभाव में क्यों हैं ?

इससे लौका की वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है कि वह कितनी ऊँचाइयों पर है। लौका एक ऐसा व्यक्ति है। जिसका कोई मित्र या शत्रु नहीं है अर्थात् वह गुट नहीं बनाता और सबके हित में काम करता है। इसमें कोई पक्षपात नहीं करता। वह सबका सहयोग लेता है, सबको सहयोग देता है। इस रूप में लोग उसके मित्र हो सकते हैं उसका शत्रु तो कोई नहीं। हाँ, देवधर उसे अपना शत्रु अवश्य मानता है और उसे नीचा दिखाने के लिए किसी अवसर की तलाश में रहता है। फिर भी, लौका में बदले की भावना नहीं है। हाँ, वह जनमत को जाग्रत अवश्य करता है जिससे सारा माहौल देवधर के विरुद्ध हो जाता है।

किसी पात्र के चरित्र को जानने के कई तरीके हैं वह क्या कहता है, और उसके बारे में दूसरे लोग क्या कहते हैं ? इसमें सबसे पहली बात तो इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि उसकी कथनी

और करनी में अन्तर है या नहीं। इसके साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि उसकी कथनी और करनी का सम्बन्ध उसके विचारों के साथ है या नहीं और अगर सम्बन्ध है तो वह कैसा है, कितना है। इन आधारों पर पात्र का चरित्र उभरता है और उसकी सही तस्वीर हमारे सामने आ जाती है।

5. कथनी करनी में समानता : इस सन्दर्भ में 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में लौका के चरित्र को देखें तो हमारे सामने कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। लौका की कथनी और करनी के बीच कहीं कोई अन्तर नहीं है। नाटककार लाल ने सर्वत्र यही दिखाया है कि वह जो सोचता है, वही कहता है, वही करता है जैसे हम उसके इस विचार को लें- धर्म और जाति के भेदभाव के बिना समतामूलक समाज की स्थापना।

इस विचार को लौका अपने व्यक्ति रूप में प्रस्तुत करता है और हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाते समय भी उसके यही विचार हैं। वास्तव में, वह इन दोनों रूपों में समान धर्मा है। हरिश्चन्द्र के रूप में विश्वामित्र के समक्ष उसके विचार इन शब्दों में व्यक्त हुए हैं। "यह डोम यह पतुरिया, ये लोग कहाँ के हैं ? कैसे आए? मेरी तरफ एक क्षण इनके जीवन में भी आया होगा, जहाँ इन्हें बिक जाना पड़ा होगा। जब तक खरीदने वाला रहेगा, कभी न कभी सबको बिकना पड़ेगा, उसे भी जो खरीद रहा है। मैं ही डोम हूँ, मैं ही हरिश्चन्द्र हूँ, मैं ही शैव्या हूँ, मैं ही पतुरिया हूँ, पर मैं किसी की रक्षा नहीं कर सकता। शैव्या स्वयं रक्षा करे अपनी! पतुरिया स्वयं रक्षक है अपनी। स्वयं अपनी रक्षा करे हरिश्चन्द्र।"

यहाँ नाटककार ने दार्शनिक विचार बिन्दुओं को उभार कर सामने रख दिया है, जिन्हें हरिश्चन्द्र (लौका) के माध्यम से कहलाया है। इन विचारों के अनुसार राजा और रंक, डोम और सवर्ण, पतुरिया और सामान्य नारी के बीच कोई भेदभाव नहीं है, सब समान हैं। सभी परिस्थिति की उपज हैं। सब के मार्ग में बाधक बनती है- सामाजिक व्यवस्था। समाज व्यवस्था जाति, वर्ग और वर्ण के आधार पर विभाजित होकर संचालित है। इसके कारण कुछ भी घटित हो सकता है, ये ही हैं- हरिश्चन्द्र के माध्यम से लौका के विचारों की अभिव्यक्ति जिससे उनके समतामूलक समाज का विचार दृढ़ता पाता है।

नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक उसने अपने निर्धारित विचार के अनुसार ही काम किए हैं। देवधर धन देकर लोगों को खरीदता और अपना पक्षधर बनाता है, लौका ऐसा कोई काम नहीं करता। वह किसी भी कीमत पर बिकने के लिए भी तैयार नहीं है। जातिय दंगे कराकर देवधर समाज को विभाजित करना चाहता है, परन्तु लौका ऐसा कुछ नहीं करता। वह देवधर द्वारा गाँवों में लगाई आग को बुझा देता है और पीड़ितों को किसी प्रकार शान्त करता है। वह बदले की भावना को अच्छा नहीं मानता और उसके अनुसार हिंसा-हिंसा का जवाब नहीं है। अतः प्रमाणित हो जाता है कि वह कथनी, करनी और सोच में एक समान रहता है।

6. अटल सत्यपालक : वह सत्य को जीवन का मुख्य आधार मानकर चलता है उसने सत्य को अपने जीवन में, जीवन व्यवहार में अपनाया है, उतारा है। वह सच्चे अर्थों में सत्यपालक है न वह झूठ को ठीक मानता है, न उसने झूठ को पसन्द किया। वह सत्य के मार्ग पर चलकर ही कुछ पाना चाहता है और सत्य के मार्ग पर चलकर वह कुछ भी खो दे, इसकी चिन्ता बिल्कुल नहीं करता। उसने सत्यपथ पर चलने की कीमत चुकाई है फिर भी उसने सत्य को नहीं छोड़ा। उसने सत्य की परीक्षा हरिश्चन्द्र बन कर दी और उसमें वह खरा उतरा।

नाटककार ने दिखाया है कि वह कितना विश्वासी प्राणी है वह अपने विश्वास के सहारे निरन्तर अपने सत्य के पथ पर चलता रहा। उसे सत्य पथ से डिगाने के प्रयास किए गए, परन्तु वह

अडिग रहा। वह लौका के रूप में और हरिश्चन्द्र के रूप में अपने निर्धारित लक्ष्य से हिला नहीं। उसे भय दिखाया गया, प्रलोभन दिए गए। उसे कष्ट पहुँचाए गए। उसके समर्थकों में फूट डालने की कोशिश की गई फिर भी कुछ न हुआ। लौका ऐसी चट्टान है जिसे अपनी जगह से हिलाया नहीं जा सकता।

7. **सहजता** : लौका धन, शक्ति, मद, स्त्री आदि आकर्षणों से दूर है वह आज की दुनिया में किसी प्राचीन युग का महामानव है जो झुकता नहीं, उसका प्रतिद्वन्द्वी देवधर उससे मात खा जाता है। लौका उससे यह कहने की स्थिति में आ गया है- ‘‘हरिश्चन्द्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और तुम (इन्द्र - देवधर) परीक्षा लेते रहो। मैंने इस नाटक में राजा बनकर देख लिया, जब तक तुम हो, हम केवल बनाए ही जा सकते हैं, अपने आप कुछ नहीं हो सकते, पर अब बनने और होने का मर्म हमें मिल गया। चुप रह जाना हमारा विरोध था, पर तुम उस भाषा को नहीं समझ सके। सत्ता है तुम्हारे पास। हम सब तुम्हारे हाथों के कठपुतले थे। यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था और तुम्हीं उसके सूत्रधार थे चलो, अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की।’’

लौका आदर्श पात्र, परन्तु व्यवहारिक जीवन से उठा है। उसमें अनेक उदात्त गुण हैं। परन्तु वह यथार्थ जीवन से उभरा है। इस प्रकार नाटक को, समाज को गति देने वाला आदर्श पात्र है।

17. ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ के पात्र देवधर का चरित्र-चित्रण

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ में एक महत्त्वपूर्ण पात्र है- देवधर! वह इस नाटक में प्रथम पष्ठ से अन्तिम पष्ठ तक विद्यमान है। उसकी स्थितियाँ, उपस्थिति सामान्य ढंग से न होकर विशिष्ट ढंग से होती है। वह एक ऐसा पात्र है जिसके बिना हम इस नाटक की कल्पना नहीं कर सकते। प्रश्न यह नहीं कि वह अच्छा है या बुरा है, किन्तु वह सर्वत्र है और वह स्वयं को चर्चा के मध्य बनाए रखता है।

देवधर भूतपूर्व जमींदार है जो अपने दबदबे के कारण राजनीति में आ गया और छा गया। अतः राजनेता बन गया। वह सत्ता की राजनीति में विश्वास रखता है। वह जानता है कि राजनीति में कौन सफल हो सकता है। राजनीति में आकर कैसे सत्ता हथियाई जाती है, कैसे और बड़ा पद पाया जाता है, यह भी जानता है कि अपने पद को किस प्रकार सुरक्षित रखा जाए।

यथार्थवादी : वह यथार्थवादी है, आदर्शवादी नहीं। वह व्यवहारिक व्यक्ति है। वह ठोस परिणामों में विश्वास रखता है। वह सपने नहीं देखता, बल्कि वह दूसरों को ऊँचाई की बात नहीं करता बल्कि ठोस परिणामों में विश्वास रख जमीन पर ही रहता है। वह सिद्धान्तवादी नहीं है किन्तु इस सिद्धान्त में विश्वास रखता है कि प्रेम और युद्ध में कहीं कुछ भी गलत नहीं है। वह राजनीति को प्रेम मानता है। उसके अनुसार, राजनीति में नैतिकता-अनैतिकता का कोई प्रश्न नहीं है, कोई औचित्य-अनौचित्य नहीं है।

नाटककार ने लौका और देवधर के चरित्र को समान धर्मा अनुपूरक नहीं बनाया, बल्कि दोनों को अलग-अलग ढंग से छोड़ दिया है। ये दोनों एक दूसरे की क्षतिपूर्ति ही नहीं करते, विरोधी भी हैं। इन दोनों के जो संसार हैं वे दोनों ही अलग-अलग मिट्टी के बने हैं। वे नाटक में आरम्भ से अन्त तक किसी भी बिन्दु पर नहीं मिलते और न ही सम्भावनाएं हैं। ये दो ध्रुव हैं- एक उत्तरी तो दूसरा दक्षिणी है।

सामान्यतः नाटक में इस प्रकार के पात्र नहीं होते जो दो सिरों पर होते हैं। वे अच्छे या बुरे भी नहीं होते हैं। फिर भी, डॉ० लाल ने इस प्रकार के पात्रों की चरित्र सृष्टि इस नाटक में की

है कि वे किसी भी रूप में एक दूसरे से मेल नहीं खाते, वैसे देवधर के चरित्र की एक विशेषता यह है कि वह गतिशील और बराबर सक्रिय है। यह भी सत्य है कि वह जैसा भी है, पूरे नाटक पर छाया रहता है और अपने दबंगपने में जीता हुआ सभी पात्रों पर हावी रहता है। दूसरे लोग उसे पसन्द करते हैं या नहीं उसकी उसे चिन्ता नहीं है।

असामान्य व्यक्तित्व : 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की प्रस्तावना में नाटककार ने रंग संकेत देते हुए लिखा है- "इसी समय गाँव का भूतपूर्व जमींदार और आज का राजनेता देवधर दाईं और से आता है। चारों ओर देखकर फिर आगे बढ़ता है। उसके हावभाव से लगता है, वह बहुत परेशान और क्षुब्ध है। पुरोहित की ओर देख उसकी ओर आगे बढ़ता है। पुरोहित झुककर प्रणाम करता है। दोनों में कुछ रहस्यमय बातें होती हैं। देवधर कुछ रुपये देकर आगे निकल जाता है। हरिजन कुँ पर खड़ा लौका यह सारा दृश्य देख रहा है।

इससे देवधर के बारे में कुछ सूचनाएँ मिल जाती हैं, जिनके बारे में बहुत कुछ उजागर हो जाता है। उसके विगत और वर्तमान का प्रभाव उसके जीवन और व्यक्तित्व पर क्या पड़ा और वह क्या बन गया ?

वह सामान्य स्थिति में न होकर असामान्य स्थिति में रहता है। उस पर बदलती हुई परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। शायद उसे कोई राजनीतिक संकट दिखाई दे रहा है। वह धन की शक्ति का उपयोग अपनी राजनीतिक शक्ति के लिए अवश्य करता है, इसे वह कहीं अनुचित नहीं मानता। धन के बल पर वह किसी को भी खरीद सकता है और इसी से राजनीतिक सुरक्षा बनी रहती है।

असुरक्षा की भावना : कुल मिलाकर इससे एक ऐसे व्यक्ति की तस्वीर उभरती है जो राजनीति का खिलाड़ी है। वह असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहता है। इसीलिए तरह-तरह के हथकंडे अपने आप को जमाने के लिए अपनाता है।

उधर देवधर के संकेत पर पुरोहित ने सत्यनारायण की कथा का शुभारंभ कर दिया और इधर नाटक का पहला संवाद देवधर बोलता है जो इस प्रकार है- हाँ तो किसने कहा, अब हमें देवधर बाबू की जरूरत नहीं है, देवधर बाबू को किसने बनाया ?

देवधर के इस संवाद ने यह स्पष्ट कर दिया कि देवधर परेशान और क्षुब्ध क्यों है उसे अपनी कुर्सी हिलती नजर आ गई। अवश्य ही लौका ने ऐसा कहा होगा- अब हमें देवधर बाबू की जरूरत नहीं है। हो सकता है, लौका के किसी समर्थक ने ऐसा कहा हो, इसलिए देवधर ने सत्यनारायण की कथा का आयोजन कराया जिससे लोग वहाँ आए तो उसके सामने स्थिति स्पष्ट की जा सके, आत्मप्रचार किया जा सके। यह भी स्पष्ट है कि इस अवसरवादी राजनेता ने धर्म को राजनीति के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया।

जब देवधर ने यह प्रश्न उछाला- देवधर बाबू को किसने बनाया, तब उसका आशय यह रहा था कि अपने आप को जनता का प्रतिनिधि और अततः जनसेवक दिखा सके। इस स्थिति में जीतन, गपोले आदि देवधर के पक्षधर थे जिनके सहारे देवधर लौका को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न कर रहा था। इस काम के लिए उसने साम, दाम, दंड, भेद का भरपूर उपयोग किया, परन्तु कोई फायदा नहीं हुआ। कथा के अन्त में लौका ने अपने तर्कों के बल पर सत्यनारायण की कथा पर प्रश्न चिन्ह लगा दिए और रविवार को अपने घर पर सभी को आमंत्रित किया जहाँ सत्यनारायण की कथा सुनेंगे।

इससे देवधर को लगा कि बाजी तो देवधर के हाथ लगी। सो उसने बौखलाहट उतारी लौका

पर, सारे अवर्णों पर। इतना ही नहीं, उसने अपने लोगों से कहा- “इन, इन गाँवों के ब्राह्मणों को भड़का दो चमार शूद्रों के खिलाफ, आग लगाने के लिए इतना काफी है।”

विवेकहीनता : सो उसके इशारे पर कुछ गाँवों में आग लगा दी। गाँव वाले आग बुझाने के लिए सवर्णों के कुओं से पानी निकालने लगे। सवर्णों ने उनकी पिटाई की। किसी तरह आग बुझ गई। अतः देवधर की यह आदत है कि वह न चैन से बैठता है न बैठने देता है। वह कुछ न कुछ ऐसा अवश्य करता जिस पर दूसरों का ध्यान आकृष्ट हो और लोग उस ओर देखने के लिए विवश हो जाए। उसके दिमाग में जो आता है वह वहीं करता है। उसके पक्ष विपक्ष में सारे काम ऐसे होते हैं जिनके पीछे कोई विशेष तार्किक आधार नहीं होता, सही गलत का विवेक नहीं होता। बस, देवधर ऐसे लोगों में से हैं जो कुछ भी इधर से उधर कर देगा।

क्या इससे ऐसा नहीं लगता कि देवधर का चरित्र विशेष रूप से गढ़ा गया है जिसमें सिर्फ बुराईयाँ हैं। उसमें कोई अच्छाई है ही नहीं। ऐसा लगता है पत्थर है, मनुष्य नहीं है। वह भाव शून्य है। उसमें कहीं कोई कोमल भाव नहीं उठता। वह गाँव में आग लगवा देता है और बुझाने नहीं देता। वह आक्रोश हिंसा की भावनाओं से भरा हुआ है। लौका उसके लिए प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, उसका शत्रु और उसके विरुद्ध काम करने में उसे भरपूर आनन्द आता है, क्या इससे ऐसा नहीं लगता है कि नाटककार ने देवधर के चरित्र में अपने हिसाब से रंग भर दिये हैं और ऐसा करते समय उसने विवेक से काम नहीं लिया हो ?

इस नाटक के पहले द श्य का पहला संवाद देवधर का ही है जो मंच पर सहसा पूछता है- “अरे वह सत्यनारायण की कथा कहाँ है ?” यानी देवधर से ही प्रस्तावना का पटाक्षेप हुआ था और उसके साथ ही पहला द श्य खुल गया। यही पर अगला संवाद है- “बड़ा प्रपंची है लौका, गाँव वालों को मुख बनाना जानता है। इस मुख को अब मैं सबक सिखाऊँगा। यह गंवार देहाती मेरी जगह लेना चाहता है।” कितने आक्रोश से भरा हुआ है। कुछ देर बाद वह जीतन से कहता है- “लौका को सत्य की परीक्षा में डालकर बर्बाद कर दो मैं तुम्हें मुहमांगा इनाम दूँगा।” एक ओर प्रतिद्वन्द्वी को बर्बाद करने की चाह, दूसरी ओर काम के लिए दाम प्रस्ताव। ये दोनों बुराईयाँ जर्मीदारी और राजनीति की देन हैं। अतः ये देवधर जैसे व्यक्ति में मिल सकती हैं। वह अपनी निजी सचिव पदमा को शैव्या की भूमिका निभाने के लिए कहता है- “देखो, मिस पदमा यह मेरा काम है। समझीं ? लौका मेरा सबसे बड़ा दुश्मन है। इसे अपने हुस्न की डोर में बाँध लो. . . पर लौका बदनाम तो हो सकता है। जो इनाम कहोगी दूँगा।”

लौका का प्रतिद्वन्द्वी : देवधर तीसरे द श्य के शुरू में ही जीतन से कहता है- “कहाँ फंस गए इस नाटक में ? इससे तो अच्छा था, लौका सत्यनारायण की कथा कहता और यहाँ ब्राह्मणों और शूद्रों में मारपीट होती। लौका अब तक जेल में होता। गाँवों में आग लगकर बुझ गई।” कुछ देर के बाद वह फिर कहता है- “लौका को खत्म करने के अलावा भी मेरा कोई और काम है ?”

बार-बार और अनेक बार यह तथ्य सामने आता है कि देवधर के मन-मस्तिष्क में कोई तूफान उठता ही रहता है। वह किसी का भला नहीं चाहता, वह किसी का सहयोग नहीं कर सकता है। वह लौका के विरुद्ध सदा विपरीत ही सोचता रहता है। वह लौका पर आरोप भी लगाता रहता है कि लौका ने उसे आग में धकेल दिया था। किसी तरह वह बच गया है। वह लौका को सदा तंग कर, गिराने का प्रयत्न करता रहता है, किन्तु उसकी सोच सफल नहीं हो पाती है। उसकी हर चाल असफल हो जाती है। उसे हर बार मुँह की खानी पड़ती है। वह कभी ऊँच-नीच के बीच दंगे भड़काना चाहता है कभी हिन्दू-मुसलमान के बीच दंगे भड़काना चाहता है।

वह चाहता है कि लौका किसी दंगे में घिर जाए और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाए। हाँ! इतना अवश्य है कि उसके मन की बात कभी पूरी नहीं हुई।

विषम स्थितियाँ : देवधर के सामने उसके विचारों के ही समान विषम परिस्थितियाँ रहती हैं। एक बार गपोले ने कहा भी था, जिससे परिस्थितियों का स्पष्ट ज्ञान होता है, “देखो न! आप सोने को हाथ लगाते हो, मिट्टी क्यों हो जाती है ? आप बातें पक्की करते हो, पर कच्ची क्यों हो जाती है?” इसका आशय यही है कि अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं, जो देवधर के अनुकूल है ही नहीं। इन्हीं विषम परिस्थितियों के कारण उसे हर बार असफल होना पड़ता है।

देवधर का स्वभाव ही उसकी असफलता का कारण बना हुआ है। गपोले की बात सुनकर वह आग बबूला हो जाता है और कह उठता है, “बदमाश! विश्वासघाती! मुझे यह पता नहीं था कि तुम लोग मेरी ही आस्तीन के साँप बन जाओगे, पर मुझे तुम जैसे लोगों की कोई चिन्ता नहीं। चिन्ता है केवल उस लौका की जिसके पास न धन है, न कोई साधन है, लोग उसके प्रभाव में क्यों हैं ?” उसकी यह जलन और उसका यह विषम विचार उसे सदा गिराता रहता है।

देवधर के साथ जो व्यवहार पहले लोगों का था, वह नहीं रहा। सभी उसके विपरीत हो गए हैं। पहले सभी साथ देते थे। इसके बाद सामने केवल हाँ में हाँ मिलाने लगे थे। अब स्थिति ऐसी आ गई है कि लोग उसकी बात को सीधे काट देते हैं। लोग उसकी बात काट कर सच्चा तथ्य रख देते हैं। देवधर को लगता है कि वे उसकी ही बुराई कर रहे हैं।

देवधर के चरित्र की एक प्रमुख बात यह है कि वह जैसा सोचता है वैसा ही कह देता है। वह बाहर-भीतर समान ही है। उसे राजनीति भी नहीं आती है। वह यह भी नहीं सोचता कि ऐसा करने या कहने से लोग क्या सोचेंगे ? वह जर्मीदार था। इसलिए उसे शक्ति पर भी बहुत भरोसा रहता है। उसे यह भी पता है कि शक्ति से सब कुछ संभव है और शक्तिहीन होने पर असफलता ही मिलती है। इसी सोच के चलते देवधर जब-तब सफलता की कामना में शक्ति का प्रदर्शन भी करता है।

देवधर में परीक्षण और चिंतन की दिशा सटीक नहीं है। वह यह भूल जाता है कि अब जर्मीदारी राज नहीं प्रजातंत्र है। ऐसे में प्रजा की ही बात चलती है। जनता जिसे अच्छा समझती है उसे सिर आँखों पर बैठाती है और जिसे नापसन्द करती है उसे पैरों तले कुचल देती है। लौका को उसके विचारों और कार्य से जनता आदर देती है किन्तु देवधर को वह स्थान नहीं मिलता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि देवधर में अनुकूल शक्ति और गंभीर इच्छा है, किन्तु उसके व्यक्तित्व की निम्नताएँ उसे समाज में असफलता के मार्ग पर धकेल देती हैं।

18. ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ के पात्र मिस पदमा का चरित्र-चित्रण

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक में सत्य-यथार्थ और विषम प्रतिकूल के बीच संघर्ष दिखाने के लिए पुरुष और नारी पात्रों की योजना की गई है। प्रत्येक पात्र की अपनी विशेष भूमिका होती है। लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ में पदमा एक महत्त्वपूर्ण पात्र नहीं है, कम से कम मूल नाटक में तो उसमें ऐसा कुछ नहीं है जिससे उसका नाम विशेष पात्र के रूप में लिया जा सके। हाँ जब ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक अभिनीत होता है तो वह शैव्या की भूमिका निभाती है। शैव्या राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी है और इस नाते पदमा का स्वरूप भी महत्त्व प्राप्त कर लेता है। इसमें नारी पात्रों की संख्या कम ही है। उनमें से पदमा का चरित्र सबसे अधिक उभरा है।

सामान्य नारी : पदमा भूतपूर्व जर्मीदार और वर्तमान राजनेता देवधर की निजी सचिव है। इस

दृष्टि से उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह देवधर के इशारों पर चलती है। न उसके स्वतंत्र विचार हैं और न ही स्वतंत्र कार्य हैं। अतः उसमें किसी को प्रभावित करने की क्षमता भी नहीं है। वह सजी-संवरी बनी ठनी रहती है। वह सुन्दर है। उसमें थोड़ा सा नखरा भी है जिसे प्रदर्शित करना नहीं भूलती।

मंच पर उसका प्रथम प्रवेश नाटक के प्रथम दृश्य में ही होता है जब वह देवधर के साथ लौका के घर जाती है जहाँ 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक खेला जा रहा है। गपोले उससे कहता है क्या पतुरिया की भूमिका कर सकती हैं तो उस पर न 'हाँ' कहती है और न 'ना' ही। बस उसका उत्तर है- क्या ? आई डॉट लाइक दिस देहाती ड्रामा। इस प्रकार वह हिन्दी में किए गए प्रश्न का उत्तर हिन्दी में नहीं देती, बल्कि अंग्रेजी में देती है। इससे वह यह जताना चाहती है कि राजनेता की सचिव होने के नाते वह दूसरों से अलग है। उसे हिन्दी में बोलना फूहड़पन लगता है। दूसरी बात यह भी है कि वह नाटक में भाग लेने से मना नहीं करती है, बल्कि उसे पतुरिया की भूमिका पसन्द नहीं है।

वह तभी अलग से कहती है- "पर ड्रामा मजेदार है। मेरी जिन्दगी भी एक ड्रामा है। इतनी सजी रहती हूँ बनी ठनी रहती हूँ। जो नहीं हूँ, वहीं दूसरों के लिए हूँ। देवधर इन्द्र है। मैं उनकी मेनका हूँ। देवधर देवराज है तो मैं उनकी उर्वशी हूँ। फस्ट क्लास चलेगा। फोक थिएटर में मेरी दिलचस्पी है।" इससे उसके भीतर की सच्चाई उजागर हो जाती है। किसी भी कारण से सही, वह नाटक में कोई भूमिका निभाने के लिए तत्पर है।

यहीं पर देवधर मिस पद्मा से नाटक में भूमिका अदा करने के लिए आदेश देता है और कहता है- "देखो, मिस पद्मा, यह मेरा काम है। समझीं ? लौका मेरा सबसे बड़ा दुश्मन है। इसे अपने हुस्न की डोर से बाँध लो।"

मिस पद्मा के पास सटीक उत्तर है कि यह इतना आसान नहीं है। इसका अर्थ यह है कि पद्मा पहले से ही लौका को अच्छी तरह जानती है कि उसमें चरित्रगत कमजोरी नहीं है। नारी के प्रति उसे आकर्षण नहीं है। वह संयमी व्यक्ति है। इसका तात्पर्य यह भी है कि भले ही पद्मा उसकी सचिव है, उसके आदेश का पालन करती है, परन्तु ऐसा नहीं है कि उसके पास समझ ही नहीं है। वह मनुष्य चरित्र को अच्छी तरह समझती है। यहाँ एक और बात भी कहनी है कि अपने बॉस का आदेश मानना उसका काम है। वह उस की 'हाँ' में 'हाँ' भी मिलाती है। फिर भी, वह अपनी बेबाक टिप्पणी भी दे सकती है। उससे भले ही बॉस की बात कट रही हो।

पद्मा के उत्तर को सुनकर देवधर दूसरा पैतरा बदलता है और कहता है कि लौका बदनाम तो हो ही सकता है। फिर वह उसे मुँहमाँगा इनाम का लालच भी देता है। पद्मा को लालच स्वीकार्य नहीं है, परन्तु वह अपने बॉस के साथ लगातार बहस तो नहीं कर सकती। इसलिए नाटक में अभिनय का प्रस्ताव मान लेती है।

पराश्रित नारी : इस पर पद्मा की स्वागत टिप्पणी देखने और विचार करने योग्य है। इससे हमारे सामने कई बातें उभरती हैं। वह अपने आप से कहती है- "हर कोई इसके लिए एक चीज है। इनके इस्तेमाल की चीज। आखिर सब नाटक ही तो है इनके लिए। मेरे लिए वही जीवन है। शैव्या का चरित्र आखिर यह नाटक किसका है ? शैव्या के चरित्र का सत्य पाऊँगी।"

इससे पता चलता है कि वह देवधर के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित है। वह कैसा व्यक्ति है। वह दूसरों का उपयोग अपने हितों के लिए करना चाहता है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो किसी के लिए कुछ नहीं है और सभी लोग उसके लिए हैं। उसे लगता है, यह जीवन की सच्चाई नहीं

है, बल्कि जैसे नाटक हो रहा है। वह भी भीतर से देवधर के साथ नहीं है, परन्तु बाहर से यही दिखाती है कि उसके साथ है। पदमा के लिए यही सच्चाई है, क्योंकि उसे यह नाटक करना ही पड़ता है। अब उसे शैव्या की भूमिका निभानी है। क्या वह शैव्या के चरित्र का सच पा सकेगी? क्या वह अपनी सही भूमिका निभा सकेगी? जो भी हो, वह देवधर की नौकर है और इस नाते उसे उसका आदेश मानना ही पड़ता है।

पद्मा चौथे दृश्य के अन्त में फिर आती है जहाँ गपोले स्वयं देवधर को सूचना देता है कि मिस पद्मा तक कुछ नहीं कर पाई। इसका तात्पर्य यही है कि वह लौका पर अपने सौंदर्य का जादू नहीं चला पाई। तब देवधर उसे बुलाकर कहता है- "कहाँ हो सुन्दरी अब तक तुम्हारा कोई जौहर देखने को नहीं मिला। कोई नाचगाना करो। हुस्न का जादू फैलाओ। बिजली गिराओ। लौका को बुलाओ, फंसाओ। बड़ा हरिश्चन्द्र बना फिरता है।

आदमी की समझ है- अब पदमा की प्रतिक्रिया देखिए जिसे वह अपने आपसे कहती है- "इसके लिए हुस्न बेचो, यही इसका काम है। पता नहीं यह किस चीज का दलाल है। इस संवाद में इसकी शक्ति है- इसके लिए स्त्री जादू है। औरत बिजली है। लौका मनुष्य नहीं शुद्र है।" इससे स्पष्ट है कि वह सब समझती है, बस कहती नहीं है। उसकी विवशता है। देवधर जैसे व्यक्तित्व ने सभी को दबाए रखा तो पदमा तो उसकी वेतनभोगी है, उसका व्यक्तित्व कैसे उभर सकता था। हाँ, वह कोशिश करने पर भी लौका को नहीं दबा सकी।

पदमा स्वयं एक औरत है और वह समझती है कि इस पुरुष नियंत्रित समाज में औरत का स्थान बहुत नीचे है। वह जानती है कि किस प्रकार नारी का शोषण होता है। पुरुष के लिए नारी क्या है- सुन्दरी है, जादू है, बिजली है। वह उपभोग की वस्तु है, उपयोग की वस्तु हैं अर्थात् वह बस वस्तु है और कुछ नहीं। पुरुष यह क्यों नहीं समझता कि उसके अन्दर भी धड़कता हुआ दिल है, उसका अपना व्यक्तित्व है, उसके अपने विचार हैं। वह पुरुष जैसे काम करती है। फिर भी, उसे मिलता क्या है? उसका स्थान कहाँ है? उसका सम्मान कहाँ है?

देवधर तो इन मामलों में सबसे कठारे, सबसे बुरा पुरुष है। वह नारी को ही नहीं, अन्य पुरुषों को भी कुछ नहीं समझता। वह किसी के गुणों की कद्र नहीं करता। उसके लिए लौका जैसा व्यक्तित्व और कुछ नहीं है, बस शुद्र है। यह देवधर की दृष्टि का दोष है, वह स्वार्थी है।

चिंतनशील : इससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उसके पास स्वस्थ विचार है उसमें सोच-विचार करने की क्षमता है। वह भले बुरे को समझने की योग्यता रखती है। वह नारी गरिमा को कायम रखती है। नाटककार ने उसके चरित्र के साथ कहीं खिलवाड़ नहीं किया है। उसने उसे तितली या ऐसा कही कुछ नहीं बनाया है। वह अपने को नीचे नहीं गिरने देती। वह जहाँ है, वहाँ है। उसका बहुत ऊँचा स्थान भी नहीं है। उसके बारे में अन्य पात्र कोई टिप्पणी नहीं करते। वह देवधर और लौका के बीच के अन्तर को समझती है कि कौन कहाँ है और क्या है।

फिर भी, वह देवधर से यही कहती है- "हाँ, क्यों नहीं, हुस्न का जादू मारूंगी। जवानी की बिजली गिराऊँगी।" इसके साथ ही वह नृत्य गायन शुरू कर देती है। कहा जा सकता है कि उसकी सोच और उसके कथन एवं कार्य के बीच का अन्तराल है या यह उसकी कूटनीति है या वह पूर्णतः व्यावहारिक है या यह उसके चरित्र की कमजोरी है। बस, उसकी विवशता है, परन्तु वह कोई अनुचित कार्य नहीं करती है। वह सहज और स्वाभाविक रूप से ही जीवन जीती है।

मिस पद्मा के रूप में उसका चरित्र बस इतना ही खुल पाया है। नाटककार ने उसे और अवसर

दिया ही नहीं। इसका कारण शायद इतना ही नहीं है कि वह देवधर की निजी सचिव होने के कारण वह राजनीति के क्षेत्र में कहीं नहीं है। न वह देवधर के पक्षधर है और न ही लौका की विरोधी है। उसका कोई स्तर ही नहीं बन पाया है। नाटककार के सामने भी इस तरह का कोई विचार नहीं था कि उस चरित्र के मूल रूप में और आगे चलाता। अगर नाटककार उसे देवधर की निजी सचिव न दिखाकर उसे अध्यापक के रूप में या सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में दिखाता तो मूल चरित्र में विकास हो सकता है, परन्तु वह नाटककार ने नहीं किया।

विशेष भूमिका : जब मिस पद्मा शैव्या की भूमिका में उतरी तो अपने भीतर उतरती चली गई और अन्त तक शैव्या ही बनी रही। नाटककार यह भूल गया कि नाटक के भीतर नाटक की नायिका शैव्या अपने रूप में मिस पद्मा थी। इसलिए उसे उसके मूलरूप में एक बार फिर लाया जाए, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अन्य सभी पात्र बीच-बीच में मूल रूप में आते रहे तथा नाटक के अन्त में एक बार फिर उसी रूप में आ गए। पद्मा को मूल रूप में लाने की कहीं आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई। ऐसा लगता है, यह मिस पद्मा के प्रति ज्यादाती हो गई।

सबसे बड़ी कठिनाई यह रही थी कि मिस पद्मा नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में अन्य पात्रों के समान स्तर पर खड़ी नहीं हो सकी। न वह राजनीति और समाज के क्षेत्र में कहीं थी और न वह उन मुद्दों पर अन्य पात्रों के सामने अपने विचार प्रस्तुत कर सकती थी, जो मुद्दे नाटक में बार-बार उठते रहे। अतः उसे अवसर ही नहीं मिला कि वह दूसरों के समाने अपने विचार प्रस्तुत कर सके। कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व अविकसित रह गया और उसका चरित्र मुखर नहीं हो पाया। अवश्य ही, वह नाटककार की उपेक्षा का शिकार हुई। कम से कम एक नारी पात्र मिस पद्मा ही हो सकती थी। जिसमें विकास की संभावनाएं थीं।

सत्यवादिता : अब शैव्या के रूप में उसकी भूमिका को देखें। शैव्या दूसरे दृश्य में ही आती है जब वह अपनी पति हरिश्चन्द्र और पुत्र रोहित सहित मुनि विश्वामित्र के साथ जा रही है। गंतव्य स्थल है काशी जहाँ उन्हें बिकना है। वे लोग इस समय रास्ते में हैं। आपस में बातचीत हो रही है। बातचीत का आधार है- एक चरवाहा जो बाँसुरी बजा रहा है और बाँसुरी पर गीत के माध्यम से कुछ कह रहा है। जब रोहित उस गीत का भाव बताते हुए बाँसुरी वादक को महामायावी कहता है तो शैव्या उसे एक तरफ से डांटती है। उसके कुछ ही देर बाद हरिश्चन्द्र कहते हैं कि ऋषि विश्वामित्र हमारे साथ हैं तो वह भड़क जाती है और अपनी टिप्पणी जड़ती है- 'कैसे ऋषि, कैसे ज्ञानि, जिसे भूख हो राजसिंहासन की।'

इससे पता चलता है कि वह पति की अनुगामिनी मात्र नहीं है, उसके अपने विचार हैं जिन्हें स्पष्टता के साथ रखती है। सच को सच कह देने की क्षमता उसके पास है। इसी क्रम में हरिश्चन्द्र आदर्श, त्याग और बलिदान की बात करते हुए जीवन दर्शन खोलते हैं और कहते हैं- 'यहाँ देकर ही पाया जाता है और त्याग कर ही भोगा जाता है।' इस पर रोहित कहता है कि यह मेरा अनुभव नहीं है। शैव्या भी कहती है- 'मेरा भी यह अपना नहीं है। बस सुनती चली आई हूँ।' इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने पति के आदर्श से असहमति व्यक्त करती है। कहा जा सकता है कि यहाँ उसने दूसरी बार असहमति जताई है और अपनी बात को स्पष्टतः कह देती है जो नारी अपने पति के मान के लिए स्वेच्छा से बिकने के लिए चली आई है, वही उसके आदर्शों के प्रति असहमति व्यक्त कर रही है।

बिकने का दर्शन : चौथा दृश्य काशी के बाजार का है जहाँ हरिश्चन्द्र को खरीदने के लिए डोम तैयार है। तब शैव्या कहती है- 'नहीं, नहीं। ऐसा नहीं होने दूंगी। पहले में बिकूंगी।' वह

यह भी कहती है- "स्त्रीत्व से भी बड़ा स्त्री का व्यक्तित्व है।" इसके आगे वह वैचारिक आधार पर अपने कर्तव्य और उचित अनुचित के सामान्य धर्म पर अपनी बात कहती है। वह स्पष्ट करती है कि भले ही कुछ भी उचित हो अनुचित परन्तु मुझे पति धर्म के लिए बिकना है और पहले बिकना है। अन्त में यही होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके पास वैचारिक शक्ति है, उचित अनुचित का विवेक है, फिर भी कर्तव्य कर्म के प्रति निश्चयात्मकता है। वह अपने विचारों में दृढ़ है और कहीं डगमगाती भी नहीं है। वह अनुयायी मात्र नहीं है।

पतिव्रता : शैव्या के चरित्र के कुछ रूप 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के सातवें यानी अंतिम दृश्य में खुलते हैं। इसमें पहला रूप है कि वह पतिव्रता नारी है। संयोग यह है कि वह वेश्या के हाथों बिक गई है। ये दोनों बातें कैसे निभ सकती हैं। छैला ने एक आदमी भेजकर पतुरिया से कहलाया था कि वह नई आई हुई औरत को उसके लिए भेज दे। पतुरिया ने शैव्या को बुलाकर कहा कि तुम्हें इस आदमी के साथ जाना है और पूछा- "पता है, तुझे वहाँ क्या करना है?" उसका उत्तर शैव्या ने दिया- "ग्राहक प्रेमी जो माँगेगा भरसक देने की कोशिश करूँगी।" पतुरिया ने पूछा- "पर तुम तो अपने आप को पतिव्रता नारी कहती हो" -शैव्या ने कहा- "वही रहूँगी।" उसने यह भी बताया कि वह अपने पुण्य से पतिव्रता ही रहेगी।

और यही हुआ। वह एक ग्राहक के निवास पर गई। कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि अपने आप में खो गया। शैव्या को देखकर हत्प्रभ रह गया और शैव्या पतुरिया के कोठे पर वापस आ गई। बाद में छैला को होश आया तो पतुरिया के कोठे पर गया और अपना असंतोष प्रकट किया। छैला का संवाद देखिए जो पतुरिया से है, परन्तु जैसे अपने आप से बात कर रहा हो- "अहा! सुनता हूँ, पर सुना नहीं जाता, देखता हूँ पर देखा नहीं जाता। कुछ काँध जाता है मेरी आँखों में, यह क्या है, जो दस्तक देती है मेरी साँसों में, सागर तट पर जैसे कोई मंदिर हो और उसमें यह चिराग जैसी जल रही हो। मैं पतंगा हूँ इस चिराग का। मैं चाहे जल कर भस्म हो जाऊँ पर बुझाऊँगा उस चिराग को। मैं प्यासा सागर हूँ। तुझे छलकर पीऊँगा। धिक्कार है मेरे विलास को, यदि मैं इसे आँखों से न पी सका"।

इससे उसका अंतर्द्वंद्व उभरता है और यह भी कि वह शैव्या के पतिव्रता तेज से वह स्वयं ही शिथिल हो गया है। उसके आगे का संवाद देखिए-

शैव्या : मैं यहाँ हूँ।

पतुरिया : बिलकुल सामने खड़ी है। आप के कदमों में पड़ी है।

छैला : झूठ है। बिलकुल झूठ है। मैं खड़ा हूँ अपने सामने। अब और अधिक अपने को सह नहीं सकता, जो है उसे किसी भी तरह कह नहीं सकता।

पतुरिया : फिर से देखो, यह रूपवती कामिनी है।

छैला : कामिनी नहीं, मायाविनी है।

इस संवाद से स्पष्ट हो जाता है कि छैला अपने आप में नहीं है और वह शैव्या के शीलवती, पतिव्रता रूप को चरम पर ले जाकर व्यक्त करता है। वह उससे कुछ चाहकर भी अपने आप में विवश है।

माँ का रूप : शैव्या के चरित्र का एक रूप कुछ ही आगे जा कर खुलता है जब उसके इकलौते पुत्र की मृत्यु हो जाती है वह शोक विह्वल होकर विलाप करती है। फिर अपनी साड़ी का आधा भाग फाड़कर उस पर कफ़न लपेटती है और स्वयं ही श्मशान घाट ले जाती है। वहाँ मृत रोहित

की अन्तिम क्रिया तब तक नहीं हो सकती जब तक वह वहाँ चांडाल को कर न दे दे। चांडाल के रूप में हरिश्चन्द्र जो शैव्या के पति ही हैं। शैव्या के पास कुछ नहीं है। हरिश्चन्द्र को कर अवश्य चाहिए, सो वह अपनी शेष आधी साड़ी निकालकर कर के रूप में हरिश्चन्द्र को दे देती है।

कड़ी परीक्षा : इस नाटक में वर्णित घटनाओं के आधार पर शैव्या कई परीक्षाओं से गुजरी है। हर परीक्षा पहले से कड़ी और विकट रही है, परन्तु वह हर बार खरी उतरी है। वह कर्तव्यपालक है। त्याग और बलिदान की भावनाओं से ओत-प्रोत है। उसका उदात्त चरित्र है। वह आदर्श नारी है।

मिस पद्मा ने नाटक के भीतर नाटक में शैव्या की भूमिका सफलतापूर्वक निभाई है। इस पात्र को अच्छी तरह उभारा गया है। पद्मा और शैव्या में एक समानता भी है। दोनों स्वतंत्र रूप से निजी अस्तित्व नहीं रखतीं। वे पुरुष के अनुसार आचरण करती हैं। पद्मा तथा शैव्या का संघर्षशील व्यक्तित्व नाटक को प्रभावोत्पादक रूप प्रदान करता है।

19. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के पात्र रोहित का चरित्र-चित्रण

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में युवा-युवती और बाल पात्र हैं। सबकी अपनी भूमिका है। लाल ने अपने नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में रोहित का बाल-चित्रण मिथक की आवश्यकताओं और माँग को ध्यान में रखते हुए भी अपने ढंग से उसे प्रस्तुत किया है। वह राजा हरिश्चन्द्र और रानी शैव्या का पुत्र है। उसकी आयु कितनी है, इसका पता हमें नहीं चलता। मिथक से यह अवश्य पता चलता है कि वह एक बाल पात्र है, लेकिन इस नाटक में वह एक बड़ा बालक अवश्य लगता है जिसके अपने विचार हैं, अपनी मान्यताएँ हैं, अपनी सोच है और उनकी अभिव्यक्ति का अपना ढंग है। ऐसा लगता है कि वह काफी समझदार और प्रबुद्ध बालक है। उसके विचारों में कहीं कोई घालमेल नहीं है, अस्पष्टता नहीं है, विरोधी वक्तव्य नहीं हैं। राजा का शिक्षित पुत्र होने के नाते ऐसा नहीं लगता कि नाटककार ने उसके व्यक्तित्व पर अपनी ओर से कुछ थोप दिया है या अतिरिक्त बुद्धिवादी बना दिया है। उसका चरित्र स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है और इनमें नाटककार ने अपनी मौलिक उद्भावना की है।

आदर्श चरित्र : इस नाटक में कई पात्र ऐसे हैं जो दोहरा चरित्र लिए हुए हैं जैसे लौका (हरिश्चन्द्र), देवधर (इन्द्र), जीतन (विश्वामित्र), गपोले (नारद), मिस पद्मा (शैव्या)। रोहित का चरित्र ऐसा है जिसे हम इकहरा कह सकते हैं। उसके दो रूप नहीं हैं। वह केवल रोहित है और कुछ नहीं। अतः उसके चरित्र विकास को हमें इसी रूप में देखना चाहिए।

इस नाटक में एक और नाटक चलता है जिसका नाम है 'सत्य हरिश्चन्द्र'। यह रोहित पात्र इसी दूसरे नाटक का एक पात्र है जो इससे पहले या इस नाटक के अतिरिक्त और कहीं हमारे सामने नहीं आता। इसका पहली बार अवतरण दूसरे दृश्य में होता है। मुनि विश्वामित्र हरिश्चन्द्र और शैव्या को काशी बेचने के लिए ले जा रहे हैं क्योंकि उन्हें बेचकर उससे अपनी दक्षिणा चुकानी है। रोहित भी अपने माता-पिता के साथ है। यह दृश्य अयोध्या और काशी के बीच में रास्ते का है यहाँ ये सब लोग जा रहे हैं। रास्ते में एक चरवाहा बाँसुरी बजाता हुआ चला जा रहा है। विश्वामित्र पूछते हैं कि यह क्या गा रहा है ? इसका उत्तर रोहित देता है- "गीत अपना अकेले कंठ से। सहंगा। सब कुछ भोगंगा इसी गीत के लिए। उसके लिए अपने को बेच दूंगा। पर उसे नहीं बिकने दूंगा।

संगीत प्रवीण : इससे हमारे सामने दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक, रोहित में तत्पर बुद्धि है। दो, उस संगीत का ज्ञान है, विशेष रूप से बाँसुरी गायन से वह निपुण है। उसके शब्दों को पकड़ सकता है, उसका अर्थ लगा सकता है।

इस पर विश्वामित्र मुग्ध हो जाते हैं। वह रोहित की बात पर मुग्ध नहीं होते बल्कि चरवाहे के गीत पर मुग्ध होते हैं और उसे 'महान्' की संज्ञा देते हैं। तभी रोहित जैसे उनकी बात को काट कर कहता है- "सब मोह है उसका। उस पर फँका हुआ किसी का माया जाल है।" इतना ही नहीं, वह इसमें यह भी जोड़ता है- "इस तरह अपने संगीत से यह सबको फंसाता है। लोगों को बांधता है। महा-मायावी है।"

इस सन्दर्भ में उसे याद आ जाता है अपने पिता द्वारा किया हुआ स्वप्न में दान जिसका परिणाम यह है कि वे लोग राजपाट छोड़कर बिकने के लिए जा रहे हैं। अतः वह चरवाहे के गीत और स्वप्न के दान को जोड़कर यह टिप्पणी करता है- "जैसे वह दान नहीं छल था, वैसे ही यह संगीत नहीं माया जाल है। इसी संगीत से बहेलिया जंगल में शिकार करता है। जैसे दान का झूठा धर्म रचकर एक दूसरे को बेचता-खरीदता है।"

इससे स्पष्ट होता है कि जो कुछ हुआ उससे रोहित संतुष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, वह उससे क्षुब्ध भी है और आक्रोश से भरा हुआ है। तभी वह इस प्रकार के आक्रामक शब्द बोल सकता है।

विचारवान : विश्वामित्र इस सबका बुरा नहीं मानते और वह उसकी बातों में रस लेते हैं। उसके विचारों को अन्य प्रसंगों में भी सुनना चाहते हैं। इसीलिए वह उससे कभी दान पर और कभी सत्य पर प्रश्न करते हैं, उसकी राय जानना चाहते हैं। सत्य पर रोहित के दो दूक विचार इस प्रकार हैं- "मेरे लिए वह सत्य झूठ है जिसके लिए जीवन भर केवल विपत्तियाँ झेलनी पड़ें। त्याग और बलिदान की सूली पर चढ़कर सत्य की परीक्षा देनी पड़े। मेरे लिए सत्य वही है, जो सहज ही जीवन में जिया जा सके। जो जिया न जा सके वह झूठ है, वह धोखा है।"

रोहित अपनी बात पर दृढ़ है, विचारों में स्पष्ट है और कहीं किसी प्रकार डगमगाता नहीं। उनके विचारों में द्वन्द्व अवश्य देखा जा सकता है। वह द्वन्द्व इस प्रकार का नहीं है कि क्या चाहिए क्या नहीं, कैसे कहना चाहिए कैसे नहीं, क्या सही कहा गया क्या गलत कहा, बल्कि द्वन्द्व घटित घटना की पृष्ठभूमि में है। वह अपने आप से लड़ रहा है, आरोपित दुखद घटना से लड़ रहा है और उसके कारक हैं मुनि विश्वामित्र। वह उनसे भी अप्रत्यक्ष रूप से लड़ रहा है। हरिश्चन्द्र और शैव्या उसे बीच-बीच में रोकते-टोकते रहते हैं परन्तु रोहित पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह अपनी बात धड़ल्ले के साथ कहता चला जाता है। हरिश्चन्द्र विश्वामित्र को महाज्ञानी मानते हैं परन्तु रोहित ऐसा नहीं मानता। वह उलट कर यह कह देता है- "महाज्ञानी से दान-धर्म के उस रहस्य को जानना चाहता हूँ जिसके कारण एक लेने वाला बनता है, दूसरा देने वाला।"

उसमें संगीत को, राग को समझने में क्षमता है। समाज, राजनीति, धर्म और दर्शन को समझने की योग्यता है। इसके साथ ही वह अपनी बात को विशेष अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करने में भी पटु है। इतना ही नहीं, वह व्यंग्य भी कर सकता है जैसे अभी महाज्ञानी से सम्बन्धित उद्धरण में उसने एक तीखा व्यंग्य किया है।

धैर्यवान : किसी भी व्यक्ति को धैर्य से काम लेना चाहिए, शान्ति से रहना चाहिए परन्तु उसे बर्दाश्त करने की कोई न कोई तो सीमा होती है। एक बिन्दु ऐसा आता है जहाँ किसी भी व्यक्ति की सहनशीलता जवाब दे जाती है, रोहित के साथ भी यही हुआ। उसका धैर्य भी चूक गया। इसलिए जब विश्वामित्र उसे यह कहते हैं कि दाता से ही धर्म बनता है और धर्म के रहस्य को समझने के लिए धैर्य चाहिए। इसका उत्तर रोहित इस प्रकार देता है- "मेरे धैर्य की कल्पना तुम नहीं कर सकते महर्षि।" इससे बात साफ हो जाती है और यह नहीं कहा जा सकता कि रोहित असहज है या अधीर है। वैसी स्थिति में किसी भी व्यक्ति का धीरज चूक सकता था। जिस स्थिति में रोहित गुजर रहा था। प्रश्न शारीरिक कष्ट का ही नहीं हैं और प्रश्न भी नहीं

है कि उससे सुख वैभव छिन गया, लेकिन प्रश्न यह तो है कि आखिर कोई छल क्यों करे और दूसरा क्यों छला जाये। इसलिए रोहित जैसे बात टालने के लिए एक गीत गुनगुना उठता है-

**माया रचकर धर्म बनाया।
माया से फिर स्वप्न दिखाया।
उसी स्वप्न में दान ले लिया।
आँख खुली दक्षिणा बाकी।
चले बेचने सबको काशी।**

यहाँ पर भी रोहित की बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है क्योंकि वह पाता है कि उससे अधिक इस प्रसंग को नहीं खींचा जा सकता। उसे जो कुछ कहना था। वह कह दिया। जिसको मानना है वह माने और जिसे नहीं मानना वह न माने। फिर भी उसके एक और गुण की झलक तो यहाँ मिल ही जाती है कि उसमें कवित्व की क्षमता भी है अर्थात् उसमें भावनाएं भी हैं। इस प्रकार रोहित विचार और भावना के समन्वय से बना हुआ चरित्र है।

दार्शनिक : रोहित में दर्शन भी भरा हुआ है जिसका प्रमाण चौथे दृश्य में मिलता है जहाँ वे लोग बिकने के लिए बाजार में खड़े हैं। विश्वामित्र हरिश्चन्द्र को अपनी बात से हटने के लिए उकसा रहे हैं तो यहाँ पर चर्चा सामान्य जीवन से ऊपर उठकर दर्शन के धरातल पर चली जाती है। तब रोहित यह कहता है- “जो तुम हो वही देखते हो, पर जो है उसे देखने के लिए आकाश से पृथ्वी पर आना होता है।”

हरिश्चन्द्र और शैव्या क्रमशः डोम और पतुरिया के हाथों बिक गये। फिर भी विश्वामित्र हरिश्चन्द्र को यह समझाते रहे कि वह अपने वचन को त्याग दें नहीं तो बहुत कुछ गलत होने वाला है। तब रोहित उनसे कहता है कि आपको दान में सब कुछ मिल गया, दक्षिणा भी मिल गयी। आखिर हमारी चिन्ता क्यों। जब विश्वामित्र इस बात पर अड़ जाते हैं कि अब रोहित बच गया है जो मेरे साथ जायेगा तो इस पर रोहित की स्पष्ट उक्ति है- “मैं हूँ हरिश्चन्द्र पुत्र। अब प्रजा में शिव की हूँ। तुम्हारी परीक्षा अब पूरी हुई ऋषिराज। जाओ, राज्य करो अयोध्या में।”

यहाँ भी रोहित की स्पष्टता, उसकी विचार शक्ति और उसकी तर्क शक्ति का पता चल जाता है। यह भी निश्चित हो जाता है कि उस बालक के ऊपर जो दिमाग है वह एक बालक का न होकर एक प्रबुद्ध व्यक्ति का है। फिर भी उसके तथा हरिश्चन्द्र शैव्या के किसी तर्क को विश्वामित्र नहीं मानते। तब रोहित अपना तर्क का रास्ता छोड़ देता है और एक नया अस्त्र फेंकता है- “काश तुम जान पाते मेरे परम पूज्य ऋषि। मैं स्वयं तुम्हारे धैर्य की अंतिम परीक्षा हूँ। यहाँ जो कुछ भी भोग्य है, उसे देकर ही माता, पिताश्री के साथ हम सबने भोगा है। पिता का निष्काम दान, हम सबका वही योग है। पहचानो मुझे, सर्वज्ञ विश्वामित्र! मैं तुम्हारा द्रोही नहीं, तुम्हारा ही एक पुत्र हूँ।”

विशेष भूमिका : यह बात एक सामान्य बालक नहीं कह सकता। इस तरह की बात कहने के लिए बड़े-बड़े लोग भी विफल हो जाते हैं। इसे कूटनीति कह सकते हैं। ऐसा लगता है कि चाणक्य नीति बनाते समय आचार्य विष्णु गुप्त ने इसका सहारा लिया होगा या नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस चरित्र में चाणक्य नीति को रख दिया है। इसके आगे बात नहीं हो सकती। इसके आगे सभी तर्क पीछे पड़ जाते हैं। विश्वामित्र जैसे मुनि भी दंग रह गये और वह कोई तर्क नहीं दे सके। वह रोहित को छोड़ कर चले गये। रोहित अपनी माँ शैव्या के साथ पतुरिया के कोठे पर चला गया।

इसके बाद रोहित के व्यक्तित्व के दूसरे रूप हमारे सामने आते हैं। एक ओर वह छैला जैसे कामुक से तर्क युद्ध कर सकता है तो दूसरी ओर उस जैसे दुष्ट और शक्तिशाली के सामने शरीर बल भी दिखा सकता है। अन्ततः वह छैला के हाथों चाकू से मारा जाता है। यहाँ नाटककार ने रोहित की मृत्यु न दिखाकर हत्या दिखाई है जो प्रचलित कथा के अनुरूप नहीं है। प्रचलित कथा में साँप के काटने से मारा जाता है। इसे नाटककार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है- “ विलास के हाथों बिका हुआ वह मनुष्य नहीं काला सर्प था जैसे छुआ उसने, मुझमें विष फैल गया उसके जहर का।”

अन्त में श्मशान घाट पर रोहित जी कर खड़ा हो जाता है और कहता है- “मैं अब तक मरा हुआ था, इसके दिये हुए जीवन से। आज मैं जी गया अपने जीवन से। सुनो, अब तक जी रहे थे तुम्हारे अनुभव से, अब हम जीयेंगे अपने अनुभव से।” इस प्रकार नाटककार ने रोहित के चरित्र के विभिन्न रूपों का बढ़िया चित्रण किया है जो सहज, स्वाभाविक है और मिथक का ध्यान रखते हुए मौलिक उद्भावनाओं के समन्वय से बना है।

20. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के पात्र जीतन चरित्र चित्रण

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की रचना कुछ इस प्रकार है कि नाटक के भीतर अभिनीत होते हुए दिखाया है। इसमें जीतन का चरित्र इस रूप में अंकित है कि वह नाटक का एक पात्र है और नाटक के भीतर नाटक का भी एक पात्र है। अर्थात् उसका सामान्य जीवन भी है और अभिनेता के रूप में उसने विश्वामित्र की भूमिका भी निभाई है। इन दोनों रूपों में वह सफल रहा है।

विचारों में बदलाव : इस नाटक में भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर के साथ सहयोगी, अनुयायी के रूप में जीतन के चरित्र को दिखाया गया है। वह कुछ दूरी तक देवधर का पूरी तरह साथ देता है और इस नाते लौका हरिश्चन्द्र का विरोधी है, क्योंकि देवधर का दुश्मन है लौका। आगे चल कर जीतन स्वयं मुनि विश्वामित्र की भूमिका में उतरता है और अब धीरे-धीरे बदलता चला जाता है। नाटक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति पूरी तरह उलट-पलट हो जाती है और जीतन देवधर की पक्षधरता को छोड़कर लौका का साथी-सहयोगी बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीतन सामान्य जीवन में कुछ और है परन्तु कलाकार की भूमिका में उतरने के बाद कुछ और हो जाता है। कहा जा सकता है कि वह पूरी तरह बदल जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस बदलाव के पीछे गाँधीवादी दर्शन नहीं है, सुधारवाद नहीं है। मनोविज्ञान यह बताता है कि कोई व्यक्ति यकायक बदल नहीं सकता, वह जैसा है वैसा रहेगा, परन्तु कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं, घटनाएँ होती हैं जिनसे आदमी पूरा का पूरा बदल जाता है। यहाँ नाटककार ने ऐसी ही स्थितियाँ को प्रस्तुत किया है, यानी हम कहें कि जीतन यकायक नहीं बदलता बल्कि उसके बदलाव के पीछे एक पूरी पृष्ठभूमि है। वह नये अनुभवों से गुजरता है और उसे कुछ नया सिखाते हैं, नया रूप दे जाते हैं। इसमें नाटककार ने कला के महत्त्व को स्थापित किया है और बताया है कि कला में वह जादू है जो अपना अवश्यभावी प्रभाव किसी व्यक्ति पर छोड़ती है और कहीं का कहीं पहुँचा देती है।

यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि जीतन का चरित्र एक रूप नहीं रहता। वह एक साथ नहीं बदलता बल्कि धीरे-धीरे बदलता है। कहा जा सकता है उसके चरित्र-चित्रण में नाटककार ने मानव स्थितियों के अंकन में विशेष दृष्टि से काम लिया है और इस प्रकार जीतन के चरित्र का

विकास देखने को मिलता है। जीतन एक सामान्य व्यक्ति है लेकिन उसका चरित्र-चित्रण विशेष रूप से किया गया है। वह नाटक के शुरु जो व्यक्ति एक बड़े व्यक्तित्व में अपना प्रभाव नहीं छोड़ता परन्तु अन्त में पहुँचते पहुँचते प्रभावशाली बन जाता है। जो व्यक्ति एक बड़े व्यक्तित्व का अनुगामी हो उसके चरित्र में व्यवहार आ भी कैसे सकता है। यह नाटककार की दृष्टि ही है कि उसने जीतन को काफी ऊँचाई पर पहुँचा दिया है और जीतन ने विशेष महत्त्व पा लिया।

विकासशील व्यक्ति : इस नाटक में नाटककार ने पात्रों का जो चरित्र किया है वह दो तरह का है (1) एक तो ऐसे पात्र हैं जो अच्छे हैं या बुरे हैं, जो आदर्श हैं या घणास्पद हैं जैसे लौका का एक आदर्श पात्र है और देवधर बुरा पात्र (2) दूसरे ऐसे पात्र हैं जो अपनी निजी रूप से अच्छे हैं बल्कि जैसे है वैसे हैं। इस वर्ग में जीतन और गपोले दोनों आते हैं। इन दोनों में भी जीतन का महत्त्व कुछ अधिक है। जीतन का चरित्र-चित्रण नाटककार ने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। उसमें कहीं कोई कृत्रिमता नहीं है। यह एक ऐसा पात्र है जो नाटक के शुरु (प्रस्तावना) से लेकर नाटक के अन्त (सातवाँ दृश्य) तक चलता है और देवधर जैसे महत्त्वपूर्ण पात्रों के बाद जीतन का स्थान है।

सबसे पहले हमारे सामने जीतन का वह रूप आता है जब वह देवधर का साथी अनुयायी है। यहाँ पर देवधर की हॉ में हॉ मिलाता है और वह यह नहीं देखता कि क्या सही है, क्या गलत है। देवधर के प्रति उसकी अंध भक्ति है। न उसके अपने विचार हैं न उसकी अपनी विचारशक्ति है न उसके अपने अनुभव हैं, अपना जीवन है। वह जो कुछ भी है देवधर के साथ है। उस पर देवधर का पूरा प्रभाव है। देवधर ने उसे ऐसा मंत्रमुग्ध किया है या उस पर ऐसा मैस्मरेजम किया है कि जीतन अपने आप में कुछ नहीं है।

प्रस्तावना में देवधर और लौका की बातचीत हो रही है जो नौक-झोंक का रूप लेती है। एक जगह लौका यह पूछता है कि देवधर अपनी ओर से क्यों क्रांति करना चाहते हैं हमें क्यों नहीं करने देते। इस पर जीतन कहता है- “पर यह काम वही कर सकता है जिसमें आत्मगौरव हो, आत्मज्ञान हो और आत्मविश्वास हो।” यकायक वह बात को आगे बढ़ाते हुए ऐसे मोड़ पर ले जाता है कि बात उलट जाती है और देवधर के विरुद्ध हो जाती है। जीतन का कथन है- “इसके लिए भीतर आग चाहिए। मैं पता लगा रहा हूँ वह आग सिर्फ ऊँची जाति के लोगों में है। नीचे के लोगों में वह आग हजारों साल पहले कुचलकर बुझा दी गई है समझे कि और समझाऊँ ?

वैचारिक रूप : यह सुनकर देवधर को बुरा लगा और उसे घुड़क दिया। इससे यह तो समझाया ही जा सकता है कि जीतन भले ही असावधानी में सही सच्चाई तो बोल ही गया और वह सच्चाई यह है कि ऊँची जाति के लोगों ने नीची जाति के लोगों को इतना दबा कर रखा है कि अब वे कुछ भी सोचने-समझने लायक नहीं रह गये। भला यह बात देवधर के गले कैसे उतर सकती है जो लौका को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता है और लौका नीची जाति के लोगों में ही नहीं ऊँची जाति के लोगों में भी प्रतिद्वन्द्वी है। लौका उसका प्रतिद्वन्द्वी है और वह लौका को खत्म करना चाहता है। इसके बाद जीतन चुप लगा गया। जब देवधर ने अपनी आक्रोशी मुद्रा में यह कहा कि बताओ साफ-साफ बताओं मैं झूठा हूँ और लौका सच्चा है। इसे जीतन ने दार्शनिक मोड़ देते हुए कहा- “सच जैसी चीज नहीं होती। जो आज सच है वही कल झूठ हो जाएगा। हर क्षण पृथ्वी घूम रही है। हर चीज यहाँ बदल रही है। इस बात की कोई कीमत है नहीं।”

कहा जा सकता है कि उसने दार्शनिक मोड़ अपनी बात को बदलने के लिए दिया, जो न किसी के पक्ष में न विपक्ष में। इसमें दो बातें देखी जा सकती हैं- एक तो यह कि उसमें वैचारिक शक्ति

है और दूसरा यह कि वह अपनी बात को बदलने में प्रवीण है। यह भी स्पष्ट है कि वह देवधर का पक्षधर है। देवधर लौका से बहुत आंतकित है। उससे मुक्ति दिलाने या चैन की साँस दिलाने में जीतन और गपोले उसकी मदद करते हैं। देवधर इस बात से परेशान है कि लौका सच बोलता है। उसे सांत्वना देते हुए जीतन कहता है कि फिर तो डर की कोई बात नहीं क्योंकि "बात यह है कि सत्य तो कोई अपने जीवन में जी नहीं पाता। सत्य के लिए उसे इम्तिहान देना पड़ता है। उसके लिए विपत्ति और बलिदान सहना होता है। उसी में सारी जिन्दगी खत्म। इधर आप मौज कीजिए।"

देवधर यह कहता है कि लौका में एक खरतनाक बात यह है कि उसी को सत्य मानता है जिसे जिया जा सके और उसके हिसाब से हर सत्य नया होता है। इस पर जीतन उसे फिर सांत्वना देता है- "सोचिए भला, यहाँ कौन जी सका है अपने सत्य को ? सत्य हरिश्चन्द्र नहीं जी सके, सिर्फ यह साबित करने में कि वह सत्य हरिश्चन्द्र है, सारी जिन्दगी तबाह हो गई। सब कुछ बिक गया, और राजा इन्द्र बना रहा।" इससे उसकी देवधर के प्रति पक्षधरता स्पष्ट है। वह पूरी तरह से उसके साथ है परन्तु नाटक में ऐसा कहीं नहीं है जहाँ जीतन ने देवधर के अनुचित कार्यों में साथ दिया हो या उसका समर्थन किया हो। कहा जा सकता है कि यह उसके व्यक्तित्व का उज्ज्वल पक्ष है जिसका निर्वाह नाटककार ने इस नाटक में किया है।

विश्वामित्र रूप में : इसके बाद नाटक के भीतर नाटक शुरू होता है जिसमें विश्वामित्र का अभिनय करता है। हर बार नाटक का एक हिस्सा खोलने के बाद ये मूल पात्र अपने मूल रूप में अलग से मिलते हैं या अपने कार्यों में संलग्न होते हैं और मूल नाटक को आगे बढ़ाते हैं। जीतन भी यही करता है। परन्तु विश्वामित्र की भूमिका में उतरने के बाद जीतन के चरित्र में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन आता रहता है जो उसके इस कथन से स्पष्ट है- "जैसे-जैसे विश्वामित्र के चरित्र में बैठता जा रहा हूँ, लगता है मैं अपने से आमने-सामने हो रहा हूँ। मैं क्या हूँ ? लौका क्या है ? आप क्या हैं? इसे देखने लगा हूँ।"

देवधर शक्तिशाली राजनेता है। फिर भी वह कदम-कदम पर भयभीत दिखाई देता है। उसका भय बातचीत में प्रकट होता रहता है। इस संदर्भ में जीतन सहसा एक महत्वपूर्ण बात कर जाता है- "जो झूठ है वह क्यों सच दिखता है ? जो शक्तिशाली है वही क्यों इतना डरता है, जो है नहीं पर दिखता है, दोष हमारी ही आँखों का है।" इस पर देवधर अपनी टिप्पणी नहीं कर सका क्योंकि एक दूसरा पात्र बीच में आ गया और बात बदल कई, परन्तु जीतन ने जो कुछ कहा वह सच था। यहाँ उसने देवधर पर व्यंग्य किया था जिसे शायद देवधर नहीं समझ पाया क्योंकि उसने अपनी बात दार्शनिकता में लपेट कर कही थी। इसके बाद नाटक में नाटक फिर हुआ और जीतन के अनुभव को और प्रगाढ़ किया। उसे नयी रोशनी मिली जिसे उसने देवधर के सामने इन शब्दों में व्यक्त किया- "मेरी आँखों में जो रोशनी है, अंधेरा उसी से प्रकाशित हो रहा है। इसी का नाम सत्ता है। अंधे को अंधेरा नहीं दिखाई पड़ सकता है।

सीधा टकराव : यह बात देवधर को चुभ गई और उसने घुड़क दिया। अब तक जीतन बदल चुका था। वह उसकी घुड़क में नहीं आया और उसने आगे कहना जारी रखा। एक बिन्दु पर तो यहाँ तक बात आ गई कि उसने देवधर को मुँहतोड़ जवाब दे दिया- "यह नाटक तुम्हारा बनाया हुआ है। सत्ता धारी राजा ने पंडित से कहा- धर्म का नाटक रचो। प्रजा सत्य की परीक्षा देती रहे। तुम बैठे मौज करो। राजा ने दरबारी पंडित से कहा- लिखो मेरी कहानी, वही हो गया इतिहास। राजा ने आज्ञा दी, ऐसा शास्त्र रचो जिसमें नर्क और स्वर्ग हो, पाप और पुण्य हो, पूर्व जन्म का कर्म-फल हो, भय हो आतंक हो, नीचा हो-ऊँचा हो. . . ."

जब पात्र इस प्रकार से व्यवहार करे तो दूसरे पात्र यानी मुख्य पात्र देवधर पर क्या गुजरेगी, यह अनुमान लगाया जा सकता है। यही हुआ भी। अब देवधर को यह समझते हुए देर न लगी कि जीतन बहुत अधिक बदल गया है और वह लौका की जबान बोल रहा है। सच्चाई यह है कि कड़वे सच को पचा लेना आसान काम नहीं है। देवधर भी नहीं पचा पाया और उसने जीतन को अधर्मी, पता नहीं क्या-क्या कहा।

नाटक के अन्त में जीतन ने यहाँ तक कह दिया कि सारी कथाएं तुमने यानी देवधर जैसी ऊँची जाति और ऊँचे पद पर बैठे हुए लोगों ने बनाई है, वे क्यों और कैसे बनाई गईं, यह मैंने विश्वामित्र बन कर देख लिया। इसका तात्पर्य यह है कि नाटक में अभिनय के माध्यम से ही सही, जीतन ने एक नया अनुभव प्राप्त किया। इससे वह देवधर की पक्षधरता से अलग हटकर लौका के साथ चला गया और उसने लौका को आश्चर्य किया कि हम सब तुम्हारे साथ हैं। वास्तव में जीतन न तो देवधर से अलग हुआ और न ही लौका के साथ मिला बल्कि उसने झूठ को छोड़कर सत्यपथ को अपनाया। इससे नाटक में जीतन के चरित्र विकास को भली-भाँति देखा जा सकता है। निश्चय ही जीतन के चरित्र में सतत् विकास होने से दर्शक के लिए प्रिय और अनुकरणीय सिद्ध होता है।

21. 'एक सत्य हरिश्चन्द्र के पात्र गपोले का चरित्र-चित्रण

लाल सफल नाटककार है। उनके पात्रों की अपनी भूमिका होती हैं। गपोले का चरित्र-चित्रण लाल ने बिल्कुल अलग ढंग से किया है। वह सभी पात्रों से एकदम अलग है। अवश्य ही वह भूतपूर्व जमींदार और वर्तमान राजनेता देवधर का साथी और सहयोगी है। परन्तु उसका स्वरूप कुछ और ही है। यह तो जीतन के चरित्र को देखने से भी पता चल जाता है कि जमींदार या राजनेता जिस तरह के शक्तिशाली लोगों को पाल लेते हैं, और उनके शरीर शक्ति के बल पर अपने सारे सही-गलत काम कराते हैं, उस तरह का पात्र जीतन नहीं है और गपोले भी नहीं है। स्पष्ट ही गपोले कोई गुण्डागर्दी नहीं करता, कोई गलत काम नहीं करता। ऐसा लगता है कि केवल देवधर का समर्थक है, पक्षधर है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

जीतन और गपोले : जीतन और गपोले के चरित्रों में एक अलगाव बिन्दु यह है कि जीतन में सोच-विचार की शक्ति है वह अपनी बात को दार्शनिकता की ओर ले जा सकता है। जीतन में ऐसा नहीं है वह सोच-विचार से बहुत दूर रहता है तो फिर प्रश्न यह है कि गपोले की क्या जरूरत है जब वह शरीर बल नहीं दिखाता, बुद्धि बल नहीं दिखाता तो देवधर ने उसे अपने साथ क्यों लगा रखा है ? और नाटककार ने इसे स जन क्यों किया है ? इसने नष्ट करने के लिए यहाँ गपोले के चरित्र को या उसकी चरित्रगत विशेषता को जानने पहचानने की कोशिश की जा रही है।

हंसमुख : गपोले एक सीधा-साधा व्यक्ति है। उसमें कोई अलछल नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह हंसोड़ है। वह किसी भी सीधी-सादी बात को सीधे ढंग से हास्य का पुट मिलाकर कह सकता है और तनाव के क्षणों में किसी गंभीर से गंभीर बात के हंसी मजाक के ढंग से प्रस्तुत करके मामले को काफी म दुल और हल्का बना सकता है। जैसे देवधर ने प्रश्न किया कि बताओ किसने कहा अब हमें देवधर बाबू की जरूरत नहीं है। देवधर बाबू को किसने बनाया। इससे पहले की कोई बोलता और बोलकर कुछ और कहता गपोले ने तत्काल उत्तर दिया-भगवान ने बनाया। यह बात बिल्कुल सीधी सादी है, सामान्य स्थिति में कही गई है। फिर भी यह निश्चित है कि जैसे ही मंच पर अभिनय के दौरान गपोले यह वाक्य बोलेगा तो दर्शकों

की हंसी छूट पड़ेगी। पाठक-दर्शक यह जान सकते हैं कि देवधर का प्रश्न यह नहीं था। वह यह उत्तर नहीं चाहता था और इसलिए उसने गपोले के उत्तर के बाद यह जोड़ा-नहीं, जनता ने बनाया। तभी तो जनता को जर्नादन कहा गया है। गपोले ने जो बात कही, जिस तरह कही, उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह मुखर्ष है। वह है या नहीं यह प्रश्न अलग है, परन्तु हंसी मजाक का वातावरण पैदा करने के लिए या बात को बदलने के लिए या बात को आगे बढ़ाने के लिए इस तरह की उक्तियाँ जरूरी होती हैं।

प्रभावी व्यक्तित्व : देवधर बार-बार लौका से जोर देकर यह कहता है कि वह बताये, वह क्या चाहता है। यह बात कई जगह कई तरह से कही जाती है। इस बहाने देवधर उसे कहीं न कहीं फंसाना चाहता है। लौका सच्चा है, ईमानदार है, वह अपने ऊपर उसे हावी नहीं होने देता। इसी बीच देवधर उससे पूछता है, अरे भाई मुझे समझा ना, तुझे क्या चाहिए ? इसका उत्तर लौका को देना है परन्तु गपोले आवश्यक था अनावश्यक रूप से अपनी टांग बीच में फंसा देता है और कहता है- “बोल भाई, बोल। पंछी को पिंजरा से खोल।” अब यह देखिए कि उस उक्ति में क्या चमत्कार है। प्रश्न उससे नहीं था। फिर भी वह बोला। वह गद्य में न बोल कर पद्य में बोला। अतुकान्त न बोल कर तुकान्त में बोला। साधारण भाषा में न बोलकर अलग भाषा में बोला मुहावरे में बोला। अभिधा में न बोल कर व्यंजना में बोला। यह गपोले की शैली है यह उसका व्यवहार है। इस तरह के वाक्य उसके ओढ़े हुए नहीं हैं। वे स्वतः स्फूर्त रूप से व्यक्त हो जाते हैं और उसके व्यक्तित्व का यह पहलू बराबर खुलता जाता है।

इसी बातचीत के सन्दर्भ में लौका दो अर्ध वाक्य बोलता है जिनमें दो अलग-अलग बातें हैं। इनमें वह प्रश्न नहीं करता बल्कि अपनी बात को आधा कह कर छोड़ देता है। फिर भी वह एक प्रश्न है। इनमें से एक इस प्रकार है- और यहाँ की अमीरी कहती है. . . इस पर गपोले का कथन है- कैसे बेकार का सड़ा लोक है, इसके लिए इतना किया जाता है पर यह नमकहराम है। उसका यह कथन भी सचमुच हास्यास्पद है और इसे देखकर-पढ़कर दर्शक-पाठक को हंसी आ जायेगी। गपोले का उद्देश्य यह नहीं है कि कोई वैचारिक बात प्रस्तुत करे बल्कि उसे तो यों ही कुछ कह देना है। यह हो सकता है कि वह बात सच तो। वैसे वह कभी झूठ नहीं बोलता जो कहता है सच ही कहता है। उसने जीवन की सच्चाई इन शब्दों में व्यक्त कर दी है- “लौका तो नीची जाति का है, क्या। लेकिन हाँ, इसके करम ऊँचे हैं। हम लोग ऊँची जाति के हैं, करम चाहे जैसा करें ? सारा सवाल पूर्व जन्म का है।”

सत्यवादी : गपोले की सच्चाई पर देवधर ने ध्यान नहीं दिया। शायद प्रसंग बदल गया था। इसलिए यह बात यों ही चली गई। यह भी हो सकता है कि गपोले अपनी बात कभी गंभीरता से कहता ही नहीं। उसकी बात में सच झूठ होता ही नहीं तो देवधर उसके इस कथन में सत्य को क्यों दूँढता। फिर भी यह सच है कि गपोले जैसा उच्च कुल और उच्च वर्ण का व्यक्ति लौका जैसे नीची जाति के व्यक्ति की प्रशंसा करे और इसके साथ ही ऊँची जाति के लोगों पर व्यंग्य करे। यह प्रसंग उस समय का है ‘जब प्रस्तावना में सत्यनारायण की कथा चल रही है और साथ ही राजनीति पर बहस भी हो रही है और जब बहस बढ़ जाती है तो गपोले एक हल्का सा सुरा यों ही छेड़ देता है जैसे- “पंचों सत्यनारायण की कथा सुनो। बेसी बकर-बकर मत करो, क्यों।” इसे स्पष्ट करने की जरूरत नहीं कि यहाँ भी गपोले ने माहौल को बदलने के लिए अपनी बात को हल्की-फुल्की भाषा में कह दिया है।

जब मंच पर देवधर की निजी सविच मिस पद्मा आती है तो भी वह अपनी इस आदत से बाज नहीं आता और कोई न कोई हल्की-फुल्की टिप्पणी जड़ देता है। देवधर का सुझाव है कि पद्मा नाटक के भीतर खेले जाने वाले नाटक में शैव्या का पार्ट करे तो जैसे ही देवधर कहता है कि यह

फर्स्टक्लास हीरोइन है तो गपोले फब्की कसता है- “ठीक है, पतुरिया का पाठ कर लेगी। क्या ?” जब पद्मा कुछ कहती है तो गपोले वाह-वाह कर उठता है और कहता है क्या तेरी हस्ती है और जब पद्मा अभिनय के लिए तैयार नहीं होती तो गपोले कहता है- “अरे मान भी जावा-क्यों तरसावा ?”

हंसमुख : अपनी बात को और आगे कहने से पहले गपोले के चरित्र पर और प्रकाश डालने से पहले यहाँ एक संवाद प्रस्तुत किया जा रहा है जो गपोले और रंगा (सूत्रधार) के बीच होता है जबकि गपोले नारद के वेश में आ चुके हैं। वह दौड़े दौड़े मंच पर आते हैं और फिर संवाद शुरू होता है-

गपोले : अरे-रे-अरे, यह क्या कर रहा तू, क्या! सारा नाटक तू गाकर सुना देगा, तो हमारा क्या होगा क्या ?

रंगा : भाई, जो बात सब जानते हैं, उसे दिखाने में क्या फायदा।

गपोले : क्या ? मैं समझा नहीं, क्या ?

रंगा : मतलब सतयुग में हरिश्चन्द्र एक राजा थे।

गपोले : राजा नहीं, सत्यवादी राजा थे।

रंगा : इन्द्र को उससे हुई परेशानी।

गपोले : यह थी उसकी नादानी।

रंगा : इन्द्र ने विश्वामित्र से कहा-मुनिवर उसकी लो परीक्षा।

गपोले : अच्छा।

रंगा : विश्वामित्र बोले।

गपोले : क्या बोले ?

अब यहाँ जरा अनुमान लगाइए कि रंगा जो सूत्रधार है, नाटक को अपने ढंग से चला रहा है और गपोले नारद का वेश धारण कर चुका है जो इसी वेश में मंच पर आकर उपस्थित हो जाता है तो पहला ठहाका दर्शकों का गपोले को नारद के वेश में देखते ही लगेगा। वह जिस तरह से मंच पर आता है, वह भी हंसी का कारण बनता है। वार्तालाप का जो अंदाज है वह भी अजीबोगरीब है और उसने नाटक में जीवंतता आ जाती है। इन संवादों में एक ताजगी है। गपोले तुकांत भाषा में बोलता है। वातावरण को हल्का बनाने में समर्थ होता है। इस पात्र की सहजता और स्वाभाविकता दर्शकों और पात्रों को आकृष्ट करती है, ये सब देखकर और पढ़कर बहुत अच्छा लगता है।

तीसरे दृश्य में गपोले नाटक के मूल पात्रों के संवादों के बीच अवतरित होता है और देवधर से कहता है- आप यहाँ खड़े हैं उधर विश्वामित्र की तलाश हो रही है, क्या! पर्दा उठने को है काशी का सीन आएगा, क्या! इससे पहले वातावरण में काफी तनाव आ चुका था। देवधर और जीतन के बीच तनातनी बढ़ने वाली थी कि गपोले ने आकर सब ठण्डा कर दिया। उसका तकिया कलाम है, ‘क्या’ और जब वह इस शब्द को बार-बार बोलता है तो दर्शक हंसी को रोक नहीं सकते इसी प्रकार जब देवधर मिस पद्मा को पुकारते हैं तो गपोले पद्मा से कहता है- पद्मा देवी! सुनिए! सरकार की बात को सुनिए! दो में से एक को चुनिए। नहीं तो सिर धुनिये।” यह उक्ति भी उसी क्रम में है जो गपोले की सहजता और अकृत्रिमता को स्पष्ट करती है।

नारद चरित्र : अब नारद के रूप में गपोले का करिश्मा देखिए। वह काशी के बाजार में हरिश्चन्द्र विश्वामित्र आदि से पहले ही पहुँच जाता है और वहाँ लोगों को सम्बोधित करता हुआ अपनी

उसी चहुल भरी भाषा में कहता है- “नारायण, नमो नारायण! नारद की बात सुनो, ध्यान से, काशी के दुकानदारों, व्यापारी, खरीदारों, ठग-चोर-उच्चको, गुण्डा, पहलवान, छैला सुना। नाट्य शास्त्र, संगीत शास्त्र, विद्या, कामशास्त्र, उच्चाटन, तंत्र-मंत्र के विशारदो, सुनो! वीरता, म गयापटुता के धनी मानी सुनो। न त्याचार्य, कुटनी, विकराला, राजसेवी, विलासी भट्ट पुत्र, चिन्तामणि सेठ व्यापारी बिट, नर्वट नट जुआरिओं सुनो! रंगशाला, महल, मंदिर, अटारी, पानगोष्ठी, से लेकर सुरासुन्दरी भग गोष्ठी के रसिको सुनो।”

आगे चलकर विश्वामित्र हरिश्चन्द्र से कहते हैं कि तुम अब भी अपने वचन से पीछे हट जाओ। देखो ना तुम्हारी यह पतिव्रता पत्नी पतुरिया के हाथों बिक गई तो धर्म कैसे बचेगा। शैव्या तुम्हारी धर्मपत्नी कहीं रह जाएगी तो नारद के रूप में गपोले का यह कथन एक ओर मौजूं बैठता है तो दूसरी ओर हंसी का कारण भी बनता है- “जब बताओ, नारद मैं हूँ कि नारद है विश्वामित्र।”

चातुर्थ : वैचारिक धरातल पर संघर्ष होता है देवधर और जीतन के बीच जो काफी लम्बा चलता है। वह संघर्ष पांचवें द श्य में अधिक प्रखर हो जाता है। गपोले इस चक्कर में नहीं पड़ता। वह कोई वैचारिक संघर्ष नहीं करता। फिर भी वह स्थितियों को समझता तो है, उसे भले बुरे की पहचान तो है और एक जगह यकायक वह इतना तो कह ही देता है- “देखो न, आप सोने को हाथ लगाते हो, मिट्टी क्यों हो जाती है ? आप बार्ते पक्की करते हो, पर कच्ची क्यों हो जाती है?” उल्लेखीनय है कि यह कथन देवधर के प्रति है। नाटक के अन्त में जब सब लोग अपने विचार देवधर के विरुद्ध और लौका के पक्ष में व्यक्त करते हैं तब भी वह केवल विषय को इधर-उधर कर देता है हालांकि वह सत्य के साथ है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि गपोले का चरित्र एक हंसोड़ का चरित्र है। इस पात्र से नाटक को प्रभावी और **मनोरंजक** रूप मिला है।

खण्ड (ख)

व्याख्या

॥ 1 ॥

जो सत्यनारायण की कथा ध्यान से नहीं सुनता वह नष्ट हो जाता है।
अंगध्वज राजा के सौ पुत्र और धनधान्य आदि नष्ट भयो। तब राजा बोला-
हे हत भाग्य, मेरो सब कुछ सत्यनारायण ने नष्ट कियो। प . 21

संदर्भ: प्रस्तुत अभिनयात्मक गधांश डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से लिया गया है। नाटक की प्रस्तावना में मंच पर गाँव का एक दृश्य है जहाँ पर उच्च वर्ग के तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति भी कुछ सम-विषम संवाद कर रहे हैं इसके बाद कुँए के चबूतरे पर पुरोहित जी सत्यनारायण की कथा कहते हुए साधना और पूजा का महत्त्व प्रतिपादित कर रहे हैं। बीच-बीच में देवधर राजनीति की भी चर्चा करता है। गाँव के चबूतरे पर ऐसा संवाद सुनकर हर व्यक्ति अपने-अपने मन की बात कह रहा है।

व्याख्या: गाँव के चबूतरे पर पुरोहित जी सत्यनारायण की महिमा का वर्णन करते हुए उसमें ध्यान लगाने वाले की सफलता की बात कहते हैं, तो सत्यनारायण की उपेक्षा से अनेक कष्टकर स्थितियों का उल्लेख करते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से संकेत किया कि यदि किसी को सत्यनारायण की कथा सुनने का अवसर मिले, तो उसे अपना सौभाग्य समझना चाहिये। उसे एकाग्र मन से भगवान का ध्यान करते हुए सत्यनारायण की कथा सुननी चाहिए। जो व्यक्ति ऐसे अवसर को पाकर भी अपना ध्यान एकाग्र नहीं करता, मन में खुशी नहीं होती, उसके मन में श्रद्धा नहीं जगती और भक्ति-भाव से आन्दोलित नहीं होता वह अपने जीवन में असफल ही नहीं होता वरन् अनेक संकटों से घिरकर कष्ट पाता है। उसका जीवन लक्ष्य उससे दूर चला जाता है और धन-धान्य ही नहीं सुख-सम्पन्न परिवार भी नष्ट हो जाता है। पुरोहित ने इस कथन को पुष्ट करते हुए राजा अंगध्वज की कथा सुनाई-

वह राजा सत्यनारायण की कथा का प्रसाद छोड़कर घमण्ड के कारण भगवान की उपेक्षा कर बैठा। वह जब पूजा स्थल से दूर अपने राज्य पहुँचता है तो उसे पता चलता है कि उसके सौ पुत्र मारे जा चुके हैं। इतना ही नहीं सारा धन-धान्य सब कुछ नष्ट हो चुका। सब कुछ खोकर राजा को चोट लगी और उसे इस पर सोचने के लिए विवश होना पड़ा, उसे स्वयं को आभास हो गया कि घमण्ड के कारण भगवान सत्यनारायण की उपेक्षा करने का परिणाम है कि मुझे दुर्भाग्य में डूबना पड़ा है।

इस अनुच्छेद में पुरोहित के माध्यम से ग्रामीणों की श्रद्धा-भक्ति का परम आकर्षक रूप प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक युग में ऐसे भाव निश्चय ही श्रद्धा जगाने वाले होते हैं।

विशेष:

1. अभिनयात्मक आकर्षक संवाद योजना।
2. सत्यनारायण की कथा का महात्म्य प्रतिपादन।
3. राजा अंगध्वज के अहंकार और पश्चाताप का चित्रण।
4. आत्म संवाद का अनूठा स्वरूप।
5. सरल बोधगम्य मानक हिन्दी का स्वरूप।
6. तद्भव शब्दों के मध्य तत्सम् शब्दों का उत्तम योग।
7. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
8. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
9. अप्रस्तुत का सुन्दर प्रस्तुत विधान।
10. हृदय स्पर्शी भाव अभिव्यंजना।

|| 2 ||

“भूख, शूद्र और अज्ञान यह तीन धर्म साधना के बहुत बड़े विघ्न हैं। शतपथ, ब्राह्मण और मनुस्मृति में कहा गया है कि – अब्राह्मण और शूद्र ब्राह्मण विधा के अधिकारी नहीं। शूद्र को वेद पढ़ने सुनने की मनाही है। शूद्र श्मशान समान है।” प . 23

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी नाट्य जगत के सुनामधन्य लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक एक सत्य हरिश्चन्द्र से ली गयी है। यह नाटक की प्रस्तावना का अंश है। यहीं से समाज को दो वर्गों में बाँट दिया गया है। अधिकार सम्पन्न और अधिकार विहीन। सवर्ण और अवर्ण। सवर्ण अवर्ण पर शासन करता है और उसका शोषण करता है। उसे हमेशा दबाए रखता है जब कभी वे गर्दन उठाते हैं तो उन्हें सबक सिखा दिया जाता है।

एक जगह सत्यनारायण की कथा चल रही थी। उसके बाद प्रमुख पात्र लौका ने घोषणा की कि रविवार को मेरे घर पर सत्यनारायण की कथा होगी। वह सबको आमन्त्रित करके चला जाता है। तब राजनेता देवधर अपना विषममन करता है, वह शूद्र लौका द्वारा सत्यनारायण की कथा को हिन्दू धर्म के विरुद्ध घोषित करता है। उसके माध्यम से अवर्णों पर शाब्दिक आक्रमण कर देता है।

व्याख्या: वह कहता है कि धर्म सामान्य नहीं है, बल्कि विशिष्ट है, वह एक साधना है। उसके सही स्वरूप का दर्शन उसी को होता है, जो उसे साधता है। इस विशिष्ट भाव के मार्ग में तीन बाधक तत्त्व होते हैं भूख, शूद्र और अज्ञान। जो अज्ञानी या भूखा है वह धर्म की साधना नहीं कर सकता। इस प्रकार शूद्र भी इससे वंचित रह जाता है। जिस प्रकार अज्ञानी ज्ञान से रिक्त है, भूख शरीर से परे की बात नहीं सोचने देती। उसी प्रकार शूद्र की स्थिति है। वह धर्म की साधना में लीन नहीं हो सकता। अगर धर्म-साधना में लग गया तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। यह उसका कार्य क्षेत्र ही नहीं है।

इस प्रकार उच्च जाति के नेता देवधर के अनुसार शूद्र की सामाजिक स्थिति कुछ नहीं है। वह भूख और अज्ञान के समान है। भूख को या भूखे को और उतना ही अज्ञान या अज्ञानी को सब तिरस्कृत करते हैं। शूद्र भी उसी वर्ग में आता है। वह भी तिरस्कार योग्य है।

ये असन्तुलित विचार देवधर के हैं। जिनके अनुसार लौका ही नहीं, समस्त शूद्र वर्ग तिरस्कार और उपेक्षा के योग्य है। वह शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति के नाम लेकर अपनी इसी अस्वस्थ मानसिकता को उजागर करना चाहता है। उनके अनुसार शूद्र जाति के व्यक्ति को ब्रह्म विद्या सीखने का अधिकार ही नहीं है। अतः वह वेदशास्त्र नहीं पढ़ सकता। इतना ही नहीं, शूद्र सामाजिक प्राणी नहीं है, बल्कि श्मशान के समान है जहाँ जीवन नहीं है, मृत्यु है, जहाँ खुशहाली नहीं बरबादी है।

विशेष:

1. नाटककार ने एक उच्चवर्गीय व्यक्ति की दूषित मानसिकता का उद्घाटन किया है।
2. जीवन का यह संकुचित दृष्टिकोण बहुत खतरनाक है। जिस पर नाटककार ने व्यंग्य किया है।
3. नाटककार रचनात्मक स्तर पर समाज में बदलाव लाने के लिये प्रयत्नशील है।
4. कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अभिव्यक्ति भर देना नाटककार का प्रभावी कौशल है।
5. खड़ी बोली का प्रयोग।
6. सरल भाषा का प्रयोग।
7. अभिनयात्मक भाषा।
8. श्रेष्ठ संवादात्मक-स्वरूप।
9. गम्भीर भावाभिव्यक्ति।
10. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
11. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का प्रयोग।

॥ 3 ॥

“तुम नहीं समझते ? अगर इस तरह लोगों ने सोचना शुरू कर दिया तो हम कहीं के न रहेंगे। लोगों को भड़काकर हमारी बुनियाद ही उलट देना चाहते हैं लोगों पर इसका प्रभाव है। कहता है— राजनीति ने जीवन के मंदिर को उल्टे खड़ा कर दिया है।” प . 26

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी नाट्य जगत के सुनामधन्य लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से ली गई हैं। नाटक के प्रमुख पात्र देवधर का कथन है कि वह अपने साथी जीतन के साथ बातचीत कर रहा है। देवधर इस बात से दुखी है कि लौका की छवि बहुत बढ़िया है और देवधर को अपना नेतापद खतरे में जान पड़ता है। आपसी संवाद में तुलना हो रही है।

जब जीतन यह कहता है कि आप इतना परेशान क्यों हो रहे हो, तो देवधर बदली हुई स्थितियों को स्पष्ट करता है कि उसके लिए चिन्ता का स्थान विद्यमान है।

व्याख्या: देवधर जीतन से प्रश्न करता है, क्या तुम इतनी मोटी सी बात भी नहीं समझते ? वह मुझे उखाड़ फेंकना चाहता है। मुझे हटाकर स्वयं नेता बन जाना चाहता है। उसने साधारण जनता में यह मंत्र फूँक दिया है कि साधारण लोगों का कल्याण बड़े लोग नहीं कर सकते हैं, अपितु उनके बीच में रहने वाला व्यक्ति ही उनका हित कर सकता है। साधारण जनता में इस मंत्र का प्रभाव

हो गया है। वे लोग लौका की बात मानते हैं और अब लोग इसी दिशा में सोचने लगे हैं। तनिक कल्पना करो, इस विचार का कितना घातक प्रभाव होगा। इसका परिणाम यह होगा कि मेरा अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। तुम्हारे लिये और हमारे वर्ग के लिये कुछ नहीं रह जाएगा।

वह लोगों को हमारे विरुद्ध भड़का रहा है। यह उच्च वर्ग या मध्य वर्ग के विरुद्ध निम्न वर्ग का युद्ध है और इस प्रकार वह हमारी नींव को ही उखाड़ फेंकना चाहता है तथा हमारे आधार को ही हमसे छीन लेने के लिए उतारू है। इससे बड़ा संकट और क्या हो सकता है? मेरे लिए संकट उपस्थित है।

सबसे बड़ी बात यह है कि लोग उसे आदर देते हैं उसकी उज्ज्वल छवि उन पर जादू की तरह छा जाती है। फिर तो जो वह कहता है, वही होता है। उसकी बातों का मोहक जादू चमत्कारी होता है।

अब देखो न ! उसकी हर बात कितनी दमदार होती है, जैसे यही कि वह राजनीति की धज्जियाँ उड़ाता है। उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य का जीवन मंदिर की भाँति एक पूजा स्थल है। परन्तु राजनीति ने इसे कलुषित बना दिया है। राजनीति से उसका आशय है- सवर्णों एवं सम्पन्न वर्ग की राजनीति सामान्य जन-जीवन के विरुद्ध है। अब तुम्हीं बताओ, क्या यह हमारे लिये संकट नहीं है ? क्या हम इसे सामान्य बात मानकर चुप हो कर बैठ जाएं ? वह पूरी तरह से अशान्त हो गया है।

विशेष:

1. इसमें यह दिखाया गया है कि हमारे जीवन पर राजनीति हावी हो गई है।
2. कुर्सी का पद मिल जाने पर उसे सुरक्षित रखने की चिन्ता का चित्रण है।
3. दो व्यक्तियों की विरोधी मानसिकता को उद्घाटित किया गया है।
4. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
5. खड़ी बोली का प्रयोग।
6. अभिनयात्मक भाषा।
7. तद्भव के साथ तत्सम् शब्द का प्रयोग।
8. गम्भीर भाव-अभिव्यक्ति।
9. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 4 ॥

“बात यह है कि सत्य तो कोई अपने जीवन में जी नहीं पाता। सत्य के लिये उसे इन्तहान देना पड़ता है। उसके लिये विपत्ति एवं बलिदान सहना होता है। उसी में सारी जिन्दगी खत्म। इधर आप मौज कीजिए।” प . 26

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी जगत के सुनामधन्य लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ के पहले दृश्य से उद्धृत है। इसमें पूर्व राजनेता देवधर व उसका साथी जीतन आपस में बात कर रहे हैं। उनके सामने बड़ी गम्भीर समस्या खड़ी हो गई, जिसे हल करने के उपायों पर विचार हो रहा है। नये-नये मुद्दे उठते हैं। और उनके नये-नये समाधान आते हैं।

अब नई समस्या यह है कि लौका सच बोलता है, जिसके कारण सामान्य जनता पर उसका भारी प्रभाव है। इससे वह देवधर के प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूप में उभरता है और देवधर तनावग्रस्त हो जाता

है। इस पक्ष को जीतन दूसरे ही रूप में देखता है और राजनेता को आश्वस्त करता है कि चिन्ता की कोई बात नहीं है।

व्याख्या: जीतन के अनुसार जीवन के दो पक्ष हैं- व्यवहार और सत्य। अवश्य ही जीवन के व्यावहारिक पक्ष से गुजरते हुए ही कुछ अनुभव होते हैं जो जीवन की सच्चाई बन जाते हैं। प्रश्न है क्या जीवन-सत्य को व्यवहार में ढाला जा सकता है ? यानी क्या सत्य को जीवन में जिया जा सकता है ? इसका उत्तर होगा नहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्य और व्यवहार के बीच बहुत अन्तर है।

जो व्यक्ति सत्य को व्यवहार में लाने की हठ करता है, वह एक ऐसा काम करने जा रहा है जो बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि बाहरी सामाजिक स्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं हैं। इसलिए उसे बार-बार परीक्षा देनी होती है, कहना यों चाहिए कि वह अपने लिये संकटों को आमन्त्रित कर रहा है। वे संकट उसे तोड़ने की कोशिश करते हैं। उसे अपनी स्थिति को सही प्रमाणित करने के लिए बलिदान देने पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उसे कष्ट झेलने होंगे और कुछ न कुछ खोना पड़ेगा। बस यों समझ लिया जाए कि वह व्यक्ति अपना जीवन इन्हीं चक्करों में खपा देता है।

अतः सीधी सच्ची बात यह है कि लौका अपने सत्य के चक्कर में पड़कर जीवन भर सब कुछ खोता रहेगा। वह आपका प्रतिद्वन्द्वी रह ही नहीं सकता। इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं, आप निश्चिन्त होकर अपना जीवन जीते रहें। लौका आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

विशेष:

1. इसमें जीवन की सच्चाईयों का उद्घाटन है।
2. दर्शन की गुत्थी को सामान्य रूप में सुलझाने का प्रयत्न हुआ है।
3. एक व्यक्ति का गुण उसी के लिए दुर्गुण बन जाता है।
4. व्यावहारिक बुद्धि का चमत्कारिक चित्रण है।
5. कम से कम शब्दों में अधिक प्रभावी अभिव्यक्ति की गई है।
6. भाषा सरल एवं सहज है।
7. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली है।
8. अभिनयात्मक प्रस्तुति।
9. अन्तर्द्वन्द्व का प्रभावी चित्रण।

|| 5 ||

“सोचिए, भला, यहाँ कौन जी सका है अपने सत्य को ? सत्य हरिश्चन्द्र नहीं जी सके, सिर्फ यह साबित करने में कि वह सत्य हरिश्चन्द्र हैं, सारी जिन्दगी तबाह हो गई। सब कुछ बिक गया। और राजा इन्द्र बना रहा।” प. 26

संदर्भ: ये पंक्तियाँ 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नामक नाटक से ली गई हैं जिसके रचयिता हैं, लक्ष्मी नारायण लाल हैं। ये पंक्तियाँ नाटक के पहले ही दृश्य में विद्यमान हैं जहाँ रंगमंच पर उपस्थित दो पात्र देवधर और जीतन आपस में बात कर रहे हैं। उनके केन्द्र में एक तीसरा व्यक्ति लौका है जो वहाँ नहीं है। यहाँ पर राजनेता देवधर शंकाएं व्यक्त करता है, और जीतन उनका समाधान करता है।

देवधर स्वयं लौका के व्यक्तित्व से प्रभावित ही नहीं, आतंकित भी है। जब वह कहता है कि लौका जीवन-सत्य और जीवन-व्यवहार को एक मान कर चलता है। और वैसा ही प्रमाणित करता है तो जीतन उसे पुनः परिभाषित कर देता है।

व्याख्या: अगर हम इतिहास को देखें और समकालीन जीवन की घटनाओं पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सत्य को जीवन में कोई नहीं उतार पाया है, उसे स्वयं नहीं जी सका है। इसका कारण स्पष्ट है कि यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। राजा हरिश्चन्द्र का जीवन्त उदाहरण हमारे सामने अवश्य है। जो सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के नाम से विख्यात है। लेकिन हम देखते हैं कि वे भी सत्य को अपने जीवन में नहीं जी सके। लेकिन उन्होंने उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न अवश्य किया। यह जीने वाली बात नहीं थी बल्कि वे अपने आपको सत्यवादी होने का प्रमाण देना चाहते थे।

लेकिन इसका परिणाम क्या हुआ, सभी जानते हैं। उनके जीवन में शेष क्या बचा ? उन्होंने क्या पाया ? कुछ भी तो नहीं, बल्कि सारा जीवन यूँ ही चला गया। उनके पास अपना कहने के लिए जो कुछ था, सब यों ही चला गया। यहाँ तक कि वह स्वयं बिक गए और पत्नी को भी बेच दिया, उनका एकमात्र पुत्र भी अपना जीवन जी न सका। दूसरी ओर राजा इन्द्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह पूर्ववत् राजा ही बना रहा।

विशेष:

1. इसमें जो शब्दों में कथित है, उससे अधिक अर्थ में व्यंजित है। हरिश्चन्द्र का उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि राजनेता देवधर राजनेता ही बने रहेंगे और लौका सत्य को जीने के चक्कर में स्वयं ही समाप्त हो जाएगा।
2. सरल भाषा शैली में गहन अर्थवत्ता भरना बड़ा कठिन है, जिसे नाटककार ने अपनाया है।
3. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
4. खड़ी बोली का प्रयोग।
5. अभिनयात्मक भाषा।
6. तद्भव के साथ तत्सम् शब्द का योग।
7. गम्भीर भाव-अभिव्यक्ति।
8. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
9. सूक्ष्म मनोभावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।

III 6 II

“देखो जीतन गुरु यही है तुम्हारी सारी दिक्कत। तुम झट सोच-विचार करने लगते हो। देखो, लौका का विश्वास जीतने के लिए सुनहरा मौका सामने है।” प. 28

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से लिया गया है। जो पहले ही दृश्य से सम्बन्धित है।

देवधर और जीतन उस स्थल पर आ गये हैं, जहाँ लौका एक नाटक खेलने का आयोजन कर रहा है। जिसके लिये देवधर स्वयं जीतन को उसमें भाग लेने के लिये प्रेरित कर रहा है। उधर अवर्णों

एवं सवर्णों के बीच दंगा हो चुका है, जो देवधर के संकेत पर ही हुआ। जीतन अवश्य ही देवधर का पक्षधर है लेकिन वह हिंसा के विरुद्ध है।

व्याख्या: देवधर का स्पष्टीकरण है कि प्रेम व राजनीति में कुछ भी गलत नहीं होता, लेकिन तुम उसमें सही-गलत टटोलने लगते हो। अधिक सोच-विचार नहीं करना चाहिए। इससे कोई लाभ नहीं। व्यक्ति उसके पक्ष-विपक्ष में उलझकर रह जाता है। जो करना है, वह करना है अधिक सोच-विचार करने से कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। कारण शंकाओं का उठना।

इस समय स्पष्ट स्थिति यह है कि लौका का साथ दो, उसे विश्वास में लो, उसका विश्वास जीतो, तभी बात बनेगी। हमारा मन्तव्य पूरा होगा। ऐसा बढ़िया अवसर फिर कभी नहीं आएगा, यह मौका नहीं गंवाना चाहिए।

विशेष:

1. इसमें व्यक्ति का मनोविज्ञान पता चलता है कि किस प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वी को हराने के उपाय खोजे जा रहे हैं।
2. दो व्यक्तियों की बातचीत के केन्द्र में तीसरा व्यक्ति है, जो वहाँ उपस्थित नहीं है।
3. यह तर्क का ही चमत्कार है कि दूसरे व्यक्ति में उभरने वाले द्वन्द को समाप्त करके उसे निद्वन्द बनाने की प्रयत्नशीलता है।
4. सरल भाषा में जीवन की दार्शनिक गुत्थियों का उद्घाटन इस अंश की विशेषता है।
5. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
6. अभिनयात्मक प्रस्तुति।
7. तद्भव के साथ तत्सम् शब्द का योग।
8. खड़ी बोली का प्रयोग।
9. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
10. गम्भीर भावाभिव्यक्ति।

|| 7 ||

“हर कोई इसके लिए एक चीज है। इनके इस्तेमाल की चीज। आखिर सब नाटक ही तो है, इनके लिए। मेरे लिये वही जीवन है। शैव्या का चरित्र आखिर यह नाटक किसका है ? शैव्या के चरित्र का सत्य पाऊँगी। (प्रकट) एस. सर, मैं शैव्या बनूँगी, जो कुछ बनना होगा बनूँगी।” प. 30

संदर्भ: प्रस्तुत अभिनयात्मक गद्यांश लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक से लिया गया है। यह नाटक के पहले दृश्य की घटना है। नाटक खेला जाना है। देवधर इस पर भी अधिकार जमाना चाहता है। और इसका उपयोग अपने हित में करना चाहता है। पद्मा देवधर की सचिव है। जिसे देवधर नाटक में भूमिका अदा करने और लौका को प्रभावित करने के लिये कहता है। वह पद्मा से कहता है कि मेरे दुश्मन को फांस लो, और मुँहमांगा इनाम लो। इस पर पद्मा अपने आपसे कहती है-

व्याख्या: देवधर के लिए हर व्यक्ति एक चीज या माल होता है। इससे अधिक कुछ नहीं। वह किसी

भी स्तर पर यह सोच ही नहीं पाता कि किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व भी होता है। वह कुछ सोचता भी है। उसके लिए कुछ उचित या अनुचित भी होता है। बस, वह हर किसी का उपयोग अपने लिये करना चाहता है।

उसके लिए जीवन की सच्चाई का कोई महत्त्व नहीं। बस वह जैसे नाटक करता रहता है, और नाटक कराता रहता है, हर कोई उसके लिए नाटक का पात्र है या कठपुतली है। वह बस संकेत करता है, और सब कुछ उसके संकेत पर घटित होता है।

उसका स्वागत कथन और आगे चलता है और वह सच्चाई को स्वीकार कर लेती है कि मेरे लिये तो वही सच है जो मुझे करने के लिये कहता है। मुझे उसी के इशारे पर सब कुछ करना होता है।

मुझे शैव्या की भूमिका निभानी है। भला यह नाटक किसका है ? प्रश्न यह भी है कि क्या मैं इस योग्य हूँ कि शैव्या के चरित्र को उतार पाऊँगी और उसका सच मेरा सच हो जायेगा ? जो भी हो, मुझे वही करना है जो कहा गया है। इसलिये वह प्रकट रूप से कहती है कि साहब, आप जो आदेश देंगे मैं वही करूँगी। मैं शैव्या बनूँगी। शैव्या ही क्यों कुछ और भी बनना पड़ा, तो बनूँगी।

विशेष:

1. इसमें व्यक्ति के चरित्र का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया गया है।
2. नाटककार दो स्थितियों को प्रस्तुत कर देता है जहाँ सही स्थिति की परख है और विवश होकर वह करना पड़ता है जो मन नहीं मानता।
3. नाटककार तनाव को गहराने में कुशल है।
4. नाटककार उपयुक्त शब्दों में प्रभाव क्षमता भर देता है।
5. अन्तर्द्वन्द्व का प्रभावी चित्रण।
6. व्यवहारिक बुद्धि का चमत्कारिक चित्रण।
7. अभिनयात्मक प्रस्तुति।
8. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
9. खड़ी बोली का प्रयोग।
10. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का योग।

॥ ८ ॥

हरिचंद कहो तुम कब कहीं बिकोगे ?
 बोली बोलेगा कौन घट वह होगी कैसी ?
 कौन उठाए डांड बाट वह होगी कैसी ?
 देगा कीमत कौन भला क्या बता सकोगे। हरिचंद.....
 माया रचकर जिसने ऐसा स्वप्न दिखाया
 लूटा उसको दान जहाँ से जैसा पाया
 वही खरीदेगा तुमको अब जहाँ बिकोगे। हरिचंद.....
 हरिचंद बिके हाथ सतयुग की धर्म हाट में
 त्रेता में ही बिके देवता लंक हाट में।

भीष्म बिके आखिर द्वापर के राजपाट में
 सभी बिकाऊ हैं कलियुग में कुछ भी ले लो
 हरिचंद बोलो तुम किन दामों यहाँ बिकोगे। हरिचंद.....
 दानी बिके बाजार भिखारी दान बाँटता
 लुटे सकल बाजार उलटकर दाम माँगता
 नदिया सूखी अब कैसे नाव चढ़ोगे ?
 हरिचंद कहो तुम कब तक कहाँ बिकोगे ? प. 34-35

संदर्भ: प्रस्तुत गीत हिन्दी नाट्य जगत के सुनामधन्य लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से लिया गया है जो नाटक के पहले दृश्य का अन्तिम चरण है। नाटक के अन्दर नाटक चल रहा है, जो क्रमबद्ध कहानी के रूप में नहीं है, बल्कि नाटककार उसके कथ्य को तेजी से आगे बढ़ाता है।

इस गीत से पहले विश्वामित्र ने माया रचकर राजा हरिश्चन्द्र का सारा राज्य दान में ले लिया और दक्षिणा के लिए उनके पास कुछ नहीं बचा तो स्वयं, पत्नी और पुत्र के साथ काशी नगरी में बिक्री के लिये चल पड़े। अतः नाटककार ने एक गीत की परिकल्पना की जिसे उसने गाँव के लोगों द्वारा प्रस्तुत करा दिया। इस गीत में राजा हरिश्चन्द्र के लिए प्रश्न दर प्रश्न हैं।

व्याख्या: सत्य की पक्षधरता कठिन काम है और ऐसा व्यक्ति कुछ भी पाता नहीं, बल्कि बहुत कुछ खो देता है। यह क्रम इतिहास पूर्व युग में ही नहीं, इतिहास युग में भी था और आज भी है, कल भी रहेगा। सत्य का निर्वाह करने वाला हरिश्चन्द्र हर युग में होता है, अवश्य ही बिकता है और पीड़ित होता है। अतः गाँव वालों का भोला प्रश्न है कि ऐसा कब तक चलता रहेगा ? क्या कभी इसमें व्यतिक्रम आयेगा ? ऐसा व्यक्ति कब तक बिकता रहेगा ? खरीदने वाले कैसे होंगे और वह बाजार कैसा होगा जहाँ हरिश्चन्द्र की बोली बोली जाएगी। तराजू बाट किसके हाथ में होगा और वह तराजू कैसी होगी ? हरिश्चन्द्र की सही कीमत कौन देगा ?

इसका आशय इतना ही है कि सत्य का क्रय-विक्रय सदा ही होता रहा है। बस, अन्तर इतना ही होता है कि बिकने वाला और बेचने वाला दोनों बदल जाता है। परन्तु यह क्रम बराबर बना रहता है। यह संसार बड़ा विचित्र है, जहाँ हर वस्तु बिकती है। इतना ही नहीं, सत्य भी बिकता है और सत्य पर टिकने वाला भी।

इस संसार का व्यवहारिक पक्ष बड़ा रहस्यमय है। यहाँ पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आकर्षण रचे जाते हैं, जो मायावी लगते हैं उनके चक्कर में आना स्वाभाविक ही है, और फिर अस्तित्व का संकट है। यहाँ विचित्र नियम है कि जो दान देता है, उसे लूट लिया जाता है और खरीददार भी दान देने वाला ही है। यह कैसी विसंगति है, कि दान देने वाला, लूटने वाला और खरीददार की भूमिका निभाने वाला एक ही व्यक्ति है। ऐसा कूटनीतिज्ञ समाज का संचालक और नियामक है। वह दूसरों से शक्ति छीन कर स्वयं शक्तिवान बन जाता है।

हरिश्चन्द्र सतयुग में बिके और यह बिक्री धर्म के बाजार में हुई, त्रेता में देवता बिके और द्वापर में भीष्म पितामह बिके जो क्रमशः कूटनीति और राजपाट के चक्कर में बिके। उसके बाद कलियुग आया जिसमें हर व्यक्ति बिकाऊ है, कुछ भी खरीदा जा सकता है। आज हरिश्चन्द्र की भी कीमत है, जितना दाम माँगो, उतना मिलेगा।

तात्पर्य यह है कि क्रय-विक्रय का काम सदा से होता आया है। यहाँ बिकने वाले भी रहे हैं, और खरीदने वाले भी। बिक्री का स्तर सतयुग से कलियुग तक बराबर गिरता रहा है। एक ओर हरिश्चन्द्र

जैसे लोगों का सत्य बिकता रहा है, तो दूसरी ओर सत्य की छवि रखने वालों को बिकने के लिये विवश किया जाता रहा है। आज यह बिक्री आम बात हो गई है। एक सच्चाई यह भी है कि वही व्यक्ति बिकेगा जिसके पास कुछ है। हरिश्चन्द्र परहित में बिक थे, परन्तु आज व्यक्ति स्वार्थहित में बिक रहा है। फिर भी, लौका जैसे व्यक्ति हैं, जो किसी प्रकार बिकने के लिये तैयार नहीं हैं। और जो व्यवस्था के प्रति विद्रोह का झण्डा उठा लेते हैं। वह जन-जाग्रति के अस्त्र को उठा कर समाज में बदलाव लाना चाहता है। फिर भी, उसे खरीद लेने के लिए खरीददार षड्यन्त्र रच रहा है। मायावी जाल बिछा रहा है।

यह कैसी विडम्बना है कि दान देने वाला बाजार में बिक रहा है, और भीख प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपनी झोली में से दान बाँट रहा है। इसी प्रकार जो लुटेरा सारे बाजार को लूट रहा है, वह दुकानदार से चीजों के दाम माँग रहा है। इस प्रकार सारा मामला उलट-पुलट हो गया है। राजा हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को दान दिया यानि कि दान में सारा राज्य दे दिया। उसके बाद दान की दक्षिणा देने के लिये वे काशी नगरी में बिकने के लिये चले गये। जिस विश्वामित्र ने भीख में राजा का सारा राज्य ले लिया, वही उसे लौटाने की बात कह रहा है। यह प्रस्ताव इस शर्त पर है, कि उसे यदि कोई पश्चात्ताप है तो। इसका अर्थ यह हुआ कि वह उसे सत्य से डिगाना चाहता है। नाटककार ने विश्वामित्र को लुटेरे की संज्ञा दी है।

अतः प्रश्न है कि सूखी नदी में नाव पर कैसे चढ़ोगे ? आशय यह है कि जब भावनाओं का स्रोत सूख जाए तो मानवता कहाँ रह जाती है, जो जीवन की सही पहचान देती है। ऐसे में प्रथम प्रश्न अंत तक बना रहता है कि हे हरिश्चन्द्र यह बताओ कि तुम आखिर कब तक बिकते रहोगे ? यानी आस्था और विश्वास वाला व्यक्ति सामान्य जीवन नहीं जी सकता। लोग उसे वैसा नहीं करने देते, वैसा नहीं बनने देते। उसने सत्य का पक्ष लेकर कुछ गलत काम किया है, अतः बिकना उसकी नियति है।

विशेष:

1. इसमें नाटककार ने जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है।
2. उसके प्रश्न हरिश्चन्द्र के युग जीवन के लिये ही उपयुक्त नहीं थे, अपितु वे आज भी प्रासंगिक हैं।
3. वह जीवन की दारुण स्थितियों का प्रभावी अंकन करते हैं।
4. अभिव्यक्ति में नयापन है, ताजगी है और प्रभाव क्षमता है।
5. वह अभिधा के माध्यम से सीधा अर्थ दे देते हैं और व्यंजना के माध्यम से उसमें विशेष अर्थ भर देते हैं।
6. वह शब्दों का खिलवाड़ न करके अर्थवत्ता पर अधिक बल देते हैं।
7. कबीर की उलटवासी की शैली में समकालीन जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति देते हैं।
8. सहजता एवं सरलता का निर्वाह करते हुए गहन अर्थ भर देते हैं।
9. वह गीत को नाटक का अभिन्न अंग बनाकर नाटक में अधिक गतिमयता लाते हैं।
10. व्यंग्य करना उनकी विशेषता है।

॥ १ ॥

**“त्याग किया नहीं सत्य न प सब राज अपना ताज दिया मुनिराज
के संग मुदित मन हो गमन काशी को किया। सूरज तपे धरती जलै
ज्वाला फूँके लूँ चले संकट अनेकन सह रहे तण भर नहीं प्रण से
टलें।” प. 35**

संदर्भ: प्रस्तुत गीत की पंक्तियाँ लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से ली गई हैं। इसमें नाटक के दूसरे दृश्य के आरम्भ का वर्णन है।

राजा हरिश्चन्द्र पत्नी, पुत्र समेत मुनि विश्वामित्र के साथ काशी नगरी में बिकने जा रहे हैं। वह अभी अयोध्या एवं काशी नगरी के बीच मार्ग में हैं। सभी पथ पर चल रहे हैं। तभी रंगा एक गीत छेड़ देता है जो नाटक के कथा के प्रभाव के मेल में ही है। यह गीत जैसे सूत्रधार का है और दर्शकों को सम्बोधित करता है।

व्याख्या: राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी सत्य की रक्षा के लिये अपना राज्य त्याग दिया, परन्तु राज्य की रक्षा के लिये सत्य का त्याग नहीं किया। इससे स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार सत्य का पालन राज्य के शासन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण एवं संरक्षण करने योग्य है। हरिश्चन्द्र मुनि विश्वामित्र के साथ-साथ काशी की ओर जा रहे थे, वे बाहर से ही नहीं, भीतर से भी प्रसन्न थे। इसका मतलब यह है कि उनका त्याग मन से था। स्वतः प्रेरित था। बाहर से थोपा हुआ नहीं था। प्रसन्नता के साथ त्याग किया और प्रसन्नता के साथ ही बिकने के लिए चले जा रहे थे। चेहरे पर कहीं अवसाद आदि का भाव नहीं था।

नाटककार लिखता है कि गर्मी का मौसम था। सूर्य आग उगल रहा था। जिसके कारण धरती जल रही थी, इतनी अधिक गर्मी थी कि चारों ओर आग की लपटें उठ रही थीं और लू चल रही थी। इस प्रकार वे अनेक संकटों से होकर गुजर रहे थे, परन्तु वे तनिक भी विचलित नहीं हो रहे थे।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने सत्य का पल्ला ऐसा पकड़ा कि उसे छोड़ना ही नहीं चाहते थे। उनके मन पर कोई प्रभाव था और न उनका शरीर वाह्य स्थितियों के चपेट में आ रहा था। वे अनेक बाधाओं के होते हुए भी साहस नहीं छोड़ रहे थे। और अपने सत्य की पथ पर अडिग थे। उनकी कड़ी परीक्षा हो रही थी, और वे उस पर खरे उतर रहे थे। यह निर्णय लेने और उसे कार्य रूप देने की तत्परता पर निर्भर है, जिसके लिये बलिदान की भावना अपेक्षित है। अगर कोई व्यक्ति किसी विशेष कार्य के लिये संकल्प कर चुका है तो उसे कौन डिगा सकता है।

विशेष:

1. इसमें नाटककार ने व्यक्ति का चित्र अंकित किया है।
2. इसमें अपेक्षित वातावरण का भी चित्रण है।
3. नाटककार ने गीत में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अभिव्यक्ति क्षमता भर दी है।
4. गतिशीलता भी है।
5. ये पंक्तियाँ एक ओर यथार्थ स्थिति को प्रस्तुत करती हैं, तो दूसरी ओर प्रेरक तत्त्व के रूप में भी हमारे सामने आती हैं।
6. सहज एवं सरल भाषा प्रयोग।

7. आकर्षक भाव अभिव्यक्ति।
8. सूक्ष्म भावों का हृदय स्पर्शी चित्रण।
9. सुन्दर बिम्ब-विधान।
10. आकर्षक गेयता।

II 10 II

“जैसे वह दान नहीं छल था, वैसे ही यह संगीत नहीं मायाजाल है। इसी संगीत से बहेलिया जंगल में शिकार करता है। जैसे दान का झूठा धर्म रचकर एक दूसरे को बेचता खरीदता है।” प. 36

संदर्भ: प्रस्तुत भावपूर्ण अभिनेय पंक्तियाँ लक्ष्मी नारायण लाल के ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक से ली गई हैं। हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित समेत मुनि विश्वामित्र के साथ काशी नगरी की ओर जा रहे थे। जहाँ बाजार में उन्हें बिकना था। रास्ते में एक चरवाहा मिला जो बाँसुरी बजा रहा था। विश्वामित्र ने पूछा- वह क्या गा रहा है ? रोहित जवाब देते हुए कहता है कि वह अपने संगीत से सबको फँसाता है। रोहित उसे अपने पिता के दान के साथ जोड़ देता है और कहता है-

व्याख्या: दान, दान होता है जो स्वतः स्फूर्त भाव से दिया जाता है। अगर दान लेने के लिए छल-कपट किया जाए, कोई जाल बिछाया जाए और दान देने वाले को उसका आभास न हो, वह अपने भोलेपन में उसे स्वीकार कर ले तो वह सच्चे अर्थों में दान नहीं है। दान देने वाला दान लेने वाले के बिछाए हुये जाल से अनभिज्ञ है और यह मान लेता है कि मैं स्वतः प्रेरणा से दान दे रहा हूँ। इसी प्रकार चरवाहे की बाँसुरी का संगीत भी माया का आवरण फैला रहा है जो दूसरों को लुभा रहा है। उनमें आकर्षण पैदा कर रहा है। और इसी प्रकार शिकारी जंगल में शिकार करता है। वह शिकार करते समय अपने शिकार को तरह-तरह से अपनी ओर आकर्षित करता है और उसका शिकार बिना कुछ सोच-विचार किये ही उसके बिछाए हुए जाल में स्वतः आकर फँस जाता है इतना ही नहीं, दान के झूठे धर्म का जाल बिछाकर धर्म एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को फँसा लिया जाता है। विचित्र संयोग है कि जो व्यक्ति धर्म के झूठे संसार को रचता है, वही दूसरे व्यक्ति को बेचने का अधिकारी बन जाता है। यही क्यों, वह खरीदार भी होता है। धर्म हृदय की सच्ची भावना है। अगर कोई उसके झूठे संसार की रचना करता है तो यह धर्म विरुद्ध है और धर्म विरुद्ध काम करने वाले को दण्ड मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, बल्कि वह फँसने वाले का स्वामी बन जाता है। एक तरह से उसे पुरस्कार मिल जाता है।

विशेष:

1. रोहित का आकर्षक विद्रोही व्यक्तित्व।
2. जीवन सत्य की खोज है।
3. व्यंग्य का प्रभावी रूप।
4. अभिनेय सरल भाषा।
5. ओज प्रसाद गुण शैली।
6. अभिधा-व्यंजना शब्द शक्ति।
7. आकर्षक शब्द प्रयोग।

8. आकर्षक अभिव्यंजना।
9. सुन्दर बिम्ब-विधान।
10. मार्मिक भावों का सुन्दर चित्रण।

॥ 11 ॥

“मेरे लिये वह सत्य झूठ है जिसके लिये जीवन भर विपत्तियाँ झेलनी पड़ें, त्याग और बलिदान की शूली पर चढ़ कर सत्य की परीक्षा देनी पड़े। मेरे लिये सत्य वही है, जो सहज ही जीवन में जिया जा सके। जो जिया न जा सके, वह झूठ है। वह धोखा है।” प . 37

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से ली गई हैं। अयोध्या से काशी जाते समय हरिश्चन्द्र, शैव्या, रोहित और विश्वामित्र आपस में बातचीत कर रहे हैं। रोहित की विद्रोही मानसिकता का परिचय पाकर मुनि विश्वामित्र उससे कई प्रश्न पूछते हैं और वह तपाक से उनका उत्तर देता है। जब उससे सत्य के बारे में प्रश्न किया जाता है तो वह उत्तर देता है-

व्याख्या: मैं सत्य को मानता हूँ। अवश्य ही सत्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। फिर भी वह सत्य स्वीकार नहीं है, जिसके कारण जीवन भर कष्ट झेलने पड़ें। जहाँ ऐसा हो, वहाँ सत्य सच्चे अर्थों में सत्य नहीं है, सत्य का आभास है। दरअसल वह झूठ है। वह सत्य किसी काम का नहीं है, जिसकी परीक्षा देनी पड़े। जिसके लिये त्याग और बलिदान इस हद तक करना पड़े कि जीवन में कुछ भी शेष न रह जाए।

अतः सत्य की मूल चेतना जीवन में है अर्थात् जो जीवन में उतर सके, जो जीवन का स्वाभाविक अंग बन सके। जो सत्य जीवन में न उतर सके, व्यवहार में न समा जाए, वह सत्य नहीं हो सकता, बल्कि सत्य के नाम पर झूठ है, दिखावा है। वह धोखे का आवरण बनकर आता है। अतः सत्य जीवन में से निकलता है और जीवन की व्यावहारिकता में समा जाता है। फिर तो उसकी परीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए जीवन जीने और परीक्षा देने के बीच गहरा अन्तराल है।

विशेष:

1. इसमें नाटककार ने सत्य को प्रश्नाहत किया है और जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उठाया है।
2. नाटककार ने रोहित के ऐसे ही विद्रोही विचारों के माध्यम से अपनी मूल बात कही है।
3. सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग।
4. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
5. अभिनयात्मक भाषा।
6. तद्भव के साथ तत्सम् शब्द का योग।
7. गंभीर भावाभिव्यक्ति।
8. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
9. सुन्दर बिम्ब-विधान।
10. रोहित की स्पष्ट वादिता।

॥ 12 ॥

माया रचकर धर्म बनाया
माया से फिर स्वप्न दिखाया
उसी स्वप्न में दान ले लिया
आँख खुली दक्षिणा बाकी
चले बेचने सबको काशी। प. 37

सन्दर्भ: प्रस्तुत गीत पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा लिखित नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के दूसरे दृश्य से उद्धृत हैं। हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या पुत्र रोहित समेत मुनि विश्वामित्र के साथ काशी जा रहे हैं। वे रास्ते में पैदल चलते हुए आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। यहाँ रोहित अपने पिताश्री के दान देने और विश्वामित्र के दान लेने की मानसिकता पर अपनी टिप्पणी दे रहा है जो विशेष रूप से दूसरे पक्ष को अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर देता है।

व्याख्या: हृदय में धर्म भावना की उपज यों ही सामान्य रूप में नहीं हो गई, बल्कि यह माया का चलाया हुआ चक्कर है। माया से तात्पर्य है यथार्थ से दूर संसार जहाँ व्यक्ति विवश हो जाता है। उसके सोचने-विचारने की शक्ति क्षीण हो जाती है। उसी माया ने स्वप्न दिया और स्वप्न में दान ले लिया। यह सारा चमत्कारिक कार्य सोते-सोते हो गया। जागने पर तो इतना ही पता चला कि दान देने के बाद दान की दक्षिणा देनी चाहिये थी जो नहीं दी गई। जब दान में सारा राज्य दे दिया तो दक्षिणा में देने के लिए कुछ भी नहीं बचा। फिर दक्षिणा कैसे कहाँ से दी जाय। एक ही उपाय रह गया था कि हरिश्चन्द्र स्वयं अपने को तथा अपनी पत्नी को बेच दें। यह बिक्री काशी नगरी में ही हो सकती थी। इसलिये स्वप्नदृष्टा एवं दान दाता इस काम के लिए काशी जा रहे हैं। जहाँ बिक्री के प्राप्त धन से दक्षिणा चुका दी जाएगी।

विशेष:

1. इस गीत में रोहित की आत्म पीड़ा व्यक्त हुई है।
2. यहाँ स्थितियों पर तीखा व्यंग्य किया गया है।
3. यह गीत अलग से न लगकर बल्कि नाटक की कथा का ही अंग लगता है।
4. इसमें विश्वामित्र को शोषक और हरिश्चन्द्र को शोषित रूप में प्रस्तुत करके व्यक्ति मनोभावों की अभिव्यक्ति की गई है।
5. इसमें उचित एवं अनुचित के विवेक को जागृत करने की प्रयत्नशीलता है।
6. सहज एवं सरल भाषा प्रयोग।
7. प्रभावी अभिव्यक्ति।
8. मनभावन बिम्ब विधान।
9. आकर्षक गेयता।
10. ओज-प्रसाद गुण शैली।

॥ 13 ॥

"अतः पत वासनाओं का नाम ही मन है। और यही मन दुःख की सृष्टि करता है।यह तो दृश्यमान जगत है, इसके भीतर भी अनुभव

जगत है। दोनों गतिमान हैं। यहाँ हर वस्तु सब की है और कोई भी वस्तु किसी की नहीं है। यहाँ देकर ही पाया जाता है और त्यागकर ही भोगा जाता है।” प. 38

सन्दर्भ: प्रस्तुत अभिनयात्मक पंक्तियाँ हिन्दी जगत के सुनामधन्य लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से ली गई हैं। काशी नगरी की ओर पद यात्रा करते समय का है, जब हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी और पुत्र समेत बिकने के लिये जा रहे हैं। उनका अधिकारी विक्रेता मुनि विश्वामित्र भी साथ-साथ चल रहा है। मुनि विश्वामित्र उन्हें सत्य से डिगाने के लिए प्रयत्नशील हैं, परन्तु हरिश्चन्द्र पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हरिश्चन्द्र मुनि विश्वामित्र के प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। वे मन तथा दुःख के बीच के अन्तराल को परिभाषित करते हैं।

व्याख्या: हर व्यक्ति के मन में ऐसी इच्छाएँ होती हैं जो कभी पूरी नहीं होती हैं। अतः यह सहज स्वाभाविक है कि न जाने कब कौन सी इच्छा उभर आए और पूर्ण हाने के लिए उत्पात मचाये। इस प्रकार अधूरी इच्छाएँ बहुत घातक हो सकती हैं। इसी कारण खाली मन को शैतान का घर कहा जाता है। जब अधूरी इच्छाएँ ऊपर उभरती हैं तो दुःख का कारण बनती हैं यानि कि दुःखों की भावना इसी मन की उपज है।

प्रायः हम एक ही संसार की बात करते हैं और वह है जो हमारे सामने है, हमारे चारों ओर है, जो हमें दिखाई दे रहा है। इसके अतिरिक्त भी एक और संसार है और हम उसकी बात ही नहीं करते। वह है जो दिखाई नहीं देता, परन्तु जो है वह इसी प्रकार जीवंत है जैसे वह संसार जो दिखाई दे रहा है। इन्हें हम द श्यमान और अद श्यमान संसार कहते हैं, परन्तु इन्हें बाहरी एवं भीतरी संसार के रूप में भी जाना जाता है। अवश्य ही, ये दोनों ही संसार समान रूप से गतिशील और क्रियाशील रहते हैं।

यहाँ हर समय यह चिल्लपों मची रहती है कि यह चीज मेरी है और वह चीज मेरी है। वास्तव में, ऐसा कुछ नहीं है, बल्कि हर चीज सब की है और कुछ भी किसी का नहीं है। इसका कारण यह है कि यहाँ की हर चीज मिटने वाली है। हर व्यक्ति मरणशील, पता नहीं कब कौन चल बसे।

इसलिए उस नाशवान संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यहाँ कुछ देकर ही कुछ पाया जाता है, कुछ त्याग करके ही वस्तु का सच्चा उपभोग कर सकते हैं। अगर इस आधार को समझ लिया जाय तो फिर कोई कष्ट नहीं है।

विशेष:

1. इसमें जीवन की सामान्य सच्चाई व्यक्त की गई है।
2. सामान्य शब्दों में गहन अर्थों की व्यापकता।
3. इससे राजा हरिश्चन्द्र के त्याग और बलिदान के पीछे उनका जीवन अनुभव पता चलता है।
4. नाटककार के पास चिन्तन और अभिव्यक्ति कौशल है।
5. गम्भीर भावों की सहज अभिव्यक्ति।
6. सरल भाषा शैली।
7. आकर्षक बोध-गम्यता।
8. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

9. आकर्षण अभिनेयता।
10. खड़ी बोली का प्रयोग।

॥ 14 ॥

“जो शब्द जीवन में जिया गया है, यह सारा संसार उसी पर टिका है। वही जीवन है धरती, शब्द है आकाश। और जो शब्द हम बिना जिये बोलते हैं, वह मात्र प्रतिध्वनि है। तो विश्वामित्र केवल शब्द हैं और जो जी रहा है, वही सत्य हरिश्चन्द्र है? नहीं यह असत्य है।” प. 38-39

शंदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी जगत के सुनामधन्य लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से लिया गया है। जो इस नाटक के दूसरे दृश्य में है। हरिश्चन्द्र पुत्र और पत्नी समेत काशी जा रहे हैं। साथ में मुनि विश्वामित्र भी हैं। वे मार्ग में चलते हुए आपसी वार्तालाप कर रहे हैं। चरवाहा एक बार फिर बाँसुरी बजाता हुआ दिखाई देता है। मुनि विश्वामित्र ब्रह्म तेज से सुन लेते हैं कि वह क्या गा रहा है। अर्थात् बाँसुरी पर गीत के माध्यम से क्या कह रहा है।

व्याख्या: इस समस्त जीवन का मूल आधार है वह शब्द जिसे जीवन में जिया गया है। वह शब्द क्या है? वह शब्द है अभिव्यक्ति का माध्यम या वह शब्द ही जीवन का अनुभव है। इसे यों कहना चाहिए कि जो शब्द जीवन के अनुभव से निकला है, उसी पर सब कुछ टिका है। और वह शब्द है सत्य। इस सत्य की पकड़ आसान नहीं होती।

जो जीवन हम जीते हैं, वही धरती है और यह धरती ही यथार्थ है, जीवन की सच्चाई है। दूसरी ओर शब्द ही आकाश है। वह इस प्रकार है कि जो शब्द हम बोलते हैं, वे ध्वनि के रूप में आकाश में बिखर जाते हैं, फैल जाते हैं, परन्तु असली शब्द हैं, सत्य। सत्य आकाश की तरह ऊँचा है, जिसे हर कोई नहीं छू सकता, हर कोई नहीं पा सकता।

स्पष्ट है कि शब्द के दो रूप हैं- अनुभव से प्राप्त शब्द और बिना अनुभव के उच्चरित शब्द। एक सार्थक है तो दूसरा प्रतिध्वनि मात्र है। हरिश्चन्द्र के सत्य और दूसरों के सत्य के बीच यही महत्वपूर्ण अन्तर है। चरवाहे की बाँसुरी पर गीत के शब्दों को पकड़ते हुए विश्वामित्र उन्हें जीवन पर लागू करके देखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विश्वामित्र केवल शब्द है जो जिया नहीं गया वो आकाश में प्रविध्वनित शब्द के समान है दूसरी ओर जो शब्द जिया जा रहा है, वही हरिश्चन्द्र है, वही सत्य है और इस प्रकार वही सत्य हरिश्चन्द्र है।

जब विश्वामित्र चरवाहे कि बात का अर्थ निकालते हैं तो निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उससे चौंक जाते हैं। वह इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। एक और सत्य आसानी से प्राप्तव्य नहीं है तो दूसरी ओर वह बहुत कड़वा भी होता है। मुनि विश्वामित्र को अपने और हरिश्चन्द्र के बीच के अन्तर की सच्चाई को जानकर अत्यन्त क्षोभ हुआ जिसे वह नहीं स्वीकारते हैं।

विशेष:

1. यहाँ पर जीवन है और जीवन का दर्शन भी है।
2. चरवाहे के माध्यम से कराई गई अभिव्यक्ति से दो व्यक्तित्व उभर कर सामने आते हैं।
3. जीवन दर्शन का प्रयोग नाटककार से नाटक का अंग बना कर दिया है।
4. इसमें मुनि के सह पोषण की प्रवृत्ति मिलती है।

5. भाषा प्रभावी-अभिव्यक्ति में समर्थ है।
6. आकर्षक अभिनेयता।
7. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
8. खड़ी बोली का प्रयोग।
9. सरल-भाषा शैली।
10. आकर्षक बोधगम्यता।

॥ 15 ॥

यह सारा जगत, यह सारी सृष्टि एक पदार्थ है जिसमें दो विरोधी तत्त्व हैं। उसी संघर्ष की धुनि पर सब कुछ गतिमान है। जो दृश्य है, वही सत्य है। प. 39

सन्दर्भ: प्रस्तुत अभिन्नयात्मक पंक्तियाँ चर्चित नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से ली गई हैं। यह भावपूर्ण सन्दर्भ है जो दूसरे दृश्य के लगभग अन्त में है।

व्याख्या: यह सारा संसार एक ही पदार्थ से बना है। अर्थात् यह संसार ही एक पदार्थ है या पदार्थ ही संसार है। यह पदार्थ एक ही है, परन्तु उसमें दो तत्त्व मौजूद हैं और ये तत्त्व एक दूसरे के विरोधी या प्रतिरोधी हैं। जैसे उदाहरण लें। ये तत्त्व हैं- सत और असत।

यहाँ यह स्पष्ट है, अगर विरोधी तत्त्व मौजूद है तो उनमें संघर्ष का टकराव होगी ही। इसी से संसार में गति आती है, सक्रियता आती है तभी तो संसार चलता रहता है। अर्थात् वह द्वैत के बीच संघर्ष के बल पर सृष्टि के विकास की कल्पना करते हैं।

यहाँ इस बात पर भी बल दिया गया है कि संसार में जो दिखाई दे रहा है, वही सत्य है अर्थात् जो दिखाई नहीं दे रहा है, वह असत्य है, झूठ है।

दो व्यक्तियों के विचारों के बीच टकराव के आधार को यहाँ स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। एक मुनि, विश्वामित्र यह मानते हैं कि यह संसार दो विरोधी तत्त्वों से बना है जबकि हरिश्चन्द्र का कहना है कि द्वैत केवल मन ही दशा है। दो, विश्वामित्र के अनुसार जो दृश्य है, वही सत्य है, परन्तु हरिश्चन्द्र दृश्य और अदृश्य संसार रूपों को सत्य मानते हैं। इस प्रकार संसार के सत्य आधार का प्रभावी रूप है।

विशेष:

1. नाटककार ने मुनि विश्वामित्र के व्यक्तित्व को उजागर कर दिया है।
2. उसमें जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है।
3. भाव या विचार में गहनता है, परन्तु भाषा में सादगी और सहजता है।
4. कम शब्दों में अधिक अर्थ भर देने की कला में नाटककार कुशल है।
5. सरल-भाषा शैली।
6. खड़ी बोली का प्रयोग।
7. भावनात्मक प्रयोग।
8. आकर्षक अभिनेयता।

9. गम्भीर भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
10. आकर्षक बोध-गम्यता।

॥ 16 ॥

सत्य डिगाने के लिए गाधि सुतन मुनिराज।
जाल बिछाए हैं बहुत मगर सधा नहीं काज।
अन्त में मुनि शरमा के, चले डग तुरत बढ़ाके
फट जाय गगन चाहे धरन रसातल जावे
हरिश्चन्द्र नहीं सत कभी डिगावे प . 39

सन्दर्भ: प्रस्तुत गीतात्मक भावपूर्ण पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के दूसरे दृश्य से ली गई हैं। बस यहीं दृश्य समाप्त हो जाता है। इसमें सत्य की कठिन परीक्षा का चित्रण है।

हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी एवं पुत्र को लेकर मुनि विश्वामित्र के साथ काशी बिकने जा रहे हैं। आपस में बातचीत हो रही है। अन्त में, रंगा ये पंक्तियाँ गाने लगता है इसे सूत्रधार द्वारा की गई प्रस्तुति भी कहा जा सकता है।

व्याख्या: गाधि ऋषि के पुत्र विश्वामित्र ने अपनी बातचीत के दौरान लाख कोशिश कर ली कि हरिश्चन्द्र बेचैन हो जाएँ, अपने सत्य से डिग जाएँ और अपने पथ को छोड़ दें अर्थात् त्याग और बलिदान के मार्ग को छोड़कर राजसी भोग के मार्ग पर चलें।

ऋषि ने तरह-तरह की चाल चली और हरिश्चन्द्र को अपने चंगुल में फँसाना चाहा, परन्तु उनका मनचाहा नहीं हुआ उनका काम नहीं बना। तात्पर्य यह है कि उनके सभी प्रयत्न व्यर्थ ही रहे।

अन्त में मुनि थक गए, अपनी हार पर शरमा गए। तब उन्होंने झुंझलाकर तेज-तेज कदम बढ़ाये जिससे जल्दी ही काशी पहुँच जाएँ और उन्हें बेच कर अपना काम समाप्त करें। वह नहीं मानते तो न सही, भुगतें अपनी जिद के परिणाम को।

अतः इस सारी घटना से यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे आकाश फट जाए और पृथ्वी पाताल लोक में चली जाए, परन्तु हरिश्चन्द्र का सत्य नहीं डिगाया जा सकता।

यह दृढ़ विश्वास मान्यता प्राप्त है कि आकाश फट नहीं सकता और पृथ्वी पाताल लोक में नहीं जा सकती ये दोनों ध्रुव सत्य हैं। फिर भी, ये ध्रुव सत्य भी अपना आधार छोड़ सकते हैं। परन्तु हरिश्चन्द्र अपना आधार कभी नहीं छोड़ सकते।

तात्पर्य यह है कि हरिश्चन्द्र का सत्य सबसे बड़ा ध्रुव सत्य है।

विशेष:

1. गीत आकर्षक है।
2. इसमें भाषा का सौन्दर्य ही नहीं, गतिशीलता भी है जैसे शब्द फुदकते चलते हैं।
3. प्रभावी अभिव्यक्ति हो सकी है।
4. ये पंक्तियाँ नाटक को आगे बढ़ाने में समर्थ है।
5. सरल-भाषा शैली।
6. आकर्षक बोध-गम्यता।

7. खड़ी बोली का प्रयोग।
8. गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति।
9. सामान्य शब्दों में गहन अर्थों की अभिव्यक्तता।
10. नाटककार के पास चिन्तन व कौशल अभिव्यक्ति है।

॥ 17 ॥

जो झूठ है वह सच क्यों दिखाता है? जो शक्तिशाली है, वही क्यों इतना डरता है, जो है नहीं, पर दिखता है, दोष हमारी ही आँखों का है। प. 42

संदर्भ: ये पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के तीसरे दृश्य से ली गई हैं। नाटक में जो नाटक खेला जा रहा है, उस में अर्ध विराम आ गया है। उसी समय देवधर और उसके सहयोगी जीतन की बातचीत हो रही है। जीतन विश्वामित्र की भूमिका करते-करते कुछ उदात्त हो गया है। जो देवधर को पसन्द नहीं हैं। यहाँ देवधर का जो रूप सामने आया है, वह जीतन को पसन्द नहीं है। जीतन मनुष्य सम्बन्धों और व्यक्ति मनोविज्ञान पर विचार करते हुए कहता है।

व्याख्या: झूठ को झूठ के रूप में और सच को सच के रूप में दिखाई देना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। सामान्यतः यह होता है कि झूठ ही सच दिखाई देता है।

इसी प्रकार जिसके पास, अपने अधिकार में अधिक शक्ति को बटोर लिया है। उसे डरने की क्या आवश्यकता है, परन्तु इससे उल्टा होता है। जितनी शक्ति बटोरो, उतना ही डर समा जाता है। इसका कारण यह है कि उसे अपनी शक्ति छिनने का डर बना रहता है। वास्तव में, शक्ति सत्ता में होती है। और सत्ता प्राप्त व्यक्ति को यह डर लगा रहता है कि कोई उसकी कुर्सी न छीन ले। यही डर देवधर के दिल में समाया हुआ है जो लौका के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन नहीं कर पा रहा है और डर रहा है।

जो व्यक्ति या वस्तु उस रूप में दिखाई देता है जो वह नहीं है तो यह किसका दोष है ? वास्तव में यह हमारी आँखों का ही दोष है, अन्यथा चीजों को साफ-साफ दिखना चाहिए। इस संसार में मुख्य बातता है- भ्रमजाल। इसी के कारण चीजें धुंधली हो जाती हैं।

तात्पर्य है कि सच पर आवरण पड़े हुए हैं जिससे सच, सच के रूप में हमारे सामने नहीं आ पाता और झूठ भी परदे में रहता है। इस अन्तर को देवधर और लौका के रूप में स्पष्टतः देखा जा सकता है। जहाँ पहला झूठ की मूर्ति है। और दूसरा सच ही सच्ची अनुकृति है।

विशेष:

1. इस में दिखाया गया है कि जीतन विश्वामित्र की भूमिका करते समय भीतर से बदल गया है और बदलाव यहाँ स्पष्टतः देखा जा सकता है।
2. इसमें व्यक्ति मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति प्रभावी ढंग से हुई है।
3. सामान्य व्यवहार में जीवन दर्शन को देखा जा सकता है।
4. सहज सरल भाषा शैली में गहन गम्भीर अभिव्यक्ति हुई है।
5. आकर्षक बोध-गम्यता।

6. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली
7. आकर्षक अभिनेयता।
8. खड़ी-बोली का प्रयोग।
9. सुन्दर बिम्ब-विधान।
10. आकर्षक गेयता।

॥ 18 ॥

इसके लिए अपना हुस्न बेचो, यही उसका काम है, पता नहीं, यह किस-किस चीज का दलाल है। इस का संवाद उसकी शक्ति है इसके लिए स्त्री जादू है। औरत बिजली है। लौका मनुष्य नहीं, शूद्र है।
प. 44

संदर्भ: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के तीसरे दृश्य से उद्धृत हैं। देवधर की दृष्टि इस बात पर केन्द्रित है कि लौका को बर्बाद किया जाए। वह व्यक्ति को उसके विरुद्ध भड़काता है और अपने उद्देश्य के लिए हर व्यक्ति का उपयोग करना चाहता है। वह अपनी सचिव पद्मा से भी यही अपेक्षा करता है कि वह बिजली गिराए और लौका को अपने वश में कर लें। इस पर पद्मा का यह स्वगत कथन है।

व्याख्या: देवधर का स्वभाव बड़ा विचित्र है मैं इसकी सचिव ही नहीं हूँ, बल्कि यह मेरा उपयोग अन्य ढंग से भी करना चाहता है, मैं अपने सौन्दर्य का सौदा इसके लिए करूँ। वह आत्मकेन्द्रित व्यक्ति है, परन्तु हर वस्तु की दलाली करता है और उसका खाता है। अभी तक यह मालूम ही नहीं हो सका है कि उस का स्वार्थ कहाँ तक फैला हुआ है। यह जो कहता है, वही उसकी शक्ति है। अपनी हर बात को बलपूर्वक कहता है और उसी प्रकार हर व्यक्ति से काम लेता है।

देवधर व्यक्ति को व्यक्ति नहीं मानता है, बल्कि किसी अन्य रूप में जानता है। उसके लिए स्त्री, स्त्री नहीं है जिसके दिल में धड़कन हो, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो, बल्कि वह उस की आरोपित भावना के अनुसार जादू है, बिजली है। इसका तात्पर्य यह है कि यह यौवन और सौन्दर्य की प्रतीक है और उसका काम दूसरे को मदमस्त करना है।

इसी प्रकार वह लौका को मनुष्य नहीं मान कर चलता है, बल्कि उसे जातिवाद के साथ जोड़ देता है अर्थात् लौका और कुछ नहीं है, बस शूद्र है। इसीलिए उसके प्रति तिरस्कार भाव रखता है जो अनुचित है। यह देवधर की विकृत मानसिकता है इसी के बल पर वह मनुष्य नहीं रह जाता और इसी के बल पर असहायों पर अपना शिकंजा कसता है।

विशेष:

1. इसमें नाटकीयता का निर्वाह है।
2. व्यक्ति चरित्र की सूक्ष्म पकड़ है।
3. विवशता जन्य स्थिति का अंकन है।
4. आकर्षक बोध-गम्यता।
5. सुन्दर बिम्ब-विधान।
6. भाषा सरल-सहज व प्रभावशाली।
7. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।

8. आकर्षक गेयता।
9. आकर्षक अभिनेयता।
10. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 19 ॥

“जब तक खरीदना धर्म है, बिकना धर्म बना रहेगा। यदि एक के प्रति धर्म करने के लिये दूसरे के प्रति अधर्म करना पड़े तो जिसे हम धर्म समझते हैं, वह अधर्म है, मुझे वह भी स्वीकार है। सब के कारण के लिये झूठ बोलना पड़े तो वह धर्म नहीं अधर्म ही रहेगा फिर भी मुझे स्वीकार है। एक की शक्ति दूसरों की मुक्ति देगी, यह झूठ है। उस मुक्ति में परतंत्रता के बीज होंगे, फिर भी मुझे स्वीकार है। जो भीतर है, वही बाहर है। यदि दोनों के बीच आज यह विरोध की स्थिति है- तो इसका उत्तर दान नहीं, बलिदान होगा। प . 50

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी नाट्य जगत के सुनामधन्य लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से ली गई हैं। इसमें चौथे दृश्य का वर्णन है। शैव्या का कथन है कि हरिश्चन्द्र की बोली लग चुकी है, परन्तु शैव्या पति से पहले ही काशी के बाजार में बिकना चाहती है। इस पर पति-पत्नी के बीच संवाद होता है और अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

व्याख्या: खरीदना और बेचना या बिकना साथ-साथ चलते हैं। किसी चीज का खरीदार है, तभी तो बिकने वाली चीज भी है। यही स्थिति व्यक्ति की भी है। ये दोनों क्रियाएं धर्म के रूप में बराबर मौजूद रहती हैं। पहले खरीदार होता है तभी तो बिकने वाला होता है। यदि एक के प्रति धर्म करने के लिए दूसरे के प्रति अधर्म करना पड़े तो वह धर्म नहीं है, बल्कि अधर्म ही है। फिर भी वह स्वीकार्य है।

सबका कल्याण हो, यह अच्छी बात है और इस काम के लिये झूठ बोलना पड़ सकता है, जो अधर्म ही होगा, परन्तु वह भी स्वीकार है। एक शक्ति दूसरों को मुक्ति दे सकती है वह मुक्ति दूसरी तरह थी, परतन्त्र में जकड़ सकती है। फिर भी स्वीकार है।

बाहर भीतर एक ही है, फिर भी अगर दोनों के बीच विरोध की स्थिति दिखाई देती है तो इसको हर बलिदान के लिए तैयार रहना है वहाँ दान की भूमिका काम नहीं आएगी।

विशेष:

1. इसमें नारी का समर्पण भाव एवं उसका व्यक्तित्व झलकता है।
2. जीवन में सिद्धान्त ही काम नहीं आते, बल्कि व्यावहारिक पक्ष भी महत्वपूर्ण होता है।
3. सीधी भाषा में गहन अभिव्यक्ति मिलती है।
4. स्थितियों का तनाव भी दर्शित है।
5. खड़ी बोली का प्रयोग।
6. मनभावन बिम्ब-विधान।
7. आकर्षक अभिव्यक्ति।
8. अभिनयात्मक प्रस्तुति।

9. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
10. आकर्षण गेयता।

॥ 20 ॥

“पतुरिया के हाथों ऐसी पतिव्रता शीलवती स्त्री बिक जाय। फिर वह धर्म बचेगा कैसे, जिसके लिये सब कुछ किया। वह शैव्या कहाँ रह जाएगी जो तुम्हारी धर्मपत्नी है। उस के नारी धर्म की रक्षा करना तुम्हारा कर्म है।” प . 53

संदर्भ: प्रस्तुत मनभावन पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक “एक सत्य हरिश्चन्द्र” से ली गई हैं जो नाटक के चौथे दृश्य में हैं। यह मुनि विश्वामित्र का कथन है। शैव्या काशी की वेश्या के हाथों बिक चुकी है। विश्वामित्र हरिश्चन्द्र को उनके वचन से डिगाने के लिए नैतिक आधार पर उन्हें फुसला रहे हैं।

व्याख्या: हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन किया। सत्य धर्म का पालन करने के लिए राजपाट का त्याग कर दिया। स्वयं बिक गए। फिर भी, यह कितना बड़ा अनुचित कार्य है कि शैव्या जैसी पतिव्रता धर्म निभाने वाली, शील गुण की निधि को एक वेश्या के हाथों बेच दिया। यह कितना बड़ा विरोधाभास है। क्या इससे धर्म बच जाएगा ? क्या यह अधर्म नहीं है ? जो शैव्या तुम्हारी धर्म की पत्नी है, वह वेश्या के कोठे पर जाकर कैसे शैव्या रह पाएगी? वह कैसे अपने आपको तथा अपने सतीत्व को बचा पाएगी ? तुम कैसे पुरुष हो जो अपनी पत्नी की रक्षा नहीं कर सकते, नारी धर्म की रक्षा करना तुम्हारा पहला कार्य है। फिर यह अनुचित काम क्यों कर रहे हो ?

विशेष:

1. इसमें एक चतुर व्यक्ति की चतुराई झलक रही है।
2. इन शब्दों का प्रभाव सीधे सुनने वालों पर पड़ता है।
3. इन शब्दों में जादू है।
4. कम से कम शब्दों में अधिक सार्थक अभिव्यक्ति हुई है।
5. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
6. आकर्षक संवाद योजना।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. सहज-सरल भाषा प्रयोग।
9. आकर्षक गेयता।
10. अभिनयात्मक प्रस्तुति।

॥ 21 ॥

“यह डोम यह पतुरिया। ये लाग कहाँ के हैं ? कैसे आए ? मेरी तरह एक क्षण इनके भी जीवन में आया होगा, जहाँ इन्हें बिक जाना होगा। जब तक खरीदने वाला रहेगा, कभी न कभी सबको बिकना पड़ेगा उसे भी जो खरीद रहा है। मैं ही डोम हूँ, मैं ही हरिश्चन्द्र हूँ, मैं ही शैव्या हूँ, मैं ही पतुरिया हूँ, पर मैं किसी की रक्षा नहीं कर सकता। शैव्या स्वयं अपनी रक्षा करे। पतुरिया स्वयं रक्षक है अपनी, स्वयं अपनी रक्षा करे हरिश्चन्द्र। प . 54

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से ली गई है। इसमें चौथे दृश्य का अंश है। इसमें हरिश्चन्द्र का कथन है। हरिश्चन्द्र और शैव्या की बिक्री हो जाने के बाद मुनि विश्वामित्र बार-बार हरिश्चन्द्र को बहला-फुसला रहे हैं। कि अब भी वे अपने वचन से लौट सकते हैं। उन्हें उनका सब कुछ वापस मिल सकता है। वह तरह-तरह के तर्क देकर अपनी बात को पुष्ट कर रहे हैं। इस पर बड़ी सहजता से हरिश्चन्द्र अपनी बात कहते हैं।

व्याख्या: हरिश्चन्द्र मुनि विश्वामित्र से कहते हैं कि आप जिन लोगों को तुच्छ और हेय समझ रहे हैं, वे भी इसी संसार के हैं। ये डोम और वेश्या, और कहीं से नहीं आये। वे हम जैसे ही हैं, ये भी कभी बिके होंगे जैसे मैं आज बिक गया हूँ। कभी-कभी ऐसी ही स्थितियाँ बन जाती हैं, जो व्यक्ति को विवश कर देती हैं और वह बिक जाता है। बिक जाने पर वह कुछ भी कर सकता है। वास्तव में दोषी वह नहीं है जो बिकता है, यह उसकी विवशता है। इस में असली भूमिका खरीदने वाले की है, जो हर किसी को बिकने के लिए ललचाता है। जब तक खरीददार रहेगा, तब तक बिकने वाले भी रहेंगे, और कभी न कभी सभी को बिकना पड़ेगा। लेकिन ऐसा भी हो सकता है, जो आज खरीददार हैं कल उन्हें भी बिकना पड़े।

मुनिवर, कोई अलग नहीं है। सच्चाई यह है कि मैं ही डोम हूँ और हरिश्चन्द्र भी, मैं ही शैव्या हूँ और वेश्या भी। तात्पर्य यह है कि मैं दूसरों से अलग नहीं हूँ और दूसरे लोग मुझसे अलग नहीं हैं। जो लोग अलग मानते हैं, वे या तो स्वार्थी हैं या भ्रम में हैं। जहाँ तक प्रश्न इस बात का है कि मैं शैव्या की रक्षा क्यों नहीं कर रहा हूँ, तो हे मुनिवर मैं कौन होता हूँ किसी की रक्षा करने वाला। शैव्या अपनी रक्षा स्वयं ही करेगी, जैसे मैं अपनी रक्षा अपने आप करूँगा। वेश्या भी अपनी रक्षा स्वयं करती है। इस प्रकार हर व्यक्ति अपने लिए जिम्मेदार है, जिसका निर्वाह उसे करना ही चाहिए। कोई भी दूसरे से रक्षा की आशा क्यों करे हर कोई आत्म निर्भर बने।

विशेष:

1. खरीदार परम्परा और उसकी सच्चाइयों का उद्घाटन बड़ी कुशलता के साथ किया गया है।
2. इसमें मैं ही ब्रह्म हूँ को खोला गया है।
3. व्यावहारिक जीवन और दर्शन की ऊँचाइयों का संगम हुआ है।
4. गहन अभिव्यक्ति।
5. सरल, सहज भाषा शैली का प्रयोग।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान।
7. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का योग।
8. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
9. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
10. आकर्षक बिम्ब-विधान।

॥ 22 ॥

**"अहंकार की पहचान तर्क है। उसकी जड़ में भय है।
अपूर्णत है। केवल कर्म आस्था का परिचय है।" प . 54**

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक एक सत्य हरिश्चन्द्र से उद्धृत हैं। इसमें चौथे भाग का दृश्य है। इसमें हरिश्चन्द्र का कथन है। हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी समेत बिक चुके हैं, परन्तु

विश्वामित्र अब भी उनके साथ बहस कर रहे हैं। दोनों ही व्यक्ति अपने-अपने तर्क दे रहे हैं। फिर भी दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट है। एक शब्दों की खाता और दूसरा कर्म करता है। विश्वामित्र यह आरोप लगाते हैं कि अहंकार के कारण व्यक्ति स्वयं को ही नहीं, अपनी पत्नी को भी बेच देता है और सारी जिम्मेदारी दूसरों पर डाल देता है। हरिश्चन्द्र इसका उत्तर देते हैं।

व्याख्या: अहंकार कौन करता है, और कौन नहीं ? अहंकार कब और कैसे होता है इन प्रश्नों के उत्तर आसान नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति हर बात को अपने पक्ष में कर लेने के लिए तर्क जुटा लेता है। वह दूसरों के ठोस एवं रचनात्मक कार्यों को नहीं देखता, बल्कि अपने तर्क के बल पर उसे दोषी ठहरा देता है। और स्वयं को सर्वोच्च शासन पर बिठा लेता है। अर्थात् वह अकाट्य तर्क प्रस्तुत करके ऊँचाई पर पहुँच जाता है। वह तर्क क्यों करता है? और तर्क करके क्यों अपने अहं की पुष्टि करता है, इसका कारण है, भय की प्रवृत्ति अर्थात् अहंकार को पुष्ट करने वाले तर्क का मूल आधार भय है। भय के कारण की वह तर्क करता है। उसे भय है कि अगर तर्क नहीं करेगा तो लोग उसे कुछ नहीं समझेगें उसे ऊँचा स्थान नहीं देंगे। इसलिए भय तर्क को हवा देता है।

जब वह तर्क करता है तो उसके अन्दर यह कुंठा भी रहती है कि वह अधूरा है अपूर्ण है। 'अधजल गगरी छलकत जाय' वाली कहावत के आधार पर वह तर्क और तर्क ही करता चला जाता है। असली चीज है कर्म जिसका अर्थ है कुछ करना। जब हम कोई काम करते हैं तो मन में आस्था और विश्वास लेकर चलते हैं। तभी वह काम बढ़िया ढंग से हो जाता है, अन्यथा बिगड़ जाता है। अतः कर्म से ही आस्था का परिचय मिलता है। अतः तर्क और कर्म दो विपरीत स्थितियाँ हैं। पहले में कर्म का निषेध है और दूसरे में तर्क का निषेध है। कर्म करने से अहंकार नहीं पनपता, परन्तु तर्क करने से अहंकार के अंगारे दहकने लगते हैं।

विशेष:

1. इसमें नाटककार ने दो विरोधी मानसिकता वाले व्यक्तियों को रखा है- विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र। एक तर्क व दूसरा कर्म का प्रतीक है।
2. कम शब्दों में अधिक बात व्यक्त करना।
3. यह प्रत्युत्पन्नमति का नमूना है।
4. मनभावन संवाद शैली।
5. खड़ी बोली का प्रयोग।
6. तद्भव के साथ-साथ तत्सम् शब्दों का योग।
7. आकर्षक बिम्ब-विधान।
8. सुन्दर गेयता।
9. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
10. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।

|| 23 ||

“एक स्वप्न से जागा हूँ, जागते ही दिखाई पड़ा। स्वप्न में मैं ही भागीदार था और देखने वाला भी मैं ही था। जब तक स्वप्न में था, देखने वाला गायब था। केवल भागीदार रह गया था। अब देखता हूँ, केवल देखने वाला ही था।” प . 56

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में ली गई हैं। जिसके लेखक प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल हैं। इन पंक्तियों में नाटक के चौथे भाग का कुछ वर्णन है। इसमें हरिश्चन्द्र का कथन है। हरिश्चन्द्र और शैव्या की बिक्री के बाद भी मुनि विश्वामित्र संतुष्ट नहीं है। वह उनसे अपना निर्णय वापस लेने के लिए कहते हैं। इसी बीच रोहित आ जाता है। वह कहता है कि कह देने से ही तो यहाँ सब कुछ हो गया। इस पर हरिश्चन्द्र आत्म विश्लेषण करते हुए कहते हैं।

व्याख्या: स्वप्न और सत्य जीवन के दो छोर हैं। दोनों ही आवश्यक हैं और महत्वपूर्ण भी। अगर दोनों का समंजन न हो पाए तो जीवन एकांगी है। हरिश्चन्द्र ने स्वप्न देखा और स्वप्न में ही अपना राज्य दान कर दिया। उसके बाद वे बिक गए। अब वे स्वप्न से जग गए हैं। जागे तो जीवन की सच्चाइयाँ सामने आ गई। जब वे स्वप्न देख रहे थे तो स्वप्न देखने वाले और स्वप्न के कार्यों में व्यस्त वह स्वयं ही थे। फिर भी उस समय स्वप्न देखने वाला व्यक्ति वहाँ होते हुए भी वहाँ नहीं था, बस स्वप्न के कार्यों में लिप्त व्यक्ति ही था। स्वप्न टूटा तो पाया कि वे भोक्ता नहीं थे, बस स्वप्न देखने वाले थे। स्वप्न ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें ऐसे ही विचित्र संयोग होते हैं।

विशेष:

1. इसमें स्वप्न की प्रक्रिया का वर्णन है।
2. यह संसार ही सच नहीं है, बल्कि स्वप्निल संसार का जादू भी सच है, इसकी अभिव्यक्ति उस अंश में की गई है।
3. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ऐसे स्थल पर विशेष शब्द चयन पर बल देते हैं, जिसमें प्रभावी अभिव्यक्ति हो जाती है।
4. खड़ी बोली प्रयोग।
5. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
6. गम्भीर भाव-अभिव्यक्ति।
7. अभिनयात्मक भाषा।
8. प्रसाद-माधुर्य, गुण.सम्पन्न शैली।
9. तद्भव के साथ तत्सम् शब्द का योग।
10. आकर्षक बिम्ब-विधान।

॥ 24 ॥

"स्वप्न जैसा है। जिसे हमने 'मै' जाना है, वह वास्तविक नहीं। इसे जो जान रहा है, वही है, वास्तविक। सबको समान देखने वाला ही सबसे मुक्त और सबसे अतीत है।" प . 56

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से लिया गया है। इसमें नाटक के चौथे दृश्य का वर्णन है, हरिश्चन्द्र कहते हैं कि-

काशी के बाजार में उनकी एवं उनकी पत्नी शैव्या की बिक्री हो गई है। उसके बाद भी उनका एवं विश्वामित्र का संवाद जारी है। रोहित ने कहा कि मेरे लिए यह संसार स्वप्न नहीं है। इस पर हरिश्चन्द्र कहते हैं कि-

व्याख्या: अगर यह संसार स्वप्न नहीं है, तो स्वप्न का अभास देता है। वह स्वप्न जैसा लगता है। स्वप्न का अर्थ सुन्दर तथा भव्य नहीं है, बल्कि उसके अनेक रूप हैं। स्वप्न इस यथार्थ संसार की

प्रतिष्ठित है, अच्छा है बुरा भी, सुन्दर है असुन्दर भी। एक बात उल्लेखनीय है- हम हर बात में 'मैं-मैं' करते रहते हैं, जैसे कि मैंने यह किया, मैंने वह किया। मैं यह हूँ, मैं वह हूँ। यहाँ मैं भ्रम उत्पन्न करने वाला है। इसीलिए वह वास्तविक नहीं है, सच्चा भी नहीं है। वह लाभदायक भी नहीं है। जो व्यक्ति 'मैं' की सच्चाई को जान लेता है, वही सच्चा सुख पाता है, और यह अनुभव ही सच्चा अनुभव है। जो व्यक्ति दूसरों को अपने बराबर का दर्जा देता है, नीचा नहीं समझता वही सबसे अलग है। इस अनुभव के बाद वह स्वयं ही ऊँचा उठ जाता है। जबकि अहम् को पकड़े रहने वाला नीचे गिर जाता है। जीवन की इस सच्चाई को समझना और स्वीकार करना बड़ी बात है।

विशेष:-

1. इसमें अहम् के विसर्जन की प्रेरणा है।
2. इससे व्यक्ति उदान्त भावना से भर जाता है।
3. सामान्य बात को विशेष बनाने का ढंग अच्छा है।
4. भाषा में प्रवाह है।
5. भाषा में प्रवाह क्षमता भी है।
6. सहज सरल भाषा का प्रयोग है।
7. आकर्षण गेयता।
8. सुन्दर बिम्ब विधान।
9. आकर्षक ध्वन्यात्मकता।
10. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
11. प्रसाद, माधुर्य गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 25 ॥

"काश, तुम जान पाते मेरे परम पूज्य ऋषि मैं स्वयं तुम्हारे धैर्य की अन्तिम परीक्षा हूँ। यहाँ जो कुछ भी योग्य है, उसे देकर ही माता-पिताश्री के साथ हम सबने भोगा है। पिता का निष्काम दान, हम सब का वही योग है। पहचानों मुझे, सर्वज्ञ विश्वामित्र। मैं तुम्हारा द्रोही नहीं, तुम्हारा ही एक पुत्र हूँ" प . 56 57

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी नाट्य जगत के सुनामधन्य लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' से ली गई हैं। यह रोहित का कथन है। काशी में शैव्या व हरिश्चन्द्र की बिक्री के बाद मुनि विश्वामित्र यह चाहते हैं कि रोहित को अपने साथ ले जाएँ। उन्हें यह डर है, कहीं वह अपने माता-पिता का बदला न ले ले। इसी संवाद के क्रम में एक जगह यह कह देते हैं कि मैं सर्वज्ञ हूँ। इस पर रोहित की टिप्पणी है-

व्याख्या: किसी भी व्यक्ति के कहने और होने के बीच अन्तराल होता है। वह आत्म प्रशंसा करते समय अपने लिए कुछ भी कह सकता है। परन्तु वास्तव में वैसा होता नहीं है। इसीलिए रोहित मुनि विश्वामित्र के लिए अन्तिम परीक्षा का आधार है। अगर मुनिवर सचमुच सब कुछ जान रहे होते तो सब की परीक्षा के बाद रोहित की परीक्षा की बारी नहीं आती। इस संसार में बहुत कुछ उपभोग के लिए है जो रोहित के कुल में विद्यमान था। उसके पिताश्री ने उस सबका अर्पण कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप जो भी स्थितियाँ परिवार वालों को झेलनी पड़ी, उसे सभी ने

मिलजुल कर झेला और भोगा। सच्चाई यह है कि सामूहिक सुख को सामूहिक रूप से भोगने के बाद उसके परिणाम को भी सभी ने साथ-साथ सहा।

उसके पिता हरिश्चन्द्र ने बिना किसी स्वार्थ भावना के अपना सब कुछ दान दे दिया। दान देते समय उनके मन में कुछ भी पाने की लालसा नहीं थी। यह हम सब की विशेष उपलब्धि है। इसलिए हे मुनिवर, आप तो सब कुछ जानते हैं। मुझे भी पहचानने का कष्ट करें। पता नहीं इस कार्य में आप को क्या बाधा है। चलिए, मैं स्वयं ही स्पष्ट कर देता हूँ कि मैं आप के विरोध में नहीं हूँ, आप मेरे शत्रु नहीं हैं बल्कि मैं आप का ही एक अंश हूँ।

विशेष:

1. इसमें आस्था एवं विश्वास का सम्बल है।
2. अभिव्यक्ति में पैनापन है।
3. भाषा में प्रवाह व प्रभाव क्षमता है।
4. पूर्वा पर क्रम में जुड़ाव है।
5. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप है।
6. आकर्षक बिम्ब-विधान है।
7. खड़ी बोली का प्रयोग।
8. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का योग।
9. सुन्दर गेयता।
10. प्रसाद माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 26 ॥

“हम सब हरिश्चन्द्र हैं तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में। वहाँ राजा इन्द्र एक था। यहाँ राजा इन्द्र असंख्य हैं- पुलिस, अफसर, नेता पूँजीपति, दलाल, गुण्डा-यही है तुम्हारी राजनीति। यह अन्धकार।” प . 59

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक से ली गई हैं इसके नाटककार हैं लक्ष्मीनारायण लाल। यह देवधर के सहयोगी जीतन का कथन है। नाटक के बीच चलने वाले नाटक में विश्वामित्र की भूमिका करने वाले जीतन की भावनाओं का उदात्तीकरण हो गया और देवधर की पक्षधरता को छोड़कर उसने सच्चाई की पक्षधरता को अपना लिया। वर्तमान स्थितियों में उसकी टिप्पणी बेबाक है।

व्याख्या: सत्ता की राजनीति में सत्ताधारी आत्महित करता है और जनता का शोषण करता है। अतः वह राजनीति इन्द्र और हरिश्चन्द्र की है। जिसमें पहला सब कुछ पा लेता है और दूसरा पक्ष वंचितों का है। वह पाने और खोने का सम्बन्ध विचित्र लगता है, परन्तु सच्चाई भी है राजनीति में सब चलता है। पुराने युग में राजा इन्द्र एक था जो एकछत्र शासन करता था, परन्तु आज के युग में अनेक इन्द्र हैं जो पुलिस अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल और असामाजिक तत्त्व के रूप में हमारे समाज में विद्यमान हैं। उनसे आम जनता पीड़ित है। वे सामान्य लोगों या भोले लोगों के बल पर ही ऐश करते हैं। उन हरिश्चन्द्रों का वे सब कुछ लूट लेते हैं।

यही राजनीति देवधर की भी है। जो लौका जैसे लोगों को पनपने नहीं देता। उसे डर है कि कहीं कल को यह मेरा प्रतिद्वंदी न बन जाय और मुझे सत्ता से हाथ न धोना पड़े। जब इस प्रकार की

घातक राजनीति मौजूद होगी, तो फिर अपने आस-पास, समाज में अन्धेरा नहीं होगा तो क्या होगा।

विशेष:

1. नाटककार के पास स्पष्ट विचार हैं जो उपेक्षितों, पीड़ितों का पक्षधर है।
2. इसमें मिथक के माध्यम से समकालीन जीवन को उभारने की प्रयत्नशीलता है।
3. इसमें सच्चाई को उजागर करने के बहाने व्यंग्य का तीखापन है।
4. नाटककार ने सशक्त भाषा का प्रयोग किया है।
5. स्पष्ट भावाभिव्यंजना।
6. भावानुकूल भाषा।
7. सुन्दर प्रस्तुति।
8. अनुकरणीय बिम्ब विधान।
9. सहज एवं सरल शब्द चयन।
10. मन भावन अभिव्यंजना।
11. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 27 ॥

“यह नाटक तुम्हारा बनाया हुआ है। सत्ताधारी राजा ने पंडित से कहा-धर्म का नाटक रधो। प्रजा सत्य की परीक्षा देती रहे। तुम बैठे मौज करो। राजा ने अपने दरबारी पंडित से कहा-लिखो मेरी कहानी वही हो गया इतिहास। राजा ने आज्ञा दी, ऐसा शास्त्र रचो जिस में नर्क और स्वर्ग हो, पाप और पुण्य हो, पूर्व जन्म का कर्मफल हो, भय हो, आतंक हो, नीचा हो, ऊँचा हो” प . 60 61

संदर्भ: प्रस्तुत पद्यांश लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ के पाँचवें दृश्य से ली गई है। यह जीतन का कथन है। नाटक के भीतर नाटक चल रहा था जिसमें एक बार फिर इन्टरवल हो गया और मुख्य रूप से नाटक के पात्र आपस में बातचीत कर रहे हैं, देवधर कहता है, यह जनता का नाटक है जो जीतन उसे काटते हुए अपनी बात कहता है-

व्याख्या: सत्य हरिश्चन्द्र का नाटक जनता का बनाया हुआ नहीं है, क्योंकि जनता को अपनी सत्ता बनाए रखने की चिन्ता नहीं है। उसकी चिन्ता है इन्द्र को अर्थात् देवधर को। इसलिए यह नाटक देवधर का बनाया हुआ है। पुराने युग में राजा पंडित को आदेश देता था कि धर्म का नाटक लिखो, जिसमें प्रजा अपने सत्य की परीक्षा देती रहे और राजा ऐश्वर्य का उपभोग करे। इसी आशय से नाटक की रचना हो जाती थी। इस प्रकार राजा सुरक्षित रहता था। और प्रजा कष्ट झेलती रहती थी, क्योंकि उसे सत्य की परीक्षा देनी होती थी।

अगली बार राजा ने इच्छा प्रकट की उसकी कहानी लिखी जाए और दरबारी पंडित ने ऐसा ही काम कर दिया। बस फिर क्या था, वही हो गया इतिहास। है न आश्चर्य की बात कि राजा की कहानी ही इतिहास बन गई जिसमें प्रजा कहीं नहीं थी और न उसके कष्ट थे। प्रजा के दुःख-दर्द को देखने और बयान करने का अवसर ही नहीं था। राजा ने फिर आज्ञा दी- तो अब शास्त्र की रचना करे। जिसमें नर्क का भय हो और स्वर्ग का लोभ हो। उसमें पाप का डर हो, प्रायश्चित्त का

अवसर हो और पुण्य का प्रताप हो जिसके प्रति विकर्षण और आकर्षण के भाव हों। उसमें पूर्वजन्म के कर्मफल की कहानी हो जिससे असत कर्म से बचा जाए और सतकर्म में लीन हुआ जाए। इतना ही नहीं, भय, आतंक हो जाति वर्ग की असमानता हो। आदेश का पालन हुआ और धर्मशास्त्र की रचना हो गई।

तात्पर्य यह है कि काव्य या नाटक, इतिहास और शास्त्र की रचना राजा के कहने पर या उसकी ओर देखकर की जाती थी। सब कुछ राजा के कहने पर राजा के लिए था और उस में आम जनता के दुःख-दर्द कहीं नहीं थे। यही बात सत्य हरिश्चन्द्र नाटक पर घटित होती है।

विशेष:

1. नाटककार ने इन पंक्तियों में प्राचीन परम्परा का अंकन कर दिया है।
2. यह अंकन बड़े कौशल से हुआ है।
3. यहाँ साहित्य और शास्त्र की रचना की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया गया है।
4. इस व्यंग्य को अभिव्यक्ति का आधार बनाया गया है।
5. सच्चाई कड़वी होती है। अतः उसका बयान करना इतना सहज एवं सरल नहीं है।
6. भाषा में शक्ति है।
7. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
8. सुन्दर गेयता।
9. आकर्षण बोध-गम्यता
10. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 28 ॥

“यह अधर्मी है। धर्म के नाटक में विघ्न डालता है, नाटक को पूरा नहीं होने देता। नाटक के अन्त में हरिश्चन्द्र को स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग पाने के लिए अनेकों कष्ट सहने पड़ेंगे। यही तो बात है यह कुछ समझता नहीं और लोगों को समझने नहीं देता। सोचने की बात है, वर्तमान में बिना दुःख झेले, बिना चरित्र की परीक्षा दिए सुन्दर भविष्य कहीं से आएगा। इस पृथ्वी पर स्वर्ग लाने के लिए प्रजा की तपस्या जरूरी है। प . 61

संदर्भ: प्रस्तुत भावपूर्ण पंक्तियाँ ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक के पाँचवे दृश्य से ली गई हैं। इस नाटक के रचयिता हैं- लक्ष्मीनारायण लाल। यह देवधर का कथन है। कि-

नाटक में खेले जाने वाले नाटक के समापन से कुछ ही समय पहले, इन्टरवल के दौरान नाटक के कलाकार आपस में बातचीत कर रहे हैं। जब देवधर को लगता है कि जीतन मेरे शिविर से निकल कर लौका के शिविर में चला गया है तो उसे धर्माच्युत समझ लिया जाता है। इतना ही नहीं, उसके विरुद्ध विष भी उगल गया है।

व्याख्या: जीतन की बातों को सुनकर ऐसा लगता है कि उसने धर्म के मार्ग को छोड़ दिया है। इसलिए वह धर्म के नाटक के विरुद्ध बोल रहा है। नाटक में बाधा डाल रहा है। वह इसे पूरा नहीं होने देना चाहता।

धर्म की अन्तिम परिणति स्वर्ग में होती है जिसे प्राप्त करने के लिए अनेकानेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। हरिश्चन्द्र को भी स्वर्ग मिलेगा। यह इतनी महत्त्वपूर्ण बात है जिसे यह नहीं समझ पा रहा है। इतना ही नहीं, वह दूसरों को भी नहीं समझने देता और उन्हें बहका रहा है।

दुःखों को झेलना होता है। उनसे मन में शक्ति आती है। व्यक्ति मजबूत होता है। उनसे चरित्र निखरता है। फिर परीक्षा होती है उसमें खरा उतरते ही अच्छे भविष्य का निर्माण होता है। इस संसार में बहुत गरीबी है जिसे हटाकर यहाँ स्वर्ग उतार कर लाना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि जनता तपस्या करें। सच्ची तपस्या दुःखों में तप कर ही हो सकती है। अगर इस बात को समझ लिया जाए तो फिर कोई कष्ट नहीं है।

इसका आशय यह है कि राजनेता दुःखों के बोझ के नीचे दबी जनता को अधिक से अधिक दुःख झेलने के लिए प्रेरित कर रहा है। वह धर्म की आड़ में तथाकथित सुनहरे भविष्य की कल्पना को भी हवा दे रहा है।

विशेष:

1. इसमें राजनेता का भ्रमजाल उद्घाटित हुआ है।
2. दुःखों और निर्धनता को धर्म की आड़ में ऊँचाई पर पहुँचा दिया गया है।
3. दूसरों की भावनाओं से खेलने का नुस्खा दिया गया है।
4. भाषा में कसाव है।
5. सही दिशा में सार्थक अभिव्यक्ति है।
6. आकर्षक बोध-गम्यता।
7. सुन्दर बिम्ब-विधान।
8. आकर्षक अभिनेयता
9. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
10. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

|| 29 ||

“शक्ति हमेशा ऊपर के लोगों के हाथों में रही है नीचे का सारा रक्त युगों से ठंडा हो चुका है। तभी वहाँ भाग्य है, धर्म है और न जाने कितनी-कितनी कथाएँ दबी हैं उस बर्फ की धरती में। प. 62

संदर्भ: ये गद्यांश लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के पाँचवे दृश्य से लिया गया है। यह देवधर का कथन है।

नाटक में भाग लेने के बाद कलाकारों के हृदय में परिवर्तन आ गया है और वे सच्चाई एवं औचित्य के पक्षधर हो गए। इसीलिए जीतन ने देवधर के सामने सच्चाई बयान कर दी जिसे देवधर ने पसन्द नहीं किया और तरकीब से अपनी शक्ति का प्रभाव बयान करने लगा।

व्याख्या: मुख्य रूप से समाज के दो सर्ग हैं- शासक और शासित, शोषक और शोषित, धनी और निर्धन, ऊँचे और नीचे। इन दोनों में से पहले के पास शक्ति है और दूसरा शक्तिहीन है। पहले भी यही था, बाद में यही था और अब भी यही है। इसमें न कभी परिवर्तन आया और न आएगा।

ऊपर का वर्ग ऐश्वर्यों का उपभोग कर रहा है और नीचे का वर्ग केवल देख रहा है। वह कुछ नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, नीचे का वर्ग का रक्त बर्फ बन कर जम गया है जिसमें टंडक ही टंडक है। जब तक रक्त पिघलेगा नहीं, तब तक कुछ नहीं हो सकता और रक्त कभी नहीं खौलेगा।

यही कारण है कि निचले वर्ग में भाग्य का बोलबाला है, भाग्यवाद का गुणगान है, धर्म के प्रति आशा और विश्वास है। फिर वे सत्ता पलटने की सोच कहाँ रख सकते हैं। वे विवश होकर यथास्थिति में ही पड़े रहे हैं और पड़े रहेंगे। उनकी विवशता और टंडक के नीचे अनेक कहानियाँ दबी पड़ी हैं जिनमें उनका इतिहास और वर्तमान छिपा हुआ है। इसलिए मुझ जैसे व्यक्तियों के लिए कोई संकट नहीं है और लौका जैसे लोगों के लिए कोई उम्मीद नहीं है। बस, मन के लड्डू ही फोड़े जा सकते हैं।

विशेष:

1. इस में यथार्थ की चुभन है।
2. व्यक्ति का मनोविज्ञान है जिसकी पृष्ठभूमि में वर्ग मनोविज्ञान भी है।
3. भाषा में शक्ति है।
4. अभिव्यक्ति में प्रभाव-क्षमता है।
5. आकर्षक बिम्ब-विधान।
6. सुन्दर लयात्मकता।
7. सुक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
8. आकर्षक गेयता।
9. भावानुकूल भाषा।
10. सुन्दर अभिव्यक्ति।

|| 30 ||

“वह बर्फ पिघल रही है। चोटियाँ ढह रही हैं। अब तक मैं समझता था, जब तक राज्य है, तब तक राजनीति रहेगी। पर अब पता चला, जब तक मनुष्य है छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा तब तक रहेगी यह राजनीति। जिस दिन एक असहाय ने घुटने टेक कर, आँखों में आँसू भर कर दृश्य से अदृश्य की ओर देखा, उसी दिन जन्म हुआ ईश्वर का और वहीं से पनपी पहली राजनीति धर्म की। इसी में एक हुआ इन्द्र, बाकी सब हुए हरिश्चन्द्र।” प . 62

संदर्भ: निम्नलिखित गद्यांश प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से ली गई हैं। इसमें पाँचवें दृश्य का चित्रण है, यह जीतन का कथन है। समाज व्यवस्था किस प्रकार अस्तित्व में आई और आज उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग की क्या स्थिति है, समाज में कुछ परिवर्तन आ सकता है या नहीं ? इन्हीं प्रश्नों पर बातचीत करते हुए मामला यहाँ तक आ पहुँचा है कि जीतन देवधर की मान्यताओं का खण्डन करता है।

व्याख्या: अवश्य ही निम्न वर्ग की भावनाओं पर बर्फ जमी हुई थी और उच्च वर्ग के लोगों की स्थिति पर्याप्त ऊँचाई पर थी। अब उनमें बदलाव दिखाई दे रहा है। जैसे एक ओर बर्फ पिघल रही है, तो दूसरी ओर ऊँचाइयाँ टूट-टूट कर गिर रही हैं। इस क्रिया-प्रक्रिया में तेजी आने वाली

है। मनुष्य के विचार हमेशा एक जैसे नहीं रहते। अनुभवों के पकने के साथ-साथ विचार भी पकते जाते हैं, और परिणाम स्वरूप बदलते जाते हैं। जैसे पहले यह विचार था कि राजनीति का सम्बन्ध राज्य से है अर्थात् राज्य ने राजनीति को जन्म दिया है और राज्य के अस्तित्व तक वह बनी रहेगी। अब पता चला कि राजनीति का गहरा सम्बन्ध वर्गवाद से है जिसकी शुरुआत वर्गवाद से हुई और वर्गवाद के साथ-साथ चलती रहेगी अर्थात् राजनीति के लिए छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा के वर्ग अत्यन्त आवश्यक हैं। इन्हीं के कारण राजनीति चलती रही है और चलती रहेगी।

असहाय की विवश भावनाओं के कारण ही ईश्वर का जन्म हुआ जिससे धर्म बना और धर्म की राजनीति का अस्तित्व हुआ। इसी से इन्द्र राजा हुआ और हरिश्चन्द्र जैसे सब कुछ समर्पित करने वाले लोग हुए। एक अपने अस्तित्व के लिए षड्यन्त्र रचता रहा और अपनी सत्ता को बनाए रखने में सफल होता रहा, जबकि दूसरा अनेक संकट झेलते हुए उसकी सत्ता को सुदृढ़ बनाता रहा।

विशेष:

1. इसमें वर्गवाद के अस्तित्व का मनोविज्ञान उद्घाटित हुआ है।
2. शोषक और शोषित का चिरकालिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है।
3. समाज के सच्चाइयों का उद्घाटन और वर्ग वैषम्य पर व्यंग्य।
4. अभिनयात्मक शैली का प्रयोग।
5. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
6. प्रचलित शब्दों का सुन्दर प्रयोग।
7. लघु वाक्यों की आकर्षक संरचना
8. आकर्षक बिम्ब-विधान।
9. मनभावन कायिक अनुभव।
10. चोटियाँ ढहना, बर्फ पिघलना मुहावरों का सुन्दर प्रयोग।
11. तद्भव शब्दों के साथ तत्सम् शब्दों का मणिकांचन योग।

II 31 II

**"बिना सवारी के ही, पानी ने नापे रास्ते,
बस्ती से ले कर जंगल तक गाती है जलधार,
हर अभाव को सहकर भी, पानी ने खोजे रास्ते,
शीश उठाओ, आगे-आगे, तुम हो पानीदार। प . 65**

संदर्भ: गीत का प्रस्तुत अंश लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के छठे दृश्य से उद्धृत है। इस गीत को रंगा गाता है, जो सूत्रधार के रूप में है और इसकी अन्तिम दो पंक्तियों को गाँव के लोग दोहराते हैं।

इस छठे दशक में मुख्य रूप से यह गीत ही है जिसके अन्त में दो पात्रों के संवाद हैं जो नाटक को आरम्भ करने के लिए हैं। यह जन-जागरण का गीत है। हरिश्चन्द्र और शैव्या बिक चुके और अपनी-अपनी जगह पर जा चुके हैं। रोहित शैव्या के साथ गया तो यह गीत दर्शकों को अगली घटना की तैयारी के लिए है।

व्याख्या: यह बात आम आदमी को जान लेनी चाहिए कि अगर हम करना चाहें तो बहुत कुछ कर सकते हैं। अब हम ऐसा कुछ अवश्य करेंगे जो समाज में नया होगा, विशिष्ट होगा।

यह सब कैसे होगा, इसे एक उदाहरण से समझे। जैसे पानी होता है, वह किसी सवारी पर नहीं चलता, पैदल-पैदल चलता रहता है और कितने ही रास्तों पर से होता हुआ अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है कि जिधर देखो, उधर पानी ही पानी होता है जो गाँव शहर और जंगल के भीतर होता है और बाहर भी फैला हुआ होता है मानो जलधारा अपना विजयगान गाती हुई फिर रही हो।

पानी कितने ही अभावों को सहता है, संकटों को झेलता है, समस्याओं से जूझता है और विघ्नबाधाओं की परवाह नहीं करता। वह एक ओर रास्तों की नाप कर लेता है कि कौन कितना बड़ा है, कहाँ तक जाता है तो दूसरी ओर नए-नए रास्तों की खोज करता हुआ आगे बढ़ता रहता है।

इसलिए हे मनुष्य, तुम्हारी गर्दन नीचे क्यों झुकी हुई है? गर्व से अपना मस्तक ऊँचा उठाओ, अपने मार्ग पर आगे बढ़ो, मंजिल अवश्य ही मिलेगी। तुम पानीदार हो, तुम्हारा पानी अभी मरा नहीं है। तुम आत्म-सम्मान वाले हो। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करो और जीवन में कुछ कर दिखाओ।

तात्पर्य यह है कि पानी किसी का सहारा नहीं लेता। वह बेधड़क आगे बढ़ता चला जाता है। उसके लिए कोई रुकावट नहीं बनता। इसी प्रकार मनुष्य भी यह सब कर सकता है, समस्याओं को झेलकर भी आगे बढ़ सकता है।

विशेष:

1. जन साधारण के इस गीत में प्रेरणा है और उद्बोधन है।
2. उदाहरण देकर बात कहने से अधिक शक्ति भर जाती है।
3. सरल, सहज भाषा शैली में अच्छी अभिव्यक्ति हुई है।
4. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
5. प्रतीकात्मक भाषा।
6. आकर्षक गेयता।
7. प्रचलित शब्दों का अनुकरणीय प्रयोग।
8. गीतात्मक संवाद।
9. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
10. शीश उठायो 'पानीदार' मुहावरों का प्रयोग।
11. आकर्षक बिम्ब-विधान।
12. 'आगे-आगे' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार।

|| 32 ||

**“आह ! सुनता हूँ पर सुना नहीं जाता। देखता हूँ पर देखा नहीं जाता।
कुछ कौंध जाता है मेरी आँखों में, यह क्या है, जो दस्तक देती है
मेरी साँसों में ? सागर तट पर जैसे कोई मंदिर हो और उसमें यह**

**चिराग जैसी जल रही हो। मैं पतंगा हूँ इस चिराग का। मैं चाहे जल
कर भस्म हो जाऊँ पर बुझाऊँगा इस चिराग को।" प . 70**

संदर्भ: प्रस्तुत भावपूर्ण अभिनयात्मक पंक्तियाँ नाट्य जगत के चर्चित हस्ताक्षर डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल के प्रसिद्ध नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के अन्तिम सातवें दृश्य से ली गई हैं। इसमें छैला नामक पात्र विशेष भावुक होकर वेश्या के कोठे पर बड़बड़ाने लगता है। वहाँ शैव्या विद्यमान है वह चकरा जाता है और मन में उठे बवंडर से ऐसे खिंच जाता है मानो किसी ने उसे विषम चारित्रिक कदम उठाने से रोक दिया है। वह समझ नहीं पाता और कहने लग जाता है।

व्याख्या: डॉ. लाल के द्वारा छैला की विषम स्थिति का चित्रण किया जा रहा है कि उसकी हिम्मत टूट गई है, साहस टूट गया है और उसका मन साथ छोड़ गया है। वह आश्चर्य चकित है कि उसे आँखों से कुछ दिखाई नहीं दे रहा है। कान की श्रवण शक्ति गायब हो गई है। हाँ, इतना अवश्य है कि आँखों से जो देखना चाहता है वह तो बिल्कुल नहीं दिखाई दे रहा है कुछ-कुछ धुँधला-धुँधला दिखाई दे रहा है। कान से कुछ-कुछ सुनाई दे रहा है किन्तु पता नहीं लग रहा है कि क्या सुन रहा है।

वह परेशान है कि आँखों के सामने जो कौंध जाता है वह कोई रूप सौन्दर्य है, साँसों की बढ़ती गति से अपनी विषम स्थिति का ही अनुभव हो रहा है। अजीब सी बेचैनी है। उसे लगातार घुटन में जूझना पड़ रहा है। उसके दिल में हलचल बढ़ती जा रही है। सामने की चीजें भी बहुत दूर लगने लगी हैं। उसे लग रहा है जैसे दूर-दूर बहुत दूर समुद्र तट पर कोई मन्दिर है और मन्दिर में कोई चिराग अपने प्रकाश से अन्धकार को ध्वस्त करने का प्रयास कर रहा हो। कहाँ वह वेश्या के यहाँ अपनी काम वासना की तृप्ति के लिए गया था ? कहाँ उसे मन्दिर में दीपक जलाता नजर आ रहा है। वह उस नारी (शैव्या) को देवी मन्दिर के दीपक सा जलता देख कर पूजा के भाव में डूब गया है। उसके मन का काम अब काफ़ूर हो गया है और उसे नारी (देवी) का पुजारी बनता जा रहा है। वह भावों में डूब गया है। वह उस दीपक पतंगा बन गया है। उसकी हालत दीपक के पतंगे की है। वह निर्णय कर चुका है कि दीप बुझा देगा। इसके लिए चाहे प्राण भी त्याग देना पड़े। इस प्रकार छैला की प्रबल भावात्मक स्थिति सामने आई है।

विशेष:

1. कामांधता का प्रबल दबाव।
2. अन्दर काम और बाहर से चकाचौंध।
3. अन्तर्द्वन्द्व का गहरा स्वरूप।
4. आकर्षक अभिनेयता।
5. प्रचलित, सरल, बोधगम्य शब्दों का प्रयोग।
6. संबोधनात्मक शैली का प्रयोग।
7. आत्म संवाद का आकर्षक रूप।
8. सूक्ष्म भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति।
9. 'दस्तक देना', 'सागर का चिराग जलकर भस्म होना' मुहावरों का प्रयोग।
10. भाव समन्वित मिश्र वाक्यों का प्रयोग।
11. आकर्षक लयात्मक अभिव्यक्ति।

॥ 33 ॥

“मैं प्यासा सागर हूँ। तुझे छककर पिऊँगा। धिक्कार है मेरे विलास को, यदि मैं इसे आँखों से पी न सका। मेरी सारी शक्ति जलते हुए दूह है, यदि एक क्षण का भी सुख न मिला। यह क्या है, मैं इसे छू तक नहीं सकता। लगता है, मैं अपनी परछाई के पीछे दौड़ रहा हूँ।” प . 70

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ से ली गई हैं। इसमें इसमें सातवें तथा अन्तिम दृश्य का वर्णन है। यह छैला का कथन है जो एक ओर कामान्ध है और दूसरी ओर शैव्या का चमत्कारी प्रभाव है कि वह मन चाहा पूरा नहीं कर पा रहा है। वह इसी द्वन्द्व में उलझा हुआ है और अपनी मानसिकता को स्पष्ट कर रहा है।

व्याख्या: मैं उस समुद्र के समान हूँ जो लबालब पानी से भरा हुआ है परन्तु प्यासा है अर्थात् अपनी काम पिपासा की तृप्ति का साधन उसके पास है, परन्तु स्थिति ज्यों की त्यों है। वह अपनी विलास भावना को धिक्कारता है कि वह अधूरी है। और सौन्दर्य का रसपान आँखों से नहीं कर पा रहा है। क्योंकि उसकी आँखों में चकाचौंध हो रही है। वह ठीक तरह से उसे देख भी नहीं पा रहा है जो उसके बिल्कुल पास है और ठीक सामने है। वह चाहता है कि एक क्षण के लिए ही सही, नारी यौवन और सौन्दर्य के संसर्ग का सुख तो मिले। अन्यथा उसकी शक्ति किसी काम की नहीं है। वह तो जलते हुए रेत का ढेर मात्र है। पता नहीं, ऐसा क्या जादुई प्रभाव है कि वह उसका स्पर्श भी नहीं कर पा रहा है। उसे लगता है, वह केवल अपनी ही परछाई के पीछे दौड़ रहा है। अर्थात् सच्चाइयों से कोसों दूर है।

विशेष:

1. इसमें व्यक्ति के मनोविज्ञान का उद्घाटन हुआ है।
2. व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व से जूझने का अच्छा अंकन हुआ है।
3. नाटक के कथ्य के अनुसार इसमें नई मौलिक उद्भावना की गई है।
4. सरल एवं सहज भाषा शैली का प्रयोग।
5. प्रभावी अभिव्यक्ति।
6. प्रतीकात्मक भाषा।
7. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
8. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का योग।
9. आकर्षक गेयता।
10. सुन्दर बिम्ब-विधान।

॥ 34 ॥

“नहीं चाहिए मुझे झूठा स्वर्ग। मैं मरूँगा इसी धरती पर, सबके साथ। हर समय तूने हमें बेधा है झूठे शब्दों के बाजार में, स्वर्ग का लालच दिखा के।” प . 76

संदर्भ: प्रस्तुत भावपूर्ण अभिनयात्मक पंक्तियाँ चर्चित नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के सातवें दृश्य से ली गई हैं। हरिश्चन्द्र कहते हैं कि-

व्याख्या: मेरे लिए स्वर्ग झूठा है और धरती सत्य है। मुझे देवताओं का साथ नहीं चाहिए मुझे मनुष्यों का साथ चाहिए। इसलिए मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए, बल्कि धरती पर रहते हुए ही मृत्यु मिले। इस धरती के लोगों को इन्द्रादि, सत्ताधारी आदि ने हमारा व्यापार किया है। झूठे शब्दों से हमें छला है, हमें लालच दिखाकर हमारा सब कुछ छीन लिया है। अतः सत्ता के भूखे लोग सामान्य व्यक्ति को सामान्य रूप में जीने नहीं देते, बल्कि उनके बल पर ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं और उनका शोषण करते हैं। ये सत्ताधारी सौदेबाजी में विश्वास रखते हैं। भोली-भाली जनता को फंसा कर अपना मन चाहा करते हैं।

विशेष:

1. यहाँ स्पष्ट अभिव्यक्ति है।
2. व्यंग्य की चोट है।
3. कम शब्दों में अधिक अभिव्यक्ति है।
4. भाषा का अच्छा प्रवाह और प्रभाव है।
5. उच्च वर्ग की मानसिकता और सच्चाइयों की अच्छी अभिव्यक्ति।
6. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
7. आकर्षक गेयता।
8. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
9. मन भावन बिम्ब-विधान।
10. सूक्ष्म भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति।
11. तद्भव के साथ तत्सम् शब्दों का योग।

॥ 35 ॥

"विलास के हाथों बिका हुआ वह मनुष्य नहीं काला सर्प था। जैसे छुआ उसने, मुझमें विष फैल गया उसके जहर का। मैं जाता हूँ, पर रहूँगा तुम्हारी साँसों में दिखूँगा, क्या अन्त होता है देवताओं के दर्प का। पिता से कहना, रोहित सुरपुर नहीं गया। स्वर्ग वह झूठा है। यहीं कहीं माटी में छिप गया जिसे लोगों ने फूँका और लूटा है।"

प. 72-73

संदर्भ: निम्नलिखित गद्यांश हिन्दी जगत के चर्चित नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के सातवें एवं अन्तिम दृश्य से लिया गया है। यह रोहित का कथन है। छैला वेश्या के हाथों बिकी शैव्या का उपभोग करना चाहता था और रोहित अपनी माँ के सतीत्व की रक्षा के लिए कटिबद्ध था। इस पर दोनों की भिड़ंत हो गई और छैला ने रोहित की हत्या कर दी। मृत्यु से पूर्व रोहित ने अन्तिम बार अपनी बात कही।

व्याख्या: वह व्यक्ति काम में अन्धा था। वह मुझे भयानक काले साँप की तरह लगा जिसमें बेहद

विष भरा हुआ था। जैसे ही उसने मुझे छुआ बस उसका विष मेरे अन्दर फैल गया, इसका परिणाम यह हुआ कि अब मैं बच नहीं सकता और इस लोक को अलविदा कह कर जा रहा हूँ। हे माता, मैं जा रहा हूँ तुमसे बहुत दूर फिर भी तुम्हारे पास ही रहूँगा। तुम्हारी स्मृति में रहूँगा, तुम्हारी साँसों में रहूँगा। मैं यह भी देखता रहूँगा कि देवताओं के घमंड का अन्ततः परिणाम क्या होगा। ये देवता अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य को बरबाद कर देते हैं और मनुष्य अपने भोलेपन में सब कुछ सह लेता है। मेरे पिता से आपका साक्षात्कार हो तो कह देना कि रोहित स्वर्ग नहीं गया, क्योंकि वह स्वर्ग को झूठा मानता है। स्वर्ग एक कल्पना है, वह कहीं नहीं होता है और अगर वह होता है तो स्वार्थी लोगों से भरा हुआ है जिसे रोहित अस्वीकार करता है और उसका तिरस्कार करता है। रोहित तो यहीं कहीं मिट्टी में मिल गया है जिसे लोगों ने फूँका और लूटा है। इस प्रकार रोहित स्वर्ग की अपेक्षा धरती को प्यार करता है।

विशेष:

1. इसमें व्यक्ति का मनोविज्ञान झलकता है।
2. मरण अवस्था में माता-पिता के लिए उसके अलग-अलग संदेश हैं जो विशेष संदर्भित है।
3. रोहित का विद्रोही स्वभाव झलकता है।
4. यह अभिव्यक्ति नाटक के संदेश या उद्देश्य के अनुसार ही है।
5. भाषा-शैली प्रभावपूर्ण है।
6. सूक्ष्म भाव अभिव्यक्ति।
7. आकर्षक गेयता।
8. मनभावन बिम्ब-विधान।
9. श्रेष्ठ संवादात्मक स्वरूप।
10. आकर्षक नाट्य अभिनेयता।
11. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

|| 36 ||

“सुनो हरिश्चन्द्र का संवाद। ना मैं हूँ, ना ही मैं स्वर्ग गया। जीवन भर नरक की आग में जल कर दी अपने चरित्र की परीक्षा। तुम कहते हो, मैं सफल हो गया सत की परीक्षा में। पर मुझे कल फिर परीक्षा देनी होगी अपने सत की। और आज का परीक्षा फल नहीं आएगा काम। इसलिए मुझे यही रहना होगा कल की परीक्षा के लिए।

प. 76-77

संदर्भ: यह गद्यांश लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ के सातवें दृश्य से उद्धृत है। यह लौका का कथन है जो हरिश्चन्द्र की भूमिका में था।

नाटक में जो चल रहा था, वह समाप्त हो गया है और अब नाटक के पात्र अपने मूल रूप में आ गए हैं, परन्तु उन पर अपनी-अपनी भूमिका का प्रभाव अब भी है।

व्याख्या: यह हरिश्चन्द्र के ही विचार हैं जो न अमर है और जो न स्वर्ग गया। वह धरती का है, यहीं रहेगा। उसने जीवन भर कष्ट झेले और फिर भी अपने चरित्र की परीक्षा दी। देवधर रूपी इन्द्र की यह टिप्पणी सही नहीं है कि वह सत की परीक्षा में खरा उतरा, क्योंकि उसे यह परीक्षा

बारबार देनी होगी। तब आज का परीक्षा फल काम नहीं आएगा। इसलिए कल की परीक्षा के लिए तैयार रहना होगा और परीक्षा यहीं रहकर देनी होगी। इन्द्र जैसे सत्ताधारी अपने प्रतिद्वन्द्वी को अपने रास्ते से हटाने के लिए हरिश्चन्द्र जैसे की परीक्षा लेते रहेंगे। कोई विकल्प नहीं हैं।

विशेष:

1. इसमें सत्ता की राजनीति की सच्चाई को उद्घाटित किया गया है।
2. इसमें व्यंग्य की मारक शक्ति है।
3. भाषा शैली सहज और सशक्त है।
4. स्पष्ट भाव-भिव्यंजना।
5. आकर्षक गेयता।
6. सुन्दर लयात्मकता।
7. सुन्दर प्रस्तुति।
8. आकर्षण बोध-गम्यता।
9. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
10. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।

॥ 37 ॥

“हरिश्चन्द्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और तुम परीक्षा लेते रहो। मैंने इस नाटक में राजा बन कर देख लिया। जब तक तुम हो, हम केवल बनाए ही जा सकते हैं, अपने आप कुछ नहीं हो सकते। पर अब बनने और होने का मर्म हमें मिल गया। चुप रह जाना हमारा विरोध था। पर तुम उस भाषा को नहीं समझ सके। सत्ता है तुम्हारे पास, हम सब तुम्हारे हाथ के कठपुतले थे। यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था और तुम्हीं इसके सूत्रधार थे। चलो, अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की। प . 77

संदर्भ: ये पंक्तियाँ लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ‘एक सत्य हरिश्चन्द्र’ के सातवें दृश्य के लगभग अन्तिम भाग ली गई हैं। यह लौका का कथन है जब वह बदली हुई मानसिकता के अनुसार क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले की भूमिका में उतर आता है। वह देवधर को चुनौती देता है।

व्याख्या: यह ऐसे कब तक चलेगा कि हरिश्चन्द्र अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और तुम परीक्षा लेते रहो। मैंने हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतर कर देख लिया कि तुम ही सब कुछ हो, हमें अपने हिसाब से संचालित करते हो।

एक बात याद रखो- पहले तुम चुप रहते थे, कुछ नहीं कहते थे, परन्तु वह हमारे विरोध करने का हथियार था। तुमने उसे गलत समझा। तुम्हारे अनुसार हमारे पास विवेक नहीं था, हमें तुम्हारी बातें पसन्द थीं। तुम्हारे हाथों में जो सत्ता की बागडोर थी, उससे तुम हमें चलाते थे। हम तुम्हारे हाथ की कठपुतली थे।

सच्चाई यह है कि हरिश्चन्द्र वाला नाटक तुम्हारा ही लिखा था और उसे खेलने में तुम्हारी भूमिका

सूत्रधार की थी अर्थात् सब कुछ तुम्हारी चाह के अनुसार था। अब वह स्थिति नहीं रही है। तुम्हारी सच्चाइयाँ सबके सामने खुल गई हैं। याद रखो, अब अगली परीक्षा हमें नहीं, तुम्हें देनी होगी। तब पता चलेगा, वास्तव में परीक्षा क्या होती है।

विशेष:

1. इस में सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।
2. बदलती हुई स्थितियों का अंकन है।
3. सरल एवं सहज भाषा शैली है।
4. व्यंग्य का आधार है।
5. आकर्षक बोध-गम्यता।
6. सुन्दर लयात्मकता।
7. सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।
8. सुन्दर बिम्ब-विधान।
9. प्रसाद-माधुर्य, गुण-सम्पन्न शैली।
10. आकर्षक नाट्य अभिनेयता।

खण्ड (क) आलोचना

एक कंठ विषपायी

प्रश्न 1. दुष्यन्त कुमार द्वारा रचित काव्य नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' का कथानक संक्षेप में लिखिए।

उत्तर : 'एक कण्ठ विषपायी' दुष्यन्त कुमार की एक गीति नाट्य रचना है। इसमें भगवान शंकर की पत्नी सती के आत्मदाह करने एवं उसके बाद शिव शंकर महादेव के शोक का वर्णन है। इस काव्य नाटक का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है :

सती दक्ष प्रजापति की कन्या थी। सती की माता का नाम वीरिणी था। सती शिव शंकर से बहुत प्रभावित थीं। उन्होंने तपस्या करके शिव को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे सती से विवाह करें। सती हठ के आगे दक्ष प्रजापति को भी झुकना पड़ा था। पर दक्ष इस विवाह से प्रसन्न नहीं थे। उन्हें भ्रम हो गया था कि स्वयं को महादेव कहने वाले शंकर ने - उनकी सुपुत्री सती को बहका कर उनसे प्रेम विवाह किया है। इस विवाह के कारण दक्ष प्रजापति ने स्वयं को अपमानित अनुभव किया और महादेव शंकर से उस अपमान का बदला लेने की योजना बनाई। दक्ष प्रजापति ने अपने राज्य में एक बहुत बड़ा यज्ञ किया उसमें देवता, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि सभी को बुलाया गया, किन्तु दक्ष प्रजापति ने यज्ञ का निमन्त्रण अपनी पुत्री सती और उसके पति शंकर को नहीं भेजा। दक्ष की पत्नी वीरिणी ने घर का जामाता होने के कारण महादेव को भी यज्ञ में बुलाने पर बल दिया, पर दक्ष प्रजापति ने पत्नी की बात नहीं मानी, उसने शंकर को दुराग्रही, मर्यादा तोड़ने करने वाला और सती का अपहरणकर्ता बता कर पत्नी की बात को टाल दिया।

दक्ष के पुत्र राजकुमार सुलभ ने एक चिड़िया को बन्दी बना लिया था। उस चीखती-चिल्लती चिड़िया को प्रजापति के सेवकों ने बंधनमुक्त करा दिया। जिससे राजकुमार सुलभ अत्यधिक क्रोधित हुआ और महल में उत्पात मचाने लगा। यह समाचार जानकर दक्ष प्रजापति बहुत क्रोधित हुए इसका कारण उसने अपनी पत्नी के अन्तःपुर की व्यवस्था का स्थिर होना व सेवकों का अयोग्य होने को बताया। तभी महामात्य के सेवक ने वहाँ आकर बताया कि दक्ष पुत्री सती शंकर के गणों और नन्दी के साथ यज्ञ मण्डप में आ चुकी हैं उनसे अन्तःपुर में विश्राम का निवेदन किया गया है, पर वे नहीं मानी। अपने पति शंकर महादेव के अपमान से क्रोधित होकर वे सबको अपशब्द कह रही हैं। वीरिणी दक्ष को रहीं कि वे सती को कुछ न कहे पर उन्होंने सेवक के द्वारा सती के लिए कहलवाया कि या तो वे चुपचाप प्रजा-जनों के साथ खड़ी होकर यज्ञ देखें नहीं तो अपने घर वापिस चली जाएं। दक्ष क्रोध में भरकर अनुचर के साथ चले गये। वीरिणी अनेक अशुभ आशंकाओं के साथ व्याकुल बनी चिंता करती रहीं।

कुछ समय बाद द्वारपाल ने सूचना दी कि क्रोध में भरे हुए महाराज दक्ष अपने जामाता महादेव पर गुस्सा करते हुए ज्योंही यज्ञमण्डल में पहुंचे, त्योंही एक बिजली सी कौंधी और सती का शव उसमें झुलस कर निर्जीव हो गया। महादेव का नन्दी बैल क्रोध से नथुने फड़काता हुआ शंकर के पास सूचना देने गया। सती के जलने की सूचना पाकर क्रोध में भरे हुए शंकर ने अपना त्रिशूल उठाकर अनुचरों को युद्ध की आज्ञा दी। शिव के अनुचरों ने यज्ञ विध्वंस कर दिया। यज्ञ के ऋत्विजों और अतिथियों

लगी। लम्बी बहस से उबे हुए लोग तुरन्त कोई निर्णय चाह रहे थे कि तभी एक सैनिक ने आकर सूचना दी कि सेना युद्ध करने के लिए बहुत देर से तैयार खड़ी है।

विष्णु ने सैनिक को आश्वासन दिया कि वह सभी सैनिकों को शीघ्र युद्ध होने की सूचना दे दे। इसके बाद विष्णु ने देवराज से धनुष बाण लेकर मन्त्र पढ़ा और एक बाण छोड़ा। उपस्थित देवगण एवं देवलोक की जनता विष्णु की जय-जयकार करने लगी। विष्णु ने अपने कर्म को चिन्तन से उत्पन्न बताया और शीघ्र ही उसका परिणाम सामने आने कि आशा व्यक्त की और उन्होंने बताया मैंने जो बाण छोड़ा है, वह प्रणाम बाण है। उसमें कई फलक हैं। वे भगवती सती के शव को खण्डित करके सभी दिशाओं में बिखेर देंगे। विष्णु जी आगे कहते हैं कि मेरा मूल बाण शिव के चरणों में जाकर गिरेगा। अब उस बाण को महादेव शंकर चाहे तो प्रणाम समझें, या फिर चाहे चुनौती। किन्तु अन्तिम विजय हमारी यानी धर्म की ही विजय होगी।

तभी सूचना मिलती है कि महादेव की सेनाएं देवलोक से बाहर चली गई हैं इस तरह से युद्ध का रक्पात नहीं हुआ।

प्रश्न 2. 'श्री दुष्यन्त कुमार जी' के द्वारा रचित काव्य 'एक कण्ठ विषपायी' की काल्पनिकता के विषय पर प्रकाश डालिए?

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' के कथा संगठन पर प्रकाश डालिए?

उत्तर : 'एक कण्ठ विषपायी' दुष्यन्त कुमार द्वारा रचित काव्य एक नाटक है। इसके कथानक का आधार अथवा मूल शंकर एवं देवी सती की पौराणिक कथा है। दुष्यन्त कुमार जी ने इस कथा को आधुनिक परिवेश से जोड़ने के लिए अनेक कल्पनाएं की हैं। दूसरे शब्दों में इस काव्य नाटक का पूर्वाद्ध पौराणिक है एवं उत्तराद्ध काल्पनिक।

महादेव शंकर की पहली पत्नी सती के आत्मदाह करने की कथा मूल रूप से शिव पुराण में मिलती है। अन्य पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों में भी यह कथा किसी न किसी रूप में अथवा न्यूनाधिक आकार में प्रचलित है। यह कथा ऐतिहासिक तो नहीं है पर इसको काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस काव्य नाटक की कथा का पूर्वाद्ध पुराण लेखक की कल्पना हो सकती है, लेकिन दुष्यन्त कुमार जी की नहीं। वैसे भी पुराण पुराना इतिहास है। यदि इतिहास नहीं भी है तो इतिहास पर आधारित है।

पुराणों में उपलब्ध 'एक कण्ठ विषपायी' के आरम्भिक अंश की कथा इस प्रकार है -

सती पार्वती ने महादेव को पाने के लिए घोर तपस्या की थी। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर सती के आग्रह को स्वीकार करके भगवान् शंकर ने उन्हें अपनी अर्धांगिनी स्वरूप स्वीकार किया था। पार्वती के पिता प्रजापति दक्ष नहीं चाहते थे कि सती और शंकर का यह विवाह हो। वह इस विवाह से अप्रसन्न थे। उन्हें सती और शंकर का विवाह अपने राजकीय वैभव से हीन होने के कारण अपमानजनक लगा। शिव का पर्वतों में तपस्वी रूप में रहना एवं स्वयं को महादेव कहलवाना भी दक्ष को अच्छा नहीं लगाता था। दक्ष को भ्रम था कि शिव ने भोली-भाली सती को बहलाकर, अपहरण कर उससे विवाह किया। दक्ष की दृष्टि में यह विवाह एक प्रकार का अपहरण था। वे अपनी वीरिणी से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -

“हैं अपहरण।

देवि!

मैं निश्चय ही इसको अपहरण कहूंगा

क्या अबोध मन को फुसला कर

कुबेर डरे सहमें से ब्रह्मा जी के पास लौट गये और उन्हें महादेव की चेतावनी सुना डाली। चेतावनी सुनकर सभी सहमें से आपस में विचार विमर्श करने लगे कि सती के प्राण यदि वापिस किये जाते हैं तो व्यवस्था बिगड़ सकती है। ब्रह्मा को इस बात का दुःख था कि उनके सहयोगी शंकर मृत्यु की अनिवार्यता को क्यों स्वीकार नहीं कर रहे हैं?

जब सती पार्वती के प्राण वापस नहीं लौटे अर्थात् वे जीवित नहीं हुई, तो शंकर ने अपनी सेना सहित देवलोकर पर धावा बोल दिया। शंकर के गण देवलोक की सीमा में प्रवेश करके विध्वंस करने लगे। देवलोक के सेनापति इन्द्र ने ब्रह्मा से युद्ध की अनुमति देने को कहाँ ब्रह्मा ने युद्ध को सामूहिक आत्मघात घोषित करते हुए युद्ध की अनुमति देने से मना कर दिया। तभी प्रजाजनों ने आकर देवलोक में ब्रह्मा के भवन को घेर लिया और स्वयं की रक्षा हेतु युद्ध करने के लिए हल्ला मचाने लगे। शोरगुल सुनकर विष्णु पास वाले कक्ष से बाहर आए और प्रजा को आश्वस्त किया कि उनकी रक्षा की जायेगी अर्थात् युद्ध किया जाएगा। विष्णु ने इन्द्र से धनुष बाण लेकर एक ऐसा बाण छोड़ा, जिसमें अनेक फलक थे। बाण के फलकों ने सती के शव को खण्ड-खण्ड करके बिखेर दिया। विष्णु का मूल बाण शंकर में चरणों में गिरा। सती के शव के टुकड़े होते ही शिव का मोह समाप्त हो गया और उनकी सेनाएं देव लोक से वापस लौट गईं।

कथानक के इस उत्तरार्द्ध में भी कुछ घटनाएं पुराणों पर आधारित हैं। 'देवी भावगत' एवं 'कल्कि पुराण' के अनुसार सती का शव कंधे पर ड़ाकर घूमते हुए शिव पर विष्णु ने बाण चलाया। जिससे सती के शव टुकड़े होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर गिरे। जहाँ-जहाँ ये शव के टुकड़े गिरे वहाँ-वहाँ एक-एक शक्ति और एक-एक भैरव अवतरित हुआ।

'एक कण्ठ विषपायी' के कथानक के इस अंश में लेखक द्वारा दक्ष के सेवक सर्वहत् की कल्पना सर्वथा मौलिक है। सर्वहत् यह सिद्ध करता है कि अपराध राजा करता है और उसका परिणाम प्रजा को भोगना पड़ता है। 'एक कण्ठ विषपायी' के कथानक का उत्तरार्द्ध युद्ध की उपयोगिता के विवेचन से भरा है। प्रजा का ब्रह्मा के भवन पर प्रदर्शन आजकल के प्रजातन्त्रों में प्रजा की शक्ति का प्रबल परिचायक है।

'एक कण्ठ विषपायी' काव्य नाटक के पूर्वार्द्ध में भी दुष्यन्त कुमार जी ने परिवर्तन किया है। देवी भागवत, स्कन्द पुराण तथा हरिवंश पुराण के अनुसार मारीच ऋषि के यज्ञ में जब दक्ष प्रजापति पहुंचे तो सब देवता उनके स्वागत में उठकर खड़े हो गए पर शंकर नहीं उठे। इससे क्रोधित होकर दक्ष ने उन्हें शाप दिया कि तुम्हें यज्ञ में देवता के रूप में भाग नहीं मिलेगा। कुछ दिन बाद दक्ष ने अपने नगर में एक बहुत बड़े यज्ञ का अयोजन किया और अपने अपमान का बदला लेने के लिए शंकर को नहीं बुलाया। उधर शंकर के मना करने पर भी सती अपने पिता के यज्ञ में शामिल होने को गईं, जहाँ माता एवं बहिनों के अतिरिक्त किसी अन्य ने उसका स्वागत न किया। यज्ञ में अपने पति का भाग न देखकर सती ने अपमान महसूस किया और योग अग्नि में अपना शरीर जला ड़ाला। सती को म त देखकर शंकर के गण दक्ष को मारने लगे तो भ गु ऋषि ने मन्त्र पढ़कर आहुति दी। जिससे उत्पन्न हुए ऋभु नामक देवता ने शिव के गणों को मार भगाया। नारद ने यह समाचार शंकर को सुनाया तो उन्होंने क्रोध में भर कर अपनी जटा का एक बाल उखाड़ा और उससे वीरभद्र को उत्पन्न किया। महादेव की आज्ञा पाकर वीरभद्र ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया और दक्ष का सिर काट लिया। देवताओं से यह समाचार जानकर ब्रह्मा जी देवताओं के साथ कैलाश पर्वत पर गये। सबकी प्रार्थना पर शंकर ने दक्ष के सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगा दिया और दक्ष का यज्ञ पूर्ण करने की अनुमति दे दी। देवताओं की प्रार्थना पर महादेव यज्ञ में शामिल हुए। दक्ष ने स्तुति करके शिव को प्रसन्न किया।

'दुष्यन्त कुमार जी' ने 'एक कण्ठ विषपायी' में दक्ष के जीवित होने एवं यज्ञ के पूरा होने की बात

इसलिए उनकी समस्त कृतियों में काव्यत्व की झलक मिलती है। करुणालय को उन्होंने गीति नाट्य के रूप में लिखा। इसलिए इसमें काव्य तत्त्व की प्रधानता होना स्वाभाविक है। 'करुणालय' वास्तव में नाट्य शैली में लिखा गया काव्य था। इसलिए सभी आलोचकों एवं मनीषियों ने इसे नाट्य काव्य का नाम दिया।

जयशंकर प्रसाद जी द्वारा रचित 'करुणालय' के पश्चात् सियाराम शरण गुप्त द्वारा रचित 'उन्मुक्त' का नाम आता है। 'उन्मुक्त' के संवाद पूर्णतः पद्यमय हैं। इसमें काव्य तत्त्व के साथ-साथ नाटकीयता का भी पूर्णतया निर्वाह किया गया है। इसके संवादों में पद्यात्मकता का निर्वाह करते हुए उन्हें गद्यात्मक वाक्य के रूप में भी लिखा गया है। वाक्य प्रायः एक से अधिक काव्य पंक्तियों में फैले हैं। कुछ वाक्यों की समाप्ति पंक्ति के मध्य में भी होती है। इसमें तुक का निर्वाह नहीं हुआ है, पर यह एक अद्भुत प्रयोग है। इसके संवाद पूर्णतया नाटकीय हैं। इसलिए इसका अभिनय सफलतापूर्वक हो सकता है।

सियाराम शरण गुप्त के 'उन्मुक्त' के पश्चात् उदयशंकर भट्ट द्वारा रचित गीति नाट्यों का क्रम आता है। उदयशंकर भट्ट ने 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' नामक गीति नाट्य, नाट्य काव्य अथवा काव्य नाटक लिखे। भगवती चरण वर्मा ने 'तारा' नामक काव्य नाटक लिखा। यह रचना पौराणिक कथानक पर आधारित है। इसमें चन्द्रमा द्वारा अपने गुरु आचार्य ब हस्पति की पत्नी तारा के साथ प्रणय एवं अत त्प वासना की कहानी को साहित्यिक रूप दिया गया है। भगवती चरण वर्मा ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' में जो पाप-पुण्य की समस्या उठाई है और उसकी तर्कसंगत व्याख्या की है, उसी की गूँज इस काव्य नाटक में भी है। इस रचना में वर्मा ने अन्तर्द्वन्द्व को भी प्रमुख स्थान दिया है। 'तारा' एक प्रकार से सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की कृति है।

उदयशंकर भट्ट के तीन काव्य नाटकों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वास्तव में उनकी गीति नाट्य अथवा काव्य नाटक के रूप में पुकारी जाने वाली रचनाओं की संख्या पर्याप्त हैं। 'कालिदास' के नाम से उनके तीन ध्वनि रूपक कालिदास विक्रमोर्वक्षीय एवं मेघदूत प्रकाशित हुए हैं। 'नहुष' नामक काव्य नाटक की रचना पुराण प्रसिद्ध कथा पर हुई है। इसमें नहुष का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। 'विश्वामित्र' शीर्षक काव्य नाटक में ऋषि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की प्रणयकथा का वर्णन है। इस काव्य नाटक का उद्देश्य वास्तव में नर और नारी के संघर्ष को साकार करना है। इसमें विश्वामित्र जहाँ पुरुष का प्रतीक है। वहीं मेनका और उर्वशी नामक अप्सराएं नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'मत्स्यगंधा', महाभारत की प्रसिद्ध कथा पर आधारित है। इसमें धीवर पुत्री 'मत्स्यगंधा' के चिर यौवन प्राप्त करने की अभिलाषा को मूल आधार बनाया गया है। पराशर ऋषि को आत्म समर्पण करके वह चिरयौवन प्राप्त करती है, पर यही चिरयौवन उसके लिए अभिशाप बन जाता है। यही मत्स्यगंधा बाद में सत्यवती के नाम से शान्तनु की पत्नी बनी। 'राधा' नामक गीति नाट्य में कृष्ण के प्रति राधा के आकर्षण और समर्पण की बात है। अन्त में राधा कृष्ण में ही विलीन हो जाती है। 'कालिदास' के नाम से संग हीत 'कालिदास' 'मेघदूत' एवं 'विक्रमोर्वक्षीय', में कालिदास प्रसिद्ध संस्कृत कवि कालिदास के जीवन पर आधारित है। शेष दो अर्थात् 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वक्षीय' कालिदास की इन नामों से प्रसिद्ध रचनाओं पर आधारित होते हुए भी नवीन प्रसंगों की उद्भावना से सुशोभित हैं।

उदयशंकर भट्ट के पश्चात् काव्य नाटक के रचयिताओं में प्रसिद्ध नाम सुमित्रानन्दन पन्त का लिया जाता है। 'नाट्य सेतु' शीर्षक से पन्त जी के तीन काव्य नाटक प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें उन्होंने गीति नाट्य का नाम दिया है। ये तीन नाटक 'शिल्पी', 'रजत शिखर' और 'सौपर्ण' हैं। इनके संवाद तो पद्यात्मक हैं ही, इनमें अनेक गीतों को भी स्थान दिया गया है। 'शिल्पी', शीर्षक

जाता है। कथानक के विकास के लिए पात्रों एवं उनके कथोपकथन अनिवार्य होते हैं। बहीर्द्धन्द सम्बन्धी बातें तो पात्रों के कथोपकथन से स्पष्ट होती हैं। अन्तर्द्धन्द पर प्रकाश डालने के लिए स्वगत कथनों को सहारा लिया जाता है। पात्रों के निजि कथन भी अन्तर्द्धन्द पर प्रकाश डालते हैं। काव्य नाटक अथवा गीति नाट्य में काव्य तत्व प्रधान रहता है। इसलिए यह वास्तविक नाटक अथवा नाटक की अपेक्षा अधिक भाव प्रधान एवं अन्तर्मुखी हो जाती है। गीति नाट्य के अन्तर्द्धन्द अथवा आन्तरिक संघर्ष की प्रधानता रहती है। इसी कारण काव्य नाटक या गीति नाट्य भावमय होने के साथ साथ वस्तुनिष्ठ भी हो पाता है। इसके साथ ही यह समझ लेना भी आवश्यक है कि पद्यबद्ध नाटक गीत नहीं होता है। वास्तव में गीति नाट्य या काव्य नाटक पद्यबद्ध आकार में गीति का एक विशेष रूप होता है। अंग्रेजी कवि ब्राडिंग ने जिन गीति नाट्यों की रचना की है उनमें गीति नाट्य की विशेषताएं प्राप्त हैं। ब्राडिंग के गीत नाट्यों का विषय मानव का भाव जगत है। केवल उन्हें नाट्यशैली में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी के आधुनिक गीति नाट्यों पर ब्राडिंग के अतिरिक्त अंग्रेजी लेखक स्वीनबर्म की रचनाओं का भी प्रभाव है। हिन्दी साहित्य के समान अंग्रेजी साहित्य में गीति नाट्य अथवा काव्य नाटक की विद्या परम्परागत नहीं है। इसका विकास आधुनिक कवियों ने किया है। गीति नाट्यों अथवा काव्य नाटकों में भावों की प्रधानता रहती है। इसलिए कुछ लोग इन्हें भावनाट्य के नाम से भी पुकारते हैं। मानव जीवन कोमल मनस्पर्शी भावात्मक एवं सूक्ष्म व्यापारों को शब्दों के द्वारा साकार अथवा मूर्तरूप दिया गया है। जीवन के सूक्ष्म व्यापारों में अन्विति की अपेक्षा है गीतिकाव्य में इस अन्विति का पूरा ध्यान रखा जाता है। गीति नाट्य का कथानक भाव की प्रबलता के कारण उसी प्रकार आगे बढ़ता है जिस प्रकार नदी का प्रवाह गतिशील होता है। गीति नाट्य या काव्य नाटक में कथांक एवं घटनाओं की अपेक्षा भावों के आवेग की अधिक महत्ता है। भाव की इसी प्रधानता के कारण गीति नाट्यों या काव्यनाटकों को भाव नाट्य कहा जाता है।

उदय शंकर भट्ट ने इसी आधार पर अपने गीति नाट्यों को भाव नाट्य कहा है। उदयशंकर भट्ट के अनुसार भाव नाट्य एक प्रकार की मानसिक उथल-पुथल मचाने वाले भाव धारा पर आधारित होता है। प्रकृति और गीति इसके आलम्बन हैं तथा विचार उद्दीपन है रस उसकी परिणति है। भाव नाट्य में प्रयुक्त होने वाला भाव नाटक की रचना शैली को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है। यदि गीति नाट्य को भाव की प्रधानता के कारण भाव नाट्य की संज्ञा दी जाती है तो भावात्मक शैली में लिखे गये गद्य नाटकों को भी भाव नाट्य कहना पड़ेगा। क्योंकि उनमें भी भाव की प्रधानता होती है। भावात्मक शैली में लिखे गये गद्य नाटकों को भाव नाट्य कहना कोई भी स्वीकार नहीं करेगा, इसलिए काव्य नाटक के लिए निम्नलिखित चार बातें आवश्यक हैं -

क. अनिवार्य पद्यबद्ध एवं गेयता।

ख. द श्य काव्य की समस्त विशेषताओं का निर्वाह।

ग. भावमय दृष्टिकोण।

घ. गीतिमय संवाद योजना।

गीति नाट्य के लिए उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित तत्व भी अनिवार्य हैं -

क. कथानक -

गीति नाट्य या नाटक का कथानक ऐतिहासिक, लोक प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक कैसा भी हो सकता है काल्पनिक स्वरूप घटना प्रधान एवं वस्तुनिष्ठ न होकर भाव प्रधान होना चाहिए।

ख. चरित्र-चित्रण -

काव्य नाटक में पात्रों की संख्या प्रायः अधिक नहीं होती। पात्र कार्य-व्यापार के केवल वक्ता होते हैं, वे उसके कर्ता या भोक्ता के रूप में चित्रित नहीं होते। पात्र अपने भावों एवं विचारों के माध्यम

क. 'एक कण्ठ विषपायी' मूलतः प्रबन्ध काव्य है। उसमें भाव की प्रबन्धात्मक अन्विति मिलती है आक्रोश एवं क्रोध का भाव इस रचना में आद्यन्त व्याप्त है।

ख. 'एक कण्ठ विषपायी' में परिस्थितियों की सघनता एवं नाटक रचित उत्थान पतन हैं। वीरिणी द्वारा दक्ष को मनाना, कुबेर द्वारा शिव को समझाना एवं ब्रह्मा द्वारा इन्द्र आदि को युद्ध की व्यर्थता बताने का असफल प्रयास उत्थान पतन का कारण बनता है।

ग. 'एक कण्ठ विषपायी' में कार्य व्यापार बहुत कम हैं, जैसे शिव शंकर का सती का शव कंधे पर डाल कर चलना एवं विष्णु द्वारा अनेक फलकों वाला बाण छोड़ना। अन्य घटनाओं की सूचना कथोपकथनों के ही माध्यम से ही दी है।

घ. एक कण्ठ विषपायी के संवाद गीति शैली में लिखे गये हैं?

ङ. एक कण्ठ विषपायी की शैली नाट्यात्मक अर्थात् कथोपकथन के रूप में होती हुई भी इसकी आत्मा गीतात्मक अर्थात् कथोपकथन के रूप में होती हुई भी इसकी आत्मा गीतात्मक अर्थात् आत्मनिवेदन प्रधान तथा शब्द योजना कोमल है। सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता की भी इसमें कमी नहीं है।

च. 'एक कण्ठ विषपायी' के संवाद अधिकांश लम्बे हैं।

छ. 'एक कण्ठ विषपायी' की सम्पूर्ण रचना संगीतात्मक होते हुए इसमें तृतीय दृश्य का शंकर का स्वागत कथन, कुबेर द्वारा शंकर की स्तुति एवं उसका हिन्दी अनुवाद एक प्रकार की गीत योजना ही है।

ज. 'एक कण्ठ विषपायी' का आकार छोटा है एवं इसका विभाजन चार अंकों में है।

झ. 'एक कण्ठ विषपायी' के रचयिता अभिनय के प्रति सतत् सावधान रहा है उसने स्थान-स्थान पर पर्याप्त रंग संकेत दिये हैं।

1. भावमय दृष्टिकोण -

एक कण्ठ विषपायी के रचयिता दुष्यन्त कुमार का दृष्टिकोण भावमय रहा है। उन्होंने घटनाओं पर नहीं, प्रेम, वात्सल्य, घणा, उत्साह आदि भावों में ही प्रधानता दी है।

2. गीतिमय संवाद -

'एक कण्ठ विषपायी' की सम्पूर्ण संवाद योजना पद्यबद्ध एवं गीतिमय हैं उसे लयात्मक कहा जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दुष्यन्त कुमार ने अपने काव्य नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' में काव्य नाटक अथवा गीति नाट्य के सभी तत्वों, विशेषताओं एवं अंगों का समावेश किया है। इस विवेचन के आधार पर 'एक कण्ठ विषपायी' को एक सफल काव्य नाटक अथवा गीति नाट्य कहा जा सकता है।

प्रश्न 5. 'एक कण्ठ विषपायी' को किस उद्देश्य से लिखा गया है। प्रभावशाली उत्तर दीजिए।

अथवा

दुष्यन्त कुमार जी ने 'एक कण्ठ विषपायी' में किन-किन वर्तमान समस्याओं एवं उनके समाधान को शामिल किया है? प्रमाणों सहित उचित उत्तर दीजिए।

उत्तर : दुष्यन्त कुमार जी द्वारा काव्य नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' शिव शंकर की पहली पत्नी सती के आत्मदाह एवं दक्ष के यज्ञ-विनाश पर आधारित है। प्राचीन कथानक को आधुनिक उपयोगी एवं रोचक बनाने के लिए दुष्यन्त कुमार जी ने इसमें कुछ वर्तमान समस्याओं एवं उनके

**सती के जाने का आघात लगा है
पित हृदय की ममता को
धक्का पहुंचा है।**

2. राजतन्त्र की निरंकुशता –

राजतन्त्र में सब कुछ राजा या शासक पर आधारित होता है। उसकी इच्छा अथवा सनक ही सबसे बड़ा संविधान होती है। शासक भूल करता है और उसका परिणाम प्रजा को भुगतना पड़ता है। प्रजाजन यह समझते हुए भी कि शासक अथवा राजा का यह कार्य अनुचित है, उससे कह नहीं सकते। यही दक्ष की प्रजा के साथ भी हुआ। दक्ष प्रजापति ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए शिव शंकर को यज्ञ में नहीं बुलाया। इसका परिणाम अन्त में यह हुआ कि शिव के गणों ने दक्ष का यज्ञ नष्ट किया। दक्ष का वध किया और सारे नगरवासियों सहित नगर को उजाड़ दिया। केवल सर्वहत्त क्षत-विक्षत अवस्था में बचा, जो दक्ष का सेवक था। उसे हम दक्ष की प्रजा का प्रतिनिधि भी मान सकते हैं। सर्वहत्त प्रजा की इस विवशता एवं दूसरे के अपराध का फल भोगने की विडम्बना को उजागर करता हुआ ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि से कहता है –

**विधाता के नियमों की विडम्बना है।
चाहे न चाहे
किन्तु
शासन की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है।
और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ।
मैं प्रजा भी हूँ।**

3. युद्ध-अनिवार्यता –

युद्ध आज की ज्वलन्त समस्या है। सारा संसार युद्ध की ज्वाला में जला जा रहा है। युद्ध कुछ लोगों के स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत बदले की भावना के कारण होते हैं। इन युद्धों के दुष्परिणाम उन देशों की जनता को भुगतने पड़ते हैं। युद्ध में चाहे विजय हो अथवा पराजय, युद्धरत देशों की जनता पर आर्थिक बोझ अवश्य पड़ता है। उन देशों की अपार जनहानि होती है। इसी कारण युद्ध मनीषियों में विचार एवं विवाद का विषय बना हुआ है।

दुष्यन्त कुमार जी ने अपने काव्य नाटक में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की है, जिससे युद्ध की व्यर्थता एवं अनिवार्यता पर विचार-विमर्श एवं तर्क-वितर्क हो सके। दक्ष के यज्ञ में सती के झुलस कर मर जाने पर भी शिव शंकर का सती के शरीर के प्रति मोह समाप्त नहीं हुआ। वे सती का शव कंधे पर डालकर घूमने लगे। उन्होंने सती के प्राण वापस करने का आग्रह किया और ऐसा न होने पर सेना सहित देवलोक पर आक्रमण कर दिया। देवलोक के सेनापति इन्द्र ने शंकर की सेनाओं का सामना करने के लिए युद्ध की अनुमति चाही। शंकर की सेनाओं से पीड़ित और दुःखी प्रजा भी युद्ध करने के लिए हल्ला मचाने लगी। कुबेर और वरुण उसके प्रतिनिधि बनकर देवलोक अधिपति ब्रह्मा से बात करने गए। इन्द्र कुछ परिस्थितियों में एक मात्र युद्ध को शेष उपाय सिद्ध करते हुए कहते हैं –

**जहाँ न्याय की हत्या हो
अन्याय सफल हो,
जहाँ शक्ति का अहंकार हो
सत्य विकल हो,
जहाँ विवश-सा शौर्य**

नाटक नाम दिया है। रचयिताओं द्वारा नामकरण की यह भिन्नता अकारण नहीं है। धर्मवीर भारती से पूर्व जो नाट्यात्मक आकृतियां लिखी गई थीं वे गेय छंदों में थीं। उनमें परम्परागत छंदों का व्यवहार किया गया था। सभी में अत्यानुप्रास अर्थात् तुम का निर्वाह किया गया था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नई कविता का प्रचलन होने से पूर्व जो नाट्यात्मक काव्य लिखे गए वे परम्परागत छंदों अथवा प्राचीन कविता के माध्यम से लिखे गये। उस काल खण्ड के रचनाकारों ने केवल कविता लिखी है। उन्होंने कविता को नाटकीय संवादों का रूप दिया है।

मुक्त छंद में एवं समस्त प्राचीन मान्यताओं का त्याग करके कविता प्रयोग-वादियों ने लिखी। प्रयोगवाद का पहला काव्य संग्रह 'तार सप्तक' के नाम से अज्ञेय के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। जिस प्रकार प्रयोगवादियों ने परम्परागत सभी मान्यताओं को टुकराकर नये प्रयोग, उसी प्रकार नई कविता के आन्दोलनकारियों ने प्रयोगवादियों की बहुत-सी बातों को अपनाया है। जैसे —

1. छंद मुक्त —

प्रयोगवाद एवं नई कविता दोनों में मुक्त छंद का प्रयोग होता है। नए कवियों में से कुछ ने 'नवीनत' ने नाम से जो गीत लिखे हैं। उनमें परम्परागत छंद की छाया है।

2. अत्यानुप्रास-अभाव —

प्रयोगवादी कविता एवं नई कविता दोनों में तुक नहीं मिलती। प्रयोगवादी कविता में कभी-कभी तुक मिल भी जाती थी, पर नए कवि उससे जान बूझकर बचते हैं। इन दोनों विशेषताओं की दृष्टि से 'एक कण्ठ विषपायी' नई कविता की रचना ठहरती है। इसमें आरम्भ से अन्त तक मुक्त छंद का प्रयोग है एवं तुक कहीं नहीं मिलती। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं —

यह विवाद,

यदि स्थितियों के विश्लेषण का समय नहीं है।

यह केवल युद्ध का समय है।

क्रोधित शंकर

सीमाओं में घुस आए हैं।

चिल्लाकर अपनी प्रतिहिंसा उद्घोषित करते फिरते हैं।

बहुत खोजने पर 'एक कण्ठ विषपायी' में ऐसी कुछ पंक्तियां मिल सकती हैं, जिनमें तुक का निर्वाह है। जैसे —

वहाँ धैर्य का,

दुर्ग अन्ततः ढह जाता है।

औ' एकमात्र उपाय

युद्ध का रह जाता है।

इस प्रकार की तुकान्त निर्वाह वाली पंक्तियां 'एक कण्ठ विषपायी' को प्रयोगवादी कविता की रचना नहीं बना सकती। यह कृति नई कविता की ही है।

3. भाषा में नए प्रतीक —

यद्यपि प्रयोगवादियों ने ही नए-नए प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ कर दिया था पर नई कविता के पक्षधरों ने इस प्रतीक योजना को और आगे बढ़ाया तथा नए-नए प्रतीक खोजकर योजना अपनी भाषा को सशक्त रूप दिया। 'एक कण्ठ विषपायी' सर्वत्र तो नवीनतम प्रतीक योजना नहीं है, पर कहीं-कहीं वह है और नई कविता की प्रतीक योजना के ही समान है। दुष्यन्त कुमार जी ने अधिकांश स्थलों में परम्परागत भाषा का प्रयोग इसीलिए किया है कि इसके बिना प्राचीन कथानक

परिवर्तन का विष पीना
 और पचाना
 सरल नहीं है
 यों भी यह कोई साधारण कार्य नहीं है
 लेकिन उसका प्रश्न
 तुम्हारे लिए बोध है।
 रण का निर्णय लेते समय बताओ
 तुमने क्या सोचा था?

5. उच्च वर्ग के प्रति वित ष्णा —

छायावादी एवं रहस्यवादी कविता उच्च एवं अभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित थी। इस कविता का साधारणजन से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रगतिवादी कविता को जनसाधारण से सम्बन्ध जोड़ा गया। इसके साथ ही प्रगतिवादी कविता में उच्च एवं अभिजात्य वर्ग के प्रति वित ष्णा की मात्रा भरी जाने लगी थी। प्रयोगवादी कविता ने इस भावना में वृद्धि की एवं प्रत्येक शोभन ललित वस्तु का बहिष्कार-सा कर दिया। नई कविता में यह भावना अत्यन्त तीखी हो गई है।

‘एक कण्ठ विषपायी’ में जनसाधारण के प्रति समर्थन के साथ उच्च अभिजात्य वर्ग के प्रति घ णा तथा विरोध का स्वर प्रखर है। ‘एक कण्ठ विषपायी’ के आरम्भ में हम दक्ष प्रजापति को अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं जो इतना ही है कि अपने दामाद से भी बदला लेने के लिए कटिबद्ध है। वह अपना मन प्रसन्न करने के लिए एक विशाल यज्ञ का आयोजन करता है। दक्ष के पुत्र राजकुमार सुलभ से भी उच्चवर्ग की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। जो एक चिड़िया को कमरे में बन्द करके सम्पूर्ण राजमहल की शान्ति भंग करता है और जब सेवक उस चिड़िया को बलपूर्वक छुड़ा देते हैं तो राजकुमार का आक्रोशमय व्यवहार दर्शनीय है। सेवक सहित दक्ष प्रजापति से निवेदन कर रहा है —

प्रभु,
 मैंने आदेशबद्ध हो
 बल प्रयोग से द्वार खोलकर
 मुक्त कर दिया था पक्षी को ।
 से राजकुमार रुष्ट हैं
 अपने को अपमानित अनुभव करते हैं
 भ त्यों को अपशब्द कह रहे हैं
 निजी अनुचरों को भी
 अपने पास नहीं आने देते हैं।
 और कक्ष का क्रम बिगाड़कर
 सभी वस्तुएं अस्त-व्यस्त कर फेंक रहे हैं।
 शस्त्र लिए हैं
 और मुझे दण्डित करने को खोज रहे हैं।

सती के शव को कंधे पर डालकर घूमते हुए शिव शंकर का वर्णन भी उच्च वर्ग के प्रति वित ष्णा का ही प्रमाण है। दुर्गन्ध छोड़ते शव को लेकर घूमने वाले को महादेव कहने में सबको संकोच होना स्वाभाविक है। वरुण अलकापति कुबेर से कहते हैं —

ऐसा भी क्या मोह
 कि शव को चिपटाए फिरते हैं तन से।

उनमें पद्यात्मकता की नहीं, काव्यत्व की प्रधानता है। भट्टजी ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं को भावनाट्य, गीति नाट्य, पद्य नाट्य एवं पद्य नाटक कहा है।

हिन्दी में यह विधा नवीन नहीं थी, पर तब तक इसका स्पष्ट एवं सर्वजन मान्य नामकरण नहीं हुआ था। वैसे नाटकों में पद्यों की प्रधानता अथवा अधिकता संस्कृत साहित्य से ही आरम्भ हो गई थी। रीतिकालीन कवियों ने 'देवमाया प्रपंच' जैसे पद्यात्मक रचनाएं लिखी हैं, जिनमें संवादों का स्पष्ट निर्देश है। यह बात अलग है कि इनमें नाटक के तत्त्व नहीं हैं। इस प्रकार पहली सफल रचना लिखने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को है। उनका 'करुणालय' सच्चे अर्थों में काव्य नाटक अथवा नाट्य काव्य है। प्रसादजी ने स्वयं 'करुणालय' को 'गीति नाट्य' नाम दिया है। छायावादी युग में गीतों की प्रधानता थी। सीता और काव्य उस युग में एक प्रकार से पर्याय बन गये थे। प्रसादजी ने गीत के स्थान पर 'गीति' शब्द का प्रयोग करके 'करुणालय' में कोमलता, सरसता एवं काव्यत्व का समावेश घोषित किया है।

दुष्यन्त कुमार जी ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'एक कण्ठ विषपायी' को स्वयं 'काव्य नाटक' कहा है। प्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी इसी प्रकार की रचना 'नाट्य सेतु' को 'गीति नाट्य' कहा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अब तक पद्यात्मक नाटक को 'काव्य नाटक', 'गीति नाट्य', 'गीत नाटक', 'भाव-नाट्य', 'काव्य नाट्य', 'काव्यात्मक नाटक', 'नाट्य गीत' अनेक नाम दिए जा चुके हैं। इसमें काव्य और नाटक दोनों विधाओं के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहते हैं, इसलिए इस विधा को काव्य नाटक कहना उचित है। इसके संवाद गेय होते हैं। इस आधार पर इसे गीति नाट्य भी कहा जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में अनेक विधाएं, विचारधाराएं एवं नाम अंग्रेजी साहित्य से आये हैं। हिन्दी में काव्य नाटक अथवा गीति नाट्य भी अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा लेकर लिखे गये हैं अंग्रेजी में भी इस विधा के नामकरण के विषय में कोई निश्चय की स्थिति नहीं रही जिस कारण हिन्दी साहित्य में भी इसका नाम निश्चित नहीं हो पाया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक टी.एस.ईलियट ने इस विधा को काव्यात्मक नाटक, काव्य नाटक, पद्य नाटक और नाट्य काव्य कहा है। अभिप्राय यह है कि टी.एस.ईलियट का निश्चय मत रहा इसमें नाटक के तत्त्व अधिक हैं या काव्य के। अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा पाने वाले आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों में भी नामकरण के विषय में अनिश्चय की स्थिति बनी हुई है, जो कि स्वाभाविक ही है। जहाँ पर हम ये स्पष्ट नहीं कर पाते हैं, वहीं हमारी स्थिति होती है और जहाँ हम ये निश्चय कर पाते हैं कि हम इसे क्या नाम दें, किस नाम से पुकारें तो स्थिति बहुत स्वाभाविक बन जाती है। इसे किस नाम से पुकारें एक काल्पनिक घटना से बड़े अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। किसी बनिये की दुकान पर हिजड़ा आया और बिना पैसा दिये दुकान से चने लेकर जब खाने लगा तब बनिये ने क्रोध में भर कर उससे कहा—

सारे चने चबा गया, चबा गई है तू।

चल उठ खड़ी हो, उठ खडा हो, उठ खड़ी हो तू।

संस्कृत के आचार्यों ने 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर काव्य और नाटक को एक ही रूप में देखा है और एक ही कहा है अथवा नाटकों की गणना भी काव्य के अन्तर्गत की पर ईलियट ने तो इससे बढ़कर नाटककार का कवि होना अति आवश्यक बताया है। उनके शब्दों में — "मैं इससे सहमत हूँ कि जो नाटककार कवि नहीं, वह नाटककार के रूप में बहुत घटिया है।" कहने का अभिप्राय: है कि ईलियट सैद्धान्तिक व व्यावहारिक रूप में कविता नाटक का समर्थन कर रहे हैं। गीति नाट्य साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा है। आजकल जबकि कविता की लोकप्रियता कम हो रही है एवं कहानी - उपन्यास अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। इस विधा के कारण कविता की लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। कहानी और उपन्यास में जो कथानक का आधार रहता है, वह खण्ड काव्य में भी

**और विजय क्यों है?
एक लम्बा और धीमा
और तिल-तिल कर फलीभूत
होने वाला आत्मघात।** (अन्धा युग)

× × × × × × × ×

**मैं पहले ही बता चुका हूँ
यह सामूहिक आत्मघात है।** (एक कण्ठ विषपायी)

दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि 'अन्धा युग' में युद्ध की समस्या पर महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने पर विचार किया जाता है, जबकि 'एक कण्ठ विषपायी' में युद्ध से पहले ही उसकी भयावहता का वर्णन है। शंकर की सेनाएं देवलोक पर आक्रमण करके रक्तपात आरम्भ कर देती हैं। देवलोक के सेनापति इन्द्र युद्ध की आज्ञा चाहते हैं। देवलोक की प्रजा भी युद्ध का आग्रह करती है, पर देवलोक के अधिपति ब्रह्मा युद्ध के पक्ष में नहीं हैं। उसी अवसर पर युद्ध की समस्या पर विचार हुआ है। इस दृष्टि से युद्ध का विवेचन 'एक कण्ठ विषपायी' की अपेक्षा 'अन्धा युग' में अधिक उपयुक्त एवं प्रभावशाली बन पड़ा है। क्योंकि युद्ध की भयावहता जितनी युद्ध के बाद समझी जा सकती है, उतनी युद्ध से पहले नहीं समझी जा सकती।

3. मुक्त छंद —

धर्मवीर भारती एवं दुष्यन्त कुमार दोनों ही प्रयोगवादी कवि हैं। बाद में दोनों ही नई कविता के सशक्त हस्ताक्षर के रूप में हिन्दी कविता में प्रतिष्ठित हुए। 'अन्धा युग' और 'एक कण्ठ विषपायी' दोनों ही रचनाओं में नई कविता के सभी तत्व विद्यमान हैं एवं दोनों में मुक्तक छंद का प्रयोग किया गया है —

**वध, केवल वध केवल वध,
अन्तिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।** (अन्धा युग)

× × × × × × × ×

**हम सब मर जायेंगे एक रोज
पेट बजाते
और भूख-भूख चिल्लाते
हम सब मर जाएंगे एक रोज**
— टूटें रह जाएगी
सांसों के पत्ते झर जाएंगे एक रोज

4. बीभत्सता का आश्रय —

'अन्धा युग' के रचयिता धर्मवीर भारती के समान 'एक कण्ठ विषपायी' के रचयिता दुष्यन्त कुमार ने भी बीभत्सता की सृष्टि करने वाली वस्तुओं - रक्त, शव, मांस मदिरा आदि का आश्रय लिया है। 'अन्धा युग' का अश्वत्थामा इनका बार-बार उल्लेख करता है 'एक कण्ठ विषपायी' का सर्वहत्त बार-बार इन्हीं शब्दों को दोहराता है —

देखो
**सारे नगर में ताजा
जमा हुआ रक्त है
और सड़ी हुई लारें हैं**

इस प्रकार स्पष्ट है कि दुष्यन्त कुमार ने 'एक कण्ठ विषपायी' की रचना करते समय धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धा युग' से अत्यधिक प्रभावित हैं।

प्रश्न 9. 'एक कण्ठ विषपायी', 'अन्धा युग' के बाद नई कविता की एक सशक्त एवं सफल नाटकीय काव्य रचना है। सिद्ध कीजिए।

अथवा

धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' को नई कविता काव्य नाटक के रूप में जो सफलता मिली, उसके बाद दुष्यन्त कुमार की 'एक कण्ठ विषपायी' नई कविता की सफल एवं सशक्त रचना है। तथ्य की सत्यता में अपनी सहमति प्रकट करें।

उत्तर : आधुनिक काल में हिन्दी में कविता नाटक अथवा गीति नाट्य की रचना का आरम्भ जयशंकर प्रसाद जी के 'करुणालय' से होता है। इसके पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'अनघ', 'दिवोदास', 'जयिनी', 'पथ्वीपुत्र', सियाराम शरण द्वारा रचित 'विश्वामित्र', 'राधा', 'मत्स्य गंधा', 'कालिदास', 'मेघदूत', 'विक्रमोर्दशीय', सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा विरचित 'शिल्पी', 'रजत शिखर', 'सोवर्ण', रामधारी सिंह दिनकर द्वारा रचित 'उर्वशी' सिद्ध नाथ कुमार द्वारा विरचित 'सष्टि की सांझ', 'लौह देवता', 'संघर्ष', 'विकलांगों का देश', 'बादलों का अभिशाप' की रचना हुई। ये सब रचनाएं परम्परागत काव्य शैली में हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें पुरानी कविता कहा जा सकता है। इनके संवाद परम्परागत छंदों में आबद्ध हैं। इनकी शब्द योजना एवं बिम्ब विधान भी परम्परागत ही हैं। प्रयोगवादी परम्परा एवं नई कविता की शैली का पहला काव्य नाटक धर्मवीर भारती द्वारा 'अन्धा युग' लिखा गया। 'अन्धा युग' का कथानक पैराणिक है और महाभारत से लिया गया है। इसका प्रमुख पात्र द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा है, जो महाभारत के युद्ध की समाप्ति पर रात के समय पाण्डवों के आवास में घुसकर भयंकर मार-काट मचाता है। धर्मवीर भारती ने 'अन्धा युग' के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा के माध्यम से आधुनिक जीवन की कुंठाओं और विसंगतियों की अभिव्यंजना की है। महाभारत कालीन युद्ध परम्परा के अनुसार रात के समय युद्ध वर्जित था। सोते हुए योद्धाओं का वध करना भी क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध माना जाता है। अश्वत्थामा कुछ ऐसी कुंठा, निराशा और हीनभावना से आक्रान्त था कि उसे सारे नैतिक मानदण्ड तोड़कर यह कर्म करना पड़ा। आजकल के मनुष्य के सामने भी अनेक प्रश्न समस्याएं एवं विवशताएं हैं जिनके कारण उसे वे कार्य करने पड़ते हैं, जो लोक निन्दित हैं और जिन्हें वह स्वेच्छा से नहीं करना चाहता। धर्मवीर भारती ने 'अन्धा युग' में महाभारत का प्रसंग लेकर वर्तमान मानव-जीवन की मूल्यहीनता, संन्यास, विघटन, कुंठा आदि का ही चित्रण किया है। नई कविता के समग्र भाव पक्ष एवं कलापक्ष का 'अन्धा युग' पूर्णतया निर्वाह हुआ है। धर्मवीर भारती ने 'अन्धा युग' में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक सभी पहलुओं से विचार किया है।

धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धा युग' के पश्चात्! गिरिजाकुमार माथुर का 'पथ्वीकल्प' लक्ष्मी नारायण लाल का 'सूखा सरोवर' एवं नरेश मेहता का 'संशय की एक रात' ऐसे काव्य नाटक हैं जो नई कविता की रचना कहे जा सकते हैं। इन सभी की मूल संवेदना वर्तमान मानव जीवन की विसंगति है। दुष्यन्त कुमार जी द्वारा रचित 'एक कण्ठ विषपायी' इस क्रम में सबसे बाद में आता है। नई कविता पर आधारित काव्य नाटक होते हुए भी धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' के बाद इस शैली एवं इस विधा की सशक्त और सफल रचना होने का श्रेय दुष्यन्त कुमार के 'एक कण्ठ विषपायी' को ही जाता है।

दुष्यन्त कुमार का नई कविता के रचनाकारों में महत्वपूर्ण स्थान है। दुष्यन्त कुमार की ऐसी बहुत-सी कविताएं हैं, जिनमें नई कविता के सभी तत्वों का पूर्ण रूप से निर्वाह हुआ है। मानव के आधुनिक जीवन में जो घुटन, बिखराव, विघटन, संन्यास, कुंठा, हीनभावना और असुरक्षा है, उसे

में टिक नहीं पाता। परम्पराएं टूटती हैं और नवीन मान्यताएं, प्राचीन मान्यताओं का स्थान लेती हैं। दुष्यन्त कुमार ने अपने विचार अभिव्यक्त करने के लिए उत्तम प्रतीकों और उच्च स्तर के बिम्बों का सहारा लिया है। पूरा 'एक कण्ठ विषपायी' मुक्त छंद में रचित है। प्रत्येक पंक्ति में लय का निर्वाह हुआ है। इसमें नाटकीय तत्व एवं काव्यात्मक प्रसंगों का भी पूर्णतया निर्वाह हुआ है। इस आधार पर निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है। 'अन्धा युग' के पश्चात् 'एक कण्ठ विषपायी' नई कविता की एक सशक्त और सफल प्रबन्ध रचना है।

प्रश्न 10. गीति नाट्य या काव्य नाटक के तत्त्वों पर आधारित 'एक कण्ठ विषपायी' की समीक्षा कीजिए।

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' के काव्य नाटक अथवा गीति नाट्य के सभी तत्त्वों का निर्वाह हुआ है, सिद्ध कीजिए।

उत्तर : दुष्यन्त कुमार द्वारा रचित 'एक कण्ठ विषपायी' काव्य नाटक अथवा गीति नाट्य है। तात्पर्य यह है कि इसमें खण्ड काव्य और नाटक दोनों के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। विचारकों ने खण्ड काव्य एवं नाटक के जो प्रमुख लक्षण बताये हैं। उनका समावेशित एवं संक्षिप्त रूप इस प्रकार है —

- (क) कथा वस्तु
- (ख) चरित्र योजना
- (ग) दृश्य विभाजन
- (घ) छंदोबद्धता
- (ङ) संवाद
- (च) देशकाल
- (छ) उद्देश्य
- (ज) अभिनेयता

खण्ड काव्य एवं नाटक के उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर 'एक कण्ठ विषपायी' का मूल्यांकन प्रस्तुत है।

(क) कथावस्तु —

नाटक एवं खण्ड काव्य दोनों का कथानक इतिहास प्रसिद्ध होना चाहिए। उसमें कवि की कल्पना का भी समावेश हो सकता है। 'एक कण्ठ विषपायी' का कथानक दक्ष प्रजापति के यज्ञ विध्वंस एवं सती के शव के प्रति शिव शंकर के मोह से सम्बन्धित पौराणिक घटनाओं पर आधारित है। दक्ष प्रजापति की कन्या सती ने शिव शंकर से प्रेम-विवाह किया था। दक्ष प्रजापति समझते थे कि इस विवाह के लिए भोली बालिका सती को शिव शंकर ने बहकाया है। इस कारण इस विवाह से दक्ष ने स्वयं को अपमानित अनुभव किया और अपमान का बदला लेने के लिए अपने यहाँ एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में सभी देव एवं ऋषि मुनि बुलाये गये, पर शिव शंकर को आमन्त्रित नहीं किया गया। पिता के घर यज्ञ का आयोजन सुनकर सती बिना बुलाये ही चली गई। यज्ञ में अपने पति शिव शंकर का भाग न देख, सती को उनका अपमान लगा। उन्होंने आत्मदाह कर लिया। इससे क्रोधित शिव की आज्ञा पाकर उनके अनुचरों, गणों ने दक्ष का वध करके यज्ञ के साथ-साथ नगर का भी विध्वंस कर दिया। शिव शंकर मोह के कारण सती का शव कंधे पर डाले घूमने लगे। देवताओं से उन्होंने सती का जीवन वापस मांगा और उनके जीवित न होने पर देवलोक

जीवित
किसी सत्य के सहसा कट जाने पर
व्याकुल हो उठता है
वैसे ही आप भी दुःखी हैं
अपने घर की
सोन चिरैया उड़ जाने पर।

(ङ) संवाद -

खण्ड काव्य में आंशिक रूप से और नाटक में सम्पूर्ण रूप से संवादों को स्थान दिया जाता है। खण्ड काव्य में संवाद कथानक की वास्तविकता का विश्वास दिलाने के लिए रखे जाते हैं और नाटक का तो संवाद सर्वस्व है। नाटककार स्वयं कुछ नहीं कहता। बस कुछ पात्रों के माध्यम से ही कहलवाता है। पात्रों के कथन का नाम ही संवाद या कथोपकथन है।

वैसे तो संवाद व्यावहारिक बातचीत के समान छोटे, सरल एवं प्रभावपूर्ण होने चाहिए, पर जबसे नाटक में अंकों की संख्या तीन या चार कर दी गई है, तबसे अधिकांश घटनाओं का अभिनयन दिखाकर सूचना दी जाती है जब कोई पात्र सूचना देने के लिए संवाद बोलता है तो उसका लम्बा होना स्वाभाविक है। 'एक कण्ठ विषपायी' के अधिकांश संवाद बड़े-बड़े हैं। कुछ संवाद छोटे, सरल एवं स्वाभाविक भी है। इस प्रकार के संवादों का एक उदाहरण अग्रलिखित हैं -

भ त् य - प्रभु!
राजकुमार सुलभ ने
अपने निजी कक्ष के द्वार बन्द कर
अभी एक चिड़िया को बन्दी बना लिया है।
कहने पर भी
उसको मुक्त नहीं करते हैं।
दक्ष क्या कहता है?
भ त् य - कहते हैं -
इस खेलूंगा।
दक्ष - तो फिर उसे खेलने दो।

(च) देशकाल -

प्रत्येक रचना किसी न किसी देश एवं काल को आधार बनाकर लिखी जाती रही हैं। खण्ड काव्य में देशकाल की सृष्टि के लिए कवि वर्णन का सहारा लेता है। पर नाटक में हर रंगमंच की दृश्य योजना - पात्रों की वेशभूषा एवं भाषा के द्वारा वातावरण की रचना करना अत्यन्त सहज हो जाता है। दुष्यन्त कुमार ने 'एक कण्ठ विषपायी' में रंग सज्जा के स्पष्ट संकेत दिए हैं। पात्रों की भाषा सर्वत्र अवश्य संस्कृतिनष्ट नहीं है जो इसके प्राचीन होने का आभास दे सके। 'एक कण्ठ विषपायी' के सभी पात्र शुद्ध एवं व्यावहारिक खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं, जिसमें शुद्ध संस्कृत शब्दों की मात्रा पर्याप्त है। जैसे -

शीघ्र कहो
क्या हुआ सती को।
मेरी लाडली सती को क्या हुआ
बोलो !
चुप क्यों हो?

वैसे संस्कृत तत्सम प्रधान भाषा का भी 'एक कण्ठ विषपायी' में अभाव नहीं है। स्थान-स्थान पर

तर्क एवं प्रमाण सहित उत्तर दीजिए कि दुष्यन्त कुमार ने 'एक कण्ठ विषपायी' में पौराणिक परिवेश को आधारित बनाकर अधुनातन प्रश्नों को खोजा है।

उत्तर : पौराणिक रचनाएं, घटनाएं एवं पात्र सभी देशों एवं जातियों में पाये जाते हैं। धार्मिक के अतिरिक्त इनका सांस्कृतिक महत्त्व भी है। किसी भी देश या जाति की संस्कृति के निर्माण में पौराणिक मान्यताओं का बहुत योगदान होता है। अधिकांश प्रबन्ध काव्यों एवं नाटकों के कथानक इसीलिए पुराणों से लिए जाते हैं क्योंकि एक तो उनके प्रति लोगों की निष्ठापूर्ण भावना होती है दूसरे उन्हें विस्तार से समझाने की आवश्यकता नहीं होती है। जनमानस में पौराणिक घटनाएं एवं पाप पहले से समाए रहते हैं। कवि नाटककार आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके अधुनातन समस्याओं के समाधान एवं प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार उन्हें थोड़े प्रयत्न से अधिक सफलता प्राप्त हो जाती है। आधुनिक काल के सभी साहित्यकारों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। दुष्यन्त कुमार जी ने भी अपने काव्य नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' में दक्ष यज्ञ विध्वंस एवं शंकर के सती के मोह को लेकर आधुनिक काल की निम्नलिखित समस्याएं उठाई हैं, तथा उनके परिणामों की ओर संकेत किया है -

(क) प्रेम विवाह -

प्रेम विवाह आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्या है। अभिभावक यह समझने का प्रयत्न नहीं करते कि जीवन साथी चुनने का अधिकार एवं योग्यता नई पीढ़ी से सम्बन्धित है। जब किसी सम्पन्न या उच्च स्थिति वाले परिवार की सन्तान किसी साधारण स्थिति वाले परिवार की सन्तान से विवाह करने की इच्छा प्रकट करती है तो उसके माता-पिता दक्ष प्रजापति के शब्दों में इसे अपनी सरल सन्तान को बहकाने का नाम देते हैं। विवाह को अपहरण कहते हैं -

**मैं निश्चय ही इसको अपहरण कहूंगा
क्या अबोध मन को फुसलाकर
देवत्वों का जाल बिछाकर
विविध प्रलोभन देकर
उसे जीत लेना -
अपहरण नहीं है ?
सती बालिका थी
अबोध थी
और अविकसित बुद्धि किशोरों-सी
थी उसके आकर्षण में
तुम उसकी कैशोर्य भूल को क्षमा कहोगी
पर शंकर तो -
खुद को महादेव कहता है।**

सती और शंकर के प्रेम विवाह को स्वीकार कर लेने में ही दक्ष प्रजापति की भलाई थी। अपनी पत्नी वीरिणी का अनुरोध दुकरा दक्ष ने इस प्रेम विवाह को अपना अपमान समझा और महादेव शंकर से उसका बदला लेने का प्रयत्न किया, उसका दुष्परिणाम सती के आत्मदाह एवं दक्ष के साथ-साथ उनके यज्ञ और नगर के विध्वंस के रूप में सामने आया।

(क) शासनाध्यक्ष की सन्तान -

आजकल अधिकांश देशों में राजतन्त्र समाप्त हो रहा है और उसका स्थान प्रजातन्त्र लेता जा रहा है। शासनाध्यक्षों ने चाहे अपने आप में बदलाव कर लिया हो पर उनकी सन्तानें प्राचीन राजकुमारों के समान ही मिथ्याभिमानी एवं निरंकुश हैं। राजकुमार सुलभ ने एक चिड़िया को अपने कक्ष में

मुझसे
या हमसे
यह आशा कब की जाती है
कि हम नाटक देखें
उसमें भाग लें
हौं,
पठाक्षेप होने पर
मंच की सज्जा सामग्री को संजोने के लिए
किसी भूत को आना चाहिए था
मैं यथा समय आया हूँ।

भूत या सेवक शासनाध्यक्ष या स्वामी के किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं है। पर शासक भूलों के लिए उसी को उत्तरदायी मानकर दण्डित किया जाता है —

विधाता के नियमों की विडम्बना है।
चाहे न चाहे
किन्तु
शासक की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है,
उसे गलित मूल्यों का दण्ड भरना पड़ता है।

आज प्रजातन्त्र में भी उत्तम शासक वही माना जाता है, जिसकी प्रजा मौन होकर सब कुछ सहती रहे। दुःखी प्रजा शासक के सामने गुहार करे, यह उसके प्रभाव की न्यूनता है। सर्वहत्त प्रजा की निरीहता एवं प्रजा की वास्तविकता को रेखांकित करता हुआ ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि से कहता है—

पर तुम जाने कैसे शासक हो।
और ... जाने कैसी है तुम्हारी प्रजा,
— जरा जरा बातों पर चीखती-चिल्लाती है
शासन के दरवाजे पीटती है
नारे लगाती है
और शत्रु सेना की तरह घिरी आती है
अरे प्रजा हम थे
हमने उफ तलक नहीं की
शासन के गलत-सलत झोंको के आगे भी
फसलों से विजयी हम बिछे रहे निर्विवाद
हमारे व्यक्तित्व के लहलहाते हुए
खेतों से होकर —
दक्ष ने बहुत-सी पगडंडियां बनाई
कर दी सब फसलें बरबाद
पर हम नहीं बोले बिछे रहे
हमने पथ दिया सबको
क्योंकि हम प्रजा थे

(घ) प्रजातन्त्र —

आज भारत में ही नहीं, अधिकांश देशों में प्रजातन्त्र है। इसका नाम भले ही प्रजातन्त्र हो, पर

(ज) युद्ध –

आजकल विश्व में युद्ध का प्रश्न सर्व प्रमुख है। सारा विश्व इसी का समाधान खोजने में व्यस्त है। शान्ति के समर्थक भी युद्ध का पक्ष लेते हैं। महादेव की सेनाएं देवलोक की सीमाओं पर आक्रमण करके रक्तपात आरम्भ कर देती हैं। सेनापति इन्द्र इसे रोकने के लिए युद्ध शुरु करने की अनुमति चाहते हैं। देवलोक के अध्यक्ष ब्रह्मा जी भारतीय शान्तिवादी नीति का समर्थन करते हैं और युद्ध को सामूहिक आत्मघात बतलाते हैं –

**मैं आज़ा दूँ?
लेकिन मैं तो आत्मघात को
आत्मसुरक्षा नहीं समझता।
हाँ, आत्मघात
वह भी सामूहिक!
मेरे अपने ज्ञानकोश में
युद्ध शब्द का यही अर्थ है।**

अन्त में देवलोक की रक्षा विष्णु के नम्रतामय शक्ति प्रदर्शन से ही होती है। उनके बाण का एक फलक महादेव शंकर के चरणों में गिरकर प्रणाम करता है और शेष फलक सती के शव को टुकड़े-टुकड़े करके उड़ा देते हैं। अपना मोह भंग होने से महादेव शंकर सेनाएं लेकर वापस लौट जाते हैं।

इस प्रकार दुष्यन्त कुमार जी ने 'एक कण्ठ विषपायी' की पौराणिक कथा में अनेक आधुनिक समस्याओं व उनके समाधानों को पिरो दिया है।

प्रश्न 12. 'एक कण्ठ विषपायी' नाटक नहीं 'खण्ड काव्य' है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? यदि हाँ तो तर्क एवं प्रमाण सहित उत्तर दीजिए।

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' नाटक है अथवा खण्ड काव्य? शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार प्रमाण सहित उत्तर दीजिए।

उत्तर : दुष्यन्त कुमार जी ने अपनी कृति 'एक कण्ठ विषपायी' को 'काव्य नाटक' कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि जैसे तो नाटक गद्य में लिखा गया है, पर इस नाटक की रचना काव्य में हुई है। यहाँ काव्य शब्द विशेषण और नाट्य शब्द विशेष्य है। व्याकरण के नियमों के अनुसार विशेष प्रधान होता है एवं विशेषण उसके आश्रित रहकर भेदक का काम करता है अर्थात् उसे अन्य से भिन्न बना देता है। जैसे 'मोटा लड़का' में मोटा विशेषण ने लड़के को अन्य लड़कों से भिन्न बना दिया है।

इस रचना की विद्या के विषय में शंका हो सकती है। कि इसे काव्य नाटक के स्थान पर 'नाटक काव्य' क्यों नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष रूप से 'एक कण्ठ विषपायी' नाटक है, क्योंकि इसका विभाजन दृश्यों में हुआ है। काव्य में सर्ग होते हैं। दृश्य एवं अंक केवल नाटक में होते हैं। नाटक की रचना पात्रों के संवाद के रूप में होती है। नाटककार अपनी ओर से केवल रंग संकेत अथवा पात्रों की गतिविधि का निर्देश करता है। शेष सारा कथ्य पात्रों द्वारा कहलवाया जाता है। नाटक का अन्त में पर्दा गिरता है। इसमें भी चौथे दृश्य के समाप्त होते-होते पर्दा गिर जाता है, केवल उद्घोषणा चलती रहती है। इसे नाटक काव्य कहने का तात्पर्य यही है, कि यह देखने में नाटक प्रतीत होता है, पर वास्तव में है काव्य। जैसे 'मोटा लड़का' में लड़का देखने में मोटा प्रतीत होता है पर है वास्तव में लड़का। इस प्रकार नाटक विशेषण और काव्य विशेष बन जायेगा। पात्रों के

जिस प्रकार 'एक कण्ठ विषपायी' को काव्य नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार इसे नाटक भी कहना उचित नहीं है। नाटक मानव जीवन की अनुकृति होता है। मानव जीवन में बातचीत का माध्यम गद्य है, पद्य नहीं। व्यवहारिक जीवन में अलंकारों का प्रयोग कहाँ होता है नाटक में इतनी भावमयता एवं लयात्मकता नहीं होती, जितनी 'एक कण्ठ विषपायी' में है। इसमें पात्रों के संवाद तर्क-वितर्क एवं उत्तर-प्रत्युत्तर हैं। इतनी-सी बात ही इस रचना में नाटक तत्व की प्रधानता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसमें रंगमंच, अभिनेयता, पात्र योजना आदि इसके नाटक होने का ही उद्घोष करते हैं। इसके सभी संवाद कविता में हैं जिसमें काव्य तत्व पूर्णतया प्रधान हैं, यह कहना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। इसके सभी संवाद मुक्त छंद में हैं। मुक्त छंद वैसे भी गद्य के बहुत समीप होता है। 'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों में चाहे जितनी लयात्मकता खोजी जाये। पर वे अधिकांशतः गद्यात्मक हैं। अनेक स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य के वाक्यों को तोड़-मोड़कर लिख दिया गया है। इस प्रकार 'एक कण्ठ विषपायी' को केवल नाटक या काव्य कहना उचित नहीं है। काव्य तत्व की अपेक्षा नाटक तत्व की प्रधानता के कारण इसे 'काव्य नाटक' कहना ही उचित है।

प्रश्न 13. 'एक कण्ठ विषपायी' में परम्परा एवं रूढ़िवाद के विरोध का स्वर ही मुखर है। उपयुक्त के आधार पर इसे सिद्ध कीजिए।

अथवा

एक कण्ठ विषपायी उन लोगों के लिए एक चुनौती है जो जर्जर रूढ़ियों एवं भग्न प्राय परम्पराओं को उसी प्रकार ढो रहे हैं, जिस प्रकार शिव शंकर सती का शव कंधे पर डाले घूम रहे थे। आप इस बात से कहाँ तक सहमत हैं ? तर्क और प्रमाण सहित उत्तर दीजिए।

उत्तर - 'एक कण्ठ विषपायी' के रचयिता दुष्यन्त कुमार ने इसे काव्य नाटक कहा है। पर वास्तव में वह नई कविता की सफल एवं सशक्त रचना है। नई कविता प्रयोगवाद का परिष्कृत रूप है। वैसे कहा तो यह जाता है कि छायावादी-रहस्यवादी कविता के भाव पक्ष का विरोध प्रगतिवाद ने और कलापक्ष का विरोध प्रगतिवाद ने ही किया पर वास्तव में प्रयोगवाद परम्पराओं, रूढ़ियों एवं मर्यादाओं का प्रयोगवादियों ने सर्वथा परित्याग कर दिया। वे प्रयोगशीलता त्यागकर स्थिरता एवं सीमा में नहीं बंधना चाहते थे। स्थिरता एवं सीमाबद्धता का नाम ही परम्परा एवं रूढ़ि है। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में परम्पराएं 'टूटीं एवं रूढ़ियां' समाप्त हुईं, उसी प्रकार कविता में नवीनता का साम्राज्य हुआ। 'नई कविता' प्रयोगवाद का परिष्कृत रूप होने के कारण परम्पराओं एवं रूढ़ियों में बिल्कुल विश्वास नहीं करतीं। नई कविता की सशक्त एवं सफल रचना होने के कारण 'एक कण्ठ विषपायी' का शैली शिल्प अथवा कला पक्ष तो परम्परा मुक्त है ही, इसका भाव पक्ष एवं कथ्य भी परम्परा भंजक एवं रूढ़िमुक्त होना चाहिए।

नई कविता के सशक्त हस्ताक्षर होने के नाते दुष्यन्त कुमार जी मानव जीवन में नवीनता एवं परिवर्तन के पक्षधर रहे हैं। उन्होंने अपनी कृति 'एक कण्ठ विषपायी' के द्वारा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर अनेक घातक प्रहार किये हैं।

(क) प्रेम विवाह -

विवाह वर वधू का होता है पर उसका निश्चय दोनों के माता-पिता एवं अन्य परिवार वाले करते हैं। कन्या मूक पशु के समान उसको सौंप दी जाती है जिसे उसका पिता पसन्द करता है। इसी प्रकार लड़के की पत्नी वह लड़की बना दी जाती है जो लड़के के माता-पिता को पसन्द आ जाती है। लड़के या लड़की की भी कोई पसन्द नहीं है। उनकी दृष्टि में उनके लड़के-लड़की अबोध और सरल हैं। उन्हें कोई भी बहका सकता है। लड़के-लड़की द्वारा अपनी पसन्द से किए गए प्रेम विवाह को वे बहकावे की संज्ञा देते हैं और अपना अपमान समझते हैं।

या तो यज्ञ न होता,
अथवा ऐसा कल्कि विधान न होता।
मित्र अगर होते तुम
मेरी आत्मा यूँ विद्रोह न करती,
भरी सभा में मेरी प्रिया
निराहत न होती और न मरती।

मुत्यु जीवन का महान सत्य है। म त्यु प्राचीन के प्रति नवीन का विद्रोह है। इसे प्राचीन द्वारा नवीन के लिए स्थान देना भी कहा जा सकता है। यदि लोगों की म त्यु न हो तो नई पीढ़ियों के खड़े होने लायक स्थान भी धरती पर नहीं रहेगा। व क्षों के नये पत्ते आने से पूर्व ही पुराने पत्ते उनके लिए अपना स्थान छोड़ देते हैं। सगे सम्बन्धी की म त्यु पर शोक होना परम्परागत एवं रुढ़ि-सम्मत होने के कारण स्वाभाविक मान लिया गया है। प्रियजन की म त्यु पर सभी को शोक होता है। शिव शंकर परम्परा भंजक, महादेव एवं परम ज्ञानी होकर मोह की परम्परा में इतने आबद्ध हैं कि सती के शव को कंधे पर डाले घूमते हैं और प्रलाप करते हैं। इस परम्परा एवं रुढ़ि के मोह में पड़कर शंकर की जो दुर्दशा हुई, वह उनके सहयोगी कुबेर एवं वरुण के इस वार्तालाप से स्पष्ट है —

कुबेर : शिव शंकर को
दक्ष-सुता से गहन मोह है।
देख रहे हो।

वरुण : पर अलका पति।
ऐसा भी क्या मोह
कि शव को चिपटाए फिरते हैं तन से।
..... क्या तुमको
दुर्गंध नहीं आई, उस शव से?
मैं तो खड़ा नहीं रह पाया
पास निमिष भर।

कुबेर : और मुझे लगा
कि हमको क्यों भेजा है देवराज ने?
यही देखने?
..... किन्तु मुझे बाते करनी थीं।
यदि मैं अरुचि प्रदर्शित करता
शव से
या दुर्गन्ध मात्र से
तो हम दोनों
महाकोप के भाजन बनते।

परम्परा से चिपटे रहने के कारण ही देवलोक पर आक्रमण करके वापस लौटने के रूप में अपनी भूल स्वीकार करनी और अपमान सहना पड़ा।

(ग) परम्परा का टूटना दुःख का कारण —

दुष्यन्त कुमार जी ने सती का शव ढोने वाले शंकर को तो प्रतीक रूप में वर्णन किया है। वास्तव में अधिकांश लोग शिव हैं और उनके हृदय से चिपकी हुई जर्जर परम्पराएं एवं म तप्रायः रुढ़ियां सती का शव हैं। परम्परा का खण्डन एक नवीन मूल्यों की स्थापना ऐसे लोगों को सहन नहीं होती है। सती के सड़े-गले शव के समान चाहे म त परम्परा की दुर्गन्ध सारे वातावरण में भर जाये और

**नए सत्य से जोड़ नहीं पाये वे खुद को
शव के कारण।**

कितना उचित है इन्द्र का यह प्रश्न —

**चाहे वे साधारण जन हों।
अथवा महादेव शंकर हों।
क्यों इनमें अधिकांश लोग लार्शें ढोते हैं।
मेरे विचारों की
भावों की ।**

इस प्रकार दुष्यन्त कुमार जी ने 'एक कण्ठ विषपायी' में परम्पराओं एवं रुढ़ियों का विरोध किया है और उन्हें तोड़ने का स्वागत किया है। अतः यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि 'एक कण्ठ विषपायी' की रचना परम्परावादियों एवं रुढ़िग्रस्त जनों के लिए एक चुनौती है।

प्रश्न 14. 'एक कण्ठ विषपायी' के शिल्प विधान पर प्रकाश डालिए।

अथवा

दुष्यन्त कुमार द्वारा लिखी गयी 'एक कण्ठ विषपायी' शिल्प विधान की दृष्टि से उत्तम रचना है। सिद्ध कीजिए।

उत्तर : दुष्यन्त कुमार जी की गिनती नई कविता के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। उन्हें प्रयोगवादी कवि के रूप भी प्रतिष्ठा प्राप्त है। हिन्दी गजल को नए आयाम देने के कारण उन्हें हिन्दी साहित्य जगत में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनकी रचना 'एक कण्ठ विषपायी' काव्य नाटक है। जिसके विषय में 'कल्पना' के सम्पादक की सम्मति है — 'अन्धा युग' के बाद यह हिन्दी की सशक्त काव्य कृति है।

सदैव से साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब रहा है। आज मानव जीवन इतना समस्या ग्रसित एवं जटिल हो गया है कि साहित्यकार को समाज की समस्याओं के चित्रण के साथ-साथ उनके हल की ओर भी संकेत करना पड़ता है। आज का साहित्य इस प्रकार समाज का प्रेरक भी बन गया है। किसी भी प्रबन्ध रचना के लिए आज के साहित्य का ऐसा पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथानक चुनते हैं, जिसके माध्यम से वर्तमान समाज की समस्याएं एवं उनके हल संकेत रूप में चित्रित किए जा सकें। इस प्रकार का कथानक रचना को अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावशाली बना देते हैं। दुष्यन्त कुमार ने अपने काव्य नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' के भगवान शंकर के जीवन से सम्बन्धित कथा का दक्ष यज्ञ विध्वंस एवं म त पत्नी सती के प्रति उनके मोह वाला अंश चुना है। अपनी कल्पना शक्ति से इस पौराणिक कथानक में थोड़ा-सा परिवर्तन करके दुष्यन्त कुमार जी ने जर्जर रुढ़ियों एवं म तप्रयः परम्पराओं से चिपके पुरातन पंथियों, प्रजातन्त्र में भी राजतन्त्र के समन दुःख भोगती प्रजा, दोहरा जीवन जीने वाले शासनाध्यक्षों, परस्पर पक्षपात करने वाले महापुरुषों एवं युद्ध के लिए मतवाले सेनापतियों पर व्यंग्य करने का अवसर निकाल लिया है। 'एक कण्ठ विषपायी' का कथानक दो खण्डों में विभाजित है। पहले और दूसरे द श्य का कथानक प्रजापति दक्ष के महल से सम्बन्धित है। तीसरे द श्य का कथानक म त पत्नी सती के मोह में पागल कैलाश पर्वत पर घूमते शिव शंकर से सम्बन्धित है। चौथे द श्य का स्थान देवलोक के अध्यक्ष ब्रह्माजी का निवास स्थान है, जहाँ देवलोक पर चढ़ाई करने वाले शिव शंकर से युद्ध आरम्भ करने के प्रश्न पर विचार विमर्श चलता है। चारों द श्यों की कथा को एक सूत्र में पिरोने का दुष्यन्त कुमार जी ने पर्याप्त प्रयास किया है। फिर भी उसमें बिखराव है, अन्विति नहीं आ पाई है।

'एक कण्ठ विषपायी' काव्य नाटक है। सभी द श्यों के प्रारम्भ में दुष्यन्त कुमार जी ने रंग सज्जा

जी के निवास स्थान का है, जहाँ सीमित पात्र आकर विचार-विमर्श करते हैं। ब्रह्मा जी के निवास के बाहर नारे लगाती भीड़ को पर्दे के पीछे से आवाजें उभारकर दिखाया जा सकता है। देवलोक की सीमाओं पर रक्तपात करती शंकर की सेनाओं का दृश्य रंगमंच पर दिखाना सम्भव नहीं था। उसकी कवि ने सूचना मात्र देकर काम चला लिया है।

शिल्प विधान का अन्तिम घटक भाषा शैली है। उस समय दुष्यन्त कुमार जी ने पूरा ध्यान दिया है। कथानक पौराणिक एवं धार्मिक होने के कारण भाषा संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली रखनी पड़ी है। कुबेर द्वारा शंकर की स्तुति संस्कृत में है। जिसका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। भाषा में सरलता एवं व्यावहारिकता लाने के लिए सजा, खुद, मालूम, रोशनी, खूब नारे, आवाजें, खत्म, लायक, जरूर, रोज, हद, गर्दन जैसे उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। नई कविता में प्रतीक भाषा को सर्वाधिक सशक्त बना देते हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' में स्थान-स्थान पर उचित उत्तम प्रतीक योजना के भी दर्शन होते हैं। जैसे —

क) ओ मेरी रोशनी कहाँ है तू? (यहाँ रोशनी आशा का प्रतीक है)

ख) शिव शंकर में संक्रमण काल का विष पीने की शक्ति नहीं है। (यहाँ 'विष पीना' कष्ट सहन करने का प्रतीक है)

ग) क्यों इनमें अधिकांश लोग लार्शें ढोते हैं? (यहाँ 'लार्शे ढोना' निर्जीव परम्पराओं के पालन का प्रतीक है)

'एक कण्ठ विषपायी' की रचना मुक्त छंद में हुई है। स्थान-स्थान पर अलंकारों का भी स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। 'बन्धु, आप तो समाधान हैं' 'संयमशिला कदापि न हिलती, जैसे स्थलों पर अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है।

इस प्रकार 'एक कण्ठ विषपायी' का शिल्प विधान अत्यन्त आकर्षक एवं पूर्ण बन पड़ा है।

प्रश्न 15 . दुष्यन्त कुमार जी द्वारा रचित 'एक कण्ठ विषपायी' की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' के कला पक्ष एवं भाव पक्ष का विवेचन कीजिए।

उत्तर : 'एक कण्ठ विषपायी' के रचयिता दुष्यन्त कुमार जी नई कविता के प्रतिष्ठित एवं सशक्त लेखक हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' एक काव्य नाटक है। नाटक होते हुए भी इसमें काव्य तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। इसके संवाद ही पद्यात्मक नहीं हैं, इसके अनेक काव्यगत विशेषताएं भी हैं। इसका भाव पक्ष एवं कलापक्ष विभाजन के रूप में प्रस्तुत है —

(क) भाव पक्ष —

भाव पक्ष के अन्तर्गत विचारधारा, उद्देश्य एवं रस योजना आती है —

अ) विचारधारा -१

नई कविता परिवर्तन एवं नवीनता की पक्षधर है। दुष्यन्त कुमार जी नई कविता के सशक्त हस्ताक्षर हैं। नई कविता जर्जर परम्पराओं और म त प्रायः रूढ़ियों का मुखर विरोध करती है। 'एक कण्ठ विषपायी' में रूढ़ियों एवं परम्पराओं के टूटने एवं उनसे नवीन अंकुर फूटने का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। परम्परावादियों को उनका टूटना बहुत कष्टकर होता है। सती ने शंकर से प्रेम विवाह करके पिता की इच्छा से होने वाले विवाहों की परम्परा को तोड़ा था। इसे अपमान बताते हुए दक्ष अपनी पत्नी वीरिणी से कहते हैं —

प्रेयसी का शंकार करूंगा।

(ख) कला पक्ष -

कला पक्ष के अन्तर्गत भाषा, छंद, अलंकार, प्रतीक योजना, विम्बविधान आदि की गणना की जाती है।

अ) भाषा -

‘एक कण्ठ विषपायी’ की भाषा संस्कृतनिष्ठ, शालीन एवं परिष्कृत खड़ी बोली है। इसका कथानक पौराणिक है एवं अधिकांश पात्र देव कोटि के हैं, इसलिए भाषा का ऐसा होना स्वाभाविक था। इस प्रकार की भाषा ने वातावरण के निर्माण में भी बहुत योगदान किया है। इस प्रकार की जीवन्त एवं प्रवाहमयी भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

और प्रजा की रक्षा युद्ध के द्वारा?
और प्रजा का रक्त बहाये
गायन गुंजित नगर चीत्कारों से भर दे,
जब विवेक को
वध की बलिवेदी पर धर दे,
यह भी शासक के कर्तव्यों में अंकित

जहाँ पात्र दिव्य नहीं हैं अथवा विषय गंभीर नहीं है, वहाँ की भाषा में कुछ-कुछ व्यवहारिकता एवं सरलता आ गई है। जैसे सर्वहत्त के प्रति दक्ष का कथन है -

बिल्कुल ठीक कह रहा है वह।
एक तनिक से बालक को
प्रसन्न रखने में अक्षम
तुम सब दंडनीय हो।
जाओ तुम
मेरी आंखों के आगे से तत्क्षण हट जाओ
और सुनो -
ये छोटी-छोटी बातें लेकर
फिर से मेरे पास न आना।

दुष्यन्त कुमार जी ने उर्दू के शब्दों को बहुत बचाया है, फिर भी सजा, खुद, मालूम, रोशनी, खूब, नारे, आवाजें, खत्म, लायक, जरूर, रोज, हद, गर्दन जैसे उर्दू के शब्द कहीं-कहीं आ गये हैं।

ब) छंद -

‘एक कण्ठ विषपायी’ की रचना मुक्त छंद में हुई है। इसमें लय पर विशेष ध्यान दिया गया है, पर कहीं-कहीं वे अनजाने एवं स्वाभाविक रूप में आ गई हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

पेट बजाते
और भूख-भूख चिल्लाते
हम सब मर जायेंगे एक रोज
— दूँठें रह जायेंगी
सौंसों के पत्ते झर जायेंगे एक रोज

स) अलंकार -

‘नई कविता’ में अलंकारों के लिए कोई स्थान नहीं है। कविता में अलंकारों की अनिवार्यता और

अथवा

‘एक कण्ठ विषपायी’ के भाषा-सौष्टव पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : ‘एक कण्ठ विषपायी’ दुष्यन्त कुमार द्वारा रचित काव्य नाटक है। ‘कल्पना’ पत्रिका के सम्पादक ने इसे धर्मवीर भारती द्वारा लिखे ‘अन्धा युग’ के पश्चात् नई कविता की सबसे सशक्त रचना कहा है। सन् 1920 तक हिन्दी कविता की भाषा खड़ी हो गई थी। गद्य रचना में खड़ी बोली का प्रयोग आरम्भ से ही हो रहा है। इस दृष्टि से ‘एक कण्ठ विषपायी’ में खड़ी बोली का प्रयोग होना स्वाभाविक था।

(क) संस्कृतनिष्ठ भाषा —

खड़ी बोली के संस्कृतनिष्ठ, व्यावहारिक, उर्दू मिश्रित अनेक रूप साहित्य में प्रयुक्त होते हैं। ‘एक कण्ठ विषपायी’ का कथानक पौराणिक है। इसके पात्र या तो दिव्य हैं या राजकुल से सम्बन्धित हैं। इसके पात्रों के संवादों की भाषा संस्कृतनिष्ठ शालीन एवं परिष्कृत होनी चाहिए। इस प्रकार की भाषा के बिना न तो पात्र पौराणिक प्रतीत होते हैं और न देशकाल का निर्माण हो पाता है। ‘एक कण्ठ विषपायी’ के दिव्य पात्रों में भी ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव गंभीर चिन्तन वाले पात्र हैं। इनके संवादों की भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं समासबहुल होते-होते क्लिष्ट बन गई है। प्रसंगानुकूलता की दृष्टि से भाषा की क्लिष्टता भी क्षम्य है। इस प्रकार के संवादों की भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है —

**शिव-सेनानी वीरभद्र
कैलाशनाथ का जटा-पुत्र है,
गण उनके ही मनस्तत्व हैं
डाकिनियां, शाकिनियां, भूत-प्रेत
उनके अनर्तिकार हैं।
रक्तपात से शिव में और विकार बढ़ेंगे।
और नए गण-सैनिक भूत-प्रेत जायेंगे।**

(ख) व्यावहारिक भाषा —

इन गंभीर चिन्तन वाले पात्रों के अतिरिक्त पात्रों की भाषा में कुछ-कुछ व्यावहारिक शब्द भी आ गये हैं। उन संवादों की भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं व्यावहारिक भाषा का मिला जुला रूप है। इस प्रकार काव्य नाटक से पौराणिकता तो क्षीण हुई है, पर भाषा में सरलता, सुबोधता, व्यावहारिकता आ गई है। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है —

**आह!
लुट गये
आह! मिट गये
इन सब हत्यारों ने हमको
रक्षा का आश्वासन देकर लूट लिया।
भूमि छिन गई
आंखों का सारा आकाश खो गया।
अब अंधियारे में टटोलते फिरते हैं हम
— ओ मेरी रोशनी कहाँ है तू?
ओ मेरी जिन्दगी कहाँ है तू?**

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग साधारण नागरिक एवं सर्वहत्त जैसे भक्त ही करते हैं।

**डमर-डमर बजने दो डमरू।
चूर्ण-चूर्ण होंगी गिरि मालाएं।**

(छ) नारों का प्रयोग —

दुष्यन्त कुमार जी ने 'एक कण्ठ विषपायी' में नारों का भी प्रयोग किया है। नारे जनसमूह की इच्छा एवं आक्रोश की वाणी होते हैं। नारों के द्वारा भी थोड़े में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस काव्य नाटक में आये कुछ नारे प्रस्तुत हैं -

**हम ब्रह्मा को नहीं चाहते।
प्रजातन्त्र में यह मनमानी नहीं चलेगी।
सेना को आज्ञा दो
अथवा
यह सिंहासन छोड़ो।
खोलो ये दरवाजे खोलो।
इस कायर शासन को तोड़ो।
अब एकमात्र उपाय युद्ध है।
ब्रह्मा यह सिंहासन छोड़ो।**

(ज) शब्द चित्रण —

'एक कण्ठ विषपायी' में दुष्यन्त कुमार जी ने अनेक सफल, सजीव एवं प्रभावशाली शब्द चित्र खींचे हैं। अपनी मत्त पत्नी सती का शव कंधे पर डाले घूमते विक्षिप्त शंकर का यह शब्द चित्र देखने योग्य है —

**महादेव शंकर आते।
मेरुमाल-सी सन्मुख खुली भुजाओं पर
सज्जित शव धारे,
जिससे
मेघों - जैसे केश लटकते नीचे -
हिम पर ऐसे पिघल रहे हैं
जैसे मध्याह्न में धरा पर
तार-तार हो कम्पती-कम्पती
निशा गिर पड़े।**

(झ) सशक्त बिम्ब विधान —

'एक कण्ठ विषपायी' में बिम्ब विधान अत्यन्त सशक्त एवं सफल है। बिम्ब रचना भाषा की बहुत बड़ी सफलता मानी जाती है। जिस शब्द का अपेक्षित बिम्ब नहीं बनता, उसका प्रयोग कृतिकार की असफलता है। दुष्यन्त कुमार जी ने 'एक कण्ठ विषपायी' में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, ध्वनि, रस आदि के प्रभावशाली बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के रूप में कुछ बिम्ब प्रस्तुत हैं -

**बिम्ब-रूप : महादेव का नन्दी
क्षुब्ध अंगरक्षक-सा
पागल खड़ा था।
सहस्रों झंझाओं की तरह फड़फड़ाते हुए
उसके वे नथुने।
और सब ज्वालामुखियों की अग्नि लिए
उसके वे नेत्र।**

1. महत्त्वपूर्ण पात्र —

दुष्यन्त कुमार जी ने भूमिका में स्वीकार किया है कि 'एक कण्ठ विषपायी' काव्य नाटक की दुबारा रचना करते समय उन्होंने सर्वहत्त की कल्पना की है। इन नाटक के चार दृश्यों में से दूसरे का नामकरण सर्वहत्त के नाम पर होना उसका महत्त्व सिद्ध करता है। कवि अन्य पात्रों के माध्यम से जो नहीं कह पा रहा था उसे कहने के लिए ही सर्वहत्त की सृष्टि उसने की है। प्रजातंत्र होने पर भी सर्वथा प्रजा दुःखी है। शासकों की भूलों के दुष्परिणाम भी प्रजाओं को भी भुगतने पड़ते हैं। यह बात सर्वहत्त के माध्यम से ही नहीं गई है —

विधाता के नियमों की विडम्बना है।

चाहे न चाहे

किन्तु

शासक की भूलों का उत्तरदायित्व

प्रजा को वहन करना पड़ता है।

उसे गलित मूल्यों का दंड भरना पड़ता है।

2. वफादार सेवक —

सर्वहत्त दक्ष का प्रधान सेवक है। राजकुमार सुलभ जब चिड़िया को कक्ष में बन्द करके अशान्त वातावरण निर्मित करता है तो सर्वहत्त को ही भेजा जाता है कि वह बल प्रयोग करके चिड़िया को सुलभ के कक्ष से बाहर निकाल दे। सर्वहत्त राज परिवार का वफादार सेवक है। क्रोध और आवेश में भरे हुए दक्ष जब अपनी पत्नी वीरिणी के अनुनय-विनय को स्वीकार न करके सती की ताड़ना के लिए चले जाते हैं, तब वीरिणी अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठती हैं। उस समय सर्वहत्त उन्हें धैर्य बंधाता हुआ कहता है —

देवि!

आप धैर्य धरें।

आपके ललाट पर उभर आई

पीड़ा की रेखाएं

देखी नहीं जातीं।

3. व्यंग्य कुशलता —

सर्वहत्त तीखे व्यंग्य करने में अत्यन्त कुशल है। शासन करने वाला स्वयं को किसी उन्नत लोक का प्राणी समझने लगता है। वह परिचितों को भी न पहचानने का अभिनय करता है। इस बात पर व्यंग्य करता हुआ सर्वहत्त कहता है —

अब समझा,

तुम शासक हो,

उनकी स्मरण शक्ति दुर्बल हो जाती है।

छोटी-छोटी बातें उन्हें याद नहीं आती हैं।

4. स्पष्ट वक्ता —

दक्ष के नगर का विनाश देखकर सर्वहत्त का भय समाप्त हो गया है। वह मृत्यु तक से नहीं डरता। इसीलिए वह स्पष्ट बात कहने में नहीं हिचकिचाता। देवलोक के अधिकारी विष्णु द्वारा न्याय प्राप्ति का आश्वासन मिलने पर सर्वहत्त स्पष्ट आरोप लगाता है —

चाहे वह दक्ष लोक हो

अथवा देवलोक

समस्या रखता है -

हम सब मर जायेंगे एक रोज।
पेट को बजाते
और भूख-भूख चिल्लाते
हम सब मर जायेंगे एक रोज
-- टूटे रह जायेंगी
सांसों के पत्ते झर जायेंगे एक रोज

8. पागलपन की बातें —

पागलपन की बातें करते-करते कभी-कभी सर्वहत्त बहुत पत्ते की बात कह जाता है। विष्णु ने कहा कि स जन सुख तो सब पाना चाहते हैं, पर स जन से पहले की पीड़ाओं से क्यों बचते हैं? विष्णु के पूछने पर इसका कारण बताते हुए सर्वहत्त ने कितने पत्ते की बात कही है —

जो अपनी गर्दन ऊँची रखते हैं,
वे भी
नये सत्य को सम्मुख पड़कर नहीं देखते,
वे भी सहसा नए प्रश्न से नहीं जूझते
उससे लड़कर नहीं देखते,
सिर्फ व्यस्तताओं की रचना करके
उसे टाल जाते हैं।

सर्वहत्त के पागलपन और उन्माद में भी भयंकर विस्फोट करने की क्षमता है। वह सभी को सोचने पर विवश कर देता है। मन ही मन सब स्वीकार करते हैं कि सर्वहत्त की बात ठीक है। वैसे तो सर्वहत्त सेवक वर्ग एवं जनता का प्रतिनिधि पात्र है पर उसकी शक्ति असीमित है। वह 'नंग बड़े परमेश्वर से की उक्ति चरितार्थ करता है। इस आधार पर सर्वहत्त इस काव्य नाटक का सबसे महत्वपूर्ण पात्र है।

प्रश्न 18. 'एक कण्ठ विषपायी' के आधार पर शिव शंकर के चरित्र की विशेषतायें बताइए।

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' में कौन-सा पात्र परस्पर विरोधी शक्तियों को अपने व्यक्तित्व में समेटे है। उसका चरित्र-चित्रण करें।

उत्तर : महादेव शंकर नाटक के दिव्य पात्रों में सर्वाधिक सशक्तहीन नहीं, इस कथानक के भी आधार हैं कि सती के पति एवं दक्ष प्रजापति के जामाता हैं। इस काव्य नाटक के पात्रों में एकमात्र शिव शंकर ही ऐसे हैं, जिनके चरित्र में परस्पर विरोधी तत्व विद्यमान हैं। एक ओर वे परम्पराओं के भंजक हैं तो दूसरी ओर परम्परा से बुरी तरह चिपके भी हैं। वे संन्यासी तत्व ज्ञानी एवं संयमी होकर भी अपनी पत्नी में इतने आसक्त हैं कि उसके शव को चिपटाये फिरते हैं। शिव शंकर के चरित्र में नीचे लिखी विशेषताएं हैं -

1. भयंकर क्रोधी —

शंकर का क्रोध अत्यन्त विकराल है। सती से प्रेम विवाह करने के कारण सती के पिता दक्ष शिव शंकर से रुष्ट हो जाते हैं कि अपने यज्ञ में उन्हें आमन्त्रित नहीं करते और न उन्हें आदर का स्थान देकर उनका भाग ही निकालते हैं। बिना बुलाये आई सती अपने पति का अपमान न सह सकने के कारण आत्मदाह कर लेती है। यह सूचना पाकर शिव अपने गणों द्वारा दक्ष का वध, यज्ञ का विनाश एवं दक्ष नगर का विध्वंस तो कराते ही हैं, अपने संकेत पर ऋत्विजों, देवों एवं अतिथियों

4. पत्नी के प्रति अतिमोही -

म त्तु जीवन का ध्रुव सत्य है। अपने परिवारजनों और विशेषकर जीवन साथी से प्रत्येक को मोह होता है। पर इस सीमा तक कोई नहीं पहुंचता जिस सीमा तक शंकर महादेव पहुंचे थे कि म त शरीर को ही अपने कंधे पर लिए घूमते फिरते रहे और देवलोक से उनके प्राण वापिस मांगे। शंकर जैसे व्यक्ति से तो ऐसी आशा कभी नहीं की जा सकती जो अविनाशी देह मुक्त, संन्यासी एवं भोगराग हीन हैं। उनके विषय में आश्चर्य करते हुए इन्द्र कहते हैं -

वे शिव शंकर!
अविनाशी शिव शंकर!!
देह युक्त देह मुक्त
भोगराग हीन तत्त्व ज्ञानी
वे संन्यासी शिव शंकर।
खो कर सन्तुलन आज
मानवीय पीड़ा के
साधारण पक्षों से कस गए।

5. प्रतिहिंसा -

शंकर महादेव पत्नी सती की म त्तु का कारण देवलोक को मानते हैं। इसीलिए वे देवलोक के अधिकारी ब्रह्मा एवं विष्णु को चेतावनी भिजवाते हैं -

हाँ, कह देना विष्णु और ब्रह्मा से,
सन्ध्या तक
सती में न आई यदि चेतना
तो मेरा क्रोध देव भोगेंगे।

वे अहसास के साथ घोषणा करते हैं -

डमर-डमर बजने दो डमरू
होने दो ताण्डव त्रिलोक में
महादेव की प्रतिहिंसा भी
देखें देव समाज शोक में।

6. उन्माद -

सती की म त्तु से शोकातुर शिव उन्माद ग्रसित हो जाते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि सती जीवित हैं या म त। सती के सड़े हुए शव से आने वाली दुर्गन्ध भी उन्हें विचलित नहीं करती। उनके क्रोध और उन्माद से ग्रसित होने का चित्रण वरुण इन शब्दों में करते हैं -

शंकर कैलाश नाथ
अपने स्कन्धों पर
भगवती सती का अध-झुलसा शव लटकाए
गहन मनस्ताप की विषमता से भरमाए
रह-रह कर अब तक भी
वीरिणी सुता का मुख
देखते, बिलखते हैं।
पर्वत के हिममंडिता शिखरों पर
कालसा त्रिशूल गढ़ा

2. सहानुभूति —

शंकर द्वारा यज्ञ विनाश एवं अतिथियों के अपमान से सभी देव अप्रसन्न हैं। शंकर का सती के शव के प्रति मोह सबको आश्चर्य में डालता है, पर कोई भी शंकर की पीड़ा समझने का प्रयत्न नहीं करता। किसी को भी शंकर के प्रति सच्ची सहानुभूति नहीं है। देवराज इन्द्र, वरुण एवं कुबेर देवलोक के अध्यक्ष ब्रह्मा जी पर इस बात के लिए दबाव डालते हैं मर्यादा तोड़ने वाले शंकर को उनके अपराध का दण्ड दिया जाये। उस समय विष्णु सबसे यह प्रश्न पूछते हैं, जिसमें शंकर के उनकी सच्ची सहानुभूति एवं कष्ट निवारण के लिए चिन्ता झलकती है -

सुनो देवराज,
तुम तीनों का समाज
अपनी मर्यादा के यथायोग्य
होकर निस्संग
और शंकर से वैमनस्य
पूर्वाग्रह त्याग आज
मेरे
एक प्रश्न पर विचार करे
और मुझे बतलाए -
तत्त्व ज्ञान-वेत्ता उस शंकर की
आत्मा क्यों रोती है।
क्यों वे यह भूल गये
कारण
या निमित्त
या परिस्थितियां नहीं,
सिर्फ म त्पु सत्य होती है?
और यह कि
किस प्रकार
उनको इस पीड़ा से निष्कृति मिल सकती है?

3. शांत स्वभाव —

विष्णु का स्वभाव शान्त है उत्तेजित होने वाला नहीं। वे प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहते हैं। सर्वहत्त का प्रलाप एवं कड़वी बातें सुनकर^१ जहाँ अन्य देव उत्तेजित एवं क्रोधित हो उठते हैं, वहीं विष्णु शान्तिपूर्वक सर्वहत्त के प्रश्नों का उत्तर देते हैं एवं उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं। सर्वहत्त जब दक्ष के राजमहल में घायल दशा में मिलता है। तब विष्णु ही उससे तर्क-संगत बात पूछते हैं कि जब तुम्हारा कोई दोष नहीं था, तब तुम्हें दण्ड क्यों मिला -

जब तुम इस नाटक में कुछ भी नहीं थे
और कहीं भी नहीं थे
तो फिर यह पीड़ा।
या वह परवर्ती प्रभाव
क्यों भोग रहे हो?

देवलोक के अधिपति, ब्रह्मा जी के निवास स्थान पर जब आक्रमणकारी शंकर से युद्ध करने के प्रश्न पर विचार-विमर्श चल रहा होता है। उस समय प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में पहुंच जाता है और दक्ष द्वारा स्वयं को फसलों के समय बिछाये जाने की गुहार करता है। उस समय केवल विष्णु

देवराज!
मैंने जो कर्म किया है, वह चिन्तन प्रसूत है
उसका फल
क्षण दो क्षण में सम्मुख आएगा।

विष्णु यह भी जानते हैं कि शंकर सत्य का ताप सहन नहीं कर पा रहे हैं। निर्माण का श्रेय तो वे लेना चाहते हैं पर निर्माण से पूर्व की पीड़ा से बच रहे हैं। यही शंकर के मोह एवम् प्रमाद का कारण है।

इस प्रकार भगवान विष्णु का चरित्र सभी पात्रों की अपेक्षा गम्भीर दृढ़ एवं आत्मविश्वासी है।

प्रश्न 20. 'एक कण्ठ विषपायी' के आधार पर ब्रह्मा के चरित्र की विशेषतायें बताइए।

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' में कौन-सा पात्र युद्ध का प्रबल विरोधी है। उसका चरित्र-चित्रण करें।

उत्तर : इस काव्य नाटक के सभी पात्रों में सर्वाधिक ज्येष्ठ एवं शान्त भाव वाले पात्र ब्रह्मा जी हैं। वे सोचते अधिक और करते कम हैं। शान्त प्रकृति वाले ब्रह्मा जी युद्ध के प्रबल विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में युद्ध सामूहिक आत्मघात करने के समान है। ब्रह्मा जी के चरित्र में निम्नलिखित विशेषताएं हैं -

1. डरपोक स्वभाव —

ब्रह्माजी स्वभाव से भीरू हैं। उन्हें मारकाट, खून-खराबा और हल्ला-गुल्ला पसन्द नहीं है। दक्ष के यज्ञ का विनाश उन्होंने भी देखा है। उसमें होने वाला अपमान उन्होंने भी भोगा है। वे उस विनाश लीला से इतने आतंकित हैं कि विष्णु को उसकी चर्चा चलाने से भी रोकते हैं -

आह! बन्धु विष्णु!
वह प्रसंग मत उठाओ अब,
कल्पना फलक पर उतर आता है बार-बार
महादेव शंकर का दुर्निवार
पीड़ा से भरा हुआ नीलकण्ठ
पांचों मुख
दुःख की अभिव्यक्ति में निरत, असफल,
मस्तक में खौल रहा गंगा जल
और त्रिनेत्र ज्वाला के स्फुलिंग बरसाते
विह्वल आवेश युक्त चतुर्भुजा
दक्ष प्रजापति के
उस यज्ञ की दिशा में उन्मुख त्रिशूल
जिसमें हम सबने,
सब देवों ने ऋषियों ने
.... भाग लिया था।

2. सहानुभूति पूर्ण व्यवहार —

यज्ञ अत्यन्त पवित्र आयोजन माना जाता है। उसका विध्वंस एवं यज्ञ में आये अतिथियों का अपमान सभी देवों को बुरा लगा। इन्द्र, कुबेर एवं वरुण इस अपराध के लिए शंकर को दण्डित करने का आग्रह करते हैं। विष्णु दक्ष के यज्ञ को प्रकारान्तर से युद्ध का आयोजन बताते हैं तो ब्रह्मा जी उसका समर्थन करते हुए कहते हैं -

हौं, आत्मघात,
वह भी सामूहिक
मेरे अपने ज्ञानकोश में
युद्ध शब्द का यही अर्थ है।

5. मोह रहित —

देवलोक के सेनापति इन्द्र बार-बार आग्रह करते हैं। उनके आग्रहों एवं तर्क-वितर्क का ब्रह्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रजा एवं उसके प्रतिनिधि जब उनसे सिंहासन छोड़ने को कहते हैं तो वे इन्द्र को शासन दण्ड थमाते हुए कहते हैं -

यह लो शासन दण्ड संभालो
असली शासक तुम हो
मैं तो यों भी परामर्शदाता था
मुझको इस शासन से कोई मोह नहीं है।

6. देश काल के मर्मज्ञ —

युद्ध में प्राणों की बलि देनी पड़ती है। ब्रह्मा जी युद्ध में नहीं सत्य की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान उचित समझते हैं -

इसका है यह अर्थ
दृष्टि के बिना अकारण युद्ध न ठानें,
युद्ध अधिकार से अधिक एक कारण है।
उसको सत्य न मानें
प्राणों की आहुति
युद्ध के लिए नहीं
सत्य के लिए होती है।

ब्रह्मा जी का यह तर्क अत्यन्त अस्पष्ट है। वे अन्त तक यह नहीं बता पाते कि सत्य क्या है।

7. मोहित स्वभाव —

युद्ध का पक्ष लेने वाले वरुण एवं कुबेर को क्रोध से अन्धा बताते हैं तभी शेष जन सहसा प्रवेश करके ब्रह्मा जी को मोहान्ध बताते हैं -

तुममें भी उस सहज सत्य के
— अन्वेषण की दृष्टि नहीं है।
हम अन्धे हैं अगर क्रोध से
तुम तो शिव शंकर की ममता से अंधे हो।

8. सहायक का सहयोग —

विष्णु देवलोक के अधिपति ब्रह्मा जी के सहायक हैं। ब्रह्मा जी युद्ध के विषय में कोई निर्णय नहीं कर पाते। वे देवलोक की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न करके शंकर की सेनाओं की आगे बढ़ आने की प्रतीक्षा करने को कहते हैं। कोलाहल सुनकर विष्णु अपने कक्ष से बाहर आ जाते हैं तो मानो ब्रह्मा जी की जान में जान आती है। विष्णु अपने आगमन के अनावश्यक होने के विषय में पूछते हैं तो ब्रह्मा उन्हें समुचित आदर देते हुए मानो सिर पर बिठा लेते हैं -

मात्र समस्या होती है अनाहत केवल जीवन में
बन्धु!

तो क्या यह शासन चल सकता है?
 मैं तो यहाँ तक कहूँगा प्रभु।
 शिव द्वारा
 जिस जिस की अवज्ञा हुई है
 उसका अपराधी ठहराकर
 उन्हें उचित दण्ड दिया जाए।
 चाहे वे महादेव हों।
 आपके समान धर्म शासक हो,
 चाहे वे कुछ भी हों

3. पक्षपात का आक्षेप —

देवलोक के अधिपति शंकर के दुःख से दुःखी हैं। वे उन्हें कोई भी दण्ड देने उनके प्रति कृतघ्नता समझते हैं तो इन्द्र का धैर्य समाप्त हो जाता है। वे शालीनता त्यागकर ब्रह्मा पर शिव के प्रति पक्षपात करने का आरोप लगाने लगते हैं -

इसीलिए प्रभु,
 शंकर को दण्ड की व्यवस्था पर
 होकर निस्संग नहीं सोच सके।
 खुद उनकी पीड़ा से पीड़ित हैं।

इन्द्र अन्त में ब्रह्मा से क्षमाचायना करते हुए अपने शब्द और अपना प्रस्ताव वापस ले लेते हैं।

4. देव सेना के सेनापति —

इन्द्र देवराज होने के साथ-साथ देवलोक के सेनापति भी हैं। उन पर देवलोक की सीमाओं एवं प्रजा की सुरक्षा का भार है। शंकर अपनी सेना लेकर देवलोक पर चढ़ाई कर देते हैं। इन्द्र का भी अहं जाग उठता है। देवलोक पर आक्रमण उन्हें शंकर का शक्ति दम्भ प्रतीत होता है। अपनी शक्ति का अपमान इन्द्र से सहन नहीं होता। सामूहिक आत्मघात कह कर युद्ध की अनुमति न देने वाले ब्रह्मा से, वे आत्मरक्षा के लिए युद्ध की अनुमति चाहते हैं -

देखा प्रभु,
 महादेव की महाशक्ति का दम्भ निराला?
 जैसे हम कृमि कीट सद श हों
 और धमनियों में हम सबकी
 रक्त नहीं पानी बहता हो।
 मैं कहता हूँ
 सहनशीलता की कोई सीमा होती है।
 अब आज्ञा दें,
 — आत्मसुरक्षा है विधान में
 जन्मजात अधिकार सभी का।

ब्रह्मा सत्य की रक्षा के लिए प्राणों के बलिदानों की बात कहते हैं तो इन्द्र उसी उत्तेजना में सत्य को अपनी ओर ही बताते हैं। ब्रह्मा जब सेना के शान्त रहने की बात करते हैं तो इन्द्र सती का जीवन वापस करने का सुझाव देते हैं। इसे भी ब्रह्मा जी स्वीकार नहीं करते तो इन्द्र की समस्या का अन्तिम समाधान युद्ध ही प्रतीत होता है।

उत्तर : कुबेर व वरुण ये दोनों दिव्य पात्र हैं किन्तु वे बहुत ही साधारण से पात्र हैं। दुष्यन्त कुमार जी ने अपनी रचना 'एक कण्ठ विषपायी' में दोनों पात्रों को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया है कि वे इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा शंकर सभी को प्रभु कहकर सम्बोधित करते हैं। न उन्हें इन्द्र की आज्ञा मानने में संकोच है और न शिव शंकर की स्तुति करने से हीनता का बोध होता है। कुबेर अल्का पुरी के स्वामी और देवों के कोषाध्यक्ष हैं। वरुण जलों के स्वामी हैं। इन दोनों की स्थिति और प्रकृति लगभग समान है। इनके चरित्र में अग्रलिखित विशेषताएं हैं -

1. विध्वंस से सन्तप्त -

दक्ष के यज्ञ में वरुण और कुबेर भी शामिल हुए थे। दक्ष का यज्ञ विध्वंस करने वाले शिव के गणों ने उनका भी अपमान किया था। ब्रह्मा और विष्णु की महत्ता सिद्ध करने के लिए ये अपने अपमान की बात न कहकर यह कहते हैं कि शिव के गणों ने उनके सामने उत्पात करके अपराध किया है। पहले ये समझते हैं कि शिव के गणों ने यह उत्पात अपनी अल्प बुद्धि से किया है जब उन्हें ब्रह्मा से पता चलता है कि यह सब कुछ शिव शंकर की अनुमति से हुआ है, तो उन्हें आश्चर्य होता है। कुबेर का मन इस पर विश्वास करना नहीं चाहता -

शिवजी ने भेजा था!
असुर-व ति भ त्यों को?
वीरभद्र सद श अहंकारी को?
भ गु, कश्यप, पैल गर्भ,
वामदेव, गौतम, त्रिक,
व्यास, अत्रि, ककुपासित,
भारद्वाज जैसे ऋषि-मुनियों की सभा मध्य?
आपकी अवज्ञा प्रभु।
महादेव शिव द्वारा?
नहीं! नहीं!!

2. दण्ड के समर्थक -

शंकर की इच्छा और अनुमति से, दक्ष के यज्ञ का विध्वंस हुआ। सभी अतिथियों का अपमान हुआ। इस अपराध का दण्ड शंकर को मिलना ही चाहिए। इन्द्र के प्रस्ताव का समर्थन वरुण और कुबेर दोनों करते हैं। कुबेर शंकर के पड़ोसी हैं। यदि शंकर को दण्ड नहीं दिया गया तो उनका प्रहार सबसे पहले उन्हें ही सहन करना पड़ेगा। इस प्रकार इन्द्र के प्रस्ताव का समर्थन करने में कुबेर का स्वार्थ और शंकर के भय दोनों काम कर रहे हैं-

लगता है प्रभु,
उनके अन्तर के द्वन्द्व
और मनके कोलाहल का
अभी शमन नहीं हुआ।
हम उनके कोप से अरक्षित हैं।
मैं उनका प्रतिवेशी होने के कारण
यह निश्चय से कहता हूँ -
कुछ पता नहीं कब
बमभोले महादेव -
वक्र दृष्टि से निहार,
कर दे संघातक कोई प्रहार!

वरुण : क्या तुमको
दुर्गन्ध नहीं आई उस शव से?
मैं तो खड़ा नहीं रह पाया
पास निमिष भर,
कुबेर : यदि मैं अरुचि प्रदर्शित करता
शव से
या दुर्गन्ध मात्र से,
तो हम दोनों
महाकोप के भाजन बनते,
देवलोक वापस आ पाना
बहुत कठिन था।

6. जनप्रतिनिधि —

शंकर की सेनाएं देवलोक पर आक्रमण करके रक्तपात आरम्भ कर देती हैं। इन्द्र देवलोक के अधिपति से बार-बार युद्ध की अनुमति मांगते हैं और प्रजा नारे लगाती हुई युद्ध आरम्भ करने का आग्रह करती है। उस समय वरुण और कुबेर देवलोक की जनता के प्रतिनिधि के रूप में ब्रह्मा के सामने उपस्थित थे। उस समय ये सारा शिष्टाचार भुलाकर ब्रह्मा जी को खरी-खोटी सुनाते हैं। ब्रह्मा जी इन्हें अकृतज्ञ और क्रोधान्ध बताते हैं तो ये उन्हें शंकर की ममता से अन्धा कहकर अपमानित करते हैं। कुबेर इस स्वार्थवश भी युद्ध का पक्षपाती हैं कि शिव शंकर की सेना सबसे पहले उसकी अलकापुरी पर आक्रमण करेगी।

कुबेर और वरुण दोनों का चरित्र लगभग समान है। दोनों ही अवसरवादी एवं स्वार्थी हैं। बड़े की हों में हों मिलाने में दोनों कुशल हैं। युद्ध उन्हें नहीं, इन्द्र को लड़ना है। इसलिए इनका युद्ध का समर्थन दूसरे के कन्धे पर बन्दूक रखकर निशाना लगाने के समान है।

प्रश्न 23. 'एक कण्ठ विषपायी' के अनुसार वीरिणी का चरित्र-चित्रण कीजिए।

अथवा

'एक कण्ठ विषपायी' में ममता की मूर्ति एवं विचारशील पात्र कौन-सा है। उनके चरित्र की विशेषताएं बताइए।

उत्तर : प्रजापति दक्ष की पत्नी, सती की माता और शिव शंकर की सास वीरिणी 'एक कण्ठ विषपायी' में एकमात्र स्त्री पात्र हैं। इसके अतिरिक्त इस काव्य नाटक के सभी पात्र पुरुष हैं। इस काव्य नाटक में सती भी हैं, पर वे प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर नहीं आतीं। पहले द श्य में उनकी गतिविधि की सूचना मिलती है। तीसरे द श्य में वे शव के रूप में शिव के कंधे पर पड़ी दिखाई देती हैं। वीरिणी के चरित्र में नीचे लिखी विशेषताएं हैं -

1. वात्सल्य प्रेम —

वीरिणी सती की माता हैं। सती का कोई भी कार्य उन्हें अनुचित प्रतीत नहीं होता। सती और शंकर के जिस प्रेम विवाह से दक्ष स्वयं को अपमानित अनुभव करते हैं एवं सती का शंकर द्वारा अपहरण मानते हैं, इसके विषय में वीरिणी का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यावहारिक और यथार्थवादी है। वे अपने पति दक्ष से ही पूछती हैं -

और स्वयं आप ही बताएं -
क्या अपनी कन्या को
शंकर से अच्छा वर मिल सकता था?

अन्धेरा-सा घिर आया
.... ऐसा लगता है
जैसे कोई संकट आने वाला है।

4. देवपूजा में विश्वास —

वीरिणी धार्मिक कार्य के शुभ फल में विश्वास करती है। शंकर उसके जामाता ही, नहीं, इष्टदेव भी हैं। सभी पर्वों एवं धार्मिक कृत्यों के अवसर पर वह शंकर का सम्मान करती हैं, मानती हैं। यज्ञ में बाधा एवं सती के प्रति पिता दक्ष का क्रोध देखकर वह आश्चर्यचकित होकर कह उठती है -

क्रूर नियति!
वह तेरे हाथों से छले गये।
बोल,
मुझे बता,
मुझ पर श्राप क्यों पड़ा तेरा?
कब मुझसे धर्म की अवज्ञा हुई?
कब मैंने शंकर की मानता नहीं मानी?
कब मैंने सपने में
किसी अमर्यादा की छाया हुई है?

5. व्यवहार कुशल —

वीरिणी अवसर के अनुकूल बात कहने में बहुत कुशल हैं। बात का सटीक उत्तर देने में वह अद्वितीय हैं। राजकुमार सुलभ ने अपने कक्ष में चिड़िया बन्द कर ली थी। उसकी चीख के कारण सेवक काम नहीं कर पा रहे थे। दक्ष की आज्ञा से सेवक सर्वहत्त ने बल प्रयोग करके चिड़िया को बाहर निकाल दिया तो स्वयं को अपमानित समझ कर राजकुमार सुलभ राजमहल की वस्तुएं अस्त-व्यस्त करने लगे। इस समाचार के मिलने से पूर्व दक्ष सती-शिव के प्रेम विवाह को लेकर उत्तेजित थे। सुलभ के उत्पात का दोष वीरिणी पर लगाते हुए इसे अन्तःपुर की शिथिल व्यवस्था का फल बताया। इसका सटीक उत्तर देकर वीरिणी ने दक्ष को निरूत्तर कर दिया —

शिथिल व्यवस्था नहीं
हृदय की सहज जात दुर्बलता है यह।
जैसे हर मनुष्य
अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर
जीवित
किसी सत्य के कट जाने पर
व्याकुल हो उठता
या क्रोधित हो उठता है,
वैसे ही अपना सुलभ भी
विवश दुःखी है।
वैसे ही आप भी दुःखी हैं।
अपने घर की सोनचिरैया उड़ जाने पर।

6. रूढ़िवादिता पर कटाक्ष —

माता सन्तान को जन्म ही नहीं देती, उसका निर्माण भी करती है। वीरिणी ने सती के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। अनुचर द्वारा यह कहने पर कि सती अतिथि और आतिथेय सबको अपशब्द कर रही हैं, वीरिणी उसे बुरी तरह डाट देती हैं -

वह, जिसने घर की मर्यादा तोड़ी है,
वह, जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है,
जिसके कारण
मेरा माथा नीचा है सारे समाज में।

जामाता मानना तो दूर की बात है, दक्ष शंकर को अपना सम्बन्धी कहने में भी अपमान का अनुभव करते हैं -

मैं तो उसका सम्बन्धी कहने में
खुद को अपमानित अनुभव करता हूँ।

यज्ञ के आयोजन के विषय में अपना मन्तव्य दक्ष इन शब्दों में प्रकट करते हैं -

उनकी आत्म प्रतिष्ठा का भ्रम तोड़ूंगा मैं।
यह यज्ञायोजन विराट
उनके अभाव का श्रीगणेश है।
हर अवसर
हर अयोजन पर
अपनी अट्टेलना देखकर
शंकर का देवत्व स्वयं ही झुलस उठेगा।

इस प्रतिशोध का जो भयंकर परिणाम हुआ, वह सर्वविदित है। दक्ष की मृत्यु के साथ यज्ञ एवं उनका नगर भी ध्वस्त हो गया। सती ने आत्मदाह किया वह अलग बात रही।

3. दोषारोपण -

दक्ष का स्वभाव अपने दोषों का आरोप दूसरों पर लगाने का है। न उनसे स्वयं कोई भूल होती है और न उनकी लाड़ली सन्तान से। सती ने शंकर से प्रेम विवाह किया। इसका दोष दक्ष शंकर पर ही लगाते हैं। सती को दक्ष के लाड़-प्यार ने ही बिगाड़ा था और इसका आरोप वे अपनी पत्नी वीरिणी पर लगाते हैं। राजकुमार सुलभ के कक्ष से पक्षी को बलपूर्वक मुक्त करने का आदेश स्वयं उन्होंने दिया, पर इससे सुलभ के बिगड़ जाने पर उसे कुछ न कहकर वे सेवकों को ही डांटते-फटकारते हैं -

बिल्कुल ठीक कर रहा है वह।
एक तनिक से बालक को
प्रसन्न रखने में अक्षम
तुम सब दंडनीय हो।
जाओ तुम
मेरी आंखों के आगे से हट जाओ।

राजकुमार सुलभ से कुछ न कहकर वे इसका दोष वीरिणी पर डालते हैं -

देखा देवि!
अन्तःपुर की शिथिल व्यवस्था का यह फल।

4. दुराग्रही -

दक्ष राजा होने के साथ-साथ अत्यन्त दुराग्रही व्यक्ति हैं। वे जो निश्चय कर लेते हैं, उसके विपरीत किसी की बात नहीं मानते। सती पित स्नेहवश बिना बुलाये ही यज्ञ में आई है, पर यह भी उन्हें शंकर की चालबाजी प्रतीत होती है -

खण्ड (ख)

व्याख्या

[1]

स्वामी!
हमको इच्छा के विरुद्ध भी
ऐसे बहुत कार्य करने पड़ते हैं
जिनसे
लौकिक मर्यादाआ. का पालन होता है
शंकर अपने जमाता हैं

शब्दार्थ :-

लौकिक = संसारिक, मर्यादाआ. = परम्पराआ. का, जामाता = दामाद।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है पुस्तक गीति नाट्य है जिसके रचयिता दुष्यन्त कुमार जी हैं। महाराज दक्ष ने एक यज्ञ का आयोजन किया और उस यज्ञ में महादेव शंकर को अपमानित करने के विचार से निमंत्रित नह किया। दक्ष ने अपनी सहधर्मिणी वीरिणी का अनुरोध भी टुकरा दिया क्या.कि वे शंकर से अप्रसन्न ही रहा करते थे प्रस्तुत पंक्तिया. में इसी तथ्य अर्थात् मनोदशा का अंकन किया गया है

व्याख्या :-

वीरिणी अपने पति दक्ष से कहती हैं कि हे स्वामी! मैं मानती हूँ कि आप इस यज्ञ में शंकर को बुलाना नह चाहतें फिर भी आपको अपनी इच्छा के विरुद्ध शंकर को यज्ञ में निमंत्रित करना चाहिए। क्या.कि आप भली भांति जानते हैं कि सामाजिक ताना-बाना इस प्रकार से बना है कि जिस प्रकार हमें अपनी इच्छा के विरुद्ध भी बहुत से कार्य करने पड़ते हैं उसी प्रकार से यह कार्य भी कर लीजिए। लोक व्यवहार में इन्ह कार्यो से समाज एवं संसार के नियमा. और परम्पराआ. का निर्वाह होता है और उन्ह. निभाने के लिए हमें यदाकदा अपनी इच्छाआ. को दबाना भी पड़ता हैं शंकर आपके दामाद हैं और यज्ञ जैसे शुभ अवसर पर तो सभी लोग अपने सगे संबंधियों को बुलाते हैं। शंकर से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध हैं इसीलिए जंवाई शंकर को बुलावा अवश्य ही भेजना चाहिए।

विशेष :-

1. गंभीर मनोभावा. की अभिव्यक्ति।
2. तत्सम शब्दा. का प्रयोग।
3. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
4. मनोविज्ञान की सुन्दर प्रस्तुति।
5. पंक्तिया. में मानवीकरण।
6. आकर्षक संवादात्मक रूप।

[3]

जामाता?
 मैं तो उसको सम्बन्धी कहने में
 खुद को अपमानित अनुभव करता हूँ।
 देवि!
 क्या सम्बन्धी का यह अर्थ नह
 कि हमारी कोमल
 अथवा
 मधुर स्नेह की धारा से
 कोई संयुक्त हो?
 क्या सम्बन्धा. का निर्माण
 घ णा पर,
 हठ पर,
 और अनिच्छा पर भी सम्भव हो सकता है?

शब्दार्थ :-

अपमानित = बेइज्जत, मधुर = स्नेह प्रेम की धारा/प्रेम में मीठी अथवा सुखभरी भावना,
 संयुक्त = मिलाजुला, निर्माण = बनना।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी पाठ्यपुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से ली गई हैं। पद्यांश के रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। रचना एक गीति नाट्य है। दक्ष अपने बहुत बड़े यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाना चाहते थे लेकिन वीरिणी ने लोक मर्यादाआ. की दुहाई देते हुए जब बार-बार अपने स्वामी से आग्रह करती हैं तब दक्ष प्रजापति जी कहते हैं :-

व्याख्या :-

हे वीरिणी! तुम शंकर को मेरा दामाद कहती हो सत्य यह है कि मैं उसे अपना साधारण सम्बन्धी भी कहना और मानना अपमान समझता हूँ। सभी लोगों के सामने शंकर को अपना दामाद कहने मात्र से ही मुझे बेइज्जती सी महसूस होती है। जब हम सम्बन्धी के अर्थ पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि जैसे कि शंकर हमारा सम्बन्धी ही न हो। दक्ष कहते हैं कि सम्बन्धी का मतलब यह है कि कोई व्यक्ति हमारी प्रेम और सुखभरी भावना से जुड़ाव महसूस करे जिसके प्रति हमारे मन में भी प्रसन्नतापूर्ण कोमल भावना हो वही सम्बन्धी कहला सकता है लेकिन शंकर के लिए मेरे मन में वैसी प्रेम भावना नह है। मैं तो शंकर से घ णा करता हूँ। हे देवि! क्या सम्बन्धा. का आधार घ णा है और अनमने मनभावा. से संभव है अर्थात् नह । सम्बन्धी भावना के अनुसार शंकर मेरा दामाद तो क्या साधारण सम्बन्धी भी नह है।

विशेष :-

1. संस्कृत तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग।
2. खड़ी बोली
3. स्वाभाविक चित्रण।
4. वक्रोक्ति का पुट।
5. मानवीकरण।
6. विषयानुपारूप पद विन्यास।

विशेष :-

1. मनःस्थिति का सुन्दर चित्रण।
2. भाग्यवाद का पुट।
3. तत्सम प्रधान।
4. कोमल, सरल, सरस वाणी।
5. खड़ी बोली।
6. एक जीवन सत्य का रेखांकन।
7. भाव अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति।
8. सम्बन्ध का रहस्यवाद।
9. गंभीर भावा. की सुन्दर अभिव्यक्ति।
10. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।

[5]

हां, अपहरण।
 देवि!
 मैं निश्चय ही इसको अपहरण कहूँगा
 क्या अबोध मन को फुसलाकर
 देवत्वा. का जाल बिछाकर
 विविध प्रलोभन देकर
 उसे जीत लेना -
 अपहरण नह है?
 सती बालिका थी
 अबोध थी
 और अविकसित बुद्धि किशोरा.-सी
 थी उसके आकर्षण में।
 तुम उसकी कैशोर्य-भूल को क्षम्य कहोगी
 पर शंकर तो -
 खुद को महादेव कहाता हैं

शब्दार्थ :-

अपहरण = इच्छा के विपरीत, उठा ले जाना, अबोध = नासमझ,
 देवत्वा. का जाल = दिव्यगुणा. के कारण देवा. का षडयन्त्र, विविध = तरह-तरह से,
 प्रलोभन = लालच देना, कैशोर्य भूल = किशोरावस्था की गलती, क्षम्य = क्षमा करने योग्य।

संदर्भ :-

हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषयापी' से उद्ध त ये पद्यांश भी दुष्यन्त कुमार जी द्वारा रचित हैं। यह रचना एक गीति नाट्य है। दक्ष ने अपने यज्ञ में शंकर को नह बुलाया और पत्नी वीरिणी के कहने पर भी दक्ष ने सती अपहरण का आरोप शंकर पर लगाया। जब अपहरण विषय पर वीरिणी ने आपत्ति की तो दक्ष ने अपने मनोभावा. को इस प्रकार प्रकट किए -

व्याख्या :-

हे देवी! मैं इसे शंकर-सती का प्रेम-विवाह नह मानता बल्कि मुझे ऐसा लगता है जैसे विवाह नह अपहरण था। शंकर के इस कार्य को निश्चित रूप से मैं अपहरण कहूँगा। पुत्री सती तो

दुर्वह नन्दा-व्रत ठाना था नाथ!

शब्दार्थ :-

महिमा = महत्त्व, संयम = धैर्य, दुर्वह = कठिनतम

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्य की पंक्तियाँ हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं। रचना गीति नाट्य है। दक्ष प्रजापति अपने दामाद शंकर को अपना दामाद ही नह स्वीकारते इसलिए वे अपने यज्ञ अनुष्ठान में उनको बुलाना नह चाहते किन्तु उनकी पत्नी वीरिणी हृदय की बात रखते हुए दक्ष से कहती हैं -

व्याख्या :-

हे स्वामी! क्या सिर्फ स्वयं के कहने से या लोगों के कहने से अपनी महिमा बढ़ जाती है। अर्थात् ऐसा नहीं होता। वीरिणी जी दक्ष से कहती हैं कि महादेव का देवत्व सारे संसार में प्रसिद्ध है। वह कहती हैं कि शंकर कितने धैर्यवान हैं सारा संसार जानता है। वह कहती हैं कि शंकर के इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर आपकी सुपुत्री सती ने महादेव को पसंद किया था और अपनी सुरक्षा का ध्यान न रखते हुए सबसे कठिन नन्दा-व्रत को ठान लिया था अर्थात् पूरे मनोयोग से नन्दा-व्रत को पूर्ण किया इस कामना के साथ कि उसके वर महादेव शंकर ही बनें।

विशेष :-

1. कथोपक कथन।
2. नाटकीयता।
3. पद्मबद्ध।
4. युक्ति संगत।
5. मुक्त छंद।
6. भावमय दृष्टिकोण।
7. प्रबन्ध रचना।
8. संवाद गेय।
9. कोमल भाषा।
10. गीतिमय संवाद योजना।
11. प्रभावोत्पादकता।
12. प्रतीक विधान।

[7]

अगर किशोरा. वाला आग्रह
होता उसके आकर्षण में,
तो वह शासन के आदर्शों पर झुक जाती,
एक प्रलोभन
अथवा भय से
उसकी सब दृढ़ता चुक जात
अगर सच्चाई का बल
उसके साथ न होता

— यह अपवाद विरल है
लेकिन
शंकर के मोह में सती ने
अपने
अथवा अपने पति के
दुर्भाग्यों को उकसाया है।
तुमको बतलाए देता हूँ —
सारे भद्र-लोक से उसे
बहिष्कृत करके छोड़ूँगा मैं।

शब्दार्थ :-

महत्ता = महत्वपूर्ण, चिंतन = सोच-विचार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। श्री दुष्यन्त कुमार जी रचित यह पुस्तक गीति नाट्य है। दज्ञ प्रजापति ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उन्होंने उस यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाया। दक्ष के अनुसार शंकर ने उनकी लाडली किशोरी सती को बहला फुसलाकर उसका अपहरण किया है। जिसके कारण वह दण्ड का अधिकारी है इस बात का विरोध करते हुए उनकी पत्नी वीरिणी यह समझा रही हैं कि महादेव को यज्ञ में बुलाना बहुत जरूरी है। इस पर दक्ष कहते हैं -

व्याख्या :-

हे देवी! तुम ठीक कह रही हो। लेकिन इस प्रकार से अपवाद रूप घटना संसार में बहुत कम दिखाई देती हैं कि मेरे घर की लोक प्रतिष्ठा को मारकरके अर्थात् घर परिवार की प्रतिष्ठा को भूल कर और सांसारिक मर्यादाओं को अपमानित करके मेरे ही रक्त से सजित हुई सती ने जैसा लोक अपवाद पूर्ण व्यवहार किया है ऐसा सहज दिखाई नहीं देता। दक्ष प्रजापति कहते हैं कि मैं यह मानता हूँ कि सती ने शंकर के मोह में बंधकर जो अनुचित कदम उठाया है हे वीरिणी सच मानो पार्वती ने अपने पति शंकर के दुर्भाग्य को ही एक तरह से उकसाया है। वह कहते हैं कि चाहे कुछ भी हो जाये लेकिन संसार के प्रतिष्ठित लोगों के मध्य में महादेव को अपमानित करके ही छोड़ूँगा अर्थात् मैं शंकर के साथ ऐसा अपमान जन्य व्यवहार करूँगा कि जिससे वह समाज से बहिष्कृत हो जाए।

विशेष :-

1. मानवीकरण।
2. उपमालंकार का प्रयोग।
3. भाषा सरल सुबोध।
4. खड़ी बोली।
5. सत्सम प्रधान भाषा।
6. यथार्थ भाव।
7. मनोवेग का सुन्दर चित्रण।
8. पित अभिव्यक्ति भाव निराशा अभिव्यंजना।
9. काव्य सौन्दर्य की दृष्टि।
10. मार्मिक प्रसंग।
11. वस्तु योजना।

4. सरल एवं सरस अंकन।
5. मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति।
6. सम्बन्धा. का व्यवहारिक रूप।
7. सौम्य भाव।
8. सांस्कृतिक परम्परा का उद्बोधन।
9. मानवीकरण।
10. काव्य रसानुरूप।
11. तुकान्त रचना।

[10]

लेकिन प्रभु
 उस चिड़िया की ची: ची: से —
 उसकी कातर ध्वनि से
 सारा वातावरण त्रस्त है।
 नन्हे-नन्हें पंखों की कातर आवाजें
 अन्तःपुर में गूँज रही हैं।
 सारे भ त्‍य सहमकर
 अपने कार्य छोड़कर
 उसी कक्ष के निकट खड़े हैं।
 वातायन से
 सारा कौतुक देख रहे हैं।

शब्दार्थ :-

कातर = निरीह, सहमकर = डरकर, कौतुक = खेल

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। श्री दुष्यन्त कुमार जी रचित यह पुस्तक गीति नाट्य है। दज्ञ प्रजापति ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उन्होंने उस यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाया। दक्ष के अनुसार शंकर ने उनकी लाडली किशोरी सती को बहला फुसलाकर उसका अपहरण किया है जिसके कारण वह दण्ड का अधिकारी है इस बात का विरोध करते हुए उनकी पत्नी वीरिणी यह समझा रही हैं कि सती महादेव के सुगुणों से प्रभावित होकर ही स्वयंमेव उनका वरण किया है इसलिए महादेव को यज्ञ में बुलाना बहुत जरूरी है विषय पर बात चीत के मध्य विचार के मध्य महाराज दक्ष से भ त्‍य सर्वहत कहता है -

व्याख्या :-

हे प्रभु! राजकुमार सुलभ की इच्छा है कि वह अपने निजी कक्ष में चिड़िया को बंदी बना लें और उसके संग खेलें। राजकुमार किसी भी रूप में चिड़िया को मुक्त नहीं करना चाहते। दक्ष कहते हैं कि राजकुमार को खेलने दो। इसपर भ त्‍य कहता है कि प्रभु चिड़िया की कातर ध्वनि ची: ची: से सारा वातावरण ही अजीबोगरीब हो रहा है। चिड़िया के नन्हें-नन्हें पंखों की फड़फड़ाहट अर्थात् कमरे से बाहर निकलने के प्रयत्न में बड़े जोर जोर से कातर आवाजें आ रही हैं जोकि पूरे अन्तःपुर में गूँज रही हैं। सर्वहत कहता है कि हे महाराज सभी भ त्‍य अपने-अपने कार्य छोड़कर राजकुमार के कक्ष के पास आ खड़े हुए हैं और इस प्रकार से चिड़िया की निरीह चहचहाहट को सभी इक्ठे होकर कौतुक रूप में देख रहे हैं।

विशेष :-

1. सूक्ष्म भावा. की सुन्दर अभिव्यक्ति।
2. मनमोहक अभिव्यंजना।
3. प्रसाद माधुर्य गुण सम्पन्न शैली।
4. सटीक भाषा का प्रयोग।
5. अनुप्रास अलंकार।
6. खड़ी बोली में सामाजिक मर्यादा की प्रस्तुति
7. संस्कृति की झलक।
8. बालमन का चित्रण।
9. सजीवता।

[12]

एक नहीं
 मुझको अनेक आघात लगे हैं!
 देवि!
 यदि शंकर की सती कामना थी
 तो सीधे मुझसे कहता।
 देवलोक में
 इतनी परिचर्चा की क्या आवश्यकता थी?
 क्या आवश्यकता थी बोलो
 इस रूपक के आलम्बन की
 व्यर्थ प्रेम के नाम
 हमारी लोक-हँसाई, बदनामी की
 — परम्पराओं के खंडन की
 इस पर भी तुम
 उसे यज्ञ में आमंत्रित करने की
 अभिलाषा रखती हो?

शब्दार्थ :-

आघात = चोट, कामना = इच्छा, आलम्बन = सहारा, व्यर्थ = बेकार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं। श्री दुष्यन्त कुमार जी रचित यह पुस्तक गीति नाट्य है। दज्ञ प्रजापति ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उन्होंने उस यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाया। दक्ष के अनुसार शंकर ने उनकी लाडली किशोरी सती को बहला फुसलाकर उसका अपहरण किया है जिसके कारण वह दण्ड का अधिकारी है इस बात का विरोध करते हुए उनकी पत्नी वीरिणी यह समझा रही हैं कि सती महादेव के सुगुणों से प्रभावित होकर ही स्वयंमेव उनका वरण किया है इसलिए महादेव को इस विशाल महायज्ञ में बुलाना बहुत जरूरी है विषय पर बात चीत के मध्य विचार के मध्य महाराज दक्ष महारानी वीरिणी जी से कहते हैं -

व्याख्या :-

हे महारानी! मुझे एक नहीं अनेकों ऐसे आघात लगे हैं जिनसे मैं अब क्रोध के वशीभूत हो गया हूँ।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं। श्री दुष्यन्त कुमार जी रचित यह पुस्तक गीति नाट्य है। दज्ञ प्रजापति ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उन्होंने उस यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाया। दक्ष के अनुसार शंकर ने उनकी लाडली किशोरी सती को बहला फुसलाकर उसका अपहरण किया है। जिसके कारण वह दण्ड का अधिकारी है। इस बात का विरोध करते हुए दक्ष प्रजापति की पत्नी वीरिणी उन्हें समझाते हुए कह रही हैं कि शंकर का यज्ञ में बुलाना हमारे लिए बहुत जरूरी है, क्योंकि इससे पुत्री सती को मानसिक आघात लगेगा। इस विषय पर वह कहती हैं -

व्याख्या :-

हे देव! मेरी तो इतनी सी अभिलाषा है कि हमारा आयोजन बाधा रहित और विघ्न रहित हो। हमारा यज्ञ हमारे लिए मंगलकारी सिद्ध हो इसी में हम सबका भला है। वह कहती हैं कि हे स्वामी यदि कैलाशपती शंकर इस यज्ञ में उपेक्षित रह गये अर्थात् बुलाए न गए तो हमारी प्रजा हमें क्या कहेगी आप इसपर विचार करें। वह कहती हैं कि पुत्री सती जब यह सोचेगी तो उसको बहुत दुःख होगा। वह कहती है कि क्या देर सवेर सती को इस बारे में मालूम न होगा। जब भी सती को पता चलेगा कि मेरे पिता के घर में यज्ञ का आयोजन हुआ है और उसमें मुझे नहीं बुलाया गया है तो उस पर क्या बीतेगी समझना आसान नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि पुत्रियों को अपने पित घर से बहुत गहरा लगाव होता है। मोह वश सती के लिए यज्ञ में निमन्त्रित न होना अर्थात् न आना किसी भी रूप में एक सदमे से कम न होगा।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. कोमल भावना।
7. भावात्मक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. प्रबन्ध रचना।

[14]

हाँ,
 उसको भी नहीं बुलाया!
 ताकि उसे मालूम हो सके,
 वे अपने को
 अपमानित अनुभव कर पाएँ
 इसीलिये मैंने चुन-चुनकर
 हर कैलाश-लोक के प्रतिवेशी को
 आमंत्रण भेजा है।

भ त्यों को अपशब्द कह रहे हैं
 निजी अनुचरों को भी
 अपने पास नहीं आने देते हैं
 और कक्ष का क्रम बिगाड़कर
 सभी वस्तुएं अस्त-व्यस्त कर फ.क रहे हैं।
 शस्त्र लिए हैं
 और मुझे दंडित करने को खोज रहे हैं।

शब्दार्थ :-

रुष्ट = नाराज, अपमानित = अपमान, दंडित = सजा देना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। श्री दुष्यन्त कुमार जी रचित यह पुस्तक गीति नाट्य है। दक्ष प्रजापति ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उन्होंने उस यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाया बात-चीत के मध्य महाराज दक्ष से भ त्त्य सर्वहत्त कहता है कि राजकुमार की इच्छा के विपरीत हमने चिड़िया को बाहर निकाल दिया है जिसके कारण वह नाराज हैं और सभी सेवकों को अपशब्द कह रहे हैं। महारानी वीरिणी के समक्ष उत्पन्न स्थिति पर सर्वहत्त कहता है —

व्याख्या :-

हे महारानी! जब से मैंने आप का आदेश मानकर जबदस्ती राजकुमार सुलभ के कमरे से चिड़िया को मुक्त करा दिया तब से राजकुमार मुझसे नाराज हो रहे हैं और उनकी नाराजगी का विशेष कारण यह है कि इस घटना से वह स्वयं को अपमानित महसूस कर रहे हैं। हे महारानी सभी सेवकों को क्रोध में आकर अपशब्द कह रहे हैं और किसी भी सेवक को अपने पास तक आने नहीं दे रहे। सर्वहत्त कहता है कि राजकुमार इस बात से नाराज होकर अपने कक्ष के सभी सामान इधर-उधर फेंक रहे हैं। सर्वहत्त कहता है कि हे महारानी! राजकुमार ने अपने हाथ में शस्त्र ले रखा है और दण्ड देने के लिए वे मुझे खोज रहे हैं।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. भाषा सरल एवं व्यवहारिक।
3. भाग्य भावना प्रधान प्रस्तुति।
4. विरोधाभास अंकन।
5. आत्म विश्लेषण।
6. भाव प्रधान।
7. मानवीकरण।

[16]

बिल्कुल ठीक कर रहा है वह।
 एक तनिक से बालक को
 प्रसन्न रखने में अक्षम
 तुम सब दंडनीय हो।
 जाओ तुम
 मेरी आँखों के आगे से तत्क्षण हट जाओ

[17]

लेकिन स्वामी
 नर नारी के सम्बन्धा. में
 इससे भी ज्यादा अनहोनी घटनाएं
 घटती रहती हैं।
 परिणय, नारी की परिणति हैं
 और स्वयं ही आप बताएं—
 क्या अपनी कन्या को
 शंकर से अच्छा वर मिल सकता था?
 लगता है
 आपको
 सती के जाने का आघात लगा है
 पित हृदय की ममता को
 धक्का पहुंचा हैं

शब्दार्थ :-

अनहोनी = न होने की सम्भावना, परिणय = विवाह, परिणति = परिणाम,
 आघात = अति प्रिय सम्बन्धी से बिछुड़ने वाला दुःख भाव/चोट।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी काव्य जगत के चर्चित नामा. में से एक हैं। पुस्तक एक गीति नाट्य रूप में लिखी गई है। दक्ष ने अपने दामाद शंकर को यज्ञ में निमंत्रित नह किया। वे शंकर के प्रति घणास्पद भाव रखते थे - कारण शंकर ने पार्वती को बहला फुसलाकर विवाह बंधन में बांध लिया था। दक्ष की अप्रसन्नता, खिन्नता को दूर करने के लिए वीरिणी प्रेमविवाह की प्रांसगिकता - औचित्य एवं शंकर की निदोषिता सिद्ध करते हुए कहती हैं -

व्याख्या :-

हे स्वामी! आपका कथन सत्य हो सकता है यह भी संभव है कि शंकर ने सती को बहलाया फुसलाया हो लेकिन स्त्री पुरुष (सती और शंकर) के संबंध में जो कुछ हुआ उससे सती और शंकर दोषी नह हैं। इस विषय में तो और भी अनहोनी घटनाएं घटित होती रहती हैं। आखिर सती और शंकर ने प्रेम विवाह तो कर ही लिया है विवाह ही नारी के जीवन का एक परिणाम एवं उज्ज्वल पक्ष है क्या.कि बिना विवाह के नारी जीवन अधूरा माना गया है और आप स्वयं सोचिए, विचारिए कि पुत्री सती के लिए देवाधिदेव शंकर से भी श्रेष्ठ वर मिल सकता था क्या? अर्थात् नह। यह विवाह हमारी सम्मति से न होकर प्रेम विवाह हुआ है, इससे ऐसा जान पड़ता है कि आप पुत्री सती के शंकर के साथ चले जाने से हृदय पर चोट खाए हुए हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्या.कि आपके पास एक पिता का हृदय है और पुत्री सती से ममता मोहवश अलग होने से आपको ठेस पहुंची है, धक्का लगा है और समाज व्यवस्था में ऐसा होता ही रहता है।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार का प्रयोग।
2. तर्क विद्या का सुन्दर प्रयोग।
3. भाषा सरस-सरल एवं संस्कृत प्रधान।

4. भाव अभिव्यंजना/मनमोहक।
5. सूक्ष्म भावा. की सुन्दर अभिव्यक्ति।
6. आकर्षक संवादात्मकता रूप।
7. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
8. सरल, सुबोध शब्दांश।
9. मनःस्थिति का सुन्दर अंकन।
10. कोमल भावना की प्रस्तुति।
11. तुलनात्मक कथन।

[19]

शिथिल व्यवस्था नह ,
हृदय की सहज जात दुर्बलता है यह।
जैसे हर मनुष्य
अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर
जीवित
किसी सत्य के सहसा कट जाने पर
व्याकुल हो उठता
या क्रोधित हो उठता है,
वैसे ही अपना सुलभा भी
विवश दुखी हैं

शब्दार्थ :-

शिथिल = ढीली, व्यवस्था = नियम, सहजजात = स्वाभाविक/जन्म के समय उत्पन्न होने वाली, सामर्थ्य = शक्ति, जीवित = जिन्दा, व्याकुल = बेचैन, क्रोधित = गुस्से में, विवश = लाचार।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से ली गई हैं। यह पुस्तक नीतिनाट्य है जिसके रचयिता दुष्यन्त कुमार जी हैं। दुष्यन्त कुमार जी काव्य जगत के सुप्रसिद्ध कवि हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' एक गीति नाट्य है। दक्ष प्रजापति ने अपने दामाद शंकर से नाराज होने के कारण अपने यज्ञ में न बुलाया। उसी समय एक सर्वहत्त नामक सेवक ने दक्ष को सूचना दी कि राजकुमार सुलभ अपने कमरे को बन्द करके एक चिड़िया पकड़ना चाहते हैं, ऐसी राजकुमार की इच्छा है और जब सेवका. ने जबरदस्ती उस चिड़िया को बाहर उड़ा दिया तब सुलभ ने कमरे का सारा सामान अस्त व्यस्त अर्थात् इधर-उधर कर हाथा. में तलवार ले सेवका. को दण्ड देने के लिए खोज रहे हैं। यह जानकर दक्ष अपनी पत्नी वीरिणी से कहते हैं कि अन्तःपुर की व्यवस्था अच्छी नह है, बहुत ढीली हैं उत्तर में वीरिणी कहती हैं -

व्याख्या :-

हे स्वामी ! आप कह रहे हैं कि मेरे अन्तःपुर की व्यवस्था ढीली है, शिथिल हैं वे कहती हैं कि राजकुमार सुलभ अन्तःपुर की व्यवस्था कमजोर होने के कारण क्रोधित नह हैं। उसके क्रोधित एवं असन्तुष्ट होने का कारण मन की एक कमजोरी है जो मनुष्य में प्रायः स्वाभाविक या जन्मजात होती है जब अपनी शक्ति, अधिकार व सीमा में आने वाली कोई वस्तु एकाएक अलग हो जाती है, दूर हो जाती है अथवा व्यक्ति अधिकारी एवं शक्तिशाली होते हुए भी जब किसी सच्चाई से दूर

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। श्री दुष्यन्त कुमार जी रचित यह पुस्तक गीति नाट्य है। दक्ष प्रजापति ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उन्होंने उस यज्ञ में अपने दामाद शंकर को नह बुलाया बात-चीत के मध्य महाराज दक्ष से भ त्य सर्वहत् कहता है कि राजकुमार की इच्छा के विपरीत हमने चिड़िया को बाहर निकाल दिया है जिसके कारण वह नाराज हैं और सभी सेवकों को अपशब्द कह रहे हैं। महारानी वीरिणी दक्ष से कहती हैं कि राजकुमार का आचरण बालसुलभ है। प्रायः ऐसा होता ही रहता है — बातचीत के मध्य द्वारपाल आकर कहता है —

व्याख्या :-

हे महाराज! जैसा आपने आदेश दिया था वैसा ही मैंने कार्य किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस महायज्ञ की तैयारी को लेकर दक्ष प्रजापति ने अपने सेवक को जो-जो आदेश दिए थे अर्थात् अतिथिजन जोकि यज्ञ में पधारने वाले थे और पुरोहित गण जिन्हें यज्ञ को कार्यरूप देना था अर्थात् यज्ञ की सारी क्रिया को विधि-विधान अनुसार सम्पन्न कराना था के साथ-साथ ऋषि और देवगणों की टोली आदि के स्थान, खान-पान आदि जो-जो व्यवस्था अत्यावश्यक थी उन्हें वह द्वारपाल पूरा करके आया है। तभी महाराज दक्ष से कहता है कि हे प्रभु आपके आदेशानुसार मैंने सभी कार्य सम्पन्न कर लिए हैं। लेकिन अभी-अभी महादेव का एक अनुचर जोकि महादेव का संदेश लेकर द्वार पर आया है उसके लिए क्या आज्ञा है।

विशेष :-

1. मनःस्थिति का सुन्दर चित्रण।
2. भाग्यवाद का पुट।
3. तत्सम प्रधान।
4. कोमल, सरल, सरस वाणी।
5. खड़ी बोली।
6. एक जीवन सत्य का रेखांकन।
7. भाव अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति।
8. सम्बन्ध का रहस्यवाद।
9. गंभीर भावा. की सुन्दर अभिव्यक्ति।
10. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।

[21]

उनको अन्तःपुर में आना स्वीकार्य नहीं।
 कहती है
 अनाहूत आई हूँ
 महलों में क्यों जाऊँ?
 और प्रभु!
 क्षमा करें
 सती यज्ञ-मण्डप में क्रुद्ध
 महादेव पति की अवज्ञा पर क्षुब्ध
 धर्म और शासन की
 मर्यादा भंग कर

और
 धर्म की पवित्र मर्यादाएं तोड़ द.।
 क्या हक है
 आतिथेय
 अथवा अतिथिया. पर क्रोधित हो
 अपना विवेक और संतुलन छोड़ द.।
 सती से अपेक्षित था

शब्दार्थ :-

अनाहूत = बिना बुलाए हुए, अनिमंत्रित = जिन्ह. बुलाया न गया हो,
 आलोचना = दोष निकालना, टीका टिप्पणी करना, अतिथेय = अतिथि सत्कार करने वाला

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। यह पुस्तक एक गीति नाट्य है जिसके रचयिता दुष्यन्त कुमार जी हैं। यज्ञ में निमंत्रित न करने पर भी पितृ वात्सल्य के वशीभूत होकर दक्षपुत्री सती यज्ञ आयोजन में पधार किन्तु अपने प्राणा. से भी प्यारे पतिदेव महादेव शंकर जी के लिए यज्ञ में कोई स्थान न देखकर उन्ह. बहुत क्रोध आया और वे सभी को भला बुरा कहने लग । सेवक से सूचना पाकर दक्ष प्रजापति भी सती पार्वती पर अपना आवेश प्रकट करते हुए कहते हैं :-

व्याख्या :-

जिनको यज्ञ का निमन्त्रण नह दिया गया और जिन्ह. यज्ञ में आने के लिए नह बुलाया गया अथवा न कहा गया हो उन्ह. यज्ञ में आकर यज्ञ व्यवस्था में दोष निकालने एवं दोषारोपण करने और मुझे भला बुरा कहने का कोई अधिकार भी नह हैं धर्म की एक मर्यादा यह भी है कि वे लोग ही यज्ञादि समारोह में आते हैं जिन्ह. बुलाया गया हो और यदि बिना बुलाए आ ही गए हो तो उन्ह. किसी भी कार्यव्यवस्था में बाधक नह बनना चाहिए। बिन बुलाए व्यक्ति को इस धर्म की पवित्र मान्यता नियमादि को तोड़ने का कोई अधिकार नह हैं उन्ह. मुझ पर या मेरे द्वारा बुलाए गए अतिथिया. पर क्रोध करने का कोई अधिकार नह हैं दक्ष कहते हैं कि सती बिना बुलाए आ गई है तो वह क्या. मेरे सभी आमंत्रित जना. को भला बुरा कह रही हैं दक्ष कहते हैं कि सती को अपना विवेक और बुद्धिबल नह त्यागना चाहिए और अपना मानसिक सन्तुलन अर्थात् समझ बनाए रखनी चाहिए। आगे दक्ष कहते हैं कि सती धर्म नियम का पालन नह कर रही है।

विशेष :-

1. खड़ी बोली।
2. सामाजिक मर्यादा का अंकन।
3. उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग।
4. सहज भावाभिव्यक्ति।
5. सहज सम्बन्ध का प्रस्तुतीकरण।
6. आतिथेय मर्यादा का चित्रण।
7. मानसिक उद्वेग का द श्यावलोकन।
9. तत्सम शब्दा. का प्रयोग।
9. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
10. आकर्षक संवादात्मक रूप।

[24]

नहीं नाथ,
 यह बिल्कुल मिथ्या है।
 ऐसा कदापि नहीं हो सकता।
 चाहे विद्रोही हो कितना भी
 किन्तु रक्त अपना है।
 सती
 स्वयं पित-मोह-वश ही
 यहाँ आई है।
 आपको विदित है —
 वह
 वह कितना स्नेह करती थी आपसे।
 — इसी लिए मण्डप में
 सबका स्थान और भाग देख
 बुरा लगा होगा उसे।
 यों ही कुछ कह बैठी होगी वह।
 अपना ही अधिक लाड़ देकर उसे
 क्रोधी बनाया है

शब्दार्थ :-

पित मोह = पिता का मोह, विदित = जानकारी, लाड़ = प्यार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। यह पुस्तक एक गीति नाट्य है जिसके रचयिता दुष्यन्त कुमार जी हैं। यज्ञ में निमंत्रित न करने पर भी पित वात्सल्य के वशीभूत होकर दक्षपुत्री सती यज्ञ आयोजन में पधार किन्तु अपने स्वामी महादेव शंकर का यज्ञ में कोई स्थान न देखकर उन्ह. बहुत क्रोध आया और वे सभी को भला बुरा कहने लग। जब दक्ष प्रजापति अपना आवेश प्रकट करते हुए सती आगमन को शंकर की एक चाल समझते हैं तब वीरिणी जी कहती हैं :-

व्याख्या :-

हे स्वामी! पुत्री सती पार्वती और दामाद महादेव शंकर के प्रति इस प्रकार से आपका पूर्वाग्रसित होना किसी भी रूप में अच्छा नहीं है। मेरे अनुसार आपका ऐसा विचार बिल्कुल ही निराधार और अनुचित है। वीरिणी जी कहती हैं कि जिस प्रकार से आप विचार कर रहे हैं उस प्रकार से शिव का मन्तव्य कदापि नहीं हो सकता। वह कहती हैं कि चाहे कितना ही विद्रोही स्वभाव पार्वती का क्यों न हो आखिर वो अपना ही खून है इसलिए पित-प्रेम वश स्वेच्छा से यज्ञ समारोह में आई है। वीरिणी जी कहती हैं आपकी पूरी तरह मालूम है कि सती बचपन से ही आपसे कितना स्नेह करती थी अर्थात् आपको बहुत प्यार करती थीं। इसीलिए मण्डप में अपने पति का स्थान न पाकर उसे बुरा लगा होगा तभी तो वह क्रोध में आई होगी। वीरिणी जी कहती हैं आखिर उसको क्रोधि बनाने में आप ही जिम्मेदार हैं क्योंकि बचपन से ही आप उसकी जिद्द पूरी करते थे और बहुत ज्यादा लाड़ प्यार करते थे इसलिए पार्वती का व्यवहार आक्रोश भरा है।

फूल के जलने से धुआँ व क्ष की डाल अथवा टहनी तक अवश्य पहुँचता है। इसी प्रकार सती आपकी प्रिय पुत्री हैं यदि सती अपमानित होती है और दुःखी होती है तब तो आप स्वयं भी दुःखी और अपमानित अवश्य होंगे मूलरूप से वीरिणी दक्ष प्रजापति को संकेत स्वरूप चेतावनी देती हैं कि वे पुत्री सती के साथ कठोरतापूर्ण व्यवहार न कर. बल्कि एक पिता के रूप में सती के साथ व्यवहार कर.।

विशेष :-

1. अन्योक्ति अलंकार।
2. मनोवेग का सचित्र प्रस्तुतिकरण
3. उपमापूर्ण अभिव्यक्ति।
4. भाषा संस्कृतनिष्ठ।
5. सुबोध एवं सरल भाव व्यंजना।
6. सामाजिक अन्तर्दृष्टि का अंकन।
7. मानवीकरण।
8. मनोवैज्ञानिक कथन।
9. सरल काव्य।
10. हृदय की भावविह्वलता।
11. लाक्षणिक शैली का प्रयोग।
12. श्रेष्ठ भावाभिव्यक्ति।

[26]

नाथ!

ऐसा अविवेक पूर्ण

कोई भी कार्य यदि यज्ञ में हुआ

तो मैं शपथपूर्वक कहती हूँ

आज

और अभी

और इसी क्षण

मैं आत्मघात कर लूँगी!

देखूँगी

कैसे करोगे यज्ञ

शब्दार्थ :-

अविवेक = बुद्धिहीन, शपथपूर्वक = कसम के साथ, आत्मघात = आत्महत्या

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। यह पुस्तक एक गीति नाट्य है जिसके रचयिता दुष्यन्त कुमार जी हैं। यहाँ पर लेखक ने उस समय का वर्णन किया है जब यज्ञ में निमंत्रित न करने पर भी पितृ वात्सल्य के वशीभूत होकर दक्षपुत्री सती यज्ञ आयोजन में पधार किन्तु अपने प्राणा. से भी प्यारे पतिदेव महादेव शंकर जी के लिए यज्ञ में कोई स्थान न देखकर उन्हें. बहुत क्रोध आया और वे सभी को भला बुरा कहने लग । सेवक से सूचना पाकर दक्ष प्रजापति भी अपना आवेश प्रकट करते हुए कहते हैं कि यदि सती यहाँ आकर दुःखी है तो वह वापस जा चली जाये इसपर वीरिणी जी कहती हैं :-

व्याख्या :-

हे नाथ! मेरी आप से यही आखिरी प्रार्थना है कि आप यह ध्यान रखें कि यदि अपनी पुत्री सती पार्वती इस यज्ञ महोत्सव पर स्वेच्छा से आ ही गई है तो आप कृपया उसे वापस जाने के लिए न कहें। क्योंकि इस प्रकार के शुभ कार्यों के अवसर पर अपने स्वजनों का आना अच्छा माना गया है और रूठ कर चले जाना एक अपशकुन माना गया है। इस प्रकार से जब आप सती को यज्ञ मण्डप से बाहर जाने के लिए कहते हैं तो मेरा हृदय कांप उठता है। मैं एक माँ होने के नाते से आपसे यह प्रार्थना करती हूँ कि आप भी यह ध्यान रखें कि सती जहाँ आपकी प्रिय पुत्री है वहाँ आप एक राजा के साथ-साथ पिता के रूप में भी हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पुत्री सती पार्वती अब हमारी सिर्फ पुत्री ही नहीं है बल्कि वह शिव शंकर की पत्नी भी है और अपने पति के मान-सम्मान का ध्यान रखना भी उसका एक कर्तव्य बनता है जिसका वह पालन कर रही है।

विशेष :-

1. मानवीकरण।
2. उपमालंकार का प्रयोग।
3. भाषा सरल सुबोध।
4. खड़ी बोली।
5. सत्सम प्रधान भाषा।
6. यथार्थ भाव।
7. मनोवेग का सुन्दर चित्रण।
8. विनीत अभिव्यक्ति भाव निराशा अभिव्यंजना।

[28]

पत्नी का मान**नाथ!****पतिया. की एक सहज आकांक्षा होती है****आप तनिक बतलाएं****मेरे संग अगर कह इस तरह हो जाए****तो क्या तुम आत्मा पर****पर्वत सा भार सहन कर लोगे?****मेरा अपमान सहन कर लोगे?****बोलो ।****शब्दार्थ :-**

सहज = स्वाभाविक, आकांक्षा = इच्छा, भार = बोझ

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। यह पुस्तक एक गीति नाट्य है जिसके रचयिता भी दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष अपने दामाद महादेव शंकर को अपना सगा-सम्बन्धी भी मानने को तैयार नह हैं। इसीलिए उन्होंने शंकर को यज्ञ में निमंत्रित नह किया। लेकिन सती तो बिना बुलाए ही यज्ञ में आ गई। किन्तु यज्ञ में पति महादेव शंकर का भाग न देखकर सभी को भला बुरा कहने लग और दक्ष प्रजापति ने उन्हें. इस अपमानितजन्य कृत्य के लिए कोसा ही नह अपितु अपमानपूर्वक वापस भेजने का निश्चय किया तो विरोध स्वरूप वीरिणी ने कहा :-

करने की बात अपने मन में सोची तो वीरिणी ने कहा कि पत्नी के मान-अपमान में ही पति की आकांक्षा छुपी रहती है और वह स्वयं को बंधा हुआ पाता है जोकि एक स्वाभाविक रीति है इसलिए सती के अपमान से शंकर भी स्वतः अपमानित होंगे और उन्ह. बुरा भी लग सकता है यह सुनकर दक्ष ने कहा :-

व्याख्या :-

हे देवी! आपका स्वभाव बहुत ही कोमल और शुद्ध पवित्र भावारूप हैं बात तो शंकर और पार्वती की चल रही थी और बीच में आपने अपना सन्दर्भ अर्थात् प्रसंग लाकर मेरे मन मस्तिष्क में एक कमजोरी पैदा कर दी है जिसके कारण मैं अब स्वयं को इतना शक्तिहीन पा रहा हूँ कि सती का अपमान नह कर सकता। आपने अपना दृष्टान्त ऐसे दिया जिससे मैं समझ गया कि पार्वती हमारी पुत्री ही नह बल्कि वह शंकर की पत्नी भी हैं चुपके से आपने न जाने कैसे मेरे अन्तर्मन अर्थात् हृदय स्थल में ऐसा भाव पैदा कर दिया है जिसने मुझे सोचने समझने की शक्ति से रहित कर दिया है अर्थात् ज्ञान रहित कर दिया है मुझे ऐसे लगता है जैसे मेरा बुद्धिबल खत्म हो गया हो और अब मुझे कुछ समझ नह आ रहा है

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. भाषा सरल सुबोध।
4. सम्बोधन गीति।
5. तीव्र भावानुभूति।
6. लाक्षणिक कोमल पद्यावली।
7. मानवीकरण।

[30]

स्वामी!
पत्नी की मर्यादा
पति की मर्यादा से होती हैं
और आपके इस आयोजन में
सभी देवताओं के बीच
कह शंकर का स्थान नह ।
सती
अथवा कोई भी नारी
यह कैसे सह सकती है?

शब्दार्थ :-

मर्यादा = आदर, आयोजन = तैयारी, उत्सव

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। पुस्तक एक गीति नाट्य है। रचयिता हैं - दुष्यन्त कुमार जी। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञोत्सव में न तो शंकर को बुलाया और न ही उनके लिए स्थान विशेष निश्चित किया जिसे देखकर पार्वती ने अपना क्रोध प्रकट किया। सती को राज सम्मान देने का आश्वासन भी दिया गया फिर भी वे शान्त न हुईं। इस बात को सुनकर वीरिणी दक्ष प्रजापति से कहती हैं -

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। पुस्तक एक गीति नाट्य है। रचयिता हैं - दुष्यन्त कुमार जी। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञोत्सव में न तो शंकर को बुलाया और न ही उनके लिए स्थान विशेष निश्चित किया जिसे देखकर पार्वती ने अपना क्रोध प्रकट किया। जिस पर क्रोधित होकर दक्ष ने उन्हें यज्ञ मण्डप छोड़कर चले जाने को कहा। वीरिणी जी को अच्छा नहीं लगता और वह सती को रोकने की बात करती हैं उनसे सहमति जताता हुआ तभी एक अनुचर कहता है -

व्याख्या :-

हाँ महाराज! महारानी ठीक कह रही हैं कि सती का यज्ञ में रहना बहुत जरूरी है। मैंने सुना है कि राजसुता सती को जब शिव ने यहाँ यज्ञ में आने से मना किया कि जब हमें निमन्त्रित ही नहीं किया गया तो हमें वहाँ नहीं जाना चाहिए। इस पर राजपुत्री ने शिव से कहा कि आप चिन्ता न करें वह तो मेरा घर है। मेरा क्या मैं तो वहाँ अपने प्रजाजनों के बीच में भी खड़ी होकर दर्शक की भांति यज्ञ समारोह को देख लूंगी। इस प्रकार से मेरी मान मर्यादा पर कोई असर नहीं पड़ेगा। अनुचर दक्ष प्रजापति को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे महाराज लेकिन इसके साथ-साथ सती पार्वती ने यह भी कहा था कि यदि वहाँ पर सर्वोपरि आसन के निकट महादेव का आसन लगा हो तो मुझे बहुत अच्छा लगेगा और मुझे कुछ नहीं चाहिए। इस प्रकार से महादेव शंकर के समक्ष सती पार्वती अपने मन की बात कह रही थीं।

विशेष :-

1. विस्यम बोधक।
2. व त्यानुप्रास।
3. भेदकातिशयोक्ति।
4. आत्माभिव्यक्ति की प्रस्तुति।
5. प्रेमाकाष्ठा।
6. अन्तरमन का विद्युत तरंग प्रवाह।
7. रूपक अलंकार।
8. मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति।

[32]

अपने इस निर्णय पर
फिर सोचें नाथ!
महादेव अपने जामाता हैं
अन्य नहीं।
उनका अपमान स्वयं
आत्म-भर्त्सना ही है।
मैं तो यह कहती हूँ
आप बैर ठानें तीनों लोकों के साथ,
किन्तु शंकर से नहीं।
उनका आक्रोश वहन करने की
क्षमता त्रिलोक में नहीं है नाथ!
वे हैं साक्षात् ब्रह्म महादेव

**किसी यज्ञ अथवा आयोजन में
उसको निमंत्रण तक न जाएगा।
देखूँ, वह मेरा क्या करता है?**

शब्दार्थ :-

दढ़ = पक्का, आयोजन = समारोह, निमंत्रण = बुलावा

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। पुस्तक एक गीति नाट्य है। रचयिता हैं - दुष्यन्त कुमार जी। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञोत्सव में न तो शंकर को बुलाया और न ही उनके लिए स्थान विशेष निश्चित किया जिसे देखकर पार्वती ने अपना क्रोध प्रकट किया। क्रोध में आकर महाराज दक्ष ने सती को यज्ञ मण्डप से बाहर चले जाने को कहा। इसपर वीरिणी जी कहती हैं कि इससे महादेव शंकर का क्रोधित हो जायेंगे। उनके अनुसार महादेव साक्षात् ब्रह्म के अवतार हैं। इस पर दक्ष कहते हैं -

व्याख्या :-

बार-बार शंकर को महादेव कह करके और उसका तेज बतलाकर अर्थात् शंकर परम शक्तिशाली हैं। तीनों लोकों में उनका कोई सामना नहीं कर सकता इस प्रकार की बातों से तुम मुझे डराने का असफल प्रयास कर रही हो। हे वीरिणी तुम मेरी बात को सुनो मेरा पक्का निश्चय है कि मेरे यज्ञ आयोजन में शंकर को कोई भी स्थान नहीं दिया जायेगा। क्रोध में भरकर दक्ष प्रजापति जी कहते हैं कि इसी यज्ञ में भी नहीं युग-युग तक भी जब भी मैं कोई यज्ञ अथवा समारोह सम्पन्न करूंगा तो शंकर को निमन्त्रित नहीं करूंगा। वह कहते हैं कि देखता हूँ शंकर मेरा क्या बिगाड़ लेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि दक्ष महादेव को इतनी हेय दृष्टि से देखते हैं कि पत्नी वीरिणी के समझाने के बावजूद कि शंकर से दुश्मनी मोल लेना किसी भी रूप में हमारे लिए अच्छा नह होगा। फिर भी दुराग्रही दक्ष वीरिणी की एक बात भी नहीं मानते और बार-बार दोहराते हैं कि किसी भी रूप में शंकर को यज्ञ में स्थान नहीं मिलेगा।

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. अनुप्रास अलंकार।
3. तत्सम प्रधान।
4. खड़ी बोली।
5. सूक्ष्मभाव।
6. आकर्षक संवादात्मकता।
7. मनमोहक अभिव्यंजना।
8. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
9. मानवीकरण।

[34]

**देखूँ, वह मेरा क्या करता है?
अपने अतिथियों को आमंत्रित करने की
मुझको स्वतन्त्रता है।
सती अगर चाहे
तो दर्शक की तरह रहे**

कब मैंने सपने में किसी अमर्यादा की छाया छुई है?

शब्दार्थ :-

क्रूर नियति = कठोर भाग्य, श्राप = बददुआ, अवज्ञा = आज्ञा का पालन न कराना,
छाया-छूना = किसी कार्य को थोड़ा भी कार्यरूप देना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियां हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं। पुस्तक एक गीति नाट्य है। इसके रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति जी ने अपने यज्ञ में शंकर को निमंत्रित न किया और सती ने स्वयमेयव आकर पाया कि उनके स्वामी महादेव शंकर का भाग यज्ञ में निश्चित नह हैं ऐसी व्यवस्था को देखकर सती जी क्रोधावेग में आकर अपने तीखे वचना से सब पर प्रहार करने लग। दक्ष के भृत्य सर्वहत् ने जब यह सूचना प्रजापति को दी तो दक्ष ने भी सती को अपमानित करने का विचार किया और यज्ञ स्थल की ओर चले गये दक्ष के जाने के पश्चात् वीरिणी स्वयं से कहने लग -

व्याख्या :-

हे निष्ठुर दुर्भाग्य! मेरे पतिदेव के साथ तूने छल किया है वे तेरे बहकावे में आ गए हैं - ऐसा मुझे जान पड़ता है तभी तो उन्होंने अपनी लाड़ली सती का अपमान करके जामाता शंकर से शत्रुता मोल लेने का विचार किया है, अच्छा नह किया है यह तो दुर्भाग्य की प्रेरणा है हे कठोर भाग्य तू यह बता कि तेरा श्राप हम पर क्या पड़ा अथवा तूने हमें श्राप क्या दिया। मैंने तो धर्म पालन में कभी भी कोताही नह बरती, लापरवाही नह की और शंकर का भी सदैव मैंने आदर सम्मान किया है मैंने तो स्वप्न में भी कभी मर्यादा का उल्लंघन नह किया। फिर मेरे सामने इतनी विकट स्थिति अर्थात् विषम परिस्थिति कैसे आई है? मुझे यह पता नह चल रहा कि मैं इतनी दुःखी क्या हूँ?

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. भाषा सरल एवं व्यवहारिक।
3. भाग्य भावना प्रधान प्रस्तुति।
4. विरोधाभास अंकन।
5. आत्म विश्लेषण।
6. भाव प्रधान।
7. मानवीकरण।
8. मनोवैज्ञानिक भावानुरूप।

[36]

आह !
मैं समझ गई
दुर्दिन जब आते हैं
तो पहले
व्यक्ति का स्वतन्त्र बोध
चिंतन

[37]

यही प्रश्न था
जो
कल से अब तक
मुझे विकल करता रहा,
अपनी सम्पूर्णता सहित अक्षय
मेरे प्रतिरोध के धरातल पर
छाया सा फैलता-उतरता रहा,
नई विधा अंकित कर मेरे विचारा. में
भावबोध में मेरे
..... आकुलाहट भरता रहा;

शब्दार्थ :-

विकल = परेशान, गतिरोध = विरोध, भावबोध = भावा. को जानना, अकुलाहट = परेशानी

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियां हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं। पुस्तक एक गीति नाट्य है। इसके रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति जी ने अपने यज्ञ में शंकर को निमंत्रित न किया। किन्तु पित प्रेम के वशीभूत होकर सती स्वयमेव यज्ञ में आ गई परन्तु यज्ञ की व्यवस्था को देखकर उन्होंने पाया कि उनके स्वामी शंकर का भाग यज्ञ में निश्चित नह हैं ऐसी अव्यवस्था को देखकर सती क्रोधावेग से भरकर अपने तीखे वचना. से अतिथिया. और आतिथेया. पर प्रहार करने लग जब सेवका. ने सती से इस अभद्र व्यवहार का वर्णन दक्ष के समक्ष किया तो दक्ष भी संयम खो बैठे और अपनी लाड़ली सती को अपमानित करने के विचार से यज्ञस्थल की ओर चले गये उनके जाने के पश्चात् दक्ष पत्नी वीरिणी बड़े दुःख के गहरे सागर में खो गई -

व्याख्या :-

वीरिणी आत्मचिंतन की मुद्रा में इस प्रकार लीन हो गई कि उन्हे. ऐसे लगने लगा कि जैसे प्रश्न का वास्तविक स्वरूप उत्तर के साथ सामने आ गया हो। वे विचारमुद्रा में खोई हुई सोच विचार कर रही हैं। वीरिणी मन ही मन कह रही है कि यही एक प्रश्न जो कल से अब तक मुझे बेचैन किए जा रहा था, परन्तु अभी तक समाप्त नह हुआ। मेरे मन में उसी प्रकार की विषम स्थिति बनी हुई है जिससे मैं कुछ भी समझ नह पा रही हूँ। उस प्रश्न का उत्तर भी नह मिल रहा है प्रश्न का विरोध-प्रतिरोध जितना करना चाहा तो यह विकट प्रश्न उतना ही छाया की तरह बढ़ता गया और एक नया रूप लेकर सामने आया। जिसके कारण मैं बहुत परेशान हूँ। आगे वीरिणी जी सोच रही हैं कि इसके वास्तविक रूप का तो अब मुझे पता चला है, कि विनाश काले विपरीत बुद्धि अर्थात् जब विनाश का समय आता है तो महाज्ञानी, प्रकाण्ड पण्डित, विद्वान, विचारशील व्यक्ति भी अपनी बुद्धि विवेक को भी खो बैठता है। इस प्रकार से वह अयोग्य और योग्य कार्य में अन्तर भी समझने में असमर्थ होकर दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। ऐसा ही कुछ इस समय दक्ष प्रजापति तथा उनकी सुता सती पार्वती के समक्ष भी आ खड़ा हुआ है जब वह चाहते हुए भी अपनी बुद्धि और विवेक का प्रयोग नहीं कर पा रहे हैं और क्रोध की वशीभूत होकर जो कृत्य उन्हें नहीं करना चाहिए उसे कार्यरूप दे रहे हैं अर्थात् महायज्ञ जैसे धार्मिक समारोह के दौरान मन में किसी के भी प्रति विद्वेष की भावना नहीं लानी चाहिए अन्यथा ऐसे समारोह सफल नहीं हो पाते।

नह कहा जा सकता। मन में अशुभ घटना की संभावना मानते हुए भी हृदय यह स्वीकार नह कर पा रहा हैं इसलिए वीरिणी विचार करती हैं कि यह सब मेरी कल्पना मात्र एक मन की उपज हैं वास्तविकता के साथ इसका कोई सम्बन्ध नह । यह मेरे मन का भ्रम हैं इसी से मैं व्याकुल हो रही हैं।

विशेष :-

1. भाषा तत्सम प्रधान।
2. मनोवैज्ञानिक तथ्य।
3. दुश्चिन्ता का चित्रण।
4. मनः परिकल्पना।
5. वीप्सा अलंकार।
6. रहस्यात्मक पदावली।
7. दार्शनिकता।
8. विशेषण विपर्यय।
9. संस्कृतमयी भाषा।
10. वायवी शैली।
11. जाग ति स्वप्न प्रस्तुति।

[39]

सब कुछ हो गया अभी पलभर में
महादेवि!
अब तक भी उस पर विश्वास नह होता
जैसे ही महाराज
क्रोधातुर
महादेव शंकर पर रोष व्यक्त करते
यज्ञ मण्डप में घुसे,
तैसे ही अनायास,
भगवती सती के पास
विद्युत सी का.ध गई
भस्म हो गया उसमें
-सुन्दर सर्वांग चन्द्र गौर वर्ण
और दूसरे ही पल
भगवती सती का अधझुलसा शव
सामने पड़ा था।

शब्दार्थ :-

पलभर = देखते ही देखते क्षणभर में, क्रोधातुर = क्रोधवशीभूत,
अनायास = बिना किसी कारण के, स्वयमेव, विद्युत = अग्नि का प्रचण्ड रूप

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं पुस्तक गीति नाट्य है। रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शंकर को निमंत्रित नह किया।

पाकर इतनी अधिक आत्मग्लानि और अपमानित भाववश दुःख से घिर गई और विचारशक्ति क्षीण होते ही सती जी ऐसा भयानक कृत्य कर बैठ जो समय चक्र को ही पलट देता है अर्थात् वह आत्मदाह कर बैठ। भगवती सती के भस्मीभूत होने के बाद वीरिणी से द्वारपाल वहाँ का वीभत्स रूप सुनाता हुआ कहता है -

व्याख्या :-

हे महादेवी ! मुझे तो ऐसे लग रहा था जैसे कि शंकर का नंदी बैल सती के अधजले शव को देखकर क्रोध की अग्नि में इस प्रकार जले जा रहा था कि मानो उसके फड़फड़ाते हुए नथुना. से हजारों झंकारों की आवाज एक साथ निकल रही हो डरावने रूप में उसके नेत्र तो क्रोध के कारण इस प्रकार अग्नि रूप में लाल हो रहे थे डर के मारे मेरी हालत बहुत बुरी हो रही थी हे देवी! आज नंदी का वह रूप नहीं है, जिसे हम प्रायः देखते थे आज उसकी आकृति बड़े भयानक रूप में दिखाई दे रही है ऐसे लग रहा है जैसे विश्व के समस्त ज्वालामुखिया. की अग्नि नंदी बैल के आँख से निकल रही हो इस प्रकार नंदी के रुद्र रूप को देखकर मुझे ऐसे लगा कि जैसे मेरे कई जन्मों की साधना आज पूर्ण हो गई हो

विशेष :-

1. आत्म विवेचनात्मक।
2. मानवीकरण।
3. अनुप्रास अलंकार।
4. रुद्र रूप का अंकन।
5. विस्मय बोधक।
6. भाषा सरल सुबोध।
7. खड़ी बोली।
8. भावाभिव्यक्ति।
9. पुनरुक्ति प्रकाश।
10. काव्य रूप में रुद्ररूप।

[41]

‘औ’ फिर
जिस वेग से गया है वह
यज्ञ छोड़
महादेव शंकर के पास
असंभाव्य ऐसी दुर्घटना की
सूचना देने के लिए
उसकी कल्पना-मात्र
मेरा हर रोम कँपा जाती है;
महादेवी क्या होगा?

शब्दार्थ :-

तत्क्षण = उसी समय, असंभाव्य = न घट सकने वाली घटना।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक ‘एक कण्ठ विषपायी’ से उद्धृत है। यह पुस्तक गीति नाट्य

प्रसंग :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। यह पुस्तक गीति नाट्य रूप में लिखी गई है और इस पुस्तक के रचयिता जोकि नई कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। निम्न पंक्तियों में दुष्यन्त कुमार जी ने यज्ञ मण्डप में हुए घटनाक्रम का वर्णन किया है। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में जब शंकर को निमंत्रित नह किया। किन्तु सती बिना बुलावे के ही यज्ञ में पहुंच गई। यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न पाकर वह इतनी अधिक आत्मग्लानि और अपमानित होकर दुःख से घिर गई कि जैसे बिना सोचे-विचारे आत्मदाह कर बैठ। शंकर के गणों ने अपनी स्वामिनी के सुन्दर रूप को अधञ्जुलसी अवस्था में देखा तो वे अपना आपा खो बैठे और यज्ञ भंग कर दिया। उन्होंने दक्ष प्रजापति की भी हत्या कर दी और उसका पूरा नगर भी उजाड़ दिया। उसी का वर्णन करते हुए विष्णु जी कहते हैं :-

व्याख्या :-

एक समय इस नगर का राजमार्ग लोगों से भरा-भरा रहता था। लोगों की भीड़ ही भीड़ थी, किन्तु आज ऐसा नह हैं यहाँ सब शान्त है, पूरा नगर ही सूना पड़ा हैं सारे राजमार्ग और सारे नगर में आज कोई नह है अर्थात् जहाँ लोगों का कोलाहल होता था वहाँ आज सब ओर शून्य ही शून्य हैं आगे का वर्णन करते हुए विष्णु जी कहते हैं, घर तो ऐसे लग रहे हैं, जैसे किसी ने चिड़िया के पंख नौचकर फेंक दिए हों। नगर की सारी हलचल सब शान्त हो गई है, सारी व्यवस्था समाप्त हो गई हैं नगर के आस पास का पूरा क्षेत्र ही नह सारा वातावरण भी शान्त हो गया हैं सब कुछ टूट फूट गया। सारी स्थिति समाप्त हो गई कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कुछ पल पहले तक चहल-पहल रहती थी, एक शक्तिशाली शासक का हुक्म चलता था वहाँ पर आज एक परिन्दा भी नजर नह आता। इस प्रकार एक विस्मयबोधक भाव में भरे हुए विष्णु जी कहते हैं, इतना सब कुछ विनाश होने पर भी शंकर का क्रोध शान्त नह हुआ अर्थात् अब तो महादेव को प्रतिकार स्वरूप शान्त हो ही जाना चाहिए।

विशेष:-

1. अनुप्रास अंलकार।
2. ध्वनि साम्य।
3. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
4. बोधगम्य एवं सरल कथन।
5. हृदय विदारक चित्रण।
6. मानवीरकण।
7. ओजगुण शब्द प्रधान।
8. प्रतीक योजना।
9. विनाश लीला का अंकन।
10. क्षणभंगुरता की प्रस्तुति।

[43]

आह ! बन्धु विष्णु !

वह प्रसंग मत उठाओ अब,

कल्पना-फलक पर उभर आता है बार-बार

महादेव शंकर का दुर्निवार

पीड़ा से भरा हुआ नीलकण्ठ

2. वीप्सा अलंकार ।
3. स्थिति आंकलन ।
4. ओजगुण प्रधान ।
5. संयुक्त व्यंजनायुक्त ।
6. संस्कृतनिष्ठ भाषा ।
7. प्रभावशाली वर्णन ।
8. मानवीकरण ।
9. विनाश लीला का अंकन ।
10. क्षणभंगुरता की प्रस्तुति ।

[44]

और

जिसमें सती ने

अपने पति महादेव शंकर की अनुपस्थिति

जानकर अहैतुक अपमान

अपराधी दक्ष को बताया था

पति की अवहेलना अवज्ञा का

.... जिसमें

नारी का पातिव्रत्य

सहन नह कर सका उपेक्षा उस शिव की

जो सार्वभौम

जगती में महासत्य,

सारे ब्रह्माण्डा. में सर्वोपरि

स्वयं पूर्ण !

शब्दार्थ :-

अहैतुक = बिना कारण, अवहेलना = अपमान, स्वयं पूर्ण = अपने आप में पूरा होना,
सार्वभौम = सारी धरती से सम्बन्धित सारे संसार में

प्रसंग :-

प्रस्तुत पद्यांश की पंक्तियाँ हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत हैं इस पुस्तक को श्री दुष्यन्त कुमार जी ने गीति नाट्य रूप में लिखा है यहाँ उन्होंने उस समय का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती ने पाया कि उनका व उनके ह दयेश्वर महादेव शंकर का अपमान हुआ है यह अपमान उनसे सहा न गया। वह स्वयं को अत्यधिक अपमानित अनुभव करने लग कि बिना सोचे-विचारे आत्मदाह कर बैठ। शंकर के गणों ने जब देखा कि उनकी स्वामिनी का सुन्दर रूप अधझुलसी लाश बन गया है तो वे अपना आपा खो बैठे और उन्होंने दक्ष प्रजापति की भी हत्या कर दी और उसका पूरा नगर उजाड़ दिया। उसी विनाश की चर्चा करते हुए विष्णु जी ब्रह्मा को बताते हैं -

व्याख्या :-

दक्ष के यज्ञ में सती ने अपने पति शंकर की अनुपस्थिति को बिना कारण ही अपना अपमान समझा और जिसे हम भगवान शंकर कहते हैं। उन्होंने इस अपराध के लिए अपराधी अपने ससुर, अर्थात् अपनी पत्नी के पिता दक्ष प्रजापति को दण्ड देकर यह बता दिया है कि मेरी पत्नी की मान

व्याख्या :-

उस यज्ञ में अपने पिता द्वारा बोले गए कुटिल अर्थात् अप्रिय वाक्या. के पाप से छुटकारा पाने के लिए सती ने अपने प्राणा. की आहुति दे दी अर्थात् स्वयं को दक्ष प्रजापति की यज्ञाग्नि में भस्म कर दिया। क्या.कि सती की मनोवृत्ति पिता के कर्कस पापमयी आवाज से डांवा डोल हो गई थ दक्ष के वाक्य वास्तव में बहुत अप्रिय थे विष्णु जी कहते हैं कि दक्ष प्रजापति को अपनी पुत्री के साथ कठोरतापूर्वक व्यवहार नह करना चाहिए था। आखिर आहतमना सती ने सहजयोग धारण किया तथा प्रयत्न पूर्वक प्राण तथा अपानवायु के समान स्वयं को वायु में परिवर्तित कर लिया और उदान वायु को ऊपर उठा दिया। इस प्रकार स्वयं के अलौकिक रूप को भस्मीभूत कर लिया। अर्थात् सती ने योग साधना द्वारा स्वयं को अग्निकुण्ड में समाहित कर लिया।

विशेष :-

1. आध्यात्मिक पुट।
2. अनुप्रास लंकार।
3. मानवीकरण।
4. संस्कृत निष्ठ शब्द।
5. सरल सुबोध।
6. योग का चित्रण।
7. तत्सम प्रधान।
8. खड़ी बोली।
9. स्वाभावोक्ति।
10. प्रतीक योजना।

[46]

हौं प्रभु,
 वह दुखद द श्य।
 उससे भी दुखद पुनः
 शिव अनुचर गर्णों और भ त्या. का
 अनाधिकार रक्तपात
 क्षीर-सिन्धुवासी इन पारब्रह्म प्रभु पर भी
 वीरभद्र का प्रहार
 'औ' मुझ पर नन्दी का बार-बार
 दुर्निवार अस्त्रा. से संघातक लक्ष्य
 हौं प्रभु,
 वह दुःखद द श्य
 भूल नह पाता हूँ

शब्दार्थ :-

प्रहार = मारना, संघातक = संहार करने की भावना से प्रहार करना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। इस पुस्तक को श्री दुष्यन्त कुमार जी ने गीति नाट्य रूप में लिखा है यहाँ उन्होंने उस समय का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती ने पाया कि उनका व उनके ह दयेश्वर महादेव शंकर का अपमान हुआ है। यह अपमान उनसे सहा न गया। वह स्वयं को अत्याधिक अपमानित अनुभव किया और बिना

अपमानित होकर दुःख से घिर गई कि स्वयं को अग्निदेव के हवाले कर बैठ । क्रोधित हुए शंकर के गणों ने यज्ञ भंग कर दक्ष को मारकर पूरा नगर उजाड़ दिया। इस भयंकर विनाश की चर्चा करते हुए वरुण जी जो स्वयं उस प्रलयकारी रक्त-पात के दृष्टा थे वह भी इन्द्र की बात का समर्थन करते हुए कहते हैं —

व्याख्या :-

हे देवराज इन्द्र ! मैंने तो स्वयं ही महादेव शंकर के गणों को देवा. का रक्तपान करते हुए देखा। वरुण जी कहते हैं कि मैं उस अप्रिय दृश्य को कैसे भूल सकता हूँ जब मेरी ही आँखा. के सामने शिव का भैरवी नामक एक गण बड़ी वीभत्सा के साथ रक्तपान किए जा रहा था। हे देव वह क्षण वास्तव में भैरवी भूत प्रेत के असुर प्रवृत्तियों का दास बना हुआ था। सती के भस्मीभूत हो जाने के कारण शंकर के गण अपना मानसिक संतुलन खो बैठे और वे जन-जन के साथ देवताओं का भी मर्दन करने लग. मैं स्वयं मरते-मरते बचा जब वीरमुण्ड ने मुझ पर आगे बढ़कर आक्रमण किया। वहाँ का दृश्य वास्तव में ही बड़ा डरावना था जिस पर शंकर के गण खुले रूप में अपना ताण्डव का रूप दिखा रहे थे वरुण के दृष्टिकोण में शंकर के गणों द्वारा दक्ष यज्ञ मण्डप में इस प्रकार का अपना रुद्ररूप प्रकट नह करना चाहिए था।

विशेष :-

1. मानवी करण।
2. भक्त्या. का रौद्ररूप।
3. वीप्सा अलंकार।
4. स्वाभावोक्ति।
5. पुनरुक्ति प्रकाश।
6. भाषासहज, सरल।
7. भाव प्रधान।
8. अभिव्यंजना।
9. गूढोत्तर।
10. लाक्षणिक।
11. विशेषोक्ति।
12. छन्दमुक्त।

[48]

प्रभु,

मैंने चाहा था -

महादेव शंकर के

मदोन्मत्त भक्त्या. को समझा दूँ!

मैंने कहा था बन्धुभाव से

कि "मित्रो !

भगवती सती का यह देहत्याग

महादेव शंकर के

अथवा तुम्हारे परिताप तक नह सीमित,

यह तो त्रैलोक्य ताप है,

कण-कण पर उतरा है,

[49]

इस पर वे असुर-व ति
वेदी पर टूट पड़े
व्योव द्ध आंगिरस,
कृशाश्वमुनि,
दोना. के शीश पर
प्रहार किया पाँवा. से दुष्टा. ने भ गु जी की
दाढ़ी को नोच लिया
यज्ञ किया खण्डित
कर रक्तपात,
निर्जन कर दिया नगर।

शब्दार्थ :-

असुर-व ति = राक्षसीव ति, व्योव द्ध = अतिव द्ध, खण्डित = टुकड़े-टुकड़े

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। पुस्तक गीति नाट्य है। पुस्तक के रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शंकर को निमंत्रित नह किया। लेकिन सती बिना बुलाये ही यज्ञ में पहुंच गई सती यज्ञ में चली गई परन्तु वहाँ अपने पति शंकर का भाग न पाकर वे स्वयं को अपमानित महसूस करते हुए दुःख से घिर गईं। उन्होंने बिना सोचे-विचारे आत्मदाह कर लिया। यह विभत्स द श्य देखकर क्रोधित हुए शंकर के गणों ने यज्ञ भंग कर दक्ष का वध कर दिया। प्रजापति का नगर उजाड़ दिया। वरुण जी स्वयं उस प्रलयकारी रक्त पात के दृष्टा थे वे इस भयंकर विनाश की चर्चा करते हैं। इन्द्र भी इसी प्रकार से उस अप्रिय रक्तपात द श्य को रोकने की भावना से कहते हैं -

व्याख्या :-

हे वरुण! जैसे ही मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की और अपने मन की बात कही तब भी शिव गणों में किसी प्रकार का हृदय परिवर्तन नह हुआ। अर्थात् परिस्थिति को समझने की आकांक्षा से रहित होकर वे उल्टा अपना मानसिक विवेक खो बैठ. पागला. की भांति अर्थात् वैसे ही असुर प्रव ति से यज्ञ वेदी पर टूट पड़े और हैवानियत की सीमा लांघते हुए व द्ध संन्यासी, ऋषि, अंगीरस और कृशमुनि के सिर पर अपने-अपने पाँवा. से प्रहार किया। उन नीच दुष्ट प्रकृति गणों ने क्रोधाग्नि में पड़कर ऋषि भ गु को भी न छोड़ा उनकी दाढ़ी को नोच लिया और उनका घोर अपमान किया। यज्ञ वेदी के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और इस प्रकार का रक्त पात किया कि सारा नगर ही जन विहीन हो गया और अब तो कोई भी इन्सान आस-पास दिखाई नह देता। कहने का तात्पर्य यह है कि दुष्ट, पापी व्यक्ति के सामने चाहे कितना भी विद्वान, ज्ञानी, साधु-संन्यासी क्या. न आ जाये वह उसके साथ भी वही व्यवहार करता है जो कि उसने सीखा है अर्थात् दुष्ट का काम ही नीच कार्य करना दूसरा. का अपमान करना है तो वह अपनी प्रकृति को नह बदल सकता उसके लिए तो सभी एक जैसे ही हैं जैसा कि महादेव के गणों ने संन्यासीया. तथा ऋषिया. के साथ दक्ष प्रजापति के यज्ञ भंग के समय किया था।

विशेष :-

1. विभत्सरस द श्य।
2. यद्ध विभीषिका का चित्रण।

शंकर के गणों ने जो कृत्य किए उससे हम सभी बहुत आहत हैं अब सिवाय सनाटापन के कुछ नह बचा।

विशेष :-

1. भाषा-सरल।
2. उद्वेगभाव।
3. युद्धविभीषिका रूप/द श्य।
4. भावाभिव्यक्ति।
5. मानवीकरण।
6. व त्यानुप्रास।
7. पुनरुक्ति प्रकाश।
8. वर्णानात्मक प्रधान।
9. तत्सम प्रधान।
10. खड़ी बोली।
11. मार्मिक वर्णन।

[51]

कौन कहता है -
 यहाँ कुछ भी नह है शेष।
 यहाँ शेष ही तो है सब कुछ
 देखो
 सारे नगर में ताजा
 जमा हुआ रक्त है
 और सड़ी हुई लारों हैं
 मुड़ी हुई हड्डियां हैं
 क्षत विक्षत तन हैं
 और उन पर भिन्नाते हुए
 चीलों और गिद्धों के झुण्ड
 और मक्खियां हैं।

शब्दार्थ :-

क्षत-विक्षत = खून से लथपथ

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। पुस्तक गीति नाट्य है। रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शंकर को निमंत्रित न किया तो सती स्वयमेव यज्ञ में आई और अपने पति का भाग यज्ञ में न पाकर बहुत अधिक आत्मग्लानि से घिर गई कि आत्मदाह कर बैठ। क्रोधित हुए शंकर के गणों ने यज्ञ भंग कर पूरा नगर उजाड़ दिया। नगर की दुर्दशा पर मरने से बचा दक्ष का आहत सेवक सर्वहत्त (ब्रह्मा और विष्णु जी की ओर निहारते हुए) कहने लगा —

व्याख्या :-

आप सब लोग यह क्यों कह रहे हैं कि यहां कुछ भी नह बचा है किन्तु सच तो यह है कि आप सबका कहना गलत है कि यहाँ कुछ भी नह। युद्ध में हुए महाविनाश के कारण सर्वहत्त की स्थिति

यज्ञ में न पाकर इतनी अधिक आत्मग्लानि से घिर गई कि आत्मदाह जैसा अनुचित कृत्य कर बैठ। सती के आत्मदाह से क्रोधित हुए शंकर के गणों ने यज्ञ भंग कर पूरा नगर उजाड़ दिया। नगर की दुर्दशा पर मरने से बचा दक्ष सेवक सर्वहत्त (ब्रह्मा और विष्णु जी की ओर निहारते हुए) कहने लगा :-

व्याख्या :-

देखो तो यहाँ सब कुछ तो है देखो ये महल, ये भी देखो इस महल का ऊपरी सिरा, महल का कलश और विशेष रूप से बनाए गए अतिथि, मेहमानों का महल और तो और राजमार्ग भी हैं यहाँ से राज पुरुष आते और जाते थे ये सब चीजें हैं। सर्वहत्त कहता है कि क्या हुआ यदि यहाँ के रहने वाले लोग नह हैं। वह कहता है कि लोगों के होने या न होने अर्थात् लोगों के रहने अथवा न रहने से क्या किसी स्थान आदि की महत्ता कम हो जाती है? सर्वहत्त के कहने का भाव है कि महा विनाशकारी युद्ध ने नगर को तो निर्जन यानि मानव रहित बना दिया लेकिन स्थान (नगर) की महत्ता तो उसके स्वरूप में ही हैं जोकि अभी भी विद्यमान हैं उसके अनुसार लोगों के होने न होने से कोई अन्तर नह पड़ता। पहले जहाँ राजा या उसकी प्रजा रहती थी वह आज ये महल और चौबारे विद्यमान हैं। देखो-देखो सारा का सारा नगर ही तो आपके सामने दिखाई दे रहा है।

विशेष :-

1. छायावाद।
2. प्रतीकात्मक शैली।
3. प्रयोग दृष्टव्य।
4. हीनत्व की भावना।
5. कृतघ्नता के प्रति आक्रोश।
6. भावाभिव्यक्ति।
7. तत्सम प्रधान।
8. तीखे व्यंग्य।
9. सुवास उक्ति।
10. मानवीकरण।
11. आत्मिक अभिव्यक्ति।
12. वीप्सा अलंकार।

[53]

मैं समझ गया
 यज्ञ के लिए ही आए होंगे ...
 निश्चय ही
 बहुत बड़ा
 बहुत बड़ा यज्ञ हो चुका है यहाँ
 बहुत बड़ी आहुतियाँ
 उसमें हुई हैं।
 पर तुमको आने में थोड़ा विलम्ब हो गया।

शब्दार्थ :-

निश्चय = सचमुच/पक्का/सच, विलम्ब = देर

**और सब कुछ हूँ।
पर तुम क्या. पूछ रहे हो यह प्रश्न
मैंने तो तुमसे कुछ भी नह पूछा
माथा उठाकर तुम्हें अब तक
निहारा भी नह एक बार।**

शब्दार्थ :-

सबकुछ = सर्वाधिकार प्राप्त, निहारना = देखना

प्रसंग :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है यह पुस्तक गीति नाट्य है। इसके रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी नई कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन पक्तिया. में लेखक ने उस समय का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति द्वारा अपमानित सती ने आत्मदाह कर लिया था और उनके बिछोह के कारण क्रोधित हुए शंकर के गर्णों ने यज्ञ भंग कर पूरा नगर उजाड़ दिया। उस भयानक मंजर में अकेला बचा दक्ष भ त्य सर्वहत्त इतना आहत ओर दुःखी है कि उसकी उसकी अवस्था एक विक्षिप्तावस्था वाले जैसे व्यक्ति की हो गई है और उसी रूप में वह विष्णु जी ब्रह्मा एवं विष्णु जी से कहता है -

व्याख्या :-

अरे हॉ! यह तो आपने मुझसे पूछा ही नह कि मैं कौन हूँ? फिर माथा ठोकते हुए कहता है कि लगता है शायद मैं यहाँ का राजा हूँ। थोड़ा रुककर कहता है शायद मैं शासन का एक प्रतिनिधि हूँ। विस्मय से भर कर कहता है, लगता है कि जैसे मैं राज्य की प्रजा हूँ और फिर तुरन्त ही कहता है कि जैसे मैं कुछ भी नह हूँ और बाद में तनिक सोचने विचारने पर वह कहता है कि मैं तो सब कुछ हूँ। आप सब मुझे ही सब कुछ समझिए। लेकिन तुम लोग मुझसे यह सब क्या. पूँछ रहे हो न मैंने तुमसे कुछ पूँछा और रुक कर स्वयं से कहता है कि गजब है कि अभी तक मैंने आँख खोलकर आप सभी को देखा भी नह। एक बार भी बार नह देखा। सर्वहत्त का इस प्रकार का वार्ताशैली दिखाती है कि वह राज प्रासाद का एक सभ्य भ त्य था जिसको उस वीभत्स काल को तांडव करते देखा और विधि के विधान को स्वीकार न कर मूर्च्छित अवस्था तक जा पहुँचा और देवताओं को भी न पहचान सका।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. व्यावहारिक खड़ी बोली।
3. सरल सुबोध शैली।
4. मानवीकरण।
5. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
6. भाषा की स्वाभाविकता।
7. छायावाद की भावाभिव्यक्ति।
8. विक्षिप्तता का अंकन।
9. मानसिक क्लेश का मंचन।
10. स्वप्नाकार।
11. बिम्ब विधान।
12. सजीवता।
- 13.. छंद मुक्त।

विशेष :-

1. अन्तर्मन की वेदना का सफल मंचन।
2. तत्सम प्रधान।
3. मानवीकरण।
4. विशेषोक्ति।
5. अनुप्रास की छटा।
6. आन्तरिक विक्षोभ।
7. विधान की नियोजना।
8. अवसाद भावना की व्यक्ति।
9. हृदय की विहलता।
10. विरोधाभास।
11. पुनरुक्ति प्रकाश।

[56]

**संभवतः इस रक्तपात के रहे हो साक्ष्य
क्या तुमने
महादेव शंकर
और देवा. और दक्ष की सेना का
घमासान युद्ध स्वयं देखा है?**

शब्दार्थ :-

रक्तपात = खून खराबा, साक्ष्य = गवाह

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है। पुस्तक गीति नाट्य है। इसके रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। इस पद्यांश में लेखक ने उस समय का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति द्वारा अपमानित सती ने आत्मदाह कर लिया था और उनके बिछोह के कारण क्रोधित हुए शंकर के गणों ने यज्ञ भंग कर दिया। दक्ष का वध कर दिया और पूरा नगर उजाड़ दिया। किन्तु उस भयानक मंजर में एक व्यक्ति बच गया और वह था दक्ष का भ्राता सर्वहत्त। सर्वहत्त का मानसिक संतुलन बहुत ही खराब था। वह बहकी-बहकी बात कर रहा था। जिन्हें सुनकर ब्रह्मा जी कहने लगे -

व्याख्या :-

हे दक्ष प्रजापति के भ्राता सर्वहत्त! मुझे ऐसा लगता है कि जैसे इस महाविनाशकारी खून-खराबे के तुम साक्षी रहे हो। तुमने अपनी आँखा से वह महाप्रलयकारी युद्ध देखा है। आगे सर्वहत्त को सम्बोधित करते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं कि जब शंकर के गणों और देवा व दक्ष प्रजापति की सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ तुमने वह युद्ध देखा है क्या? वह यज्ञ मण्डप जब युद्ध क्षेत्र में बदल गया तो वहाँ पर क्या-क्या विध्वंस हुआ। किन्तु सर्वहत्त तो बुरी तरह से घबराया हुआ था उसके मुख से शब्द ही नहीं निकल रहे थे। अन्ततः ब्रह्मा जी स्वयं इस बात का अनुमान लगाते हैं कि जब सारा नगर जन शून्य हो चुका है। यह व्यक्ति भी जिस प्रकार से अपने हृदयोद्गार प्रकट कर रहा है ऐसा व्यवहार वही व्यक्ति पैदा कर सकता है जो कि महाविनाशकारी ताण्डव युद्ध को देख चुका हो। ब्रह्मा जी के कहने का अर्थ है कि महादेव शंकर की गण सेना और दक्ष सेना के बीच जो युद्ध हुआ वह इतना विध्वंसकारी था कि जो भी उसे देख लेता उसका भी सर्वहत्त जैसा हाल

व्याख्या :-

युद्ध? क्या युद्ध हुआ है और खून खराबा हुआ है आप क्या कह रहे हैं कि दक्ष प्रजापति और देवताओं की सेना के साथ महादेव शंकर की सेनाएं आपस में लड़ें? मुझे तो ऐसा कुछ याद न आ रहा और न मैंने वैसा कुछ देखा जैसा कि मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम कह रहे हो फिर सर्वहत्त कहता है कि मेरे आने से पहले ही इस महा दुःखकारी अप्रिय नाटक का अन्त हो चुका था। वह कहता है कि जब मैंने देखा तो मुझे कोई दिखाई नह दिया इसलिए मुझे तो ऐसे मालूम पड़ता है कि जैसे इस दुःखान्त नाटक के सारे अभिनेता चले जा चुके थे भूत सर्वहत्त का कहना है कि हम लोगों को ऐसे दुःखान्त नाटका. में भला कौन भाग लेने देगा। कहने का भाव है यदि उसे भी मौका मिलता तो वह भी नाटक का एक अंग बनता। सर्वहत्त की हालत इतनी विकिप्त है कि उसे यज्ञ भंग के दौरान जो लड़ाई हुई, शिव के गणों ने जो यज्ञ प्रेमीया., ऋषिया., संन्यासीया., देवो आदि का जो अपमान किया, उनके साथ मार-पीट की, उनके साथ अभद्र व्यवहार किया और उन्हें प्राण हानि के प्रयोजन से उन पर भयंकर प्रहार किये वह सब सर्वहत्त को एक तरह से नाटक लगता है उसे लगता है कि महादेव के गणों ने जो कृत्य किया वह केवल नाटक मात्र था इसलिए वह भी अपने मन की बात को कहता है कि यदि मैं उस समय होता तो उस नाटक में अवश्य ही भाग लेता अर्थात् सर्वहत्त भी नाटक का हिस्सा अवश्य बनता। लेकिन भाग्य की विडम्बना यह है कि जिस समय इस कृत्य को कार्यरूप दिया जा रहा था उस समय सर्वहत्त के अनुसार वह वहाँ पर उपस्थित नह था।

विशेष :-

1. वीप्सा अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. खड़ी बोली।
4. मनोविज्ञान।
5. विखरा व्यक्तित्व का मंचन।
6. सरल सुबोध।
7. देवशक्ति का संकेत।
8. व्यावहारिक।
9. नैसर्गिक सत्य।
10. संस्कृत गर्भित भाषा।

[58]

मैं तो केवल
निर्देशक की इच्छाआ. का अनुचर था
मात्र भूत!
मैं यह नाटक क्या. देखता भला?
मुझसे
यह हमसे
यह आशा कब की जाती है
कि हम नाटक देख.
उसमें भाग ल.

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियां हमारी पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से ली गई हैं। यह पुस्तक गीति नाट्य है जिसके रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दुष्यन्त कुमार जी नई कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन पंक्तियां में उस समय का वर्णन है जब दक्ष प्रजापति ने यज्ञ का आयोजन किया किन्तु अपने जामाता शंकर को निमंत्रित नहें किया। दक्ष सुता सती यज्ञ में आई और अपमानित हो आत्मदाह कर लिया। क्रोधित हुए शंकर के गणों ने दक्ष का वध कर दिया और यज्ञ भंग कर पूरा नगर उजाड़ दिया। विष्णु जी दक्ष प्रजापति के भक्त्य सर्वहत्त से उसकी विषाद पूर्ण मनोदशा पर प्रश्न रूप में कहते हैं -

व्याख्या :-

हे जन! अर्थात् विष्णु जी को सर्वहत्त का नाम ही नहें मालूम वे तो उसे अनमने मन से एक सामान्य जन की भांति देखते हैं। जोकि किसी प्रकार से युद्ध में बचा रहा गया एक मात्र दर्शक - अतः उसे इसी रूप में सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं और पूछ रहे हैं कि - जैसा कि तुम कहते हो कि तुम इस नाटक में कुछ भी नहें थे अर्थात् तुम ने उस महाविनाशकारी अप्रिय दुःखदायी देवत्व एवं दक्ष और महायोगी शंकर के बीच हुए युद्ध में कुछ न किया। न देखा, न ही उसमें शामिल हुए तो मैं तुमसे यह जानना चाहता हूँ कि जब तुम्हारा उस युद्ध से कुछ लेना देना ही नहें तो तुम किसलिए इस पीड़ा को सहन कर रहे हो, सहें जा रहे हो अथवा जिस युद्ध से तुम्हारा कोई मतलब नहें उसकी प्रतिष्ठाया अर्थात् प्रभाव से तुम क्या. दुःखी हो रहे हो विष्णु जी सर्वहत्त के बहुत बार कहने के बाद भी यह मानने को सहज तैयार नहें कि सर्वहत्त से युद्ध का कोई सम्बन्ध नहें हो क्या.कि किसी भी स्थिति, परिस्थिति और व्यक्ति के दुःख सुख से सम्बन्धी या निकट जन ही प्रभावित होते रहे हैं, होते हैं।

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. रूपक अंलकार।
3. मनोवैज्ञानिक सत्य।
4. मानवीकरण।
5. तत्सम प्रधान।
6. खड़ी बोली।
7. भावानुभूति।
8. परदुःखकातरता।
9. वर्णनात्मक शैली।
10. काव्यात्मक चारुता।

[60]

क्या.कि यह
विधाता के नियमा. की विडम्बना है
चाहे न चाहे
किंतु
शासक की भूला. का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है,
उसे गलित मूल्या. का दण्ड भरना पड़ता है

मेरे भी तन पर व्रण छोड़ दिए ये देखो

शब्दार्थ :-

व्रण = बाण, तन = शरीर

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से उद्धृत है पुस्तक एक गीति नाट्य विधा है। इसके रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति जी ने जब अपने यज्ञ में शंकर को निमंत्रित नह किया तो सती स्वयंमेव आकर स्वयं को इतना अपमानित महसूस किया कि उन्हें आत्मदाह करना पड़ा जिसकी सूचना पाकर शंकर व उनके गणों ने इतना वीभत्स रक्तपात किया कि नगर ही जनशून्य हो गया। उस समय जब ब्रह्मा जी आए तब वहाँ पर दक्ष भ त्प सर्वहत्त ही मिला जो कि इस विडम्बना पूर्ण त्रासदी को देखकर स्वयं को संभाल न सका तो उसकी स्थिति एक विक्षिप्त जैसी हो गई उसी अवस्था में जब ब्रह्मा जी उससे पूछते हैं कि क्या उसके पास रोटी है? तब सर्वहत्त ब्रह्मा जी से कहता है :-

व्याख्या :-

सर्वहत्त इस समय भूख से तड़प रहा है। ब्रह्मा जी से रोटी के लिए पूछते हुए अपनी बीती कहता है कि सत्य यह है कि उस समय जब कि मैं नगर द्वार में एक किनारे छुपा हुआ था और मैं स्वयं को सुरक्षित महसूस कर रहा था तभी वहाँ नगर के दक्षिण दिशा में गुफा में लुके छिपे शिव के गणों ने जाते जाते मुझे भी पकड़ लिया और उन्होंने अपने व्रण मुझपर भी छोड़ दिए और उन लोगों ने मेरी क्या दुर्दशा की है वह प्रमाण के रूप में अपने घावा. को जो कि उनके प्रहारा. से लगे थे ब्रह्मा जी को दिखाता है। उस भयंकर स्थिति में पड़कर सर्वहत्त ने स्वयं की जान कैसे बचाई और किस तरह वह जीवित बचा है, उसके बारे में ब्रह्मा जी से बताते हुए सर्वहत्त स्वयं को बड़ी ही असहायवस्था में पाता है और अपनी दीन हीन स्थिति के बाद वह ब्रह्मा जी को एक याचक की भांति निहारता है जिसे यदि अन्न का एक ग्रास भी मिल जाए तो जीवन की आशा बलवती हो जाए। इस प्रकार से सर्वहत्त की विक्षिप्तावस्था का वर्णन रचनाकार की चातुर्य को प्रकट करता है।

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. रूपक अंलकार।
3. मनोवैज्ञानिक सत्य।
4. मानवीकरण।
5. तत्सम प्रधान।
6. खड़ी बोली।
7. भावानुभूति सुन्दर।
8. परदुःखकातरता।
9. वर्णनात्मक शैली।
10. काव्यात्मक चारुता।

[62]

और मैं अचेत हो गया था
..... किंतु मैं बुभुक्षित भी था
इसीलिए आँख जब खुली

11. परिकल्पना का अंकन।

[63]

वह भी नह !
 वह भी नह !!
 फिर तुम क्या. आए हो?
 बोलो क्या. आए हो?
 जमे हुए रक्त पर
 अपनी संवेदना का अम त छिड़कने?
 या केवल द श्य परिवर्तन के लिए?
 उत्तर दो

शब्दार्थ :-

अम त = एक ऐसा पदार्थ जो अमरता देता है, परिवर्तन = बदलाव

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश की पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, जिन्होंने साहित्य जगत को अपनी कई अनमोल रचनाएं दी हैं। दक्ष प्रजापति ने अप्रसन्नता के कारण अपने यज्ञ में अपने दामाद शंकर को बुलाना उचित नह समझा किन्तु पित प्रेम के कारण दक्ष सुता सती स्वयं यज्ञ में आई और अपमानित हुई जिसके कारण वे अग्निभ.ट हो गईं उनके इस कृत्य का समाचार पाकर शिव और उनके गणों ने नगर में आकर अन्य देवताओं के साथ घमासान युद्ध किया और ऐसा रक्तपात मचाया कि कोई न बचा। उस समय जब ब्रह्मा और विष्णु जी आए तब वहाँ दक्ष भ त्य सर्वहत्त को अचेतावस्था में पाकर - रोटी के लिए पूछते हैं तब वह अपने घावा. को दिखाता हुआ ब्रह्मा जी से ही रोटी की याचना करता है तो ब्रह्मा जी अपना सिर नकारात्मक भाव में हिलाते हैं तब सर्वहत्त कहता है :-

व्याख्या :-

यदि आप रोटी नह दे सकते हो कम से कम मदिरा का एक घूंट ही दे दो और ब्रह्म जी फिर नकारात्मक भाव में अपना सिर हिलाते हैं। कहने का भाव है कि ब्रह्मा जी कह रहे हैं कि मेरे पास कुछ भी नह हैं न ही खाने की वस्तु, न पीने के लिए मदिरा। इसलिए वह शान्त रूप में 'न' के लिए सिर हिलाकर नकार देते हैं। तब दक्ष भ त्य सर्वहत्त उनसे कहता है कि रोटी भी नह , मदिरा भी नह है तब वह आवेग में आकर ब्रह्मा जी से कहता है कि जब तुम्हारे पास कुछ है ही नह तब तुम यहाँ क्या. आए हो वह बार-बार विक्षुब्धता और भूखाग्नि में तड़पता हुआ कहता है कि जो लोग मारे जा चुके हैं जिनके रक्त से सना हुआ यह नगर है और जगह-जगह रक्त जम गया है उन पर दिखावटी रूप से अपनी शुष्क संवेदना प्रकट करने आए हो क्या या दिखावे के लिए नाममात्र द श्यपरिवर्तन के लिए आए हो कि जहाँ पहले भयंकर रक्तपात हो रहा था वहाँ अब केवल व्यक्ति खड़ा हैं यह द श्यपरिवर्तन नह तो और क्या हैं बोलो कुछ कहते क्या. नह - सर्वहत्त गुस्से से अपनी भावना व्यक्त करता है और ब्रह्मा जी चुप-चाप सर्वहत्त की बात सुनते रह जाते हैं।

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. अनुप्रास अलंकार।
3. तत्सम प्रधान।

में भी भूखा हूँ और तुम सब भी भूखे हो ऐसे लगता है कि तुम सब भी यहाँ रोटी की तलाश में ही घूम रहे थे और जब कह कुछ रोटी या मदिरा तुम्हें नह मिली तो यहाँ आए हो सर्वहत्त कहता है कि मुझे ऐसे मालूम होता है कि जैसे तुम सब भी भूखे प्यासे हो और तुम्हें खाने पीने की चीजा. की तलाश है वह फिर कहता है कि अरे ! मैं भी तो भूखा हूँ। वह व्यंग्य रूप में अपनी विशेष भाव भंगिमा से वह कहता है कि कमाल है - हम सब भूखे हैं। हम सब ही नह बल्कि यहाँ तो सारी दुनियाँ ही भूखी है आगे वह कहता है कि संसार में सब लोग भूख से त्रस्त हैं कोई भी ऐसा नह जो कि क्षुधा से अत प्त न हो, अर्थात् भूखा न हो यह कहकर वह एक व्यंगात्मक हंसी हंसता हैं

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. अनुप्रास अलंकार।
3. तत्सम प्रधान।
4. खड़ी बोली।
5. सूक्ष्मभाव।
6. आकर्षक संवादात्मकता।
7. मनमोहक अभिव्यंजना।
8. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
9. मानवीकरण।
10. अन्तर्मन की वेदनाभिव्यक्ति।
11. छन्दमुक्त।

[65]

खाओ खूब खाओ
 यहाँ सब कुछ है
 सब कुछ है ... !
 देखो ये महल हैं
 कंगूर हैं
 कलश हैं;
 अतिथि भवन हैं
 राजमार्ग हैं?
 इन सबको खा लो
 इन सबसे भूख मिट जाती है
 इन कलश - कंगूरा. को खाकर ही
 मेरी
 और तुम्हारी
 और हम सबकी
 क्षुधा शान्त होगी
 वरना ...
 भूखे रह जाओगे
 हाँ

[66]

नह वरुण,
 यह तो युद्धोपरान्त उग आई
 संस्कृति के हास मान मूल्या. का
 एक स्तूप है - भग्नप्राय
 पथ हारा
 हिंसां नह है इसमें
 भय है आशंका हैं

शब्दार्थ :-

युद्धोपरान्त = युद्ध के बाद, हास = कम होना, भग्नप्राय: = लगभग टूटा हुआ

प्रसंग :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, जिन्होंने साहित्य जगत में कई अनमोल रचनाएं दी हैं। दक्ष प्रजापति ने अप्रसन्नता के कारण अपने यज्ञ में अपने दामाद शंकर को बुलाना उचित नह समझा किन्तु पित प्रेम के कारण दक्ष सुता सती स्वयं यज्ञ में आई और अपमानित हुई जिसके कारण वह अग्निभ.ट चढ़ गई उनके इस कृत्य का समाचार पाकर शिव और उनके गणों ने नगर में आकर जो उत्पात मचाया उससे नगर में ऐसा सन्नाटा छाया कि नगर जन शून्य हो गया। वहाँ जब ब्रह्मा, विष्णु आदि वरुण देवगण आए तो दक्ष भ त्प्य सर्वहत् की मानसिकविक्षिप्तावस्था देखकर हैरान रह गए और जब वरुण जी ने विष्णु जी से कहा कि इस विस्मयकारी स्थिति के लिए महादेव शिव और उसके गण जिम्मेदार हैं और यह सब उनके कृत्या. की मुंहबोलती तरवीर, है उसी का जीवन्त प्रतिरूप हैं तब विष्णु जी कहते हैं -

व्याख्या :-

नह वरुण ! आपका कहना सर्वथा उचित नह है क्या.कि जो भी हुआ उसके लिए एक ही पक्ष को गुनहगार मानकर दोषारोपण करना अनुचित हैं वास्तविकता यह है कि जो कुछ हमें दिखाई दे रहा है, उसका सबसे बड़ा कारण है युद्ध की विभीषिका क्या.कि यह सब उसी का परिणाम हैं युद्ध पूर्व ऐसी स्थिति न थ ये सब युद्ध के बाद हुआ है और युद्ध के पश्चात् ही संस्कृति की गिरावट, संस्कृति के मूल्या. मैं कमी, एक मरा हुआ, एक उभरा हुआ, एक हारा हुआ, ऐसा रूप है जो कि हिंसात्मक नह है बल्कि इसमें भय है, डर है, आशंका है जो मन को ऐसी अवस्था में पहुंचा देता हैं जहाँ सहजता से कोई उत्तर, प्रतिउत्तर नह मिलता बल्कि व्यक्ति अपना विवेक ही खो बैठता हैं विष्णु जी कह रहे हैं कि जब-जब युद्ध बाद की स्थिति परिस्थिति पर विचार किया गया तब-तब यह पाया गया कि मनुष्य की मनुष्यता और सामाजिक, सांस्कृतिक पतन आरम्भ हुआ और उसे सर्वाधिक विकटपूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ा हैं विष्णु भगवान कह रहे हैं कि कुछ भी हो लेकिन इस व्यक्ति में हिंसा की भावना नह है। इस व्यक्ति में केवल भय है, डर हैं यह विनाश का द श्य देखकर अत्यन्त भयभीत हो गया है विष्णु जी कहते हैं युद्धोपरान्त बचने वाला. की यही दुर्दशा होती है।

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. अनुप्रास अलंकार।
3. तत्सम प्रधान।

विशेष :-

1. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
2. अनुप्रास अलंकार।
3. तत्सम प्रधान।
4. खड़ी बोली।
6. आकर्षक संवादात्मकता।
7. मनमोहक अभिव्यंजना।
8. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
9. मानवीकरण।
10. अन्तर्मन की वेदनाभिव्यक्ति।
11. विवेचनात्मक शैली।

[68]

कृति यह नह है
 यह विकृति का फल है
 एक ऐसी मरणासन्न लौकिक परम्परा का
 जिसे जीवित रखने के लिए
 प्रजापति दक्ष ने
 यज्ञ नह
 युद्ध का आयोजन किया था

शब्दार्थ :-

कृति = रचना, विकृति = बिगड़ना, मरणासन्न = मृत्यु के समीप, आयोजन = तैयारी

प्रसंग :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, जिन्होंने साहित्य जगत में कई अनमोल रचनाएं दी हैं। दक्ष प्रजापति ने यज्ञ में अपने दामाद शंकर को बुलाना उचित नह समझा किन्तु स्वइच्छा से सती यज्ञ में आई और घोर अपमानित हुई प्रतिफल स्वरूप उन्ह आत्मदाह करना पड़ा। उससे महादेव शंकर और उनके गणों ने नगर को ही तहस-नहस कर दिया और एसा घोर युद्ध किया कि एकमात्र सर्वहत्त बचा भी तो वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा। उसे इस दुःसहाय अवस्था में पाकर विष्णु जी ने ब्रह्मा जी से कहा कि यह सब दक्ष के कारण हुआ है जिसने यज्ञ नह बल्कि एक युद्ध का आयोजन किया था। इन्ह बाता. का समर्थन करते हुए ब्रह्मा जी भी कहते हैं :-

व्याख्या :-

हे वरुण ! तुमने तो सर्वहत्त को शंकर की रचना बताया है तुम्हारे कथन का तात्पर्य है कि इस व्यक्ति की यह दशा बनाने वाले महादेव शंकर ही हैं। ब्रह्मा जी कहते हैं कि ऐसा नह हैं यह व्यक्ति शंकर की कृति नह है अपितु युद्ध विभीषिका के कारण जीवन में जो विकार या दोष आया है यह सब उसी का दुष्परिणाम है, फल है। विष्णु जी कहते हैं कि कृति तो एक निर्माण होती है। जबकि युद्ध की विकृति के कारण ही सर्वहत्त इस दशा को प्राप्त हुआ है। वे कहते हैं कि वास्तव में यज्ञ लोक की एक परम्परा यज्ञ है जो की अब समाप्त होने वाली हैं यज्ञ कि इस सुन्दर परम्परा को

महाराज दक्ष प्रजापति के कारण हुआ है जिसने यज्ञ नह अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध का आयोजन किया था। इन्ह बाता. का समर्थन करते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं :-

व्याख्या :-

दक्ष प्रजापति ने जानबूझकर विधिपूर्वक विधिवत प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध के लिए ही सही महादेव को निमंत्रित किया था। ब्रह्मा जी के अनुसार इस सारे योजना के सूत्रधार दक्ष प्रजापति ही रहे हैं। क्या.कि वे अपने बदले की भावना को पूरा करने के लिए महादेव शंकर को एक सुनियोजित ढंग से यज्ञ के बहाने अपमानित करके युद्ध करने के लिए उकसाया था। इस प्रकार शंकर का यहां आना बहुत जरूरी था। उन्ह. यानि शंकर महादेव को आने के लिए मजबूर करने वाले दक्ष ही थे ब्रह्मा जी के अनुसार दक्ष प्रजापति की भावना पवित्र न थ उनके मन और कार्यव्यवहार में एकता न थ वह तो दिखावा मात्र ही यज्ञ का आयोजन कर रहे थे इस प्रकार की कमजोर परम्पराआ. को तोड़ने के लिए नष्ट करने के लिए ही शंकर जी सदैव उद्घ त रहे हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा जी के अनुसार इस भयावह स्थिति के लिए शंकर उत्तरदायी नह अपितु इस क त्य को एक म तप्राय गलतपरम्परा को मिटाने के लिए महादेव शंकर द्वारा उठाये गये एक कदम की द ष्टि से देखा जाना चाहिए। जिनको मिटाने के लिए महादेव शंकर जगप्रसिद्ध है और इन्ह गुणा. के कारण वे संसार में जाने जाते हैं, पूजे जाते हैं।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. छन्दमुक्त।
7. तथ्यपरक।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. भावपूर्ण द श्यावलोकन।
12. प्रतीक योजना।

[70]

माना प्रभु
दक्ष का विवेक और ज्ञान
इस परिस्थिति में छुट गया,
उसका अस्तित्व
एक जर्जर परम्परा के
पोषण के यत्ना. में लगा हुआ
दूट गया
पर क्या अब शंकर ने
जो परम्पराआ. के भंजक रहे हैं

3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. स्वेच्छाचार का प्रतिफलभाव।
7. आत्ममंथन पूर्ण।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. स्वमनः व्यवहारी पक्ष।
12. गूढोत्तर पद्यांश।

[71]

आपको विदित है प्रभु।
 शंकर - कैलाशनाथ
 अपने कन्धा. पर
 भगवती सती का अधञ्जुलसा शव लटकाए
 गहन मनस्ताप की विषमता से भरमाए
 रह-रहकर अब तक भी
 वीरिणी सुता का मुख
 देखते - बिलखते हैं
 पर्वत के हिम मंडित शिखरों पर
 काल सा त्रिशूल गड़ा
 व्याकुल से चरण पुनः
 इधर-उधर रखते हैं।
 'औ' उनके नेत्रों से
 अग्नि-व प्टि जारी हैं

शब्दार्थ :-

विदित = जानकारी, सुता = पुत्री, अग्नि-व प्टि = आग की वर्षा (भयंकर क्रोधित होना),

अधञ्जुलसा = अधजला

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, यहाँ पर लेखक ने उस समय का वर्णन किया है जब युद्ध तो समाप्त हो चुका है और शंकर महादेव अपनी प्रेयसी सती के अधञ्जुलसे शव को कंधे पर लटकाए कैलाश पर्वत पर भटक रहे हैं। इस पर ब्रह्म, विष्णु आपस में तर्क-वितर्क करने लग. ब्रह्मा की द प्टि में शंकर ने यथोचित कार्य किया है और इन्द्र कहते हैं कि इस प्रकार के व्यवहार से शंकर ने हमें भी अपमानित किया है और अभी भी उनका व्यवहार एक देवत्व वाला व्यवहार नह हैं इस पर वरुण जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे प्रभु आपको मालूम है कि कैलाशपति शंकर की हालत अभी भी बहुत ही अजीबोगरीब हैं वे अभी

इसी प्रकार की वार्ता सब ब्रह्मा और विष्णु में होती है तब इन्द्र व्यंग्यपूर्ण शैली में अपनी बात कहते हैं :-

व्याख्या :-

हाँ प्रभु आप भी अच्छा कह रहे हैं। शंकर का इसमें कोई दोष नह सारा दोष तो दक्ष का हैं जो अपनी इच्छानुसार जीर्ण-शीर्ण पुरानी परम्पराआ. के पालन-पोषण में लगा हुआ था। लेकिन आप ही बताएं वे अविनाशी शंकर क्या कर रहे हैं जो स्वयं ही देह मुक्त होते हुए भी देहमुक्त हैं और उनका सम्बन्ध भोग से नह योग से हैं राग द्वेष से परे वह महान् तत्त्वज्ञानी शंकर जो सन्यासी रूप में भी हैं आज अपना मानसिक संतुलन को बनाए रखने में पूर्णतयः असमर्थ दिखाई दे रहे हैं। यूं कहा जाए तो भी सच है कि उन्होंने अपना मानसिक संतुलन खो दिया हैं देवत्व रूप में भी होकर, देवत्व के स्वामी शंकर साधारण मानव की भांति मानवीय पीड़ा में इस कदर बंध गए हैं कि उनका देवत्व कह दिखाई नह देता। यह कैसी विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि देव भी मनुज समान आचरण कर.। शंकर जी के इस विरोधाभाष देवत्व गुण के कारण देवलोक स्वयं को लज्जित महसूस कर रहा हैं शरीर के बनने और बिगड़ने अर्थात् जन्म और म त्यु को पाश में सर्वाधिक संसारी लोग ही बंधे होते हैं, देवजन नह। इसलिए अविनाशी शंकर का वह रूप हमें अच्छा नह लग रहा, हमें देवत्वपूर्ण नह लग रहा।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. सजीवता।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. प्रभावोत्पदकता।
8. निर्जन-अंकन।
10. व्यंजात्मक।
11. विरोधाभाष द श्यावलोकन।

[73]

आह !
 देवराज इन्द्र !
 कैसी विडम्बना है
 अपने बनाए हुए नियम
 हमें डस गए
 निर्माता
 निर्मित के बन्धनों में फंस गए।

शब्दार्थ :-

निर्माता = निर्माण करने वाला

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। यहाँ पर लेखक ने

**कन्धा. पर लटकाए
ज्ञानवन्त होकर भी क्रोधित उद्वेलित हैं?
देवराज !
अब तक सोच नह पाया हूँ।**

शब्दार्थ :-

कालजयी = मृत्यु को जीतने वाली, चेतनता = होश, संवेग = मन में उठने वाली उत्तेजना, पार्थिवता = आत्मविही शरीर अर्थात् शव।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश की पंक्तियां हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। यह पुस्तक एक गीति नाट्य प्रधान हैं इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी मूलरूप से एक हैं। दुष्यन्त कुमार जी नई कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। यहाँ पर लेखक ने उस समय का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में देवी सती के आत्मदाह करने से विक्षिप्त शंकर जी ने अपनी कण सेना के साथ मिलकर दक्ष का वध कर दिया और उसके नगर का समूल विनाश कर दिया। अब महादेव शंकर जी अपनी प्रेयसी के प्यार में डूबे हुए उसके अधञ्जुलसे शरीर को कंधे पर लटकाए कैलाश पर्वत पर भटक रहे हैं। विडम्बना पूर्ण स्थिति के लिए सभी ने दक्ष को ही कोसा लेकिन शंकर को अपराध मुक्त न किया। क्या कि वह भी इस अनुचित घटना में समान रूप से दक्ष की भांति ही दोषी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार की बातचीत सब ब्रह्मा और विष्णु में होती है तब ब्रह्मा जी कहते हैं :-

व्याख्या :-

हे बन्धु इन्द्र! महादेव शंकर को इस अवस्था में देखकर मैं स्वयं ही यह समझ नह पा रहा हूँ कि आखिर वे सृष्टि निर्माता होकर भी ऐसा मानवीय आचरण पूर्ण व्यवहार क्या कर रहे हैं। महादेव शंकर पत्नी वियोग में इस कदर फंस गए हैं कि उन्हें अपने महादेव होने का आभास ही नह, देवत्व ही जैसे गायब हो गया हैं कहने का भाव यह है कि पत्नी प्रेम में महादेव जैसा महातत्त्ववेत्ता, महान ज्ञानी भी इस कदर पागल हो गया है कि वह उसे झुलसे हुए शरीर का भी मोह नह छोड़ पायें आगे ब्रह्मा जी कहते हैं कि, मेरे अपने सहयोगी शंकर जो कि मृत्यु की क्षणभंगुरता में पड़कर अति दुःखी हो रहे हैं। ऐसा नह होना चाहिए क्या कि वह स्वयं तत्त्ववेत्ता हैं, महाज्ञानी हैं। मुझे तो विस्मय हो रहा है कि क्या ये वही महादेव शंकर हैं जिन्हें कालजयी होने के उपरान्त भी उनकी चेतना पर संसार की मानवीय संवेदनाटा की लकीरों ने अपने पास में बांध लिया हैं जिसकी स्पष्टतः रेखाएँ उनके माथे पर दिखाई दे रही हैं। हैरानगी इस बात की है कि वे एक पार्थिव शरीर को अपने कन्धे पर लटकाए इधर-उधर ज्ञानवान होकर भी क्रोध के वशीभूत भटक रहे हैं। इस प्रकार की स्थिति कैसे हुई और क्या वे ऐसा आचरण कर रहे हैं अभी तक मेरी समझ से परे हैं हे देवराज इन्द्र! यह सब क्या हो रहा हैं मैं कुछ भी नह सोच पा रहा हूँ। शंकर की ऐसी दुःखद स्थिति देखकर ब्रह्मा जी स्वयं किंकर्तव्यविमूढ़ से हो जाते हैं। महादेव शंकर की दुर्दशा उन्हें ऐसी आत्मविवेचना पर मजबूर कर देती है कि ब्रह्मा जी स्वयं को ही असहाय स्थिति में पड़ा हुआ पाते हैं। शंकर जी भलीभांति जानते हैं कि आत्मा अजर अमर है, शरीर तो मिट्टी का बना हैं शरीर को तो एक न एक दिन मिट्टी में ही मिल जाना है, फिर इस पार्थिव शरीर को लेकर इतनी व्यग्रता क्या?

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।

व्याख्या :-

हे ब्रह्मा जी! मैं तो स्वयं को इस बारे में तनिक भी सोच-विचार करने की स्थिति में नह पाता हूँ। फिर भी सोचता हूँ कि क्या शंकर को उनके अतिप्रिय गणों और उनके भत्या. के कुकर्मों का पता नह है कि उन सभी ने अनाधिकार बल का प्रयोग करके दक्ष प्रजापति को यमलोक ही नह पहुंचाया अपितु दक्ष नगरी को जन शून्य कर दिया हैं दक्ष का अपराध इतना बड़ा नह था कि उनको इस प्रकार की सजा दी जाती और तो और शंकर को क्या यह सब पता नह कि उनके सहयोगी भत्यगण नंदी, वीरभद्र, और वीरमुण्ड के साथ-साथ कूष्मांड व महालोक ने कितने आचरणहीन तरीके से हम देवताओं के साथ अमानुषिक बर्ताव किया। कुबेर जी कहते हैं कि मुझे तो अभी तक यही नह समझ में आ रहा है कि शिव के गणों ने जिस प्रकार से कुकृत्य किया उससे शंकर की भावानुरूप प्रतिकार बदला लिया है या उनके अपमान को और बढ़ाया हैं इस प्रकार शंकर को सारी स्थिति पर विचार करके शान्त हो जाना चाहिए और बीती बातों को भूल जाना चाहिए। कुबेर जी के अनुसार दोना. ही परिस्थितियों में विचार किया जाए तो महादेव ने हम सब देवताओं का भी अपमान ही किया है और अब भी वे अपने देवत्व भूल को कर मनमाना आचरण करते हुए पत्नी के मोहपास में बंधे हुए हैं। यह सब हमारे लिए शुभ संकेत नह ।

विशेष :-

1. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
2. तत्सम प्रधान।
3. गूढोत्तर पद्यांश।
4. अनुप्रास अलंकार।
5. सुबोध काव्य।
6. रस-योजना।
7. व्यंजात्मक।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. दुखमिश्रित अभिव्यक्ति।
11. ध्वनि साम्य।
12. खड़ी बोली।

[76]

कुबेर !

क्या तुमको यह भी मालूम नह
शिव जी ने स्वयं उन्ह. भेजा था,
यह ध्वंस करने

तथा

अपनी प्रिया के आत्मघात की परिस्थिति से
प्रतिकार लेने का.

शब्दार्थ :-

प्रिया = प्यारी, परिस्थिति = समय के अनुसार, प्रतिकार = बदला

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य

[77]

शिव ने भेजा था!
 असुर-व त्ति भ त्या. को?
 वीरभद्र सद श अहंकारी को!
 भ गु, कश्यप, पैल, गर्ग
 वैशम्पायन, अगस्त्य,
 वामदेव, गौतम, त्रिक
 व्यास, अत्रि, कुकुपासित
 भारद्वाज-जैसे ऋषि-मुनिया. की सभा मध्य?
 आप और लक्ष्मीपति जहाँ विद्यमान
 वहाँ
 आपकी अवज्ञा प्रभु,
 महादेव शिव द्वारा?
 नह , नह !!

शब्दार्थ :-

लक्ष्मीपति = भगवान विष्णु, विद्यमान = मौजूद, अवज्ञा = आज्ञा के विपरीत

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, जिन्होंने साहित्य जगत में कई अनमोल रचनाएं दी हैं। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में देवी सती के आत्मदाह करने के बाद शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष का सम्पूर्ण नगर नष्ट भ्रष्ट कर दिया। शंकर जी के प्रतिशोध की ज्वाला अभी भी शान्त नह हुई और वे पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए घूमने लग। देवगण उनकी इस दुर्दशा से बहुत ही व्यग्र और चिन्तित हैं। ब्रह्मा जी ने जब कुबेर जी से पूछा कि इस विनाशक युद्ध में महादेव ने किन्हें भेजा था तब कुबेर जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे ब्रह्मा जी शिव ने युद्ध में जिन्ह. भेजा तो था उनमें उन्होंने असुरव त्ति वाले अपने विशेष भ त्या. को ही भेजा था। वे कहते हैं कि वीरभद्र के समान महा अहंकारी अपने गणों को भेजकर, दक्ष प्रजापति को नष्ट करवा दिया। कुबेर जी कहते हैं कि वहाँ उस समय ऋषि भ गु, ऋषि वामदेव, ऋषि गौतम, ऋषि त्रिक, ऋषि व्यास, ऋषि अत्रि, ऋषि ककुपासित और भारद्वाज जैसे ऋषि मुनिया. की सन्त सभा के बीच आप और लक्ष्मीपति विष्णु जहाँ विद्यमान हो वहाँ शिव द्वारा आपकी अवज्ञा हो ऐसा तो हो ही नह सकता था लेकिन ऐसा अनर्थ हुआ। कुबेर जी के अनुसार उस महा विनाशक युद्ध में शंकर के बहुत से ऐसे प्रिय गण मौजूद थे जो कि महज आसुरी व त्ति के ही स्वामी थे अन्यथा वे लोग ऋषिया., सन्तों, महात्माटा. का अपमान न करते बल्कि प्रतिशोध की अग्नि में जलते हुए भी वे महान संस्क ति अर्थात् नैतिक परम्परा को निभाते हुए अपने विद्वत्त समाज की मान-सम्मान और आज्ञापालन की बात अवश्य याद रखते वे गण तो ऐसे थे जिन्ह. मर्यादा की सीमा में रखा ही नह जा सकता। इसलिए उन अपनी सबने आसुरी व त्ति का ही परिचय दिया।

विशेष :-

1. ध्वनि साम्य।

उत्कण्ठा मन में जाग त हो रही हैं भयानक स्थिति पर सहसा न तो विश्वास होता है और न ही उसके वास्तविक रूप में सच मानने को मन तैयार होता है इसी प्रकार की अवस्था में वरुण जी स्वयं को पाते हैं और सच जानने की जिज्ञासा वश बार-बार ब्रह्मा जी पूछना चाहते हैं कि जिससे उनके मन का उद्वेग शान्त हो जाए।

विशेष :-

1. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
2. निर्जन-अंकन।
3. ध्वनि साम्य।
4. अनुप्रास अलंकार।
5. व्यावहारिक कथन।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. विम्ब प्रधान।
9. गूढोत्तर पद्यांश।
10. व्यंजात्मक।
11. सुबोध काव्य।
12. आत्म लोचना।

[79]

प्रभु!

क्या यह भी सच है -

न्याय की तुला को अपने हाथों में लिए हुए

महादेव शंकर धर रौद्र रूप

अपने आदेश विहित भ त्या. से

देव और ऋषि-मुनि गण

सभी का अनादर

और दक्ष का शिरोच्छेदन करके भी

तुष्ट नह ?

शब्दार्थ :-

शिरोच्छेदन = सिर को धड़ से अलग करना, तुष्ट = शान्त, संतुष्ट।

प्रसंग :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, जिन्होंने साहित्य जगत में कई अनमोल रचनाएं दी हैं। सती अपने पति शंकर का और अपना अपमान अनुभव करके दक्ष के यज्ञ में अपने प्राण दे देती हैं। क्रोधित होकर शिव व उनके गण दक्ष यज्ञ के साथ-साथ नगर को भी ध्वंस कर देते हैं। अब शिव पार्वती के अधजले शव को उठाए भटक रहे हैं उनके क्रोध का पारावार नह। सुनसान नगर में घूमते हुए ब्रह्मा, विष्णु, वरुण इस अप्रत्याशित घटना पर बातचीत करते हैं। ब्रह्मा जी के कहने पर कि महादेव उस समय अत्यधिक क्रोधावेश में थे तब वरुण जी कहते हैं -

शब्दार्थ :-

लक्ष्मीपति = भगवान विष्णु, औचित्य = अर्थ या मतलब

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं, जिन्होंने साहित्य जगत में कई अनमोल रचनारूपी पुष्प दिए हैं। दक्ष यज्ञ में सती अपने पति शंकर का और अपना अपमान अनुभव करके दक्ष के यज्ञ में अपने प्राण दे देती है और क्रोधित होकर शिव व उनके गण दक्ष व यज्ञ के साथ-साथ नगर को भी विध्वंस कर देते हैं। सुनसान वियाबान में आकर देवगण आपस में विचार करते हैं। इन्द्र चाहते हैं कि चाहे कुछ भी हो हमें शंकर को समझाना बुझाना ही चाहिए क्या.कि वे अपनी मनमर्जी कर चुके हैं इस पर इन्द्रदेव ब्रह्मा जी से कहते हैं -

व्याख्या :-

यदि शंकर जैसा उच्च अधिकार प्राप्त देव ही शासन की मर्यादा तोड़ देगा अर्थात् उसे अपने देवत्व का भान भी न रहे और वह सामान्यजना. की भांति मनमाना व्यवहार करे तब व्यवस्था का क्या होगा? देवराज इन्द्र कहते हैं कि हे ब्रह्मा जी आप ही विचारिए कि जब महादेव शंकर ने अपने प्रतिशोध की ज्वाला में पड़कर स्वयं दक्ष की बलि चढ़ा चुके हैं। यही नह उन्होंने तो दक्ष पुत्र को भी समाप्त कर दिया हैं महादेव शंकर एक से बढ़कर एक भूल करते गए जोकि उन्ह. नह करनी चाहिए थ वे क्रोधवश यह भी भूल गए कि देवा. का मान भी करना चाहिए। उन्होंने हम सबका अपमान किया हैं शंकर ने ऋषिया., सन्ता., महात्माआ. के साथ-साथ स्वयं लक्ष्मीपति भगवान विष्णु का भी अपमान किया हैं हे ब्रह्मा जी आप भली भांति जानते हैं कि यज्ञ वेदी नष्ट करके और विद्वत्जना. को मार व भगाकर यज्ञ और धर्म दोना. का ही घोर अपमान किया हैं इस प्रकार यदि शंकर नीति निर्धारक होते हुए शासन को अमान्य कर द.गे और नियमानुसार आचरण नह करेंगे तो इस प्रकार से सारी व्यवस्था ही चौपट हो जाएग इसलिए शंकर को समझाना बुझाना और शान्त करना परम आवश्यक हो गया हैं

विशेष :-

1. खड़ी बोली।
2. अनुप्रास अलंकार।
3. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
5. सूक्ष्मभाव।
6. आकर्षक संवादात्मकता।
7. मनमोहक अभिव्यंजना।
8. तत्सम प्रधान।
9. परिकल्पना का अंकन।
10. अन्तर्मन की वेदनाभिव्यक्ति।
11. मानवीकरण।

[81]

में तो यहाँ तक कहूँगा प्रभु
शिव द्वारा -
जिस-जिस की अवज्ञा हुई है

[82]

लगता है प्रभु
 उनके अन्तर के द्वन्द्व
 और मन के कोलाहल का
 अभी शमन नह हुआ
 हम उनके कोप से अरक्षित हैं
 में उनका प्रतिवेशी होने के कारण
 यह निश्चय से कहता हूँ -
 कुछ पता नह है कब
 बम भोले महादेव -
 वक्रद प्टि से निहार
 कर द. संघातक कोई प्रहार।
 उनके लिए दण्ड की व्यवस्था
 आवश्यक हैं

शब्दार्थ :-

प्रतिवेशी = पड़ोसी, वक्रद प्टि = टेढ़ी नजर, दण्ड = सजा

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं गीति नाट्य प्रधान इस पुस्तक के रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में देवी सती के आत्मदाह करने के बाद शंकर जी ने दक्ष का समूल विनाश कर दिया। लेकिन उस समय का वर्णन कवि ने किया है जब शंकर अपना देवत्व भूल बैठ, और सभी अतिथिजनों के साथ अशोचनीय बर्ताव भ्रष्ट करने के बाद भी शंकर जी के प्रतिशोध की ज्वाला अभी भी शान्त नह हुई और वे पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए घूम रहे हैं। उस समय ब्रह्मा जी से देवराज इन्द्र शंकर को दण्डित करने की बात करते हैं, जिस पर कुबेर जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे प्रभु! मुझे ऐसा लगता है कि जैसे शंकर के अन्तःमन के द्वंद्व का कोलाहल अभी तक शान्त नह हुआ है और न ही शमन होता दिखाई दे रहा है कुबेर जी कहते हैं कि हम सब अभी तक उनके क्रोध से असुरक्षित हैं। कुबेर जी अपने वचन में भी गंभीरता लाते हुए कहते हैं कि मैं स्वयं महादेव शिव का पड़ोसी हूँ। वे कहते हैं कि महादेव के व्यवहार का कुछ पता नह कि कब भोले बाबा शंकर टेढ़ी नजर से मुझे देखने लगे और मेरे ऊपर ऐसी चोट कर द. जो कि मेरा विनाश करने वाली सिद्ध हो कुबेर जी स्वयं ही शंकर के क्रोध से इतने भयभीत हो गए हैं कि उनका मानना है कि अब भी यदि किसी प्रकार से शंकर को दण्डित न किया गया तो कुछ भी अनर्थ हो सकता है शंकर के क्रोधित होते ही क्या स्थिति बन जाएगी कुछ निश्चित नह, शंकर जी एक मनमौजी और अजीबो गरीब व्यवहार के स्वामी हैं। अतः उनसे बचकर रहने का एक उपाय यह भी है कि उन्हें उनके दुष्कर्मों के लिए दण्ड अवश्य ही दिया जाना चाहिए जिससे वे शान्त बने रहें। कुबेर जी के अनुसार व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दण्ड विधान परम आवश्यक भी हैं

विशेष :-

1. अन्तर्मन की वेदनाभिव्यक्ति।
2. खड़ी बोली।

बात. तो उन लोगों की हैं जो डरते तो स्वयं हैं और खुलकर नह बोलते अपितु बात को घुमाफिराकर अपनी इच्छानुसार शंकर पर दण्ड विधान लागू करवाना चाहते हैं; उन्ह. दण्डित करना चाहते हैं। अन्त में विष्णु जी वरुण जी से उनकी मन की बात जानने की जिज्ञासावश पूछते हैं कि बन्धु आप ही बताइये कि इस मामले में क्या कार्य किया जाना उचित रहेगा।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
3. तत्सम प्रधान।
4. आकर्षक संवादात्मकता।
5. सूक्ष्मभाव।
6. खड़ी बोली।
7. मानवीकरण।
8. परिकल्पना का अंकन।
9. मनमोहक अभिव्यंजना।
10. अन्तर्मन की वेदनाभिव्यक्ति।
11. प्रश्नोत्तर विचार विनिमय।
12. भावानुकूल भाषा का प्रयोग।

[84]

मैं क्या कह सकता हूँ
संभवतः
कुछ भी कह सकने की स्थिति में
संतुलन नह मेरा।
शंकर कैलाश नाथ,
जो मेरे साथ-साथ,
स ष्टि के महान्
और गुरुतम दायित्वों के पालन में
योगदान देते हैं,
पीड़ित हैं।

शब्दार्थ :-

स्थिति = अवस्था, दायित्वा. = जिम्मेदारिया., योगदान = सहयोग

सन्दर्भ :-

ये पद्य पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठ. दक्ष का सम्पूर्ण नगर सहित विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे ऐसे में सभी देवगण शंकर जी को दण्डित करने की बात जब ब्रह्मा जी से करते हैं, तब ब्रह्मा जी कहते हैं -

सन्दर्भ :-

ये पद्य पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता दक्ष के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष सहित उनके सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे ऐसे में सभी देवगण ब्रह्मा जी से अनुनय-विनय करते हैं कि यदि अभी भी शंकर जी का क्रोध शान्त न हुआ तो और बहुत बड़ी घटना घटित हो सकती है अतः शंकर को दण्डित किया जाना परमावश्यक है इसी चर्चा पर अपनी बात रखते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे विष्णु! मैंने बहुत सोच-विचार किया है और बहुत कुछ सोचने समझने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जिस भी स्थिति में महादेव शंकर आज हैं क्या वह स्वयं में ही एक दण्ड नह है शिव शंकर के लिए। ब्रह्मा जी कहते हैं आप सब जरा ध्यान से सोचिए, देखिए कि महादेव शंकर आज जिस हालत में हैं वे क्रोध के बहाने तड़पते हैं और दर्द के मारे कराहते हैं। आज उनकी स्थिति इतनी दयनीय हो गई है कि जब वे किसी और पर क्रोध करते हैं तो दर्द के भागीदार स्वयं शिव बनते हैं। मैं जानता हूँ कि दर्द शिव को ही होता है आप सब मिलकर विचारें कि उन्ह. आज कितनी मानसिक पीड़ा हो रही है वह स्वयं भी किसी सत्य से जुड़े रहने और टूट जाने की दुविधायुक्त भ्रम में पड़े हैं। ब्रह्मा जी के अनुसार अब उनमें अपना दुःख वहन करने की शक्ति नह है उनका विचार एवं भाव बोध अब एक जैसा नह रहा। थोड़ी-थोड़ी देर में उनकी मनोवृत्ति बदल जाती है शंकर जी जो करना चाहते हैं वह नह कर पाते हैं। आप सब सच मानिए कि वे जो कुछ कर रहे हैं अब वह उनकी इच्छानुसार नह हो रहा है सती जी का संस्मरण कर शंकर जी दोहरा जीवन बिता रहे हैं। अपनी इच्छा के विपरीत कार्य के लिए बाध्य होना ही बहुत बड़ा दण्ड है इससे उनके व्यक्तित्व को कभी मन की शान्ति नह मिलत इस प्रकार जीवन बिताना एक काल कूट पीने के समान है अब शंकर इस प्रकार विष पीने की व्यथा को भोग रहे हैं। महादेव द्वारा इस प्रकार का जीवन जीना स्वयं में ही एक सजा है।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. दोहरा जीवनयापन की विवशता।
7. आत्मिक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. स्वकर्मरूप प्राप्त दण्ड द श्यावलोकन।
11. लौकिक संवेग।
12. कथोप कथन
13. बिम्ब विधान।

3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. विषम परिस्थिति का दृश्यावलोकन।
7. मिश्रित अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. संस्मरण के साथ जीवन प्रवाह।
10. समय की धारा में परिवर्तित एक विधा का सजीव चित्रण।

[87]

प्रभु
चाहे गर्वोक्ति समझ क्षमा कर.,
किन्तु मुझे लगा
आप इस क्षण में अनायास
स्वयं उसी मानवीय पीड़ा से हैं उदास,
पराभूत
जिससे शिव शंकर हैं।

शब्दार्थ :-

अनायास = अचानक, पीड़ा = दुःख

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं यहां पर लेखक ने उस समय का वर्णन किया है जब भगवती ने अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर अपमान अनुभव किया और आत्मदाह कर लिया। शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष समेत सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे ऐसे में सभी देवगण ब्रह्मा जी से शंकर को दण्डित करने की बात कहते हैं तो ब्रह्मा जी स्वयं को असहज महसूस करते हैं और स्पष्टतः नकार देते हैं, तिस पर देवराज इन्द्र कहते हैं :-

व्याख्या :-

हे ब्रह्मा जी क्षमा कर.। मेरी आपसे विनती है कि जिस प्रकार से हम देवगणों ने अपनी-अपनी समस्या और समाधान आपके सम्मुख रखा है वह सब उपयुक्त होते हुए भी आपको अनुपयुक्त लग रहा है ऐसा क्या. हो रहा है इस पर जब मैंने विचार किया तो यह पाया कि आप भी शिव शंकर की भांति किसी पीड़ा से गुजर रहे हैं और हो भी क्या. ना, आखिर कुछ भी हो शंकर हैं तो आपके ही संगी साथ साथी के दुःख में दुःखी होना भी सर्वमान्य सत्य है हे ब्रह्मा जी आप मेरे कथन को मेरा बड़-बोलापन अथवा गर्व की बात समझ कर क्षमा कर.। आप बेवजह इस समय उसी प्रकार के दर्द से कराह रहे हैं जिस तरह से शंकर। उनकी स्थिति भी इस प्रकार के मानवीय पीड़ा से मिश्रित है मानव ही किसी के वियोग में पड़कर सहजता से असहज नह हो पाता। आप दोना. ही परम ज्ञानी ध्यानी हैं लेकिन आप दोना. की एक ही कमजोरी है वह है मानवीय संवेदनाटा. से घिरा हुआ होना। यदि आप सब में देवत्वपन जाग त होता तो मनुष्या. की भांति एक नश्वर शरीर के नष्ट होने से इस प्रकार दुःखित, द्रवित, व्याकुल और विचार मग्न न होते और न ही आप सबके हृदय

हैं तुमने जो मुझ पर यह आरोप लगाया कि मैं भी शंकर के समान एक मानवीय पीड़ा से पीड़ित हूँ, दुःखी हूँ उसी प्रकार जिस तरह से महादेव शंकर हैं तो वास्तव में मैं शंकर के साथ ही बहुत काल तक साथ ही रहा हूँ। मैंने भी उस पीड़ा को बड़े नजदीक से भोगा है मैं उसका अपवाद नह हूँ अर्थात् इस प्रकार के दुःख से मैं अछूता नह हूँ। इसीलिए मेरे लिए यह समझना काफी आसान हो गया है कि जब आप यह महसूस करते हैं, विचारते हैं और पाते हैं कि ऐसी भूल एक अकेले महादेव शिव शंकर ने ही नह की अपितु कह न कह , कभी न कभी जाने अनजाने हम लोगों से भी तो भूल चूक हो जाती है या नह । आगे ब्रह्मा जी देवराज इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहते है कि, हे देवराज! जो कुछ होता है उसके लिए हम पूर्णतयः उत्तरदायी होते हैं। उससे अछूते नह रह सकते इसलिए हमें भी विचार करना चाहिए कि जिन नियमा. से यह संसार बंधा है वह सब मानवीय संवेदनाएं ही तो हैं जिसके कारण आसक्ति भाव को महत्त्व दिया गया है कहने का भाव यह कि दो सच्चे मित्रों में से यदि एक को कोई दुःख, पीड़ा होती है तो दूसरा मित्र भी उसका उत्तना ही भागीदार होता है अर्थात् उसे भी उस दुःख या पीड़ा की वही अनुभूति होती जो कि पहले मित्र को होती है उसी प्रकार से महादेव व ब्रह्मा जी भी अत्यन्त गहरे मित्र हैं और शिव को जो शोक हुआ है उसकी उत्तनी ही अनुभूति ब्रह्मा जी हो भी हो रही हैं

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार ।
2. तत्सम प्रधान ।
3. भाव तुष्टिकरण ।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण ।
5. सुबोध काव्य ।
6. असमंजस का स्पष्ट प्रस्तुतीकरण ।
7. तर्कयुक्त अभिव्यक्ति ।
8. खड़ी बोली ।
9. आन्तरिक मन का अंकन ।
10. आत्म लोचना ।
11. विरोधाभास द श्यावलोकन ।

[89]

इसीलिए प्रभु
शंकर की दण्ड व्यवस्था पर
होकर निस्संग नह सोच सके
खुद उनकी पीड़ा से पीड़ित हैं।
लेकिन प्रभु?
ऐसे सन्दर्भ के धरातल पर
हम सब हैं एक
हम अपने शब्द और अपना प्रस्ताव
आज वापस लेते हैं।

शब्दार्थ :-

सन्दर्भ = विषय, प्रस्ताव = योजनाबद्ध विचार

शब्दार्थ :-

समाधान = हल, तटस्थ = सामंजस्य पूर्ण, विवेक = बुद्धि

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। ऐसे में सभी देवगण शंकर जी को दण्डित करना चाहते हैं। ब्रह्मा जी बोले की मैं इस मामले में स्वयं को असहाय पाता हूँ और स्वयं जिस तरह शंकर जीवन बिता रहे हैं वह अपने आप में सजा ही तो हैं तब ब्रह्मा जी से इन्द्रदेव इस प्रकार बोले -

व्याख्या :-

हे ब्रह्मा जी! आप ठीक ही कहते हैं कि हम सभी से कही न कह भूल चूक हो ही जाती है, जो मानवीय नियम बने हैं उनमें शंकर की भांति हम भी फंसे हुए हैं। हम सब इस विषय में तटस्थ होकर विचार न कर सके और हमारे मन में शंकर के प्रति एक प्रकार का पूर्वाग्रह भी बना रहा। यह बात तो आप भलीभांति ही जानते हैं कि किसी प्रकार के चिन्तन की दिशा तभी मिलती है जब हम तटस्थ भाव से सोच सकें। किसी समस्या का समाधान सोचने के लिए तटस्थभाव परमआवश्यक हैं जब तक हम अपनी मान्यताओं और पूर्वाग्रहों को त्यागकर किसी समस्या मात्र के विषय में नह सोचते तब तक हमारा विवेक काम नह करता। उचित अनुचित अथवा भले बुरे की पहचान के लिए यह परम आवश्यक है कि हमारे मन में पहले से कोई पूर्व आग्रह न हो हम इस समय शंकर के विषय में तटस्थ नह हो सके हम सब के मन में इस विषय में कुछ न कुछ धारणा हैं इसलिए हमें अभी इस समस्या का हल खोजना ही चाहिए। कहने का भाव यह है कि महादेव शंकर हमारे अभिन्न मित्र हैं, हमारे भाई हैं, हमारे सहयोगी हैं और जो अपने अति निकट हो अर्थात् मित्र, भाई या सगा-सम्बन्धी यदि वह किसी प्रकार की समस्या में हो अथवा उसे कोई कष्ट हो तो उसके कष्ट निवारण का उपाय करना या उसका कष्ट कैसे समाप्त हो, इसका हल निकालना हमारा कर्तव्य बनता हैं हमें उस समस्या का कोई न कोई उचित समाधान अवश्य ही करना चाहिए। यही नीति है यही धर्म है।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. रस-योजना।
7. चिन्तनपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. निष्कष द श्यावलोकन।
11. लौकिक संवेग।
12. नाटकियता।
13. सजीवता।

2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. प्रतीक योजना।
7. मनस्ताप अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. छन्द मुक्त।

[92]

क्या. वे यह भूल गए
कारण
या परिस्थितियाँ नह,
सिर्फ म त्नु सत्य होती है?
और यह कि
किस प्रकार
उनको इस पीड़ा से निष्कृति मिल सकती है?

शब्दार्थ :-

परिस्थितियाँ = समय, पीड़ा = दुःख, निष्कृति = छुट्टी

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे हैं। इतना सब होने के बाद जब देवताओं ने आपस में इस बारे में चर्चा की तब उन सबने ब्रह्मा जी से शंकर को दण्डित करने की अपनी माँग अथवा इच्छा को स्वमेव त्याग दिया। इस पर विष्णु जी कहने लगे -

व्याख्या :-

हे देवराज इन्द्र! आप हमें इस प्रश्न का उत्तर बहुत सोच-विचार कर दें कि महान् तत्वज्ञानी शंकर जोकि सृष्टि के नियम निर्माता आ. में से एक हैं और देवा. में देव महादेव कहलाते हैं ऐसे महा बोधत्व को प्राप्त भगवान् शंकर की आत्मा आखिर क्या. रोती है? यह हमारे समझ में नह आ रहा है क्या महादेव शंकर यह भूल गए हैं कि किसी भी कार्य के पीछे कोई कारण अथवा निमि अर्थात् जो साधन बन जाएं अथवा परिस्थितियाँ जैसी भी क्या. न हो वह सब असत्य हैं और परम सत्य तो केवल एक ही तथ्य है वह है 'म त्नु'। कहने का भाव यह है कि शंकर जी भली भाँति इन सब तथ्यों से परिचित होते हुए भी और विधिवेत्ता भी हैं यह सब जानते हुए भी यदि वे पार्वती के म त्नु के कारण इस प्रकार का व्यवहार अर्थात् साधारण मानवा. की भाँति करते हैं तो उनके देवत्व पर एक प्रकार का प्रश्न चिन्ह सा लग जाता है। यदि देवगण इस प्रकार की परिस्थिति में ऐसे आहत होते हैं तब सामान्यजन की क्या दुर्गति होगी? अतः कृपा करके आप हमें यह बताएं कि किस तरह

आत्मिक तौर पर बहुत ज्यादा दुःख हो रहा है ऐसा क्या. हो रहा है? ब्रह्मा जी अपने माथे पर पड़ी सिलवटा. पर हाथ रखते हुए विचार करते हैं कि आखिर क्या. मेरे साथ ऐसा हो रहा है ऐसा लगता है कि मैं भी कुण्ठित सा हो गया हूँ तभी तो मेरा विवेक कार्य नह कर रहा है अर्थात् विचार शक्ति का जैसे हास हो गया हो वह स्वयं महसूस करते हैं कि इस दुःख से मैं छुटकारा सहजता से पा जाऊंगा ऐसा नह लगता। उन्ह. शंकर की दशा का जब-जब ध्यान आता है तब-तब यही ऐसे लगता है कि जैसे उनका अर्थात् ब्रह्मा जी का स्वयं का दम घुट रहा हो, वे भयभीत से स्वयं को दम घुटने की अवस्था में पाकर कह उठते हैं कि लगता है कि जैसे मैं भी इस प्रकार से अपना प्राण त्याग दूंगा। वह स्वयं से ही प्रश्न करते हैं कि क्या मैं भी यूं ही मर जाऊंगा अर्थात् बेवजह मेरे प्राण निकल जाएंग. यह दुःख की परम वेदनावस्था को प्रकट करता है।

विशेष :-

1. उत्प्रेक्षा अलंकार।
2. छन्द मुक्त।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
5. सुबोध काव्य।
6. खड़ी बोली।
7. सहानुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म-विवेचना।
10. व्यंजात्मक।
11. शिल्प शैली।

[94]

हम सब मर जाएँगे एक रोज
पेट को बजाते
और भूख-भूख चिल्लाते
हम सब मर जाएँगे एक रोज
.... दूँटें रह जाएँगी
साँसों के पत्ते झर जाएँगे एक रोज

शब्दार्थ :-

पेट को बजाते = भूखे-प्यासे, साँसों के पत्ते = आत्मशक्ति, प्राण वायु

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष का सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे देवता शंकर की इस प्रकार मनोदशा को देखकर हैरान हैं। सभी शंकर जी को इस महाघोर दुःखद परिस्थित से निजात दिलाने पर विचार

शब्दार्थ :-

सावधान = सचेत, लिखावट = भाव भंगिमा

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष का सम्पूर्ण नगर विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे देवता शंकर की इस प्रकार मनोदशा को देखकर हैरान हैं। सभी शंकर जी को इस महाघोर दुःखद परिस्थित से निजात दिलाने पर विचार कर रहे हैं, ब्रह्मा जी स्वयं को उसी अवस्था में पाकर किंकर्तव्य विमूढ से हो रहे हैं, कि तभी दक्ष प्रजापति का भ त्प सर्वहत्त जो कि इस महाविनश में अकेला ही बचा है और अभी तक विक्षिप्तावस्था में था। सर्वहत्त की मानसिक संतुलन इतना अधिक खराब हो चुका है कि वह पागला। जैसी हरकते करने लगता है भूख से परेशान, अशान्त वह इन देवताओं को ही अजीबो गरीब नजर से देखते हुए अनायास बडबड़ाने लगता है दक्ष प्रजापति भ त्प कितनी दुर्दशा में है कि उसे स्वयं ही कुछ पता नह कि वह क्या कह रहा है विनाश लीला का द ष्टा सर्वहत्त भाव शून्य नजरों से इधर-उधर देखते हुए, कहता है -

व्याख्या :-

सुनो, तुम मेरी बात ध्यान से सुनो सर्वहत्त ब्रह्मा जी से कहता है मैं तो आपको सावधान करने की इच्छा से ही तो आपके पास आया हूँ। मेरी बात को ध्यान लगाकर सुनना मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ वह बिल्कुल सच है = तुम्हें पता है कि अभी-अभी तीन जन जो थोड़ी देर पहले यहाँ शोर मचाए हुए थे विष्णु, इन्द्र और वरुण का आपस में मिलकर धीरे-धीरे बतियाना भी सर्वहत्त को शोर मचाना लग रहा था। इसीलिए वह कहता है कि जो तीन जन यहाँ पहले खड़े थे और अभी-अभी यहाँ से जा रहे हैं वे तीना. मिलकर तुमको अर्थात् ब्रह्मा जी को खाने ही आए थे सर्वहत्त भूख प्यास से इतना परेशान है कि अब उसे सिवाय खाने पीने के अलावा कुछ भी सुझाई नह दे रहा है उसकी मनोव त्ति कितना स्तर हीन की हो चुकी है, उसका स्वयं पर तनिक भी नियन्त्रण न रहा तभी तो वह कहता है कि जब मैंने छुपकर और उनको सूंघकर देखा तब पता चला कि वे तो इतने भूखे प्यासे थे कि तुम्हें ही खा जाते मूलतः सूधने की प्रव त्ति जानवरों में ही पाई जाती है अरे तुम्ह. नह पता उनकी बातचीत में उनकी आवाज ही भूखा. वाली थ उन सबकी बात से ही मुझे पता चल गया था वह सब तो तुम्हें अपना आहार बनाने के लिए यहाँ आए हुए थे थोड़ी देर में वह चिंतनशील मुद्रा बनाकर कहता है कि हे भगवान काश ऐसा होता कि मैं उनकी आवाज के साथ-साथ उनके चेहरा. को पढ़ पाता तो कितना अच्छा होता।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. मनस्ताप अभिव्यक्ति।

है तो कोई प्रतिष्ठा का तो कोई आदर्शों का और तो और सर्वहत्त कहता है कि मैंने तो दुनियां में बहतों को धन का भूखा भी देखा है यही लोग सबसे ज्यादा भूखे होते हैं ऐसे लोग अपनी इस प्रकार की भूख को शान्त करने के लिए न जाने किन-किन परिस्थितयों से गुजरते हैं और क्या कुछ नह करते दुनियादारी में फिर भी अहिंसक कहलाते हैं। सर्वदत्त व्यंग्य पूर्ण भाव से कहता है कि ऐसे लोग मांस नह खाते बल्कि मुद्रा खाते हैं। प्रतीकात्मक रूप से अधिकारों के लिए और आदर्श स्वरूप पार्वति और शंकर हैं जिन्होंने अपनी भूख शान्त करने की लिए ऐसी भयंकर परिस्थित की रचना हुई।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. करुण द श्यावलोकन।

[97]

किन्तु बंधु!

जीवन की भूख

बहुत कम लोगों में होती है

बहुत कम में

तुम

जीवन की भूख का मतलब समझते हो?

तुम कुछ नह समझते

बहुत भले हो

जरूर भले आदमी हो

ऐसे ही लोगों में

..... जीवन की भूख हुआ करती है

शब्दार्थ :-

बंधु = भाई, मतलब = अभिप्राय, जरूर = अवश्य

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने इतना अपमान अनुभव किया कि अपने प्राण दे दिए। शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष का सम्पूर्ण नगर

[98]

आटा.

आओ मेरे बच्चों

निकट आओ

आओ मुझसे सट जाओ ...

जब तक ये महल

ये सोने के कलश और कूंगरे

और ये राजमार्ग

हमारे खाने के लायक बने

तब तक तुम

— मुझको ही खाआ.

आओ मेरे बच्चो

डरो मत

आटा.

हाँ

देखो,

पहले मेरा दिल निकाल कर खाना

फिर दोना. हाथ,

इन्होंने मुझे

बहुत कष्ट दिया;

ये अगर न होते तो यह जीवन

बड़ी सुगमता से जिया जाता।

.... हाँ

फिर थोड़ा-सा

अपनी उँगलियों का मांस

मुझको भी दे देना।

शब्दार्थ :-

कष्ट = दुःख, सुगमता = आसानी

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। लेकिन शंकर जी से यह सब देखा न गया, वह अपना देवत्व भूल बैठे और दक्ष का सम्पूर्ण नगर ही विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी ऐसी अवस्था में पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे देवता शंकर की इस प्रकार मनोदशा को देखकर हैरान हैं। वे सभी शंकर जी को इस घोर दुःखद परिस्थित से निजात दिलाने पर विचार कर रहे हैं, ब्रह्मा जी स्वयं को शंकर जैसी अवस्था में पाकर किंकर्तव्यविमूढ़ से हो रहे हैं, कि तभी दक्ष प्रजापति का भ त्प सर्वहत्त जो कि इस महाविनाश में अकेला ही बचा है और अभी तक विक्षिप्तावस्था में था। भूख से व्याकुल दक्ष प्रजापति भ त्प सर्वहत्त ब्रह्मा जी से अपनी बात निसंकोच रूप में प्रकट करता है हालांकि वह स्वयं अपनी मानसिक स्थिति से अनजान है दक्ष विनाशकारी

[99]

अरे!
 ये तो बोलते नह
 हिलते-डुलते भी नह
 शायद खड़े-खड़े मर गये
 झर-झर-झर
 सौंसों के सब पत्ते झर गये
 खड़े-खड़े मर गये —
 बेचारे —
 भूख के मारें
 च: च: च:।
 किन्तु
 मैं अकेला रह गया हूँ अब
 बिल्कुल अकेला
 पूरे नगर में अकेला
 आह!
 इन राजमहलों से मोह
 अब तोड़ना पड़ेगा मुझे
 अब शीघ्र अब
 यह नगर छोड़ना पड़ेगा मुझे
 वरना क्या खाऊँगा और क्या पियूँगा यहाँ?
 छोड़ना
 ग्रहणकरके
 छोड़ना
 कितना कठिन होता है
 आह!

शब्दार्थ :-

मोह = माया, वरना = अन्यथा

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी व उनके गणों ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। परमज्ञानी शंकर जी को अपनी पत्नी से इतना गहरा था प्रेम कि वे पार्वती के अधजले शव को अपने कन्धे पर लटकाए व्याकुल हुए घूम रहे थे देवता शंकर जी को इस महाघोर दुःखद परिस्थिति से निजात दिलाने पर विचार कर रहे हैं, कि तभी इस महाविनाश में अकेला ही बचा दक्ष प्रजापति का भ त्प सर्वहत्त भूख से व्याकुल ब्रह्मा जी से अपनी बात निसंकोच रूप में प्रकट करता हैं दक्ष भ त्प सर्वहत्त विनाशक युद्ध को अपनी आँखा. से देखने वाला किस कदर भयावह स्थिति तक पहुंच गया हैं पागलपन की हद को पार करता हुआ जब दक्ष भ त्प सर्वहत्त देवगणों को बच्चों के रूप में सम्बोधित

[100]

आह, शोक ने मुझ
अचीन्ही स्थितिया. से जोड़ दिया,
महाशून्य के अन्तराल में
निकट अकेला छोड़ दिया,
सारा धीरज सोख लिया है
सारा रक्त निचोड़ दिया,
प्रियाहीन व्यक्तित्व-विखंडित
जगह-जगह से तोड़ दिया।

शब्दार्थ :-

निकट = समीप, सारा = पूरा, विखंडित = टुकड़े-टुकड़े

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपना अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी व उनके गणों ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय दूसरे लोग ले गए। महिमा मण्डित छल से उबे हुए शंकर पत्नी सती के अपार वियोग में शोक मग्न और अशान्त सती के शव को कन्धे पर लटकाए विचार करते हैं -

व्याख्या :-

प्रिया की मृत्यु के कारण शोक वश में किन परिस्थितियों में पहुंच गया हूँ जिनसे मैं परिचित भी नह था। जिनके विषय मैं मैंने सुना तक न था बिल्कुल ही अन्जान था। कहने का भाव है कि प्रिय पत्नी के शोक में जो दुःख मैंने अब भोगा है वह पहले कभी नह भोगा था। धरती और आकाश के बीच में जो सूनापन है उसमें इस दुःख ने मुझे अकेला ही छोड़ दिया है आज मेरा कोई साथी नह है और न ही कोई इस दुःख समय में मेरे साथ हैं मुझे अकेलेपन का गहन बोध हो रहा है जिसके कारण मेरा सारा धैर्य समाप्त हो रहा है इसी के कारण मेरा मन बहुत अशान्त हो रहा है सती से अलग होने से मुझे ऐसे लग रहा है जैसे कि किसी ने मेरे शरीर का सारा खून निचोड़ लिया हो जिसके कारण मैं नितान्त स्वयं को कमजोर अनुभव कर रहा हूँ। अपनी प्रिया सती से अलग होकर उन्ह. अपना व्यक्तित्व टूटा हुआ और अधूरा जान पड़ता है महादेव कहते हैं कि मुझे ऐसे लगता है कि जैसे किसी ने मुझे जगह-जगह से खण्ड-खण्ड कर दिया हो जीवन के प्रति एक प्रकार से सारा मोह ही समाप्त हो गया है अब तो ऐसे लगता है जैसे मेरा जीवन ही उद्देश्य हीन हो गया हो जीवन का वह बल न रहा जो जीने में सहायक होता है महादेव शंकर की वह आत्मशक्ति मानवीय दुविधा के लिए सत्य सिद्ध होता है कि जब भी किसी का कोई अति प्रियजन या साथी बिछुड़ता है तो सारा संसार पलभर में ही क्षणभंगुर नजर आने लगता है और तब आत्ममोह का बंधन टूट जाता है

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।

रहा। यह स्थिति मेरे लिए बहुत बुरी है जिससे मैं उबर नह पा रहा हूँ मैं लाचार और विवश होकर तटस्थ भाव से देखे ही जा रहा हूँ यह सब मेरे लिए कितनी पीड़ादायक स्थिति है जिसे समझना मेरे स्वयं के लिए ही संभव नह हो पा रहा हूँ महादेव शंकर अपनी पत्नी सती पार्वती को निहारते हुए इतना आत्मविमुग्ध हो जाते हैं और बार बार विचार करते हैं कि दैव ने उन्हें किस स्थिति में लाकरके छोड़ दिया है कि जहाँ पत्नी विहीन होकर वह स्वयं को निःसहाय पा रहे हैं। पत्नी वियोग का दुःख देवाधिदेव महादेव से सहा नह जा रहा है

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. विम्ब प्रधान।
3. कोमल भाव।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. योजना रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. करुण द श्यावलोकन।

[102]

धिक् मेरा देवत्व।
 कि जिसकी कायर गाथा,
 धिक् मेरी सामर्थ्य!
 कि जिसने टेका गाथा,
 धिक् मेरा पुंसत्व!
 कि जिसका बोध अधूरा,
 धिक् मेरा जीवन!
 जिसका प्रतिशोध अधूरा।

शब्दार्थ :-

प्रतिशोध = बदले की भावना, अधूरा = आधा, धिक् = धिक्कार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने घोर अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर उन्हें मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए विषपान ही करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। उसे देखकर अपने ही प्रति कुपित और क्षुब्ध हो उठते हैं और अपनी असमर्थता पर स्वयं ही भाव विहल

इन्द्रियों से परे, आप मन, वाणी
से भी परे हैं। आप ही विश्व
को उत्पन्न कर फिर पालन करते हैं।
सब कर्मों के फल देने वाले सदा
आप ही हैं। हे भगवान्, हे परमेश्वर
अब आप देवताओं पर कृपा कर।
हे रुद्र, शांत, ब्रह्म, परमात्मा आपको
प्रणाम हैं

शब्दार्थ :-

लौकिक = व्यवहारिक, आचार = आचरण, प्रणाम = नमस्कार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है कि तभी उन्ह. स्तुति स्वर सुनाई देता है इससे शंकर के मनोभावा. में कुछ परिवर्तन आ जाता है स्तुतिरूप में देवगण महादेव से कहते हैं कि -

व्याख्या :-

हे देवाधिदेव महादेव! आप तो देवा. के भी देव हैं अर्थात् देवताओं में सबसे ऊंचा स्थान रखते हैं, आप तो महादेव हैं। हे महा प्रभु आप सांसारिक आचार मानने वाले हैं अर्थात् संसार की व्यवहारिकता को जानते हैं। हम तो आपकी कृपा से ही हैं। आपको ब्रह्म ही मानते हैं अर्थात् संसार का रचयिता मानते हैं। आप साक्षात् ईश्वर हैं। हम आपको महादेव शिव के नाम से पुकारते हैं। आप तो पापों को धोने वाले हैं आप हमें क्या. मोहित कर रहे हैं अर्थात् क्या. हमें मोह माया में बांध रहे हैं आपकी माया को तो आज तक कोई भी नह जान पाया है आपकी मोहिनी शक्ति तो सामान्य प्राणियों के लिए सदा ही एक अनबूझ पहेली रही है हे जगत् के प्रकृति पुरुष आपसे ही इस सृष्टि की रचना हुई है आप तो मन, वचन और इन्द्रियों से भी बहुत ऊंचे हैं अर्थात् मन वचन और इन्द्रियों की सहायता से आपको नह जाना जा सकता। हे महा प्रभु! आप मन वाणी से भी तो परे हैं अर्थात् आपकी स्तुति तो हम अपने शब्दा. एवं वचना. से करने के अयोग्य हैं अर्थात् किसी भी रूप में हम आपको प्रसन्न नह कर सकते आपकी स्तुती नह कर सकते हैं हे महादेव हम तो इतना जानते हैं कि आप ही सृष्टि उत्पन्न करते हैं और उसकी पालना करते हैं। आगे स्तुति रूप में देवगण कहते हैं कि, हे भगवन सब लोगों के कर्मों का फल आप ही तो देते हैं। हम आपकी क्या स्तुति कर. आप हम देवताओं पर भी कृपा कर.। हे शान्त ब्रह्म परमात्मा आपको हमारा प्रणाम है आप अपने रौद्र रूप को त्याग कर शान्ति अवस्था में आ जायें अर्थात् शान्त हो जायें क्या.कि आपके त्रेनेत्र से निकलती हुई ये भयानक ज्वालाएं हम सब के लिए अहितकारी हैं। हे सकल जगत् के उत्पादक और पालनकर्ता प्रभु हम पर कृपा कीजिए।

देवगणों को अपने जैसे दुःखी कर द.गे अर्थात् समस्त संसार को नष्ट कर द.गे लेकिन इस प्रार्थना रूप शब्दा. से भगवान शंकर में एक परिवर्तन जाग त हो रहा है जो उनके क्रोध को क्षम्य रूप में ले जा रहा है भगवान शंकर कहते हैं कि वह जो मुझे प्रार्थना रूप में याद कर रहा है मेरे सामने क्या. नह आता। वह मुझे दिखाई क्या. नह देता। वह मुझसे दूर क्या. भाग रहा है भगवान शंकर कहते हैं कि मुझे तो ऐसा लगता है जैसे मेरे साथ कोई छल कर रहा है कहने का अभिप्राय यह है कि महादेव शंकर के क्रोध के सामने किसी भी देवगण के आने की हिम्मत नह हो रही है यह जग प्रसिद्ध है कि उनके त्रैनेत्र से निकल रही क्रोध की अग्नि से महाप्रलय भी सम्भव है इसीलिए देवतागण किसी भी रूप से महादेव के क्रोध को शान्त करके ही उनके सामने आना चाहते हैं लेकिन वे यह नह समझ नह पा रहे हैं कि महादेव की छुप-छुप स्तुति करना महादेव के लिए एक सम्मोहन जैसा सिद्ध हो रहा है अर्थात् मायापति महादेव शंकर को ही सम्मोहन में बांधने का असफल प्रयास कर रहा है जोकि किसी भी रूप में देवताओं के लिए हितकारी नह हो सकता बल्कि शंकर का क्रोध घटने के बजाय बढ़ सकता है और इससे समूचे संसार को नुकसान ही हो सकता है

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. विम्ब विधान।
6. छन्द युक्त।
7. विनयपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. कोमल भाषा शैली।
11. स्तुति रूप सरस काव्य।

[105]

हे पारब्रह्म!
 कैलाश नाथ,
 हे कालजयी,
 हे कालकूट विषपायी स्रष्टा
 अष्टनाम!
 में वरुण आपके चरणों में
 करता प्रणाम!

शब्दार्थ :-

नाथ = स्वामी, विषपायी = विष का पान करने वाला

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता

स्वयंभू महादेव
ये सारे सम्बोधन
हैं कितने क्रूर व्यंग्य!
जो करते आए हैं मेरे संग
छल सदैव।

शब्दार्थ :-

कालजयी = काल को जीतने वाला, व्यक्तित्व = व्यक्ति विशेष

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मिला क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख प्रेमभाव में आकर अपने सामने कर लेते हैं और सती से जैसे बात करते हुए शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है कि तभी स्तुतिरूप में एक आवाज शंकर को सुनाई देती है जोकि वरुण देव जी की हैं वरुण जी के प्रार्थनारूप शब्द। को सुनकर शंकर जी एक घणास्पदभाव से भरकर कहते हैं :-

व्याख्या :-

में पारब्रह्म हूँ। इस प्रकार के शब्द मुझे तो व्यंग्य बाण मालूम पड़ रहे हैं। मुझे तो ऐसा लगाता है कि जैसे मेरा कोई हास-परिहास कर रहा है देवगण मुझे कैलाशनाथ कहते हैं और मुझे सृष्टि का निर्माता कहते हैं लेकिन मैं क्या हूँ। क्या मैं कालजयी व्यक्तित्व हूँ जिससे काल को कभी जीता। शंकर महादेव कहते हैं कि मैं स्वयंभू महादेव हूँ अर्थात् अपने आपको देवा. का देव महादेव मानता हूँ कहने का अभिप्राय: यह है कि देवगण मुझे महादेव नह मानते और उनका इस प्रकार से सम्बोधन करना कि मैं सृष्टि का निर्माता हूँ, सृष्टि का पालनकर्ता हूँ और कैलाशपति हूँ परमब्रह्म हूँ और काल को विजय करने वाला महादेव हूँ इस प्रकार का सम्बोधन तो मुझ पर एक बहुत बड़ा क्रूरतम व्यंग्य है महादेव शंकर कहते हैं कि आरम्भ से ही देवगण मेरे साथ इस प्रकार का छल करते आए हैं अर्थात् वो मुझे सम्बोधन में तो सम्मान देते हैं किन्तु वास्तव में वो मेरा सम्मान नह करते यदि मेरा सम्मान करते तो मेरे साथ इस प्रकार का हास्यास्पद वर्ताव न करते महादेव शंकर को इस प्रकार के सम्बोधन से एक आत्मिक शान्ति मिलने के बजाय उनके अन्तर्दृष्टि को एक विचार रूपी सागर की तरफ ले जाती है जहाँ वो अपने आपको आहत ही महसूस करते हैं और उनका क्रोध कम होने की बजाय यथवत ही बना रहता है और उनके हाव भाव में परिवर्तन आने के बजाय एक और विषमयकारी भाव स्थान ले लेता है

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।

दक्ष प्रजापति को समझाते-बुझाते और उसको बाध्य करते कि इस प्रकार से वह मेरा अपमान न कर. क्या.कि जब मैं आप सबको अपना मित्र मानता हूँ तब आप सब भी मुझे अपना मित्र मानते हैं कि नह । महादेव कहते हैं कि यदि मित्र मानते हो तो क्या. नह उस समय मुझे विपत्ति में पड़ने से बचाया। यदि तुम लोग मित्रता निभाते तो आज मेरी प्रेयसी सती मुझसे दूर न होती और इस प्रकार से मेरा हास-परिहास न उड़ाया जाता। तुम लोगों ने मेरे साथ अपनी मित्रता नह मुझे लगता है शत्रुता निकाली हैं

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. भाव प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. कथोपकथन।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. युक्तिसंगत।
9. आत्म लोचना।
10. संवाद गेय।

[108]

**आपकी अवज्ञा
प्रभु मुझको भी बहुत खली
सोचा था
दू दक्ष को क्रुद्ध हो, कठिनश्राप
फिर सोचा -
यह तो बात बहुत साधारण है;
देवत्व और आदर्शों से
परिपूर्ण आप!**

शब्दार्थ :-

क्रुद्ध = गुस्सा, कठिन = कठोर, परिपूर्ण = पूरी तरह से

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने क्रोध में आकर अपने प्राण दे दिए। बाद में शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान धारण करने के बाद भी आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध

शब्दार्थ :-

परिधान = वस्त्र, निर्वासन = बहिष्कृत, श्रेय = वाह-वाही

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है कि तभी स्तुतिरूप में आवाज आती है कुबेर जी के प्रार्थनामयी बाता. को सुनकर शंकर जी एक व्यंग्यात्मक रूप से कहते हैं :-

व्याख्या :-

आदर्शों का परिधान ओढ़कर मैंने क्या पाया जब कि मैं देवताओं का भी देव हूँ तो भी मुझे क्या मिला — एक पत्नी वियोग अर्थात् यदि दक्ष मुझे अपने यज्ञ में निमन्त्रित कर लेता और मेरे देवपन का सम्मान करता तो क्या मेरी प्रेयसी मुझसे दूर हो जात शंकर जी के कहने का भाव यह है कि मेरे देवपन का भी मजाक ही उड़ाया गया। तभी तो मैं जंगल-जंगल, पर्वत-पर्वत भटकते हुए एक निर्वासित व्यक्ति की भांति जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि मैं देव न होता तो अपनी इच्छानुसार जो चाहता वह करता और जिस प्रकार से मैं निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहा हूँ उस प्रकार से आज जो स्थिति मेरी है वह कदापि न होती और मैं अपनी प्रेयसी, प्यारी जीवन संगिनी के वियोग में इस प्रकार से तपड़प न रहा होता। आदि काल से ही हर कठिन स्थिति विशेष में मुझे ही विषपान करना पड़ा है और मैंने समाज हित के लिए अपने प्राणा. की परवाह न करके विषपान किया, लेकिन मुझे मिला क्या। मुझे कुछ नह मिला सिवाय आत्म प्रपंचना के मैं हैरान होता हूँ कि सारे कष्टकारी कार्य तो मैंने सिद्ध किये और उन सबका श्रेय ले गए दूसरे लोग। यह कैसी विडम्बना है कि अच्छा कार्य तो कोई करे और उसका यश नाम किसी और को मिल. महादेव सोचते हैं कि मेरे साथ तो यही हो रहा है कि एक फलदार व क्ष की भांति धूप, मेह, सर्दी तो झेलूँ मैं और मीठे फल खायें ये भोगी, विलासी, आलसी अन्य देवगण।

विशेष :-

1. उत्प्रेक्षा अलंकार।
2. भाव प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. युक्ति संगत।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. नाट्यात्मक।

2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. करुण द श्यावलोकन।

[111]

हे शिव शंकर
 आपकी कृपा है 'औ' मेरा सौभाग्य,
 चराचर
 मुझे आपका मित्र मानकर चलते हैं
 फिर अलकापुरी निकट ही है
 कैलाशधाम के स्वामी का
 प्रतिवेशी होने के कारण
 इतना अधिकार समझता हूँ,
 जो बिना प्रयोजन
 बिना अपेक्षा आ जाऊँ।

शब्दार्थ :-

चराचर = सम्पूर्ण जगत, स्वामी = मालिक, प्रतिवेशी = पड़ोसी

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति बहुत शोचनीय है दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है जब कुबेर जी को भी शंकर जी फटकार देते हैं तब पुनः याचना भाव से कुबेर जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे महादेव शंकर आप कृपया शांत हो जाइए। मैं तो आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं। आपकी कृपा से मैं यहाँ हूँ। आपकी कृपा से ही मेरा यह सौभाग्य है कि सकल जगत के देवगण मुझे आपका अभिन्न मित्र मानकर चलते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि शंकर जी का सहयोग कुबेर जी को न मिलता तो आज उन्हें कोई इस रूप में न मानता जिस रूप में वह

जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है, कि तभी स्तुतिरूप में आवाज आती हैं शंकर जी एक व्यंग्य भाव प्रकट करते हैं। शंकर जी की व्यंग्य वाणी में भी कटु सत्य का पुट है तभी कुबेर जी कहते हैं :-

व्याख्या :-

हे महादेव इस पीड़ित अवस्था में देखकर मेरा मन, मेरा हृदय भी द्रवित हो उठा है कहने का अभिप्राय यह है कि भगवती सती के वियोग में जिस प्रकार से शंकर जी पीड़ित और कुंठित हो रहे हैं उस स्थिति में तो कोई भी व्यक्ति अपने आपको नह सम्भाल सकता अर्थात् जब भी कभी किसी का कोई अतिप्रिय जन बिछुड़ता है तो हृदय में एक ऐसा सूनापन आ जाता है जिससे सहज भरना सम्भव नह होता। इसी परिस्थिति का शिकार महादेव शंकर हुए हैं। कुबेर जी कहते हैं कि में केवल मात्र अपना कर्तव्य समझ कर ही आपके पास आया हूँ। कुबेर जी कहते हैं कि क्या करूं में भी असंवेदनशील तो नह हूँ मुझमें भी संवेदना है और में भी इस दुःख को समझ सकता हूँ और समझता भी हूँ कि यह जितना आसान दिखता है। उतना ही कठिन है इसको झेल पाना। इसलिए हे महादेव में अपनी संवेदना व्यक्त करने आपके पास आया हूँ। मेरा भी तो अपने पर बस नह रहा और यह देखकर में भी विषमय से भर जाता हूँ कि मेरा पड़ोसी शंकर आपात स्थिति में हो और में चुपचाप अपने घर बैठा रहूँ यह कैसे सम्भव हैं वह कहते हैं कि एक तो अन्तर्मन की पुकार कि मित्र की सहायता करनी चाहिए और दूसरा पड़ोसी होने के नाते भी सुख-दुःख में शामिल होना चाहिए और तीसरा मेरे हृदय की यह विवशता है कि में अपने आपको रोक नह पाया इसलिए आपके पास आया हूँ।

विशेष :-

1. उत्प्रेक्षा अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. भावात्मक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. कथोपकथन।

[113]

कर्तव्य तुम्हारा
धन-संचय से इतर
और भी है कोई?
यदि है तो, हे धनपति कुबेर!
यह है कुयोग;
में तो समझा था
धन के दृष्टि नह होती
भावना-शून्य हो जाते हैं

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. खड़ी बोली।
5. सरस काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।

[114]**सचमुच****यह शिष्टाचार नह ;****भावना-भरा संवेदनशील हृदय****हम कैसे दिखलाई?****कैसे बतलाई यह कि आज****कर्तव्य-विवश हो****सहज****मित्र के नाते ही हैं हम आए।****शब्दार्थ :-**

सचमुच = सत्य में, नाते = रिश्ता, सहज = आसान, विवश = मजबूर

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है कि तभी स्तुतिरूप में आवाज आती हैं शंकर से सहमति बुलाते हैं जब वरुण जी कहते हैं कि यह तो औपचारिकता भी नह है तो इस पर कुबेर जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे महादेव जी! जिस भावना से मैं आपके पास आया हूँ, क्या वास्तव में वह शिष्टाचार नह हैं भावना भरा शिष्टाचार और कैसा होता है कुबेर जी का गला भर जाता है और वे विचलित से होकर कहते हैं कि हे देवाधिदेव महादेव हम अपना संवेदनशील भरा हृदय कैसे दिखाएं अर्थात् संवेदना व्यक्त करने के लिए भी तो वाणी का ही सहारा लिया जाता है कुबेर जी कहते हैं कि मन की भावनाएं

का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है कि तभी स्तुतिरूप में आवाज आती हैं शंकर से जब वरुण जी कहते हैं कि यह तो औपचारिकता भी नह है तो इस पर कुबेर जी कुछ कहते हैं तब उनकी बाता. से आहत होकर एकाएक शंकर जी क्रोधित होकर कहते हैं कि -

व्याख्या :-

कुबेर तुम अपना यह प्रलाप बन्द करो मुझे इसमें कोई सच्चाई नजर नह आत बार बार तुम जिस संवेदना की बात करते हो वह सब वास्तविक नह हैं बल्कि वह छल का ही दूसरा रूप दिखाई देता हैं तुम किस संवेदनशीलता की बात करते हो और कभी-कभी कर्त्तव्यों की भी बात करते हो मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम इन सब चीजा. से वाकिफ ही नह हो अर्थात् तुम्हारा इनसे दूर-दूर तक भी कोई सम्बन्ध नह हैं हे कुबेर तुम्हारे इस वक्तव्य से और बार बार यह कहने से कि मैं तो अपने मित्र के घर आया हूँ क्या. तुम्हें इससे कोई ग्लानि नह होत भगवान शंकर कहते हैं कि जो व्यक्ति सच्चा मित्र होता है वह कभी मित्रता की दुहाई नह देता। बल्कि चुपचाप अपने कर्त्तव्यों का पालन करता जाता हैं एक तुम हो कि कभी अपने हृदय की संवेदनशीलता की बात करते हो, कभी कर्त्तव्यों की बात करते हो और बार-बार यह कहते हो मैं मित्र के घर आया हूँ, मैं मित्र के घर आया हूँ, संदेवना व्यक्त करने आया हूँ, मुझसे रहा नह जा रहा है, इसलिए मैं अपनी भावना व्यक्त कर रहा हूँ। इन सब बाता. से तुम्हें आत्म ग्लानि होनी चाहिए कुबेर। भगवान शंकर तो कुबेर की बाता. से दुःखी होकर यहाँ तक कह देते हैं कि कुबेर को तो अंजुली भर पानी में ही डूब मरना चाहिए। क्या.कि देवरूप में भी होकर कुबेर ने अपने व्यवहार में सात्विकता नह बरत रहे हैं बल्कि दिखावा ही कर रहे हैं और जब भी व्यक्ति दिखावा अधिक करता है तो सामने वाला कितना भी अंजान क्या. न हो उसे पता तो चल ही जाता है फिर आखिर महादेव तो देवा. के देव हैं।

विशेष :-

1. विप्सा अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. क्रोधपुट भाव।

[116]

मित्र अगर होते तुम
मेरा अपयश या अपमान न होता
या तो यज्ञ न होता

विशेष :-

1. रूपक अलंकार ।
2. तत्सम प्रधान ।
3. ध्वनि साम्य ।
4. भावपूर्ण भाषा ।
5. सरस काव्य ।
6. प्रबन्ध रचना ।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति ।
8. संवाद गेय ।
9. सजीवता ।
10. प्रभावो पादकता ।
11. बिम्ब विधान ।

[117]

सम्प्रति केवल
बल की भाषा
शक्ति-प्रदर्शन,
सम्प्रति केवल
युद्ध, व्यूह-रचना,
अरि-मर्दन,
और मेरे आत्मज योद्धाओ
अरे अभागो,
ओ डाकिनियो, शाकिनियो
ओ प्रेतो जागौं

शब्दार्थ :-

प्रदर्शन = दिखावा, अरि-मर्दन = दुश्मनों को मसलना, मारना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है और अपने गणों, डाकिनिया., प्रेतों आदि से कहते हैं -

व्याख्या :-

अब तो केवल शक्ति प्रदर्शन का ही समय है क्या कि लोग बल की भाषा ही समझते हैं अर्थात् महादेव शंकर का क्रोधावेश में स्वयं पर नियन्त्रण नह रहा। देवगणों के स्तुति रूप विनय शब्द और

**कपालीश, कूष्मांड
और भैरव सन्नाधो,
उठो तुरत संकेतों पर
ब्रह्मांड हिला दो ...**

शब्दार्थ :-

जागो = जाग जाना, भयानक = वीभत्स/डरावना, संकेत = इशारा

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की दशा वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं। उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है तब वे अपने गणों वैष्णवी, भवानी, केकराद्धा आदि भयानक, क्रूर योद्धाटा. को आदेश देते हैं -

व्याख्या :-

जागो वीरभद्र, ईशानी तुम भी जागो महादेव शंकर क्रोध के वशीभूत होकर अपने गणों को पुकारते हुए कहते हैं वैष्णवी, भवानी, केकराक्ष, दुद्रम, विष्टभवीर, संदारक, पिप्पल, आवेशन, आदित्यमूर्ध, सन्तानक जागो और मेरे एक संकेत पर समूचे ब्रह्माण्ड को तहर नहस कर दो जिन लोगों ने मुझे इस असहाय अवस्था में पहुंचाया है उन सब का विध्वंस कर दो भगवान शंकर गरजते हुए क्रोध पूर्ण वाणी में कहते हैं कि हे कात्यायनी, भद्रकाली, सर्वाकक, समद, काकपादोदर, क्रुंडी, प्रथम भयानक तुम भी जागो महादेव शंकर कहते हैं कि तुम लोग अनेका. बार मेरे इशारे पर अपना भयानक प्रचण्ड रूप दिखा चुके हो जिसे देखकर संसार भयानक आकृति रूप के भय से कांपने लगता है कात्यायनी और भद्रकाली की संहारक व त्ति तो इतनी वीभत्सकारी है कि देवगण भी दातों तले अंगुली दबा लेते हैं। संसार में आज तक कोई भी योद्धा तुम सबके सामने टिक नह पाया है अर्थात् तुमने सबको असमय ही कालकवलित कर ही दिया। शंकर जी कहते हैं कपालीश, कूष्मांड और भैरव सन्नाधो में तुम्हें बार बार पुकार रहा हूँ उठो और मेरे एक इशारे पर इस ब्रह्माण्ड को हिला कर रख दो अर्थात् जगत् में त्राहि-त्राहि मचा दो योगी शंकर मानसिक वेदना में इस कदर जकड़ गये हैं कि उन्हें अब कुछ सुझाई नह दे रहा है उन्हें तो एक ही चीज नजर आ रही है कि बस संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर दो ये उनके क्रोध की ज्वाला का प्रलयकारी रूप है कि अपने सभी गणों को एक-एक करके पुकारते हैं और सभी को आदेश देते हुए कहते हैं कि महाविनाशकारी युद्ध को साकार रूप देना है उठो और तैयार हो जाटा. भगवान शंकर का क्रोध किसी भी रूप में थमने का नाम नह ले रहा है

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।

हालांकि सती के पिता प्रजापति दक्ष, माता वीरिणी और भाई व अन्य स्वजन इस भयंकर युद्ध में कालकवलित हो चुके हैं इसलिए अन्तिम समय में कोई भी सम्मिलित नह हो सकता। तभी शंकर जी कहते हैं कि हमारा कोई सगा सम्बन्धी इस समय नह है फिर भी मैं तुम्हारा अन्तिम संस्कार तो बड़े सम्मान तरीके से करूंगा और मैं किसी की भी परवाह न करके जो भी उचित होगा वह सब अपने हाथों से सम्पन्न कराऊंगा। हे प्राण प्यारी मैं तुम्हारा शं गार करूंगा और वन में खिल रहे सुन्दर-सुन्दर फूलों से तुम्हें सजाऊंगा।

विशेष :-

1. उत्प्रेक्षा अलंकार।
2. नाटकीयता।
3. पद्यबद्ध।
4. छन्द मुक्त।
5. भावमय दृष्टिकोण।
6. शिल्पगत विशेषता।
7. संवाद गेय।
8. कोमल भाषा।
9. संवाद योजना।
10. प्रभावोत्पादकता।
11. सजीवता।

[120]

फूट-फूट रोऊँगा कुछ देर वहाँ पर।
 फिर बाँहो में मुझे उठाकर,
 हृदय लगाए,
 सुधियों का आह्वान करूँगा,
 फिर तुझको लेकर
 मैं वन के हर उस कोने में विचरूँगा -
 तेरे साथ जहाँ
 जीवन के
 सर्वोत्तम क्षण मैंने भोगें
 चलो ... अलकानंदा की ओर चल. अब प्रेयसि!

शब्दार्थ :-

सुधियों = याद/संस्मरण, आह्वान = बुलाना, सर्वोत्तम = सबसे उत्तम

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए।

या दुर्गन्ध मात्र से,
तो हम दोना.
महाकोप के भाजन बनते,
देवलोक वापस जा पाना
बहुत कठिन था।

शब्दार्थ :-

प्रदर्शित = दिखावा, अरुचि = रुचिकर न होना, महाकोप = महाक्रोध

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय है दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग। हर पुरानी गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। सती से जैसे बात करते हुए जब शंकर एकाएक बेचैन हो उठते हैं और उनका त्रेनेत्र क्रोध से लाल हो जाता है सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। प्रिया शब्द के उच्चारण मात्र से ही शंकर जी का कण्ठ भारी हो उठता है और कन्धे पर पड़े सती के अधजले शव को निहारते ही वस्तुस्थिति को भूल जाते हैं और शव को सीने से चिपटा कर बहकी-बहकी की बातें करने लगते हैं, शंकर जी की ऐसी अवस्था को देख कुबेर जी भी व्याकुल से हो जाते हैं और कहते हैं -

व्याख्या :-

मुझे यह समझ में नह आ रहा है कि देवराज इन्द्र ने क्या सोच-समझकर हमें यहाँ भेजा। इस प्रकार के द श्य को देखकर तो मेरा अपना ही जी घबराने लगा है ऐसे हालात में मैं किस प्रकार से महादेव को कुछ कहता कुबेर जी वरुण जी से कहते हैं कि हे वरुण यह सच मानो यदि मैं उस समय जब कि शंकर दुर्गन्ध रूप शव को कन्धे पर लटकाए खड़े थे यदि उस समय में उस दुर्गन्ध से अपनी अरुचि दिखाता तो सच मानो हम दोना. ही महादेव के कोप का भाजन बन जाते वो बड़े अधीर होकर कहते हैं यदि ऐसा होता हो हम दोना. का देवलोक वापिस जाना ही बहुत कठिन था। कहने का अभिप्राय यह है कि जब व्यक्ति अवसाद या असहाय या दुःख के सागर में डूबा हो और परिस्थिति चाहे जैसी हो व्यक्ति को अप्रिय बात नह कहनी चाहिए अन्यथा उसका परिणाम बहुत भयंकर होता है महादेव शंकर वास्तव में दुनियादारी से बहुत ऊपर थे इसलिए उन्ह. सती के शव से दुर्गन्ध नह आ रही थी बल्कि उनको तो सती का वही सुन्दर रूप दिखाई दे रहा था जिसके संग-संग रह कर वह वन विहार करते थे देवगण चूंकि सत्ताधारी हैं, छल ओर प्रपंची हैं उन्ह. आत्मिक अनुभूति नह हो रही है तभी तो भगवान शंकर ने उन्ह. कहा था कि तुम लोगों के अन्दर भी संवेदन शीलता है, मुझे विश्वास नह होता। जिसको प्रमाणित कर रहे हैं देवगण वरुण और कुबेर। उन्ह. इन हालातों में शंकर के निश्चल प्रेम दर्शन नह होते बल्कि शारीरिक गति का आभाष होता है वास्तविकता तो यही है कि आत्मा तो अजर अमर है और शरीर नश्वर है इन सब बाता. को जानते हुए भी भगवान शंकर पत्नी के वियोग में इस कदर पागल हैं कि उन्ह. इसका पता ही नह है कि सती का अस्थि-पिंजर अब ज्यादा समय तक सुरक्षित रखने योग्य नह है इसके बावजूद वह उसे अपने हृदय से लगाये घूमते हैं। इस प्रकार की स्थिति से उन्ह. अवगत

पड़े सती के अधजले शव को निहारते ही वस्तुस्थिति को भूल जाते हैं और शव को सीने से चिपटा ही रहते हैं, इस घटना को ध्यान में लाते हुए वरुण जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे कुबेर! तुम्हें बताओ कि क्या मोह ज्ञान को इतना अन्धा कर देता है कि हम मृत्यु को भी सहज स्वीकार नहीं करते हैं। कहने का भाव यह है कि प्रायः यह देखा जाता है कि जब भी किसी व्यक्ति का कोई अति प्रिय सम्बन्धी बिछुड़ा जाता है तब उसका मन सहजता से यह स्वीकार ही नहीं करता कि उसका एक परमप्रिय उससे सदा के लिए दूर हो गया है बल्कि ऐसा लगता है कि जैसे कुछ भी नहीं हुआ है सब कुछ वैसे ही है जैसा पहले था अर्थात् सत्य को स्वीकार नहीं करता और यही हालत आज शंकर जी की हो रही है महादेव इतने मोहग्रस्त हो चुके हैं कि वह परमज्ञानी होकर भी यह भूल बैठे हैं कि जाने वाली आत्मा वापस नहीं आती वरुण जी कहते हैं कि हम अज्ञानता वश मृत्यु को भी सच नहीं मानते जैसा कि शंकर जी के व्यवहार से दिख रहा है कि वह इस परिवर्तनशील संसार पर विश्वास नहीं कर रहे हैं तभी तो बिक्षुब्ध हृदय से शव को ही सुन्दर और सनातन मानकर अपने से चिपकाए हुए हैं। वरुण जी शंकर जी को इस स्थिति में देखकर विस्मय में पड़ जाते हैं कि इतना ज्ञानी-ध्यानी और परम योगी भी मोहग्रस्त होकर इस प्रकार का आचरण करते हैं तो सामान्य जन को क्या कहा जा सकता है उस बेचारे की क्या दुर्गति होती होगी जिसको न ज्ञान का पता न ध्यान का पता है वरुण जी कुबेर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मुझे तो ऐसा लगता है कि भगवान् शंकर अभी तक इस परम सत्य को स्वीकार नहीं कर पाए हैं कि सृष्टि में जो आता है उसे किसी न किसी कारण एक दिन संसार से वापस जाना ही पड़ता है कारण और परिस्थिति कुछ भी हो संसार सदा के लिए कोई भी व्यक्ति सुरक्षित नहीं है महायोगी शंकर परम ज्ञानी-ध्यानी हैं फिर भी पत्नी वियोग में इस कदर पागल हो रहे हैं कि उन्हें इस परम सत्य अर्थात् सती के मृत्यु का बोध ही नहीं हो रहा है

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. सरल भाषा।
5. सुबोध काव्य।
6. रस-योजना।
7. विस्मय बोधक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. मर्मतिक द श्यावलोकन।

[123]

शायद ऐसा ही होता है
इसीलिये संभवतः जग में
जब परम्परा का खंडन कर
कोई नया मूल्य उठता है -
लोग उसे मिथ्या कहते हैं।

9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. नई परम्परा का स जन भाव।

[124]

अब तुम सोचौं
 यह दुर्गन्ध
 जिसे शंकर ने ओढ़ रखा है,
 जिसको हमने पल भर भोगा,
 कितनी कटु है!
 कितनी विषमय!!
 सारे युग में फैल गई यदि,
 तो क्या होगा?

शब्दार्थ :-

दुर्गन्ध = प्रदूषित गंध, कटु = कड़वी, विषमय = आश्चर्यजनक/आश्चर्य से भरपूर

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। सहसा कन्धे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं। प्रिया शब्द के उच्चारण मात्र से ही शंकर जी का कण्ठ भारी हो उठता है और कन्धे पर पड़े सती के अधजले शव को निहारते ही वस्तुस्थिति को भूल जाते हैं और शव को सीने से चिपटा कर बहकी-बहकी की बात करने लगते हैं। शंकर जी की मनोदशा को देखकर कुबेर जी व वरुण जी आपस में बातचीत करते हैं, वरुण जी के शब्दा. को सुनकर कुबेर जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे वरुण! तुम स्वयं विचार करो कि यह दुर्गन्ध जो महादेव शंकर ने ओढ़ रखी है और जिसकी दुर्गन्धि को हमने महसूस भी किया है वह इतनी भयानक है कि पलभर वहाँ खड़ा रहना भी मुश्किल हो रहा था। वह कितनी विचित्र है और कितनी विषमयकारी है कुबेर जी वरुण जी से कहते हैं कि यदि सारे संसार में यह दुर्गन्धि फैल जाएगी तब क्या होगा। कुबेर जी के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार से भगवान शंकर एक नई परम्परा रच रहे हैं यदि उसी परम्परा को संसार वासियों ने भी अपना लिया तो स्थिति कितनी भयानक बन जायेगी प्रायः लोग अपने से बड़ों का ही अनुकरण करते हैं शंकर की इस प्रकार की भयानक स्थिति को देखकर दोना. देवगण संकोच में पड़ जाते हैं और रह रह-कर उनके मन में एक प्रश्न पैदा होता है जिसका उत्तर उन दोना. को सुझाई नह देता। इस परिस्थित में वह शंकर को कुछ कहना भी चाहिते हैं लेकिन इस डर के मारे चुप हो जाते हैं कि यदि शंकर भगवान उनकी बाता. से आहत हुए और क्रोधित हो गये तब जो स्थिति बनेगी वह वास्तव में महा विनाशक होग क्या.कि दोना. को ही अपने प्राणा. से हाथ धोना

करने लगते हैं। शंकर जी की ऐसी मनोदशा को देखकर कुबेर जी व वरुण जी आपस में बातचीत करते हैं -

व्याख्या :-

वरुण जी कुबेर जी से कहते हैं इस प्रकार कि स्थिति में हमें ज्यादा चिन्ता नह करनी चाहिए। हम बेकार में क्या. परेशान हों। जो भी होता हो, हो जाये हमें इनसे कोई लेना देना नह । इन सब परिस्थितियों के लिए हम सब उत्तदायी नह हैं। वरुण जी कहते हैं कि जब सृष्टि के नियन्ता होकर महादेव शंकर स्वयं ही अपने रचे हुए नियामों को तोड़ें उस पर आचरण न कर. तो हम क्या कर सकते हैं हमें इस प्रकार ज्यादा चिन्तित नह होना चाहिए। वरुण जी कहते हैं कि जब रखवाला ही भक्षक बन जाये तो कोई क्या कर सकता है कहने का अभिप्राय यह है कि सृष्टि निर्माण के समय भगवान शंकर को भी एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी मिली थी और उनके सहयोग से ही तो सृष्टि का निर्माण हुआ था। उन्ह. भली भांति पता है कि उन्ह. कैसा आचरण करना चाहिए। महादेव शंकर परमज्ञानी हैं। उन्ह. कुछ भी समझाने से कोई भी फायदा नह । क्या.कि जिन परिस्थितियों में वह हैं उन परिस्थितियों में हम कुछ भी नह कर सकतें भगवान शंकर का यह आचरण संसार के लिए एक देव का आचरण नह हैं बल्कि एक ऐसा आचरण है जो संसार को विनाश की ओर ले जायेगा। इस प्रकार से वरुण जी कुबेर जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि शंकर जी जैसा भी आचरण करते हैं, करने दो हों हम इतना ध्यान अवश्य रखेंगे कि पार्वती के शव से उठने वाली दुर्गन्ध अर्थात् विष भरी वायु को हम अपनी ओर नह आने द.गें

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. मुक्तिसंगत अभिव्यक्ति।
8. शिल्पगत।
9. प्रबन्ध रचना।
10. कोमल भाषा।

[126]

महादेव शंकर आते हैं
मेरुमाल सी
सन्मुख खुली भुजाआ. पर
सज्जित शव धारे,
जिससे
मेघों = जैसे केश लटकते नीचे -
हिम पर ऐसे फिसल रहे हैं
जैसे मध्याह्न में धरा पर
तार-तार हो कँपति-कँपति
निशा गिर पड़ें

[127]

लो, अक्षत सौंदर्य-शालिनी
 सती भगवती का मुख देखो
 कुछ पहचाना?
 बोलो,
 क्या ये वही रूप है,
 जिसे देखकर पूर्ण चन्द्र की
 सभी कलाएँ छिप जाती थ ?
 जिसे देखकर स्वयं = सिद्ध प्रभु
 ब्रह्मा का मन डोल गया था,
 जिसका पा स्पर्श
 मुखर हो जाती जड़ताएँ थ ।
 बोलो
 क्या ये वही रूप है?

शब्दार्थ :-

स्पर्श = छूना, पहचाना = जानना, पूर्ण = पूरा, सौंदर्य = सुन्दरता

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर का विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की दशा वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। अब शंकर अपनी प्रिया सती का अधजला शव अपने कन्धे से उतार कर अपनी बाहों में ले लिया है और उसे पुष्पों से सजा दिया है, सती जी का मुख देख कर कुबेर जी कहते हैं

व्याख्या :-

हे वरुण देव! लोक सौन्दर्य शालिनी सती भगवती का मुख देखा. कुबेर जी वरुण देव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं आपने पहचाना यह भगवती सती का ही चेहरा हैं पार्वती सती के रूप महिमा की चर्चा करते हुए कुबेर जी कहते हैं कि देखो इस समय भी पार्वती का सुन्दर मुखड़ा चन्द्रमा की भांति किस प्रकार से सुशोभित हो रहा हैं सौन्दर्य इतना महान है कि हे वरुण सिद्ध महापुरुष, संसार रचयिता ब्रह्मा जी का ही मन डोल गया था। वह कहते हैं कि सौन्दर्यशालिनी भगवती पार्वती के स्पर्श मात्र से ही जड़ में चेतनता आ जाती थ कुबेर जी वरुण जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि क्या तुम्हें यह वही रूप नह दिखाई दे रहा है कि जिसे देखकर अच्छे संत महात्मा जन भी देखते ही रह जाते थे तब क्या. न महादेव शंकर की ऐसी दशा हो जाये विश्व में सर्वाधिक सौम्य और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति सती भगवती के वियोग से महादेव शंकर का इस प्रकार से अवसाद में चले जाना कोई बहुत बड़ी बात नह । इस प्रकार से असीम सौन्दर्य की स्वामिनी जीवन संगिनी का मिलना ही परम सौभाग्य कहा जायेगा और उसके बिना जीवन बिताना महा कठिन नह

अब शंकर प्रिया सती जी का अधजला शव अपने कन्धे से उतार कर अपनी बाहों में ले लिया है और उसे पुष्पों से सजा दिया है, सती जी का मुख देख कर वरुण जी कहते हैं -

व्याख्या :-

हे कुबेर मुझसे यह सृष्टि का परिवर्तन रूप नह देखा जाता। कल तक सती असीम सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति थ और महाराज दक्ष की एक भयानक भूल के कारण उन्ह. आत्मदाह करना पड़ा। जिसके कारण सती की सुन्दर काया का यह विकृत रूप दिखाई दे रहा हैं इस अधजले शव में रूप का कितना भयानक द श्य दिखाई दे रहा है मुझसे नह देखा जाता। वरुण जी कुबेर जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मित्र तुम्ह बताओ यदि महादेव शंकर अपने तपोबल और तेज से भवगती सती के शव में प्राण प्रतिष्ठा कर भी द. तब क्या होगा। उनका कहने का भाव यह है कि यदि महादेव शंकर आग्रह वश सती को जिवित भी कर देते हैं तो भी यह रूप भोगने योग्य नह रह जायेगा। यह सृष्टि का कैसा परिवर्तित नियम है कि जिसके अन्तर्गत नष्ट को प्राप्त हुआ मानव देह पुनः उसी रूप में दुबारा रचा नह जा सकता। अर्थात् किसी भी रूप में पूर्वत अवस्था में आना सम्भव नह क्या.कि प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध कारण से होता हैं अग्नि देव को समर्पित होने के बाद सती पार्वती का अधजला शव भी अपने आप में एक रहस्यात्मक परिवर्तन हैं जिसे भगवान शंकर को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. विम्ब प्रधान।
3. कथोपकथन।
4. सरल भाषा।
5. सुबोध भाव।
6. रस-योजना।
7. मनःताप अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. करुण द श्यावलोकन।

[129]

आह प्रिया!
 अब क्या रह गया शेष?
 सूना-सा लगता है
 सारा कैलास-देश।
 नंदा का मलिन वेश।
 हिम तक पर व्याप्त क्लेश।
 सारे संदर्भ व्यर्थ,
 जीवन का कुछ न अर्थ,
 अब ऐसा एक नह
 जो मेरे भाव ग्रहण करने में
 हो समर्थ

[130]

आह प्रिया !
 मेरा हर एक शब्द
 था तुझको पूर्ण वाक्य।
 मेरे हित
 तूने क्या. राज भोग त्याग दिया?
 नन्दा-व्रत पूर्ण किया?
 क्या. मुझसे
 मुझको ही माँग लिया?
 फिर मेरा हाथ छोड़
 अधबर में साथ छोड़
 चली गई

शब्दार्थ :-

हित = भलाई, राजभोग = राज सुख, व्रत = उपवास, अधबर = अधूरे

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की चिन्ताजनक स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। अब शंकर प्रिया सती जी का अधजला शव अपने कन्धे से उतार कर अपनी बाहों में ले लिया है और उसे पुष्पों से सजा दिया है, सती का झुलसा हुआ मुख, सीधा करक जब देखते हैं, तब शंकर जी महाशोक से ग्रस्त, विलाप करते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

हे प्रिये! अब मुझे तुम्हारा वह रूप दिखाई देता है, मुझे याद आता है कि मेरे मुख से शब्द निकले नह कि तुमने उसे पूरा किया नह अर्थात् महादेव शंकर ने पार्वती से जिस भी प्रकार की इच्छा अभिव्यक्त की सती जी ने तुरन्त उसे पूर्ण किया। शंकर जी कहते हैं कि तुम्हें मुझसे इतना अधिक प्यार था तभी तो तुमने राज सुख का त्याग करके मेरे संग वन-वन घूमती रह। कहने का भाव यह है कि यदि सती को शंकर से वास्तविक अर्थात् सच्चा प्यार न होता तब वह राजसुख का त्याग कदापि न करत बल्कि शंकर का साथ ही छोड़ देत लेकिन पार्वती ने ऐसा नह किया। शंकर जी स्मृतियों में खोए हुए कहते हैं कि तुमने नन्दानव्रत को बड़े तपस्या के साथ पूर्ण किया और वर रूप में देवी से मुझे ही माँग लिया। कहने का भाव है कि सती ने बहुत बड़ी तपस्या के बाद शंकर को पाया था। इसलिए वह महादेव का बहुत ज्यादा मान सम्मान किया करती थ और प्यार का परिणाम ही था कि जब शंकर का अपमान हुआ तब अपना अपमान समझ कर आत्मदाह कर लिया तभी तो शंकर जी कहते हैं कि हे पार्वती अब तुम मुझे अधर में छोड़ कर कहां चली गई। महादेव को रह-रहकर पार्वती के संग बिताए हुए सुखद क्षण याद आते हैं जो कि उन्हें और अधिक अधीर कर देते हैं।

व्याख्या :-

हे मेरी प्राण प्यारी प्रिये यदि आज संध्याकाल तक तुममें चेतनता न आई अर्थात् तुम जीवित न हुई तो सच मानो हे प्रिये तुम्हारे साथ का विछोह बहुत भयंकर रूप दिखाएगा। पार्वती के चेहरे को देखते हुए महादेव कहते हैं कि यदि तुममें सजीवता न आई अर्थात् यदि तुम जीवित न हुई तो सच मानना महाकाल का ताण्डव फिर से होगा। वह ताण्डव इतना भयंकर होगा कि कह भी मांस के टुकड़े दिखाई न देंगे बल्कि रक्त की धारा बहती हुई दिखाई देग शंकर जी पार्वती के वियोग में इस तरह डूबे हुए हैं और इस कदर अधीर हो बैठे हैं कि संसार को ही रक्त रंजित कर देना चाहते हैं, डुबो देना चाहते हैं और पार्वती के मुखड़े को देखते हुए पुनः कहते हैं कि – हे प्रिय तुम देखना शीघ्र ही नियति का शिर तुम्हारे चरणों में पड़ा। होगा महादेव के कहने का भाव यह है कि जिस भी नियति ने जिस भी रूप में इस अप्रिय घटना का सहयोग किया अथवा सहयोगी रही, जल्दी ही सती पार्वती के चरणों में उसका कटा हुआ शिर पड़ा होगा। शंकर के क्रोध की अग्नि में ऐसे लगता है जैसे कि समूचा संसार भस्म होने जा रहा है। आखिर आज तक महादेव के क्रोध से कोई बच सका है?

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. पद्मबद्ध।
9. छन्दमुक्त।
10. भावमय दृष्टिकोण।
11. शिल्पगत विशेषता।

[132]

कौन?

अलकापति!

तुम अब तक गये नह ?

मन में अविनिश्चित संकल्प ठान,

जाने किस क्षण से प्रेरित अजान,

अभय दे दिया था तुमको मैंने

तुम अब तक गये नह ?

मेरे प्रति सहानुभूति चुकी नह

शब्दार्थ :-

अलकापति = कुबेर, क्षण = पल, संकल्प = निश्चय, अजान = अज्ञान

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ

शब्दार्थ :-

परिस्थिति = स्थिति के अनुसार, नाथ = स्वामी, निमित्त = प्रयोजन

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी देवलोक को ललकारते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

देवलोक! किस देवलोक की तुम बात रकते हो महादेव को जब कुबरे जी कहते हैं कि जगत नियन्ता आप चाहे जो कुछ समझें लेकिन वास्तविकता यही है कि मैं आपके मनःस्ताप को समझता हूँ। हे देवाधिदेव आपकी मानसिक स्थिति से अवगत होकर सभी देवगण चिन्तित हो रहे हैं। इस बात को सुनकर महादेव शंकर का उद्वेलित हो जाना स्वाभाविक ही हैं इसीलिए वे कुबेर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे कुबेर तुम यह सच ही मानो कि सती पार्वती के साथ हुई अति दुर्भाग्यपूर्ण घटना के लिए जो भी जिम्मेदार है और उस परिस्थिति के लिए जो भी सहायक है जिसके वशीभूत होकर सती पार्वती ने आत्मदाह किया अर्थात् मेरी प्रेयसी की मृत्यु का कारण बना हो या यूँ कहूँ कि वही मेरी प्राण प्यारी का हन्ता है तो भी अनुचित न होगा। मैं उसको किसी भी रूप में क्षमा नह कर सकता अर्थात् जब तक उसकी मृत्यु नह हो जाती अर्थात् जब तक वह मेरे हाथा. मारा नह जाता तब तक मैं शान्त नह बैठूँगा।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।

[134]

ठहरौं

हाँ, कह देना विष्णु और ब्रह्मा से,

संध्या तक

सती में न आई यदि चेतनता

7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. संवादगेय।
9. कोमल भाषा।
10. गीतिमय।
11. सजीवता।

[135]

**डमर-डमर बजने दो डमरू
जब तक शक्ति विकास न पाए
जब तक मेरी म तक प्रिया के
शव में वापस साँस न आए
डमर-डमर बजने दो डमरू
होने दो ताण्डव त्रिलोक में,
महादेव की प्रतिहिंसा भी
देखे-देव समाज शोक में।**

शब्दार्थ :-

शक्ति = बल, साँस = जान, प्रतिहिंसा = बदले की भावना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। सब देवताओं ने माना कि शंकर की स्थिति वास्तव में बहुत शोचनीय हैं दुःख के सागर में डूबे हुए शंकर विचार करते हैं कि देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़कर आखिर मुझे मिला ही क्या सिवाय एकान्तवास, प्रेयसी वियोग और हर गलत परम्परा को तोड़ने के लिए मुझे ही विषपान करना पड़ा और उसका श्रेय और लोग ही ले गए। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया, शंकर जी ललकार सुनकर वरुण जी व कुबेर जी भागने लगते हैं, भागते हुए इन देवा. को शंकर जी त्रिशूल उठाकर रोकते हैं, डरे-सहमे से दोना. देव रूक जाते हैं, तब शंकर जी त्रिशूल को रखकर डमरू को बजाने लगते हैं -

व्याख्या :-

बड़े ऊँचे स्वर में अट्टहास करते हुए महादेव शंकर अपने डमरू को बजाने लगते हैं और वे अपने प्रिय डमरू को तब तक बजाने के लिए तैयार हैं जब तक कि शक्ति में ऐसी सामर्थ्य न आ जाए कि वह म त प्राय को भी जिन्दा न कर द. अभिप्राय यह है कि महादेव शंकर अब शक्ति के बल पर अपनी प्रिया पार्वती को पुनः जीवित करने के लिए भरसक प्रयास कर रहे हैं और यह वही कार्य होने जा रहा है जिसे सोचकर देवगण परेशान हुए जा रहे थे कि यदि सती को शंकर ने अपने बल से जीवित कर लिया तो सारे संसार का नियम ही भंग हो जाएगा और इस प्रकार से जिस नई परिपाटी का जन्म होगा वह भी विनाशकारी ही सिद्ध होग लेकिन इन सब समस्याआ. से अनभिज्ञ, अन्जान और अपनी प्रेयसी के मोह में पागल महादेव शंकर कह रहे हैं कि यह डमरू तब तक बजता रहेगा जब तक कि मेरी प्रिया के तन में श्वास वापस न आ जाए अर्थात् वे जिन्दा न हो जाएं। वे बड़े क्रोध में आकर कहते हैं कि डमरू को बजते ही रहना है और तब तक जब तक

आपसे यही प्रार्थना है कि आप हमें युद्ध करने की आज्ञा प्रदान कर. और मैं सेनापति के वेश में आपसे युद्ध करने के लिए अनुमति लेने ही आया हूँ। देवराज इन्द्र कहते हैं कि महादेव शंकर अपनी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार हमें युद्ध के लिए ललकार रहे हैं। आप स्वयं ही विचार कीजिए कि महादेव अपने गणों के साथ देवलोक की सीमा में प्रवेश कर गए हैं। उनकी सेना में डाकिनी और शाकिनी और भूत प्रेतों की भरमार है ये सब इतने भयंकर उपद्रवी हैं कि उन्हें जो भी सामने दिखाई देता है दैत्य या दानव और मानव या देव या ऋषि किसी को भी मारने पीटने में नह चूकते उन सबका बड़ा प्रलयकारी रूप हम दक्ष प्रजापति के यज्ञ में देख चुके हैं। इनमें सभी का रूप बड़ा ही डरावना व वीभत्स है और जब ये सब मिलकर युद्ध की भावना से यहाँ तक पहुँच ही गए हैं तो अब हमारा भी उदायित्व बनता है कि अब हम इनका सामना कर.। इसलिए हे प्रभु आप हमें आज्ञा प्रदान कर. कि अब हम महादेव शंकर का पूजन युद्ध स्थल में ही कर.।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. मुक्तछन्द।
9. भावमय दृष्टिकोण।
10. नाट्यात्मकता।
11. शिल्पगत।

[137]

मान और मर्यादा पर तुम
थोड़ी सी गहराई से सोचो
किसी व्यक्ति के अपशब्दों से
या कि अकारण तुमको अपमानित करने से
क्रोधित होने से अथवा क्रोधित करने से
किसका मान भग्न,
..... किसकी मर्यादाएँ खंडित होती हैं।

शब्दार्थ :-

खंडित = टुकड़े-टुकड़े, अकारण = बिना कारण, अपमान = सम्मान न करना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध का कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर

रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, देवराज इन्द्र से ब्रह्मा जी कहते हैं –

व्याख्या :-

महादेव शंकर बल प्रयोग से सती के प्राण वापस चाहते हैं। इससे एक व्यक्ति के जीवित होने का प्रश्न ही नह उठता। इस प्रकार देवलोक की मर्यादा भंग होती हैं देवलोक में जो शासन चल रहा है उसकी मर्यादा सती के प्राण वापस करने से मिट जाएग कहने का तात्पर्य यह कि यदि किसी को शक्तिशाली जानकर या अपना समझ कर उसके लिए किसी नियम तो तोड़ा जाये तो यह सष्टि के नियम के विरुद्ध तो है ही इससे दूसरे लोग भी इसी प्रकार साहस करने की कोशिश कर.गे और सारी नियम व्यवस्था समाप्त हो जायेग ब्रह्मा जी को सम्बोधित करते हुए देवराज इन्द्र आगे कहते हैं कि हे ब्रह्मा देव! आज तो महादेव शंकर हमारे मित्र बनकर नह , शत्रु बनकर आ रहे हैं। शत्रु के सामने जाकर शस्त्र से उत्तर देना मेरा अर्थात् एक सेनापति, वीर पुरुष का कर्तव्य हैं देवराज इन्द्र आगे कहते हैं कि यदि मैं ऐसा नह करता हूँ तो तीना. लोक मुझे कायर बतायेंगे और सभी जगह मेरी बदनामी होग देवलोक के हम लोग शासक हैं। शंकर की सेना देवलोक की प्रजा को सताने जा रही हैं उनकी रक्षा करना हम शासक. का धर्म हैं इस समय शंकर के प्रति अपनी मित्रता का नह , अपनी प्रजा की रक्षा का विचार करना चाहिए।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. रस-योजना।
7. वीरभाव अभिव्यक्ति।
8. संवादगेय।
9. कोमल भाव।
10. सजीवता।
11. प्रभावोत्पादकत्व।

[139]

और प्रजा की रक्षा करे युद्ध के द्वारा?
 और प्रजा का रक्त बहाए ...
 क्षण में सब चिन्मय सौन्दर्य रुधिरमय कर दे,
 गायन-गुंजित नगर चीत्कारों से भर दे,
 जन-विवेक को
 वध की बलिवेदी पर धर दे,
 यह भी शासक के कर्तव्यों में अंकित है?

[140]

देवराज!
 शिव की गण-सेना
 निकट आ रही है क्षण-प्रतिक्षण
 वह देख. कोलाहल बढ़ता ही आता है
 तेरह सन्निपात
 सौ ज्वर की ज्वाला बाजा
 दो सहस्र भुजधारी
 पामर, अत्याचारी
 वीरभद्र उसका नायक हैं
 और हमारी सारी सेना
 उद्यत और प्रतीक्षा-रत हैं
 क्या आज्ञा है?

शब्दार्थ :-

उद्यत = तैयार, प्रतीक्षा = इन्तजार, आज्ञा = अनुमति

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी एक सैनिक का प्रवेश होता है और वह सभी देवा. को सचेत करता है कि शंकर महादेव की गण सेना बिल्कुल सरहद के पास आ पहुँची है, और वह कहता है कि -

व्याख्या :-

हे महाराज इन्द्र आप मेरे कथन को बहुत ध्यान से सुनै। क्या. कि एक बहुत बड़ी विकट की घड़ी पल-पल हमारे पास ही आ रही हैं और वह है, महादेव कि गण सेना जिसमें अनेक दानव, भूत, पिशाच, डाकियां, शाकिनियां इस प्रकार से क्रोध से भरे हुए हमारी तरफ तेज गति से बढ़े ही चले आ रहे हैं। हे देवराज इन्द्र आप भी यदि ध्यान से सुनै तो शिव गणों की सेना के आने का कोलाहल आपको स्पष्टतः सुनाई देगा और वह उन्ह. सचेत करते हुए कहता है कि आप नजरें उठाकर सामने देखें तो महादेव की सेना आती हुई दिखाई देग सैनिक कहता है कि हे महाराज शिव की गणसेना का सेना नायक वीरभद्र है जोकि दिखने में तो दो हाथों वाला है कि लेकिन उसकी आँखा. में अग्नि कि ज्वालाएं फूट रही हैं। अरे वह शनि देवता की भांति अपशकुन वाला हैं हे महाराज वीरभद्र वास्तव में बहुत ही नीच, दुष्ट और अत्याचारी हैं हे देवराज! यह वही महादुराचारी है जो दक्ष प्रजापति के यज्ञ के बीच में सती पार्वती के आत्मदाह करने के बाद क्रोध में आकर ब्रह्मा जी को भी लात मारने से नह संकुचाया था। वह बहुत ही बेशर्म और आसुरी प्रवृत्ति का सेनापति हैं सैनिक कहता है कि हे महाराज! इधर हमारी सेनाएं भी युद्ध के लिए तैयार हैं उनकी भी भुजाएं युद्ध के लिए फड़क रही हैं। वे भी यह चाहते हैं कि कितना जल्दी उन्ह. अपना रणकौशल दिखाने का मौका मिल. हे महाराज! हमारी सेनाएं आपकी आज्ञा के लिए प्रतीक्षारत हैं। अर्थात् इस इन्तजार में खड़ी

में इतने चूर हैं कि हमें, आपको और भी बहुत से देवगणों को भूल चुके हैं। आखिर हम भी उनके सहयोगी रहे हैं। हे ब्रह्मा जी! महादेव शंकर को ऐसा लगता है कि जैसे उन्हें हमारी शक्ति का पता ही न हो देवराज इन्द्र कहते हैं कि महादेव का इस प्रकार से अपनी शक्ति के बल पर इस प्रकार अहंकार में डूब जाना शोभा नह देता। उन्हें अपने देवपन का ध्यान रखना चाहिए। लेकिन आप ध्यान द. तो देख.गे कि महादेव शंकर इस बात को भूल चुके हैं कि हम भी देव हैं। हमने भी बहुत से युद्ध किये हैं और विजयी भी रहे हैं। उस समय भी शंकर हमारे साथ थे कहने का भाव यह है कि इन्द्रदेव कह रहे हैं कि अनेक अवसरों पर हम सबने मिलकर विजय प्राप्त की और अनेका. युद्ध जीतें आखिर वह सब हमने अपनी शक्ति के बल पर ही तो किया था। लेकिन क्या आज हम इतने कमजोर हो गये हैं कि महादेव शंकर हमें कोई अहमियत ही नह दे रहें महादेव की नजर में हमारा कोई मान सम्मान ही नह रह गया। महादेव शंकर हम लोगों को कीड़े-मकोड़ों के समान समझते हैं। देवराज इन्द्र कहते हैं कि हे ब्रह्मा! जी महादेव जी को ऐसा लगता है कि जैसे हमारे शरीर की नसों में खून नह पानी बह रहा है शंकर जी यह कैसे भूल गये कि हमारे अन्दर भी देवत्व की शक्ति विद्यमान हैं किन्ह रूपों में हम महादेव से कुछ भिन्नता रखते हैं अन्यथा हम सब आपस में एक जैसे ही हैं। देवराज इन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार की परिस्थिति हमारे सामने है उसे देखकर हे ब्रह्म देव,! हमारी सहनशक्ति अब जवाब दे गई है आपसे अनुरोध है कि आप हमें अपने बचाव में शस्त्र का प्रयोग करने की आज्ञा प्रदान करें। विधान के अनुसार भी तो, प्रत्येक जीव को अपनी प्राण रक्षा करने का जन्म सिद्ध अधिकार है

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. पद्मबद्ध।
3. मुक्तिसंगत।
4. मुक्तछन्द।
5. भावमय।
6. निर्जन-अंकन।
7. नाट्यात्मकता।
8. शिल्पगत।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।

[142]

किन्तु पराजय के कारण मैं नह देखता।
मेरे पास शस्त्र की कोई कमी नह है,
मेरे पास अन्न की कोई कमी नह है,
मेरे पास वस्त्र की कोई कमी नह है:
और न मेरे योद्धाटा. का क्षीण मनोबल,
और न मैं आक्रामक
मैं तो संरक्षक हूँ।

शब्दार्थ :-

पराजय = हार, क्षीण = कमजोर, मनोबल = मन का बल

9. गीतिमय संवादयोजना।
10. सजीवता।
11. प्रभावोत्पादकता।

[143]

**और सत्य के संरक्षक वे शिवशंकर हैं।
जो कि एक शव के कारण
लड़ने को उद्यत!
न्याय माँगता है जिनका अन्याय अप्रतिहत।
इसीलिए आपके न्याय की तुला
उधर है!**

शब्दार्थ :-

संरक्षक = रक्षा करने वाला, उद्यत = तैयार, तुला = तराजू

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, इसी बीच इन्द्र, शंकर के सती प्रेम पर व्यंग्य कसते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

महादेव शंकर को अपने देवत्व पर इतना गर्व था कि वह हमेशा सत्य की रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहते थे लेकिन आज किस रूप में वह सत्य को सबसे अधिक महत्त्व दे रहे हैं। महादेव शंकर का असत्य की रक्षा के लिए प्राण त्याग करना आपकी दृष्टि से सराहनीय हो सकता है लेकिन मेरी दृष्टि में नह। अर्थात् महादेव के इस प्रकार के व्यवहार को मैं अनुचित ही ठहराऊंगा। आप भली भाँति जानते हैं कि महादेव आज सत्य की रक्षा नह कर रहे हैं? क्या म त सती के प्राण वापस माँगने का आग्रह करने वाले शिव शंकर सत्य की रक्षा कर रहे हैं। महादेव अच्छी तरह जानते हैं कि सृष्टि चक्र में आना और जाना तो लगा ही रहता है। सांसारिक लोका को इस प्रकार से तड़पते हुए देखना तो उचित है लेकिन महादेव शिव शंकर अपनी पत्नी सती के एक शव के कारण देवलोक से लड़ने को तैयार हैं। यह उनकी हठधर्मिता नह तो ओर क्या है महादेव शंकर परमज्ञानी हैं। वह जानते हैं कि मृत्यु संसार का सबसे बड़ा सत्य है सभी की मृत्यु एक दिन होती है मुझे तो यह देखकर हैरानी होती है और मैं यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाता हूँ कि शंकर महादेव होकर भी नियम भंग कर रहे हैं। वे सत्य की रक्षा नह, सत्य का विनाश कर रहे हैं। वे बिना किसी बाधा को स्वीकार किए हुए अन्याय कर रहे हैं। उनके इस अन्यायपूर्ण एवं अत्याचारी कार्य के विरुद्ध आपको न्याय करना चाहिए। वे अन्याय कर रहे हैं और हम आपसे न्याय चाहते हैं। लगता है, इसी कारण आपके नयय की तराजू शिव शंकर की ओर झुकी हुई है अर्थात् आप शिव शंकर का पक्षपात कर रहे हैं। आपको अन्यायी का पक्षपात नह करना चाहिए।

जनता पर पागलपन छाता जा रहा है और सभी नर नारी आप पर अपशब्द रूपी बाणा. की बौछार करते हुए अपने मन की भड़ास निकाल रहे हैं। इस प्रकार से सारी जनता इन सब कृत्या. के लिए आप ही को दोषी मान रही हैं सैनिक कहता है, हे देवराज! आपको यदि मेरी बाता. पर यकीन नह हो रहा है तो आप कृपया सामने देखिये महादेव के गणों के द्वारा सताये गये नर-नारी बहुत ऊंची आवाजा. में चिल्लाते एवं शोर मचाते हुए इधर हमारी ही तरफ बढ़ते चले आ रहे हैं।

विशेष :-

1. वक्रोक्ति अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. भयपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. मानवीकरण।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. युद्ध का द श्यावलोकन।

[145]

देवराज!
मंत्र-नाद करते
शिवशंकर हैं स्वयं साथ,
भू-कंपित
नक्षत्रों की गति है वक्र नाथ।
हमको क्या आज्ञा है?
योद्धा आदेश-विवश विहल हैं।

शब्दार्थ :-

मंत्र-नाद = मंत्र का उच्चारण करना, भू-कंपित = भूमि का कांप जाना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध का कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं। क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी एक सैनिक दरबार में आता है और देवराज को सचेत करता है, कि शंकर महादेव की सेनाएं देव लोक की सीमाओं में अन्दर तक आ पहुँची हैं, तभी दूसरा सैनिक आता है और सूचना देता है कि स्वयं महादेव शंकर भी अपनी सेना के साथ हैं तभी दूसरा सैनिक कहता है -

शब्दार्थ :-

विशिष्ट = खास, समस्या = परेशानी, किंचित = कुछ, भ्रम = धोखा

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी एक सैनिक दरबार में आता है और देवराज को सचेत करता है, कि शंकर महादेव की सेनाएं देव लोक की सीमाओं में अन्दर तक आ पहुँची हैं, तभी दूसरा सैनिक आता है और सूचना देता है कि स्वयं महादेव शंकर भी अपनी सेना के साथ है, लेकिन फिर भी ब्रह्मा जी सभी को शान्त करते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

हे देवराज इन्द्र! जब अधिक से अधिक विशिष्ट अर्थात् अत्यन्त विशेष परिस्थितियां सामने हो तो युद्ध उनको सुलसाने की सम्भावना वाला कारण बन सकता है। युद्ध के कारण उन विशेष परिस्थितिया. में उत्पन्न समस्याएं सुलझाने की सम्भावना की जा सकती है ऐसा नह है कि युद्ध से समस्या सुलझ ही जाए। इस प्रकार का नियम बना हुआ है। इसके विपरीत अगर कोई शासक अपने मन में युद्ध को किसी समस्या का थोड़ा भी हल समझे तो यह उसकी भूल हैं तात्पर्य यह है कि युद्ध से किसी भी समस्या का कुछ भी समाधान नह हो सकता। युद्ध से समस्या हल नह होत हों, युद्ध का अति विशेष परिस्थितिया. में समस्या के हल का कारण समझा जा सकता हैं युद्ध से समस्या के हल की कभी-कभी सम्भावना हो सकती हैं इससे निश्चित रूप से कोई भी समस्या ही नह होती।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. खड़ी बोली।
3. सरल शब्दावली।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. युद्ध विषयक।
7. मंत्रणास्पद अभिव्यक्ति।
8. समस्यात्मक अंकन।
9. युद्ध समस्या का चित्रण।
10. प्रवाहशील बोली।
11. मुक्त छन्द।

[147]

आप लोग अपने प्रतिनिधियों को आने द.
में एकांकी सबसे बात नह कर सकता।
आप सभी

5. सुबोध काव्य।
6. मुक्त छंद।
7. भावपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. समूह अंकन।
9. आत्मचिंतन।
10. खड़ी बोली।
11. विशिष्ट परिस्थिति।

[148]

सबसे पहले मेरा रक्त गिरेगा भू पर
 युद्ध स्थल में,
 सेना लेकर सबसे आगे में जाऊँगा।
 कब जाओगे?
 तब,
 जब ये प्रासाद धूल में मिल जाएँगे?
 देवलोक का नाम-निशान न रह जाएगा?

शब्दार्थ :-

भू = जमीन, प्रासाद = महल, धूल = मिट्टी

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के क्रोध का कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देवता आपस में मन्त्रणा करते हैं, ब्रह्मा जी कहते हैं -

व्याख्या :-

सर्वप्रथम सभी देवगण अपना-अपना क्रोध त्याग द.। मैं सबको यह विश्वास दिलाता हूँ कि यदि युद्ध का हल युद्ध ही है तो सबसे पहले युद्ध स्थल में मेरा रक्त गिरेगा अर्थात् ब्रह्मा जी कहते हैं कि यदि युद्ध निश्चित ही होता है तो युद्ध में सबसे आगे देवगणों को ब्रह्मा ही मिल.गे इस प्रकार की भावना ब्रह्मा जी अभिव्यक्त करते हैं। बार-बार यह विश्वास दिलाते हैं कि युद्ध समस्या का समाधान प्रायः युद्ध ही नह हुआ करता है। इस प्रकार की बाता. से जहाँ एक तरफ ब्रह्मा जी देवताओं को शान्त करना चाहते हैं वहाँ कुबेर जी कहते हैं कि कब जाओगे? वह कहते हैं कि मुझे तो ऐसा लगता है, आपने युद्ध नह करना है और न ही युद्ध क्षेत्र में जाना है। हाँ आप तो युद्ध क्षेत्र में तब जाय.गे जब हमारे सभी महल-चौबारे मिट्टी में मिल जाय.गे कुबेर जी ब्रह्मा जी को मानसिक रूप से झकझोड़ते हुए कहते हैं कि महादेव शंकर की सेनाएं जब देवलोक का नामोनिशान ही मिटा देगी अर्थात् जब देवलोक का नाम-निशान ही नह रहेगा तब आप युद्ध क्षेत्र में जाय.गे।

वास्तव बहुत अच्छा लगा। मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि देव पुरुषा. में इतना नैतिक साहस तो जागा कि वो मुझसे बात कर सक.। इतना कहकर ब्रह्मा जी एकाएक अपना स्वर बदलते हैं और क्रोधित भाव को दबाते हुए कहते हैं कि तुम दोना. ही अपनी सीमाएँ लांघ रहे हो कहने का अभिप्राय यह है कि कुबेर और वरुण देवताओं के एक सहयोगी मात्र हैं। जबकि सृष्टि रचनाविधान में ब्रह्मा, विष्णु और महादेव तीन जना. की ही मुख्य भूमिका हैं इसलिए वह कुबेर और वरुण को एक स्पष्ट संकेत करते हुए कहते हैं कि तुम दोना. को बड़ा. के बीच में इस प्रकार से खुले मन से अपना निर्णायक मत नह देना चाहिए। वह कहते हैं, माना कि आज महादेव शंकर का ज्ञान और संतुलन खो गया है क्या.कि वह विशेष परिस्थितिया. में असहाय से पड़े हुए हैं। कहने का भाव यह है कि शोक के कारण महादेव का ज्ञान और संतुलन अर्थात् उनकी विवेक बुद्धि क्षीण हो चुकी है ऐसी अवस्था में तुम लोगों को क्रोध नह करना चाहिए। यही तुम्हारी सीमा है जिसे तुम लांघ रहे हो तुम्हें यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि महादेव शंकर कोई और नह वह हमारे अभिन्न मित्रा. में से एक हैं जिनकी भूमिका सृष्टि रचना से लेकर अन्य नीति निर्धारका. में रही हैं

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. वाक्यवाद।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. प्रवाह काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. नैतिक अभिव्यक्ति।
8. संतुलन अंकन।
9. आत्म विश्लेषण।
10. खड़ी बोली।
11. मार्मिक द श्यावलोकन।

[150]

शेष!

तुम भी?

अच्छा तुम्ह बताओ,

युद्ध स्वयं में

क्या कोई उपलब्ध सत्य है?

ये भी छोड़ों

में कहता हूँ

तुम शासन की किसी नीति या किसी पक्ष से

पहले मुझे युद्ध की अनिवार्यता बता दो

शब्दार्थ :-

उपलब्ध = पाया, अनिवार्यता = जरूरत, युद्ध = लड़ाई

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता

विश्लेषण = आंकलन करना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं। क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देवगण ब्रह्मा जी से युद्ध करने की आज्ञा चाहते हैं। ब्रह्मा जी के द्वारा युद्ध अनिवार्यता के बारे में पूछने पर अन्य सभी देवगण कहते हैं –

व्याख्या :-

हे ब्रह्मा जी! यह समय विवाद का नह हैं क्या.कि जितना समय हम सब आपस में वाद-विवाद में लगायेंगे तब तक बहुत बड़ा अनर्थ होने की भरपूर सम्भावना हैं इसलिए सभी देवगण ब्रह्मा जी से बार-बार यह प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि यह समय युद्ध का विश्लेषण करने का नह हैं क्या.कि वह समय तो निकल गया हैं देवगणों के अनुसार यदि शंकर देवलोक की सीमा में अपने गणों के साथ प्रवेश न किये होते तब तो वह क्षण आपस में बातचीत करने अर्थात् महादेव के साथ युद्ध किया जाये या नह इस विषय पर बड़े अच्छे रूप से विचार विषय सम्भव भी था। लेकिन अब जबकि महादेव की सेना हमारी यानी देवलोक की सीमा में प्रवेश कर ही चुकी है अब तो हमारे पास सिवाय युद्ध करने के कोई उपाय शेष नह हैं देवगण ब्रह्मा जी को अपनी बात मनवाने की भावना से कहते हैं कि हे ब्रह्मा जी आप स्वयं ही देखिए कि महादेव हिंसा की भावना से बार बार यह उद्घोषणा करते फिर रहे हैं कि देवताओं से साथ युद्ध अवश्यमभावी हैं

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. खड़ी बोली।
7. आत्मिक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. अन्विताविधानवाद।

[152]

और हमारा ऐसा मत है
जहाँ न्याय की हत्या हो
अन्याय सफल हो,
जहाँ शक्ति को अहंकार हो
सत्य विकल हो,

10. शौर्यगाथा।
11. वाक्यवाद।

[153]

असली शासक तुम हो
 में तो या. भी परामर्शदाता था
 मुझको इस शासन का कोई मोह नह है
 पर यदि मुझसे करो अपेक्षा
 तो में अपने मुँह से
 सेना को आदेश, नह दे सकता।
 में पहले ही बता चुका हूँ
 यह सामूहिक आत्मघात है
 इसके पीछे कोई जीवन-दृष्टि नह ,
 केवल आग्रह है

शब्दार्थ :-

आदेश = आज्ञा, सामूहिक = इक्टठा, समूह रूप में, आत्मघात = आत्महत्या

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से लिया गया है इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, और कहते हैं कि सभी देव और ऋषि भवगती सती के हन्ता हैं। वे देवलोक में युद्ध की दुदुंभि बजा रहे हैं। देवताओं द्वारा ब्रह्मा जी से युद्ध की आज्ञा न मिलने पर जब सभी देवगण नाराज हो जाते हैं और ब्रह्मा जी से सिंहासन छोड़ने की बात कहते हैं। तब ब्रह्मा जी ने कहा —

व्याख्या :-

हे देवराज इन्द्र यह शासन व्यवस्था और दण्ड विधान आप स्वयं ही सम्भालो क्या.कि असली शासक तो तुम ही हो ब्रह्मा जी कहते हैं कि में तो एक परामर्शदाता के रूप में ही था वैसे भी मुझे शासन से कोई मोह नह रहा है कहने का अभिप्राय यह है कि शासन व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे इसीलिए महाविवेकी ब्रह्मा जी को शासन का सलाहकार बनाया गया था। और अब जबकि सभी एक स्वर से यह माँग करते हैं कि ब्रह्मा जी सिंहासन छोड़ो और इस कायर शासन को तोड़ो तब वह देवराज इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वास्तव में यदि आप लोग मुझसे यह अपेक्षा कर. कि में युद्ध की सहमति में रहूँ और अपने मुँह से सेना को युद्ध के लिए आदेश पारित करूँ तो ऐसा नह हो सकता। वह अपने पद का त्याग करने का कारण बताते हुए कहते हैं कि में आप सबको पहले ही बता चुका हूँ कि युद्ध में भाग लेने का मतलब है कि सामूहिक रूप से आत्महत्या करना। ब्रह्मा जी कहते हैं कि इसके पीछे मेरी कोई जीवन दृष्टि नह है में तो केवल आप सबसे यह आग्रह ही कर रहा हूँ कि आप सब अपने मन से युद्ध का विचार अभी निकाल द.। यही हम सबके लिए अच्छा होगा।

विशेष :- 1. उपमा अलंकार।

निकलेगा वह इतना प्रलयंकारी होगा कि जिसका आप सब अनुमान लगा नह सकतैं ब्रह्मा जी देवताओं को समझाते हुए कहते हैं कि महादेव में विकार उत्पन्न होते ही नए-नए गण अर्थात् भूत-प्रेत ही जन्म ल.गे और आप लोग भली-भांति जानते हो कि आप सब देवताओं की उपस्थिति में ही दक्ष प्रजापति के यज्ञ विध्वंस के समय इन सबने अपना कितना भयानक रूप दिखाया था। तब भी हम सब लोग वहाँ विद्यमान थे और हम उनका कुछ नह बिगाड़ पाये इसीलिए हे देवगणों आप पुनः विचार करो कि हमारे देवलोक के ये वीर सैनिक भला कब तक शंकर के उन महा प्रलयंकारी गणों का सामना कर.गे।

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. मानसिक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. मानविक द श्यावलोकन।

[155]

इसका अर्थ हुआ कि शक्ति के भय से
हम शत्रु को न रोकें,
प्राणा. का कर मोह
घरों में छुप जायें अपमानित होकर;
डरें युद्ध से,
रक्तपात के भय से काँपे
कामिनियों से रास रचाएँ
पौरुष की मर्यादा खोकर?

शब्दार्थ :-

शत्रु = दुश्मन, अपमानित = बेइज्जत, कामिनियों = सुन्दर स्त्रियों, मर्यादा = धर्मानुसार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं यहाँ पर लेखक उस समय का वर्णन कर रहे हैं जब अपने पिता के यज्ञ में अपने पति का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और आत्मदाह कर लिया। पत्नी प्रेम के वशीभूत शंकर जी ने दक्ष सहित सम्पूर्ण नगर विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, और कहते हैं कि सभी देव और ऋषि भवगती

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित है। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, शंकर महादेव की सेनाएं देव लोक की सीमाओं में अन्दर तक आ पहुँची हैं, स्वयं महादेव शंकर भी अपनी सेना के साथ है, इन्द्र व अन्य देवगण ब्रह्मा जी से शंकर जी की सेना का सामना करने की आज्ञा मागते हैं तो ब्रह्मा जी इसके लिए असहमति दिखाते हैं, देवराज इन्द्र के द्वारा उकसाने का प्रयत्न करने पर ब्रह्मा जी उन्हें शान्त करते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

हे देवराज! शिव शंकर एवं उनके भूत-प्रेता. से लोहा लेने की असमर्थता का तात्पर्य यह नह है कि हम पौरुष और मर्यादा खोकर अपमान सहें। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि बिना कोई लक्ष्य निर्धारित किए, बिना सोचे-विचारे एवं बिना किसी कारण के युद्ध आरम्भ न कर. युद्ध से यदि किसी लक्ष्य की पूर्ति होती हो तो अथवा कोई निश्चित कारण हो, तभी युद्ध आरम्भ करना चाहिए। इस युद्ध से किसी लक्ष्य की पूर्ति होती दिखाई नह देती और न यह युद्ध आरम्भ करने का कोई कारण जान पड़ता हैं ब्रह्मा जी इन्द्रदेव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं मेरे मतानुसार यह युद्ध इसीलिए उचित नह है कि प्राणों की आहुति सत्य रक्षा के लिए की जाती है और युद्ध के लिए अपने प्राणा. की आहुति नह दी जात क्या.कि युद्ध को सत्य मानना उचित नह हैं युद्ध अधिक से अधिक किसी का कारण बन सकता हैं युद्ध स्वयं में कोई कार्य या लक्ष्य नह हैं प्राणा. का बलिदान करना अच्छी बात है, पर युद्ध के लिए प्राण बलिदान करना उचित नह हैं प्राण सत्य के लिए न्यौछावर करने चाहिए। यह युद्ध सत्य की रक्षा के लिए नह हो रहा हैं इसलिए यह युद्ध उचित नह हैं

विशेष :-

1. उत्प्रेक्षा अलंकार।
2. भाव प्रधान।
3. अर्थ बोध।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सरल काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. सत्यनिष्ठ अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।

[157]

ऐसा प्रतीत होता है
जैसे देव-बन्धु,
अत्यन्त गूढ़-गम्भीर प्रश्न में हो निमग्न।

9. आत्म चिंतन।
10. व्यंजात्मक।
11. गंभीर्य द श्यावलोकन।

[158]

प्रभु!

आपको विदित है

शंकर

देवलोक की सीमाओं में घुस आए हैं

और आपके सहयोगी श्री ब्रह्मा हमको

रक्षा की भी अनुमति देना नह चाहते

सारी जनता असन्तुष्ट हैं

शब्दार्थ :-

अनुमति = आज्ञा, असन्तुष्ट = संतुष्ट न होना, सहयोगी = साथ देने वाला, साथी

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, अन्य देवगण ब्रह्मा जी से शंकर जी की सेना का सामना करने की आज्ञा मागते हैं तो ब्रह्मा जी इसके लिए मना कर देते हैं। अकरस्मात् ही जब भगवान विष्णु का आगमन होता है तब विष्णु जी के समक्ष इन्द्र कहते हैं -

व्याख्या :-

हे प्रभु! आपको तो मालूम ही है कि दक्ष प्रजापति के कारण भगवान शंकर इतने अत्यधिक क्रोधित हुए हैं कि वह देवा. और ऋषिया. को ही अपना दुश्मन मान बैठे हैं और अब हम सबको युद्ध के लिए ललकार रहे हैं। इतना ही नह देवराज इन्द्र कहते हैं कि हे भगवान विष्णु महादेव शंकर की सेनाएं तो हमारे देवलोक की सीमा में भी प्रवेश कर चुकी हैं। इस विकट परिस्थिति में आपके परम सहयोगी ब्रह्मा जी हमको अपने जीवन की रक्षा करने की आज्ञा भी नह प्रदान कर रहे हैं हैं जिसके कारण से सारी जनता असंतुष्ट हो रही हैं जनता कर्कश स्वर में शासन के विरोध में अपनी भावनाएं प्रकट कर रही हैं इन्द्रदेव के कहने का अभिप्राय यह है कि जब महादेव शंकर देवताओं को युद्ध के लिए ललकार रहे हैं तो इन हालातों में ब्रह्मा जी को यह आदेश देना चाहिए कि देवता भी अपनी रक्षा हेतु उनका सामना कर.। हम सभी की यही आकांक्षा है कि इस समय अब हम सबको महादेव शंकर के गण समूह का अहंकार का मर्दन करने के लिए आज्ञा मिल. लेकिन ब्रह्मा जी हमें ऐसा नह करने देना चाहते इसी कारण हम सब अपनी प्रजा के कोपभाजन का कारण भी बनने जा रहे हैं।

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. भावप्रधान।

हम निराशा के अंधेरे में अपने बचने का साधन टटोलते हुए घूम रहे हैं। हम पुकार रहे हैं — हे हमारी आशा के प्रकाश! तू कहां हैं हे हमारे जीवन! तू कहां है? तात्पर्य यह है कि हमसे आशा और जीवन दोनों छिन गये हैं। ऐसे आपत्तिकाल में जब जीवन समाप्त होता दिखाई देता है तभी जीवन का बोध भी होता है अन्यथा आशा और निराशा के बीच में जीवन की गरिमा नष्ट होकर रह जाती है तभी वीभत्सकारी घड़ी में देवलोक वासी जीवन रूपी प्रकाश को खोज रहे हैं। हमें अपने जीवन की अभिआशा ही जैसे मिट के रह गई है

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. मुक्तछन्द।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. भावात्मक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. मार्मिक द श्यावलोकन।

[160]

आह न जाने
कैसे कापुरुषों का संरक्षण पाया है?
मेरे उत्तरवासी
सब सम्बन्धी बेघर बार हो गये
सब शरणार्थी
सब शरणार्थी
पूर्वजन्म में जाने कितने पाप किये थे
जो इन कापुरुषों का संरक्षण पाया है

शब्दार्थ :-

कापुरुषों = डरपोक आदमी, शरणार्थी = शरण में आये हुए

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, अन्य देवगण ब्रह्मा जी से शंकर जी की सेना का सामना करने की आज्ञा मागते हैं तो ब्रह्मा जी इसके लिए मना कर देते हैं, तभी एक नागरिक पीड़ा भरे स्वर से कहता है -

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, इन्द्र व अन्य देवगण ब्रह्मा जी से शंकर जी की सेना का सामना करने की आज्ञा मागते हैं, तभी दक्षप्रजापति का भ त्प सर्वहत्त जो युद्ध की विभीषिका में अकेला बचा था दरबार में एक शरणार्थी के रूप में आता है और कहता है -

व्याख्या :-

तुम लोग इन से ये आवाजें सुनने को कह रहे हो ये अधिकारी होने के कारण प्रजा की आवाजों को नह सुन रहे । मैं प्रजा की इन आक्रोश भरी आवाजों को सुन रहा हूँ। मैं वे सब बात. सुनता हूँ जो साधारण जनता के बीच होती हैं मैं इस प्रकार की बात. सदा सुनता रहता हूँ। मुझमें केवल यही कमी है कि सब कुछ सुनते हुए भी मैं न कुछ देख सकता हूँ और न कुछ सोच सकता हूँ। सच्ची बात तो यह है कि मेरा काम सोचना नह हैं मैं जो सोचता हूँ उसे कर नह सकता, क्या. कि मैं प्रजा हूँ। कुछ करने का अधिकार तो राजा या शासक को होता है इसलिए मुझे सोचने से क्या लाभ? मेरा सोचना बेकार है मैं प्रजा हूँ। मुझे तो शासक की आज्ञा चाहिए। शासक जो आदेश देगा, वही मुझे करना पड़ेगा। मैं शासन करने वाला नह , मैं प्रजा हूँ या सेवक हूँ। इन्ह. जो आज्ञा दी जाती है वे उसका पालन करते हैं। सर्वहत्त कहता है कि मैं सब कुछ सुनता हूँ मेरा काम ही सुनना है लेकिन मैं इतनी असहाय अवस्था में हूँ कि देख नह सकता हूँ और सोचना मेरे बस की बात नह वह कहता है कि सोचने से मुझे मिलेगा भी क्या। इसलिए वह आदेश की कामना करता है और कहता है कि मैं भी प्रजा हूँ केवल मात्र भ त्प हूँ। शासक नह हूँ। इसलिए मेरा धर्म और मेरा स्वभाव सुनना है

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. भावप्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
5. सरल काव्य।
6. अन्तःवेदना।
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. विक्षिप्तावस्था।
11. युद्धोपरान्त द श्यावलोकन।

[162]

मैं? हौं ...

मैंने पहचान लिया

मैंने सुनकर ही पहचान लिया

— ठीक वही स्वर

10. व्यंजात्मक।
11. मार्मिक द श्यावलोकन।

[163]

याद नह आता क्या?
 पर मुझको याद है
 में कभी सुनने में भूल नह कर सकता।
 हाँ, मुझको याद है
 कि मैंने तुमसे
 यह कभी न पूछा था —
 तुम किसी की आज्ञा से आये हो?
 मैंने तो बाँहें फैलाकर तुम्हें अनायास
 अपनी यह देह भ.ट कर दी थी
 पर तुमने कुछ भी न खाया था ...

शब्दार्थ :-

देह = शरीर, भ.ट = देना, अनायास = अचानक

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया., शोकिनियों आदि की सेना को लेकर देवलोक तक आ पहुँचे हैं, इस समस्या के समाधान पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, कि तभी दक्षप्रजापति का भ.ट सर्वहत्त जो युद्ध की विभीषिका में अकेला बचा था दरबार में एकाएक आ जाता है और ब्रह्मा जी द्वारा पूछने पर कि तुम यहाँ कैसे आये तो वह कहता है —

व्याख्या :-

तुम लोग मुझे नह पहचान पा रहे हो तुम लोगों को याद नह आ रहा है कि मैं कौन हूँ? तुम्हें याद नह आ पा रहा है कि मुझे तुम लोगों ने मुझे कब देखा है, पर मुझे वह समय की याद है जब एकबार मैंने आप लोगों की आवाज सुनी थी मैं सुनने में भूल नह कर सकता, क्या.कि मेरा काम सिर्फ सुनना ही है मुझे अच्छी तरह से याद है कि जब आप लोग दक्ष प्रजापति के नगर में आए थे तो मैंने तो आपसे यह नह पूछा था कि आप लोग यहाँ किसी आज्ञा से आये हैं बल्कि उस समय तुम्हें भूखे प्यासे देखकर प्रसन्नतापूर्वक अतिथिभाव से स्वागत करते हुए स्वयं को ही अर्थात् अपनी इस देह को ही तुम्हारे हवाले कर दिया था। आज आप लोग मुझसे यहाँ आने का कारण क्या. पूछ रहे हैं? मैंने तो आप लोगों से कोई प्रयत्न कराये बिना अपना शरीर भ.ट कर दिया था तुम लोगों को खाने के लिए। लेकिन तुमने ही मेरा शरीर नह खाया था। मेरे समर्पण में तो कोई कमी नह थी शरीर मैंने तुम्हें इसलिए अर्पण किया था कि मेरे पास अपने शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नह था।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।

से किसी प्रकार का कोई विरोध न किया। जिस प्रकार से लोग लहलहाती हुई फसला. वाले खेता. में बहुत सी पगडंडियां बनाकर अथवा बहुत-सी फसला. को कुचलकर मिटा डालते हैं। उसी प्रकार से हमारे शासक प्रजापति दक्ष ने हमारे व्यक्तित्व को भी नष्ट कर दिया। हमारी उन्नति को रोक दिया। इतने पर भी हमने अपने शासक का विरोध नह किया। हमने स्वयं को नष्ट करके सबको आगे बढ़ने का रास्ता दिया। ऐसा हमने प्रजा होने के कारण किया। देवलोक की जनता को भी ऐसा ही होना चाहिए। उसे अपने शासका. के निर्णया. और आदेशा. का विरोध कतई नह करना चाहिए। यही प्रजा का धर्मगुण है।

विशेष :-

1. उत्प्रेक्षा अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. छन्दमुक्त।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. भावप्रधान।

[165]

पर अब में

एक पगडंडी के सिवा और क्या हूँ?

— धूल भरी विस्म त-सी पगडंडी एक :

जिस पर थके और जख्मी पदचिन्ह हैं अनेक :

और जो परम्परा की तरह,

एक दायरे में,

चक्कर लगाती हुई चलती है,

अब तो में खेत भी नह हूँ

और अगर खेत हूँ भी तो

अब मुझमें फसल कहाँ फलती है?

शब्दार्थ :-

दायरे = सीमा, चक्कर = घुमाव

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर जी के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव

शब्दार्थ :-

बन्धु = भाई, प्रयोजन = मतलब

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। शंकर क्रोध के कोपभाजन अब देवगण बनने वाले हैं, क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी दक्षप्रजापति का भ त्प सर्वहत्त जो युद्ध विभीषिका में अकेला बचा था दरबार में एक शरणार्थी के रूप में आता है तो विष्णु जी उससे कहते हैं -

व्याख्या :-

अब तुम हमारी प्रजा हो, दक्ष की नह । बड़े ही आत्मीय रूप से थके-हारे, भूखे-प्यासे दक्ष प्रजापति भ त्प सर्वहत्त को ढाढस बढ़ाते हुए विष्णु कहते हैं कि हे सर्वहत्त अब तुम हमारे बन्धु के समान हो अब तुम अपने आपको किसी भी रूप से असहाय अथवा कमजोर और असुरक्षित न मानों। तुम हमारे पास आकर अब अपने मन को उदास न करो विष्णु जी कहते हैं कि हमने माना कि आज की स्थिति परिस्थिति काफी नाजुक अवस्था में पहुंच चुकी है फिर भी हम इतने असहाय नह हुए हैं कि तुम्हारी कोई मदद ही न कर सकें। इसलिए हे सर्वहत्त अब तुम निःसंकोच होकर यह बताओ कि किस प्रयोजन अर्थात् मतलब से आप हमारे पास आए हो अपने मन की बात तुम खुलकर हमें बताओ तो शायद हम तुम्हारे लिए कुछ कर भी सकें। विष्णु के कहने का भाव यह है कि जब तक सर्वहत्त अपने मन की बात नह कहते अर्थात् नह बताते तब तक वे उसकी मदद कर पाने में सक्षम न ही हो पा रहे हैं। दक्ष प्रजापति के भ त्प के प्रति विष्णु के मन में सम्मान की भावना है इसलिए वह सर्वहत्त की मदद करना चाहते हैं।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. भावात्मक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. करुण द श्यावलोकन।

[167]

तुम क्या कर सकते हो,
कोई क्या कर सकता है
यह उसकी अपनी सामर्थ्य और क्षमता पर

9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. करुण द श्यावलोकन।

[168]

देखो ना!
 सूखे पड़े हैं मेरे हा.ठ
 जिन पर पपड़ियाँ उभर आई हैं।
 दक्ष के नगर में मैंने
 बहुत दिना.
 नह मिला पानी तो रक्त ही पिया
 और उसी पर जिया।
 तुम मुझको थोड़ा-सा
 रक्त दिला सकते हो?

शब्दार्थ :-

रक्त = खून, जिया = जीवन, उभर = उठना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश की पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। यह पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं इसको सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी ने लिखा हैं यहां लेखक उस समय का वर्णन कर रहा है जब अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने आत्मदाह कर लिया। शंकर जी देवलोक से सती के प्राण वापस माँगते हैं। लेकिन ऐसा संभव नह इसलिए शंकर जी देवलोक को युद्ध के लिए ललकारते हैं और उनके कोपभाजन से बचने के लिए देवगण आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी दक्षप्रजापति का भ त्य सर्वहत्त जो कि युद्ध विभीषिका में अकेला बचा था दरबार में प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में आता हैं तो विष्णु जी उसका ढाढस बंधाते हैं। हमदर्दी भरे शब्दा. को सुनकर स्वयं को संभालते हुए सर्वहत्त कहता है —

व्याख्या :-

भूख प्यास के मारे मेरा हा.ठ सूख गया हैं वह कहता है कि मैं आपको कैसे बताऊं कि मैं कितना भूखा हूँ। वह अपनी बात ही पुष्टि करने के लिए कहता है कि देखो प्यास के कारण मेरे हाँठ फटे जा रहे हैं और अब तो इन पर पपड़िया भी पड़ चुकी हैं जिसके कारण मेरी हालत बद से बदतर होती जा रही हैं सर्वहत्त कहता है कि दक्ष प्रजापति के नगर में जैसी भयानक स्थिति थी उसमें मैं किस प्रकार से जिन्दा रहा यह मैं ही जानता हूँ। वह कहता है कि दक्ष के राज्य में मुझे कई दिना. तक पानी ही पीने को नह मिला तो मैं रक्त ही पीता रहा हूँ। वह कहता है कि क्या करूं उस समय की हालात ही कुछ ऐसी थी कि जीने के लिए जब पानी न मिला तो मैंने रक्त पीकर ही अपनी जान बचाई हैं सर्वहत्त कहता है कि उस महा भयानक विभीषिका में उसके जीवन का आधार रक्त ही रहा और आज भी वह अपनी उसी आदत के अनुसार भगवान विष्णु से रक्त की माँग करते हुए कहता है कि क्या तुम मुझे रक्त दिला सकते हो जिसको पीकर मैं अपनी प्यास बुझाऊं। सर्वहत्त की मानसिक हालत का स्पष्ट चित्रण है कि वह देवलोक में पहुंचकर भी अपने मन के आवेग को रोक नह पाता और रक्त की माँग कर बैठता हैं जबकि प्यास बुझाने के लिए हमेशा पानी की आवश्यकता होती है अर्थात् प्यास तो पानी से ही बुझती हैं यहां पर कवि ने

व्याख्या :-

देवता इतने कमजोर कब से हो गए कि उनके मन में एक असंभव विचार आने लगा हैं वह कहता है कि क्या. आप लोग बच्चों के समान विचारहीन बात. करते हैं? आप लोग तो यहां के शासक हैं। आपकी तो यहाँ उचित अनुचित सभी बात. मानी जायेंग शासन करने वाला. को खून की क्या कमी और आप लोग कह रहे हैं कि मेरे लिए एक बूंद भी खून का प्रबन्ध नह कर सकतें किन्तु यदि आप सचमुच चाहें तो आप रक्त से सागर भर सकते हैं। आप जो मेरे लिए एक भी बूंद रक्त का प्रबन्ध न करने की बात कह रहे हैं, इसका कारण भी मैं समझ गया। आप लोग मुझे इस तरह से बहला रहे हैं। मैं समझ गया। आप लोग मुझसे असन्तुष्ट और अप्रसन्न हैं। यदि ऐसा नह है, और आप मुझसे सन्तुष्ट और प्रसन्न हैं तो मेरे लिए खून का प्रबन्ध कर सकते हैं। सर्वहत्त कहता है कि आप सब इतने साधन सम्पन्न हैं कि जिसे जो चाहे वह चीज उपलब्ध करा सकते हैं। आप सबके के लिए कोई भी कार्य कठिन नह है लेकिन मेरा मन ऐसा कहता है कि आप सबको जो पसन्द आ जाये उसके लिए तो सबकुछ संभव है लेकिन जो किसी कारण से आप सबको अच्छा न लगे तो उसकी इच्छापूर्ति के लिए आप सबके पास कोई साधन नह है।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. खड़ी बोली।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. व्यंग्यपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. प्रतीक योजना।
10. मुक्त छन्द।
11. बिम्ब विधान।

[170]

बन्द करो यह प्रलाप
हम इतनी देर सहन करते रहे शब्द-श्राप
और क्या तुम्हारा यही दोष कुछ कम हैं
तुम अपने
स्थिति-संदर्भों से कटे हुए
श्राप हो समय के,
और भार हो हमारे वर्तमान पर;
तुम अब भी उस क्षण में जीते हो

शब्दार्थ :-

शब्द-श्राप = अभिशाप, दोष = अवगुण, संदर्भों = विषयों, क्षण = समय

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं शंकर जी ने दक्ष के

शब्दार्थ :-

देवलोक = देवताओं के रहने का स्थान, रक्तपान = खून पीना

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं

लेखक उस समय समय का वर्णन कर रहा है जब अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने आत्मदाह कर लिया। शंकर जी देवलोक से सती के प्राण वापस माँगते हैं। लेकिन ऐसा संभव नह इसलिए शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन से बचने के लिए देवगण आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी दक्षप्रजापति का भ त्प सर्वहत जो युद्ध विभीषिका में अकेला बचा था दरबार में प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में आता हैं भगवान विष्णु जी के हमदर्दी भरे शब्दा. को सुनकर स्वयं को संभालते हुए सर्वहत ने पीने के लिए थोड़ा-सा रक्त माँगा तो ब्रह्मा जी ने उसे फटकारते हुए कहा कि देवलोक में रक्त नह मिल सकता। यह सुनकर सर्वहत कहता है -

व्याख्या :-

में भी कितना मूर्ख हूँ। काश मुझे यह पहले से पता होता कि संसारी दुनियां में जैसा होता आया है, वही सब देवलोक में भी होता है तो मैं कदापि अपने मन की बात नह कहता। सर्वहत कहता है कि संसार का कितना विचित्र नियम है कि साधारण इंसाना. को कभी भी इंसाना नह मिलता। वह कहता है कि मुझसे एक बहुत बड़ी भूल हुई जो मैं इस वास्तविक तथ्य को भूल बैठा और रक्त की माँग कर बैठा। सर्वहत के अनुसार रक्त पीते-पीते वह रक्त पिपासु बन बैठा जिसके कारण उसे अब भी अर्थात् प्यास के इन क्षणा. में भी ऐसा लगता हे कि उसकी प्यास पानी से नह अपितु रक्त से ही बुझ सकती हैं इसलिए वह पीने के लिए पानी की बजाए रक्त की माँग करता हैं सर्वहत के अनुसार जिस व्यक्ति की जो आवश्यकता हो वह देवलोक में अवश्य ही पूरी की जाती हैं इस प्रकार के विचार उसके दिलो-दिमाग में घर कर गए थे वह समझता है कि यदि वह माँग बड़े लोगों द्वारा की जाती तो देववासी इसे जरूर पूरा करते लेकिन साधारण इंसाना. की इच्छाआ. की परवाह कौन करता है अर्थात् कोई नह करता चाहे वह देव लोक हो अथवा मनुष्य लोक।

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. व्यंग्यात्मक।
7. निष्ठुर अभिव्यक्ति।
8. चित्र अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. अलंकारिक भाव।
11. करुण द श्यावलोकन।
12. गीतिमय संवादयोजना।
13. प्रबंध रचना।
14. युक्तिसंगत।

6. वीभत्स रस
7. घ णास्पद अभिव्यक्ति
8. निर्जन-अंकन
9. आत्म लोचना
10. व्यंजात्मक

[173]

मैंने कब शिव शंकर का
 औचित्य सिद्ध करना चाहा था?
 मैंने तो केवल चाहा था
 तुम अपना औचित्य समझ लो —
 तुम सत्य से आँख मत मचा.
 यदि तुमको जय ही अभीष्ट है
 अपनी ओर सत्य को खचा.
 प्राणा. की आहुति
 युद्ध के नह
 सत्य के लिए होती हैं

शब्दार्थ :-

औचित्य = मतलब, अभीष्ट = प्रबल चाह, आहुति = बलिदान

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। यह पुस्तक गीति नाट्य प्रधान रूप में सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी द्वारा लिखी गई हैं। दुष्यन्त कुमार जी ने उस समय का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में अपमानित होकर सती ने प्राण त्याग दिये शंकर जी देवलोक से सती के प्राणा. का वापस माँगते हैं। शंकर जी के क्रोध के कोपभाजन से बचने के लिए देवगण आपस में मन्त्रणा करते हैं, तभी दक्षप्रजापति का भत्य सर्वहत्त जो युद्ध विभीषिका में अकेला बचा था दरबार में प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में आता हैं तो विष्णु जी उसका ढाढस बंधाते हैं। हमदर्दी भरे शब्दा. को सुनकर स्वयं को संभालते हुए सर्वहत्त ने पीने के लिए थोड़ा-सा रक्त माँगा तो ब्रह्मा जी ने कहा कि देवलोक में रक्त नह मिल सकता। इस विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए विष्णु जी सर्वहत्त को जब उचित ठहराते हैं तो ब्रह्मा जी कहते हैं -

व्याख्या :-

अरे मैंने शंकर द्वारा म त पत्नी के जीवन माँगने को अथवा देवलोक पर आक्रमण करके रक्तपात करने को कभी भी उचित नह कहा। मैं तो केवल यह चाह रहा था कि तुम जो कुछ करना चाह रहे हो, उसके उचित होने की बात समझ लो तुम जो युद्ध आरम्भ करना चाह रहे हो उसके विषय में समझ लो कि वह उचित है या नह। तुम सत्य को देखने की कोशिश करो और उसे समझा. तुम सच्चाई की ओर से आँख. बंद न करो यदि तुम विजय प्राप्त करना चाहते हो तो वह युद्ध से नह मिलेगा विजय पाने के लिए सत्य को अपनी ओर खचा. विजय युद्ध से नह, सत्य का पक्ष तुम्हारी ओर होने से ही विजय मिलेगा युद्ध में लोगों के प्राण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार हवन कुंड में डाली हुई आहुति जल जाती हैं लोगों के प्राण युद्ध में नष्ट करने के लिए नह हैं, सत्य की रक्षा के लिए बलिदान करने के लिए हैं। तुम्हें अपने सैनिका. के प्राणा. का बलिदान

हैं। आप देवगणों की मंशा क्या है हमारी समझ से बाहर हैं जनता की ये आवाज कि हम निर्णय के अभिलाषी हैं। देवताओं के अन्तर्मन पर एक करारी चोट हैं क्या कि जब स्थिति विशेष में देवताओं का चिंतन मनन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाये तो साधारण जना. का क्या कहना।

विशेष :-

1. रूपक अलंकार
2. तत्सम प्रधान
3. ध्वनि साम्य
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण
5. सुबोध काव्य
6. वीभत्स रस
7. भावपूर्ण अभिव्यक्ति
8. निर्जन-अंकन
9. आत्म लोचना
10. व्यंजात्मक
11. मार्मिक द श्यावलोकन

[175]

धीरज रक्खो

न्याय करूँगा।

चाहे शंकर मेरे कितने निकट-मित्र हो,

चाहे ब्रह्मा जी मेरे कितने अभिन्न हो,

पर मैं अपना मत

सत्य के पक्ष में दूँगा।

शब्दार्थ :-

धीरज = संयम, अभिन्न = घनिष्ट

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश की पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से ली गई हैं इसके रचयिता श्री दुष्यन्त कुमार जी मूल रूप से एक कवि हैं जोकि नई कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। परन्तु इस पुस्तक को उन्होंने गीति नाट्य रूप में लिखा है

पुस्तक में लेखक ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ मध्य उत्पन्न स्थिति का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती ने अपमानित हो कर आत्मदाह कर लिया। महादेव शंकर अपनी पत्नी के प्राण वापस लेने के लिए देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं, इस गंभीर परिस्थित पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं। लम्बी बहस को देखकर प्रजाजन के सब्र का बांध टूट जाता है और वे कहते हैं कि हमें तो अपना निर्णय सुनाआ. प्रजा अपनी रक्षा के लिए पुकार रही हैं विष्णु जी प्रजा को शांत करते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

आप सब अपने धैर्य को सम्भाल.। बहुत जल्दी अपना धीरज खोना अच्छी बात नह । विष्णु जी नागरिका. को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि आप सब विश्वास रखो कि आप सब पूर्णतया सुरक्षित हैं और बिलकुल न घबरायें। विष्णु जी जनता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मेरे

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं

पुस्तक में लेखक ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ से उत्पन्न स्थिति का वर्णन किया है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती ने अपमानित हो कर आत्मदाह कर लिया। महादेव शंकर अपनी पत्नी के प्राण वापस लेने के लिए देवलोक की सीमाओं तक आ पहुँचे हैं। इस गंभीर परिस्थिति पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं। देवगणों की लम्बी बहस को देखकर प्रजाजन के सब्र का बांध टूट जाता है प्रजा जन अपनी रक्षा की भावना में आकर कहते हैं कि यथाशीघ्र हमें तो अपना निर्णय सुनाआ. विष्णु जी प्रजा को शांत करते हैं और सैनिक को आदेश देते हैं -

व्याख्या :-

प्रजाजनों की माँग अर्थात् युद्धविषय निर्णय पर विचार करते हुए भगवान विष्णु विश्वासपूर्ण एवं गांभीर्य भाव में आकर कहते हैं, कि हे सैनिक! तुम जाकर अपने सभी सैनिका. से कह दो कि अब तो युद्ध शीघ्र ही होने वाला है प्रजाजनों के समक्ष विष्णु जी सैनिक को संबोधित करते हुए कहते हैं कि अपनी सेनाटा. को यह अवश्य बताना कि अब उनका सेनानायक क्षीरसागर वासी विष्णु हैं विष्णु जी के इन बाता. को सुनकर प्रजाजना. के मध्य में एक सुरक्षा भाव का माहौल पैदा हो जाता है जोकि उन सबके चेहरे पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है सैनिका. के मन की बात अर्थात् रणभेरी पर जाने का समय हो गया है इसी बात को ध्यान में रखते हुए भगवान विष्णु कहते हैं कि अब हमारे सभी सैनिक जाकर सीमाओं पर डट जाय.। विष्णु जी अपने सैनिका. को बड़ा सख्त आदेश देते हैं कि उनसे कहना कि वह सीमा की इस प्रकार रक्षा कर. कि जिससे शत्रु सेना आगे न आने पाय. भगवान विष्णु जी कहते हैं कि चाहे आज वह हमारा परममित्र शंकर ही शत्रु के रूप में सामने क्या. न खड़ा हो सैनिक इन सब बाता. को भूलकर महादेव का और उनके गणों का बड़ी वीरता के साथ सामना कर. और उनको अपनी सीमा में और आगे न बढ़ने द.। विष्णु जी शीघ्र ही आवेश में आ जाते हैं और सैनिक को आदेश देते हैं कि तुम अति शीघ्र जाओ और सबको बताओ कि अब रण के भेरी वाद्यय यन्त्र बजा द. अर्थात् दुंदुभि बजा देव. जिससे कि शत्रु सेना को भी पता चल जाये कि हम देवगण भी अपने दल-बल सहित उनका सामना करने के लिए मैदान में आ डटे हैं।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. आलंकारिक।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. आत्मिक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. छंद मुक्त।
11. कर्मप्रधान द श्यावलोकन।
12. लौकिक संवेग।
13. गीतिमय संवाद योजना।
14. मानवीकरण।

8. निर्जन-अंकन
9. आत्म लोचना
10. व्यंजात्मक

[178]

देखा प्रभु!

**भगवान विष्णु ने भी कर्म को महत्ता दी हैं
हाँ, यदि वह चिंतन-प्रसूत हो,
धर्मजन्य हो**

शब्दार्थ :-

महत्ता = महत्वपूर्ण, चिंतन = सोच-विचार

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश की पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं पुस्तक में लेखक ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ से उत्पन्न स्थिति का वर्णन किया है। देवगणों की लम्बी बहस को देखकर सब प्रजाजन कहते हैं कि हमें तो अपना निर्णय सुनाआ। इस बीच विष्णु जी सत्य की तरफ अपना फैसला सुनाते हैं, सभी देव उनके इस फैसले का स्वागत करते हैं। ब्रह्मा जी भी अपना हर्ष भाव प्रकार प्रकट करते हैं और उत्साहित होकर इन्द्र कहते हैं -

व्याख्या :-

कि देखा प्रभु! आपने यही तो हम सब चाहते थे कि इस विषम परिस्थिति में हमें हाथ पर हाथ धरे नह बैठना चाहिए बल्कि कर्तव्य मार्ग पत्र आगे बढ़ जाना चाहिए। आखिर भगवान विष्णु ने भी कर्म की महत्ता इस प्रकार से क्रियात्मक रूप देकर अर्थात् जब इन्द्र से धनुष बाण भगवान विष्णु लेते हैं और उसकी प्रत्यंचा ख चकर, मंत्र अभिमंत्रित करके जब एक बाण छोड़ते हैं तो उससे एक भयानक गड़गड़ाहट सी आवाज पैदा होती है तब सभी देवगण और जनता अनायास ही भगवान विष्णु की जय-जयकार करने लगती हैं तभी तो इन्द्रजी इसे भगवान विष्णु द्वारा कर्म की महत्ता सिद्ध करने की बात करते हैं। ब्रह्मा जी भी हर्ष भाव से उनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं और कहते हैं जब हम निर्विकार भाव से गहन चिन्तन मनन के उपरान्त निर्णय लेते हैं तो वह सर्व मान्य ही नह होता बल्कि वह धर्मजन्य होता है अर्थात् वह ईश्वरीय आवाज होती है।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार
2. तत्सम प्रधान
3. ध्वनि साम्य
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण
5. सुबोध काव्य
6. वीर रस
7. हर्ष भाव की अभिव्यक्ति
8. निर्जन-अंकन
9. आत्म लोचना
10. अभिलाषा की पूर्णता

7. मानवीकरण।
8. छंद मुक्त।
9. आत्म चिंतन।
10. सरल भाव।
11. मार्मिक द श्यावलोकन।

[180]

**मुझे ज्ञात है
हर परम्परा के मरने पर थोड़े दिन तक
सारा वातावरण शून्य से भर जाता है,
और परम्परा के चरणों में नत मस्तक
उसका हर पोषक
सहसा मन में डर जाता है
अथवा आक्रामक या हिंसक हो उठता है**

शब्दार्थ :-

सहसा = अचानक, शून्य = जहाँ कुछ भी न हो, परम्परा = रीति-रिवाज

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं

अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अपनी पत्नी के प्राण वापस लेने के लिए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं में आ पहुँचे हैं। इस विकट परिस्थिति पर सभी देव आपस में मन्त्रणा करते हैं। इन्द्र, ब्रह्मा जी से महादेव शंकर जी की सेना का सामना करने की आज्ञा माँगते हैं। युद्ध के सम्बन्ध में युद्ध करने का निर्णय सुनाकर विष्णु जी बैठक दक्ष से बाहर निकल आते हैं और सब बात समझ कर वे महादेव शंकर की ओर एक बाण छोड़ते हैं। उसी बाण के विषय में विष्णु जी इन्द्र से कह रहे हैं -

व्याख्या :-

मुझे मालूम है कि जब भी कोई परम्परा समाप्त होती है तो आसपास का सारा वातावरण सूना हो जाता है लोग कुछ भी नह समझ पाते कि वे क्या करे। शिव शंकर भी अपनी प्रेयसी सती की मृत्यु पर अपना कर्तव्य नह समझ पा रहे हैं। जो लोग परम्परा के आगे सिर झुकाते हैं, अर्थात् बिना किसी सोच विचार के परम्परा का पालन करते हैं और परम्परा को पुष्ट बनाते हैं और उसके टूटते ही दूसरे पल हर एक मनुष्य पहले तो मन में डर जाता है अथवा प्रतिकार की भावना में बहकर आक्रमण कर देता है। दक्ष का यज्ञ एवं नगर नष्ट कर दिया गया। दक्ष की भी मृत्यु हो चुकी है इस कारण उनका सेवक सर्वहत्त भयभीत हैं शिव शंकर अपनी पत्नी के मोह बन्धन में पड़कर अन्धे हो रहे हैं। नियति से लड़ने का असफल प्रयास कर रहे हैं। इसलिए सती की मृत्यु होने पर अब आक्रामक हो बैठे हैं और नियती निर्धारका को मारना चाहते हैं। विष्णु जी इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मैं भली भाँति जानता हूँ कि एक परम्परा जब टूटती है तो सारे वातावरण में कुछ समय के लिए खामोशी छा जाती है और उन परम्पराओं का निर्वहन करने वाला मन ही मन में अचानक डर जाता है फिर वह अपना डर छुपाने के लिए आक्रामक अथवा हिंसा का रास्ता अपना

ऊपर निकलकर आने वाले अंकुर का अन्त में विकास होता है लोग उसकी चाहे जितनी लापरवाही कर., पर अन्त में वह अंकुर बड़ा व क्ष बनता है। इसी प्रकार परम्परा टूटने पर उत्पन्न होने वाले सूनेपन से कुछ दिन बाद उत्पन्न होने वाली नई विचारधारा अन्त में सब जगह फैल जाती है। प्रारंभ में लोग उसकी ओर चाहे बिल्कुल भी ध्यान न द.। विष्णु जी इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वास्तव में महादेव अन्दर ही अन्दर भयभीत हैं इसलिए उनका रूप हिंसक हो गया है। वह देवराज इन्द्र से कहते हैं कि एक समय के बाद उसी भूमि पर जैसे एक नया अंकुर फूटता है। उसी प्रकार से हर एक उपेक्षा एक दिन अपेक्षा भाव में स्वीकृति को प्राप्त होता है। कहने का भाव यह है कि समय की धारा सदैव एक जैसी नह रहती बल्कि वह स्थिति-परिस्थिति आदि कारणा. के अनुसार बदलती रहती हैं यही शाश्वत अटल नियम है। विष्णु जी के अनुसार कुछ समय के उपरान्त महादेव शंकर स्वयं ही शान्ति का अनुभव कर.गे और इस प्रकार से उनकी हिंसक व त्ति देखते ही देखते अहिंसा में बदल जायेगी।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. भावना प्रधान।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. मार्मिक द श्यावलोकन।

[182]

समझ गया मैं
 एक सत्य से कट जाने पर
 यह सामर्थ्यहीन साधारण जन
 केवल भयभीत हो गया,
 पर कैलाशनाथ ने सहसा,
 आक्रामक का रूप कर लिया पल में धारण।
 नये सत्य से जोड़ नह पाये वे खुद को
 शव के कारण।
 इसीलिए अंकुर को ऊपर आने देना नह चाहतैं

शब्दार्थ :-

कैलाशनाथ = महादेव शंकर, खुद = स्वयं, धारण = पहनना, शव = म त शरीर

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए।

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अपनी पत्नी के प्राण वापस लेने के लिए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया, आदि की सेना को लेकर देवलोक में मार-काट मचा द महादेव के मोह को भंग करने के लिए विष्णु भगवान ने एक बाण छोड़ा जिस पर वे बताते हैं कि परम्परा टूटने पर परम्परावादी लोग या तो भयभीत हो जाते या हिंसक हो जाते हैं। वरुण जी भी उनकी बाता. का समर्थन करते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

जिस प्रकार धरती से अंकुर निकलता है, उसी प्रकार परम्परा टूटने के पश्चात् नई मान्यता का विकास होता है शिव शंकर सती के शव के प्रति लगाव रखते हैं कहने का भाव कि वे नई मान्यता का अंकुर ऊपर आये, अर्थात् नई मान्यता का विकास हो लेकिन महादेव ऐसा नह चाहते क्या.कि उनका व्यवहार नेय स जनकर्ता जैसा नह हैं किन्तु हे प्रभु! यह तो बताइए कि शिव शंकर अपनी पत्नी सती का शव कब छोड़ेंगे? सती की लाश से किनलने वाली जिस बदबू से सारा वातवरण भरा हुआ है, वह लाश मिट्टी में कब मिलेगी? सती की वह लाश खाद के समान मिट्टी को उपजाऊ बना देगी और धरती से नये अंकुर निकल आएंगे, उसी तरह सती का मोह त्याग कर शिव शंकर नई मान्यता कब स्वीकार कर.गे? वरुण जी कहते हैं कि हे प्रभु आखिर शिव सती पार्वती का शव कब त्याग.गे क्या.कि उस अधञ्जुलसे शव से जो दुर्गन्ध फैल रही है उससे सारा वातावरण ही दूषित हो रहा है इस प्रकार वह अपने मन की बात. इस प्रकार से रखते हैं कि हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा जब सती का शव प्रकृति में रम कर फूल पौधा. के लिए पोषक तत्व का रूप धारण कर लेगा और इस तरह से वह नये अंकुरित बीजा. के लिए जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करेगा और तभी तो नये अंकुर इस प्रकार से फूट.गे, बढ़.गे और खिल.गे कि जिससे प्रकृति का सौन्दर्य बढ़ेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस समय महादेव के अन्तर्मन से सती पार्वती के शवमोह को त्याग.गे तब उनके मन में स ष्टि नियम के प्रति एक आदर भाव जायेगा और शान्ति देगा।

विशेष :-

1. प्रतीक योजना।
2. भाषा प्रधान।
3. छंद मुक्त।
4. सरल भाषा से पूर्ण।
5. श्रेष्ठ काव्य।
6. प्रधान रस।
7. भावपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. प्रतीक योजना।
9. आत्म लोचना।
10. व्यंजात्मक।
11. तत्सम प्रधान।
12. नाटकियता।
13. कथोपकथन।
14. पद्मबद्ध।

7. ओजपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. प्रतीक योजना।
10. मानवीकरण।

[185]

**क्या कि सत्य का ताप
बड़े संयम से औ'श्रम से खिलता है,
जिसमें उद्घाटित होता है सत्य
उसे स जन का सुख मिलता है,
किन्तु स जन से पहले की पीड़ाआ. जैसा
पीड़ा इसमें भी होती है**

शब्दार्थ :-

संयम = धैर्य, पीड़ाआ. = दुःखों, स जन = रचना,

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अब शंकर अपनी म त पत्नी सती का शव कंधे पर डालकर घूम रहे हैं। सती को जीवन न मिलने पर उन्होंने अपने गणों सहित देवलोक पर आक्रमण कर दिया और मारकाट आरम्भ कर दी हैं महादेव के मोह को भंग करने के लिए विष्णु भगवान ने मन्त्र पढ़कर एक बाण छोड़ा। इसके पश्चात् इस पर आश्चर्य प्रकट किया जाने लाग कि लोग लाश के समान पुरानी मान्यताआ. को क्या. ढोते रहते हैं। विष्णु इसका कारण बताते हुए कहते हैं -

व्याख्या :-

सत्य बहुत कड़वा होता है, तीखा होता है, उसमें इतनी गर्मी होती है कि उसकी गर्मी को सहन करने के लिए अपने ऊपर बहुत संयम करना पड़ता है और बहुत मेहनत करनी पड़ती हैं। जो आदमी संयमी और परिश्रमी नह होता, वह सत्य की गर्मी नह सहन कर पाता। सत्य जिस आदमी के सामने प्रकट होता है, उसे कुछ बनाने का सुख मिलता हैं वह यह सोचकर सुखी होता है कि मैंने कुछ स जनात्मक कार्य किया है, मैंने कुछ बनाया है बच्चे को जन्म देने से पहले जैसा दर्द माता को सहन करना होता है, उसी तरह का दर्द सत्य का उद्घाटन करने वाले और नवनिर्माण करने वाला. को नई परिस्थिति से पूर्व सहना होता है। तात्पर्य यह है कि सच्चाई को समझने के लिए संयम रखने और परिश्रम करने की आवश्यकता है। प्रत्येक नवनिर्माण करने वाला पीड़ा भोगता ही हैं विष्णु भगवान कहते हैं कि वास्तव में सत्य जब उद्घाटित होता है तभी तो स जन का वास्तविक सुख मिलता है इसके साथ ही वह बताते हैं कि सत्य का ताप बड़े संयम और श्रम से खिलता है। स जन से पहले जो कठिनाईयां आती हैं उनको जो सह जाता है उसी के अन्दर सत्य का बोध होता है।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. छंद मुक्त।

के लिए युद्ध का दिखावा कर रहे हैं। वास्तव में आपका युद्ध से कोई लेना देना नह है।

विशेष :-

1. उपमा अलंकार।
2. निरीहभाव प्रधान।
3. साम्य विचार।
4. व्यावहारिक भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. बिम्ब विधान।
7. कटु अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-चित्रण।
9. आत्म लोचना।
10. खड़ी बोली।

[187]

तुम भी न्याय के नाम पर
यह नाटक रचना चाहा था,
नये सत्य की स जन-व्यथा से
कतराना बचना चाहा था।
तुम भी तो अपवाद नह हो!
तुम भी तो अपवा द .. हा हा हा ...
रण का निर्णय लेते समय
बताओ तुमने क्या सोचा था?

शब्दार्थ :-

कतराना = बचना, स जन = निर्माण, निर्णय = मत

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं। इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अपनी पत्नी के प्राणा. को वापस लेने के लिए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि सेना को लेकर देवलोक में मार-काट मचा द महादेव के मोह को भंग करने के लिए विष्णु भगवान ने मन्त्र पढ़कर एक बाण छोड़ते हैं इसके बाद चर्चा होने लगती है कि साधारण एवं विशेष दोना. प्रकार के लोगों में से अधिकतर जन सत्य से क्या. कतराते हैं और पुरानी मान्यताआ. की लाश क्या. ढोते रहते हैं? इसे सुनकर सर्वहत्त कहता है -

व्याख्या :-

आप सभी लोग न्याय के नाम पर युद्ध करने या न करने की बात करके, इस प्रकार का दिखावा कर रहे थे आप लोगों ने भी यह इच्छा की थी कि सत्य को बचाने के कष्ट से बच जावें। आप लोग मुझे और शंकर महादेव को सत्य से कतराने वाला बता रहे हैं। वास्तव में आप सब लोग भी इसी प्रकार के हैं आप इससे भिन्न नह हो सकतें आप अपने आपको इससे अलग समझ रहे हैं

व्याख्या :-

ज्वलन्त प्रश्नों की मुझ पर बौछार करके आखिर महामूर्ख सर्वहत्त चला ही गया। इन्द्र कहते हैं कि उसने मेरी सोई हुई आत्मा को भी जगा ही दिया। वास्तव में सत्यस जन से सभी लोग बचना चाहते हैं और उससे बचने के लिए वह तरह तरह का नाटक रचते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि नये सत्य को सामने पाकर, व्यस्तता बहाना बनाकर मुंह फेर लेते हैं। सर्वहत्त के अनुसार यह युद्ध भी व्यस्ततारूपी एक नाटक ही है और मैंने भी न्याय के नाम पर एक नाटक ही रचना चाहा था। सर्वहत्त कहता है कि मैं स्वयं नये सत्य की स जन की व्यवस्था को मजबूत करने की बजाय ऐन-केन प्रकारेण कतराकर बचना ही चाहा था। भूत्य सर्वहत्त मुझे कहता है कि तुम भी अपवाद नह हो वह कहता है कि हे विष्णु तुम भी उन्हें लोगों जैसे हो कि जब नये स जन का वक्त आता है तो वह किसी न किसी बहाने से उस स जन विषय को टाल जाते हैं। वह बड़े जोर से व्यंग्यात्मक हंसी में खिलखिलाते हुए कहता है कि युद्ध का निर्णय लेते समय बताओ तुमने क्या सोचा था? सर्वहत्त के कहने का भाव है कि जब जिस समय तुम महादेव और मैं शिव गणों का सामना करने की भावना से युद्ध का निर्णय ले रहा था तो उस समय मेरी वास्तविक मानसिक स्थिति क्या थी अर्थात् मेरे मन ने क्या सोचविचार करके युद्ध की दुंदुभि बजायी थ इत्यादि प्रश्नों से सर्वहत्त देवराज इन्द्र को झकझोर देता है और फिर चुपचाप स्वयं ही देवताओं से दूर हो जाता है इन सब बाता. से देवराज अन्तर्मन तक हिल जाते हैं।

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. चिंतन प्रधान।
3. ध्वनि साम्य।
4. संस्कृतनिष्ठ भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. वीभत्स रस।
7. आत्मिक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. वस्तुस्थिति का बोध।
10. व्यंजात्मक।
11. मानसिक उद्वेग।

[189]

उस पर क्रोधित क्या. होते हो?

उस जैसे साधारण जन को

परिवर्तन का विष पीना

और पचाना

सरल नह हैं

या. भी यह कोई साधारण कार्य नह है

लेकिन उनका प्रश्न

तुम्हारे लिए बोध हैं

रण का निर्णय लेते समय बताओ

तुमने क्या सोचा था।

शायद कुछ भी सोच नह पाया उस क्षण!
 प्रभो! आपने आज
 दृष्टि के अवरोधों को खोल दिया है,
 या. लगता है
 मानो मैंने मर कर फिर से जन्म लिया हँ
 प्रभु

शब्दार्थ :-

प्रतिहिंसा = बदले की भावना, अवरोधों = रुकावट., क्षण = समय

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पद्यांश हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। क्रोधाग्नि में झुलसे हुए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक की सीमाओं में आ पहुँचे हैं, इस पर सभी देवगण महादेव की गणसेना का सामना करने की कामना से युद्ध की रणभेरी बजा देते हैं, लेकिन युद्ध की परिणति जो होती है पर दक्ष भ त्प सर्वहत्त की हंसीमिश्रित भाव से आहत होकर इन्द्र आत्ममंथन करते हुए विचारते हैं -

व्याख्या :-

वास्तव में मैंने क्या सोचविचार कर देवताओं से युद्ध की माँग क इन्द्र जी बहुत गहन सोच-विचार में पड़ जाते हैं और मन ही मन बार-बार स्वयं से एक ही प्रश्न करते हैं कि आखिर मैंने उस समय क्या सोचविचार करके युद्ध करने की बात कही थ वह कहते हैं कि ऐसा लगता है शायद मैं बदले की भावना में बहकर पागल हो गया था। तभी तो उस क्षण में कुछ सोचविचार ही नह कर पाया कि ऐसी विषम परिस्थितियों में मुझे क्या करना चाहिए और क्या नह । इन्द्र जी के अनुसार उनकी विवेक शक्ति उस समय लगभग जैसे क्षीण हो चुकी थ इसलिए वह विष्णु जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु! आज आपने मेरे दूरगामी दृष्टिकोण के अवरोधका. अर्थात् विवेक चिन्तन में रुकावट बन रहे बंधनों को खोल दिया हैं देवराज इन्द्र कहते हैं कि हे प्रभु! आप की ही कृपा से मुझे ऐसा लग रहा है कि जैसे मैंने मरकर पुनः नया जन्म पाया हो आपने मेरी सोई हुई विवेक शक्ति को जाग त कर दिया है और आपने मुझे आत्म चिन्तन के लिए मजबूर कर दिया हैं

विशेष :-

1. अनुप्रास अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. खड़ी बोली।
4. गीतिमय संवाद योजना।
5. सरल काव्य।
6. रसानुभूति।
7. भावपूर्ण अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. खड़ी बोली।
10. व्यंजात्मक।
11. आत्माभिव्यक्ति।

9. आत्मनिष्ठ भाव।
10. व्यंजात्मक।
11. सत्यनिष्ठ।

[192]

क्या ये संभव नह द ष्टि द. आप उन्ह. भी
 और जगा दे अकस्मात् आवरण ख चकर?
 फिर प्रभु ... क्या. आपने
 आत्म-साक्षात्कार का
 अवसर दिये बिना ही उन पर बाण चलाया ...
 क्या शिव में संक्रमण-काल का
 विष पीने की शक्ति नह है?
 क्या वे या. ही नीलकण्ठ हैं?

शब्दार्थ :-

अकस्मात् = अचानक, आवरण = पर्दा, संक्रमण = छुआ-छूत,
 नीलकण्ठ = नीले कण्ठ वाला, महादेव शिव

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं

कवि ने यहां अपने रचना चातुर्य से उस पल का सजीव चित्रण ख चा है जिस समय अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अपनी पत्नी के प्राणा. को वापस लेने के लिए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक में मार-काट मचा द विष्णु भगवान ने एक अभिमंत्रित बाण छोड़कर शंकर का मोह भंग करना चाहा। इन्द्र विष्णु जी से कहते हैं कि -

व्याख्या :-

हे भगवन! आपने जिस प्रकार हम सबको विचार करने की शक्ति प्रदान की हैं उसी प्रकार क्या आप महादेव को नह दे सकते अर्थात् महादेव के मोह आवरण को यदि किसी तरह से नष्ट कर द. तो देव समजा की समस्या का समाधान स्वतः हो जाएगा। आप क्या ऐसा नह कर सकते कि शिव शंकर को भी सत्य समझने पर विवश कर द.? शिव शंकर ने अपने ऊपर मोह और अज्ञान का पर्दा डाल रखा हैं आप वह पर्दा ख चकर हटा नह सकते क्या? निश्चय ही आप ऐसा कर सकते हैं। आप ऐसा करने की शक्ति सामर्थ्य रखते हैं। फिर आपने उन्ह. इस बात का अवसर क्या. नह दिया कि वे भी अपने आपको समझ सकें। आपने उन्ह. यह अवसर दिए बिना ही उन पर अपना बाण क्या. छोड़ दिया। शिव शंकर ने सागर मंथन के समय निकला हुआ जहर पिया था। जिससे उनका कण्ठ नीला पड़ गया और वे नीलकण्ठ कहलायें अब पुनः क्या वे परिवर्तन का विष नह पी सकतें सती की म त्तु भी एक परिवर्तन ही हैं इसे मानना, सहन करना जहर पीने के ही समान हैं जब शिव शंकर ने सागर मंथन से निकला जहर पी लिया तो यह परिवर्तन क्या. नही सह सकते? क्या परिवर्तन विष सागर से निकले हलाहल से भी अधिक घातक है?

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।

अनेका. संक्रमण काल में बार-बार सृष्टि की रक्षा के लिए विषपान किया है इस प्रकार से नीलकण्ठ ने एक विषपायी होने को बार बार सिद्ध किया है विष्णु भगवान इन्द्र जी को स्नेहिल भाव से समझाते हुए कहते हैं कि हे देवराज आप अपने अन्तर्मन से यह विषाद सदैव के लिए धो लो अर्थात् अपने मन से निकाल दो कि इस विशेष परिस्थिति में तुम्हारी भी कोई भागेदारी है शायद आप भूल रहे हैं कि महादेव शंकर का हृदय अति विशाल है वह सृष्टि की रक्षा के लिए भयानक से भयानक संक्रमण काल रूपी विष का पान कर सकते हैं। उसके परिप्रेक्ष्य में तुम्हारी भूल अथवा तुम्हारी गलती कोई विशेष महत्व नह रखत इसलिए आप स्वयं को चिंतामुक्त रखिए और जिन भी स्थिति परिस्थिति विशेष से होकर आप गुजरे हैं उन्हें भूल जाइए।

विशेष :-

1. रूपक अलंकार।
2. तत्सम प्रधान।
3. खड़ी बोली।
4. संस्कृतनिष्ठ कोमल भाषा।
5. सुबोध काव्य।
6. रसात्मक भाव।
7. वास्तविक अभिव्यक्ति।
8. निर्जन-अंकन।
9. आत्मिक कथन।
10. व्यंजात्मक।
11. वस्तुस्थिति का बोध।

[194]

मैंने एक प्रणाम-बाण छोड़ा है
जिसके कई फलक हैं
वे सारे
शिव के कन्धों पर पड़ी हुई भगवती सती के
शव को खण्ड-खण्ड कर पल में
दिशा-दिशा में छितरा द.गें
जहाँ-जहाँ वे खण्ड गिरेंगे
वहाँ सत्य के नये-नये अंकुर उपजेंगे
और धर्म के तीर्थ बनेंगे

शब्दार्थ :-

खण्ड = टुकड़े, छितरा = बिखरा, शव = मृत शरीर

सन्दर्भ :-

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक 'एक कण्ठ विषपायी' से अवतरित हैं इसके रचयिता सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अपनी पत्नी के प्राणा. को वापस लेने के लिए शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया और अपने गणों, डाकिनिया. आदि की सेना को लेकर देवलोक में मार-काट मचा द विष्णु भगवान ने मन्त्र पढ़कर एक बाण छोड़कर उनका मोह

सुविख्यात रचनाकार श्री दुष्यन्त कुमार जी हैं। पुस्तक गीति नाट्य प्रधान हैं अपने पिता के यज्ञ में अपने पति शंकर का भाग न देखकर सती ने अपमान अनुभव किया और अपने प्राण दे दिए। शंकर जी ने दक्ष के सम्पूर्ण नगर को विध्वंस कर दिया। अपनी प्रयत्नी सती के प्राण वापस लेने की मंशा से शंकर जी ने देवलोक को ही ललकार दिया। विष्णु भगवान ने अभिमंत्रित मन्त्र द्वारा एक बाण छोड़कर महादेव का मोह भंग कर दिया। युद्ध की परिणति को देखते हुए विष्णु भगवान, देवराज इन्द्र जी को युद्ध विषयक आत्मचिंतन के लिए विवश कर देते हैं तब इन्द्र कहते हैं कि सत्यस जन पूर्व की पीड़ाआ. से बचना तो लोगों की आदत हैं इन्द्र स्वयं विष्णु जी से घबराकर प्रश्न करते हैं कि अब पुनः संक्रमण काल में विषपान करने की शक्ति नीलकण्ठ में है या नह हैं इस पर विष्णु जी कहते हैं –

व्याख्या :-

हे देवराज! मेरे अभिमंत्रित मंत्र से जहाँ एक तरफ पार्वती सती का शव खण्ड-खण्ड हो कर बिखर जायेगा वहाँ-वहाँ सत्य के नये-नये अंकुर फूटेंगे और धर्म के तीर्थ स्थल बन जायेंगे विष्णु जी इन्द्र देव को सम्बोधित करते हुए बताते हैं कि मेरा मूल बाण तो वास्तव में महादेव के चरणों में पड़ेगा जोकि मेरी तरफ से उनके लिए प्रणाम स्वरूप होगा। वह अपने अभिमंत्रित बाण के रहस्य का पर्दा उठाते हुए कहते हैं कि हे देवराज मेरे इस एक बाण के कई अर्थ हैं उनमें से एक अर्थ यह है कि मेरा यह बाण जहाँ महादेव शंकर को एक तरफ चुनौती देगा वह दूसरे रूप में अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से उनके श्री चरणों में मेरा प्रणाम भी कहेगा। अब यह तो महादेव के विवेक के पर निर्भर करता है कि वह मेरे इस बाण का वह कौन-सा अर्थ लगाते हैं अर्थात् स्वीकार करते हैं। विष्णु जी कहते हैं कि यदि महादेव चाहें तो वह इसे मेरा प्रणाम मानकर स्वीकार कर. या अगर उनकी युद्ध की ही अभिलाषा हो अर्थात् देवगणों से युद्ध करना ही उनकी अन्तिम इच्छा हो तो वह इसे मेरी तरफ से युद्ध की चुनौती मानकर स्वीकार कर. विष्णु जी के कहने का भाव यह है कि हर हालत में अर्थात् किसी भी रूप में सत्य तो हमारी ही ओर रहेगा। अर्थात् मैंने अपनी तरफ से अपना कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व निभा दिया है अब देवाधिदेव महादेव क्या निर्णय लेते हैं यह उन पर निर्भर करता है विष्णु जी देवराज से कहते हैं कि चाहे जो भी हो अन्तिम विजय तो हमारी ही होगी अर्थात् जीत देव समाज की ही होगी

विशेष :-

1. उपमा अलंकार।
2. भाव प्रधान।
3. पदमबद्ध।
4. संस्कृत भाषा से पूर्ण।
5. सुबोध काव्य।
6. भाव अनुभूति।
7. मानवीकरण।

[196]

सुने सब प्रजा
यह समाचार सुने
महादेव शंकर की सेनाएँ
लौट गई ।
सीमा पर रक्तपात

रंगमंच

खण्ड-ख

रंगमंच-नाटक अध्ययन का स्वरूप

1. नाटक का विधागत वैशिष्ट्य

काव्य की भाँति नाटक भी प्राचीन विधा है। वैसे तो इसका सूत्रपात और विकास संस्कृत-साहित्य-परम्परा में हो चुका था, परन्तु हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नये रूप में उपस्थित हुई है। हिन्दी नाटक के प्रतिस्थापन में आज की रंगमंच-व्यवस्था और रेडियो-रूपक के प्रचलन ने विशेष योग दिया है।

नाटक का स्वरूप और महत्त्व - हिन्दी में 'नाटक' शब्द का जो अर्थ प्रयुक्त होता है वह संस्कृत काव्यशास्त्र के 'नाट्य', 'रूपक' और 'रूप्य' शब्दों से लिया गया है। 'नाटक' शब्द का विकास 'नट्' धातु से हुआ है। 'नट्' का अर्थ नृत्य और अभिनय दोनों से है, किन्तु आधुनिक कला में इसका प्रयोग केवल अभिनय के अर्थ में होने लगा है।

आचार्य भरत मुनि के अनुसार समस्त संसार के भावों का अनुकरण करना ही नाट्य है।

आचार्य धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में अवस्था विशेष के अनुकरण को नाटक कहा है-"अवस्थान कृतिनाट्यम्" अर्थात् नाटक में अवस्था का अनुकरण अभिनेता करता है। यह नाटक के किसी पात्र की अवस्था का अनुकरण प्रस्तुत करता है। अवस्था में पात्र की अन्तः-बाह्य दोनों अवस्थाएँ आ जाती हैं।

अवस्था की अभिव्यक्ति घटनाओं से मिलती है। घटना का तात्पर्य है कार्य। वही कार्य महत्त्वपूर्ण है जिसकी ओर प्रत्येक मानव का ध्यान आकृष्ट होता है। संक्षेप में नाटक को इस प्रकार लक्षणबद्ध किया जा सकता है-नाटक में लक्ष्ययुक्त, क्रमबद्ध, परस्पर सम्बन्धित घटनाएँ अर्थात् एक कथा होती है। यह कथा ऐतिहासिक कल्पित या मिश्रित होती है। इन घटनाओं को जब अभिनेता रंगमंच पर प्रदर्शित करता है तो उसे नाटक कहते हैं।

दृश्य-काव्य का सबसे बड़ा शास्त्र भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' है, जिसमें उन्होंने दृश्य-काव्य को नाटक कहा है और नाटक के मूल में अनुकरण को माना है, किन्तु अनुकरण के अतिरिक्त उसमें अभिव्यक्ति की भावना भी रहती है। नाटक में अभिनेता निजी भावना की अनुकरणात्मक क्रीड़ा द्वारा सुखानुभूति प्राप्त करता है और दर्शक भी उनकी मनःस्थिति से तादात्म्य स्थापित कर सुख प्राप्त करता है। उसके लिए कल्पना की आवश्यकता होती है। इसलिए बोल्टन (M.Boulton) ने कहा है-"Dharma, at its best, is an exercise of the imagination not only for writer, product and actors but also for the audience". (The Anatomy of Dharma) वस्तुतः नाटक साहित्य की ऐसी रमणीय विधा है जिसमें अभिनय, संगीत, नृत्य, भाषणआदि सभी कलाओं का समावेश रहता है और पात्रों की प्रत्यक्ष सजीव मुद्राएँ, चेष्टाएँ, भाव-भंगिमाओं के सामूहिक सहयोग से ऐसी अद्भुत छटा दिखाई जाती है कि दर्शक मुग्ध-सा रह जाता है। इस प्रकार नाटक में वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों द्वारा किया जाता है। इसमें घटनाएँ घटित होती दिखाई जाती हैं। घटनाओं का उद्घाटन पात्रों की क्रियाशीलता सजीवता से होता है। अतः नाटक में अनुकरण और सम्भाषण के आधार पर मानवीय मनोवृत्तियों का अभिव्यक्तिकरण किया जाता है।

नाटक समाज का अन्यान्योन्माश्रय सम्बन्ध है। नाटक को समाज के निकट आना पड़ता है। समाज

के शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग नाटक से मनोरंजन प्राप्त करते हैं। शिक्षित वर्ग के लिए तो नाटक बोधगम्य हैं ही, परन्तु अभिनीत होने के कारण प्रत्यक्ष और मूर्त होने से वह अशिक्षित वर्ग के लिए भी बुद्धिगम्य हो जाता है।

सर्वकला-समन्वित होने के कारण नाटक साहित्य के विभिन्न रूपों में श्रेष्ठ है।

नाटक में अनुकरण के चार प्रकार हैं-आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। भाव को व्यक्त या संप्रेषित करने के लिए अंगों का संचालन आंगिक अभिनय हैं जैसे मन की उलझन के कारण लड़खड़ाकर चलना। मन के भावों को शब्दों में कहना, बोलने का अंदाज तथा अभिव्यक्ति में उतार-चढ़ाव आदि संवाद को अभिनय में जीवन्त रूप प्रदान करते हैं। आहार्य अभिनय के अन्तर्गत उसका सामान्य रूप और वेशभूषा आती है। सात्विक का अर्थ है मुख-मुद्रा तथा शरीर के अंगों की सूक्ष्म क्रिया के द्वारा मन के भावों को व्यक्त करना।

नाटक के तत्त्व - भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व हैं-वस्तु, नेता और रस। पाश्चात्य आचार्यों के अनुसार इन तत्त्वों की संख्या सात तक पहुंचती है :-

- (1) कथावस्तु (Plot)।
- (2) पात्र और चरित्र-चित्रण (Character)।
- (3) संवाद (Dialogue)।
- (4) देशकाल वातावरण (Atmosphere and Environment)।
- (5) उद्देश्य (Purpose)।
- (6) भाषा-शैली (Language and Style)।
- (7) अभिनय (Stage Acting)।

उपर्युक्त भारतीय और पाश्चात्य नाटकीय तत्त्वों का समन्वय करने पर निम्नलिखित तत्त्व सामने आते हैं, जिनका यहां विवेचन किया जा रहा है-

(1) कथावस्तु (Plot)

कथानक या कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। यह नाटक का मूल होती है। इसका विस्तार नाटक को आगे बढ़ाने वाला होता है। कथावस्तु के दो भेद हैं:-

- (i) आधिकारिक या मुख्य कथा।
- (ii) प्रासंगिक अथवा गौण कथा।

आधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक कहलाती है। यह नाटक की मूल कथा होती है और इसका सूत्र प्रारम्भ से फल-प्राप्ति तक होता है।

प्रासंगिक कथा-वस्तु का सीधा सम्बन्ध नायक से न होकर अन्य पात्रों से रहता है। यह किसी विशेष परिस्थिति में प्रसंगानुकूल आधिकारिक कथा की पोषक और सहायक होती है।

रामायण में राम की कथा और सुग्रीव की कथा क्रमशः आधिकारिक और प्रासंगिक कहलाती है, क्योंकि सुग्रीव की कथा मूल कथा के विकास में सहायक होती है।

प्रासंगिक कथा के भी दो प्रकार हैं-पताका और प्रकरी। जो मुख्य कथा के साथ दूर तक चलती है वह 'पताका' है और जो मध्य में ही समाप्त हो जाये वह 'प्रकरी' है। जैसे 'मानस' में मारीच की कथा।

आधार या स्रोत की दृष्टि से कथा के तीन भेद हैं-

- (1) प्रख्यात, (2) उत्पाद्य, (3) मिश्रित।

(1) **प्रख्यात** - जिसका आधार इतिहास, पुराण और जनश्रुति होती है वह प्रख्यात कहलाता है। संस्कृत में भवभूति का 'उत्तररामचरित' नाटक और हिन्दी में प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' नाटक क्रमशः पुराण और ऐतिहासिक कथा पर आधारित है। अतः प्रख्यात है।

(2) **उत्पाद्य** - जिसका स जन नाटककार अपनी कल्पना के बल पर करता है। यह नाटककार की अपनी उपज होती है। मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' नाटक की कथा-वस्तु उत्पाद्य है।

(3) **मिश्रित** - जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण होता है वह मिश्रित कथा होती है। जैसे जगदीश चन्द माथुर का 'कोणार्क' नाटक और मोहन राकेश का 'लहरों के राजहंस' नाटक मिश्र कथा वाले नाटक हैं।

कथावस्तु के विकास की अवस्थाएँ - भारतीय आचार्यों के अनुसार किसी भी कथा के प्रारम्भ से अन्त तक उसके बीच होने वाले अनेक संघर्ष और घात-प्रतिघात कथा को पूर्णता प्रदान करते हैं। कथावस्तु के इस समस्त कार्य व्यापार के पाँच अंग हैं। इन्हीं को पाँच अवस्थाएँ कहा गया है-

(1) आरम्भ, (2) यत्न, (3) प्राप्त्याशा, (4) नियताप्ति, (5) फलागम।

(1) आरम्भ-फल की सिद्धि के लिए होने वाली उत्सुकता। जैसे 'शकुन्तला' नाटक में शकुन्तला को देखने की इच्छा।

(2) यत्न - फल को प्राप्त करने के लिए किया गया यत्न। जैसे दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को आश्रय निवास के बहाने ढूँढना।

(3) प्राप्त्याशा - विघ्न-निवारण और फल प्राप्ति की सम्भावना।

(4) नियताप्ति - विघ्न-बाधाएँ दूर होने का फी प्राप्ति का निश्चय। जैसे अंगूठी मिल जाने पर दुष्यन्त को शकुन्तला के प्रेम का स्मरण।

(5) 'फलागम - जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है। जैसे दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला की प्राप्ति होना।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी संघर्ष और घटनाओं के आधार पर कथा-विकास की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं-

1. प्रारम्भ (Exposition)।

2. संघर्ष का विकास (Rising Action)।

3. चरम सीमा (Crisis)।

4. उतार या निगति (Denouement)।

5. उपसंहार या परिणति (Catastrophe)।

अर्थ प्रकृतियाँ - कथानक को मुख्य फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अंश को अर्थ-प्रकृति कहते हैं। आचार्यों ने इन्हें 'प्रयोजन सिद्धि हेतवः' अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि का हेतु कहा है। ये पाँच हैं-

(1) बीज - नाटक के आरम्भ में आगे होने वाली फल-प्राप्ति की आंशिक प्रकाशिका। जैसे बीज में व क्ष छिपा रहता है वैसे अर्थ-प्रकृति में कथा के विकास की संभावना।

(2) बिन्दु - इसमें कथा का फैलाव होता है। जैसे जल में पड़ी तेल की बूंद का फैलाव।

(3) पताका - अन्त तक मुख्य कथा की सहायिका।

(4) प्रकरी - ऐसी प्रासंगिक कथा जो बीच-बीच में प्रधान कथा की सहायक होती है।

(5) कार्य -; परिणाम या अन्तिम फल, जिसके सम्पूर्ण प्रयत्न किये जाते हैं।

संधियाँ - अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों में मेल कराने वाली संधि होती है। ये विभिन्न अवस्थाओं तक चलती हैं और अर्थ-प्रकृतियों से उनका मेल कराती हैं। ये पाँच हैं-मुख, प्रति मुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।

- (1) मुख - 'आरम्भ' और 'बीज' के साथ अनेक अर्थ और रसों की व्यंजक।
- (2) प्रतिमुख - जहाँ बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित होता दीख पड़ता है।
- (3) गर्भ - इसमें अंकुरित बीज का विस्तार होता है; जैसे-माँ के गर्भ में संतति।
- (4) विमर्श - फल के उपाय का कुछ अधिक विकास होना, किन्तु विघ्नों के आने से व्याघात उत्पन्न होना।
- (5) निर्वहण - जहाँ एक मुख्य प्रयोजन में 'कार्य' और 'फलागम' के साथ-साथ सब प्रकार के अर्थों का पर्यवसान हो जाता है। इसमें नाटक पूर्णता को प्राप्त करता है।

अभिनय की दृष्टि से भेद - अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु के दो प्रकार हैं-दृश्य और सूच्य। दृश्य वह है जो रंग-मंच पर दिखाया जाये और सूच्य वह है जिसकी केवल सूचना दी जाये। सूच्य कथावस्तु की सूचना देने वाले साधन अथोक्षेपक कहलाते हैं। ये संख्या में पाँच हैं-

- (1) विष्कम्भक - इसमें पहले अथवा बाद में घटित होने वाले घटना की सूचना दी जाती है।
- (2) चूलिका - यवनिका (पर्दे) के पीछे से दी गई सूचना।
- (3) अंकावतार - पहले अंक में काम करने वाले अगले अंक की सूचना देना।
- (4) अंकमुख - अंक के अन्त में उन्हीं पात्रों द्वारा अगले अंक के स्थान और गतिविधि की सूचना।
- (5) प्रवेशक - बोल चाल की भाषा में निम्न पात्रों द्वारा दो अंकों के बीच में अभिनेय कथा की सूचना।

(2) पात्र और चरित्र-चित्रण

नाटक के पात्रों के आश्रय से घटनाएँ घटित होती हुई कथा-वस्तु का निर्माण करती हैं। नाटक का प्रमुख पात्र नायक होता है। आचार्यों ने नायक के गुणों का सूक्ष्म विवेचन किया है। उसमें निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं-नेता की विनीत, मधुर, त्यागी दक्ष, प्रिय बोलने वाला, शुचि, लोकप्रिय, वाकपटु, उच्च, कुलोत्पन्न, उत्साही, प्रज्ञावान, कलावान, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिये।

भारतीय नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के नायक माने गए हैं :-

- (1) धीरोदात्त नायक - जैसे 'रामचरितमानस' में भगवान राम।
- (2) धीरललित नाटक - जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का नायक राजा दुष्यन्त।
- (3) धीर प्रशान्त नायक - ब्राह्मण या वैश्य, जैसे 'मालती माधव' का माधव।
- (4) धीरोदात्त नायक - आत्म-प्रशंसा-परायण, जैसे भीम, परशुराम, दुर्योधन आदि।

शृंगार रस के सम्बन्ध में पत्नियों के सम्बन्ध के आधार पर नायकों के चार अन्य भेद किए गए हैं-अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। वे एक ही नायक की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई-अंकस्थाओं के परिचायक हैं।

नायिकाएँ भी तीन प्रकार की बताई गई हैं-स्वकीया, परकीया और सामान्य। वय के विचार से स्वकीया के तीन भेद हैं-मुग्धा, मध्या ओर प्रौढ़ा।

नायक का प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनायक होता है। नायक का अन्तरंग मित्र विदूषक कहलाता है। नाटक में चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता, अपितु नाटकीय या अभिनय रूप में ही प्रकट होता है। नाटककार स्वयं पात्रों के विषय में कुछ नहीं कहता। वह कथा-वस्तु घटनाओं और कथोपकथन द्वारा पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। नाटक में चरित्र-चित्रण तीन प्रकार से हो सकता है-

1. कथोपकथन द्वारा - जब पारम्परिक वार्तालाप से चरित्र का अनुमान लगाया जाए।
2. स्वगतकथन द्वारा - जब पात्र स्वयं एकान्त में सोचता है और अपने मानसिक विचारों को स्वगतकथन से अभिव्यक्ति देता है।
3. कार्य-कलाप द्वारा - जब चारित्रिक विशेषताओं को क्रिया-कलापों से उद्घाटित किया जाता है।

(3) संवाद या कथोपकथन

नाटक संवाद-रूप होता है। उसका विकास कथोपकथन से माना जाता है, नाटककार और दर्शकों को मिलाने वाले तत्त्व संवाद ही है-"Dialogue is the main bridge between the dramatist author and his audience". संवाद संक्षिप्त, प्रभावशाली, अर्थपूर्ण, अभिनय योग्य और हृदयस्पर्शी होने चाहिए। भारतीय आचार्यों ने कथोपकथन के तीन विभाग किए हैं-सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य, अश्राव्य।

1. सभी को सुनाने योग्य संवाद सर्वश्राव्य कहलाते हैं।
2. कुछ निश्चित पात्रों से किया गया संवाद नियत श्राव्य है।
3. जिसे केवल कहने वाला ही सुनता है और नहीं, वह अश्राव्य है।

इसके अतिरिक्त अपचारित, जनान्तिक, आकाश भाषित या स्वगत-उक्ति जैसे भेद भी मिलते हैं।

नाटकों में कथोपकथन के चार प्रकार देखने में आते हैं :-

1. पात्र का स्वयं का चरित्र प्रकट करने वाले।
2. दूसरे पात्र का चरित्र चित्रित करने वाले।
3. साधारण कथा-प्रसंग चलाने वाले।
4. नाटककार के मंतव्य को प्रकट करने वाले।

(4) देशकाल वातावरण

नाटक में पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता तथा वास्तविकता लाने के लिए देशकाल और वातावरण के वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इससे पात्र अपने युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है। नाटक का सम्बन्ध रंगमंच से होता है, अतः नाटक में उन्हीं बातों का वर्णन होना चाहिए जो रंगमंच पर घटित हो सकती हों। दृश्यविधान, अभिनय, पात्रों की वेषभूषा एवं क्रिया-कलाप से वातावरण सजीव और सुन्दर बनता है। उदाहरणार्थ, प्रसाद के नाटकों में देशकाल का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

(5) भाषा-शैली

नाटक की भाषा सजीव, सरल और स्पष्ट होनी चाहिए, किन्तु उसमें कलात्मकता का अभाव नहीं होना चाहिए। सरलता, सरसता, स्वाभाविकता, अलंकरण, प्रवाहपूर्णता, लाक्षणिकता और मुहावरों का समावेश भाषा को जीवन्त बना देता है।

भाषा के आधार पर ही नाटककार की शैली निर्मित होती है। नाटक की भाषा शिष्ट लोगों की भाषा होती है, अतः उसकी अभिव्यक्ति का ढंग भी अलग ही होता है। जैसे यदि नाटककार कवि है तो उसकी कवित्वपूर्ण शैली में नाटक की रचना मिलती है।

(6) उद्देश्य

‘नाट्यशास्त्र’ में चतुर्वर्ग प्राप्ति और महान् जीवनदर्शों को नाटक के उद्देश्य के रूप में माना गया है। आधुनिक युग में नाटकों में प्रेम, वीरता, साहस, त्याग, सेवा और उदारता तथा विश्व बन्धुत्व की भावना आदि उद्देश्य भी रखे जाते हैं। नाटककार अपने उद्देश्य को पात्रों द्वारा व्यक्त करता है। उसका उद्देश्य जितना महान होगा रचना भी उतनी ही उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होगी। इसी दृष्टि से यह नाटक का आवश्यक तत्त्व है।

(7) अभिनेयता

नाटक दृश्य-काव्य है। उसका अभिनय किया जाता है। नाटक के साथ अभिनय का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अभिनय को नाटक से पृथक् नहीं किया जा सकता। अभिनय में व्यक्तियों के कार्यों, स्थितियों और मनोभावों का अनुकरण किया जाता है। अनुकरण का आधार संकेत, वाणी, वस्त्र और वेशभूषा है। इस आधार पर अभिनय के चार भेद किये गये हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्त्विक।

आंगिक का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों से है। हाथ हिलाना, अंधेरे में टटोलना, लज्जान्वित होकर दृष्टि ऊँची-नीची करना, सब इसी के अन्तर्गत आते हैं। इसके भी शरीर, मुखज तथा चेष्टाकृत आदि तीन भेद हैं।

वाचिक का सम्बन्ध वाणी से है। इसमें बोलना, गाना, शब्द करना, व्याकरण, छन्द शास्त्र, स्वर शास्त्र आदि का ज्ञान आवश्यक है।

आहार्य का सम्बन्ध वेशभूषा, आभूषणों, वस्त्रों तथा विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा से है। सात्त्विक अभिनय में अश्रु, कम्प, स्वेद, रोमांच आदि का अनुकरण किया जाता है। इसे कुशल अभिनेता ही कर पाता है। इसका सम्बन्ध भावों से है, जबकि आंगिक का सम्बन्ध शारीरिक अंगों की गति से है।

(8) संकलन-त्रय (Three Unities)

संकलन-त्रय का तात्पर्य है कि नाटक में जो भी घटनाएं दिखाई जायें वे एक ही स्थान, काल और कार्य से सम्बन्धित हों। संकलन-त्रय इस प्रकार है—

1. स्थान-संकलन (Unity of Place)
2. काल-संकलन (Unity of Time)
3. कार्य-संकलन (Unity of Action)

स्थान-संकलन के निर्वाह के लिए आवश्यक है कि नाटकीय कार्य-व्यापार एक नगर या स्थल तक सीमित हो, जिसमें कार्यवश सभी आवश्यक पात्रों का समावेश हो जाये।

समय-संकलन के अन्तर्गत जो घटना नाटक में दिखाई जाये वह वास्तव में उतने समय की हो जितना समय नाटक के अभिनय में लगता हो। इससे वास्तविक समय का रंगमंच के समय से ऐक्य हो जाता है।

कार्य-संकलन का अभिप्राय है कि नाटकों में वही घटना रखनी चाहिए जिसका प्रमुख घटना से सम्बन्ध हो। कार्य-संकलन से कथावस्तु में क्रमबद्धता, एकता, व्यवस्था तथा प्रासंगिक कथा

को मुख्य कथा से गति मिलने में सहायता मिलती हैं

भारतीय नाटकों में भी संकलन-त्रय का महत्त्व स्वीकार किया गया है। आचार्य भरत के नाटक में रस-निष्पत्ति पर ध्यान देते हुए संकलन-त्रय पर पूरा बल दिया है, परन्तु अधिक महत्त्व कार्य-संकलन को दिया है।

ग्रीक आचार्यों ने संकलन त्रय के जिस सिद्धान्त को निर्धारित किया था वह आज मान्य नहीं रहा। आधुनिक नाटकों में संकलन-त्रय की प्रवृत्ति रक्षित हो रही है। यह घटना-क्रम का ऐसा विकसित रूप है जो समय, स्थान और कार्य की विविधता लिए हुए भारतीय आदर्श के अनुरूप ऐक्य को बनाए हुए हैं

नाटकों के भेद

नाटकों का वर्गीकरण युगानुसार परिवर्तित होता रहता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार अन्त के आधार पर नाटकों का वर्गीकरण होता था, जैसे सुखान्त और दुखान्त।

सुखान्त में नायक फल प्राप्त कर सुखोपभोग करता है, जबकि दुखान्त में नायक प्राण देकर भी अपना अभीष्ट नहीं पा सकता। उसे त्रासदी कहा जाता है। इस दृष्टि से भारतीय नाटकों में सुखान्त अधिक लिए गए, जबकि पाश्चात्य परम्परा में दुःखान्त नाटकों की रचना अधिक हुई।

डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार नाटकों के तीन भेद हैं-

1. विषय की दृष्टि से। इसके भी ऐतिहासिक और सामाजिक दो भेद हैं।
2. शैली की दृष्टि से।
3. रंगमंच की दृष्टि से, इसके भी दो भेद हैं-अभिनयात्मक नाटक और पाठ्य नाटक।

पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव स्वरूप हिन्दी नाटकों में अन्य प्रकार भी मिलते हैं-समस्यामूलक नाटक, विचार प्रधान, प्रतीकात्मक नाटक, एकांकी नाटक, गीति-नाट्य, भावनाट्य, रेडियो नाटक, प्रहसन आदि। उदाहरणार्थ, लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'संन्यासी' समस्या-मूलक नाटक है। प्रसाद का 'कामना' और 'घूंट' प्रतीकात्मक नाटक है। उदयशंकर भट्ट के गीतिनाट्य एवं भाव-नाट्य तथा गोविन्दबल्लभ पन्त के 'कंजूस की खोपड़ी' प्रहसन के रूप में प्रसिद्ध है।

2. नाटक और रंगमंच का अंतः संबंध

नाटक और रंगमंच को लेकर एक लम्बे अरसे से विवाद चल रहा है। विवाद का आधार इतना ही है कि कुछ लोग नाटक को एक साहित्यिक विधा मात्र मानते हैं और रंगमंच से भी अलग उसकी एक अलग सत्ता की वकालत करते हैं। वे नाटक को रंगमंच के लिए नहीं, रंगमंच को नाटक के लिए मानते हैं। दूसरी ओर रंगकर्मीयों को समीक्षकों का एग वर्ग ऐसा भी है जो रंगमंच को नाटक का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हैं और इस सीमा तक चले जाते हैं कि जो खेला न जाय या खेलने के लिए न लिखा जाय, वह नाटक ही नहीं है।

पहली स्थापना का मुख्य कारण यह है कि नाटक अन्य साहित्यिक विधाओं की भांति शब्दार्थमयी योजना के द्वारा जीवन की काल्पनिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है। किसी अन्य विधा की भांति वह भी लेखक की रचना-शक्ति की देन है। रंगमंच मुहैया हो सके, यह सम्भव नहीं होता। दूसरी बात यह है कि रंगमंच पर नाटक प्रदर्शित अवश्य होता है किन्तु उसकी सत्ता वहाँ उतनी ही देर तक सम्भव है जितनी देर तक वह खेला जाता है। प्रदर्शन के साथ ही नाटक का प्रदर्शन सम्बन्धी स्वरूप जीवित नहीं रहता-जीवित रहती है केवल नाट्यकृति, जिसे पढ़ा जा सकता है। उसे देखा जा सके, इसके लिए फिर से नये प्रयत्न की आवश्यकता होती है। परिणाम यह होता है कि नाट्यकृति प्रमुख हो जाती है और उसे ही नाट्यकला का समय रूप मान लिया जाता है।

इसी से एक भ्रामक दृष्टि जन्म लेती है। नाटककार यह समझने लगता है कि नाट्यकृति ही सब कुछ है और इस अर्थ में वह ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है। दूसरी ओर परिचालक और उसके सहकर्मी सोचते हैं कि नाट्यकृति एक आधारभूत शाब्दिक योजना मात्र है; उसको एक वास्तविक पूर्णता रंगमंच ही प्रदान करता है। इन दो विरोधी विचारों के कारण यह विवाद स्वतः बल पकड़ लेता है कि वास्तविक स्रष्टा कौन है : नाटककार अथवा परिचालक ? दोनों एक दूसरे का विरोध करते दीखते हैं। परिचालक तथा अन्य रंगकर्मी यह समझते हैं कि नाटककार को रंगमंच के नाम पर कुछ नहीं आता। दूसरी ओर नाटककार परिचालकों से या तो त्रस्त रहे हैं या उनकी दया पर निर्भर करते आए हैं। प्रायः परिचालक नाटक के साथ न्याय नहीं कर पाते। रंगमंच कभी दर्शन की रुचियों के अनुसार ढलता जाता है और इतना नीचे गिर जाता है कि वह मनोरंजन का अच्छा-खासा साधन भले ही बन जाए, अच्छी नाट्यकृति के कलात्मक संप्रेषण का आधार नहीं बन पाता। विश्व में भ्रष्ट रंगमंच के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं सदी के आते-आते अभिनेता-प्रबन्धकों ने रंगमंच की ऐसी ही दुर्दशा कर रखी थी। एक ऐसे रंगमंच को बनाने में भी सहायता दी थी जिसमें नाटककार की मुख्यता मिली। व्यावसायिक रंगमंच के कारण भारत, योरोप और अमेरिका में संबंध रंगमंच की स्थिति दयनीय ही रही। मंच धनिकों के हाथ में रहा, उसका उनके हाथों बुरी तरह हास हुआ; किन्तु नाटककारों और रंगकर्मीयों ने जब उपयुक्त रंगमंच और उसके स्रष्टाओं से सब कालों और सब देशों में किसी न किसी कारण से असन्तुष्ट रहा है। हमारे अपने युग में प्रसाद, प्रीस्टले, एत्रियट, पिरांडेलो, गेट्स, शॉ, ब्रेख्त आदि अनेक समर्थ नाटककार रंगमंच की सामर्थ्यहीनता के विरोध में रहे हैं। बर्नार्ड शॉ ने तो यहाँ तक कहा है कि नाटक का सबसे उपयुक्त प्रस्तोता नाटककार स्वयं हो सकता है, कोई और नहीं।

इस विरोध के पीछे थोड़ा-बहुत सत्य के अंश हो सकता है, किन्तु नाटक को दो हिस्सों में बाँटकर किसी एक को लेकर अपने को उसका सर्वेसर्वा मान बैठना नाटककार और परिचालक दोनों के लिए युक्तिसंगत नहीं है। यह मानकर बैठ जाना कि नाट्यकृति केवल साहित्यिक उपलब्धि है, कई प्रकार के भ्रम पैदा करता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि नाटक काव्य ही

नहीं, द श्य-काव्य भी है। द श्यता उसका परम लक्ष्य है और काव्य एक उपादान। हमारे देश में नाट्यशास्त्र की यही मूल दृष्टि थी। वास्तव में सारे नाट्यशास्त्र की अवतारणा रंगधर्म को केन्द्र में रखकर की गई है। भरत के विवेचन में यह संकेत आसानी से ग्रहण किया जा सकता है कि नाटक सारी नाट्य-योजना का अंग मात्र है, वह अपने में पूर्ण नहीं है। लोल्लट और शंकुक ने भी नाट्य में ही रस की मूल सिद्धि मानी है। बाद में जब रस नाट्य के क्षेत्र से हटकर काव्य के क्षेत्र में चरित होने लगा तो धीरे-धीरे इस स्थिति में उलटी प्रतिपत्ति मान्य हो गई। अभिनव ने सामाजिक के रस को नाट्य का फल अवश्य माना पर साथ ही काव्य के रस को भी बीज-रूप में प्रतिपादित किया और भोज के समय तक आते-आते तो कवि की महत्ता ही स्थिर हो गई; **अभिनेत भ्यः कवीन् एव बहुमन्यामहे।**

यह परिवर्तन रंगमंच की हासशील स्थिति का द्योतक है। रंगमंच के हास के साथ नाटक का केवल लिखित रूप तक सीमित होना स्वाभाविक था। ऐसे लेखकों की कमी नहीं रही जिनका नाट्य लेखन केवल पठन-पाठन तक ही सीमित रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ नाटक साहित्यिक गुणवत्ता से युक्त होते हैं और पढ़ने पर वे काव्य का-सा आस्वाद देते हैं। किन्तु इस समय की भी अवहेलना नहीं की जा सकती कि नाटक का पाठ्यरूप-रूप आस्वाद का अधूरा अनुभव देता है। नाटक को पढ़ना और उसमें मंचित रूप में देखना दो विभिन्न कोटि के अनुभव कहे जा सकते हैं। यह ठीक है कि कई नाटक इतने बड़े क्लैसिक बन जाते हैं कि वे साहित्य विधा के रूप में पढ़े और पढ़ाये जाते हैं और रंगमंच पर आने का मौका उन्हें कभी-कभार ही मिलता है; पर उन कृतियों का सौन्दर्य रंगमंच पर उभरते देखने के लिए भी लोग आतुर रहते हैं। वस्तुतः जब हम नाटक को पढ़ते हैं तो उतने अनुभव के बीच से नहीं गुजरते हैं; किन्तु जब उसे मंच पर देखते हैं तो हम इंद्रिय बोध के स्तर पर एक अपूर्व आस्वाद पाते हैं। नाटक की पांडुलिपि एक ही रहती है, पर जितनी बार वह मंचित होती है, उतने ही आस्वाद देती है, उतने ही रूप ग्रहण करती है, उतने ही अर्थ उजागर करती है। रंगमंच पर अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक पाठ के आधार पर नाट्य को गढ़ते हैं। रंगकर्मी पर जो कुछ रचना करता है, वह केवल नाटक के पाठ य रूप पर निर्भर नहीं करती। नाटककार यदि सर्जन करता है तो रंगकर्मी भी सर्जन से पुनः सर्जन करता है और यह पुनः सर्जन पूरी तरह लिखित नाटक पर निर्भर होता हो, ऐसी बात नहीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटककार और रंगकर्मी के बीच लिखित शब्द का रिश्ता होता है। पर एक को दूसरे का विकल्प नहीं माना जा सकता। जब तक पांडुलिपि या छपा नाटक नाटककार या पाठक के हाथ में होता है, उसकी अपनी एक स्थिति होती है; किन्तु जब वह रंगकर्मी के हाथ में आ जाता है तो उसको एक अलग जिन्दगी शुरू करनी होती है। नाटककार अपनी रंगदृष्टि भले ही व्यक्त करे, या लम्बी-चौड़ी भूमिकाएँ लिखकर अपने मंतव्य बधारे, पर कृति को मंच पर आने के लिए सर्जन की दूसरी प्रक्रियाओं से होकर गुजरना ही पड़ेगा। वस्तुतः मंच पर नाटक अपनी सही जिंदगी जीता है। नाटक स्थूल भाषिक कंकाल है, प्राणशक्ति की प्रतिष्ठा उससे मंच ही करता है। शायद ही कोई नाटककार ऐसा हो जो यह न चाहता हो कि उसका नाटक मंचित न हो। केवल पढ़ने के लिए कोई भी नाटक लिखना पसन्द नहीं करेगा क्योंकि नाटक लिखना ही स्वयं अपने को रंगमंच की रूढ़ियों से बांध लेना है। नाटक के लेखन में रंगमंच के सारे विधान को अपनाने का झमेला ही कोई क्यों ले, यदि उसे नाटक सिर्फ पढ़ने के लिए ही लिखना हो ? उन लोगों की बात दूसरी है जो रंगमंच से रुष्ट हो जाते हैं। हमारे यहाँ प्रसाद रंगमंच से रुष्ट थे। वेन जोन्सन थियेटर कम्पनी से लड़ बैठा तो उसने ऐसी मैन आऊट ऑव हिज ह्यूमर में रंगमंच वालों को चिढ़ाने के लिए लिख दिया कि इसके छपे रूप में अभिनीत रूप से भी अधिक रसवत्ता है। और अपने नाटकों के संकलन पर उसने यह

‘मोटो’टांग दिया : ‘मैं मुँह फाड़कर देखने वाली भीड़ के लिए नहीं लिखता-मैं तो थोड़े से पाठकों के लिए लिखता हूँ।

ऐसा मन-बहलाव प्रायः बहुत से नाटककार कर लेते हैं। हम इसका विरोध नहीं करते कि नाटक छापे न जाएँ, या लोग उन्हें पढ़े नहीं। हमारे अपने युग में बर्नार्ड शॉ ऐसी साहित्यिक हस्तियों में रहे हैं जिनका रंगमंच पर पूरा दबदबा रहा है, पर उनका विचार था कि रंगमंच के भ्रांत इम्पेशन को सही करने के लिए नाटकों की यथातथ्य प्रस्तुति करने में असमर्थ रहता है। ऐसी स्थिति में नाटकों का पढ़ा जाना उनके देखे जाने के पूरक कर्तव्य का निर्वाह करता है। शॉ के अनुसार नाटककार और रंगकर्मियों की सर्जनात्मक प्रतिभा परस्पर संघर्षरत रहती है और रंगकर्मियों की सर्जनात्मक प्रतिभा परस्पर संघर्षरत रहती है और रंगकर्मी नाटक को जिस प्रकार प्रस्तुत करते हैं उससे ऐसा लगता है कि उसकी बात कहे बिना रह गई है। तब उसके पास अपनी नाट्यकृति को सब कुछ समझने के अतिरिक्त क्या चारा रह जाता है ? मोहन राकेश को भी यह शिकायत थी कि ‘रंगमंच का जो स्वरूप हमारे सामने है, उसकी पूरी कल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर करती है। नाटककार का प्रतिनिधित्व होता है एक मुदित या अमुदित पांडुलिपि द्वारा जिसकी अपनी रचना-प्रक्रिया मंचीकरण की प्रक्रिया से अलग नाटककार के एक ऐसे ‘अजनबी’ की रहती है जो केवल इसलिए है कि पांडुलिपि उनकी है...। यह अहसास कई स्थितियों में स्वाभाविक है, पर विवशता है सत्य नहीं। नाटककार की इस वकालत और आक्षेप के बावजूद भी सत्य का एक दूसरा पक्ष भी है। एक ओर यह कहा जाता है कि रंगमंच मूर्खों के हाथ में है, यह अक्षम है; दूसरी ओर इस बात को भी नहीं भुलाना चाहिए कि रंगमंच नाटक को अतिरिक्त आयाम प्रदान कर उसे कई गुना जीवंतता प्रदान करता है। यहाँ तक कि मामूली से संवाद को, जिसका साहित्य में कोई स्थान निर्धारित करना सम्भव न हो, मंच पर वाणी, गति, भंगिमा प्रदान कर एक अद्भुत सर्जनात्मक स्वरूप दिया जा सकता है। यही कारण है कि ठीक तरह से न लिखे हुए नाटक को भी रंगमंचीय उपादानों से सफलता के सोपानों तक उठाया जा सकता है। रंगमंच की सीमा के साथ यह सामर्थ्य भी जुड़ी हुई है

नाटक को पढ़ने में कोई हानि नहीं। किन्तु इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि पढ़ना और देखना दो विरोधी धर्म नहीं हैं। जब तक हम यह मानते हैं कि नाटक नाटक है, तब तक उसे साहित्य की भाँति पढ़ लेने में कोई अहित नहीं, किन्तु अध्ययनपूरक मात्र है और उसे रंगमूलक बनाना जरूरी है। रंगमंच की स्वस्थ परम्परा के लिए भी नाटक पढ़े जाएँ, यह बुरा नहीं, किन्तु पाठक को भी जागरूक होकर मंचीय तत्त्वों को आँकना सीखना चाहिए। बहुत कुछ ऐसा होता है जो नाटक में अनलिखा-अनकहा होता है और उसे रंगकर्मी छपी पंक्तियों के बीच से उभारते हैं। रंगमंच के उस आयाम को ध्यान में रखे बिना नाटक पढ़ भी जिया जाये तो उससे बहुत लाभ नहीं। जो लोग नाटक को मात्र पढ़ने में विश्वास रखते हैं या वे जो नाटक के प्रेक्षक मात्र बनकर रहना पसंद करते हैं, नाट्य को विभाजित कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एकांगी आधार पर नाटककार और रंगकर्मी, पाठक और प्रेक्षक को लेकर दो दल बन जाते हैं। यहाँ तक कि समीक्षकों के दो दल हो गये हैं। समीक्षकों का एक दल है जो केवल नाटक के पाठ की ही समीक्षा करता है और दूसरा केवल नाट्य प्रदर्शनी के ‘रिव्यू’ को ही नाटक की सही समीक्षा मानता है। इन दोनों कोटियों के समीक्षक पाठक और प्रेक्षक के ही प्रतिरूप हैं। पाठक के लिए विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, सम्वाद, देशकाल, उद्देश्य आदि के खानों-दराजों वाली वर्गीकृत समीक्षा के ढेर लग जाते हैं; रंग-तत्त्वों की व्याख्या से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं होता। सारी नाट्य-समीक्षा एक ऐसे साँचे में ढल गयी कि उसे पढ़कर नाटक के साहित्यिक पक्ष का कहीं आभास नहीं मिलता और न इस बात का रंगतत्त्व भी साहित्यिक तत्त्वों की भाँति ही उसके अर्थ का विस्तार

करते हैं। दूसरी ओर रंगमंचीय प्रदर्शनों को लेकर पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों में जो समीक्षाएँ लिखी जाती हैं वे बहुत साधारण होती हैं-एक प्रकार से सरलीकरण की प्रवृत्ति से ग्रस्त और साधारण विशेषणों से युक्त। रंग-समीक्षक नाटक के पाठ्य रूप का विशेषज्ञ हुए बिना ही आज इतनी ही क्षमता रखता है कि प्रेक्षागृह के एक कोने में मुफ्त में बैठने के लिए जगह के साथ किसी दैनिक पत्र का कॉलम उसे रंगने के लिए मिल जाता है।

वस्तुतः लिखित रूप में नाटक की स्थिति वही है जो किसी फिल्म के सीनेरियो या मकान के लिए 'ब्लू प्रिंट' की होती है। जिस प्रकार संगीत-लिपि संगीत-रचना में सहायक होती है, उसी प्रकार नाटक का शाब्दिक स्वरूप भी एक निर्देशक संकेत है जिसके आधार पर रंगमंच नाट्य की कलात्मक संरचना करता है। इस प्रकार नाटककार की स्थिति प्रस्तुति के लिए संभर्ता की है-वह एक तरह से कच्चा माल प्रस्तुत करता है जिसको वास्तविक स्वरूप रंगमंच ही प्रदान करता है। परिचालक की दृष्टि से नाट्य की सिद्धि केवल नाटक की शब्दार्थमयी योजना से ही सम्भव नहीं। रंगमंच की अपनी 'भाषा' होती है-उसके लिए नाटकीय शब्द या सम्वाद ही काफी नहीं है। उससे भी भिन्न उसकी एक ठोस मूर्त भाषा होती है जो इन्द्रिय संवेगों की कविता को उभारती है और यह कविता सामान्य बोले जाने वाले शब्द से भी परे अपनी अभिव्यक्ति का विस्तार करती है। वास्तव में नाट्य की समग्र रचना में लेखक ही कर्ता नहीं, उसके और भी कई सहयोगी कर्ता होते हैं। इसीलिए उसका यह समझ लेना कि वह कर्ता है, भ्रामक है। जिसे वह नाटक कहता है, वह तो नाट्यकला का प्रारूप मात्र है, समग्र रूप नहीं। बात सिर्फ इतनी-सी है कि नाटककार की स्थिति प्राथमिक है। बाद में कृति की को दृश्यकाव्य को पूर्णता देने के प्रयास में रंगकर्मी भी उतना ही महत्त्व अर्जित कर लेता है। नाटक का दृश्य और श्रव्य पक्ष झुठलाया नहीं जा सकता। केवल नाटक को पढ़ने लायक बनाकर छोड़ देने से वह जीवन की विद्यमान सत्ता का आभास नहीं देता।

यहाँ नाटक की स्थिति कहानी या उपन्यास जैसी साहित्यिक विधा से भिन्न है। केवल सम्वाद ही उनके बीच की विभाजक रेखा नहीं है। कहानी या उपन्यास में जब कोई सम्वाद आता है तो वह एक पूर्व-कथन के रूप में आता है। नाटक का सम्वाद प्रेक्षक की सम्बेदना के लिए होता है और वह जीवन की तात्कालिक अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है। साहित्य और नाट्य दोनों भिन्न उपादानों का प्रयोग करते हैं और भिन्न कोटि के सत्याभासों पर निर्भर करते हैं। नाट्य भी साहित्य की भाँति शब्द का प्रयोग करता है किन्तु यह श्रव्य तत्त्व के साथ-साथ दृश्य का भी उपयोग करता है। साहित्य का आस्वाद दिमाग की आँखों से सम्भव है। किन्तु नाट्य का साक्षात्कार चर्म-चक्षुओं से ही पूर्णता प्राप्त करता है।

इस पूर्णता में नाटककार की ही भाँति अभिनेता, दृश्य सज्जाकार, परिचालक आदि सभी का अपना-अपना योगदान होता है। अभिनेता नाटककार से शब्द और चरित्र लेता है किन्तु भाव-मुद्रा, गति, वेशभूषा, अंग-विन्यास तथा स्वरोच्चार के द्वारा वह लिखित नाटक के परे भी भावना और अर्थ के कई बंद द्वार खोलता है। चरित्र को देश और काल की भूमि को साकार कर वह नाटककार की तुलना में आँखों और अन्य इन्द्रियों के लिए आस्वाद के कई आयाम उपस्थित करता है। अभिकल्पक/दृश्य-सज्जाकार देश और काल का आविष्कार कर नाट्य व्यापार को टिकाने का उत्पादन प्रस्तुत करता है वह साथ ही दृश्यबंध, प्रकाश, ध्वनि, वेशभूषा और रूप सज्जा के द्वारा नाट्य व्यापार के लिए एक दृश्य और श्रव्य माध्यम की योजना भी करता है। इस सारी योजना के लिए एक विलक्षण सर्जनात्मक प्रतिभा अपेक्षित होती है। कभी-कभी वह रंगमंच पर ऐसी सृष्टि करने में समर्थ होता है जो व्यावहारिक रूप में स्वयं नाटककार के लिए संभव नहीं होती। और इन सबमें ऊपर परिचालक का दाय होता है। वह सारी नाट्य-सृष्टि का स्वामी ही नहीं, अवधारक भी होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी

रंगीयता नाटक के रचना-विधान में निहित होती है। फिर भी परिचालक अपने दृश्य-माध्यम से नाट्यकृति के नये आयामों को उभारता है। वह नाटककार के मूल इरादों की खोज कर नाट्यकृति की व्याख्या ही नहीं करता, उसको लेकर एक पूर्ण सृष्टि भी करता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि नाटककार को छोड़कर और कोई सृष्टि नहीं करता-रंग के सभी सहभागी कलाकार नहीं-सर्जक कलाकार तो कदापि नहीं। उनका कहना है कि नाट्यकृति के रचना-विधान द्वारा आरोपित सीमाएँ उनको स्वच्छन्द रचना का अवसर कहाँ प्रदान करती है? परिचालक, अभिनेता, अभिकल्पक सभी नाटककार के इरादों को कार्यान्वित करने के लिए बाध्य है - कम-से-कम आधारभूत संकेत और सामग्री वे उसी से ग्रहण करते हैं। यह आक्षेप बहुत न्यायसंगत नहीं। वास्तव में नाट्यकला एक मिश्र कला है और उससे सम्बन्धित सभी रंगकर्मी किसी न किसी रूप में सर्जनात्मक अंशदान करते हैं। उन्हें केवल 'व्याख्याता कलाकार' (इन्टरप्रेटेटिव आर्टिस्ट) कह देना काफी नहीं है। नाटक के क्षेत्र में व्याख्याता का कार्य समीक्षक मात्र करता है। रंगकर्मी यदि कहीं नाटक की 'व्याख्या' करता भी है तो सर्जन के उद्देश्य से। दोनों की व्याख्या में आकाश-पाताल का अन्तर है। रंगकर्मी नाटक को समझने और सर्जनात्मक चयन की दृष्टि से व्याख्याता की भूमिका निभाता है और अपनी उस व्याख्या और सूझबूझ से वह एक ऐसी सृष्टि करता है जो नाट्यकृति पर आधारित भले ही हो, पर उससे भिन्न रूप-रंग ग्रहण कर लेती है। अगर नाटककार की शब्दार्थमयी योजना ही सब कुछ होती तो रंगमंच पर सम्वाद कहला देने मात्र से नाटक की सफलता की आशा की जानी चाहिए। पर प्रायः ऐसा नहीं होता। कभी-कभी बहुत साधारण नाटक मंच पर सफल हो जाते हैं-इसका कारण इतना ही है कि बहुतन्त्री स्थितियों में परिचालक, अभिनेता और अभिकल्पक मंच परकार्य और भावना को वहाँ भी विकसित करने में समर्थ होते हैं, जहाँ नाटक की पांडुलिपि जवाब दे बैठती है। यह बात अच्छे नाटकों के विषय में भी सही है। नाटक का अभिलेख कभी अपने में पूर्ण नहीं होता। यदि ऐसा होता तो रंगकर्मी का कार्य केवल द्विरावृत्ति ही कहलाता।

जहाँ तक नाट्यकृति द्वारा आरोपित सीमा-बद्धता का प्रश्न है, नाटककार को चाहे हम नियंता मान भी लें, उससे रंगकर्मियों और रंगमंच का महत्त्व नहीं घटता। सब कलाकार सीमा में ही कार्य करते हैं-कोई कला स्वच्छन्द नहीं। अपनी सर्जन प्रक्रिया में हर कलाकार को सामग्री के चयन, उपयोग और कलात्मक रूपान्तरण में कुछ सीमाओं को स्वतः अपने ऊपर लादना पड़ता है। नाट्यकला में भी ऐसा ही होता है। पर केवल इस बात के कारण ही रंगकर्मियों को कलाकार की पंक्ति से बाहर नहीं किया जा सकता है। नाट्य में इन सब का सहयोग एक तीव्र और सघन अनुभव को पैदा करता है। अकेले नाटककार का कृतित्व उसके सामने सब कुछ नहीं है। नाटक वस्तुतः नाट्यकलाका एक अंग मात्र है-ठीक उसी तरह जिस तरह अभिनय, अभिकल्पना, प्रकाश योजना, रूप-सज्जा, परिचालना आदि उसके अंग हैं। नाट्यरचना एक, और नाट्य प्रदर्शन दूसरी कला नहीं है।

इस सारे विवेचन का यह अर्थ नहीं कि नाट्यकृति या नाटककार का स्थान गौण है। वास्तव में नाट्यकृति वह बिन्दु है जिससे रंगमंचीय प्रस्तुति का समारम्भ होता है। इसलिए उसकी सत्ता प्राथमिक भी है आधारीक भी। नाटक के बिना रंगमंच की कल्पना नहीं की जा सकती। यद्यपि आदिम स्थिति में रंगमंच का उद्भव नाटक के लिखित स्वरूप से कहीं पहले हुआ है और आज भी तात्कालिक आशु नाट्य प्रस्तुति (इम्प्रोवाइज्ड ड्रामा) के उदाहरण मिलते हैं। फिर भी हर प्रस्तुति के लिए नाटक का शाब्दिक रूप आवश्यक होता है। अधिकांश स्थितियों में प्रस्तुति का सारा ढाँचा, कथ्य और अर्थ तत्त्व सब नाटक के मूल रूप पर निर्भर करता है और नाटक ही प्रस्तुतीकरण के लिए संकेत प्रस्तुत करता है। सच्चाई यह है कि रंगमंच का पूरा विधान नाटक के रचनातंत्र में निहित और ध्वनित होता है। उसकी शाब्दिक योजना ही स्वयं मंच पर

प्रस्तुत किये जाने वाले बिम्बों, भंगिमाओं, गतियों, क्रिया-व्यापारों आदि को निर्धारित करती है। नाटक से ही अभिनेता पात्र की सृष्टि करता है और अभिकल्पक दृश्य-सज्ज के उपकरण जुटाता है और रंगमंच की सारी प्रस्तुति के बाद जो बच रहता है वह शब्द मात्र होता था-लिखित शब्द अर्थात् नाटक।

नाटक के महत्व को नकारने की बात नहीं है। अपेक्षा इतनी तो की ही जा सकती है कि नाटक नाटक हो। ऐसा भी प्रायः होता है कि समस्त शास्त्रीय उपायों के बावजूद नाटककार जो कुछ लिख पाता है वह या तो नाटक होता ही नहीं या निकृष्ट कोटि का नाटक मात्र होता है। वह कौन-सा मानदंड है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि नाटक सही अर्थों में नाटक है? कुछ लोग नाट्यशास्त्र की दुहाई देंगे तो कुछ उसके रंगमंचीय आस्वाद की। पर नाट्यशास्त्र के सारे नियमों के आधार पर लिखा सुरचित नाटक - वेल मेड प्ले- भी कभी नाटक बनने से रह जाता है, और रंगमंच पर प्रेक्षक को जी भरकर हँसाने या आस्वाद के अन्य धरातलों में रमाने वाली प्रस्तुति में भी कभी नाटक की वास्तविक आत्मा लुप्त दिखाई देती है। कभी बहुत सामान्य नाटक रंगकर्मियों के कौशल मात्र से अपूर्व सफलता प्राप्त कर लेता है। तो क्या रंगमंचीय सफलता का नाटक का मानदंड माना जा सकता है? नहीं, यदि, ऐसा होता तो पारसी रंगमंच के नाटक ही आज लोगों के बीच मान्य होते। एक ओर रंगमंच की लोकप्रिय नाट्यकृतियाँ हैं जो काल-कवलित होती जा रही हैं। दूसरी ओर शेक्सपीयर और कालिदास के नाटक रंगमंचीय प्रस्तुति के अभाव में भी आज जीवित हैं। अतः निरी रंगमंचीय सफलता का आग्रह अर्थहीन है। प्रस्तुत नाटक के लिए पहले नाटक होना अनिवार्य है। यह अनिवार्यता उसके शिल्प की ही नहीं, साहित्यिक उपलब्धि से भी संबद्ध है। इसलिए नाटक को एकदम साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देना भी उचित नहीं। नाटक की श्रेष्ठता उसकी तीव्र अनुभूति, भावना, जीवन-दृष्टि के साथ-साथ साहित्यिक अभिव्यक्ति पर भी निर्भर करती है। मूलतः काव्य का एक प्रकार होने के नाते नाटक काव्य के सर्जनात्मक तत्त्वों का उपयोग करता है। इसलिए प्रथमतः वह काव्य है, फिर दृश्य काव्य/नाटक, अच्छा साहित्यिक नाटक रंगमंच के लिए भी संपत्ति होता है। साहित्यिक तत्त्व नाटक को अभिव्यक्तिपूर्ण बनाता है। इसलिए रंगमंच में 'कवि' (नाटककार) महत्वपूर्ण हो जाता है और रंगमंच जिस जीवन की अनुभूति उभारता है, उसका असली सर्जक वहीं होता है। रंग तत्त्वों के प्राथमिक स्रष्टा भी वहीं है और रंग संभावनाओं के लिए आधार प्रस्तुत करने में भी उसका अपना योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं होता। समझने की बात इतनी ही है कि नाटक की साहित्यिकता केवल शब्दों में नहीं-भावों, स्थितियों, पात्रों और जीवन-दृष्टि की गहराई में निहित होती है। नाटक की सच्ची साहित्यिकता उसकी भावभूमि के साथ कथ्य, कथनक, चरित्र, संरचना आदि पर निर्भर करती है। किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि नाटक की साहित्यिकता तभी तक अर्थवान् है जब तक वह रंगमंचीय तत्त्वों से परिपूर्ण है। इसलिए नाटक न केवल साहित्य है और न केवल रंगमंचीय तत्त्व ही नाटक है। इतना निश्चित है कि नाटक एक साहित्यिक रचना है; किन्तु इसके साथ ही उसकी एक आवश्यक शर्त यह भी है कि उसे प्रेक्षक के आस्वाद के लिए एक विशिष्ट रंगीय मुहावरे में ढलना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें दोनों समन्वय जरूरी है। शब्दमयी रचना को एक साथ नाटकीय भी होना चाहिए और रंगमंचीय भी। इसीलिए नाटक, रंगमंच और प्रेक्षक इस सारी प्रक्रिया में एक त्रिकोण बनाते हैं। आज का नाटककार रंगमंच के प्रति जागरूक है। अपनी कृति के विधान में वह रंगीय अनुभव का सन्निवेश करता दिखाई देता है। रंगमंच को लेकर उसके मन में यदा-कदा जो असंतोष मुखर होता है, उसका निदान यही है कि वह अपने लेखन में ऐसे सजीव बिम्बों की सृष्टि करे जो रंगक्षमता को उभारने में सहायक हों, रंगमंच की रिक्तता को भरने के लिए एक ऐसी स्थूल भौतिक भाषा को ढूँढ़े जो प्रेक्षक के इन्द्रिय-बोध को छुये। पर इसका अर्थ यह नहीं कि नाटककार रंगमंच का शिल्पी बनकर रह

जाये। नाटककार रंगमंच की सर्जनात्मक क्षमताओं से परिचित हो, यह आवश्यक है; पर अधिक विशेषज्ञता उसके मार्ग में बाधक भी हो सकती है। शेक्सपीयर, मोलियर, ब्रेख्त आदि ने दोनों क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किन्तु रंगमंच के अत्यधिक ज्ञान ने बहुत से नाटककारों की प्रतिभा को कुंठित करके भी रख दिया। इसलिए रंगमंच में सक्रिय ग्रस्तता की अपेक्षा नाटककार की कल्पना-शक्ति का भी कम योग नहीं होता। इसी के सहारे कई समर्थ नाटककार रंगमंच के एक साथ दूरी और निकटता का सम्बन्ध निभाते रहे हैं।

एक अच्छा नाटककार इस उद्देश्य की सिद्धि कई प्रकार से करता है। वह रंगमंच की अवधारणा में कई प्रभाव ग्रहण करता है। इन प्रभावों में प्रेक्षक की पहचान भी एक है। नाटक लिखा और खेला ही उसके लिए जाता है। बिना प्रेक्षक के नाट्य-प्रदर्शन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किन्तु प्रेक्षक को किसी भी अर्थ में नाटककार, अभिनेता और सज्जाकार की भांति नाट्य का सहयोगी कलाकार नहीं माना जा सकता। इसके साथ ही उसकी रुचि, सहृदयता, बौद्धिक पकड़ आदि का प्रश्न भी उठता है। डब्ल्यू० बी० येट्स का कहना था कि वे रंगमंच की जरूरत तो महसूस करते हैं पर गलत लोगों के पीछे बैठना पसंद नहीं करते। व्यावसायिक थियेटर पर प्रेक्षक की रुचि का दबाव इतना रहा है कि उसकी निरंकुशता ने नाटककार को या तो बांध कर रख दिया था या विद्रोह के लिए विवश कर डाला। इसीलिए प्रेक्षक रंगमंच तो दे पाये, पर ऊँचा नाटककार वे कभी नहीं दे जाये। रंगमंच और प्रेक्षक सदा अच्छे नाटककार से बहुत पीछे रहे हैं। इसीलिए मंचीय सिद्धि और नाटक की उन्नति के लिए वे अल्पसंख्यक प्रेक्षक चाहिए जो नया संस्कार दे सकें या रंगमंच का कलात्मक दायित्व स्वीकार कर सकें, केवल रवीन्द्र रंगशालाएँ खोल देनी ही काफी नहीं हैं। उनके लिए प्रेक्षक, रंगकर्मी और नाटककार की पाँत भी खड़ी करनी होगी।

नाटक और रंगमंच दोनों का स्रोत सामाजिक है। सामाजिक उथल-पुथल और संघर्ष में इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। नाटक को उस तल तक उठाने की जरूरत है, जहाँ ब्रेख्त के शब्दों में, वह अदालत की दलीलों की तरह कारगर हो जाता है और प्रेक्षक के फँसले तक पहुँचने में मदद करता है। नाटक और रंगमंच को शक्ति का स्रोत, एक प्रकाश का स्तंभ बनना होगा। अंतोनिन अतौ के शब्दों में कहें तो उसे मनोवैज्ञानिक नहीं आधिभौतिक स्वरूप ग्रहण करना होगा। इस उपलब्धि के बाद ही नाट्य की जनता तक या जनता को नाट्य तक ले जाना सार्थक होगा। नाट्य चाहे अल्पसंख्यकों का हो या जन-जन का, उसकी उपलब्धि के आयाम उसके परिष्कार में ही निहित है।

परिष्कार की दिशा में नाटक और रंगमंच दोनों का एक साथ चलना जरूरी है। नाटककारों की शिकायत रहती है कि कलात्मक उपलब्धि में रंगमंच पीछे रह जाता है, नाटक आगे बढ़ जाते हैं। रंगकर्मियों को कहना पड़ता है कि उन्हें खलने के लिए उन्हें अच्छे नाटक ही नहीं मिलते। हिन्दी के बारे में तो यह बात मशहूर है कि उसमें नाटक लिखे ही नहीं जाते। इस खाई को भरना जरूरी है। रंगमंच के अभाव में नाट्य लेखन कुंठित हो जाता है और नाट्य लेखन के अभाव में रंगमंच की क्षमताएँ उपयोग में आने से रह जाती हैं। कुछ अलग पहलू भी हो सकते हैं जिनमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक स्थितियों को गिनाया जा सकता है; किन्तु जो बात सर्वोपरि है वह है-उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध। रंगमंच और नाटक का विकास एक दूसरे से जुड़ा हुआ है।

3. नाटक में दृश्य और श्रव्य तत्वों का समायोजन

नाटक एक प्रयोगमूलक कला है। नाटक की कलात्मक सार्थकता तभी व्यक्त होती है, जब उसका अभिनय किया जाता है। पढ़े जाने वाले साहित्य-रूप से, इस प्रार, नाटक की कलात्मक उपपत्तियाँ भिन्न होती हैं। वह प्रदर्शन के हेतु रूपायित होता है। नाट्यशास्त्र में झा बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि स्वयं भरत ने नाट्य-प्रयोग किया था। नाट्यशास्त्र के पंचम वेद के रूप में नाट्य की जो कल्पना की गई है, उसका अभिप्राय एक ऐसे क्रीडनीय के अवतरण से है, जिसे दर्शक केवल देखे ही नहीं, अपितु सुने भी और सन्मार्ग के अनुगमन का उपदेश भी प्राप्त कर सके। “क्रोडनीयकमिच्छामां दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्” के द्वारा वाद्याभिव्यक्ति के उक्त कलात्मक स्वरूप को ही इंगित किया गया है। श्रव्य और दृश्य का संश्लिष्ट संदर्भ ग्रहण करके नाट्य प्रेक्षकों का विनोदन भी करता है और नृत्यों का विनियोग नाट्य कला को अन्य विनोदनात्मक प्रदर्शनपरक कलाओं से भिन्न कर देता है।

नाटक की सर्जनशीलता या कलागत रूप अपनी समग्रता में तभी प्रकट होती है जब रचना को दर्शक-समूह के समक्ष रंगमंच पर अभिनय करके दिखलाया जा सके। कालिदास के नाटक ‘मालविकाग्निमित्रम्’ का सूत्रधार एक स्थल पर कहता है कि “प्रयोगप्रधान हि नाट्यशास्त्रम्”। ‘साहित्यदर्पण’ में आचार्य विश्वनाथ ने भी लिखा है कि “दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। दृश्यं तवाभिनेयं तद्यारोपात् रूपकम्। भवेदभिनेयो स्थानुकारः” इसीलिए प्राचीनों में दृश्यकाव्य (नाट्य) को रूपक की भी संज्ञा दी है। रूप को आरोप करने के कारण अर्थात् रामादि की रोबनगत अवस्थाओं को नट द्वारा अभिनय के माध्यम से प्रत्यक्ष करके दिखलाने के कारण नाट्य को रूपक के नाम से भी अभिहित किया जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र एवं उसी परम्परा के अन्य ग्रन्थों में इसीलिए पूर्वरंग, प्रस्तावना, रंगसज्जा, रंगनिर्देश, अभिनय, रंगशाला आदि नाट्य-प्रयोग, प्रस्तावना, रंगसज्जा, रंगनिर्देश, अभिनय, रंगशाला आदि नाट्य-प्रयोग के विभिन्न तत्वों का सर्वांगीण विवेचन हुआ है।

नाट्य-कला के विषय में पाश्चात्य विचारकों ने भी नाटक को रंगमंच-सापेक्ष कला माना है एवं प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता और प्रभाव की दृष्टि से नाट्य-तत्वों की मीमांसा की है। अरस्तु ने त्रासदी को गंभीर जीवन का क्रिया-व्यापारात्मक अनुकरण कहा है। यहां अभिनय को ही लक्ष्य करके क्रियामूलक अभिव्यक्ति की बात कही गई है। नाट्य-कला की अस्मिता के विषय में प्रसिद्ध अंग्रेजी नाट्य-समीक्षक एशत्रे ड्यूक्स की भी यह मान्यता है कि “नाटक और उसके दर्शकवन्द के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान रहता है।” ब्रैण्डर मैथ्यूज का भी मत है कि “नाटक कथोपकथन की शैली में रची गई एक ऐसी कहानी है जिसे क्रियाव्यापार के रूप में दर्शक के सम्मुख प्रदर्शित किया जाता है।” पश्चिम में नाटक और उसके प्रदर्शन की एक अव्याहत परम्परा मिलती है।

चार्ल्स कूपर ने मानव जीवन में लक्षित तीन प्रकार के तत्वों की एक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति को नाट्य-सजन का मूल माना है। वे तीनों तत्व हैं-नाटकीयता, अनुकरणात्मक क्रीड़ाप्रियता या रूपोरोपात्मकता, तथा जीवन की चरितार्थता की खोज की जिज्ञासा से प्रेरित अर्थ या मूल्यदृष्टि। अपने आन्तरिक जीवन या बाह्य आचरणों में अथवा समाज के साथ अपने नानाविध सम्बन्धों में मनुष्य सहज ही अपने-आपको एक प्रकार के तनाव और संघर्ष की स्थिति में पाता है। वह कभी-कभी मुखौटा आदि पहन किन्हीं बातों का अनुकरण या प्रदर्शन करते हुए मुदित होना चाहता है। मनुष्य में जीवन के सार्थक रूप को पाने के लिए मूल्य या सौंदर्य की भूख भी

होती है। ये तीनों ही बातें नाट्य-स जन के मूल में स्वभावतः विद्यमान रहती हैं। इन तीनों तत्त्वों के अन्तर्यालय में ही नाटक की स जनात्मकता स्फुटित होती है। जीवन में जहां तनाव और संघर्ष परिलक्षित होता है, वहीं नाट्य-तत्त्व का आधान हो जाता है। विरोधों एवं अन्तर्विरोधों की संवेगनिष्ठ परिस्थितियों में नाटकत्व का गुण अन्तर्हित होता है, ऐसी परिस्थितियों का नाटकत्व उस दशा में सर्वाधिक उभरकर सामने आता है, जब विरोधों या अन्तर्विरोधों से जकड़ा हुआ व्यक्ति संघर्ष में भी रत होता है, उनसे निकलने के लिए योजना बनाता है तथा प्रयत्न करता हुआ सफलता या विफलता को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से नाट्य-वस्तु का ग्रहण होने पर रचना में एक प्रकार की कलात्मक गत्यात्मिकता या क्रियाशीलता का भाव आ जाता है जिससे नाट्य-प्रदर्शन की कलात्मकता बढ़ती है। नाट्य-स जन में, इस प्रकार, जीवन के तनावपूर्ण एवं संघर्षशील बिंदुओं के माध्यक से कथानक की संरचना करते हुए किसी अर्थवान या मूल्यवान नाट्यानुभूति का संप्रेषण नाटककार की सर्जनशीलता की प्राथमिक आवश्यकता है।

संवादात्मक शैली में एक कथानक की रचना करना ही नाटक नहीं है। नाटकत्व के लिए उसमें संघर्षमूलक क्रियाव्यापार का आरोह-अवरोह और दृश्यसौष्टव की दृष्टि का विनियोग भी अपेक्षित है। प्रस्तुतीकरण की प्रभविष्णुता के लिए इसकी अनिवार्यता है। प्रस्तुतीकरण के हेतु रचा जाना नाट्य-कला की एक अनिवार्य शर्त है। नाटक का कथानक ऐसा होना चाहिए जिसे अभिनेताओं के द्वारा किसी-न-किसी रंगमंच पर प्रस्तुत कर प्रस्तोता दर्शक को प्रभावित करने में समर्थ हो सके। “जो नाटक अभिनेय नहीं उसकी गणना नाटकों में नहीं, काव्य तथा अन्य साहित्य-रूपों के साथ होती है।” रंगमंच का अपना व्याकरण होता है। निदेशक या प्रस्तोता, दर्शक, अभिनेता, नाट्य-मण्डप, दृश्यबन्ध और रंगसज्जा के निर्माता रंगशिल्पी, रंगदीपनकार या प्रकाश-योजना करने वाले व्यक्ति, ध्वनि-संकेत अथवा ध्वनि प्रभाव के अवयव आदि रंगमंच के व्याकरण के अंग हैं, इनके इकाईबद्ध, सहित और प्रभावोत्पादक प्रयत्न से प्रस्तुतीकरण की कला का सौन्दर्य व्यक्त होता है। इस व्याकरण को समझे बिना नाटककार रंगमंच के माध्यम का समग्रता के साथ उपयोग नहीं कर सकता है। नाटक के अभिव्यंजना-कौशल में एक विषय से दूसरे विषय पर द्रुतगति से संचरित हाते हुए एवं क्रियाव्यापार को उकसाने वाले कथोपकथनों तथा प्रचलित मुहावरों से युक्त व्यंग्य-विनोदपूर्ण युक्तियों के छींटों का जितना महत्त्व होता है, उतना ही महत्त्व नाट्य रंगमंचीय संदर्भों के समुचित ग्रहण का भी होता है। भाषागत तथा रंगमंच विशिष्ट दोनों ही प्रकार के माध्यमों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके ही नाटककार अपनी रचना को कलात्मक रूप प्रदान कर सकता है। केवल शब्दगत अभिव्यक्ति को लक्ष्य करके ही नाटक के कलात्मक सौन्दर्य एवं अर्थवत्ता को नहीं समझा जा सकता है। नाट्याभिव्यक्ति के इसी तथ्य को इंगित करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि “रंगमंच पर अभिनीत होकर ही नाटक पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त हो सकता है। पुस्तकों में यह अंतता नहीं।” अथवा “नाटक का नाम सुनते ही स्वभावतः स्टेज का स्मरण हो आता है। इसीलिए नाटककार और समालोचक दोनों के लिए स्टेज की जानकारी आवश्यक होती है।” इस प्रार नाट्यार्थ या नाट्यानुभूति का समय मर्म तभी विवर्त हो सकता है जब रंगमंच पर उसके अभिनय को देखा जाये। केवल पढ़कर नाटक के बारे में कोई निर्णय देना बहुत समीचीन नहीं हो सकता है। नाट्य-स जन के इस रहस्य को जान लेने पर नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को समझा जा सकता है।

यह जान लेने पर, कि नाट्य-स जन रंगमंच-सापेक्ष वह कथोपकथनमूलक शब्द-सृष्टि है हो सामूहिक संप्रेषण (दर्शकवन्द के सामने प्रदर्शन) के लिए होती है, यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक एक त्रय-आयामी कला है। यह तीनों आयाम इस प्रकार हैं : (1) नाटककार, जो नाट्य-सृष्टि को शब्दबद्ध आकार देता है; (2) निदेशक या प्रस्तोता, जो रंगमंचीय आलेख की

समस्त प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ नाटक की प्रस्तुति को सुलभ बनाता है; (3) दर्शकवन्द, जिसकी उपस्थिति बिना नाटक की प्रस्तुति का कोई अर्थ ही नहीं है।

इन तीनों आयामों और उनकी परस्परता को जाने बिना नाटक की समालोचना करना असमीचीन हो जाता है।

नाटककार एवं नाटक की शब्दपरक सृष्टि

नाटकीय अभिव्यक्ति वस्तुतः शब्द, अभिनय और दृश्यबन्धों के एक अन्वित माध्यम द्वारा रंजक एवं अर्थवान कथानक का कठिन है। नाटकीय कथानक की रंजकता एवं अर्थवत्ता दर्शकानुवर्ती होती है। नाटककार कैसे दर्शकवन्द का मानस-साक्षात्कार करके नाट्य-संजन में संलग्न है, इसी पर उसके शब्द, अभिनय और दृश्यबन्धों के समन्वय की प्रक्रिया निर्भर करती है। नाट्य-प्रदर्शन में अभिनय और दृश्यबन्धों के समन्वय की प्रक्रिया निर्भर करती है। नाट्य-प्रदर्शन में अभिनय और दृश्यबन्ध यद्यपि केन्द्रीय आकर्षण के होते हैं, तथापि शब्दों के माध्यम को ग्रहण किए बिना रंगमंचीय गति नहीं हो सकती। रंगमंच पर घटित नाट्य-वस्तु के पूर्वापर सम्बन्ध संवादगत शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। शब्दों के संघात से ही रंग-प्रदर्शन में विकसनशील कथात्मक गति सुलभ होती है। केवल मूक अभिनय और दृश्यबंध के जरिये ही कथानक का वर्तुल एवं गत्यात्मक विकास सर्वथा असंभव है। दृश्यबंध और अभिनय पर शब्दों के संघात न पड़े तो प्रस्तुतीकरण कितना स्थिर हो सकता है, यह सहज ही अनुमेय है अतः नाट्य-संजन में रंगमंच के अन्य माध्यमों के विनियोग के साथ-साथ संवादात्मक शब्द-विधान का भी निजी महत्त्व है। नाट्यशाला में शब्दों के प्रयोग के बिना तो काम चल ही नहीं सकता है। नाट्य-प्रदर्शन में देश-विस्तार और काल-विस्तार की सीमा होती है। अतएव मूक अभिनयों और दृश्यबंधों के रूप में प्रतिफलित रंग-प्रदर्शन में गतिशीलता का दायरा बहुत संकुचित हो जाता है। शब्द के संघात से उसमें गतिशीलता का दायरा वैसे ही बढ़ जाता है जैसे स्थिर पानी में पत्थर गिरने से वर्तुल लहरिया उठने लगती है। इस कलात्मक आवश्यकता के अतिरिक्त नाटक के इष्टत्व-बोध अथवा अर्थ-संप्रेषण को सुलभ बनाने में भी शब्दों का अपना महत्त्व है। संजन में शब्द-विनियोग को इस अपरिहार्यता के कारण ही नाटक को काव्य की दृश्य विशिष्ट विधा माना गया है।

नाटक में शब्दों के प्रयोग की अपनी कला और सीमाएं हैं। नाटक में रूपायित कथानक का दृश्यरूप में भावित करा देने की क्षमता नाटककार के भाषा-प्रयोग की पहली आवश्यकता है। यह तभी संभव है जब संवाद की भाषा अभिनयात्मक हो, अर्थात् हस्त आदि अंगों के संचार को उकसा दे। इसीलिए नाटक में यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि संवाद ऐसे चुने हुए अनुभवों से संबंधित हों जिनमें अन्तर्बाह्य गति गर्भित हो। अनुभव ऐसे संयोजित हो जिससे यह गति उतार-चढ़ाव और परिवर्तन के रूप में विकसनशील हो सके। “बाह्य तथा आन्तरिक स्थितियों का यह परिवर्तन ऐसे हो जिसे अनुकरण द्वारा, अभिनय द्वारा, मूर्त और व्यक्त किया जा सके।” नाटककार की शब्द-साधना का यह रूप रंगमंचीय परिप्रेक्ष्य को स्वीकार करने के कारण है।

रंगमंच से अनुशासित होने के कारण नाटककार के ऊपर भाषा-प्रयोग सम्बन्ध कई नियन्त्रण होते हैं। पहला नियन्त्रण रंग-व्यापार की गत्यात्मकता को अक्षुण्ण रखना है। अतः नाटककार बिम्बात्मक या विवरणात्मक भाषा-शैली में पात्रों के बीच संवाद न कराकर एक विषय से दूसरे विषय पर द्रुतगति से संचरण-शील भाषा-शैली का प्रयोग करता है। उसे शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं अशिक्षित सभी वर्ग के दर्शकवन्द को सम्बोधित करना होता है, अतः लोक में प्रचलित व्यावहारिक एवं सीधी भाषा को ही नाटक में अपनाना अपेक्षित है। नाटकेतर साहित्य में लेखक अपनी ओर से भी भावदशाओं और क्रियाकलापों का विस्तार से वर्णन करने की छूट रखता

है, वह वर्ण-संगीत अथवा चित्र-भाषा से अपनी अभिव्यक्ति को अलंकृत कर सकता है। नाटककार को अपनी ओर से कुछ कहने की छूट नहीं होती। वह पात्रों के माध्यम ही अपनी बात प्रकट कर सकता है। अतः उसे पात्रानुकूल भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है। नाटक में पात्रों का परस्पर संवाद अथवा स्वगत कथन होता है और वह कथन गतियों, चर्याओं और मुखाभिनय सापेक्ष होता है। नाटककार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावदशाओं को भी पात्रों के ही कथनों और क्रियाओं के माध्यम से दर्शक के सामने साक्षात् रूप से रखने की शर्त में बंधा होता है। अतः नाटक में किसी प्रकार के असम्बद्ध पात्रों और घटनाओं की चर्चा नहीं की जा सकती। इससे दर्शक की एकतानता टूटती है और नाट्य-प्रदर्शन का संकलित प्रभाव जाता रहता है। जिस सीमित समय में पूरी नाट्य-वस्तु को अभिनीत करना पड़ता है, उसे देखते हुए नाटक में पात्रों और घटनाओं का अतिरिक्त प्रवाह वांछित नहीं हो सकता है। दो-ढाई घंटे में ही पूरे नाटक को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करना पड़ता है। नाटककार को पूरी तरी तटस्थ होकर, पात्रों और नाट्य-वस्तु की प्रकृति के सानुरूप संवाद की योजना करनी पड़ती है। इस सीमा में बंधकर ही उसे नाट्यानुभूति का स्फुरण करना होता है। अतएव नाट्य-लेखन नाट्य-प्रदर्शन से कहीं अधिक कठिन कर्म होता है। नाट्य-लेखन के सहज, स्पष्ट और गहन होने पर प्रस्तुतीकरण स्वयं ही प्रभविष्णु और प्रभावात्मक बन जाता है। इसीलिए नाट्य-कला के नाटककार का स्थान निर्देशक और अभिनेता सहित अन्य रंगशिल्पियों से अधिक महत्त्व का हो जाता है।

प्रस्तुति के निमित्त नाट्य-स जन करने के कारण नाटककार को एक ऐसे कथानक की रचना करनी पड़ती है जिसे 'सक साथ ही एक बार में शुरू से अन्त तक बिना रुके, बिना पीछे लौटे दिखाया भी जा सके और दर्शकों की समझ में भी आ सके।' इसलिए नाटक में अस्पष्ट कथन क्षम्य नहीं होता; उसमें अलंकरण की गुंजाइश नहीं होती। नाटक के शब्द-विधान में किसी प्रकार के घुमाव-फिराव या दुरुहता को स्थान नहीं मिलता। नाटक में ऐसे कथोपकथनों को नहीं रखा जा सकता जो अपनी लम्बाई, क्लिष्टता और बेतुकेपन के कारण उच्चरित होने की दृष्टि से अभिनेता के लिए असुविधा पैदा करें और उसकी अभिनयात्मक लय को भंग करने वाले सिद्ध हों।

नाटक और दर्शकवन्द

नाट्य-स जन सामूहिक सम्प्रेषण के लिए होता है। रंगशाला में बैठा हुआ दर्शक-समूह ही नाट्य-प्रदर्शन का भावक है। अतः दर्शक की रंजनवृत्ति, उसकी अपेक्षाएं, उसकी बोध-शक्ति, देशकालगत उसको सांस्कृतिक चेतना आदि, नाट्य-स जन तथा नाट्य-प्रदर्शन को बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं। प्रेक्षक के विचार से ही नाटक में ऐसी घटना, स्थिति या क्रिया को स्थान देना वर्जित है जिसका प्रदर्शन अशोभनीय हो अथवा जिसके कारण सामाजिक समरसता का अनुभव करने में अपने को स्वभावतः असमर्थ पाता हो। जो कुछ भी सामाजिक की सांस्कृतिक चेतना को आघात पहुंचाता हो वह नाटक में स्थान नहीं पा सकता। भारतीय नाट्य-चिंतन में इसी कारण नाट्य-वर्जनाओं की विस्तृत चर्चा हुई है। इस प्रकार नाटक दर्शक-समूह से सीधे जुड़ता है। बिना दर्शक के किसी रंगमंच की कल्पना की ही नहीं जा सकती। वह नाट्य-रचना का एक अनिवार्य सन्दर्भ है।

नाटक रचते समय नाटककार के मानस-चक्षु के सामने दर्शक सदैव विद्यमान रहता है। दर्शक की यह विद्यमानता ही नाटक के आकार-प्रकार, कलात्मक स्तर और बोध एवं आवेदन को निर्धारित करती है। यह भी द्रष्टव्य है कि "नाटक देखते समय दर्शक अपने व्यक्तिगत रूप में ही नहीं, मुख्यतः अपने सामाजिक रूप में प्रभावित होता है। दर्शक वर्ग अलग-अलग व्यक्तियों का जोड़ नहीं, वह नयी सामाजिक इकाई है जिसमें शायद हमारा आदिम, सामूहिक समष्टिमूलक

व्यक्तित्व उभरकर जाग्रत होता है। ..नाटककार को अपने इस दर्शक की पहचान अपने-आप, सहज ही होनी चाहिए। इसके बिना नाटक या तो इतना जटिल और गहन होगा कि अधिकांश दर्शक के पल्ले न पड़ेगा और फिर इतना सतही और छिछला कि संवेदनशील और परिष्कृत रुचि वाले दर्शक असंतुष्ट होंगे और उसका कोई स्थायी मूल्य न हो सकेगा।” जाहिर है कि नाटक वैयक्तिक मूल्य और आवेदन की वस्तु नहीं है। सामाजिक और नाटक के बीच विच्छेद आ जाने पर प्रस्तुतीकरण की अपील समाप्त हो जाती है।

प्राचीन समय से ही नाटक को सार्ववर्णिक या समष्टिमूलक प्रदर्शनपरक कला माना जाता रहा है। परन्तु आज हिन्दी में प्रबुद्ध दर्शक और अप्रबुद्ध दर्शक के भेद की बात कही जाने लगी है। दर्शक को इस प्रकार अलगाते हुए नाटकों के स जन को गंभीर स्तर का अथवा छिछले स्तर का कहा जाने लगा है। दर्शक के प्रति इस प्रकार के अलगाव की सार्थकता के बारे में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। मराठी के प्रसिद्ध रंगकर्मी और नाटककार गिरीश बरनाड का विचार है कि इस प्रकार की कोटियां बनाकर नाटक और दर्शक के बारे में सोचना नाट्यान्दोलन को क्षति पहुंचाना है। “गंभीर नाटक और प्रबुद्ध दर्शक...बार-बार इस फिकरे को दुहराकर और सामान्य लोकप्रिय नाटकों और दर्शकों से अपने को अलगाकर हम लोग नाट्य-आन्दोलन को बहुत क्षति पहुंचा रहे हैं। मैं कहता हूं कि हमें अभी वही देना चाहिए जो दर्शक मांगते हैं। रस, रहस्य, रोमांच, प्रहसन या और भी कुछ जो दर्शक चाहते हैं, वही उन्हें देकर और उन्हें नाटकों का प्रेमी बनाकर ही हम नाट्य-आन्दोलन को आगे बढ़ा सकते हैं। मैं नेमिचन्द जैन और मोहन राकेश के इस कथन से बिल्कल असहमत हूं कि हमें उच्च साहित्यिक स्तर के निर्वाह की चेष्टा करनी चाहिए और प्रबुद्ध दर्शकों के लिए ही नाटक लिखने और खेलने चाहिए। वस्तुतः प्रबुद्ध-अप्रबुद्ध दर्शक का भेद न कर समग्र सामाजिक की नाट्य-चेतना, मूल्य एवं सौन्दर्य-बोध और तात्कालिक आवश्यकताओं की दृष्टि से रचा जाकर ही नाटक जीवन्त बनता है। दूसरे साहित्य रूपों में प्रमाता और लेखक के बीच अलगाव उतना नहीं खटकता जितना नाटक में खटकता है।”

नाट्य-लेखन पर दर्शक का प्रत्यक्ष दबाव उसे समसामयिकता के सन्दर्भ से भी जोड़ता है। तात्कालिक दर्शक के साथ समरस होने पर ही नाटक का प्रस्तुतीकरण सार्थकता को प्राप्त होता है। “नाटक की प्रेक्षणीयता तात्कालिक होनी चाहिए। फिर प्रत्येक नाट्य-प्रदर्शन को समापन-स्पर्श दर्शकों से ही प्राप्त होता है। यह कैसे संभव है कि नाटक से समरस न हो पाने वाला दर्शक वर्ग उसके कलात्मक सर्जन में अंश ग्रहण कर सकेगा। हिन्दी रंगमंच के सन्दर्भ में तो यह स्थिति और भी संगीन इसलिए हो जाती है कि अभी हिन्दी रंगमंच की समस्या दर्शक वर्ग प्राप्त करने की ही है, अभी वह अपने छोटे से समुदाय को भी विच्छिन्न कर देने का खतरा उठा नहीं सकता है। अतः स्पष्ट है कि नाटक और दर्शक वर्ग के बीच बढ़ता हुआ विच्छेद यदि रोका नहीं गया तो वह हिन्दी-नाटक को ले डूबेगा।”

प्रस्तुतीकरण की कला

प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भ में अभिनेता तथा निर्देशक सहित बहुत से अन्य रंग-शिल्पी भी नाट्य-कला के अभिन्न अंग होते हैं। “प्रस्तुतीकरण वस्तुतः अभिनेताओं के माध्यम से कथावस्तु को मंच पर मूर्तित करने की ऐसी प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य दर्शक पर किसी एक प्रभाव की छाप छोड़ना होता है।” यह प्रक्रिया स्वभावतः रंग-निर्देशक या रंग-प्रबन्धक द्वारा नाटक की मंचीय लिपी तैयार करने से लेकर समस्त रंगोपकरणों को एक कलात्मक इकाई में संयोजित करने के कार्यों तक फैली हाती है। दूसरे शब्दों में यह रंग-लिपि और रंगशिल्प के बीच निर्देशक द्वारा लाये गये तादात्म्य की प्रक्रिया है। अतः नाटक और रंगमंच की परस्परता के सन्दर्भ में प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया और उसके साथ जुड़े हुए रंगकर्मियों की भूमिका समझना भी नितान्त

आवश्यक है। अभिनय रंगमंच का क्रियात्मक पार्श्व है और अभिनेता प्रस्तुत क्रिया को सम्पन्न करने वाला कलाकार है। 'आभिमुख्येन नयः अभिनयः' अर्थात् नाट्यार्थ को दर्शक के सामने प्रकट रूप से दिखलाना ही अभिनय है। इसलिए नाटक प्रस्तुतीकरण के लिए होता है। जो नाटक का अभिनय करता है उसे नट या अभिनेता कहते हैं। अतः नाटक के प्रयोग पक्ष के सन्दर्भ में अभिनेता के गुणों और अभिनय शैलियों की जानकारी अनिवार्य है। हिन्दी-नाटक के आरम्भिक काल में अभिनेताओं की अपेक्षा रंगमंच पर नाट्यवस्तु की ही प्रधानता थी। उस समय वस्तु की अपेक्षा अभिनेताओं की कला को, उनकी वैयक्तिक विशेषताओं को कम महत्त्व दिया जाता था। नाच-गान और घटना बहुल कथाभाग के शोरगुल के अभिनेताओं का व्यक्तित्व छिप जाता था। किन्तु जैसे-जैसे नाटककारों ने भावों के विभाग तथा मनुष्य की आत्मा के अध्ययन की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया वैसे-वैसे अभिनेता की कला का विकास होता गया और सफल अभिनेता बनने के लिए कलाविदों को अधिक अध्ययन और परिश्रम करना जरूरी हो गया। अभिनय की कला सिखाने के लिए नाट्य-संस्थाओं की स्थापनाएं हुईं। समसामयिक नाटककार अभिनेताओं को अपने विशेष गुणों को दर्शाने के लिए अवसर देने का पूरा ध्यान रखते हैं

अभिनेता के कार्य रंगभेद के चित्रकार और नाटक रचयिता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि नाटक के महत्त्वपूर्ण भाग खराब अभिनेताओं के सुपुर्द किए जाएं तो या तो जनता हुल्लड़ मचाकर अभिनेताओं को रंगमंच से भगा देगी और नहीं तो नाटकघर को स्वयं ही खाली कर देगी। प्रतिभा-सम्पन्न अभिनेता ही नाटक का आत्मा को विकसित कर सकता है। अभिनेता में कुछ गुणों का होना निहायत जरूरी है। सर्वप्रथम तो उसे इतिहास की अच्छी तरह जानकारी होनी चाहिए जिससे वह देशकाल के लहजे में उचित रूप से पात्रों के चरित्र को स्फुट कर सके। मुगल दरबार के किसी पात्र का अभिनय करते समय तत्कालीन देशकाल की परिस्थिति और मुगल दरबार की तहजीब एवं दरबारियों की वेश-भूषा का अभिनेता को अच्छा बोध होना चाहिए। उसे मनुष्य जाति के विकास से भी गहरी प्रकार परिचित होना जरूरी है। तभी वह कृत्रिमता और नैसर्गिकता का भेद समझ सकता है और उसे प्रत्यक्ष कर सकता है।

अभिनेताओं की उत्कृष्टता की कसौटी अभिनय में प्रदर्शित स्वाभाविकता है। बंधे-बंधाए सांचे में अभिनय करना अभिनय को शुष्क बना देना है। अभिनेता को नैसर्गिक प्रतिभा से संस्पर्शित होकर ही अभिनय जीवन्त बनता है, उसमें स्वाभाविकता का आकर्षण भरता है। किसी प्रकार के भी अति-बलाघात या अपर्याप्त बलाघात को बचाते हुए अभिनेता को इस बात में भी समर्थ होना चाहिए कि वह जो भूमिका अदा कर रहा है उसे ज्यों-का-त्यों उतार दे। परन्तु किसी भी अभिनेता की भूमिका, नाटक के दूसरे अभिनेताओं की भूमिका से अलग, अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती। जब अभिनेता नाटक के पूर्णांक से अपने को अलग करके अपनी ही एक अकेली इकाई बना लेता है, तब अभिनय में दोष आ जाता है। उसे दूसरे अभिनेताओं की भूमिका के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही अपनी भूमिका का निर्वाह करना चाहिए।

व न्दावनलाल वर्मा लिखते हैं कि "अभिनेता वास्तव में कवि होता है। उसकी कविता उसका अभिनय है। संवाद नाटककार के लिखे होते हैं, परन्तु अपने अभिनय द्वारा अभिनेता ही उन्हें प्राणसम्पन्न करता है। अभिनय उसी निःशब्द कविता है, जिसके लिए प्रतिभा और अभ्यास दोनों जरूरी हैं।" क्योंकि नाटक एक मिश्रकला है, अतः अभिनेता को केवल अपनी भूमिका में खरा उतरने के लिए केवल अच्छी तरह अपना संवाद याद करने मात्र से ही काम नहीं चलता। इसके लिए उसे न त्व की गतियों, वाद्य संगीत की विभिन्न लयों, नाट्योपयोगी वर्ण के उच्चारण का अभ्यास, हस्त-मुखादि आंगिक अभिनय की रीतियों, उत्प्लवनों, चारियों तथा भ्रमरियों का पूर्वाभ्यास भी आवश्यक है। इतनी तैयारी के बाद ही वह अभिनय को कवित्वपूर्ण लय के साथ उतार रखता है। इसके साथ उसे इस बात का भी विवेक होना चाहिए कि मंचपीठ पर उसे

कब कैसा स्थान ग्रहण करना है। इससे मुख्य और गौण पात्रों के साथ उसके सम्बन्ध की स्थिति बनती है।

‘नाट्यशास्त्र’ में अभिनेताओं के कर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। भरतमुनि ने नटों की सामाजिक प्रतिष्ठा को स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया है और नाट्यकला को ऊँचे स्तर पर स्थापित करने के लिए उसे धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना से समन्वित करने की चेष्टा की है। परन्तु कालान्तर में धर्म-सूत्रों एवं स्मृतियों में नटों के प्रति कठोरता का भाव आया, उन्हें समाज में एक हीन-दृष्टि से देखा जाने लगा। मनुस्मृति में नट को सात प्रकार के अन्त्यजों में माना गया है। अभिनेता के प्रति यह भावना भी मध्यकाल में भारतीय रंगमंच के हास का एक कारण बना। परन्तु आधुनिक युग में आकर पुनः अभिनेता और अभिनय कला के प्रति दृष्टिकोण बदला है। आज समाज में अभिनेताओं को फिर से ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है। इससे रंगमंच के विकास को बल मिला है।

अभिनेता के लिए अपेक्षित गुणों का विवेचन करने के अनन्तर अभिनय के प्रकारों, नाट्यधर्मों और लोकधर्मों अभिनय की मान्यताओं तथा प्राचीन शैली के अभिनय और अर्वाचीन शैली के अभिनय के मूलभूत अन्तर को समझ लेना भी नाट्याभिव्यक्ति के कर्म को जानने के लिए आवश्यक है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक आदि चार भेदों का उल्लेख है। मनुष्य के विविध अंग-प्रत्यंगों और उपांगों के सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न चेष्टाओं और भाव-मुद्राओं द्वारा रमणीय अर्थ का जो सजन होता है, वही आंगिक अभिनय है। शिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि और पाद ये अंग के अन्तर्गत आते हैं। नेत्र, भौहें, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक आदि उपांग हैं। ग्रीवा, भुजा, पीठ, उदर, जंघा आदि प्रत्यंग हैं। भरत मुनि ने नाट्य और नृत्य के लिए अंगादि सम्बन्धी मुद्राओं के कलात्मक स्वरूप और विनियोग के विधान का अत्यंत विस्तार से विचार किया है। आचार्य नन्दिकेश्वर लिखित ‘अभिनय दर्पण’ में भी इस विषय का व्यापक प्रतिपादन है। अभिनेता द्वारा इन मुद्राओं के भाव-दशानुवर्ती समंजित विनियोग पर नाट्य-प्रदर्शन का सौष्ठव और प्रभाव निहित है।

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत नौ प्रकार के शिर संचालनों का उल्लेख है-सम, उद्वाहित, अधोमुख, आलोलित, ध्रुत, कम्पित, परावत्त, उत्क्षिप्त और परिवाहित। **समशिर** का प्रयोग नृत्य के आरम्भ में गर्व की भावना व्यक्त करने में, प्रणय और कोप दर्शाने में तथा स्तम्भन और निष्क्रियता के भाव प्रदर्शित करने में होता है। मुख्य ऊपर उठाकर नृत्य करने को उद्वाहित कहते हैं। उद्वाहित शिर का विनियोग ध्वज, चन्द्रमा, गगन, पर्वत, आकाशयात्रा और उच्च वस्तु के भाव-प्रदर्शन के लिए किया जाता है। नीचे की ओर उलटा मुंह करके अभिनय करने को **अधोमुख शिर** कहते हैं। इस मुद्रा का प्रयोग लज्जा, खेद, दुश्चिन्ता, प्रणाम, मूर्छा, सदश भावों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। **आलोलित** शिराभिनय की वह गति विशेष है जब उद्भ्रान्ति का भाव प्रदर्शित करने के लिए शिर को मण्डलाकार बनाकर चारों ओर घुमाया जाता है। इस प्रकार के आंगिक अभिनय का विनियोग उद्वेग, आवेश, मद, अट्टहास आदि के प्रदर्शन में किया जाता है। **ध्रुत शिर** शीश संचालन की वह क्रिया है जिसमें उसे बाईं ओर दाईं तरफ क्रम-क्रम से घुमाया जाता है। शिर की इस क्रिया का प्रयोग ‘यह नहीं है’ का भाव प्रकट करने के लिए, अथवा अनिच्छा व्यक्त करने, शराब पीने, युद्ध करने, पार्श्ववर्ती को ललकारने आदि भावों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। शिर को ऊपर-नीचे करने की क्रिया को **कम्पित शिर** कहते हैं। ‘अच्छा ठहर जा’ कहकर ललकारने का भाव प्रदर्शित करने के लिए इस शिराभिनय का प्रयोग होता है। आवाहन करने या ताड़ना देने के लिए भी कम्पित शिर का विनियोग करने की परिपाटी है। **परावत्त शिर** पराजित का भाव व्यक्त करने के लिए शिर झुकाने को कहते हैं। **उत्क्षिप्त शिर** शीश को अगल-बगल और ऊपर उठाने को कहते हैं। ‘लीजिए’, ‘आना चाहिए’ के अर्थ में तथा परिपोषण और स्वीकृति का भाव प्रकट करने के लिए उत्क्षिप्त शिर का प्रयोग

होता है। परिवाहित शिर में सिर को चंवर की भांति इधर-उधर हिलाया जाता है। मोह, विरह, सन्तोष, अनुमोदन और भयभीत होने के भावों को प्रकट करने के हेतु इनका विनियोग होता है। नृत्यकला से सम्बन्ध रखने वाली दृष्टि की भी कतिपय ऐसी मुद्राएँ हैं, जिन्हें आंगिक अभिनय में प्रयोग किया जाता है। दृष्टि-मुद्राओं के आठ रूप बताये गये हैं : समदृष्टि, आलोकित दृष्टि, साँची दृष्टि, प्रलोकित दृष्टि, मीलित दृष्टि, उल्लोकित दृष्टि, अनुवृत्ति दृष्टि और अवलोकित दृष्टि। आनन्दपूर्वक समभाव से अवलोकन करना सम दृष्टि है। किसी के बारे में चिन्ता करने, कोई निश्चय करने या आश्चर्य व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत दृष्टि-मुद्रा का अभिनय में विनियोग किया जाता है। आलोकित दृष्टि में शीघ्रता, भ्रमण और स्फुट निरीक्षण करने की क्रियात्मक प्रवृत्ति लक्षित होती है। कुम्हार का चक्र घूमने का भाव व्यक्त करने, याचना करने आदि के प्रसंग में इस दृष्टि-मुद्रा का प्रयोग करते हैं। अपने ही स्थान पर रहकर टेढ़े-मेढ़े कनखी मारने को **साँची दृष्टि** कहते हैं। इशारा करने, बाण का निशाना लगाने, कुछ स्मरण करने, अधखुली आँख से देखने को मीलित दृष्टि कहते हैं। विषपान, परवश, जप, ध्यान, नमस्कार, उन्माद और सूक्ष्म निरीक्षण का भाव प्रकट करने के लिए मीलित दृष्टि अपनाई जाती है। ऊपर की ओर देखने की क्रिया **उल्लोकित दृष्टि** है। फहराती हुई ध्वजा-पताका को देखने, विशाल देवालय के गोपुर को देखने, पुर्वजन्म का स्मरण करने, समुन्नत भाव प्रदर्शन आदि में **अनुवृत्ति दृष्टि** है। क्रोध में तथा प्रिया से सलाह करने का भाव प्रकट करने में **अनुवृत्ति दृष्टि** विनियुक्त होती है। नीचे की ओर देखने को **अवलोकित दृष्टि** कहते हैं। विचार-चिन्तन करने, अपने ही अंगों को देखने, अध्ययन-श्रम करने जैसे भावों का बोध कराने के लिए अवलोकित दृष्टि काम में लाई जाती है।

भाव-प्रदर्शन और वस्तु-संकेत के लिए हस्त-मुद्राओं की भी शास्त्रोक्त विधियाँ हैं, जो मूलतः तो नृत्यकला की ही विधियाँ हैं, परन्तु नाट्याभिनय में भी यथास्थान उनका विनियोग होता है। मोटे तौर पर हस्ताभिनय के दो भेद हैं (1) असंयुक्त, (2) संयुक्त। पुनः असंयुक्त हस्ताभिनय के कई रूप हैं, यथा पताकहस्त, त्रिपताकहस्त, अर्द्धपताकहस्त, कर्तरीमुखहस्त, मयूरहस्त, सूचीमुखहस्त, अराजलहस्त, शुकतुण्डहस्त, मुष्टिहस्त, सिंहमुखहस्त, कांमूलहस्त, अलपल्लवहस्त, चतुरहस्त, भ्रमरहस्त, हंसपक्षहस्त, मुकुलहस्त, ताम्रचूडहस्त, त्रिशूलहस्त, अर्द्धसूची हस्त, कटकामुखहस्त, पल्लिहस्त आदि।

अंगूठे के साथ फैली हुई, मिली हुई अंगुलियाँ कुछ झुका देने से पताकहस्त मुद्रा बनती है। पताकमुद्रा की अनामिका अंगुली को टेढ़ी कर देने पर त्रिपताक मुद्रा बनती है। अंगूठे के साथ फैली हुई अंगुलियों में से अनामिका और कनिष्ठा को टेढ़ी कर देने पर **अर्द्धपताक मुद्रा** बनती है। जब झुके हुए अंगूठे को फैली हुई अंगुलियों से मिला दिया जाये, तथा अनामिका अंगुली और कनिष्ठा अंगुली टेढ़ी कर दी जाये और फिर तर्जनी तथा कनिष्ठा अंगुलियों को बाहर की ओर फैला दिया जाये तो **कर्तरीमुखहस्त मुद्रा** बनती है। अनामिका अंगुली और अंगूठा एक दूसरे से जोड़ दिये जाएं तथा शेष अंगुलियाँ फैला दी जायें तो **मयूरहस्त मुद्रा** बनती है। पताकहस्त मुद्रा अर्थात् झुका हुआ अंगूठा जब फैली हुई अंगुलियों से मिलता हो तो उसमें से अंगूठे को भी फैला देने से **अर्द्धचन्द्रहस्त मुद्रा** बनती है। अंगूठे को झुकाकर अंगुलियों से मिलाकर तर्जनी और अनामिका को थोड़ी टेढ़ी कर देने से **शुकतुण्ड मुद्रा** बनती है। झुकी हुई अंगुलियों को हथेली से मिला दें और उनके ऊपर अंगूठे को चढ़ा दें तो **मुष्टिहस्त मुद्रा** बनती है। मुट्ठी बांधकर अंगूठे को ऊपर खड़ा कर देने से **शिखरहस्त मुद्रा** बनती है। मुट्ठी बांधकर अंगूठे को ऊपर उठा देने से **कटकामुखहस्त मुद्रा** रूप लेती है। मुट्ठी बांधकर केवल अंगूठे से सटी हुई तर्जनी अंगुली को ऊपर की ओर फैला देने से **सूचीहस्त मुद्रा** बनती है। मुट्ठी बांधकर अंगूठे से सटी हुई तर्जनी अंगुली से अंगूठे को बाहर कर देने से **चन्द्रकलाहस्त मुद्रा** बनती है। अलग विलग अंगुलियों को हथेली की ओर थोड़ा झुका देने से **पद्मकोशहस्त**

मुद्रा का संकेत प्रकट होता है। अंगूठे को झुकाकार अंगुलियों से मिला दें और फैली हुई अंगुलियों के आगे एक-एक पोर को थोड़ा झुका देने से **सर्पशीर्षहस्त मुद्रा** बनती है। कनिष्ठा और अंगूठा को फैलाकर शेष तीन अंगुलियों के अग्रभाग को जरा-सा झुका देने पर **म गशीर्षहस्त मुद्रा** का रूप प्रकट होता है। मध्यमा ओर अनामिका से अंगूठा मिला हुआ रहे और शेष सभी अंगुलियां फैली हुई हों तो **सिंहमुखहस्त मुद्रा** बनती है। कनिष्ठा आदि अंगुलियों को अलग करके टेढ़ी बना देने पर **अल्पपद्महस्त मुद्रा** प्रकट होती है। तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियां एक-दूसरे से सटी हुई हों, तथा कनिष्ठा उससे अलग फैली हुई हो और अंगूठा तर्जनी के मूल को स्पर्श करता हो तो **चतुरहस्त मुद्रा** बनती है। मध्यमा और अंगूठे का मेल हो, तर्जनी अंगुली कुछ टेढ़ी हो और शेष सभी अंगुलियां फैली हुई रहें तो **भ्रमरहस्त मुद्रा** प्रकट होती है। मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियां अलग-अलग फैली और तर्जनी के साथ अंगूठा मिला हुआ हो तो **हंसमुखहस्त मुद्रा** बनती है। हथेली और अंगुतलयां कुछ झुकी हुई हुई हों और बार-बार आपस में जुड़ें और अलग होती रहें तो **संदर्शहस्त मुद्रा** व्यक्त होती है। पांचों अंगुलियों को मिलाकर दिखाने पर **मुकुलहस्त मुद्रा** बनती है। अंगूठा और कनिष्ठा अंगुलियों को मोड़कर शेष तीनों अंगुलियों को फैला देने से **त्रिशूलहस्त मुद्रा** बनती है। अनामिका और अंगूठा दोनों को एक-दूसरे से सटा दिया जाये और तर्जनी के ऊपर मध्यमा को बढ़ा दिया जाये तो **पल्लिहस्त मुद्रा** बनती है।

इसी प्रकार अंजलिहस्त, कपोतहस्त, कर्कटहस्त, स्वस्तिहस्त, डोलाहस्त, पुष्पहस्त, उत्संगहस्त, शिवलिंगहस्त, शकटहस्त, शंखहस्त, चक्रहस्त, सम्पुटहस्त, पाशहस्त, कौलकहस्त, मत्स्यहस्त, कूर्महस्त, गरुडहस्त, नागबन्धाहस्त आदि संयुक्तहस्त की कतिपय मुद्राएं हैं-जिनका प्रयोग न त्य एवं नाट्यधर्मी अभिनयों में परिलक्षित होता है। दोनों हाथ के अंगूठे अनामिका की ओर झुके हुए हों और शेष सभी अंगुलियां सीधी रहें तो **अंजलिहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथ मूल भाग से लेकर अग्रभाग और पाश्वर्क से जोड़ दिये जाएं तो **कपोतहस्त मुद्रा** प्रकट होती है। दोनों हाथ के अंगूठों का मोड़कर तर्जनी अंगुलियों से सटा दिया जाए तथा सभी अंगुलियां फैली रहें और फिर दोनों हाथों को जांघों में रख देने से **डोलाहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथों के अंगूठों को कुछ झुकाकार तर्जनी अंगुलियों से मिला दिया जाय और फैली हुई सभी अंगुलियों से मिला दिया जाए और दोनों हाथ आपस में मिले रहें तो **पुष्पहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथ की कनिष्ठा और अंगूठा को फैला दिया जाए, शेष सभी अंगुलियां थोड़ी-थोड़ी झुकी रहें और उन्हें एक-दूसरे की भुजाओं में रखा जाए तो वह **उत्संगहस्त मुद्रा** कहलाती है। दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर अंगूठे को ऊपर उठा दिया जाए और बाएं हाथ को अर्द्धचन्द्राकार बनाकर उसके ऊपर रख देने से **शिवलिंगहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथ के अंगूठे मध्यमा अंगुलियों से मिला दिये जाएं, इसके बाद मध्यमा और अंगूठे को फैला दिया जाए तो शकटहस्त मुद्रा बनती है। एक हाथ की मुट्ठी बांधकर अंगूठा को ऊपर उठा दिया जाए और दूसरे हाथ के अंगूठे से उसे मिला दिया जाए तथा तर्जनी को भी मिला देने से **शंखहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों को अर्द्धचन्द्राकार बनाकर फिर उन्हें कुछ तिरछा कर परस्पर हथेलियों से स्पर्श कराने से **चक्रहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथ की अंगुलियों को मोड़ देने से **सम्पुटहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथों की मुट्ठियां बनाकर दोनों तर्जनी अंगुलियों को उठाकर कुछ झुकाकर आपस में सटा देने से **पाशहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर उनके अग्रभाग को यत्किंचित मोड़ दिया जाए, अंगूठे को फैला दिया जाए और कनिष्ठा को झुका दिया जाए तो **कौलकहस्त मुद्रा** बनती है। एक हाथ के ऊपर दूसरे हाथ की हथेली रखकर अंगूठा और कनिष्ठा को थोड़ा फैला देने से **मत्स्यहस्त मुद्रा** बनती है। दोनों हाथों का अग्रभाग जरा-सा झुका दिया जाए और शेष अंगुलियों को फैलाकर उनके अग्रभाग को थोड़ा-सा झुकाया जाय और फिर दोनों कलाईयों को जोड़ दिया जाय तो **नागबन्धहस्त मुद्रा** बनती है। इसी प्रकार

देव शक्तियों तथा अवतारों को इंगित करने वाली भी अनेक हस्त-मुद्राएं हैं। यथा-ब्रह्महस्त, ईश्वरहस्त, विष्णुहस्त, सरस्वतीहस्त, पार्वतीहस्त, विनायकहस्त, षण्मुखहस्त, मन्मथहस्त, इन्द्रहस्त, अग्निहस्त, यमहस्त, वरुणहस्त, वायुहस्त, कुबेरहस्त, वराहावतारहस्त, सिंहावतारहस्त, वामनावतारहस्त, परशुरामहस्त, रामचन्द्रहस्त, बलरामहस्त, कृष्णहस्त आदि। इसी प्रकार जातिसूचक विभिन्न मुद्राओं का भी 'नाट्यशास्त्र' तथा आचार्य नन्दिकेश्वर के 'अभिनय दर्पण' में विस्तार से विवेचन किया गया है। इस प्रकार हस्ताभिनय की ऐसी शास्त्रोक्त पद्धतियां हैं जिनके विनियोग से विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म भावों और प्राकृतिक तथा मानवीय नाना व्यापारों को सांकेतिक रूप में व्यक्त किया जा सकता है। नाट्यधर्मी अभिनयों का रहस्य समझने के लिए इन्हें जानना आवश्यक है। आज वैज्ञानिक साधनों के सुलभ होने के कारण जो दृश्य रंगदीपन और गगनिका आदि के सहारे प्रत्यक्ष दिखलाये जा सकते हैं, उन्हें प्राचीन रंगमंच पर उक्त मुद्राओं के द्वारा दिखलाया जा सकता था। वे नाट्यधर्मी प्रयोग के रूप थे। इस प्रकार प्राचीन रंगमंच के प्रेक्षक को कैशिकी शोभापरक तथा अंशोपजीवनी भेदों के अन्तर्गत आने वाली शास्त्रोक्त अनेकानेक मुद्राओं या नाट्यधर्मी अभिनय संकेतों का ध्यान आवश्यक था, नहीं तो वह अभिनय का रसास्वादन नहीं कर सकता था।

आंगिक अभिनय के प्रसंग में ही उत्प्लवनों (उछलने), भ्रमरियों तथा चारियों आदि पाद-आश्रयी मुद्राओं एवं क्रियाओं का भी उल्लेख होता है। उत्प्लवन पांच प्रकार के हैं-अलगोत्प्लवन, उत्प्लवनकर्तरी, उश्वोत्प्लवन, मोहित-उत्प्लवन और कृपालगउत्प्लवन। इसी प्रकार उत्प्लुतभ्रमरी, चक्रभ्रमरी गरुडभ्रमरी, एकापादभ्रमरी, कुंचितभ्रमरी, आकाशभ्रमरी, अंगभ्रमरी आदि सात प्रकार की भ्रमरियां हैं। भरत आदि नाट्याचार्यों ने आठ प्रकार के चारी बतलाये हैं; यथा : चलनचारी, चक्रमणचारी, सरणचारी, वेगिनीचारी, कुट्टनचारी, लुण्ठितचारी, लोलितचारी आदि। इसी प्रकार नृत्य की दस गतियों - हंसी, मयूरी, म गी, गजलीला, तुरंगिणी, भुजंगी, मण्डूकी, वीरा और मानवी आदि हैं, जिनका प्राचीन रंगमंच पर आंगिक अभिनय के रूप में प्रयोग किया जाता था। निष्कर्ष यह है कि आंगिक अभिनय के अन्तर्गत अंग-उपांगों और प्रत्यंगों के विविध रूपों से सम्बन्धित शास्त्रोक्त प्रयोगों (नाट्यधर्मी) की व्यापक भूमिका सलग्न रहती है। भरत तथा भारतीय परम्परा के दूसरे नाट्याचार्यों ने इनकी विस्तृत विवेचना की है।

चारी (पाद-प्रचार या चलना)

भरत ने नाट्य-कला और नृत्य कला ही के लिए चारी के महत्त्व का समान प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि नाट्य की स्थिति तो चारी में ही होती है। चारी के बिना शिर अथवा हस्तादि की क्रियाएं भी संचालित नहीं होती हैं। कुछ का संचालन तो चारी के साथ ही होता है और कुछ की गति पूर्वापर भाव से प्रेरित होकर संभव होती है। वस्तुतः कटि, पार्श्व, ऊरु, जांघ तथा पाद षरा होने वाले अभिनयों का समीकरण ही चारी है। इन सबसे होने वाली चेष्टाएं चारी द्वारा व्याप्त रहती हैं। चारियों द्वारा ही शस्त्र-मोक्ष घटित होता है। इसलिए नाट्य में चारी का अभिनय के प्रसंग में बहुत महत्त्व है।

नाट्य एवं नृत्य दोनों में ही पाद-प्रचार और हस्त-प्रचार का प्रयोग बतलाया गया है। इन दोनों प्रकार के प्रचारों के समंजन और पारस्परिक अनुवर्तिता के सम्बन्ध में भरत ने बहुत विचार किया है। नाट्य और नृत्य में प्रयुक्त पाद-संचार और हस्त-प्रचार के समन्वित प्रयोग द्वारा दृश्य-सौष्ठव उपस्थित करने के लिए भरत ने इनके विनियोग के बारे में कुछ सर्वसामान्य नियम बतलाये हैं। उनमें से एक तो यह है कि जिस दिशा में पाद-प्रचार हो उसी दिशा में हस्त-प्रचार होना भी विहित है। पद-संचार का जैसा रूप होता है, उसी के अनुवर्तन पर मुखराग, नेत्र और भौहों का भी संचार होता है। इसीलिए आंगिक अभिनय में चारी की केन्द्रीय स्थिति है। यद्यपि आधुनिक रंगमंचीय परिप्रेक्ष्य में नाट्यधर्मी परम्परा के सांकेतिक वाक्यों, लीला-अंगहारों,

नाट्य में प्रचलित जनांतिक, स्वगत, आकाश-वचन आदि रूढ़ियों, शैल, यान, विमान, प्रासाद, दुर्ग नदी एवं समुद्र आदि को सूचित करने वाली पुस्त और प्रतिसर निर्माण की पद्धतियों, रंगमंच पर अस्त्र-शस्त्रों तथा अमूर्त भावों का संकेत करने वाली नाट्यधर्मी विनियोगों का आज इतना महत्त्व नहीं रह गया है, तथापि हिन्दी नाट्य-स जन में परम्पराशील भारतीय नाट्य-प्रयोग की विधियों एवं अभिनय प्रणालियों का जाने-अनजाने प्रयोग हुआ ही है। हिन्दी रंगमंच के निर्माण के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद का तो यह निश्चित मत है कि "अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार के नाट्यधर्मी अभिनय को भी दश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संग हीत रहना चाहिए। पश्चिम ने अपना सब कुछ छोड़कर नये को नहीं पाया है।" इसीलिए आज राष्ट्रीय रंगमंच के अन्वेषण के सन्दर्भ में पश्चिम के रंगमंच को वैज्ञानिक उपलब्धियों के विवियोग के साथ-साथ परम्पराशील नाट्य-प्रयोग से लक्षित अभिनयात्मक रीतियों और द श्यबन्धों को संयोजित करने की बात उठाई जाने लगी है। जगदीशचन्द्र माथुर और नेमिचन्द्र जैन आदि के नाट्यालोचनों के प्रसंग में मैंने इन बात को कुछ विस्तार से दिखलाया है।

वाचिक अभिनय

भरत ने अभिनय को नाट्य का शरीर कहकर अभिहित किया है। नाट्य में प्रयुक्त कायिक, आहार्य और सात्त्विक आदि अभिनय के विभिन्न रूप वस्तुतः अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। नाटक के शब्द के प्रयोग को वाचिक अभिनय की संज्ञा दी गई है। स्पष्ट है कि नाटक के कथोपकथन में, शब्दों को प्रयुक्त करते हुए नाटककार को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उच्चारण में अपेक्षित आरोहावरोहमूलक गति संभव हो सके, वचन के अभिनय में श्रुतिमाधुर्य और नाटकीय गतिशीलता आ सके, इसके लिए भरत ने नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, विभक्ति, संधि को ठीक ढंग से प्रयुक्त करने पर बल दिया गया है। उचित स्थल पर काकु और गति देकर बोलने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। छन्दों को उचित ढंग से पढ़ना, शब्दों के प्रत्येक स्वर, व्यंजन का उचित ढंग से उच्चारण करना आदि वाचिक अभिनय की प्रधान आवश्यकताएं हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में इन प्रयोगों की रीतियों, गुणों और दोषों की विस्तार से चर्चा की गई है। क्योंकि भरतकालीन नाटकों में पद्मभाग की ही प्रधानता थी, अतः भाषा के व्याकरण ज्ञान और उच्चारण सौष्ठव पर विशेष बल दिया जाता था। वाचिक अभिनय के लिए नाटकीय रचना में भरत ने छत्तीस लक्षणों का उल्लेख किया है यथा, भूषण, अक्षरसंघात, शोभा, उदाहरण हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्त, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि विशेषण, गुणानिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, द्रष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला दाक्षिण्य, गहण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, संक्षेप, गुणकीर्तन, सिद्धि, प्रियोक्ति आदि।

वाचिक अभिनय के प्रसंग में भरत ने नाटकीय गुण-दोषों की भी विवेचना की है। श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदात्त, कान्ति आदि नाटकीय गुण हैं। गूढार्थ, अर्थान्तर, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषय, विसन्धि आदि नाटकीय दोष हैं। इसी प्रकार रसों के विशेष सन्दर्भों में विविध छन्दों और अलंकारों के प्रयोग का भी वाचिक अभिनय के प्रकरण में निरूपण किया गया है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित आदि नाट्योपयोगी वर्णों का उल्लेख किया गया है। नाट्योपयोगी पाठ्य के लिए उच्च, दीप्ति, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित प्रभृति अलंकारों की चर्चा है। वाचिक अभिनय के प्रसंग में इन सभी तत्त्वों का विचार प्रेक्षागृह में बैठे दर्शक-समाज और प्रेक्षागृह के आकार-प्रकार को दृष्टि में रखकर किया गया है।

सात्त्विक अभिनय

भारतीय नाट्य रसाश्रयी है। रस सत्त्वोद्रेक का परिणाम है। अतः सात्त्विक मन पर पड़े शोक हर्ष आदि के प्रभाव से प्रकट होने वाले अश्रु आदि अनुभावों का अभिनय ही नाटक में सात्त्विक अभिनय कहलाता है। सत्त्व मन रज और तम गुणों से अस्पष्ट होता है—“रजस्तमोभ्या मस्य ष्टं मनः सत्त्वम्।” ये सात्त्विक भाव आठ माने गये हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु, वैस्वर्य आदि। इन आठों भावों से युक्त अभिनय ही है। इसी अभिनय के अभ्यास में उसे सबसे अधिक पसीना छूटता है। अभिनय में विद्यमान तत्त्व के आधिक्य अथवा न्यूनता से ही नाटक का श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ होने की पहचान होती है। सात्त्विक अभिनय में क्रोध, स्नेह, रोमांच, अश्रु आदि का यथारथान और यथारस प्रयोग किया जाता है।

आहार्य-अभिनय

केवल वाणी और शरीर की क्रियाएँ ही अभिनय का सर्वस्व नहीं है। वस्त्रालंकारों की उपयुक्त सजावट को भी अभिनय का ही अंग माना जाता है। इसे आहार्य अभिनय की संज्ञा दी जाती है। नाटक के प्रस्तुतीकरण में आहार्य अभिनय के चार रूप दृष्टिगोचर होते हैं—पुस्त, अलंकार, अंगरचना और संजीव। प्राचीन काल में पहाड़, रथ, विमान को दिखलाने के लिए तीन प्रकार के पुस्त काम में लाए जाते थे, जो बांस या लकड़ी पर कपड़ा चढ़ाकर बनाए जाते थे, अथवा यंत्रों की सहायता से या फिर अभिनेता की ऐसी चेष्टाओं द्वारा दिखलाये जाते थे, जिससे प्रेक्षक को वास्तविकता का बोध हो सके। इस प्रकार के पुस्त क्रमशः संधिम, व्याजिम और वेष्टित कहे जाते थे।

आहार्य अभिनय में पात्र के योग्य वेष-भूषादि को ग्रहण किया जाता है। इससे पात्रों की अवस्थाओं के बाह्य रूप का अनुकरण संभव होता है। इससे रस-परिपाक के लिए सामाजिक के हृदय में आलंबन का सही रूप खिंच जाता है।

आहार्य अभिनय की तैयारी के फलस्वरूप ही भरत ने रंग-विधान में नेपथ्य की कल्पना की है। नेपथ्य में ‘सूचिका’ और ‘सूचीग ह’ होते हैं। एक भाग में अभिनय की भूमिका में उतरने वाले पुरुष अभिनेता अपने मुखादि पर चरित्रानुरूप नीले, पीले, लाल, काले रंग या चन्दन-लेप आदि लगाते या वस्त्राभरण, मुकुट, मुखौटे आदि धारण करते हैं और दूसरे भाग में अभिनय की भूमिका में उतरने वाली स्त्रियां अंगरागादि लगाती हैं, केश-विन्यास करती हैं और वस्त्राभरण पहनती हैं।

आहार्य अभिनय का प्रयोजन रंगाभिव्यक्ति में दृश्यगत अभिरम्यता उत्पन्न करना, प्रसंगानुकूल वातावरण का सज्जन करते हुए अर्थ-ग्रहण को सुकर बनाना तथा अनुकार्य की चारित्रिक गुण या वैशिष्ट्य के सानुरूप बाह्य वेष-भूषा को दिखलाते हुए, रंगमंच पर उपस्थित पात्रों को अपनी-अपनी निजी इकाई देना है। इन्हीं तत्त्वों की उपलब्धि के लिए पुष्पमालाएं पहनने, आभूषणों से सुसज्जित होने, अस्त्र-शास्त्रादि धारण करने, मुकुट या मुखौटे लगाने, अंगरचना करने, वेश-धारण करने, ‘पुस्त’ के निर्माण आदि का महत्त्व होता है। प्राचीन भारतीय, विशेषकर भरतकालीन रंगमंचीय दृश्यबन्ध जितना प्रसाधनयुक्त होता था, उतनी आज के यथार्थपरक रंगमंच की दृश्यसज्जा तो नहीं होती, परन्तु दृश्यबन्ध तथा दृश्यसज्जा रंगमंच का एक शाश्वत तत्त्व है और आज भी युगानुरूप प्रस्तुतीकरण में उनकी कुशल योजना जरूरी समझी जाती है। दृश्यबन्धों या आहार्य अभिनय के विविध विन्यासों में किसी प्रकार का असामंजस्य आने पर अर्थसंप्रेषण अनिवार्यतः खण्डित हो जाता है। इसलिए आहार्य अभिनय को सार्थक रूप देने वाले रंगशिल्पियों का भी नाट्य में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बड़ई, चित्रकार, अंगविन्यास करने वाले कलाविद्, रंगदीपक आदि सभी रंगशिल्पी किसी न किसी प्रकार नाटक के प्रस्तुतीकरण

को प्रभविष्णु बनाने में योग देते हैं और इन सभी के अलग-अलग कर्मों को समन्वित कर नाटककार के अभिप्रेत को प्रकट करने का दायित्व निर्देशक पर होता है।

निर्देशक

निर्देशक नाटक के प्रस्तुतीकरण की संयोजना करने वाला प्रमुख रंगकर्मी है। नाटककार जिस नाटक को शब्दों में आकार देता है, निर्देशक उसी का रंगमंचीय आलेख तैयार करता है। प्रस्तुतीकरण के लिए चुने गये नाटक की एक रंगलिपि या रंगावृत्ति तैयार करना निर्देशक का प्राथमिक कार्य है। इसके लिए पहले वह उस रंगभूमि का निरीक्षण करता है, जहां नाटक को प्रदर्शित करना है। पुनः वह नाटक का गंभीर अध्ययन करता है और रंगभूमि के परिप्रेक्ष्य में नाटक शब्द-सृष्टि के भीतर संकेतित दृश्यबन्ध, रंगसज्जा, ध्वनि-प्रभाव आदि रंगशिल्प के तत्त्वों का सन्धान करता है। आवश्यकतानुसार वह नाटककार द्वारा इंगित दृश्यबन्ध आदि के रूपों से भिन्न कुछ नये रूपों की भी योजना कर लेता है। इस सम्बन्ध में वह एक ही अंकुश को प्रमुख रूप से मानता है और वह यह है कि नाट्यार्थ को दर्शक के समक्ष प्रभावशाली रूप में प्रकट कर सका है या नहीं। रंगशिल्प के बारे में नाटककार जो रंग-संकेत देता है उसका अन्धानुकरण करना तो उसे अभीष्ट नहीं है, परन्तु वह नाटक के निजि ढांचे (फ्रेमवर्ग) से हटाकर रंग-विधान की कल्पना नहीं करता है। वह प्रयोग की दृष्टि से इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार करता है कि किस प्रकार के दृश्यबन्ध, दृश्यसज्जा तथा ध्वनि तथा वातावरणमूलक प्रभाव-सृष्टि आदि के द्वारा नाटक की मूलभूत रंग-चेतना और अर्थवत्ता को विवृत कर सकता है। नाटक की राह से गुजरता हुआ वह इनके सम्बन्ध में टिप्पणियां लिखता है या डिजाइन (नक्शा) बनाता है। इस प्रकार वह नाटक के दृश्यमूलक आयाम को रूप या आकार देता है।

निर्देशक नाटककार के कृतित्व का रंगदृष्टि से संपादन करता है। प्राचीन नाटकों को प्रस्तुत करते समय ऐसे संपादन की बहुत जरूरत पड़ती है। जिस नाटककार का रंगमंच से सीधा सम्बन्ध जितना कम होता है, उसके नाटक को प्रस्तुत करते समय निर्देशक को प्रायः उतना ही अधिक संपादन का भार उठाना पड़ता है। निर्देशक कभी-कभी आवश्यकतानुसार कथोपकथनों के अतिरिक्त विस्तार को भी काट-छांट कर संक्षिप्त कर देता है। परन्तु वह उसे बदल नहीं सकता है, न ही अपनी ओर से कुछ जोड़ सकता है जिसके कारण नाटक का कथ्य विकृत हो जाये। नाटकों में जो कथन ऐसे होते हैं जिनसे दर्शक की भावना को ठेस लग सकती है, या जिनको ज्यों-का-त्यों उच्चारित करने में अभिनेता के अभिनयात्मक प्रवाह में बाधा पहुंचती है, उन्हें रंग-प्रभाव की दृष्टि से निर्देशक सुधार भी सकता है। इस अर्थ में वह नाटक का सम्पादन करता है। नाटक की रंगावृत्ति या रंगलिपि तैयार करने में निर्देशक कितना सफल रहा है, उसकी एक कसौटी यही है कि दर्शक को नाटक का प्रदर्शन कितना स्वाभाविक तथा आयासहीन प्रक्रियामूलक प्रतिभासित हुआ है। दृश्यबन्ध, रंगसज्जा या प्रभाव-योजना के किसी अनमेल या अनगढ़ रूप के कारण उसके रसास्वादन या अर्थ-ग्रहण में खलल तो नहीं पड़ा है। इसी दृष्टि से निर्देशक नाटक के पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) के दौरान अपनी रंगलिपि (स्क्रिप्ट) को सुधारता-संवारता हुआ एक अन्तिम रूप देता है। निर्देशक इस प्रकार प्रस्तुति के लिए नाटक की जो रंगावृत्ति संपादित करता है, उसके माध्यक से ही हमें नाटक का सर्वांगीण साक्षात्कार होता है। अतः प्रस्तुतीकरण नाट्य-समीक्षा का एक बहुत संगत सन्दर्भ है। नाट्य-सौन्दर्य की पूरी विवृति नाटक की प्रस्तुति में ही संभव है। केवल शब्द-सृष्टि के आधार पर नाटक की समीक्षा करना नाट्य-आलोचना का सही परिप्रेष्य नहीं है।

प्रस्तुतीकरण के लिए नाटक की सफल रंगलिपि (स्क्रिप्ट) तैयार करने के अतिरिक्त भी निर्देशक को बहुत-से दूसरे कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। वह रंगमंच पर अभिनय संपादित करने के सम्बन्ध में अभिनेताओं को निर्देश देता है तथा विभिन्न अभिनेताओं के अभिनयों को एकसूत्रता

या कलात्मक अन्विति प्रदान करता है। निर्देशक के ऊपर ही किसी पात्र की अभिव्यक्ति अथवा किसी दृश्य की गति एवं स्वरूप के विषय में निर्णय देने का दायित्व होता है। निर्देशक का एक काम कलाकारों को पार्ट बांटना भी है। तदनन्तर वह पूर्वाभ्यासों (रिसर्शल) को संचालित करने की जिम्मेदारी भी निभाता है। प्रस्तोता से सहायता मिल भी जाय तो भी रंगमंच को सुघड़ रूप देने के लिए वह पूर्वाभ्यासों का निरीक्षण करता है। वह रंगमंच अभिनेताओं के प्रवेश-प्रस्थान, समूहीकरण आदि का नियंत्रण करता है तथा अभिनेता की भाषण-कला अर्थात् स्वर के उतार-चढ़ाव, प्रवाह, बुलन्दी तथा भाव-प्रकाशन के समय चेहरे के आनुभाविक परिवर्तनों का नियंत्रण करता है। निर्देशक ही पात्रों की गति अर्थात् उसके पदादि-प्रचार का संचालन तथा अभिनेताओं के समूहीकरण की योजना करके रंगशिल्प को प्रभावशाली एवं अर्थवान रूप देता है।

अभिनेताओं के अतिरिक्त रंगमंच के विविध अन्य रंगकर्मी को भी संयोजित करता है। उसे ही विभिन्न रंगकर्मियों को एक अर्थवान अनुशासन में रखने का कार्यभार उठाना पड़ता है। रंगकर्मियों में प्रायः अपनी कला के प्रदर्शन का अतिरिक्त उत्साह हुआ करता है। उन्हें अनुशासन में रखने के लिए निर्देशक को बहुत विनय और धैर्य से काम लेना चाहिए। यदि यह अनुशासन नहीं लाया जा सकता तो रंगकर्मियों की 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' की क्या परिणति होगी, यह सहज ही अनुमेय है। प्रस्तुतीकरण में सामंजस्यमूलक कलात्मक सौन्दर्य का विकास तभी संभव होता है जब निर्देशक अपने स्नेह-सौहार्द्र और साधना से अभिनेताओं और परोक्ष रूप से काम करने वाले बर्द्ध, रंगदीपक, कुली आदि दूसरे रंगशिल्पियों के कार्यों को एक कलात्मक इकाई में संग्रथित कर देता है। निर्देशक में सभी रंगकर्मियों की भावना समझने की सहानुभूति होनी चाहिए। उसे कोई ऐसा काम या व्यवहार नहीं करना चाहिए जिसे अपनी भूमिका निभाने के बारे में अभिनेता में किसी तरह का भय, सन्देह या आशंका पैदा हो। अभिनेता को भी जिज्ञासु होना चाहिए और निर्देशक की राय का आदर करना चाहिए।

रंग-प्रयोग में प्रायः यह देखा जाता है कि एक कुशल निर्देशक एक दुर्बल नाटक की प्रस्तुति को भी प्रभावशाली बना देता है, जबकि एक अकुशल निर्देशक एक प्राणवान नाटक को भी प्रस्तुत करते हुए उसे प्रभावात्मक नहीं बना पाता है। निर्देशन-कार्य निश्चय ही एक जटिल कार्य है और उसके लिए गहरी साधना करनी पड़ती है, निर्देशक को साहित्य, संगीत, नृत्य, वास्तुकला आदि विविध कलाओं के मर्म से अवगत होना चाहिए। उसे रंगमंच के सभी उपकरणों और प्रयोगविधियों को भलीभांति समझना चाहिए। नये-से-नये रंग-प्रयोगों की उपयोगिता पर पुराने-से-पुराने नाटकों को प्रस्तुत करते समय भी विचार करना चाहिए। हो सकता है कि रंग-प्रयोग की कोई नवीनतक शिल्पगत उपलब्धि किसी पुराने नाटक की प्रस्तुति को जीवन्त बनाने में उपयोगी सिद्ध हो सके। इसी प्रकार प्राचीन रंग-प्रयोगों का कोई रूप नए यथार्थ को प्रकट करने में अत्याधुनिक रंग-प्रयोगों से कहीं अधिक समर्थ बन सकता है। इन सबके प्रति निर्देशक में विवेक-दृष्टि होनी चाहिए।

नाटक लिखते समय नाटककार ने कौन-सी रंग-प्रणाली ग्रहण की है, निर्देशक को इसे पहचानने में समर्थ होना चाहिए; तभी वह नाटक के प्रस्तुतीकरण के साथ त्याग कर सकता है, अन्यथा नहीं। नाट्य-संजन में निहित रंगमंच के सूत्रों को पहचानकर ही निर्देशक नाटक की प्रस्तुति को संजन के सम्पूर्ण परिवेश से संयुक्त कर सकता है। नाट्य-प्रदर्शन में निर्देशक की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखकर ही स्तांस्लावस्की ने प्रसिद्ध निर्देशक वाख्तानगोव के विषय में एक बार कहा था कि मेरी प्रणाली की शिक्षा देने में वाख्तानगोव मुझ से भी अधिक पटु है। निर्देशक नाटक की प्रस्तुति के लिए अपेक्षित रंगमंच के विभिन्न अवयवों का संघटक ही नहीं है, वह सहृदय रूप से नाटक के आवेदन की अनुभूति भी करता है। इसीलिए वह प्रस्तुतीकरण

जीवन्त बना सकता है। उसके कार्य का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है। अभिनेतागण और उनके अभिनय, रंगसज्जाकारों और उनकी रचना, रंगदीपनकार और उसकी प्रकाश-योजना, ध्वनि-प्रभाव-व्यंजक यंत्रों के प्रयोग, पात्रों के समूहीकरण और प्रवेश-प्रस्थान आदि सभी के बीच उसे संतुलन बनाए रखने का दायित्व निभाना पड़ता है। निर्देशक की जरा-सी चूक या थोड़े-से प्रमाद से प्रस्तुति का सौन्दर्य स्खलित हो सकता है। अतः निर्देशक को पूरी सतर्कता और जिम्मेदारी से अपने काम में संलग्न होना अपेक्षित है, हिन्दी में क्योंकि रंगमंच का बहुत विकास नहीं हुआ था, अतः कुशल निर्देशक भी बहुत कम थे। अब इस अभाव की धीरे-धीरे पूर्ति हो चली है।

निर्देशक, प्रस्तोता तथा अभिनेता प्रभृति रंगकर्मियों से अलग दृश्यबन्ध, रंग-सज्जा, रंगदीपन, ध्वनि-प्रभाव तथा गगनिका आदि रंगशिल्प के आधारभूत तत्त्व हैं। प्रत्येक तत्त्व की अपनी अलग कलात्मक अस्मिता है। उनकी कला का विस्तृत विवेचन तो एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, परन्तु रंग-विधान को समझने के लिए उनका परिचय होना आवश्यक है।

भरत ने नाट्य-प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ गहराई से विचार किया था, परन्तु दशरूपकार आदि परवर्ती नाट्य-चिन्तकों ने नाटक के प्रस्तुतीकरण या रंग-प्रयोग के बारे में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक चिन्तन नहीं किया। भरत ने नाट्यमण्डप, यवनिका, दृश्य-योहना, पूर्वरंग तथा पुस्त और प्रतिशर निर्माण सदृश रंग-सज्जाओं का निरूपण किया है। उसके अध्ययन से हमें भारतीय रंग-प्रयोग की विशेषताओं का पता लग जाता है। भरत ने 'नेपथ्य' के अन्तर्गत पुस्त, प्रतिशर (मुखौटे) निर्माण का उल्लेख किया है। उन्हें प्रायः आहार्य अभिनय में ही परिगणित कर लिया जाता है, परन्तु वस्तुतः वे रंगसज्जा के ही रूप हैं। पाश्चात्य नाट्याचार्य अरस्तू ने भी नाटक के तत्त्वों में दृश्यसज्जा को अन्तिम तत्त्व के रूप में माना है। इस प्रकार रंगसज्जा नाट्य-कला का एक अभिन्न अंग है। आधुनिक नाटकों में तो दृश्यबन्ध और दृश्यसज्जा के लम्बे-चौड़े संकेत दिये जाते हैं। रंगसज्जा द्वारा नाट्य-प्रदर्शन में उपयुक्त वातावरण या संवेदनात्मक परिवेश की सृष्टि की जाती है। इस तत्त्व की विद्यमानता के प्रदर्शन में केवल दृश्य-सौष्ठव सुलभ होता है, अपितु दर्शक पर नाट्यानुभूति का प्रभाव भी निविड़ होकर पड़ता है।

आधुनिक रंगमंच पर तीन प्रकार की रंगसज्जाओं का उपयोग परिलक्षित है—(१) चित्रांकित रंगसज्जा, (२) प्रकृतिवादी रंगसज्जा, (३) प्रतीक रंगसज्जा। चित्रांकित रंगसज्जा में रंगे हुए परदों और पार्श्वों के प्रयोग की प्रवृत्ति होती है। प्रकृतिवादी रंगसज्जा में तथ्य को यथातथ्य रूप में उतारने का लक्ष्य रहता है। इसके लिए सन्दूकिया (बाक्स सेटिंग) दृश्यबन्ध का प्रयोग होता है। इससे ड्राइंगरूम, होटल, मन्दिर, गांव, झोपड़ी आदि के यथार्थ रूप दिखलाये जाते हैं। प्रतीक रंगसज्जा में मन्दिर, वन, राजपथ, उपवन आदि का यथातथ्य रूप में रखने की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु दफ्ती या प्लाई लकड़ी पर इनका रंगा हुआ चित्र यथास्थान दिखला दिया जाता है। इसमें पूरे गांव के दृश्य की व्यंजना करने के लिए वक्ष के नीचे एक झोपड़ी जैसे प्रतीक को काम में लाया जाता है। आज के रंगमंच पर प्रतीक रंगसज्जा का प्रचलन अधिक देखने को मिलता है। इस रंगसज्जा में दर्शक की कल्पनाशीलता के विनियोग से प्रदर्शन में अधिक मार्मिकता आ जाती है।

रंगदीपन

प्राचीन काल में नाटक दिन या रात किसी भी समय खेले जा सकते थे। भरत ने केवल प्रातःकाल, मध्याह्न, संध्या-समय और अर्द्धरात्रि में नाट्य-प्रदर्शन का निषेध किया है। भोजन-काल में भी नाटक खेलना वर्जित था। सूर्यास्त के बाद सम्पन्न होने वाले प्रदर्शनों में दीपकों का प्रयोग होता था। कदाचित् मशाल से भी काम लिया जाता था, ऐसा कुछ समीक्षकों का अनुमान है। परन्तु प्राचीन रंगमंच पर रंगदीपन की क्रिया रंगमंच का उतना अभिन्न अंग नहीं थी, जितनी

आज है।

विद्युत प्रकाश ने आधुनिक रंगमंच पर रंगदीपन की व्यवस्था को सर्वथा एक नया रूप दिया है। आज रंगदीप से असंयुक्त रंगमंच या पात्रों की गति की कल्पना नहीं की जा सकती है। विद्युतीय रंगदीपन के परिणामस्वरूप ही आज के रंगमंच पर गगनिका का नया आयाम जुड़ा है, जिसके कारण सम्प्रति रंगमंच पर देश-कालगत बहुत विस्तार हुआ है। गगनिका की सहायता से आज रंगमंच पर नदी, नौकाविहार, सूर्योदय, सूर्यास्त, मेघाच्छादन, वर्षा आदि के दृश्य दिखलाये जा सकते हैं।

रंगदीपन के लिए आज कई प्रकार के यांत्रिक विद्युत उपकरण काम में लाये जाते हैं। रिफ्लेक्टर संघत उपकरण (मैगेजीन उपकरण) आदि वैज्ञानिक दीप्ति-उपकरणों से मंच पर प्रकाश-प्रक्षेपण या आलोक-वितरण के कई रूप सुलभ हैं। यथा तल-प्रकाश (फुट लाइट), भास्वर प्रकाश (फ्लड लाइट), कोमल आलोक प्रधान बिन्दु प्रकाश, आदि। अनेक कोणों से विकीर्ण किये जाने वाले इन विभिन्न रंगदीपनों से आज रंगमंच पर दृश्यमूलक कई नये प्रभावों की सृष्टि सुलभ हुई है। पहले रंगमंच पर पात्रों के समूहन और प्रवेश-प्रस्थान की व्यवस्था करने के लिए तथा प्रमुख और गौण पात्रों का आभास दिलाने के लिए निर्देशक को मंच के केन्द्रीय और पार्श्व भागों में खड़ा करने की आवश्यकता पड़ती थी। आज पात्रों के ऊपर प्रकाश विकीर्ण करते हुए या उनके ऊपर से प्रकाश हटाकर, उनकी भूमिका के महत्त्व और दशा को दर्शाया जा सकता है। आज दृश्य-परिवर्तन भी प्रकाश बुझाकर किया जाता है। इस प्रकार रंगदीपन ने आज रंगशिल्प को कई दृष्टियों से प्रभावित किया है।

इस प्रकार नाटक में जहाँ दृश्य संदर्भों का सुन्दर समायोजन होता है, वहीं श्रव्य का आकर्षक रूप होता है।

नाट्य-भेद

भारतीय रूपक-उपरूपकों के भेद

(क) प्रधान रूपक

नाट्यरचना की सफलता-असफलता के सर्वोत्कृष्ट निर्णायक परिशीलक ही होते हैं। कालिदास ने ठीक ही कहा है कि “जब तक विद्वानों को परितोष न हो मैं प्रयोग-विज्ञान को अच्छा नहीं मानता। शिक्षितों का चित्त कितना ही बलवान् क्यों न हो, किन्तु अपने में उसे विश्वास नहीं होता।” परिशीलकों का परितोष निस्सन्देह प्राक्तन सफलताओं का मापदण्ड होता है। अतः किसी कलाकार या कवि को लोकरुचि का परिज्ञान होना नितान्त अपेक्षित है। लोकरुचि का निर्माण अभ्यास का मुखापेक्षी रहा करता है। लोक जिस प्रकार की रचनाओं और कृतियों का अनुशीलन करता रहता है उसकी रुचियाँ भी तदनुकूल बन जाती हैं। यह बात काव्य या नाट्य के विषय में ही सही नहीं है प्रायः सभी कलाओं के विषय में सही मानी जाती हैं चाहे वह चित्रकला हो, संगीतकला हो, मूर्तिकला हो या वास्तुकला हो। सारांश यह है कि रचना में प्रवृत्त होने के पहले किसी कलाकार को परम्परा का ज्ञान होना आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य होता है। परम्परा-ज्ञान के अभाव में वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, उसकी कृति उसे स्वान्तःसुख भले ही प्रदान कर सके लोकानुरजन कभी न कर सकेंगी और न उसे लोक-प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो सकेगी। यह सत्य भारतीय मनीषियों के सामने बहुत पहले आ गया था। परम्परा ज्ञान के लिये प्राक्तन कृतियों का परिशीलन यत्किंचित सहायक अवश्य हो सकता है। किन्तु अनुभवों की विभेद-संभावना में कला की एकरूपता स्थापित करने की दिशा में मूलकृतियों के आधार पर सामान्य तत्त्व निकालने और उन्हें शास्त्रबद्ध कर कलाकारों का दिशा-निर्देश करने का प्रयास किया। यूनानी विचारकों ने गर्भित भावना को दृष्टिगत रखते हुए नाट्य के केवल तीन भेद किये थे-त्रासदी, कामदी और उभयमिश्रण। किन्तु भारतीयों ने अधिक गहराई से चिन्तन किया। नाट्य के वर्गीकरण में दुःखान्तता इत्यादि तक ही अपने को सीमित न रखा अपितु कथावस्तु, संविधानक, चरित्र और रस सभी तत्त्वों पर विचार कर नाट्यसाहित्य का वर्गीकरण किया।

आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट वर्गीकरण पर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि समस्त नाट्यसाहित्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-एक तो वे रूपक हैं जिनमें सम्पूर्ण संविधानक की योजना होती है और नाट्यशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट सभी तत्त्वों का समावेश होता है। दूसरे वे रूपक हैं जिनमें एक देश का ही अनुकरण किया जाता है। प्रथम प्रकार के रूपकों को प्रधान रूपक की संज्ञा दी जाती है और द्वितीय प्रकार के रूपकों को अप्रधान रूपक की। प्रधान रूपकों में दो प्रकार के रूपक आते हैं नाटक और प्रकरण। शेष आठ रूपक अप्रधान कहे जाते हैं।

नाटक और प्रकरण में भी नाटक का अधिक महत्त्व है। कारण यह है कि जो तीन भेदक तत्त्व माने जाते हैं - वस्तु, नेता और रस उनमें प्रधानता रस की ही है। अरस्तू ने वस्तु को नाट्य की आत्मा कहा है। किन्तु भारतीय चिन्तक की दृष्टि में रसास्वादन ही नाट्य का मुख्य उद्देश्य है। पात्रों की नियोजता रसानुकूल की जाती है और वस्तु सर्वदा रस तथा पात्र का अनुसरण

करने के कारण गौण स्थान की अधिकारिणी होती है। वही नाट्यरचना सर्वोत्कृष्ट मानी जा सकती है जिसमें रसास्वादन का अधिक अवसर हो। कहना न होगा कि नाटक प्रख्यात वस्तुविषयक होता है। उसकी वस्तु का परिशीलकों को पहले से ही परिज्ञान हुआ रहता है और उसके विषय में उनकी अपनी धारणा बनी होती है। राम, कृष्ण, दुष्यन्त, रावण, कंस इत्यादि पात्रों के विषय में सर्वसाधारण की धारणा पहले से ही बद्धमूल बनी रहती है। अतः उस पीठिका को लेकर कार्य करना और भावना को उभाड़ कर आस्वादन कराना अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। 'दशरूपक' में नाटक की प्रधानता के तीन कारण बतलाये गये हैं- एक तो नाटक समस्त इतर नाट्य रूपों की प्रकृति या मूल है। नाटक से ही समस्त इतर भेद निस्स त होते हैं। अतः नाटक को समझ लेने से इतर भेदों का परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। दूसरे नाटक में रस परिग्रह विशेष रूप से होता है और तीसरा कारण यह है कि नाट्यशास्त्र के लिये उपयोगी तथा निर्दिष्ट समस्त लक्षण उसमें विद्यमान रहते हैं। प्रकरण में भी लक्षण तो सभी रहते हैं। सभी अर्थ-प्रकृतियाँ, सभी कार्यावस्थायें और सभी सन्धियाँ इसमें भी मिलती हैं, किन्तु रस की प्रवणता और इतर नाट्यरूपों की प्रकृतिरूपता उतनी मात्रा में इसमें नहीं रहती। फिर भी प्रकरण का समावेश नाटक के साथ ही प्रधान रूपकों में ही किया जाता है।

नाटक की परिभाषा

'नाटक' शब्द 'नट्' धातु से ण्वुल प्रत्यय होकर बना है जिसका आशय है जिसमें लौकिक अर्थों और भावों का अभिनय किया जाये। उद्देश्य की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि नाटक एक ऐसा क्रीडनीयक या खेल है जो दृश्य भी होता है और श्रव्य भी। किन्तु यह परिभाषा अव्याप्ति और अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित नहीं है। भरतमुनि ने विस्तारपूर्णक नाटक की विशेषताएँ बतलाई हैं जो उस की परिभाषा कही जा सकती है। दैत्यों ने क्रोध करने पर ब्रह्मा ने कहा कि 'मैंने यह नाट्यवेद ऐसा तैयार किया है जिसमें आप लोगों (दैत्यों) की और देवताओं दोनों की अच्छाई-बुराई दिखलाई गई है और दोनों के कर्म तथा भाव पर विचार किया गया है। इस नाट्य वेद में केवल दैत्यों या देवों का ही अनुकीर्तन नहीं है अपितु तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन इसमें किया गया है। ××× यह नाट्य वेद जो मैंने बनाया है नाना भावों से उपसम्पन्न है, नाना अवस्थाएँ इसमें चित्रित की गई हैं और इसमें लोकवत्त का अनुकरण किया है। यह उत्तम, मध्यम, अधम सभी के कर्म का आश्रय लेकर चलने वाला है। न ऐसा ज्ञान है, न ऐसा शिल्प है, न ऐसी विद्या है, न ऐसा योग है और न ऐसा कर्म है जो इस नाट्य में न दिखलाया गया हो। सब शास्त्रों शिल्पों और विविध कर्मों का समवेतरूप इस नाट्य में देखा जाता है। इस नाट्य में सप्तद्वीप का अनुकरण प्रतिष्ठित है। देवताओं, ऋषियों, राजाओं और कुटुम्बियों के किये हुये अनुकरण का नाम नाट्य है।' (अ० १-१०५-१२०) इस प्रकार नाट्य की विशेषताओं का पथकशः उल्लेख कर मुनि से इस प्रकार की परिभाषाएँ बनाई हैं - १. 'देवताओं, असुरों, राजाओं और कुटुम्बियों के लिए हुए का अनुकरण नाट्य कहा जाता है' और २. 'लोक का जो सुख और दुःख से युक्त स्वभाव है वह अंग इत्यादि के अभिनय से युक्त होकर नाट्य कहा जाता है।' इस समस्त परिभाषाओं का सार लेकर परवर्ती शास्त्रकारों ने 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' या 'त्रैलोक्यानुकृतिर्नाट्यम्' यह परिभाषा बनाई है। सारांश यह है कि नाट्य में सर्वाधिक महत्त्व अनुकरण का है और सर्वप्रधान होने के कारण समस्त नाट्य भेदों में नाटक के लिए यह परिभाषा सर्वाधिक गतार्थ होती है।

नाटक का प्रारम्भ

नाटक को प्रारम्भ करने से पहले बड़ी आवश्यकता इस बात की होती है कि उपस्थिति दर्शकों का अनुरजन किया जाय। इस कार्य के लिए नाटक के प्रारम्भ से पहले का पूर्वरंग विधान किया जाता है। पूर्वरंग शब्द का अर्थ है रंगस्थल पर उपस्थित दर्शकों का प्रथम अनुरजन।

इसकी परम्पराएं समय-समय पर बदलती रही हैं। भरत के समय में पूर्वरंग का अत्यधिक विस्तार होता था और परदा उठने से पहले परदे के अन्दर देवपूजा अनेक अंगों-उपांगों के रूप में की जाती थी और उसके लिए नाच-गान का इस प्रकार विधान किया जाता था कि नाटक के रसास्वादन के लिए उपस्थित जन-समुदाय का यत्किंचित अनुर जन हो सके। इससे एक तो शोर-शराब कम हो जाता था, दूसरे समय से पहले आये हुये लोगों का कुछ मनोरंजन भी हो जाता था और यदि परदा उठने में कुछ देर भी लगती थी तो दर्शक ऊबते नहीं थी। इस विधि को अधिक कष्टसाध्य समझकर आगे चलकर इसे संक्षिप्त कर दिया गया और परदा उठने के बाद सूत्रधार आकर थोड़ा बहुत मंगलाचरण करने लगा। शास्त्रकारों का कहना है कि :-

प्रथमं पूर्वरंगेति ततः प्रस्तावनेति च।

प्रारम्भे सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते।

पहले पूर्वरंग फिर प्रस्तावना, सभी नाट्यों के प्रारम्भ में यह तो सामान्यतया चाहा ही जाता है। सर्वप्रथम तो रंगविघ्नों की उपशान्ति अपेक्षित होती है जिसमें देव द्विज न प इत्यादि के लिए आशीर्वाद के साथ जो स्तुति की जाती है, उससे सर्वप्रथम रंगस्थल आनन्दित होता है, अतः उसे 'नान्दी' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। नान्दीपाठ करके सूत्रधार चला जाता है; फिर एक दूसरा व्यक्ति आकर अभिनेय नाट्य और कवि इत्यादि का परिचय देता है। यह व्यक्ति स्थापक कहा जाने का अधिकारी है। यह स्थापक दिव्य-वस्तु-सूचना दिव्यपात्र बन कर देता है और गर्त्य वस्तु की सूचना मर्त्य बनकर देता है। यदि वस्तु दोनों से सम्बद्ध हो तो कोई भी रूप धारण कर सकता है।

संस्कृत नाट्यकारों ने मुख्य पात्र प्रवेश में अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है और पात्र को सर्वदा कलात्मक ढंग से प्रविष्ट कराया है। स्थापक कभी तो वस्तु की सूचना देता है; कभी बीज की और कभी पात्र की।

आचार्यों का कहना है कि प्रस्तावना में भारती वृत्ति और उसके अंगों का समावेश तो होना ही चाहिए; वीथी के अंगों का भी यथास्थान और यथारुचि प्रयोग किया जा सकता है। इनमें किसी एक अंग के द्वारा मुख्य अर्थ या पात्र का आक्षेप कर सूत्रधार अथवा स्थापक चला जाता है और मुख्य नाटक का प्रारम्भ हो जाता है। भारती वृत्ति का आश्रय लेकर किसी ऋतु के विषय में गीत गाने की भी पुरानी परंपरा है जो कि अधिकांश नाटकों में पाई जाती है। नाट्यकारों ने कहीं-कहीं श्लेषगर्भित ऋतु का अच्छा वर्णन किया है।

पात्र और रस

नाटक में अत्यन्त प्रसिद्ध कथावस्तु का उपादान किया जाता है जो एक अत्यन्त उच्चकोटि के नायक के विषय में होती है। यह नायक या तो प्रतिष्ठा प्राप्त राजर्षि होता है जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का नायक दुष्यन्त है या कोई श्रीकृष्णादि दिव्य पात्र-नायक हो सकता है अथवा ऐसा पात्र नायक के पद पर प्रतिष्ठित होने का अधिकारी होता है जो दिव्य होते हुए भी अपने में मानवत्व का अभिमानी हो जैसे भगवान् राम। इन पात्रों की प्रसिद्ध कथाएं ही नाटक की विषयवस्तु बन सकती है। इनके विषय में काल्पनिक कथानक नाटक की कोटि में नहीं आते। जो कथानक रामायण, महाभारत, व हत्कथा, इतिहास, पुराण इत्यादि में अत्यधिक प्रसिद्ध हो वही नाटक की कथावस्तु के लिए लिया जाना चाहिए। नायक धीरोदात्त तथा अत्यन्त प्रतापी होना चाहिए, नीतिशास्त्र में जिन गुणों का वर्णन किया गया है नाटक के नायक में उन सब गुणों की सत्ता दिखलाई जानी चाहिए। वह कीर्ति की इच्छा करने वाला धर्मसेतु का पालक हो और अपने महान गुणों से सभी पर छा जाने की क्षमता रखता हो। देवता भी उसकी सहायता में तत्पर रहें। कथानक उसके लोकोत्तर कार्यों से तथा सफलताओं से ओत-प्रोत होना चाहिये

चाहे वे सफलताएं युद्धभूमि की हों चाहे प्रेम प्रसंग की। कथानक की परिणति सफलता में ही होनी चाहिए।

सफलता नाटक का अनिवार्य तत्त्व है इसीलिये पाश्चात्य परम्परा में स्वीकृत त्रासदी से इसका पथक्करण हो जाता है। इसमें न तो नायक की पराजय दिखलाई जाती है न युद्ध भूमि से पलायन और न विवशताजन्य सन्धि। वस्तुतः नाटक का चरम उद्देश्य नायक की विजय और उसकी सम्पन्नता ही है, जिसके अभाव में नाटक अपनी संज्ञा से ही च्युत हो जायेगा। यदि कहीं मध्य में नायक की पराजय का भी प्रश्न उपस्थित हो तो उसकी सूचना भर दे दी जाती है। रंगमंच पर उसका प्रदर्शन नहीं किया जाता। मृत्यु की तो सूचना भी नहीं दी जाती। कुछ लोग भारतीय नाटकों को कामेडी (पाश्चात्य कमेडी) कहने के पक्षपाती हैं। किन्तु अपने ठीक अर्थ में भारतीय नाटक को कमेडी कहना उसके प्रति न्याय नहीं होगा। कमेडी तो वस्तुतः बहुत ही नीचे स्तर की वस्तु है। उसका जीवन और वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं होता। वह एक मजाक की वस्तु है। किन्तु भारतीय नाटक जीवन के वास्तविक अनुकरण हैं और सर्वथा गम्भीर प्रकृति के हुआ करते हैं। प्रतिनायक की शौर्य और शक्ति का बड़े विस्तार से वर्णन किया जाता है और शत्रु के प्रतिरोधजन्य कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में नायक की पर्याप्त संकटों का सामना करना पड़ता है और अनेकशः उस की सफलता संदिग्ध भी हो जाती है। यह दूसरी बात है कि अन्तिम सफलता नायक को ही मिलती है और वह समस्त प्रतिरोधों को पार कर लेता है। भारतीय मनीषी इस विषय में अत्यन्त जागरूक हैं कि अच्छाइयों की विजय दिखलाना चरित्र निर्माण के लिये अधिक उपयोगी है। बुराइयों का दुष्परिणाम किसी सीमा तक कृतकार्य हो सकता है। किन्तु बुराइयों का अत्यधिक प्रदर्शन स्वयं बुरा है और अवांछनीय परिणाम भी हो सकता है।

नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होती है और किसी प्रसिद्ध ग्रंथ से ली जाती है, किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि नाट्यकार की वक्तियों परम्परागत कथानक से सर्वथा कस जाती हैं। नाटक कोई इतिहास नहीं है। अतः इतिहासकार की भांति नाटककार प्रामाणिक इतिवृत्त लिखने के लिए बाध्य नहीं होता। उसे यह अधिकार होता है कि मूलकथा में जो तत्त्व नायक या रस के प्रतिकूल हो और अपनी योजना से मेल न खाता हो, उसे आवश्यकतानुसार बदल लें। इसके लिए वह नई कल्पना भी कर सकता है; नई कथा का प्रवर्तन भी कर सकता है, परम्परागत कथानक की नई योजना भी कर सकता है और घटनाओं का क्रम-परिवर्तन भी कर सकता है। किन्तु इसके लिए उसे लोकरुचि का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा असत्यता प्रतिभास या अनौचित्य स्फुरण में उसका कथानक जनमानस में वितर्णा ही उत्पन्न करेगा। जिन पात्रों के विषय में जनमानस में जो धारणा बनी हो उसका पूर्ण व्याघात उचित नहीं होता। आचार्य शुक्ल के अनुसार ऐसे विषयों में खिलवाड़ की अपेक्षा नई कल्पना कर लेना अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है।

मूल कथावस्तु के साथ नाटक में सहायक कथानकों की भी योजना की जाती है। ये पताका तथा प्रकरी दोनों रूपों में नाटक में सम्मिलित होते हैं किन्तु पताका क्रियाकलाप ही प्रमुखतः दिखलाया जाना चाहिये। यह नियम इस तथ्य का अनुसरण करता है कि नाटक महत्वपूर्ण घटनाओं को ही चित्रित करता है। अतः अंक में भी किसी छोटे महत्वहीन व्यक्ति का चित्रण प्रधान नहीं होना चाहिये। इस प्रकार के छोटे तथा महत्वहीन पात्रों की प्रधानता वाले दृश्य अंक के बाहर विष्कम्भक या प्रवेशक में दिखला दिये जाते हैं। अंक के लिए यह भी नियम है कि उसमें ऐसी ही घटनाएं दिखलाई जानी चाहिए जो एक दिन में घटित हो सकें। यदि दिन-भर की समस्त घटनाओं को एक अंक में पूरा करना सम्भव न हो तो अवशिष्ट घटनाओं को पथक् रूप में विष्कम्भक या प्रवेशक रख कर सूचित करा दिया जाना चाहिये। जो घटनायें नाट्यवर्जना को एक अंक में पूरा करना सम्भव न हो तो अवशिष्ट घटनाओं को पथक् रूप

में विष्कम्भक या प्रवेशक रख कर सूचित करा दिया जाना चाहिये। जो घटनायें नाट्यवर्जना के अन्तर्गत आती हों या जो इसके लिये बहुत उपयोगी न हों उनको भी सूच्य वस्तु के रूप में ही लाना चाहिए क्योंकि कवि और नाटककार दोनों को घटनाओं के मार्मिक रसानुकूल अंश तो चुनने ही पड़ते हैं जिनमें उसका विशेष अभिनिवेश होता है। शेष अंश सूच्यकोटि में ही आते हैं। यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्रकारों ने संकलनों का विवेचन नहीं किया है जैसा कि स्थल, कार्य और काल संकलन के रूप में पाश्चात्य नाट्य में किया गया है; किन्तु एक दिन में निर्वृत्य कथा को एक अंक में दिखलाने और शेष अंश को सूच्य बनाने का निर्देश भारतीय नाट्य को भी संकलनों के पर्याप्त निकट लाता है। इसी प्रसंग में अर्थोपक्षेपकों का भी विवेचन किया गया है।

प्रकरण

प्रकरण दूसरा नाट्य भेद है जो नाटक के समान प्रधान कोटि में ही आता है। इसमें नाट्य रचना की उन सभी विधाओं, प्रवृत्तियों और विशेषताओं का निर्वाह करना आवश्यक माना जाता है जो नाटक के लिये अपेक्षित होती हैं। अन्तर केवल यह है कि इसका कथानक और पात्र दोनों काल्पनिक होते हैं। कथानक कहने को तो काल्पनिक होता है किन्तु पात्रों और इतिवृत्ति को छोड़ कर कथानक की अन्तरात्मा लोकविदित होती है जिससे परिशीलक दृश्यमान कल्पित पात्रों से भी सरलता से तादात्म्य स्थापित कर रसास्वादन के योग्य हो जाता है। प्रकरण का नायक नाटक के समान उदात्त नहीं होता। वस्तुतः नाटक की अपेक्षा प्रकरण लोक के अधिक निकट पड़ता है और उसमें लोकवृत्त का सविशेष चित्रण किया जाता है। इसका नायक विप्र, अमात्य या बनियाँ होता है या राजा का कोई अधिकारी, कोई पुरोहित अथवा सेना का कोई अधिकारी हो सकता है। नायिका या तो वेश्या हो या कुलवती स्त्री अथवा सम्भ्रान्त व्यक्तियों के मध्य में हो तो वेश्या को उससे पथक् रहना चाहिए। इसी प्रकार यदि नायक वेश्या में प्रसक्त हो तो वहाँ कुलवती स्त्री का सन्निधान नहीं होना चाहिए। यदि संयोगवश दोनों नायिकाओं का परस्पर मिलन हो तो दोनों का आचार और भाषा मर्यादित रहनी चाहिये। नायक अधिकांश रूप में धीर शान्त ही होता है; किन्तु कुछ लोग उसकी धीरोदात्तता का भी प्रतिपादन करते हैं। कुछ लोगों के मत में निम्न जाति की स्त्री भी प्रकरण की नायिका हो सकती है। 'मच्छकटिक' के समान जिस प्रकरण में विट, चेट, कित्तव, शकार इत्यादि का समवाय होता है वह संकीर्ण प्रकरण कहा जाता है।

नाटक और प्रकरण दोनों प्रधान रूपक माने जाते हैं, क्योंकि दोनों में नाट्य के सभी अंगों का पूरा समावेश होता है और इन दोनों के अन्दर अन्य विधाओं के तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। इनमें भी नाटक का अधिक महत्त्व है क्योंकि इसमें रसास्वादन अधिक सुकर होता है। आज का साम्यवादी आलोचक नायक के उच्च वंश और महान् सामाजिक स्तर को देखकर प्राचीन संस्कृत नाटक को बुर्जुआ मनोवृत्ति का पोषक मान सकता है, किन्तु भारतीय नाट्यसाहित्य अपने में उद्देश्यपूर्ण आप्तकाम है इसमें सन्देह नहीं है।

(ख) अप्रधान रूपक

नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने नाट्य के प्रारम्भ, वस्तु के विकास, बीज और फल पताका, प्रकरी, पताकास्थानक, अर्थोपक्षेपक इत्यादि नाट्य-रचना के विभिन्न उपयोगी सिद्धान्तों पर विस्तारपूर्वक विचार कर सबका उद्देश्य रसास्वादन ही निश्चित किया और उसके लिए वस्तु, नेता और रस की विविध व्याख्या प्रस्तुत की तथा नाट्यमातृका का वृत्तियों का परिचय दिया। पूर्ण रसास्वादन के लिए इन सबका यथोचित मात्रा में सन्निवेश उचित बतलाया गया और यह सिद्धान्तित किया गया कि जिन नाट्य-प्रयोगों में पूर्ण रसास्वादन की सम्भावना हो वे ही परिपूर्ण रूपक कहे जाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार के दो रूपक माने गये - नाटक और प्रकरण। एक में प्रख्यात

वस्तु तथा उच्चकोटि का धीरोदात्त नायक होता है और दूसरे में कल्पित वस्तु होती है और नाटक के नायक की अपेक्षा कुछ घट कर उदात्तता लिये हुए नायक होता है। मुख्य रूपक की कोटि में ये ही दो विधायें आती हैं मुनि ने नाटिका नामक एक तीसरी विधा का भी परिचय दिया है जिसमें सन्धि सन्ध्यंग इत्यादि सभी कुछ नाटक और प्रकरण के समान ही होता है किन्तु दो-तीन मौलिक अन्तर होते हैं। एक तो इसकी पूर्ति केवल प्रकरण के चार अंकों में होती है; दूसरे इसमें केवल शंगार रस का और वह भी एक सीमित दिशा में प्रवृत्त होने वाले शंगार का आस्वादन किया जाता है, न इसमें वस्तु की विविधता होती है न रसास्वादन का सीमा विस्तार। यद्यपि इसमें आस्वादन की गहराई कम नहीं होती। इसके पात्र बंधी बंधाई लीक पर चलने वाले होते हैं। तीसरी बात यह है कि इसकी कथावस्तु न पूर्णतः ऐतिह्य होती है न काल्पनिक। नायक ऐतिह्य होता है और कथानक काल्पनिक। आगे चलकर आचार्यों ने इस विधा को उपरूपकों में स्थान दिया।

भारतीय मनीषी इस ओर जागरूक थे कि नाट्यविधान कष्टसाध्य भी होता है, व्ययसाध्य भी और इसमें अधिक समय देने की भी आवश्यकता पड़ती है। अत्यन्त खर्चीली रंगशालायें श्रीमानों के ही वश की हो सकती हैं; उनसे आम जनता का व्यापक परिमाण में अनुरजन नहीं हो सकता। कहा जाता है कि पिछले दिनों यूरोप में भी लघु-नाटक आन्दोलन चला था। वास्तव में सर्वसाधारण का अनुरजन करने के लिए छोटे-छोटे सरल नाट्यों की योजना आवश्यक होती है जिसमें अपेक्षाकृत व्यय भी कम हो और रंगशालायें भी इतनी छोटी हों कि या तो थोड़े समय में ही जमाई जा सकें या उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जा सकें। अभिनय के लिये छोटे-छोटे कथानक होने चाहिये जिनमें समय भी कम लगे और उनके लिये प्रशिक्षण की भी आवश्यकता न हो। इसी उद्देश्य से भारतीय आचार्यों ने छोटे-छोटे नाट्यरूपों की व्यवस्था की और उनके लिये विभिन्न टेक्निक का निर्देश किया।

ये लघु नाटक भरत के समय तक आठ प्रकार के लिखे जा चुके थे जिनका भरत ने शास्त्रीयकरण किया इनमें कुछ तो केवल एकांगी हैं और कुछ एक से अधिक अंकों वाले कतिपय रूपकों में आरम्भ और समाप्ति केवल ये दो कार्यावस्थायें तथा बीज और फल ये दो अर्थप्रकृतियाँ ही दिखलाई जाती हैं जिनमें मुख और निर्वहण सन्धियों तक ही वे रूपक सीमित रह जाते हैं। कुछ रूपकों में विभेद हुआ करता है। कुछ रूपकों में कोमल रसों का प्रयोग होता है दूसरा अप्रधान। कोई रूपक प्रत्यक्ष रस को लेकर चलते हैं और दूसरे रूपक रस को केवल सूच्य रखते हैं - किन्तु सूच्य रस में भी प्रयत्न यही रहता है कि परिशीलकों को प्रत्यक्ष जैसा आनन्द प्राप्त होता हो सकें

छोटे रूपकों में व्यायोग, अंक, प्रहसन, भाण, वीथी से पांच एकांकी हैं; समवकार में तीन अंक और डिम तथा ईहाम ग में चार-चार अंक हुआ करते हैं। इनमें व्यायोग अंग डिम और समवकार में किसी प्रसिद्ध कथानक की नाट्यवस्तु के रूप में स्वीकृत किया जाता है; भाण प्रहसन और वीथी में काल्पनिक कथानक होता है तथा ईहाम ग में मिश्र कथानक। इन सभी रूपकों में शंगार का पूर्ण विस्तार किसी में नहीं होता इसीलिए इन सब रूपकों में कैशिकी वृत्ति का निषेध है। यदि कहीं शंगार का उपादान होता भी है तो या तो सूच्य रूप में या आभास रूप में। काल्पनिक कथानक वाले तीनों रूपकों में शंगार की किसी न किसी रूप में छाया पायी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रहसन में हास्य और भाण में वीर रस का भी उपादान होता है। मिश्र कथानक वाले ईहाम ग नामक भेद में शंगाराभास की अभिव्यक्ति होती है और अंग में करुण रस प्रधान होता है। आमुख और प्रस्तावना तो किसी न किसी रूप में सभी में सन्निहित रहती है। संक्षेप में चार अंक वाले दो रूपक होते हैं। डिम और ईहाम ग पहले में प्रख्यातवस्तु और दूसरे में मिश्रवस्तु होती है। समवकार में तीन अंक होते हैं और शेष ५ एकांकी होते हैं। अग्रिम पंक्तियों में इसी क्रम से इन रूपकों की विशेषताओं की चर्चा की जा रही है।

(१) डिम

यह एक प्रख्यात वस्तु विषयक नाटक है। 'दशरूपक' के टीकाकार धनिक ने 'डिम संघाते' धातु से इस शब्द की उत्पत्ति बतलाई है। किन्तु यह धातु न तो लोक-प्रसिद्ध है और न धातु पाठ में ही इसका उल्लेख किया गया है। हो सकता है कभी यह प्रसिद्ध रही हो और धनिक को इनका ज्ञान हो। संघात का अर्थ समूह भी होता है और सम्यक् घात भी। इस रूपक में अनेक पात्र कार्य प्रवृत्त होकर वस्तु को गति देते हैं और उनके घात प्रतिघात तथा दांव-पेच को लेकर इसकी कथा वस्तु आगे बढ़ती है इसीलिये इस विधा का नाम डिम रखा गया है।

डिम की रचना भली-भाँति संयोजित रूप में की जाती है। भरतमुनि ने इसका परिचय देते हुए लिखा है कि इसकी कथावस्तु प्रख्यात अर्थात् इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध होती है इसका नायक भी कोई बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति होता है जो धीरोदात्त की कोटि में आ सके। इसमें शृंगार और हास्य रसों को छोड़कर ६ रसों का प्रयोग किया जाता है। समस्त रूपक की परिसमाप्ति चार अंकों में होती है। इसमें ऐसी वस्तु उपादान किया जाता है, जो दीप्त रसों के अनुकूल हो और ऐसे भावों तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश रहता है जो विभिन्न प्रकार के कठोर रसों के अभिव्यंजन हों। इसमें बिजली की कड़क, सूर्य-चन्द्र के ग्रहण, उल्कापात, भूकम्प, प्रचण्डवायु, घनघोर युद्ध, पैदल-युद्ध, प्रहार और क्रोधपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्तियों की भरमार होनी चाहिये। इसमें माया और इन्द्रजाल बहुत बड़ी मात्रा में दिखलाया जाना चाहिये। बहुत से व्यक्ति शक्तिशाली युद्ध की तैयारी में लगे दिखलाये जायें जिनमें परस्पर फूट के दृश्य भी सम्मिलित हों। इसमें १६ पात्रों का समावेश होना चाहिये जो अधिकतर देव, असुर, राक्षस, भूत, नाग, यक्ष इत्यादि हों। इसकी रचना प्रयत्नपूर्वक सात्वती और आरभटी वृत्तियों में की जानी चाहिए जिसमें ज्ञानवान् व्यक्ति विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आश्रय लें।

दशरूपककार ने नाट्यशास्त्र से मिलती-जुलती विशेषतायें ही लिखी हैं। अन्तर यह है कि इन्होंने वृत्तियों में भारती को भी सम्मिलित कर दिया जो एक सामान्यवृत्ति है और भरत के प्रतिकूल नहीं। इसके अतिरिक्त इन्होंने रौद्ररस को अंगी माना है और इनमें विमर्श सन्धि का अभाव बतलाया है। नाट्यदर्पणकार ने 'नाट्यशास्त्र' में निर्दिष्ट उपादेय वर्ग को उपलक्षण परक मानकर ऐसी वस्तुओं और मूर्तियों को भी डिम में प्रदर्शित करने का आदेश दिया है जो चटाई, पतले तख्ते, चमड़े या लकड़ी की बनी हो और उस पर लेप किया जा सके। इस प्रकार के उद्धृत कथानक में नायक की धीरोदात्तता नाट्यदर्पणकार को सम्भव प्रतीत नहीं हुई। अतः उन्होंने भरत से सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह प्रतिपादन किया कि मानव की दृष्टि से तो ये नायक धीरोद्धत ही होते हैं। हां, अपनी जाति में ये धीरोदात्त कहे जा सकते हैं, क्योंकि भूत-प्रेत पिशाच, राक्षस आदि में धीरोदात्त भी मानव के लिए तो धीरोद्धत ही होगा। साहित्यदर्पणकार ने शान्त रस को भी वर्ज्य बतलाया है जोकि भरत के प्रतिकूल नहीं है क्योंकि भरत शान्त को मानते ही नहीं। इन्होंने इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक का भी निषेध किया है।

भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का उल्लेख किया है जिसका अभिनय सर्वप्रथम देवताओं के सामने किया गया था। किन्तु वह रूपक आज उपलब्ध नहीं होता। कीथ ने वत्सराज लिखित इसी नाम के एक डिम का उल्लेख किया है जिसमें भगवान शिव नायक हैं और उनकी त्रिपुर वध लीला का वर्णन किया गया है। कीथ ने कुछ अन्य कृतियों का भी उल्लेख किया है, जिन्हें डिम की संज्ञा दी जा सकती है।

(२) इहामग

चार अंकों वाला दूसरा छोटा रूपक है। इसमें वस्तु आंशिक रूप में प्रख्यात तथा आंशिक रूप में कल्पित होती है। कथावस्तु का मूल ढांचा और पात्र प्रख्यात होते हैं किन्तु उसका निर्वाह काल्पनिक ढंग से किया जाता है। अंकों की संख्या में समानता होते हुए भी डिम में गर्भसन्धि

अधिक होती है। ईहाम ग में मुख प्रतिमुख और निर्वहण से तीन सन्धियाँ होती हैं। साहित्यदर्पणकार का कहना है कि कुछ लोग इसे एकांकी भी मानते हैं।

‘ईहाम ग’ शब्द का अर्थ है भेड़िया। यह जीव अपने छल-कपट और चालाकी के लिए प्रसिद्ध है। इस रूपक में भी इसी प्रकार के छल-कपट का वर्णन किया जाता है अतः इसका नाम ईहाम ग पड़ा है। धनिक ने इस शब्द का अर्थ किया है ईहा में जो म ग या जंगली जीव है। जिस प्रकार जंगली जीव ऐसी स्वजातीय स्त्री की कामना किया करते हैं जिनका प्राप्त कर सकना उनके लिए अशक्य होता है उसी प्रकार इस रूपक में भी नायक ऐसी नायिका की कामना करता है, जिसका प्राप्त कर सकना उसके लिए कठिन हो। नाट्यदर्पणकार ने ईहाम ग का अर्थ किया है जिसमें म गों के समान केवल स्त्री की ही कामना की जावे। इसमें प्रतिनायक की ऐसी चेष्टा रहती है कि नायक अपनी प्रेयसी को प्राप्त न कर सके। नायिका प्रायः दिव्य स्त्री होती है। प्रतिनायक अनेक प्रकार के छल-कपट के द्वारा नायक को वंचित करना चाहता है और ऐसी परिस्थिति ला देता है कि युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगता है किन्तु कौशल के द्वारा उस सन्निहित युद्ध को टाल जाता है।

भरतमुनि ने ईहाम ग की विशेषतायें बतलाते हुए लिखा है कि इसमें देव-पुरुष देव-स्त्रियों के लिए युद्ध में प्रवृत्त रहते हैं किन्तु परवर्ती नाट्यशास्त्रकारों ने इस नियम में संशोधन कर मर्त्यमात्र के समावेश का भी अवसर दे दिया है। ‘दशरूपक’ के अनुसार नायक और प्रतिनायक दोनों में कोई एक मर्त्य हो सकता है या दोनों मर्त्य हो सकते हैं या दोनों देव नाट्यदर्पणकार का कहना है कि प्रधान नायक तो दिव्य ही होना चाहिए किन्तु उसमें अनेक उद्धत मानव दिखलाये जाने चाहिये किन्तु इस विषय में सभी एकमत हैं कि संग्राम जिस स्त्री के लिए हो वह दिव्य होनी चाहिए। पात्रों के उद्धत स्वभाव के विषय में भी वैमत्य नहीं है। इसमें स्त्रियों का परिदेवन तथा क्रोध भी कुछ आचार्यों ने स्वीकार किया है। इसकी दूसरी विशेषतायें हैं - इसकी सुसंबद्धता अर्थात् प्रत्येक अंक की कथा परस्पर संबद्ध तथा सुगठित होनी चाहिये। समवकार की भांति पथक्-पथक् अंकों में पथक् कथायें नहीं होनी चाहिये। इसमें अविश्वास के वातावरण की सृष्टि की जानी चाहिए और विरोध का मूल भी अविश्वास का वातावरण ही होना चाहिये। युद्ध और संग्राम का मूल कारण वास्तविकता को ठीक रूप में न समझना भी हो सकता है। प्रतिनायक बुद्धि विपर्यय से ही अनुचित कार्यों में प्रवृत्त दिखलाया जाना चाहिए। इसमें विशेष रूप से संक्षोभ, विद्रव, रोषभाषण, भेद, अपहरण अवमर्दन इत्यादि का अभिनय किया जाता है। कुछ लोग इसमें १० पात्र स्वीकार करते हैं कुछ १३ और कुछ छः पात्रों में ही इसको सीमित करना चाहते हैं। कुछ लोगों की सम्मति में भेद, दण्ड, वध इत्यादि का हेतु स्त्री के अतिरिक्त अन्य भी हो सकता है इसमें शृंगार तथा शृंगाराभास दोनों दिखलाये जा सकते हैं। भरत का कहना है कि व्यायोग में जिस प्रकार के पुरुष जिस प्रकार के रस और जिस प्रकार की वस्तियाँ दिखलाई जाती हैं ईहाम ग में भी वही सब होता है। इसमें भेदक तत्त्व केवल इतना है कि ईहाम ग में देवस्त्री का ही अभिनय किया जाता है।

विश्वनाथ ने इसके उदाहरण के रूप में ‘कुसुमशेखर विजय’ का उल्लेख किया है। कीथ ने ‘रुकमिणी हरण’ को ईहाम ग माना है। इसके अतिरिक्त वत्सराज का भी एक ईहाम ग प्रसिद्ध है।

(३) समवकार

तीन अंकों का एकमात्र रूपक है जिसमें कथावस्तु प्रख्यात होती है। इसमें किसी पुराण प्रसिद्ध कथानक का अभिनय किया जाता है और किसी देवता या किसी राक्षस का उससे सम्बन्ध होता है जो कि उसका प्रधान पात्र माना जाता है

दशरूपकावलोककार ने समवकार शब्द की व्युत्पत्ति की है-‘समवकीर्यन्ते र्था स्मिन्निति सवकारा’ अर्थात् जिसमें काव्य प्रयोजन बिखरे हुए हों उसे समवकार कहा जाता है। इसी व्युत्पत्ति पर विशेष प्रकाश डालते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है कि जो रूपकविधा त्रिवर्ग के पूर्व प्रसिद्ध उपायों के द्वारा ही निबद्ध की जाये वह समवकार कहलाता है। ये उपाय या प्रयोजन बिखरे हुए भी हो सकते हैं और एक दूसरे से संबद्ध भी। आशय यह है कि समवकार की सबसे बड़ी विशेषता और उसका भेदक तत्त्व है उपायों तथा प्रयोजनों की अनेकविधता। अन्यरूपकों का कोई एक प्रयोजन हुआ करता है किन्तु समवकार में कई प्रयोजन होते हैं और वे भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। पथक्-पथक् पात्रों के प्रयोजन भी पथक्-पथक् होते हैं।

इसके तीन अंगों की संख्या के अनुसार ही सभी तत्त्व तीन-तीन ही रखे जाते हैं केवल सन्धियां चार होती हैं, केवल विमर्श सन्धि नहीं होती। प्रथम अंक में मुख ओर प्रतिमुख, द्वितीय में गर्भ और तृतीय में निर्वहण सन्धि होती है। तीन विद्रव, तीन कपट और तीन शं गार दिखलाये जाते हैं। तीन उपद्रव होते हैं-(१) युद्ध या जलप्लावनजन्य; (२) वायु अग्नि या गजेन्द्रजन्य और (३) नगर के उपरोध से उत्पन्न। नाट्यदर्पणकार ने तीन विद्रव मने हैं-किसी जीव सके उत्पन्न उपद्रव, किसी अजीव से उत्पन्न उपद्रव और दोनों से उत्पन्न उपद्रव। इसी प्रकार सुख या दुःख को उत्पन्न करने वाले कपट भी तीन ही प्रकार के दिखलाये जाते हैं-या तो योजना में कोई छल आ जाता है जो सम्भवतः अपने वर्ग से ही होता है या दैववश में जाल का फँसाव आ जाता है अथवा शत्रु उसका प्रयोग करता है। अतः ये तीन कपट हैं वच्यगत कपट, वचकगत कपट और दैवकृत कपट। तीन प्रकार का शं गार होता है-धर्मशं गार, अर्थशं गार और कामशं गार जिसमें धर्म में अधिष्ठित रहते हुए तथा नियम और तप का पालन करते हुए प्रार्थित उपयोग अनेक प्रकार से प्राप्त हो जावे वह धर्म शं गार होता है। जहाँ अर्थप्राप्ति के प्रयोजन से सहवास में प्रवृत्ति देखी जाती है वह अर्थशं गार होता है और जहाँ उपभोग की आकांक्षा और वासना से प्रेरित होकर कामोपभोग किया जाता है वह कामशं गार कहलाता है। धर्मशं गार का फल होता है परस्त्रीवर्जन और हेतु होता है दानादि धर्म। इस प्रकार स्वपत्नी विषयक शं गार का हेतु भी धर्म होता है और फल भी धर्म। अर्थशं गार वेश्याओं और रूपवान् पुरुषों के लिए धनरूप फल देने वाला होता है। अर्थ से वेश्यागमन करने वाले पुरुषों के लिए अर्थ शं गार का हेतु होता है। कामशं गार की नायिका या तो परस्त्री होती है या कन्या।

समवकार के तीन अंकों में तीन तत्त्व पथक्-पथक् दिखलाये जाते हैं। प्रत्येक अंक में एक धर्म, एक कपट और एक उपद्रव दिखलाया जाना चाहिये इसके अतिरिक्त प्रत्येक अंक में प्रहसन भी होना चाहिए और आवश्यकतानुसार वीथी के १८ नाड़ियों अर्थात् लगभग ७ घण्टे १२ मिनट में किया जाता है। पहले अंक में १२ नाड़ियाँ, दूसरे में ४ नाड़ियाँ और तीसरे में दो नाड़ियों का समय निश्चित किया गया है। कुल पात्रों की संख्या १२ होती है। इस विषय में नाट्यदर्पणकार ने मतभेद का उल्लेख किया है। कुछ लोग प्रत्येक अंक में १२ पात्र पथक्-पथक् मानते हैं और कुछ का विचार है कि नायक, प्रतिनायक और दोनों के पथक्-पथक् २ सहायक इस प्रकार प्रत्येक अंक में कुल ४ पात्र होते हैं। इस प्रकार पूरे रूपक में १२ पात्र हो जाते हैं। प्रत्येक नायक का फल पथक् होता है। अतः पताकानायक (सहायक) को भी पथक् नायक के रूप में ही माना जाता है। एक अंक की कथा अपने में पूर्ण होती है अर्थात् इसमें दूसरे अंक की कथा से सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु सम्पूर्ण समवकार में एक प्रयोजन होता है जिसमें अंकों के अवान्तर प्रयोजन संबद्ध होते हैं। रचना का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले आमुख प्रदर्शित किया जाता है फिर तीनों अंकों के उपक्षेपक बीज की रचना कर प्रथम और द्वितीय दोनों अंकों के पथक्भूत कथानक का पल्लवन किया जाता है। असम्बद्ध होने के कारण बिन्दु का निबन्धन नहीं रहता। फिर तीसरे अंक की संयोजना इस प्रकार की जाती है कि

प्रथम दो अंकों का भी समन्वय हो जाता है। प्रथम अंक में नाट्यदर्पणकार के शब्दों में जो लोग पूर्वापर के अनुसन्धान में अपनी बुद्धि लगाते हैं और जिन्हें इतनी योग्यता प्राप्त हो चुकी है कि वे व्यवहित अर्थ का अनुसन्धान कर सकें उन्हें समवकार के विवर्ग साधन की योग्यता का परिज्ञान हो जाता है और इस प्रकार परिशीलकों की विवर्ग साधन के क्षेत्र में व्युत्पन्न बनाकर यह समवकार उनका उपकारक हो जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि - समवकार में हास्य रस मिश्रित शृंगार रहता है; देवासुर वैर के कारण कपट और उपद्रव का समावेश होता है। युद्ध में सम्प्रहारादि की सिद्धि दैवी प्रभाव से होती है। इसमें लौकिक उपायों का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु आरभटी वृत्ति में माया इन्द्रजाल इत्यादि के समावेश से कुतूहल वाले व्यक्ति परातुष्टि को प्राप्त होते हैं। यह एक ऐसा रूपक प्रकार है जिसमें सभी प्रकार के लोग आनन्द ले सकते हैं - 'वीर लोग वीर, रौद्र आदि रसों युद्धों और युद्धभूमियों में आनन्द लेते हैं किन्तु बालक, मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्य 'शोक और भय में आनन्दित होते हैं।'

समवकार का कुछ धार्मिक महत्त्व भी 'नाट्यदर्पण' में प्रतिपादित किया गया है। कुछ लोग देवताओं के भक्त होते हैं कुछ दैत्यों के। समवकार के माध्यम से वे अपने इष्ट देवादि का कीर्तन करते हैं; यात्रा में प्रवृत्त होते हैं, जागरण करते हैं, झांकी सजाते हैं। इसीलिए समवकार के नेता देव और दानव माने गये हैं। ये स्वभाव से ही मानव की अपेक्षा उद्धत होते हैं। अतः इसके नायक का धीरोद्धतत्व मानव की अपेक्षा ही बतलाया गया है वैसे अपनी जाति में धीरोदात्तत्व ही होता है।

शास्त्रीय ग्रन्थ में 'अम तमन्थन' समवकार का उदाहरण के रूप में निर्देश किया गया है। इसी का विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न नामों से निर्देश प्राप्त होता है। धन जय ने 'अम्भोविमन्थन' कहा है; धनिक ने समुद्र मन्थन। प्राचीन अम त मन्थन उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः उसी से नामकरण का निर्देश प्राप्त कर वत्सराज ने 'समुद्रमन्थन' नामक समवकार की रचना की थी। कथ ने भास के 'प चरात्र' को समवकार के लिए निर्दिष्ट लक्षणों से ओत-प्रोत माना है तथा कहा है कि इसे किसी अंश तक समवकार कहा जा सकता है।

(४) व्योम तथा (५) अंक

ये दोनों रूपक एकांकी हैं और दोनों प्रख्यात वस्तुविषयक हैं। दोनों में अनेक समानताएं हैं और अनेक विषमताएं भी। अंक इस नामकरण से ही इसकी एकांगिकता व्यक्त होती है। किन्तु नाटक या प्रकरण इत्यादि के अन्तर्गत विद्यमान अंक से इसमें वैषम्य यह है कि नाटकान्तर्गत अंक छोटा होता है किन्तु यह स्वतन्त्र अंक उसकी अपेक्षा कुछ बड़ा होता है क्योंकि इसमें सभी कुछ एक ही अंक में दिखलाना पड़ता है। सामान्य अंक से इसमें संज्ञाभ्रम हो सकता है। इसी को दूर करने के लिए 'अंक' को 'उत्सष्टिकांक' की संज्ञा दे दी गई है।

व्यायोग और उत्सष्टिकांक ये दोनों अन्वर्थ-संज्ञाएं भी हैं। व्यायोग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- 'विशेषण आ समन्तात् युज्यन्ते कार्मार्थ संरभन्ते वेति व्यायोगः' (नाट्यदर्पण प ० २२१) अर्थात् जिसमें विशेष रूप से चारों ओर से कार्य के लिए युक्त होते हैं या प्रयत्न करते हैं उसे व्यायोग कहा जाता है। इस शब्दार्थ से ही यह व्यक्त हो जाता है कि इसकी कथावस्तु ऐसे नायकों से संबद्ध होती है जो फलप्राप्ति की आतुरता में अपने कार्यकलाप में निरन्तर संलग्न रहते हैं। इसके कथानक में युद्ध, कुशती, संघर्ष, वाद-विवाद, शौर्य, विद्या, कुल धन रूप इत्यादि की स्पर्धा यह सब दिखलाया जाता है। व्यायोग में कवेल एक दिन की घटना को ही नाट्य-विषय बताया जाता है। इसीलिए इसका एकांकी होना सार्थक है। नायक अत्यन्त उद्धत होता है और अपने अभीष्ट फल को यथासम्भव शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहता है। इसीलिए बीज के बाद प्रयत्न को दिखलाते हुए एकदम फल पर पहुंचा जाता है। नायक को इतना धैर्य नहीं होता कि वह

फलप्राप्ति के लिए सहायको की खोज करे। इसीलिए इसमें मुख और प्रतिमुख के बाद एकदम निर्वहण सन्धि पर पहुंच जाया जाता है और बीच में गर्भ तथा विमर्श सन्धियों का परित्याग कर दिया जाता है।

व्यायोग का नायक प्रख्यात होता है। भरत का मत है कि वह दिव्य नहीं हो सकता कोई राजर्षि होता है इसी का अनुसरण करते हुए दशरूपककार ने 'ख्यातोद्धतनर' इसका आश्रय बतलाया है। नाट्यदर्पणकार ने भी 'अदिव्यभूपतिस्वामी' लिखा है। किन्तु 'साहित्यदर्पण' में भिन्न मत व्यक्त किया गया है-उसके अनुसार कोई राजर्षि इसका नायक हो सकता है या कोई दिव्य पात्र ज्ञात होता है कि 'साहित्यदर्पण' तक आते-आते व्यायोग के विषय में धारणा कुछ बदल गई होगी। इसमें पुरुष पात्रों की संख्या अधिक होती है स्त्री पात्रों की कम। युद्ध या संघर्ष का कारण कोई स्त्री नहीं होती। इसीलिए इसमें नायिका का होना भी अपेक्षित नहीं माना जाता। इसमें पात्रों की बहुलता तो होती है किन्तु समवकार जैसी नहीं, क्योंकि यह केवल एकांकी होता है। इसमें दीप्तरस, ओजगुण और आरभटी व ति इत्यादि सभी कुछ कथानक के औद्धत्य के अनुकूल ही होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार इसमें शृंगार, हास्य और शान्त रस नहीं होनी चाहिए। दशरूपककार ने शृंगार और हास्य का निषेध किया है। भास का 'मध्यम व्यायोग' इसका पुराना निदर्शन है और वत्सराज का 'किरातार्जुनीय' परवर्ती निदर्शन।

अंक का दूसरा नाम उत्सष्टिकांक भी है। केवल अंक कहने से नाटकान्तर्गत अंक का भ्रम हो जाता है। यदि एकांकी होने के कारण इसे अंक संज्ञा दी जाये तो व्यायोग, भाण, प्रहसन और वीथी भी अंक कहे जाने के अधिकारी हो जायेंगे क्योंकि उनमें भी एक अंक ही होता है। इसीलिए अंक के स्थान पर इसे उत्सष्टिकांक इस बड़े नाम से पुकारा जाता है यह कुछ लोगों का मत है। किन्तु दूसरे लोग इसे अन्वर्थ संज्ञा भी मानते हैं। 'साहित्यदर्पण' में इसकी व्युत्पत्ति की गई है-'उत्कान्ता वित्तीयरूपा सष्टिर्यत्र' अर्थात् जिसमें वित्तीय रूप सष्टि हो। किन्तु यह व्युत्पत्ति न तो स्पष्ट है और न सामान्यप्रवृत्ति की परिचायक। इसकी अपेक्षा 'नाट्यदर्पण' की यह व्युत्पत्ति अधिक समीचीन ज्ञात होती है-'उत्क्रमणीन्मुखो सष्टि जीवितं यासां ताः उत्सष्टिकाः, शोचन्त्यः स्त्रियः। ताभिङ्कित्वात् उत्सष्टिकांकः' अर्थात् उत्सष्टि का अर्थ है ऐसी स्त्रियाँ जिनका उत्क्रमण की ओर जा रहा हो अर्थात् शोक करने वाली स्त्रियाँ। उनसे अंकित होने के कारण इसे उत्सष्टिकांक कहा जाता है। यही इसकी सामान्य प्रवृत्ति है। वस्तुतः यह विधा व्यायोग के बाद की परिस्थिति को लेकर चलती है। व्यायोग में युद्ध के दृश्य दिखलाये जाते हैं और इसमें युद्ध से उत्पन्न विनाश से परहित स्त्रियों की शोकग्रस्त अवस्था दिखलाई जाती है।

सामान्यरूप से इस का वृत्तान्त प्रख्यात ही होता है, किन्तु भरत इसे कहीं-कहीं अख्यात मानने के भी पक्षपाती हैं। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार प्रख्यात इतिवृत्त को ही कवि अपनी बुद्धि से प्रपंचित कर कल्पना के सहारे नया रूप दे देता है। इसमें जय और पराजय भी दिखलाये जाते हैं। शौर्यमद से भयलिप्त लोग इसमें परस्पर दोषों की घोषणा करते हुये वाग्युद्ध भी करते हैं। किन्तु यह वाग्युद्ध होता उन्हीं का है जो शोक परायण होते हैं। अतः इनमें करुण रस ही अंगी होता है। वैसे शोक के अंक के रूप में निर्वेदजनक वचनों का भी समावेश होती ही है और व्याकुल लोगों की नाना चेष्टाओं का वर्णन किया जाता है। स्त्रियों का विलाप इसका मुख्य विषय होता है जिसमें हेतु होते हैं संघर्ष और युद्ध के चित्रण। किन्तु इन का कथनमात्र रहता है। इन्हें रंगमंच पर नहीं दिखलाया जाता है।

इसमें अधिकांश रूप में प्राकृत जन ही पात्र होते हैं। दिव्य पात्रों को बचाया जाता है क्योंकि देवों के शोक का वर्णन परिवेदन इसलिए दिखलाया जाता है कि उत्तम और मध्यम कोटि के व्यक्ति यह शिक्षा ले सकें कि विलाप, प्रलाप, घबराना, रोना, पीटना इत्यादि औरतों का क्रियाकलाप है। उत्तमों और मध्यमों को विपत्ति में भी घबराना नहीं चाहिए। इसमें सात्वती,

आरभटी और कैशिकी व तियां नहीं होती। कीथ का कहना है कि इस विधा का प्रयोग रूपक के अन्तर्गत रूपक को दिखलाने के लिये अधिक होता है। कहीं-कहीं इस प्रकार के अन्तर्वर्ती अंक को प्रेक्षणक भी कहा गया है। भास का 'अरुभंग' इसका एक उदाहरण कहा जा सकता है।

(६) भाण, (७) प्रहसन और (८) वीथी

ये तीनों भी एकांकी हैं और इस अर्थ में लगभग एक जैसे हैं कि इनमें कल्पित लौकिक वस्तु का अभिनय किया जाता है। तीनों में मुख और निर्वहण केवल दो सन्धियाँ तथा उनके अंग होते हैं और उन्हीं से सम्बन्धित कार्यावस्थायें तथा अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं। तीनों में पात्र निम्नकोटि के होते हैं। भाण और वीथी इन दो में रस सूच्य होता है और दोनों में आकाशभाषित का प्रयोग किया जाता है।

भाण शब्द भण धातु से बना है जिसका अर्थ है कहना या कथन करना। इसमें जनता का मनोरंजन कहकर ही किया जाता है। अभिनय बहुत कम होता है। इसीलिये इसमें भारती व त्ति की अधिकता होती है। इसमें कोई एक पात्र निपुण पण्डित विट होता है। वह रंगमंच पर आकर या तो अपनी वीरता अथवा शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन करता है या दूसारों की वीरता इत्यादि का वर्णन करता है। इसीलिए इसमें शृंगार और वीर की प्रधानता होता है। किन्तु उनकी सूचना मात्र दी जाती है। अन्य रस भी आ सकते हैं किन्तु वे अंगरूप में ही होते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य लोकानुरंजन है क्योंकि इसमें विट धूर्त कुट्टिनी इत्यादि का वर्णन किया जाता है। इन बातों का ज्ञान तो सामान्य स्तर से ऊंचे राजपुरुषादि को भी अभीष्ट है। इसमें कोई एक धूर्त पात्र रंगमंच पर आता है और विभिन्न घटनाओं का वर्णन इस रूप में करता है कि उपस्थित जनता उसमें अनुरंजन प्राप्त करती है। वह या तो बदमाशों, वेश्याओं, व्याभिचारिणी औरतों, कुट्टिनियों और दूतियों का वर्णन कर वातावरण को शृंगारमय बना देता है या धूर्तों, चोरों, जुआरियों के साहसपूर्ण कृत्यों का वर्णन कर वीर रस की सृष्टि करता है। गणिकाएं, मेष युद्ध, मुक्केबाजी, दो प्रतिद्वन्द्वियों के झगड़े, मदन-महोत्सव इत्यादि सामान्य विषय हैं जिनका समावेश भाण में होता है। वह किसी कल्पित व्यक्ति से वार्तालाप करता है और आकाश की ओर देखकर सुनने का अभिनय करते हुए उसकी उक्तियों को दोहराता जाता है तथा अपनी ओर से भी उत्तर-प्रत्युत्तर करता जाता है तथा जो कुछ कहता है उसे अपने अंगों की चेष्टाओं से अभिनीत भी करता जाता है। सभी कुछ वाचिक होने के कारण वीर और शृंगार की प्रधानता होते हुए भी सात्वती और कैशिकी व त्ति इसमें नहीं होती। 'चतुर्माणी' एक प्राचीन संकलन है। भाण की परम्परा भारत में पर्याप्त मात्रा में रही है।

प्रहसन भी एक अन्वर्थ संज्ञा है। इसका मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त मजाक उड़ाना है। भरत के अनुसार यह दो प्रकार का होता है शुद्ध और संकीर्ण। दशरूपककार ने यह संख्या ३ कर दी - शूद्र, विकृत और संकीर्ण। भरत का संकीर्ण दशरूपककार का विकृत है और संकीर्ण एक नवीन भेद है। शुद्ध प्रहसन में किसी बौद्धसंन्यासी किसी शैव, वैष्णव या भगवद्भक्त की हँसी उड़ाई जाती है। इसी प्रकार कोई तापस भिक्षु श्रोत्रय या ब्राह्मण भी शुद्ध प्रहसन में हास्य का विषय हो सकता है। विकृत प्रहसन में वेश्या, चेट, नपुसंक, धूर्तबदमाश, कुट्टिनी दूती इत्यादि का मजाक बनाया जाता है। यदि इनमें वीथी के अंगों का साङ्कर्य हो जाये तो यह संकीर्ण प्रहसन बन जाता है। इसमें अभिनेता जिसकी हँसी उड़ाना चाहता है उसी की जैसी बोली, वेश, चेष्टा इत्यादि बनाकर लोगों के हंसाया करता है; उन्हीं की जैसी वेशभूषा होती है उन्हीं की भाँति चाल चलता है और उन्हीं की हास्यजनक वस्तुओं को दिखलाता है। इसमें एक या एकाधिक पात्र अभिनय करते हैं इसका प्रधान रस हास्य होता है और दूसरे रस भी हास्य पर्यवसायी ही होते हैं। विश्वनाथ के अनुसार यह दो अंकों का भी हो सकता है। इस विधा की सुदीर्घ

परम्परा भारतीय साहित्य में रही है और प्रहसनपरक कई कृतियाँ उत्पन्न होती हैं। 'मत्तविलास' इसका पुराना उदाहरण है। 'लटकमेलक' दो अंकों में लिखा प्रहसन है। इसी प्रकार 'धूर्तसमागम' भी एक प्रसिद्ध प्रहसन है।

'वीथी' का अर्थ है मार्ग। इसमें जो १३ अंक गिनाये गये हैं वे नाटकादि सभी रूपों में होते हैं। इस प्रकार यह एक मार्ग है जिससे होकर नाटक की अन्य विधाओं तक पहुंचा जा सकता है। 'नाट्यदर्पण' में वीथी का अर्थ टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग कर इसमें वक्रोक्ति की प्रधानता बतलाई गई है, कीथ ने एक अन्य मता का भी उल्लेख किया है कि वीथी का अर्थ है माला। माला में जिस प्रकार अनेक प्रकार के पुष्पों का समावेश होता है उसी प्रकार वीथी में भी अनेक रस सम्मिलित रहते हैं। इसमें भी भाण के समान आकाशभाषित का प्रयोग किया जाता है। इसका नायक उत्तम, मध्यम या अधम कोई भी हो सकता है। या तो कोई एक पात्र आकाशभाषित करता है या दो-तीन पात्र संवाद का प्रयोग करते हैं। क्रमशः सभी रस प्रयुक्त हो सकते हैं। अन्य सब बातें भाण के समान ही होती हैं। कतिपय आचार्य वीथी में कैशिकी वृत्ति को स्वीकार करते हैं। किन्तु 'नाट्यशास्त्र' में इसे नहीं माना गया है। इसमें एक अंक में भी सभी अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं। सन्धियाँ केवल दो ही होती हैं-मुख और प्रतिमुख। इसका कोई प्रतिष्ठित उदाहरण नहीं मिलता। विश्वनाथ ने 'मालविका' नामक वीथी का उल्लेख किया है।

उपसंहार

छोटे रूपकों के ये ८ भेद केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रखते हैं। अब इनका प्रचलन साहित्य जगत में बिलकुल नहीं है। पुराने उदाहरण भी बहुत कम पाये जाते हैं। कुछ प्रकार तो ऐसे हैं जिनका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। यह सच है कि अधिकांश प्राचीन साहित्य लुप्त हो गया है, सम्भव है किसी समय इन सभी प्रकारों की परम्परा विद्यमान रही हो। यह भी सम्भव है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं कि एक ही रचना को लेकर इन प्रकारों के लक्षण बना दिये गये हैं और इनका नामकरण कर दिया गया है। वस्तुतः उपलब्ध साहित्य तो ऐसी कहानी कहता है। कुछ प्रकारों के अधिक उदाहरण भी मिलते हैं।

(ग) उपरूपक

'साहित्यदर्पण' में रूपक के परम्परागत १० भेदों के अतिरिक्त १८ उपरूपकों का भी परिचय दिया गया है। वैसे तो विश्वनाथ की प्रवृत्ति परमुखापेक्षिणी है और ये अधिकतर प्राचीन साहित्य का समाहार कर सरल रूप में उसे प्रस्तुत करने के लिए प्रख्यात हैं; किन्तु यह पता नहीं चलता कि 'उपरूपक' अभिधान इन्होंने कहाँ से लिया है। इनके पहले किसी नाट्यशास्त्रकार ने 'उपरूपक' शीर्षक से किसी तत्त्व पर विचार नहीं किया। अतः वर्तमान उपलब्ध साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि यह अभिधान स्वयं विश्वनाथ का दिया हुआ है; इसका श्रेय इन्हें ही प्राप्त है; इन्होंने विवेचन किया है उनके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। जिन १८ उपरूपकों का इन्होंने परिचय दिया है, वे सब प्राचीन साहित्य में न त्य भेदों में विद्यमान थे।

न त्त, न त्य और नाट्य

संगीत और न त्य में आनन्द लेना मानव की सहजात प्रवृत्ति में एक है। जिस समय हृदय भावनाविभोर होता है और मन में प्रसन्नता भरी होती है तब मुख से अकस्मात् राग फूट पड़ता है और पैर थिरकने लगते हैं। आज भी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को प्रतिफलित करने वाली जातियों में तीज त्योहार, उत्सव, मेला-दशहरा पर तो नाचगान का आयोजन होता ही है फसल की बोआई, कटाई इत्यादि अवसरों पर भी ये जातियाँ खुल कर न त्य गीत का आयोजन करती हैं। व्यक्तिगत प्रसन्नता के अवसर पर पैर थिरकने और अंग फड़कने ही लगते हैं, सामूहिक

उल्लास की अभिव्यक्ति के भी इस प्रकार के नृत्य एक अच्छा साधन है।

संसार की प्रायः प्रत्येक सभ्य जाति के इतिहास के आदिम काल में इस प्रकार के नृत्य गीतों की परम्परा पाई जाती है। धार्मिक उत्सवों में इस प्रकार के नृत्य हुआ करते थे। गीक-नाट्य का उद्भव इस प्रकार के नृत्यों से ही हुआ था। अंग्रेजी-नाटक के प्रारम्भ में इस प्रकार के नृत्यों की ही परम्परा विद्यमान थी। भारतीय नृत्य से परम्परा भी नाट्य की पूर्ववर्तिनी है और वैदिक साहित्य में आनन्दभरी किलकारी अपने कंठ को निनादित करने वाले नृत्य गीतों का उल्लेख किया है।

अंगों का संचालन और गतिशीलता तो सामान्य तत्त्व है जो सभी विधाओं में पाया जाता है। कुछ अंग संचालन ऐसा होता है जो भाव-विशेष को अभिव्यक्त नहीं करता; वह केवल ताल और लय का अनुसरण करता है तथा केवल सौन्दर्य का विधान कर आनन्द साधना में कारण होता है। इस प्रकार के अंग संचालन को नृत्य की संज्ञा दी जाती है। इसका उपयोग अभिनय को सफल बनाने के लिये किया जाता है और कथानक के विकास को अधिक सुन्दर बनाने के लिए इसकी योजना की जाती है। भरतमुनि ने वे स्थान गिनाये हैं जिनमें इस प्रकार के नृत्यों की योजना करनी चाहिये और जिनमें नहीं करनी चाहिये। भरत का कहना है- 'नृत्य किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं करता; इसका प्रवर्तन इसीलिये किया जाता है कि इसमें शोभा उत्पन्न होती है। विवाह, पुत्रजन्म, किसी के स्वागत समारोह, प्रमोदमय स्थिति तथा उन्नति के अवसरों पर नृत्य की योजना करनी चाहिये। नृत्य का उपयोग उस समय करना चाहिये जब विवाहित युग्म की कामोपयोग सम्बन्धी कोई विशेष स्थिति हो। नृत्य से चिन्ता की अवस्था में या प्रोषितपतिका इत्यादि के प्रसंग में प्रयोजित नहीं करनी चाहिये।' सारांश यह है कि नृत्य एक सामान्य नाच है जो आमोद-प्रमोद के अवसरों पर प्रयुक्त किया जाता है। विभिन्न जातियों और देशों में इसकी विधियाँ हैं किन्तु इसका प्रचार असभ्य जातियों से लेकर सभ्यतम जातियों तक सर्वत्र पाया जाता है।

अंग-संचालन की ही दूसरी विधा 'नृत्य' है जिसमें किसी भाव का अभिनय करते हुए नृत्य किया जाता है। इसमें भाव के सहारे ही अंग संचालित होते हैं। इसमें पदार्थ का अभिनय किया जाता है। उदाहरणतः पानी भरने, घड़े को सर पर रखने इत्यादि की क्रियाओं को अभिनय के माध्यम से प्रकट करने की परम्परा हमारे देशों की अनेक नर्तक मण्डलियों में पाई जाती है, जिसमें भावों का अनुकरण किया जाता है; इसमें केवल आंगिक अभिनय होता है; कभी-कभी आहार्य का भी समावेश कर दिया जाता है; किन्तु वाचिक और सात्विक अभिनय इसमें नहीं होता। कभी-कभी कृष्णलीला के कुछ खण्डों को लेकर नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। जैसे किसी अभिसारिका के शृंगार करने की क्रियाओं और कृष्ण के पास जाने इत्यादि की क्रियाओं को अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जिसमें पैरों द्वारा नाच भी चलता रहता है। यह केवल देखने की वस्तु है, सुनने को इसमें कुछ नहीं होता। दर्शक विभिन्न क्रियाओं को देखते हुए ही समझता जाता है और आस्वादन करता जाता है।

नृत्य से आगे की स्थिति नाट्य है जिसमें सम्पूर्ण अभिनय होता है और लोक नृत्य का पूरा अभिनय किया जाता है। इसमें रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत की जाती है, विभाव-अनुभाव, संचारी भाव सभी कुछ अनिवार्य रूप से अभिनीत किया जाता है और उसके लिए आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य चारों प्रकार के अभिनयों का आश्रय लिया जाता है। यह दृश्य श्रव्य तत्त्व है और अनुकरण की पूर्णता ही इसका प्रमुख लक्षण है, तथा रसानुभूति इसका चरम उद्देश्य है। काव्य से नाट्य का सम्बन्ध अधिक होता है नृत्य या नृत्य केवल सहायक होते हैं।

नृत्यपरक भेदों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

ज्ञात होता है सामूहिक मनोरंजन के लिए नृत्यपरक कतिपय खण्डों की परिकल्पना कर ली

गई और सामूहिक आयोजनों में उपयोग किया जाने लगा। इन खण्डों में प्रधानता तो नृत्य की ही रहती थी, किन्तु थोड़ा सा अभिनय भी सन्निविष्ट कर इन्हें लोकानुरंजन के लिये उपयोगी बनाया गया था। ये नृत्य पर आधुनिक दृश्यकाव्य थे और इन्हें नृत्य रूपक की संज्ञा दी जा सकती थी। ये उपरूपक कब सत्ता में आये इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भरत के समय तक सम्भवतः इस प्रकार के आयोजन व्यवस्थित नहीं हो सके थे। इसीलिये नाट्य शास्त्र में उनका विवेचन उपलब्ध नहीं होता। कुछ भेद कोहल तक आते आते व्यवस्थित हो चले थे और वे इस योग्य हो गये थे कि उनकी दृश्य काव्यों में गणना की जा सकती। कुछ लोग कोहल को ही नृत्य रूपकों का प्रथम स्तर मानते हैं हर्ष ने तोटक नृत्य रूपक का उल्लेख किया है। इसीलिए इतना तो निश्चित है कि हर्ष के समय तक कतिपय नृत्य रूपक सत्ता में आ चुके थे।

नृत्य रूपकों का व्यवस्थित नामोल्लेख सर्वप्रथम धनजय ने किया। इन्होंने रूपक के १० भेद करने के बाद प्रश्न उठाया कि रूपक के ६ भेद और भी सम्भव हैं; फिर १० भेद ही क्यों बतलाये जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए इन्होंने लिखा कि १० भेद रसाश्रित होते हैं और ७ भेद भावाश्रित। धनिक ने कुछ विस्तार से नृत्य और नाट्य का भेद समझाया तथा यह बतलाया कि नृत्य करने वालों को नर्तक और नाट्य करने वालों को नट कहा जाता है। धनजय ने नृत्यरूप के ये ७ भेद बतलाये हैं-डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। धनजय ने इन्हें रूपक तो कहा है, किन्तु उपरूपक नहीं। धनजय के प्रवर्ती समसामयिक अभिनवगुप्त ने भी ८ नृत्य रूपकों का उल्लेख किया जिनमें श्रीगदित और काव्य को छोड़कर शेष ५ नृत्यरूपक धनजय के ही बतलाये हुये हैं, उनमें तीन और जोड़ दिये गये हैं प्रेक्षणक, रासाक्रीड और हल्लीसक। हेमचन्द्र ने १० नृत्यरूपकों का उल्लेख किया जिनमें ८ तो अभिनव के बतलाये हुये हैं श्रीगदित धनजय से लिया गया तथा गोष्ठी नामक एक नृत्य रूपक और जोड़ दिया गया। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में इस संख्या को तेरी तक पहुँचा दिया। डोम्बी को छोड़कर ६ भेद 'दशरूपक' के बतलाये हुये हैं; दो भेद हल्लासक और प्रेक्षणक अभिनव से लिये गये हैं; अभिनव के रासाक्रीड को नाट्यरासक की संज्ञा दी गई है; गोष्ठी का उपादान हेमचन्द्र से किया गया है। शेष तीन भेद सट्टक, दुर्भिलिता और शम्मा कहाँ से लिये गये इसका पता नहीं। अग्नि पुराण में १७ भेद किये गये हैं और शारदातनय ने २० भेद किये हैं। इनमें शम्मा और भाण को छोड़कर शेष ११ भेद ज्यों के त्यों 'नाट्य दर्पण' से लिये गये हैं-केवल दुर्भिलित के स्थान पर दुर्भल्लिका कर दिया गया है और रासक के स्थान पर लासक धनजय द्वारा निर्दिष्ट डी०वी० और हर्ष द्वारा उल्लिखित तोटक इस श्रेणी में सम्मिलित कर लिये गये हैं। इस प्रकार इनकी संख्या १३ हो जाती है। कुछ नये भेद जोड़ दिये गये हैं-नाटिका, संलाप, शिल्पक, उल्वाप्यक, मल्लिका, कल्पवल्ली और परिजातिक।

विश्वनाथ के समय तक आते-आते नृत्यरूपकों की यही स्थिति बन गई थी। किसी ने इन्हें उपरूपक की संज्ञा नहीं दी थी। उपलब्ध साहित्य से भाव होता है कि इन्हें उपरूपक कहने का श्रेय विश्वनाथ को ही प्राप्त होता है। विश्वनाथ ने १८ उपरूपकों का विवेचन किया है-इसने शारदातनय के बतलाये ५ भेद छोड़ दिये गये हैं-शम्मा, भाण, मल्लिका, कल्पवल्ली और परिजातिक। इस प्रकार विश्वनाथ ने १५ भेद तो शारदातनय के ही स्वीकार किये हैं ३ अपनी ओर से जोड़ दिये हैं विलासिका प्रकरणी और भाव। वस्तुतः प्रकरणी की कल्पना नाटिका के आधार पर की गई है-क्योंकि प्रधान रूपकों में दो ही मुख्य हैं नाटक और प्रकरण। अतएव नाटिका के समान प्रकरणी का होना भी स्वाभाविक ही है। भाण की समता धनजय ने ही दी थी। विश्वनाथ ने ही सर्वप्रथम उपरूपक नाम से नृत्य रूपकों का विवेचन किया था और उनके द्वारा बतलाये हुये १८ उपरूपक ही साहित्य जगत में प्रतिष्ठित माने जाते हैं। अतः उन्हीं का संक्षिप्त परिचय निम्न पृष्ठों पर दिया जा रहा है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि

इनका उद्गम न त्यरूपकों से ही है; अतः इनमें न त्य की ही प्रधानता होनी चाहिए; अभिनय गौण रूप से इनमें ही जुड़ा हुआ है; फिर भी उसका महत्व कम नहीं है, यहाँ तक कि कभी कभी तो प्रधान रूपकों से इनका भेद करना भी कठिन हो जाता है

विश्वनाथ के बतलाये १८ उपरूपकों में नाटिका और प्रकरणिका या प्रकरणी ये दो प्रमुख रूपकों के समकौटिक ही हैं। शेष १६ में १० एकांकी हैं, शेष छः में एक से अधिक अंक होते हैं।

नाटिका और प्रकरणिका

नाटिका सर्वप्रधान उपरूपक है। किसी न किसी रूप में इसकी सत्ता प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है। भरत ने 'नाटी' नामक एक भेद का उल्लेख था। रूपककार ने अपने प्रबन्ध को रूपक के १० भेदों तक सीमित रखते हुये भी नाटिका का निरूपण किया है। नाटिका में नाटक के समान प्रधान पात्र प्रख्यात होता है किन्तु प्रकरण के समान कथा कविकल्पित होती है। इस प्रकार उपरूपक का यह रूप नाटक और प्रकरण कथा दोनों का मिश्रण होता है अर्थात् प्रख्यात नायक के विषय में कथानक कल्पित हुआ करता है। इसमें स्त्रियों का बाहुल्य होता है, चार अंक होते हैं और नायक धीरललित होता है। इसकी नायिका कोई कन्या होती है जो या तो किसी न किसी प्रकार अन्तःपुर से सम्बद्ध कर दी जाती है या संगीत में लगी रहती है। नायिका भी किसी राजवंश की ही कन्या होती है। राजा का उससे नया-नया अनुराग होता है और उसे अपनी रानी का पग-पग पर त्रास बना रहता है तथा वह डरता-डरता कन्या के प्रेम में प्रवृत्त होता है रानी भी किसी राजघराने की होती है जो कि राजा की ज्येष्ठ पत्नी होती है और प्रत्येक कदम पर राजा से मान करती है; यह बड़ी प्रगल्भ होती है और राजा का नायिका से सम्मिलन रानी के ही हाथ में होता है। अन्त में रानी की स्वीकृति मिल जाती है और दोनों का संगम हो जाता है। अन्तःपुर से सम्बद्ध होने के कारण उसमें गीत न त्य और वाद्य का पर्याप्त अवसर रहता है और नायक के धीरललित होने से इसमें न त्यादि के समतावेश को प्रोत्साहन मिलता है। इसका अंगी शृंगार रस होता है और वृत्ति कैशिकी होती है। उदाहरण के लिये 'रत्नावली', -प्रियदर्शिका' इत्यादि नाटिका के क्षेत्र में ही आते हैं। हिन्दी में 'चन्द्रावली' एक नये प्रकार की रचना है जिसमें संस्कृत साहित्य के सभी नियम नहीं पालन किये गये हैं।

'प्रकरणिका' में सभी विशेषताएं नाटिका की ही होती हैं अन्तर केवल यही होता है कि 'प्रकरणिका' में नायक कोई सार्थवाह या बनिया होता है जबकि नाटिका में राजा नायक होता है। विश्वनाथ ने इस भेद को स्वीकृति प्रदान की है जबकि धनिक ने उसे अस्वीकार किया है। वस्तुतः प्रकरणिका के लक्षण प्रकरण से ही गतार्थ हो जाते हैं। अतः इसे पथक् रूप में मान्यता प्रदान करना उचित नहीं।

एकांकी उपरूपक

जैसा कि बतलाया जा चुका है १० उपरूपक एकांकी होते हैं। इनमें अधिकांश में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है और स्त्रीपात्रों का आधिक्य पाया जाता है। हास्य और शृंगार ये दो रस अधिकांश एकांकी उपरूपकों में होते हैं। कई उपरूपकों के उदाहरण नहीं पाये जाते; क्योंकि वास्तविक रूपक की अपेक्षा इनमें गीतन त्य वाद्य की प्रधानता रहती है और कहीं-कहीं मूल नाट्य भी रहता है। कथा का ब्याज बहुत क्षीण होता है। कुछ ही भेद ऐसे हैं जिनमें उदात्तता पाई जाती है; अन्यथा मनोरंजनपरक न त्य इनमें अधिक चलते हैं। इन १० उपरूपकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(अ) गोष्ठी

इनमें कुल मिलाकर १५, १६ पात्र होते हैं-६ या १० पुरुषपात्र और ५ या ६ स्त्रीपात्र रहते हैं। सभी पात्र जनसाधारण से लिये जाते हैं और सामान्य जन-जीवन का अभिनय प्रस्तुत करते हैं। इसके कथोपकथन अधिकांश हलके-फुलके होते हैं, जिनमें उदात्तता नहीं होती। इसमें मुख,

प्रतिमुख और निर्वहण ये तीन सन्धियाँ ही होती हैं, क्योंकि संघर्ष अधिक नहीं होता। इसमें प्रधानता काम शृंगार की होती है और कैशिकीवृत्ति का विशेष आश्रय लिया जाता है। साहित्यदर्पण में इसका उदाहरण दिया गया है 'रैवतमदनिका'।

(आ) नाट्यरासक

इसका उल्लेख 'भावप्रकाशन' 'नाट्यदर्पण' और 'साहित्य दर्पण', में किया गया है। 'नाट्यदर्पण' में इसकी परिभाषा बहुत ही संक्षिप्त दी गई है- 'वसन्त आने पर स्त्रियाँ प्रेम के आवेश में भरकर जब राजाओं के चरित्र को नृत्यगीत के द्वारा प्रस्तुत करती हैं तब उसे नाट्यरासक की संज्ञा प्राप्त होती है। 'साहित्यदर्पण' में कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार इसमें किसी उदात्तचरित्र का नायक के रूप में उपादान किया जाता है और पीठमर्द (नायक के समान तथा उससे घटकर गुणों वाला पात्र) उपनायक (सहायक) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें ताल और लय तथा संगीत की स्थिति बहुत अधिक मात्रा में होती है। हास्य रस अंगी होता है और पुष्कलरूप में शृंगार का समावेश किया जाता है। नायिका वासकसज्जा होती है अर्थात् एक स्त्री नायिका के रूप में शृंगार करके नायक के आगे की प्रतीक्षा करती है और दूसरा अभिनय नृत्य के द्वारा उसी के चारों ओर घूमता है। इसमें प्रतिमुख सन्धि का अभाव होता है। कभी-कभी मुखसन्धि के बाद निर्वहण सन्धि आ जाती है और कभी-कभी अन्य प्रासंगिक कथा का समावेश कर दिया जाता है जिससे गर्भ और विमर्श सन्धियों का भी समावेश हो जाता है। लास्य के सभी अंग इसमें आ जाते हैं। 'नर्मवती' नामक नाट्यरासक में दो सन्धियों का उपादान हुआ है और 'विलासवती' में चार सन्धियों का भारतेन्दु बाबू ने 'भारतदुर्दशा' की रचना नाट्यरासक के रूप में की थी। किन्तु शास्त्रीय लक्षणों से उसका मेल नहीं बैठता। सम्भवतः भारतेन्दु की नाट्यरासकविषय कल्पना कुछ भिन्न थी। किन्तु उसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया।

(इ) उल्लाप्य

इसका निरूपण 'भावप्रकाशन' में किया गया है। 'साहित्यदर्पण' में इसका परिचय इस प्रकार दिया हुआ है- इसमें दिव्यवस्तु का उपादान होता है और इसका नायक उदात्त होता है। शिल्पक नामक उपरूपक के जो २७ अंग बतलाये गये हैं वे इसमें भी होते हैं। इसमें हास्य शृंगार और करुण इन तीन रसों का समावेश होता है। इसमें संग्राम बहुत अधिक दिखलाया जाता है, आंसुओं का भी समावेश रहता है और संगीतजन्य मनोहरता भी रहती है। इसमें चार नायिकार्ये होती हैं। इसका उदाहरण है 'देवीमहादेवम्' कुछ लोगों के मत से इनमें कभी-कभी ३ अंक भी होते हैं।

(ई) काव्य

इसका उल्लेख नृत्यपरकरूपक भेदों में 'दशरूपक' में भी किया गया है। इसके अतिरिक्त 'अग्निपुराण', 'भावप्रकाशन' में भी इसको स्थान दिया गया है। इसमें हास्य और शृंगार का बाहुल्य होता है। इसका नायक उदात्त तथा ललित होता है जो ब्राह्मण, अमात्य या वणिक हो सकता है। इसकी नायिका कुलटा वेश्या होती है। इसमें आरम्भ ही को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं अर्थात् विषयवस्तु में कठोरता नहीं होती। इसमें भग्नाल, मात्रा एवं लास्य का बहुत प्रयोग होता है। विदूषक या विट का प्रयोग भी आवश्यक है। नायिका उच्चगुणों वाली दिखलाई जाती है। इसका उदाहरण है 'यादवोदय'।

(उ) प्रेक्षण या प्रेष्टवण

इनमें सभी वृत्तियाँ होती हैं। कोई हीन पात्र इसके नायक के रूप में दिखलाया जाता है। न इसमें सूत्रधार होता है, न विष्कम्भक न प्रवेशक। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ भी नहीं होती। इसमें

बाहुयुद्ध भी दिखलाया जाता है और क्रोधपूर्ण वार्तालाप भी। नेपथ्य में नन्दीपाठ किया जाता है और प्ररोचना का भी प्रयोग होता है अर्थात् कवि तथा काव्य की प्रशंसा भी प्रारम्भ में की जाती है। इसका उदाहरण है 'वालिवध' इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने भी किया है और 'नाट्यदर्पण', 'भावप्रकाशन', 'काव्यानुशासन' में भी इसका निरूपण किया गया है। 'नाट्यदर्पण' में लिखा है कि गलियों में, समूह में, चौराहों पर, मद्यशालाओं में जो बहुत से पात्र मिलकर विशेष प्रकार के नृत्य के द्वारा किसी वस्तु का प्रदर्शन करते हैं, वह प्रेष्टवण कहलाता है जैसे 'कामदहन' इत्यादि।

(ऊ) रासक

इसका उल्लेख 'दशरूपक' में भी किया गया है और अभिनवगुप्त ने भी इसे स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त 'नाट्यदर्पण', 'भावप्रकाशन' और 'काव्यानुशासन' में भी इसका निरूपण है। 'नाट्यदर्पण' के अनुसार १६, १२ या ८ नायिकायें जिसमें पिण्डबिन्धु इत्यादि विन्यास से नृत्य करती हैं उसे 'रासक' कहा जाता है। एक साथ गुंथ कर नाचना पिण्डी कहलाता है, एक दूसरे से मिलकर शंखला के रूप में नाचना शंखला कहलाता है; बंधी हुई शंखला से लताजाल को तोड़कर अलग-अलग नाचने को भेद्यक कहा जाता है। 'साहित्यदर्पण' की परिभाषा में नृत्य के अतिरिक्त अभिनय भी सम्मिलित हो गया है। इसके अनुसार रासक में ५ पात्र होते हैं और मुख तथा निर्वहण ये दो सन्धियाँ होती हैं। कुछ लोग प्रतिमुख सन्धि का होना भी स्वीकार करते हैं। भारती और कैशिकी ये दो वृत्तियाँ होती हैं। इसमें अनेक भाषाओं और उपभाषाओं तथा अनेक प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किया जाता है। सूत्रधार का अभाव होता है; किन्तु नान्दीपाठ किया जाता है। वीथी के सभी अंग रहते हैं तथा विभिन्न कलाओं का प्रयोग किया जाता है। इसकी नायिका प्रख्यात होती है और नायक मूर्ख। इसका उदाहरण है 'मेनकाहितम्'।

(ए) श्रीगदित

इसका उल्लेख 'दशरूपक' के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है और अभिनवगुप्त, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय प्रभृति अनेक आचार्यों ने इसको स्थान दिया है। 'नाट्यदर्पण' के अनुसार जिसमें कोई कुलांगना अपने पति के शौर्य त्याग औदार्य प्रभृति गुणों का गीत के माध्यम से अपनी सखी के सामने उसी प्रकार वर्णन करती है मानो लक्ष्मी विष्णु का वर्णन कर रही हो, फिर पति के द्वारा नियुक्त होकर गीत का स्वर क्रमशः उपालम्भपरक होता जाता है उस रूपक को श्रीगदित की संज्ञा प्राप्त होती है। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार इसकी वस्तु प्रख्यात होती है, नायक प्रख्यात और उदात्त होता है; नायिका भी प्रसिद्ध होती है। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता होती है। कीथ के अनुसार इसमें श्रीशब्द का प्रायः उल्लेख किया जाता है और श्रीरूप धारिणी कोई नटी बैठकर पद गाती है। 'साहित्यदर्पण' में इसका उदाहरण दिया गया है 'क्रीडारसातल' कीथ ने माधवरचित 'सुभद्राहरण' को एकमात्र इस भेद की रचना कहा है।

(ऐ) विलासिका

इसका एकमात्र उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में ही है। विश्वनाथ ने इसे कहां से लिया है, यह पता नहीं चलता। इसमें शंखार की अधिकता होती है; लास्य के दसों अंग विद्यमान रहते हैं। विदूषक, पिट और पीठमर्द इसमें विशिष्ट पात्र होते हैं; नायक निम्न कोटि का होता है, वस्तु बहुत थोड़ी होती है किन्तु वेशभूषा और नेपथ्य तथा नाच-गान की अधिकता होती है। गर्भ और विमर्श ये दो सन्धियाँ नहीं होती। कुछ लोग इसे लासिका की संज्ञा प्रदान करते हैं जिसका दुर्गल्लिका में अन्तर्भाव हो जाता है। इसका कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता।

(ओ) हल्लीस

इसका वर्णन 'नाट्यशास्त्र' 'काव्यानुशासन', 'भावप्रकाशन' इत्यादि ग्रन्थों में भी किया गया है और अभिनवगुप्त ने भी इसका उल्लेख किया है। यह एक प्रकार का नृत्य है जिसमें ८, १० स्त्रियाँ मण्डल बनाकर तथा एक नायक को मध्य में रखकर उसी प्रकार नाचती हैं जिस प्रकार ब्रजभूमि में गोपी कृष्ण नृत्य की परिपाटी है। इसमें कैशिकीवृत्ति की प्रधानता होती है। नायक की वाणी उदात्त होती है तथा ताल और लय का बाहुल्य होता है। इसमें मुख तथा निर्वहण ये दो सन्धियाँ होती हैं। इसका उदाहरण है 'केलिरैवतकम्'।

(औ) भाणिका

इसका उल्लेख अनेक आचार्यों ने किया है। यह भाण का सजातीय उपरूपक है। इसमें नेपथ्य विधान बहुत ही मनोरम होता है; मुख और निर्वहण ये दो सन्धियाँ होती हैं; कैशिकी और भारती ये दो वृत्तियाँ होती हैं; नायिका कोई उच्चकोटि की स्त्री होती है और नायक हीन कोटि का होता है। इसके ७ अंग माने गये हैं जिनमें इसकी वस्तु का विश्लेषण हो जाता है, इसमें प्रसंग वश कार्य का वर्णन किया जाता है (उपन्यास); निर्वेदपूर्ण कथन किये जाते हैं (विन्यास); भ्रान्ति का नाश होता है (विबोध); मिथ्या कथन किये जाने हैं (साध्वस); क्रोध और पीड़ा से उपालम्भ दिये जाते हैं (समर्पण); कोई दृष्टान्त दिया जाता है (निवृत्ति) और अन्त में कार्य का समापन होता है (संहार)। इन्हीं सात अंगों में भाणिका की योजना की जाती है।

एक से अधिक अंकों वाले उपरूपक

'नाटिका' और 'प्रकरणिका' का पहले विवेचन किया जा चुका है; ये दोनों एक से अधिक अंकों वाले उपरूपक हैं। वस्तुतः ये दोनों उपरूपक की अपेक्षा रूपक से अधिक निकट हैं। क्योंकि अनेक रूपकों की अपेक्षा भी इनमें कथावस्तु अधिक ही होती है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित उपरूपक और होते हैं, जिनमें एक से अधिक अंक हुआ करते हैं :-

(अ) प्रस्थान

इसमें दो अंक होते हैं। इसका प्रायः सभी आचार्यों ने विवेचन किया है। नायक दास होता है और उपनायक कोई हीन पात्र होता है। नायिका दासी होती है और भारती तथा कैशिकी ये दो वृत्तियाँ होती हैं। इसमें पूर्वरग, मान, प्रयास का अभिनय रहता है, वर्षा और बसन्त का उत्कण्ठापूर्ण वर्णन किया जाता है। अन्त में वीर रस इत्यादि का निबन्धन रहता है और चार खण्डों में बांटकर नृत्य किया जाता है। अभीष्ट अर्थ का उपसंहार सुरापान के द्वारा किया जाता है; ताल और लय का इसमें मिश्रण रहता है और विलास की अधिकता होती है। इसका उदाहरण है 'शृंगारतिलक'।

(आ) शिल्पक

इसमें चार अंक होते हैं; चारों वृत्तियाँ होती हैं। शान्त और हास्य को छोड़कर सभी रस होते हैं; ब्राह्मण नायक होता है; श्मशान इत्यादि का वर्णन रहता है और उपनायक कोई हीन प्रकृति का होता है-आशंका, तर्क, संदेह, ताप, उद्वेग, प्रसक्ति, प्रयत्न इत्यादि २७ अंगों से इसकी रचना की जाती है। उदाहरण-कनकावती।

(इ) संलाषक

इसका उल्लेख 'भावप्रकाशन' में भी किया गया है। इसमें तीन या चार अंक होते हैं। कोई पाखण्डी नयक होता है तथा शृंगार और करुण रसों को छोड़कर अन्य रस हुआ करते हैं। नगरोपरोध, छल, उपद्रव इत्यादि का अभिनय किया जाता है। न तो इसमें भारती वृत्ति होती है न कैशिकी। उदाहरण-'मायाकालिक'।

(ई) दुर्मल्ली

‘नाट्यदर्पण’ में इसका नाम ‘दुर्मिलिता’ लिखा है। किन्तु दोनों के लक्षणों में पर्याप्त अन्तर है, ‘नाट्यदर्पण’ की दुर्मिलिता में कोई दूती अश्लील कथाओं द्वारा युवक युवतियों के चौर्यरत का वर्णन करती है और उसकी बातें ग्राम्यकथाओं से भरी होती हैं। उसके विषय में सलाह करती है और नीच जाति होने से धन मांगती है और मिल जाने पर भी अधिक मांगती है। ‘साहित्यदर्पण’ के अनुसार इसमें चार अंक होते हैं, व तियाँ कैशिकी और भारती होती है; इसमें गर्भसन्धि नहीं होती, नागरिक व्यक्ति इसके पात्र होते हैं जिनकी संख्या बहुत कम होती है। पहला अंक ६ घड़ी का होता है जिसमें बिट की हँसी-मजाक चलती है; दूसरा अंक १० घड़ी का होता है जिसमें विदूषक की हँसी मजाक दिखलाई जाती है; तीसरे में पीठमर्द का विलास रहता है जो कि १२ घड़ी तक चलता है; चौथा अंक २० घड़ी तक चलता है जिसमें नायक की क्रीड़ा दिखलाई जाती है। इसका उदाहरण है ‘बिन्दुमती’।

(उ) त्रोटक

इसका उल्लेख भाव प्रकाशन में भी हुआ है। इसमें अंकों की संख्या ५, ७, ८ या ९ हो सकती है। इसका नायक दिव्यमानव होता है और इसके प्रत्येक अंक में विदूषक रहता है। इसी से सिद्ध होता है कि इसका अंगी शं गाररस ही हो सकता है। ‘विक्रमीर्वशीय’ इसका उदाहरण है।

अनिश्चित अंकों वाला ‘सट्टक’

‘सट्टक’ में अंकों की संख्या नियत नहीं होती। इसके अंकों को जवनिका की संज्ञा दी जाती है। समस्त पाट्य प्राकृत भाषा में होता है; इसमें न तो प्रवेशक होता है न विष्कम्भक। अद्भुत रस की मात्रा बहुत अधिक होती है। इसका उल्लेख ‘नाट्यदर्पण’ में भी किया गया है और सभी बातें नाटिका के समान बतलाई गई हैं।

उपरूपकों की विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों में न्यूनाधिक संख्या इस बात का प्रमाण है कि इस विधा पर सामाजिक परिवेश की छाप बहुत अधिक है। जैसा समय आता गया नये प्रकारों की परिकल्पना की जाती रही और कभी-कभी पुरानी विधाओं का लोप भी होता गया। निरसन्देह ये हल्के-फुल्के मनोरंजन हैं, जिनमें अधिक संभार आवश्यक नहीं होता और जनसाधारण को सस्ता अनुर जन प्राप्त होता है। नाटक तो अभिजात वर्ग से सम्बद्ध है किन्तु उपरूपकों में जनजीवन का चित्रण रहता है। अतएव जनसाधारण के मनोरंजनों के माध्यम से उनके जीवन का अध्ययन करने के लिए इनमें पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। सामयिक होने के कारण ही ये रचनाएं सुरक्षित रह सकी हैं और इनकी परम्परा का अध्ययन एक दुस्तर कार्य हो गया है।

पारंपरिक नाट्य रूप

मनुष्य परंपरा के आधार पर अपने को पूर्ण देखना चाहता है। जो अदृश्य है, अंधेरे में छिपा है उसको देखना चाहता है और देखने के अनुभव का आनन्द लेना चाहता है। अर्थात् वह अपना पूरा सामना करता है और उन अनुभवों से गुजर कर उसके पूरे भावों को समाहित करता है जिसके बिना वह सचमुच अभी तक अधूरा था, अपरिभाषित था। वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है “‘लोक’ (परंपरा) हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित हैं। अर्वाचीन मानव के लिए ‘लोक’ सर्वोच्च प्रजापति है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘परंपरा’ शब्द ऐसे लोगों के लिए प्रयोग किया जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि सम्पन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृतिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं। अंग्रेजों ने ‘लोक’ शब्द को ‘फोक’ मानकर उसे अत्यन्त नीचे ला गिराया। आजादी के बाद हमारी सरकारी दृष्टि ने भी ‘लोक’ को कभी संगीत से, कभी नृत्य से, कभी नाटक से, कभी रहन-सहन पहनावे वगैरह से मिलाकर उसे एक ओर छब्बीस जनवरी के गणतन्त्र दिवस की झांकी से जोड़ दिया। वस्तुतः अदृश्य तब दृश्यगत होता है, अशरीरी सूक्ष्म जब रूप ग्रहण करता है, जो अंधेरे में था और जो अब लोकने वाला है-वह है लोक, और जैसे ही वह लौकिक होता है, वैसे ही उसके और सृष्टि के बीच समस्त सम्बन्ध गाजा-बाजा, रंग-रूप के साथ उद्घाटित होने लगते हैं। लोक रंगभूमि पर सब एक दूसरे की आँख हैं। सब एक दूसरे के रंग हैं। सबके विविध रंग के एक विराट लोक रंग निर्मित हुआ है। लोक रंगमंच लोक समाज की देह का अंग है। जीवन की उमंग की स्वाभाविक अनायास अभिव्यक्ति है। लोक शैली का कथा सूत्र नागर मर्यादाओं में बंधा हुआ नहीं होता, किन्तु समसामयिक समस्याओं को इस शैली में समाहित किया जा सकता है।

लोक रूपों में लोक संगीत का समावेश रहता है। गीतों को विशेष अंदाज में प्रस्तुत किया जाता है। संगीत का क्षेत्रीय स्वरूप प्रेक्षागृह को संगीतमय और प्रदर्शन पक्ष को अत्यन्त मधुर, प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी बना देता है। नृत्य का अंश लोकनाट्य कला की महत्वपूर्ण विशेषता है। ये नृत्य सामूहिक भी होते हैं जिनमें नृत्य भंगिमाओं की विविधता नहीं होती। ताल सौन्दर्य अद्भुत होता है। निष्कर्षतः लोकनाट्य लोकरुचि और आस्था को मूर्त करने वाले लोकंजन का आडम्बरहीन साधन है। नगर के शिष्ट रंगमंच से अलग स्तर का यह लोकंजन एक विशाल जीवन का मनोरंजन करता है।

लोकनाट्यों के लिए मंच निर्माण अपना वैशिष्ट्य है जो खुले चबूतरे को सजाकर बना दिया जाता है। जिसमें पात्र भी आकर बैठ जाते हैं। पर्दे नहीं होते, अंतः दृश्य की समाप्ति पर कोई पर्दा नहीं गिरता। सम्पूर्ण कथा अविच्छिन्न रूप से अभिनीत की जाती है। दर्शक समाज मैदान में खुले आकाश तले बैठकर अभिनय देखते हैं। किनारे पर रोशनी का प्रबन्ध कर लिया जाता है। एक ओर लघु मंच गायक वादकों की टोली के लिए बना दिया जाता है। इन रंगमंचों से दर्शक की दूरी और औपचारिकता नहीं रहती। खुले सार्वजनिक स्थान, घर के आंगन, चबूतरे पर या गलियों के नुक्कड़ पर कहीं भी इन्हें मंचित किया जाता रहा है।

सम्पूर्ण भारत में बिखरे इन लोकनाट्यों की एक लम्बी सूची है। क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग तरह के ये लोकनाट्य अपने-अपने बतौर जनमानस के मनोरंजन का साधन रहे हैं। जनसाधारण

के जीवन से घुला-मिला यह लोकमंच समय और क्षेत्र के हिसाब से अपना रूप बदलता रहा है।

हिन्दी में पंरपरागत नाट्य का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इन लोकनाट्यों में रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, विदेसिया, नचारी, माच, ख्याल, करियाला इत्यादि हैं। इनका हिन्दी भाषी प्रदेशों में अपना एक अलग महत्व है। कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से रामलीला, रासलीला, माच, नौटंकी, भाण्ड और विदेसिया मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

(क) रामलीला

‘रामलीला को लोक में अद्भुत लोकप्रियता मिली है। ‘हरिवंश’ में इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्रद्युम्न, साम्ब आदि यादवों ने अन्य नाटकों के साथ ‘रामजन्म’ का भी अभिनय किया था। महाभारत में ‘रामायण नाटक’ का उल्लेख किया गया है। भवभूति के ‘उत्तररामचरित’ में भी रामकथा की परम्परा उपलब्ध है। अतएव यह स्पष्ट है कि रामकथा को लेकर नाट्य रचना करने और उन्हें रंगमंच पर अभिनीत करने की एक सुघड़ परंपरा अतीत में विद्यमान थी।

रामलीला के मौजूदा रूप का प्रवर्तन वाराणसी में गोस्वामी तुलसीदास ने किया था। यह अपने किस्म का एक पौराणिक यथार्थवादी लोकनाट्य है जिसमें व्यापक स्तर पर रामचरित मानस की पंक्तियों का उपयोग किया जाता है। इसके मुख्यतः दो रूप हैं। एक प्रचलित पद्धति यह है कि उसमें रामलीला किसी एक नाट्य पर खेलने की बजाए नगर के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में खेली जाती हैं। लीला की यह पद्धति वाराणसी में प्रचलित है। वहाँ मुहल्लों को रामकथा के विविध प्रसंगों से सम्बन्धित नाम दिये हुये हैं और वे प्रसंग वहीं खेले जाते हैं। इसका तमाम खर्च काशी नरेश उठाते हैं। कहा जाता है कि स्वयं तुलसीदास जी ने यह पद्धति अपनाने की सलाह दी थी। इसका आधार ग्रंथ तुलसी कृत ‘रामचरितमानस’ है। कालान्तर में प्राणचंद का ‘रामायण महानाट्य’ एवं हृदयराम का ‘हनुमन्नाटक’ को भी इसमें कहीं-कहीं शामिल किया गया। भारतेन्दु जी ने स्वयं इसके लिए सरस पाठ्य का प्रणयन भी किया था जिसमें पाठक और धारक के लिए उपयुक्त सामग्री उपलब्ध हुई। इसके प्रदर्शन की बड़ी रोचक रीतियाँ और रूढ़ियाँ हैं।

वाराणसी की रामलीला की प्रदर्शन शैली बड़ी रोचक है। यह तीस दिन तक चलती है और स्थाई रूप से बने घटनास्थलों के मंच पर प्रदर्शित होती रही है। दूसरी प्रदर्शन पद्धति में रामलीला एक नाट्य-मण्डल अर्थात् नगरों और कस्बों में चौखटे जड़े मंच पर खेली जाती है। बिहार के दरभंगा, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली में यह पद्धति प्रचलित है। नाट्य मंचों अथवा उत्साही युवकों द्वारा इसे मंचित किया जाता रहा है। दरभंगा की रामलीला का आधार ग्रंथ केशव की ‘रामचन्द्रिका’ एवं राधेश्याम कथावाचक की ‘रामायण’ है।

रामलीला पर क्षेत्रीय प्रभाव ज्यादा रहा है। अलग-अलग क्षेत्रों में खेली जाने वाली रामलीला वहाँ के वातावरण, संस्कृति एवं भाषा आदि से प्रभावित रहती है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि अनेक नाट्यों को आधार मानकर एक रूप दे दिया जाता है। जिसमें वहाँ के लोकगीतों, लोकधुनों एवं लोक संस्कृति पर आधारित रामलीला खेली जाती है। अर्थात् लोकधर्मों नाट्यशैली, लोक मनोभावों एवं प्रतिक्रियाओं के रूप में इसे प्रस्तुत किया जाता है।

रामलीला में मुखौटों का प्रयोग उसकी विशेषता है। आजकल इन मुखौटों को सिर पर लगाने की व्यवस्था की गई है जो उचित है क्योंकि मुखौटाधारी पात्रों को अपने सात्विक अभिनय का सम्प्रेषण करना होता है। दृश्य योजना आडम्बर रहित होती है। कथावाचक या न्यास-मण्डली ढोलक, वाद्य या समवेत गायन द्वारा कथा को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। बीच-बीच में इनाम-इकराम भी चलता है।

वर्तमान में प्रसिद्ध निर्देशकों ने संगीत नाटक और नृत्य नाट्य के रूप में भी इसे प्रस्तुत करना शुरू कर दिया है। पण्डित उदयशंकर ने इसे 'छाया नाट्य' का रूप भी दिया है। उनके शिष्यों-सचिन शंकर और नरेन्द्र शर्मा ने सन् 1950 में एक बहुत सुन्दर आकर्षक रामलीला नृत्य-संगीत में प्रस्तुत की थी। शान्तिवर्धन ने सन् 1952 में रामायण पर आधारित पुतलियों के नृत्य-नाट्य का सर्जन भी किया था जिसमें पुरुष और स्त्रियाँ मुकुट-मुखौटे लगाकर पुतलियों की भाँति नाचते हैं। आज रामचरित की लोकप्रियता एवं रामकथा के अभिनय की परम्परा केवल हमारे देश में ही नहीं अपितु समीपवर्ती देशों तक भी जा पहुँची है।

भारतीय कला केन्द्र दिल्ली ने रामलीला नाम से एक ऑपेरा तैयार किया, जिसे बेहद लोकप्रियता मिली है। इस ऑपेरा का आधार पाश्चात्य तकनीक है और उसकी रंग-बिरंगी साज-सज्जा और नृत्य-रस की लोक प्रसिद्ध कथा के माध्यम के कारण लोगों ने उसे पसन्द भी किया है। परन्तु मंच की भव्यता तथा दृश्य विधान के आकर्षण में खो जाना सही नहीं। इस ऑपेरा पर दूसरा आरोप यह भी है कि इसमें कहीं दृश्यों का अनावश्यक विस्तार है तो कहीं कथा की विशिखलता खटकती है।

यह मंच दर्शक समाज और उसकी लोकरुचि से जुड़ा है। हमें चाहिए कि इस महानाट्य को जनता तक ले जाने के लिए जनभाषा और नवीन तकनीक पर बल दें ताकि यह क्षेत्रीय लोकमंच राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रतिष्ठित हो सके।

(ख) रासलीला

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के साथ रचाई गई 'रास लीला' का उल्लेख श्रीमद्भागवत में मिलता है। नन्ददास ने स्त्री और पुरुष द्वारा परस्पर हाथ मिलाकर मण्डल स्वरूप किये गये नृत्य को 'रास' कहा है। 'रसानां समूहो रासः' के अनुसार 'रास' रसों का समूह है। अर्थात् 'रास' मुख्यतः नृत्य और संगीतात्मक नाट्य रूप है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के स्वामी हित हरिवंश ने रास मण्डल नियमित किया था और 'रासलीला' को ब्रज प्रदेश का दर्पण बना दिया था। कालान्तर में दार्शनिक विचारों का स्पर्श पाकर 'रास' रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया और 'लीला' को वस्तुतः एक क्रिया मान लिया गया। भगवान रास रूप में हैं। रास में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रस स जन का माध्यम है। वही भगवान की प्रेम स्वरूपा अभिव्यक्ति है।

'रास' की उत्पत्ति ब्रज प्रदेश से मानी गई है किन्तु देश के विभिन्न भागों में यह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। गुजरात से लेकर मणिपुर तक इस लीला का मंचन होता है, परन्तु मथुरा व वंदावन में आयोजित होने वाली रासलीलाओं का अलग ही आकर्षण है।

'रासलीला' में कृष्ण-कथा को एक नृत्य संगीतात्मक छवि प्रदान की जाती है। कृष्ण-राधा और गोप-गोपियों के बीच अनिवार्यतः मनसुखा की कल्पना रासलीला में की गई है। कृष्ण जीवन के विविध प्रसंगों में 'रास' की परम्परा पूर्णतः आवृत है। गोप-गोपिकाओं एवं अहीरों, कृष्ण सम्बन्धी विभिन्न प्रहसन आदि 'रासलीला' के बिन्दु हैं। इस लीला का मंच अत्यन्त साधारण कोटि का होता है। मंदिर या किसी चबूतरे एवं ऊँचे तख्तों और बांसों के सहारे मंच बना लिया जाता है। पात्र पर्दे के पीछे से मंच पर आते हैं। दृश्यांतर की सूचना पात्रों के चले जाने पर निर्देशक या आयोजक करता है। रंगभूमि में एक गायक और वादक बैठे होते हैं और सामने प्रेक्षकों के लिए खुले आकाश का प्रेक्षागृह रहता है।

नाट्य आलोचक एवं लोक अभिनेता डॉ० विश्वभावन देवलिया का मत है कि रासलीला के नाट्य-मण्डप का मंच विधान आकर्षक है और उसमें मंगलाचरण जैसी संस्कृत रूढ़ियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। आरम्भ मदकवादन और गायिका के रागालाप से होता है। मंच प्राकृतिक साधनों से सजाया जाता है। पात्रों की वेशभूषा चरित्र को स्पष्ट कर देती है। कुछ पात्रों के अभिनय

के लिए दर्शक-समाज में से ही व्यक्तियों को बुला लिया जाता है। सरल सहज अभिनय और संगीत की ध्रुपद शैली दर्शकों को आत्मविभोर कर देती है।

रासलीला शुरु होने से पूर्व जनता के मनोरंजनार्थ ढोल, मंजीरा और हारमोनियम के साथ भजन गान होता रहता है। लीला के प्रति आकर्षण हेतु निर्देशक कृष्ण-राधा व गोपाल भूमि और पात्रों आदि की प्रशंसा बीच-बीच में करता रहता है। पर्दा उठने पर राधा-कृष्ण की युगल छवि की आरती की जाती है। तत्पश्चात् लीला आरम्भ होती है। हास्य प्रसंग भी साथ चलता है। (लीला में हास्य का पुट और शंकार का प्राधान्य रहता है)। कृष्ण का गोपियों, सखियों के साथ अनुरागपूर्ण व त्ताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियों के कार्यों एवं चेष्टाओं का अनुकरण करते हैं और कभी गोपियाँ कृष्ण की रूप-चेष्टाओं का अनुकरण करती हैं और राधा सखियों के कृष्ण की रूप-चेष्टाओं का अनुकरण करती रहती हैं। यही लीला है। कभी कृष्ण गोपियों के साथ हाथ में हाथ बांधकर नाचते हैं और कभी वे मण्डलाकार गोपियों से घिरकर उनके बीच में नाचते हैं। बाल लीलाएँ, गोचारण, वन-बवहार, कुंज-लीलाएँ, पूतना-वध, गोवर्धन-धारण, कालिया-दमन, नौका-लीला, भौरा-लीला आदि लीलाएँ रास के अनिवार्य तत्त्व हैं।

भक्त कवियों की रचनाओं में गेयता और अभिनेयता का जो विशेष उत्कर्ष देखा जाता है उसके मूल में रासलीला नाटकों की ही प्रेरणा प्रधान है। रीतिकालीन कवियों पर भी लीला नाटकों का प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक रीतिकालीन कवियों ने ऐसे छंद लिखे हैं जिनमें निकुंज अथवा छदम् लीलाओं का नाटकीय संयोजन किया गया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'रासलीला' नाटकों की परम्परा और प्रविधि का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग अपनी 'चन्द्रावली' नाटिका में किया है। वियोगी हरि की 'छदम् यागिनी' नाटिका भी इसी शंखला की एक कड़ी है। अनेक नाटककारों एवं नाटकों पर इस लीला ने अपना प्रभाव डाला है। उत्तर प्रदेश में 'रास' को 'रहस' भी कहते हैं। महारास में अनेक कृष्ण और अनेक गोपियाँ होती हैं, जबकि नित्यरास में केवल एक ही कृष्ण, राधा और अनेक ब्रजांगनाएँ होती हैं।

कृष्ण जीवन की लीलाओं का यह खेल रासधारी मण्डलियाँ करती हैं। एक मण्डली में करीब आठ तक सदस्य होते हैं। उनमें आधे सदस्य सखी स्वरूप होते हैं। इस लीला के संवाद गद्य-पद्य मय होने पर भी पद्यात्मक ही अधिक होते हैं। जनता के मनोरंजनार्थ यह मंच अपनी भूमिका में सक्षम है। परिवर्तन और परिवर्धन के साथ इसे और भी प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

(ग) स्वाँग (सांग)

यह नाट्य 'स्वाँग' का तद्भव रूप है जिसका अर्थ होता है-भेष भरना या नकल करना। नाट्य आलोचक डॉ० दशरथ ओझा ने 'स्वाँग', 'नौटंकी' (संगीत) और 'सांग' को एक दूसरे का पर्याय माना है। उन्होंने 'सांग' को पूर्वी और पश्चिमी दो रूपों में बाँट दिया है। उनका कथन है-पूर्वी रूप हाथरस, एटा आदि जिलों में प्रचलित है और पश्चिमी रूप हरियाणा (रोहतक) में। पूर्वी रूप के आधुनिक कवि पं० नवाराम शर्मा गोड़ और पश्चिमी के पं० लखमीचंद और हरदेवा माने जाते हैं। पूर्वी रूप अर्थात् 'नौटंकी' (सांगीत) का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। पश्चिमी रूप में प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सांग-'सांगीत' अर्थात् नौटंकी' से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। क्षेत्रीय प्रभाव (भाषा और संस्कृति) के आधार पर कर्हें या कुछ अन्य कारणों से, कुछ भिन्नता अवश्य है, इसलिए हम यहाँ इस नाट्य के पश्चिमी रूप का ही वर्णन कर रहे हैं। जिसे 'सांग' कहा जाता है।

पश्चिमी रूप में यह नाट्य दिल्ली के देहात, हरियाणा में रोहतक, सोनीपत, पानीपत, कुरुक्षेत्र, जींद, गोहाना और भिवानी में विशेष रूप से सक्रिय रहा। पंडित लखमीचंद के पुत्र भी प्रसिद्ध सांगी थे। पंडित लखमीचंद के अनेक शिष्यों ने उनकी कहावतों एवं रागनियों पर सांग खेले और शिष्य परंपरा को बनाये रखा।

सांग मण्डली में एक कौटुम्बिक और गुरु-शिष्य की भावना निहित रहती है। पं० लखमीचंद और हरदेवा के अनेक शिष्य इस परम्परा का निर्वाह करते हुए सांग खेलते रहे। पं० मांगेराम, तुलेराम, सुलतान सांगी, पं० खीमचंद स्वामी आदि कलाकारों ने पं० लखमीचंद और हरदेवा के रचे सांगों के अलावा अपने द्वारा रचे सांग भी खेले हैं। इनके द्वारा रचे कथ्य एवं रागनियों का प्रचलन सम्पूर्ण हरियाणा में आज भी बना हुआ है। 'निहालदे', 'नल दमयन्ती', 'जानी चोर', 'रूप-कंवर', 'ढोल कंवर', 'नौटंकी कथा' आदि किस्से इस सांगियों द्वारा प्रस्तुत किये जाते रहे हैं।

इस नाट्य मण्डल में पन्द्रह-बीस के आसपास कलाकार होते हैं। कुछ जनाना वेश में नाचते हैं तो मुखिया मर्दाना वेश में रागनियों द्वारा कथा के सूत्र खोलता चलता है। बाकी सभी प्रचलित कथा को एक रूप और स्वर देते हुए गाते हैं। एक बड़े मैदान में तीन-चार तख्त डालकर बीच में ढोल-ढपरी वाले बैठ जाते हैं। हुक्का भी वहीं रखा होता है। चारों किनारों पर कथा चलती है। बीच-बीच में भडोला (नकलची) व्यंग्य कसता है और लोगों को हँसाता है। जनाना वेशधारी युवक चारों कोनों पर रागनियों की पंक्तियाँ दोहराते हुये नाचते हैं।

हरियाणा का जानोल्लस 'सांग' के द्वारा प्रस्फुटित होता है। कथा-गीत इसका प्राण है और यह एक नाटकीय रूप में होकर चलता है। चौबोल, त्रिबोल, दोहा, तोड़ ओर रागनी का एक-एक शब्द श्रंगार और वीर रस के ताने-बाने से बुना होता है और श्रोताओं पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। सांगी का अररर.....का खींचा स्वर जादू का असर करता है। पं० लखमीचंद माने हुये सांगी के रूप में आज भी याद किये जाते हैं। यह व्यक्ति हरियाणा का 'बोल सोनारे' था। हरियाणा विश्वविद्यालयों में उन पर असंख्य लोगों ने शोध कार्य किया है। उनके द्वारा रचे सांग, कथा, बोल और कहावतें गाँव-गाँव में दोहराई व गाई जाती हैं

(घ) नौटंकी

यह लोकनाट्य मनोरंजन के प्राचीन साधनों में से एक है। इसकी मूल प्रवृत्ति श्रंगारी है। कुछ लोग 'नौटंकी' की प्रवृत्ति नाटकी से मानते हैं और उसकी परम्परा को नाट्यशास्त्र के 'सट्टक' से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। जयशंकर प्रसाद 'नौटंकी' को नाटक का अपभ्रंश मानते हैं। 'नौटंकी' शब्द ही नाटकीयता का व्यंजक है। इसके पर्याय रूप में 'सांगीत रूपक' भी प्रचलित है जो इसकी संगीतपूर्ण बनावट का पूर्वाभ्यास कराता है। नाट्य आलोचक रामबाबू सक्सेना 'नौटंकी' का उद्भव-उद्गम कविता और लोकगीतों से मानते हैं, जबकि जगदीश चन्द्र माथुर का कथन है-'नौटंकी पहले एक गाथा का नाम था जो इतनी लोकप्रिय हुई कि नाट्य-रूप विशेष का पर्याय बन बैठी।' यह भी प्रचलित है कि नौटंकी मुल्तान की सुन्दर राजकुमारी का नाम था, जिसकी प्रेमकथा पर लिखा गया स्वाँग इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि कालान्तर में उस शैली में लिखे गये सारे स्वाँग ही नौटंकी कहे गये लोगों का यह मानना भी है कि 'ख्यालों के साथ नौ प्रकार के नक्कारे बजाये जाते थे, उसी कारण से 'नौटंकी' नाम का प्रचलन हुआ।' आज भी ख्यालों के साथ नक्कारों की प्रधानता बनी हुई है। राजस्थान में इन्हें 'नक्कारे ख्याल' भी कहते हैं।

नाटंकी के प्रदर्शन क्षेत्र हैं - उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा का दक्षिणी भाग तथा राजस्थान। उत्तर प्रदेश में हाथरस तथा कानपुर नौटंकी के प्रसिद्ध केन्द्र हैं। इन स्थानों की नौटंकियों की अपनी विशिष्टता है। हाथरस शैली की नौटंकी के प्रवर्तक पं० नथाराम शर्मा गौड़ तथा कानपुर शैली की नौटंकी के प्रवर्तक श्रीकृष्ण पहलवान कहे जाते हैं।

पं० नथाराम शर्मा गौड़ की नौटंकी (सांगीत) में हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग है किन्तु श्रीकृष्ण पहलवान की सांगीत में उर्दू का ही प्रयोग दृष्टिगोचर है। प्रायः दोनों ने ही-त्रिया

चरित्र', 'भक्त प्रह्लाद', 'अमर सिंह राठौर', 'सुलताना डाकू', 'किसान-कन्या', 'लैला-मंजून' आदि सांगीतों की रचना श्रीकृष्ण पहलवान ने ही की है। इन्होंने व्यावसायिक स्तर पर नौटंकी का प्रदर्शन प्रारम्भ किया था किन्तु राष्ट्रीय जन-जागरण से ओत-प्रोत 'जलियाँवाला बाग', 'शहीद भगतसिंह', 'टीपू सुल्तान' तथा 'बलिया का शेर' नामक सांगीतों की प्रस्तुति कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया, जिसके लिए 'संगीत नाटक अकादमी' द्वारा इन्हें पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। 'श्रीकृष्ण सांगीत कम्पनी' के त्रिमोहन उस्ताद को नक्कारे का जादूगर भी कहा गया है। हाथरसी शैली में भूरीलाल ने 'मुरलीधर हरनारायण मण्डली' में अपने सांगीत ख्याल प्रारम्भ किये। 'गुंजभरी' तथा 'भाईगीर' नामक ख्याल इस मण्डली के प्रसिद्ध नाट्य हैं जिन्हें सिनेमा के गानों की लोकप्रियता हासिल हुई।

सांगीत में गजल, ख्याल, बहरेतबील, मुस्तेजाद, रंगतवाना आदि फारसी छंद और दोहा, चौपाई, कवित्त, दादरा, ठुमरी, लावनी, हरिगीतिका, शार्दूल, बिक्रीड़ित, भुजंग प्रयात आदि के साथ ही आल्हा, कजरी, कहावा आदि लोक छन्दों की संरचना भी रहती है। अर्थात् यह ग्राम्य जगत का प्रिय लोकमंच है जिसमें उच्चकोटि की छंदबद्ध कविता एवं संगीत का इस्तेमाल पूरी लय और तुक के साथ होता है।

नौटंकियों के ख्यालों की भाँति नौटंकियों के स्वाँग भी प्रदर्शित किये जाते हैं। ये स्वाँग डोम आदि जजमानों के दरवाजे पर नेग प्राप्त करने के लिए करते हैं। ढोलक तथा नक्कारे इन स्वाँगों के प्रिय वाद्य होते हैं। संगीत, नृत्य, अभिनय एवं वाद्य आदि की दृष्टि से ये स्वाँग नौटंकी की ही रंगत लिये होते हैं, इसीलिए इन्हें नौटंकी स्वाँग (सांगीत स्वाँग) नाम से सम्बोधित किया जाता है।

कलाकार और दर्शक को प्रदर्शन के अवसर पर एकसूत्रता और तन्मयता प्रदान करके ही नौटंकी को महत्व दिया जा सकता है, जिससे आधुनिक युग के अनुरूप नौटंकी का रूप रंगमंच पर उभर कर उपस्थित हो सके। नौटंकी कला केन्द्र ने इसके लिए भरसक प्रयत्न भी किया है। प्रशिक्षण हेतु लखनऊ में श्री सर्वदानंद के संयोजन में एक महाविद्यालय के रूप में नौटंकी शिक्षण कार्य भी आरम्भ हो गया है। उम्मीद है कि सीमित साधनों के होते हुए भी 'नौटंकी कला केन्द्र' की तपस्या ओर मेहनत अवश्य कुछ कर दिखायेगी।

(ड)माच

यह संस्कृत शब्द 'मंच' का अपभ्रंश है। अर्थात् रंगमंचीय आडम्बरों से रहित मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले 'खेले' (नाट्य) कालान्तर में 'माच' कहलाने लगे। मंच और खेले - दोनों के ही अर्थ में 'माच' शब्द रूढ़ बन गया। इस नाट्य में विभिन्न पौराणिक और सामाजिक कथाओं तथा प्रेम लीलाओं का सजग अंकन होता है। यह एक गीतिनाट्य है जिसे जनरुचि के अनुरूप मनोरंजन के उपादानों से समृद्ध किया जाता है। 'माच' की प्रस्तुति के लिए गीत, वाद्य और नृत्य पर केन्द्रित अभिनय ही पर्याप्त है। इसका मंच दृढ़ खम्बों पर कई फुट ऊँचा बनाया जाता है और उसे आम के पत्तों, झालरों, कागज की रंगलन झंडियों से सजाया जाता है।

'माच' मालवा का प्रसिद्ध लोकनाट्य है परन्तु विद्वानों की राय में राजस्थान में चित्तौड़ के निकटवर्ती भागों में लोकप्रिय 'ख्यालमाच' भी वही है। इन दोनों में बहुत सी समानताएं हैं। प्रदर्शन शैली और कथानक में साम्य दिखाई देता है।

इस नाट्य का कथ्य वीर पूजा प्रवृत्ति से परिपूर्ण होता है। पौराणिक आख्यानों का समावेश इसकी शक्ति है। इसके प्रदर्शन के लगभग पन्द्रह दिन पूर्व मंच का खम्बा गाड़ा जाता है। खम्ब-स्थापना परम्परागत ढंग से की जाती है। शुभ मुहूर्त में 'माच मण्डली' का मुखिया खम्ब की पूजा करता है। ढोल गजता है और माच के सदस्य गीतों की कड़ियां दुहराते हैं। लाल

वस्त्र, गुड़ और धनियाँ आदि के साथ खम्ब पूजन की विधि होती है। प्रसाद बांटा जाता है और शुभ मुहूर्त उपरान्त कार्य शुरु किया जाता है। बल्लियों के साहारे से बनाये गये नौ-दस फुट ऊँचे मंच पर सफेद वस्त्र की छाया रहती है। मंच के सामने 'बारह भाई का पाट' अर्थात् मण्डली के नवयुवक कार्यकर्ता बैठते हैं। पास में एक तरफ ढोल और सारंगीवादक बैठते हैं। मंच के पीछे 'बोल दोहराने' वाला बैठता है जो हर बोल को दोहराता है जिसे 'टेक झेलना' कहते हैं।

'माच' के प्रवर्तकों में बालमुकुन्द गुरु, भेरू गुरु तथा कालगम उस्ताद के नाम प्रसिद्ध हैं, प्रसिद्ध ख्याल 'अमर सिंह राठौर', 'गोपीचन्द', जगदेव', 'भरथरीनल', 'रिसालू', 'छैला पनिहारी', निहालदे', 'रुक्मिणी', 'पूरनमल भगत' आदि हैं।

इस समय यमालवा में श्यामदास चक्रधारी नामक माचकार की मण्डली कार्यरत है जिसमें 'ऊषा अनिरुद्ध', 'सती अनुसूइया', नल दमयन्ती', 'श्रवण कुमार', 'शिव-पार्वती विवाह', सत्यनारायण-रुक्मिणी मंगल', 'रामायण' और 'नैरा सुन्दरी' आदि खेल खेले जाते हैं। इसके अलावा 'माच' के कृतित्व और नाट्य प्रदर्शन क्षेत्रों में समय ओर परिस्थितियों के सन्दर्भ में अनेक परिवर्तन हुये हैं। कृतित्व क्षेत्र में प्रथम परिवर्तन कथानम की दृष्टि से हुआ है। धार्मिक और प्रेम कथाओं के साथ सामाजिक समस्याओं एवं नवनिर्माण की पृष्ठभूमि पर 'खेले' की रचना की जाने लगी है। अर्थात् कथानकों के प्रस्तुतीकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। पद्यबद्ध संवादों के साथ गद्य संवादों के प्रयोग में वृद्धि हो रही है। प्रादेशिक शासन एवं भारत सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय द्वारा 'माच' के खेलों का प्रदर्शन अहम भूमिका अदा कर रहा है। 'माच' को यह प्रोत्साहन निसन्देह प्रशंसाजनक सिद्ध होगा और जनजीवन में लोकप्रियता हासिल करेगा।

(च) भाण्ड

'भाण्ड' का उद्गम संस्कृत के 'भाण' शब्द से हुआ है। संस्कृत के 'भाण' से तात्पर्य व्यंग्यात्मक बात कहना है। अर्थात् व्यंग्यात्मक रूप में नकल उतारना। उत्तर प्रदेश और हरियाणा में इसे प्रस्तुत करने वाली नकलची को 'भाण्ड' कहते हैं। ये भाण्ड बड़े हाजिर जवाब और चुटकुले बाज होते हैं। ये लोग न केवल समाज के विभिन्न लोगों की नकल पेश करते हैं बल्कि पशु-पक्षियों और अमूर्त तत्वों की नकलें भी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रहसन को प्रायः दो भाण्डों के तमाशे के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक भाईया तो दूसरा औरत बनता है। भाईया औरत बने साथी से सवाल पूछता है। वह बड़े तीखे और उल्टे-सीधे जवाब देती है और बड़ी चालाकी से बात को बढ़ाकर किसी हास्यास्पद बिन्दु पर ले आती है कि भाईया उसे तड़ाक-तड़ाक चमड़े का तमाचा मारता है। औरत बना भाण्ड पूर्णतया औरत के लिबास में नहीं होता बल्कि सिर पर केवल चुनरी ओढ़ लेने से और की नकल करता है। चुनरी से उसकी मूँछें भी साफ झलकती हैं। इसमें मखोल और अश्लील मजाक भी साथ-साथ चलता है।

नवाब वाजिद अली शाह के समय लखनऊ में 'भाण्ड' का तमाशा अपनी चरम सीमा पर था। क्रूर और न शंस लोगों का चित्र इस नाट्य में साफ झलक पड़ता है जिसका शिक्षाप्रद प्रभाव जन-साधारण पर पड़ना सहज है। अपनी कला के जरिये भाण्ड अपने दर्शकों का घंटों मनोरंजन करते हैं और बराबर उसका ध्यान अपनी व्यंग्यात्मकता पर बनाये रखते हैं।

(छ) बिदेसिया

'बिदेसिया' बिहार का सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य है। इसके आदि प्रवर्तक गुद्धरराय थे, लेकिन इसे अखिल भारतीय चर्चा दिलाने का श्रेय अकेले भिखारी ठाकुर को दिया जा सकता है। भिखारी ठाकुर लोकगीतों के ऐसे गव्वेया हैं जिनकी स्वर लहरियों पर बिहार राज्य का हर

जन दीवाना हो उठता है। अनगिनत स्थानों पर इनकी मण्डलियों ने अपना प्रदर्शन कर लोगों का दिल जीता है। 'रामलीला', 'महाभारत', 'बिदेसिया', 'सोरठी ब्रजभान', 'किस्सा तोता-मैना' और 'आल्हा उद्दल' जैसी प्राचीन कथाओं को अपने लोकगीतों द्वारा अभिनय के ढंग पर प्रस्तुत कर इन्होंने करोड़ों दर्शकों का मन मोहा है। 'बिदेसिया मंच' की कोई रूप रेखा या आकार नहीं होता। तख्त डालकर साधारण मंच बना दिया जाता है। जिस पर चंदोवा डाल दिया जाता है। कहीं-कहीं पर यह खुला भी रह जाता है। वेशभूषा और रूप-सज्जा क्षेत्रीय जन प्रकृति के अनुरूप होती है। वाद्ययंत्रों में तबला, झाल, बांसुरी गोपी मंत्र होते हैं। समाजी (वादक गुण) पात्र द्वारा कहे बोल को अभिनय के साथ दुहराते हैं। स्त्री पात्र की भूमिका पुरुष ही करते हैं।

इस लोकनाट्य के बोल ग्रामीण हृदय की गहराई तक पहुंचते हैं और उनके सुर की युक्ति, तर्क या अश्लील-श्लील विवेचन द्वारा नहीं, केवल अनुभूति के सहारे आस्वादन करना पड़ता है। सरल सहज और आडम्बरहीन सौजन्य से युक्त अभिनय दर्शकों का आर्इना है। यह लोकनाट्य और भिखारी ठाकुर जनता के लोकप्रिय गायक हैं जिन्हें सुनकर जन-समुदाय उमड़ने लगता है।

लोक रंगमंच के विकास में लोकनाट्यों का कितना महत्व रहा है यह एक अलग बात है, किन्तु इन सभी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहा है और आज भी है। लोक रंगमंच कभी मर नहीं सकता क्योंकि यह लोक जीवन से सम्बद्ध है। इसका अपना समय और प्रभाव है। आजादी के बाद पाश्चात्य रंगमंच को देखकर हमें भी कौतूहल हुआ कि हमारा रंगमंच भी आगे बढ़े। अनेक नाट्य संस्थाओं की शुरुआत हुई। 'पथी थियेटर' व 'इष्टा' तो आजादी से पूर्व ही जन्म ले चुके थे। पाश्चात्य रंगमंच के सम्पर्क और अपने प्रयोगों ने हमें अनुभव दिया और हमें लगा कि प्रस्तुति पक्ष की तकनीक को समझना जरूरी है। हमने प्रस्तुति की तकनीक को जाना एवं पुरानी मान्यताओं को संवारा। नवीन शैली में उसे ढाला जिससे लोकनाट्य प्रोत्साहित हुआ। प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं समीक्षक सुरेश अवस्थी ने जब पहली बार लोक रंगमंच की बात उठाई तो लोगों ने इसे हास्य रूप में लिया। किन्तु जब गहराई से इस पर विचार किया गया तो इसमें बहुत कुछ दिखाई दिया। रंगकर्मी इस ओर आकर्षित हुये और उन्होंने इसे आधुनिक सन्दर्भों के साथ एक नया मोड़ देने की शुरुआत की। अर्थात् लोकमंच की प्रस्तुति आधुनिक संदर्भ में होने लगी।

लोकमंच को लेकर अलग-अलग लोगों की अपनी अलग-अलग राय है। रंग शिल्पी ब०ब० कारन्त का कहना है-'लोकमंच की चर्चा फैशन सा हो गया है। आज के माहौल में लोकमंच के अपने खतरे भी हैं क्योंकि इनके मूल तत्व-संगलत और न त्य-मोहित अधिक करते हैं प्रभावित कम। कारण, संगीत-न त्य-नाटक का हिस्सा न होकर सरसता या अलंकार का जरिया बन गया है। इस तरह की प्रवृत्ति से अब सतर्क रहना चाहिये क्योंकि यथार्थवादी कथ्य और फार्म के अनुरूप संगीत न त्य के अर्थपूर्ण प्रयोग की तलाश नहीं हो रही है। इसके विपरीत कारन्त जी ने जितनी भी नाट्य प्रस्तुतियाँ की, उन सभी में लोक परम्पराओं का प्रयोग हुआ था। प्रस्तुतियों में मुख्य चरित्र को - मुखौटा पहने और लोकजीवन की वेशभूषा और रंगभूषा धारण किये, लोकधुनों पर गीत गाते देखा गया था। इससे जाहिर होता है कि ब०ब० कारन्त यथार्थवादी कथ्य के सामने लोक रंगमंच की महत्ता को चाहे, गौण रूप में, स्वीकार जरूर करते हैं।

रंगशिल्पी ब्रजमोहन शाह का कथन है-'मैं परम्परा के विरुद्ध नहीं हूँ किन्तु परम्परा को हमारे आज के लिए भी प्रासंगिक होना चाहिये। हमें देखना होगा कि वह सब हमारे जीवन में आज कितना सटीक उतरता है। हमारे और ग्रामीण जीवन में उसके लोकाचार में भारी अन्तर है। जैसे गाँव का आदमी बीड़ी पीता है। खाता है। कपड़े पहनता है। उठता बैठता है और बात

करता है जैसे हम शहरी लोग नहीं करते। परम्परा के नाम पर इस बुनियादी फर्क को भुलाया नहीं जा सकता।' किन्तु मिस्टर शाह परम्परा को पूर्णतया नकारने की बात नहीं कहते। वे उसे नये सन्दर्भ में स्वीकारने को तैयार हैं। हबीब तनवीर को परम्परा को बढ़ावा देने वाली मण्डलियों को प्रोत्साहित करने पर बल देते हैं। उनका कहना है कि इन मण्डलियों ने ही परम्परा को बनाए रखा है।

स्वतंत्रता उपरांत समकालीन जीवन की जटिल मानसिक उलझनों को व्यक्त करने की क्षमता लोकमंच में दिखाई देने लगी अर्थात् रंगकर्मियों को महसूस होने लगा कि लोकमंच एक जीवन्त रंगमंच है। इसमें 'संगीत नाट्य विद्यालय' के प्रयासों की सराहना करनी होगी, जिन्होंने इसके महत्त्व पर बल दिया। शहरी दर्शकों के बीच लोकमंच एवं उसके प्रभाव में की गई सफल प्रस्तुतियाँ - शांता गाँधी का 'जसमा ओडन', 'मुद्राराक्षस का 'आला अफसर' (गोगोल के प्रसिद्ध नाटक 'इन्स्पैक्टर जनरल' का हिन्दी रूपांतर), सर्वेश्वर का 'बकरी', अनिल चौधरी निर्देशित 'लैला-मजनू', लक्ष्मीनारायण लाल का 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' हबीब तनवीर निर्देशित 'आगरा बाजार', 'गाँव का नाम ससुराल', 'ठाकुर पथीपाल सिंह', 'चरनदास चोर', और 'इन्द्रसभा' आदि हैं।

संस्कृत नाटकों में मच्छकटिकम् को 'मिट्टी की गाड़ी' नाम से कई बार हिन्दी में प्रदर्शित किया गया। इसका कथानक पूर्णतया लोकतत्त्वों पर आधारित है। इस नाटक के प्रदर्शन पश्चिम तक भी पहुँचे हैं। रंगकर्मी बलवंत गार्गी का कहना है- 'मैंने मच्छकटिकम् को न्यूयार्क, पैरिस, ओस्लो और यूरोप के नगरों में देखा है। वर्ष 1957 में मैंने इसे मास्को के 'पुश्किल थियेटर' में देखा था, वहाँ इसका नाम 'श्वेत कमल' था और इसे संक्षिप्त कर दिया था। मास के 'मध्यम व्यायोग' और कालीदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' को भी लोकमंच प्रभाव में प्रदर्शित किया गया है। लोकनाट्य एवं नाट्यकला में प्रशिक्षण देने के काम में कुछ गैर सरकारी संस्थाएँ भी आगे आई हैं। इन्हें संगीत नाटक अकादमी से अनुदान भी मिलने लगा है। अनेक विश्वविद्यालयों ने अपने यहाँ अलग से नाट्य विभाग खोलना शुरू किया और उसे कार्यान्वित किया है। निर्देशकों एवं सफल रंगकर्मियों ने लोकमंच से तथ्यों का उठाते हुए नये सन्दर्भों में ढालने की शुरुआत की है।

हिंदी नाटक का विकासात्मक संक्षिप्त इतिहास

प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं - 'द श्य श्रव्यत्व भेदेन पुनः 'काव्यम्' द्विधामतम्'। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत मुक्तक और प्रबन्धकाव्य आदि आते हैं और द श्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक। नाटक काव्य का सर्वाधिक रमणीक रूप है-'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। अरस्तू ने भी ड्रामा को काव्य का प्रमुख भेद माना है। यद्यपि उसने ड्रामा के सम्बन्ध में अलग से विचार नहीं किया, बल्कि कला और काव्य सिद्धान्त के प्रसंग में अपना मत व्यक्त किया है। नाटक द श्यकाव्य है, इसलिए मनुष्यों की रुचि इसकी ओर अधिक रमती है। भिन्न रुचि रखने वाले व्यक्तियों को समान रूप से आनन्द लेने का एक मात्र साधन नाटक की है।

हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास

हिन्दी में नाटक साहित्य का उद्भव को लेकर अनेक मतवाद हैं। डॉ० दशरथ ओझा ने सं० 1289 में रचित 'गयसुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम उपलब्ध नाटक सिद्ध किया है, किन्तु डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने इसे 'रासक' या 'रास' श्रेणी का काव्य कहा है तथा उसे नाटक मानने से अपनी असहमति व्यक्त की है। कुछ विद्वानों ने ब्रजभाषा में रचित पौराणिक नाटकों के द्वारा हिन्दी नाटकों के जन्म को मान्यता प्रदान की है। इसके विपरीत पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुसंधानों में हिन्दी नाटक के विषय के प्रश्न को उन प्रचलित जन नाटकों की परम्परा से जोड़ दिया है जो पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचलित थी। जिस समय भारत के पूर्वी प्रदेशों, मिथिला, असम, उड़ीसा आदि में मैथिली नाटक साहित्य का विकास हो रहा था, उसी समय ब्रजक्षेत्र में राज-लीला नाटकों का उदय हुआ। बंगला मते यात्रा (जात्रा), बिहारी में विदेशिया, अवधी पूर्वी हिन्दी, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में रास, स्वांग, नौटंकी, भांड आदि जन-नाट्यों की धारा प्रवाहित हो रही थी। इन्होंने एक सीमा तक हिन्दी नाटकों के अभ्युदय में अपनी भूमिका का निर्वाह किया, किन्तु हिन्दी नाटकों के जन्म के समय केवल यही लीलाएं थीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जन नाटकों और हिन्दी नाटकों के बीच अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के आस-पास पारसी थियेटर कम्पनियों का समय आता है। इसने भी हिन्दी नाटक तथा हिन्दी रंगमंच की उत्पत्ति तथा स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

मैथिली भाषा में रचित नाटक साहित्य में विद्यापति का 'गोरक्ष-विजय', गोविन्द का 'नलचरित' नाटक (1639 ई०), रामदास झा का 'आनन्दविजय' नाटक, देवानन्द का 'उपाहरण', रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणीहरण', उमापति उपाध्याय का पारिजात हरण' आदि महत्वपूर्ण हैं। यह परम्परा आगे तक विकसित होती गई है, लेकिन हमारा उद्देश्य नाटक (हिन्दी) के पूर्व की स्थिति पर विचार करना है न कि मैथिली नाटक का इतिहास प्रस्तुत करना।

भारतेन्दु पूर्व ब्रजभाषा में रचित नाटक दो प्रकार के हैं-अनुदित-मौलिक। अनुदित नाटकों में महाराज यशवन्त सिंह द्वारा अनुदित 'प्रबोधचन्द्रोदय', नेवाज कवि द्वारा 'शकुन्तला नाटक' सोमनाथ माथुर द्वारा 'माधव विनोद' इत्यादि हैं। मौलिक नाटकों में प्राणचन्द का 'रामायण महानाटक' लदिराम कृत 'करुणाभरण', उदय कृत 'राम करुणाकर एवं 'हनुमन्नाटक' आदि के उल्लेख हैं। ये सभी नाट्य कला की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। ये पद्यात्मक प्रबन्ध हैं जिनमें काव्य गुणों का भी अभाव है। 'आनन्द रघुनन्दन' ही ऐसी रचना है जिसमें शास्त्रीय नियमों

के अनुसार नान्दी, विष्कंभक, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है और रंग निर्देश भी दिये गये हैं। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानों ने महाराजा विश्वनाथ जू कृत 'आनन्दरघुनन्दन' को हिन्दी का प्रथम नाटक कहा है, किन्तु इसमें नाट्य-दृष्टि से अनेक दोष हैं।

गोपाल चन्द्र 'गिरिधर' दास कृत 'नहुष' (1857) नाट्य-कला की दृष्टि से भले ही लिखा गया हो, वह भी अन्य ब्रजभाषा नाटकों की ही भांति है। शीतला प्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल' नाट्य-गुणों से युक्त है तथा इसकी भाषा भी परिमार्जित खड़ी बोली है। इस समय तक भारतेन्दु बाबू 'हरिश्चन्द्र' का आविर्भाव हो चुका था और 'विद्यासुंदर' नाटक प्रकाशित भी हो गया था। अतः हिन्दी नाटकों का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु बाबू 'हरिश्चन्द्र' से ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

आधुनिक हिन्दी नाटक

सन् 1850 ई० के बाद से आद्यतन हिन्दी नाटकों को चार खण्डों में विभक्त किया जा सकता है-1. भारतेन्दु-युग, 2. प्रसाद युग, 3. प्रसादोत्तर युग, 4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक युग।

1. **भारतेन्दु युग** - भारतेन्दु युग हिन्दी नाट्य साहित्य का प्रथम चरण है। भारतेन्दु का आविर्भाव हिन्दी नाटक साहित्य के लिए एक वरदान साबित हुआ। वस्तुतः वे नाटक के जन्मदाता ही नहीं, वरन् हिन्दी साहित्य में युग-प्रवर्तक के रूप में समादत्त हुए। उनका प्रथम नाटक 'विद्यासुंदर' जो किसी बंगला नाटक का छायावाद था, सन् 1861 ई० में प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु के नाटकों में कुछ अनूदित हैं और कुछ मौलिक। उनके मौलिक नाटकों में 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'सती प्रताप', 'अंधेर नगरी' हैं। संस्कृत में अनुवादित-'रत्नावली', 'पाखण्ड-विडम्बन', 'मुद्राराक्षस', 'धनंजय विजय', 'कर्पूरमंजरी', बंगाल से अनुवादित-'भारत जननी', 'विद्या सुंदर', 'सत्यहरिश्चन्द्र' उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु ने शेक्सपीयर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का दुर्लभ बन्ध' नाम से अनुवाद किया जिसका विशेष महत्त्व है। भारतेन्दु के नाटक मुख्यतः पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर आधारित हैं। उन्होंने अपने समय की समस्याओं को देखा-सुना और जांचा-परखा। यही कारण है कि उन्होंने सामाजिक बुराइयों, अधिकारियों के भ्रष्ट आचरण और शासकीय अतयाचार पर तीखा व्यंग्य करते हुए राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने में नाटक और रंगमंच की भूमिका का सार्थक उपयोग किया। 'पाखण्ड-विडम्बन' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में सामाजिक कुरीतियाँ एवं धर्म के नाम पर होने वाले कुकृत्यों आदि पर तीखा व्यंग्य किया है। 'भारत दुर्दशा' में भारतवासियों के दुर्भाग्य की कहानी यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत की गई है। इस नाटक के माध्यम से पहली बार राजनीतिक विषय को नाटक का काव्य बनाकर देश की दीन-हीन दशा पर चिन्ता प्रकट करते हुए उन्होंने अपने भावों को निर्भीकतापूर्वक वाणी प्रदान की। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी नरेशों की दुर्दशा का चित्रण है इसके साथ ही उन्हें यह भी चेतावनी दी गई है कि अगर वे सचेत एवं जागरूक नहीं हुए तो सभी देशी रियासतों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला दिया जायेगा। 'अंधेर नगरी' में लोभ तथा अज्ञानता के दुष्परिणाम तथा अन्य प्रचलित बुराइयों पर आक्षेप किया गया है।

भारतेन्दु के नाटकों की प्रमुख विशेषता है-प्राचीनता और नवीनता का समन्वय। उनकी नाट्य शैली पर जहाँ संस्कृत के नाटकों की छाप है, यहीं पाश्चात्य नाट्य-शैली का प्रभाव भी देखा जा सकता है। चूँकि भारतेन्दु को बंगला, संस्कृत, प्राकृत व अंग्रेजी के नाट्य साहित्य का ज्ञान था, इसलिये उनके नाटकों पर इन सभी का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। उनकी नाट्य-शैली में सरलता, स्वाभाविकता और रोचकता विद्यमान है। उन्होंने हिन्दी नाटकों की परम्परा को

विकासमान बनाये रखने के लिए भारतीय नाट्य-कला की ओर विशेष ध्यान दिया, लेकिन अन्धानुकरण कभी नहीं किया।

भारतेन्दुयुगीन नाटककार-भारतेन्दु ने अपने समकालीन रचनाकारों को साहित्य-सर्जन हेतु प्रोत्साहित किया, प्रेरणा दी और उसका पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने न केवल नाट्य-स जन किया, नाट्य-सिद्धान्तों पर विचार किया, बल्कि नाटकों में अभिनय भी किया और मंडलियों (नाट्य) की स्थापना भी की। यही कारण है कि उनके समकालीन अधिकांश नाटककारों में नाट्य-स जन के समय ही अभिनयादि प्रवृत्तियाँ भी देखने को मिलती हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में मौलिक, अनुदित और प्रहसन आदि आते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से इनमें पौराणिकता, ऐतिहासिकता, सामाजिकता, राष्ट्रीयता और रोमांटिकता का स्वर प्रधान रहा है नीतिपरक नाटकों का लेखन हुआ। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी हुए। प्रहसनों की संख्या अधिक रही। इसका कारण यह हुआ था कि तत्कालीन परिस्थितियाँ इसके अनुकूल थीं। प्रहसनों का मुख्य उद्देश्य रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों पर तीखा व्यंग्य करना था। भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

इस युग के प्रमुख नाटककारों में श्रीनिवासदास का नाम उल्लेखनीय है। 'प्रह्लादचरित', 'तप्तासंवरण', 'रणधीर-प्रेममोहिनी' और 'संयोगिता स्वयंवर' ये चार नाटक उनकी नाट्य-प्रतिभा के परिचायक हैं। 'तप्तासंवरण' और 'रणधीर प्रेममोहिनी' के कथानक काल्पनिक हैं। 'रणधीर प्रेममोहिनी' हिन्दी का सर्वप्रथम दुःखान्त नाटक है।

पंडित बालकृष्ण भट्ट ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना की। इन्होंने प्रहसन लिखा तथा बंगला के दो नाटकों का अनुवाद भी किया। इनके नाटक हैं-'दमयन्ती स्वयंवर', 'वेणीसंहार', 'किरातार्जुनीय', 'ब हन्नला', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'नई रोशनी का विष' आदि। भट्ट जी की नाट्य-शैली पर संस्कृत नाट्य-शैली का प्रभाव है।

राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप सिंह-', 'महारानी पद्मावती' तथा 'दुःखिनी बाला' नामक नाटकों की रचना की। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'हम्मीर हठ', 'मौसकट', 'कलिकौतुक' रूपक', 'जुआरी खुआरी' प्रहसन आदि की रचना के द्वारा नाटक साहित्य को दिशा देने और समृद्ध करने का प्रयास किया। खंग बहादुर लाल ने 'भारत-ललना' बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', 'भारत-सौभाग्य', सीताराम वर्मा ने 'विवाह-विडम्बन' राधारमण गोस्वामी ने 'अमरसिंह राठौर', 'श्रीदामा', 'तन-मन-धन गोसाई के अर्पण' और 'बूढ़े मुँह से' नाटकों की रचना की। देवकीनन्दन ने 'सीताहरण', 'रुक्मिणीहरण', 'कंसवध', 'बाल विवाह', 'सती चरित्र', 'सैकड़ों के दस-दस' आदि नाटक लिखे। भारतेन्दुयुगीन इन नाटककारों के अलावा अन्य नाटककारों ने भी नाटकों की रचना की। इस समय के प्रायः सभी नाटकों में समाज-सुधार, देश-प्रेम य हास्य-विनोद की प्रवृत्ति मिलती है। सामाजिक व्यंग्यात्मक नाटकों के द्वारा समाज में व्याप्त बुराइयों, पाखण्डों एवं अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि इन नाटकों में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह, पर्दा प्रथा आदि के प्रश्न को उठाया गया है। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के द्वारा अतीत के गौरव और आदर्श के स्मरण के माध्यम से जन-जीवन में आत्म-गौरव जगाने का सार्थक प्रयास है।

भारतेन्दु युग के मौलिक नाट्य-लेखन के साथ संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद भी हुए। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्रम्' 'मच्छकटिकम्', 'रत्नावली', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'उत्तरामचरितम्', 'कर्पूरमंजरी', मुद्राराक्षस' आदि संस्कृत के नाटकों के अनुवाद, 'शर्मिष्ठा', 'पद्मावती', 'एड की सभ्यता बोले', 'नवाब सिराजुद्दौला', 'सप्तम प्रतिमा', 'बूढ़ा वर' आदि बंगला

के नाटकों के अनुवाद, 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस', 'ओपेलो', 'एज यू लाई इट', 'रोमियो एण्ड जूलियट' आदि अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद महत्त्वपूर्ण हैं। इन अनुवादों ने हिन्दी नाटकों को 'विषय-वैविध्य' और 'शिल्प वैविध्य' की दृष्टि से सम्पन्न किया जिसका प्रभाव आगे के नाटकों पर पड़ा।

2. **प्रसाद-युग** - भारतेन्दु के बाद द्विवेदी युग में हिन्दी नाटक की गति मन्द रही। इस समय तक हिन्दी नाटक की दिशा लगभग वही रही जो भारतेन्दु ने निर्धारित की थी। भारतेन्दु द्वारा प्रवाहित लेकिन मन्द पड़ गई हिन्दी नाटक-धारा को पुनः तरंगित करने, नई दिशा देने, और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी नाटक के लिए एक वरदान साबित हुआ। इतिहास, संस्कृति और दर्शन के आधार पर प्रसाद ने अपने नाटकों का सजन किया। प्रसाद ने इतिहास का उपयोग ही नहीं किया, बल्कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक और सामाजिक नवजागरण की चेतना से आप्लावित करते हुए उसे नई अर्थवत्ता प्रदान की। इतिहास के उपयोग के संदर्भ में प्रसाद की यह टिप्पणी ध्यातव्य है- 'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने में अत्यन्त लाभदायक होता है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। (विशाख की भूमिका से। इससे प्रसाद की इतिहास दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब देश का राष्ट्रीय आन्दोलन पनप रहा था। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना की लहर जनमानस में फैल रही थी। इसके साथ ही सामाजिक विदूषता यह थी कि पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का अन्धानुकरण प्रारम्भ था। भारतीय संस्कृति पददलित और तिरस्कृत हो रही थी। ऐसे समय में प्रसाद जी ने आर्य संस्कृति के उद्धारक तथा सांस्कृतिक जागरण के अधिष्ठाता के रूप में अपनी आवाज बुलन्द की। इसके लिए उनके नाटक सशक्त माध्यम बने। इतिहास और कल्पना के योग से उन्होंने जो नाटक लिखे उनमें प्रेम और सौन्दर्य के मधुरतम चित्र हैं। रोमांटिक होते हुए पर्याप्त संयम है। अतीत के माध्यम से आधुनिक समस्याओं का निर्देशन है।

प्रसाद जी के नाटकों में 'सज्जन', 'प्रायश्चित', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'राज्यश्री', 'शुरुआती दौर के हैं'। 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाम यज्ञ', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' प्रौढ़तम हैं और प्रख्यात भी। देशभक्ति, राष्ट्रोद्धार, साम्राज्यवादी शोषण का विरोध, नारी-जागरण, सामाजिक-समता की भावना तथा मानवीय संवेदनाओं और मूल्यों की स्थापना इन नाटकों के प्रधान स्वर हैं। देशवासियों में आत्मगौरव, उत्साह, बल एवं प्रेरणा के संचार के लिए प्रसाद जी ने अतीत का गौरव-गान किया। इसके लिए उन्होंने भारतीय इतिहास और पुराणों में से महाभारत के बाद से लेकर सम्राट हर्षवर्धन तक का वह समय लिया जब विदेशी आक्रमणकारियों को परास्त कर भारतीय और अपने गौरव और गर्व की रक्षा कर रहे थे।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की प्रमुखता प्रसाद के नाटकों की विशेषता है। उनके नाटकों में मानव-मन की सत्-असत् दोनों प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' की दृष्टि से उन्होंने नारी की सुंदरी करुणामयी, वेदनामयी, कर्तव्यमयी, चरित्र की दृष्टि की जो अपने व्यक्तित्व की महानता से दुर्जन को सज्जन, दुराचारी को सदाचारी और न शंस को उदार बना देती है। भाषा और शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी ने नये प्रयोग किए हैं। भाषा संस्कृत निष्ठ होते हुए भी पात्रानुकूल है। नाट्यशिल्प की दृष्टि से उन्होंने पाश्चात्य और पौराणिक तत्त्वों का सम्मिश्रण करते हुए एक नई नाट्य-शैली विकसित की है। कथ्य-शिल्प, संवेदना और भाषा के सभी क्षेत्रों में उन्होंने स्वच्छंदता का परिचय दिया। रंगमंच और अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटक विवादास्पद रहे हैं। दृश्यगत वैविध्य, स्थानगत वैविध्य, लम्बे-लम्बे

संवाद, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, संस्कृतनिष्ठ भाषा आदि नाटकों का रंगमंच पर प्रस्तुत करने में बाधा उत्पन्न करते हैं। किन्तु अब नये रंगकर्मी यह स्वीकारने लगे हैं कि प्रसाद के नाटकों को अभिनीत किया जा सकता है और कई रंग-निर्देशकों की निष्ठा और लगन से उन्हें रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत भी किया गया है।

प्रसादयुगीन नाटककार - प्रसाद के समकालीन नाटककारों में पंडित गोविन्द वल्लभ पंत (वरमाला, राजमुकुट आदि), माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), पाण्डेय बेचन शर्मा 'पग' (महात्मा ईसा), मुंशी प्रेमचन्द (कब्रला और संग्राम) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा बदीनाथ भट्ट 'दुर्गावती', सुदर्शन का 'दयानन्द, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', उदयशंकर भट्ट के 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'विक्रमादित्य', सेठ गोविन्द दास का 'हर्ष', 'मैथिलीशरण गुप्त का 'तिलोत्तमा', विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक का 'भीष्म' आदि नाटकों ने हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध करने का प्रयास किया। इस समय के नाटककारों के वर्ण्य विषय भी पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक रहे जिनका प्रमुख स्वर जन जागरण और राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत था। इस समय तक हिन्दी नाटक की धारा यथार्थवादी हो गई थी। कुछ प्रतीकवादी नाटक भी लिखे गये। प्रहसनों की संख्या भी कम नहीं थी। जी०पी० श्रीवास्तव द्वारा लिखित 'उलट फेर', 'गड़बड़झाला' आदि गोविन्द वल्लभ पंत कृत 'कंजूस की खोपड़ी', बदीनाथ भट्ट के 'मिस अमरीका' और 'विवाह विज्ञापन' तथा सुदर्शन कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि प्रहसन उल्लेखनीय हैं। प्रहसनों के अतिरिक्त इस युग में अनुवादों की परम्परा भी चली रही। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद हुए। साहित्यिक नाटकों के साथ ही साथ पारसी रंगमंचीय नाटकों की धारा भी प्रवहमान थी। राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद 'बेताब', पं० माधव शुक्ल, हरिदास माणिक, जमनादास मेहरा आदि ने पौराणिक नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करके सस्ती लोकप्रियता अर्जित की।

3. प्रसादोत्तर नाटक - जयशंकर प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक विषय-वस्तु और शिल्प की दृष्टि से और अधिक समृद्ध हुए। विषयगत वैविध्य की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और समस्याप्रधान नाटकों का सजन हुआ।

यहाँ तक आते-आते पौराणिक नाटकों की लोकप्रियता में कमी आने लगी थी इसलिए इनकी संख्या में कमी भी आई। फिर भी कुछ नाटकों ने अपनी अभीष्ट छाप छोड़ी। इस युग के पौराणिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट कृत 'अम्मा' और 'सागर विजय', सेठ गोविन्द दास कृत 'कर्तव्य, चतुरसेन शास्त्री कृत 'मेघनाद', हरिकृष्ण 'प्रेमी' कृत 'पाताल-विजय', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'गंगा का बेटा', कैलाशनाथ भटनागर कृत 'भीमप्रतिज्ञा' और श्रीवत्स तथा देवराज कृत 'रावण' उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों की विशेषता यह है कि इनमें आधुनिकता का भी समावेश किया गया है। 'अम्बा' का कथानक पौराणिक होते हुए भी आधुनिक नारी समस्या को प्रस्तुत करता है। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' में जाति-पाति की समस्या को उठाया गया है ताकि समाज के अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों पर प्रहार किया जा सके और मानव जीवन के वृद्ध मूल्यों को सुगमतापूर्वक स्थापित किया जा सकें

इस युग में ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा का पर्याप्त विकास हुआ। मुस्लिम, राजपूत और मराठाकालीन ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर अनेक नाटक लिखे गये। इनमें भारत के वीरों के पराक्रम, साहस और देशभक्ति का गौरव गान तथा आन्तरिक कलह और संकीर्ण मानसिकता के दुष्परिणामों का वर्णन हुआ। हरिकृष्ण प्रेमी, वन्दावन लाल वर्मा, गोविन्द वल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट आदि नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटकों का सजन कर जन-जागृति लाने का प्रयास किया। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में

‘रक्षाबन्धन’, ‘शिवा साधना’, ‘प्रतिरोध’, ‘स्वप्नभंग’, ‘आहुति’ और उद्धार आदि महत्त्वपूर्ण हैं। प्रेमीजी ने मुस्लिम कालीन भारतीय इतिहास का संदर्भ लेते हुए आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, सामाजिक एवं साम्प्रदायिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। अपने युग के राष्ट्रीय आन्दोलनों और एकता के प्रश्न से प्रभावित होकर उन्होंने अपने नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया। उनके नाटक स्वतंत्रता संग्राम के लिए जन-जागरण लाने में सफल भूमिका का निर्वाह कर सके हैं। इस युग के अन्य नाटककारों में उदयशंकर भट्ट (दाहर), गोविन्द वल्लभ पंत (राजमुकुट), उपेन्द्रनाथ अशक (जय-पराजय), व न्दावन लाल वर्मा (झाँसी की रानी), सत्येन्द्र (मुक्तियज्ञ) आदि उल्लेखनीय हैं। गोविन्ददास कृत ‘कुलीनता’ में देश की सामाजिक समस्या को लेकर कर्मजात पर जोर दिया गया है। ‘दाहर’ में उदयशंकर भट्ट ने वर्णभेद, प्रांतभेद आदि को वर्ण्य विषय बनाया है। इस युग में सजित हुए। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत ‘अशोक’ और ‘रेवा’, सेठ गोविन्ददास कृत ‘शशिगुप्त’, उदयशंकर भट्ट कृत ‘मुक्तिपथ’, सियाराम शरण गुप्त कृत ‘पुण्य-पाप’, लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत ‘गरुण ध्वज’ और गोविन्द वल्लभ पंत कृत ‘अन्तःपुर का छिद्र’ आदि उल्लेखनीय हैं। इनके कथानक इतिहास पर आधारित हैं लेकिन सांस्कृतिक पुररुत्थान की चेतना सभी में मौजूद है। इनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना बहुत कुछ प्रसाद के नाटकों की भाँति है, लेकिन प्रसाद के नाटकों के समान इनमें भावुकता, दार्शनिकता एवं भाषागत जटिलता नहीं है। इसलिये ये अधिक स्वाभाविक एवं रंगमंच के अनुकूल हैं।

पाश्चात्य नाटककारों मुख्यतः इब्सन और वर्नादशाँ की यथार्थवादी चेतना से प्रभावित होकर हिन्दी नाटककारों ने समस्या नाटकों के सजन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति की व्यापक समस्या ‘काम समस्या’ है। सभी कार्यों के मुख में यही भावना है। शायद इसीलिये समस्या नाटकों में ‘यौन समस्या’ को प्रमुखता के साथ वर्णित किया गया है। व्यक्तिगत समस्याओं का, उलझनों और मानसिक द्वन्द्वों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। हिन्दी में समस्या नाटक के अधिष्ठाता के रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। मिश्र जी के समस्या नाटकों में ‘संन्यासी’, ‘राक्षस का मन्दिर’, ‘मुक्ति का रहस्य’, ‘राजयोग’, ‘सिन्दूर की होली’, ‘आधी रात’ आदि प्रमुख हैं। इन नाटकों में बुद्धिवाद और यथार्थवाद का प्राधान्य है। प्रेम-विवाह और काम की समस्याओं का निर्भीकता के साथ प्रतिपादन है। भावुकतावादी रोमांस का विरोध है। मिश्र जी के प्रयासों से हिन्दी नाट्य क्षेत्र में नवीनता का समावेश हुआ।

इस युग में सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का आधार बनाकर अनेक नाटक लिखे गये इस दृष्टि से सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अशक, व न्दावनलाल वर्मा आदि के योगदान महत्त्वपूर्ण हैं। गोविन्ददास के नाटक, ‘सिद्धान्त स्वातंत्र्य’, ‘सेवापथ’, ‘महत्त्व किसे’, ‘संतोष कहों’, ‘गरीबी और अमीरी’ में सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का चित्रण है। उपेन्द्रनाथ अशक के नाटकों में ‘स्वर्ग की झलक’, ‘कैद’, ‘उड़ान’, ‘छठाबेटा’ आदि उल्लेखनीय हैं। ‘स्वर्ग की झलक’ में स्त्री शिक्षा की समस्या को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ‘छठाबेटा’ एक स्वप्ननाटक है जिसके माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न में करना चाहता है। अशक के नाटकों में नारी शिक्षा, नारी स्वातंत्र्य, विवाह-समस्या, संयुक्त परिवार से सम्बन्धित अनेक सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल हैं। सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को आधार बनाकर अन्य नाटक भी लिखे गये जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं- न्दावनलाल वर्मा कृत ‘धीरे-धीरे’, ‘राखी की लाज’ एवं ‘बाँस की फीस’ गोविन्द वल्लभ पंत कृत ‘अंगूर की बेंटी’ एवं ‘सिन्दूर की बिन्दी’, पथ्वीनाथ शर्मा कृत ‘अपराधी’ एवं ‘साध’ आदि उदयशंकर भट्ट कृत ‘कमला’ एवं ‘क्रांतिकारी’

आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में विभिन्न परिस्थितियों एवं समस्याओं का सफल अंकन है। इनके अतिरिक्त आलोच्य युग में नीति नाट्य, प्रतीक नाटक और एकांकी नाटक भी लिखे गये। जयशंकर प्रसाद ने 'करुणालय' की रचना करके हिन्दी गति-नाट्य की जिस परम्परा की शुरुआत की, उसका विकसित रूप इस काल में उपलब्ध होता है। इस युग के प्रमुख गीतिनाट्यकार उदयशंकर भट्ट हैं। 'विश्वामित्र' 'राधा' और 'मत्स्यगंधा' आदि इनके गीतिनाट्य हैं। जिनमें काव्यकला और नाट्यकला का सुंदर समावेश है। सेठ गोविन्ददास और भगवतीचरण वर्मा के क्रमशः 'स्नेह या स्वर्ग' और 'तारा' भी सफल गीतिनाट्य हैं।

जयशंकर प्रसाद ने 'कामना' नाटक के द्वारा प्रतीकवादी नाटकों की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया था। सुमित्रानन्दन पंत ने 'ज्योत्स्ना', भगवती प्रसाद वाजपेयी ने 'छलना' और सेठ गोविन्ददास ने 'नवरस' जैसे प्रतीकवादी नाटकों की रचना करके इस परम्परा को आगे बढ़ाया। स्वातंत्र्योत्तर काल में प्रतीकवादी नाटकों का तीव्र गति से विकास हुआ।

प्रसाद के 'एक घूंट' से एकांकी नाटकों की जिस परम्परा का श्रीगणेश हुआ उसे इस काल के एकांकीकारों ने चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। भुवनेश्वर प्रसाद, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर और उदय शंकर भट्ट आदि एकांकीकारों ने कलात्मकता और तीव्रता के साथ एकांकी को प्रगति के पथ पर अग्रसरित किया।

4. स्वातंत्र्योत्तर नाटक - स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटकों में वस्तुगत वैविध्य आया। शिल्प की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग हुये। स्वातंत्र्योत्तर नाटक साहित्य को पौराणिक, ऐतिहासिक, जीवनीपरक, समस्यानाटक, सिनेनाटक, एकांकी, गीतिनाटक, रेडियोनाटक, प्रतीकवादी आदि उपखण्डों में विभक्त करके अध्ययन किया जा सकता है।

पौराणिक नाटक कम ही लिखे गये फिर भी चतुरसेन शास्त्री कृत 'गांधारी', रांगेय राघव कृत 'स्वर्ग भूमि का यात्री', गोविन्द वल्लभ पंत कृत 'ययाति', 'पथ्वीनाथ शर्मा कृत 'उर्मिला' आदि पौराणिक नाटकों की रचना हुई। लक्ष्मीनारायण मिश्र का चक्रव्यूह भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है।

इस युग में ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना हुई जिसमें सांस्कृतिक तत्त्वों की प्रमुखता के साथ समावेश है। इस दृष्टि से उदय शंकर भट्ट का 'शक विजय', व न्दानलाल वर्मा का 'पूर्व की ओर', लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'दशाश्वमेघ' 'वत्सराज', 'वितस्ता की लहरें', 'नारद की वीणा' आदि हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'शपथ' देवराज दिनेश कृत 'यशस्वी भोज', सर्वदानन्द वर्मा कृत 'भूमिजा' आदि नाटक उल्लेख्य हैं। ये सभी नाटक किसी न किसी सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को आधार बनाकर लिखे गये हैं। जगदीशचन्द्र माथुर कृत 'पहला राजा' और 'दशरथनन्दन' में आदर्शोन्मुखी दृष्टि से सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिए नाट्योचित दृष्टि का सार्थक उपयोग किया गया है। माथुर जी का 'कोणार्क' अपने शिल्पगत वैशिष्ट्य के लिए प्रसिद्ध है। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'उद्धार', 'प्रकाश स्तम्भ' और कीर्तिस्तम्भ' अपने नाट्य-शिल्प के कारण अधिक चर्चित हुए हैं। विष्णु प्रभाकर ने 'डॉक्टर', 'युगे-युगे क्रांति', 'टूटते परिवेश' आदि में पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को चित्रित किया है।

जीवनोपरक नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'कवि भारतेन्दु' तथा सेठ गोविन्ददास के 'भारतेन्दु' और 'रहीम' उल्लेखनीय हैं। इनमें इतिहास भी है और कल्पना भी। जीवन की घटनाओं का वर्णन स्वाभाविक है। अभिनय की दृष्टि से ये सभी सफल हैं।

इस युग में समस्या नाटकों के स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन हुआ। प्रेम-विवाह और काम समस्या

गौण हो गये तथा वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया। इस युग के समस्या नाटकों में सेठ गोविन्ददास कृत 'सुख किसमें' और 'भूदान यज्ञ', व न्दावनलाल वर्मा कृत 'खिलौने की खोज', 'नीलकंठ' और 'कैवर' आचार्य चतुर सेन शास्त्री कृत 'पगध्वनि', विष्णु प्रभाकर कृत 'चन्द्रहार', उपेन्द्रनाथ अशक कृत 'पैंतरे' तथा 'अलग-अलग रास्ते', शम्भूनाथ सिंह कृत 'धरती और आकाश' और लक्ष्मीनारायण कृत 'अंधाकुँआ' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें सामाजिक असमानता - छुआछूत आदि की समस्या को चित्रित किया गया है। प्रेम-विवाह और यौन समस्याओं की भी अभिव्यक्ति हुई है।

डॉ० रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा ने चित्रपट की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सिने नाटकों की रचना की। डॉ० रामकुमार वर्मा का 'स्वप्न चित्र' तथा भगवतीचरण वर्मा का 'वासवदत्त का चित्रलेखा' इसी प्रकार के नाटक हैं।

गीति नाटकों की परम्परा में सुमित्रानन्द पंत ('रजत शिखर' और 'शिल्पी') डॉ० धर्मवीर भारती (अंधायुग) तथा सिद्धनाथ कुमार (लौह देवता) के नाम महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार एकांकी नाटक अधिक संख्या में लिखे गये। हिन्दी एकांकियों पर रेडियों का प्रभाव तीव्रता से पड़ा है। नाटककार रेडियो की आवश्यकताओं के अनुरूप रेडियोनाटक तथा एकांकी लिख रहे हैं। इनका व्यापकता और विविधता के कारण इनका स्वतंत्र अध्ययन अपेक्षित है और उचित भी।

प्रतीकात्मक नाटकों में विष्णु प्रभाकर कृत 'दृष्टि की खोज' तथा 'बाज और कबूतर', गिरिजा कुमार माथुर कृत 'पथ्वीकल्प', अज्ञेय कृत 'वसंत', धर्मवीर भारती कृत 'नीली झील' तथा लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'मादा कैक्टस', 'सुंदर रस' और 'सूखा सरोवर' उल्लेखनीय हैं। डॉ० लाल के 'मादा कैक्टस' में व्यंग्यात्मक ढंग से उन व्यक्तियों का चित्रण है जो भीतर से खोखले होते हैं, लेकिन बाहर गम्भीरता का आवरण चढ़ाये रखते हैं। 'सुंदर रस' और 'सूखा सरोवर' की प्रतीक व्यंजना अपने आप में विलक्षण है। डॉ० लाल के अन्य नाटकों में 'रातरानी', 'दर्पण', 'करपयू', 'अब्दुल्ला दिवाना', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'मिस्टर अभिमन्यु' आदि महत्वपूर्ण हैं। इनमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का निरूपण है। डॉ० लाल ने हिन्दी नाटक तथा रंगमंच को एक नई दिशा दी है।

व्यक्तिवादी चेतना सम्पन्न नाटककारों में मोहन राकेश का नाम अग्रगण्य है। अपने नाटक 'आषाढ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे अधूरे' के द्वारा उन्होंने जो ख्याति प्राप्त की है, वह अन्य नाटककारों को नहीं मिल सकी है। इन प्रथम दो नाटकों में व्यक्ति के अहं, काम, प्रेम आदि से सम्बन्धित अन्तर्द्वन्द्व की सफल व्यंजना हुई है। 'आधे अधूरे' में परिवार एवं दाम्पत्य जीवन के विघटन को रेखांकित किया गया है। रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से राकेश के नाटक सफल हैं। वस्तुतः राकेश एक समर्थ प्रतिभा सम्पन्न नाटककार है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटकों की गति और तीव्र हुई है। अन्य अनेक नाटककार जिन्होंने हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध करने का प्रयास किया है, महत्वपूर्ण योगदान दिया है-उनमें प्रमुख हैं-नरेश मेहता का 'सुबह के घंटे' लक्ष्मीकांत वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मा', शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियाँ गूँजती हैं', मन्नू भंडारी का 'बिना दीवारों का घर', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', 'मुद्राराक्षस', 'तिलचट्टा', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', भीष्म साहनी का 'हानूश' और 'कबिरा खड़ा बाजार में', विमला रैना का 'तीन युग', सर्वदानन्द का 'भूमिजा', श्रीमती कुसुम कुमार का 'दिल्ली ऊँचा सुनती है', सुरेन्द्र वर्मा का 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', मणिमधुकर का 'रसगंधर्व', सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है', ज्ञानदेव

अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', हमीदुल्ला का 'समय-सन्दर्भ', प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काट्महल' आदि

आज हिन्दी रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले नाटकों में अनूदित नाटकों की संख्या अधिक है। रंग शालाओं में नाट्य प्रस्तुति के अतिरिक्त अन्य प्रस्तुति माध्यम भी अपनी सक्रिय भागीदारी से लोकप्रियता अर्जित कर रहे हैं। इनमें नुक्कड़ नाटक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके साथ ही टेलीविजन सीरियलों (धारावाहिकों) तथा टेलीविजन नाटकों के माध्यम से नाटक का बहु आयामी और लोकप्रिय रूप विकसित हो रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि आज हिन्दी नाटकों का विकास नई दिशाओं एवं कई रूपों में हो रहा है जो हिन्दी नाटक के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

हिंदी रंगमंच (व्यावसायिक-अव्यावसायिक)

हिंदी में पारंपरिक या लोकमंचों का विकसित रूप आज भी विद्यमान है। इसके साथ ही हिंदी के साहित्यिक और मंचीय नाटकों के अभिनय की प्रक्रिया चलती रही है। इस प्रक्रिया में कुछ व्यावसायिक और कुछ अव्यावसायिक मंचों की भूमिका विशेष उल्लेखनीय रही है।

हिंदी के ऐसे रंगमंचों में पारसी रंगमंच, पथी थियेटर, इप्ता, एन०एस०डी० और नुक्कड़ नाटक मुख्य हैं।

(क) पारसी रंगमंच

पारसी रंगमंच की स्थापना 1 अक्टूबर 1853 ई० को 'पारसी नाटक मण्डली' के नाम से हुई। यह रंगमंच पूर्व और पश्चिम, शास्त्रीय और लोक, व्यावसायिक और पुनरुत्थानवादी तथा राष्ट्रीय और रोमानी चेतनाओं का अपूर्व संगम था। अपने एक निबन्ध में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है- 'बम्बई में अठारह सो उंचास में, ग्रांट रोड पर 'बम्बई थियेटर' बना। इसमें अंग्रेज, पारसी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों ने मिलकर उन्हीं अंग्रेजों की नकल में अंग्रेजों में ही नाटक खेलना शुरु किया। इसमें तफरीह के साथ ही साथ और भी बहुत लाभ होने लगे। इसकी परिणति यह हुई कि थोड़े ही दिनों बाद, इसी परिवेश के भीतर से ही एक कम्पनी जन्म ले बैठी, जिसका नाम था 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर'। इस कम्पनी का लक्ष्य था हिन्दुस्तानी जबान में ड्रामा खेलना।" इस संस्था (हिन्दू ड्रामेटिक कोर) ने नवम्बर 1853 ईसवी में विष्णुदत्त भावे के दो नाटकों 'राजा गोपीचन्द्र' और 'जलन्धर' का प्रदर्शन किया, इन्हीं प्रदर्शनों को विद्वानों ने 'पारसी रंगमंच' की शुरुआत की।

यह पूर्णतः व्यावसायिक रंगमंच था। आगे चलकर अनेक प्रकार के नामों से पारसी नाटक मण्डलियों, कम्पनियों और थियेटर पैदा हुये। प्रदर्शन का इनका अपना ढंग था। पंडित देवकीनन्दन त्रिपाठी ने पारसियों के प्रदर्शन को लेकर ए जगह लिखा है- 'पारसी लोग वर्तमान समय नाटक करने में प्रसिद्ध हैं, उससे वे रुपया भी अधिक पैदा करते हैं और वाह-वाह भी पाते हैं परन्तु विचार करके देखिए तो केवल रसिक मनोरंजन छोड़ और दूसरा प्रकार कहीं भी नहीं है। फिर भी, इस हिन्दी पारसी रंगमंच का प्रेरक प्रभाव तत्कालीन हिन्दी रंगमंच पर भी पड़ा और पारसी रंगमंच के समानान्तर उन्नीसवीं सदी के अंत तक हिन्दी रंगमंच भी पर्याप्त विकसित हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं भी इसके प्रभाव से न बच सके।

इन पारसी कम्पनियों के पास अच्छे लेखक व निर्देशक होते थे। लेखकों में प्रमुख थे- 'पं० नारायणप्रसाद बेताब', 'आगाहश्च कश्मीरी', 'राधेश्याम कथावाचक', श्रीकृष्ण हसरत', 'तुलसीदत्त शैदा', 'जमुनादास मेहरा', 'किशनचन्द्र जेवा' इत्यादि। प्रसिद्ध कलाकारों में रहिम बख्श, आगा महमूद, मिस गोहर, मास्टर भगवानदास, कावस जी खटाऊ, खुरशेदजी, जहाँगीर, सोहराब आदि थे।

पारसी रंगमंच में नाटक लिखने वाले की हैसियत महत्वपूर्ण थी, किन्तु थिएटर के व्यवसायिक संगठन में स्वभावतः उसकी स्थिति कंपनी के मालिक के नीचे थी। मालिक की दृष्टि मूलतः व्यापार की थी, इसलिए स्वभावतः नाटक का लेखन मालिक की बुनियादी नजर के अनुसार होता था। इसलिए जानबूझकर नाटककार की नाट्यलेखक की संज्ञा दी गई है। इसलिए और भी कि नाटक लेखक स्वतंत्र रचनाकार की बजाय मालिक और प्रस्तुतीकरण के बीच की एक

महत्वपूर्ण कड़ी था। वह मालिक की इच्छा और उद्देश्य के अनुसार, बल्कि यहाँ तक कि उसके दिए बताए हुए विषय के आधार पर नाटक लिखता, उसमें चित्ताकर्षक दृश्य और खेल कुछ नई सृष्टि करता, साथ ही स्वयं निर्देशन, गायन, नर्तन और संयोजन का भी काम करता। दृश्य के अंत में 'वंसमोर' की पुकार जब तक दर्शक समाज से न हो जाए तब तक नाटक श्रेष्ठ न माना जाता था। उस समय के प्रसिद्ध नाटक हैं- 'शहीद नाज, सफेद खून, खाबे हस्ती, सैदे हवस, विल्वमंगल, आँख का नशा, रुस्तम और सुहराब (आगाहश्र कश्मीरी), गोरखधंधा, महाभारत, कृष्ण सुदामा, रामायण नाटक (पं० नारायण प्रसाद 'बेताब'), वीर अभिमन्यु, कृष्णावतार, श्रवणकुमार, मशरिकी हूर, परिवर्तन (राधेश्याम कथावाचक), शहीद संन्यासी, जख्मी हिन्दू, देश दीपक, चिराग वतन (किशनचन्द्र जेबा), गंगावतरण (श्रीकृष्ण हसरत), जनकनंदनी (तुलसीदत्त शोदा), कन्या विक्रय, देवयानी, आदर्शबन्धु या पापपरिणय (जमुनादास मेहरा), इत्यादि।' लगभग पच्चीस नाट्य-मण्डलियों द्वारा इन नाटकों का प्रदर्शन होता रहा। इन मण्डलियों की अपनी अपनी रंगशैलियाँ थीं और वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा चमत्कारिक दृश्यों या अद्भुत कार्यों को मंच पर दिखाना इनका ढंग था।

पारसी रंगमंच के निर्देशक दर्शकों के सामने चमत्कारपूर्ण दृश्य उपस्थित करते थे। लोकनाट्य गीततत्त्व और यथार्थवादी यान्त्रिक दृश्यात्मकता इनकी खूबी थी। इस रंगमंच ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने समय के लगभग सभी नाटककारों को प्रभावित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद आदि नाटककार भी इस रंग-परम्परा से प्रभावित थे, किन्तु प्रसाद के लिए यह प्रभाव चेतन नहीं था, इसी से किसी सजग प्रयोग की प्रेरणा नहीं बन सका अपितु उनके नाटकीय प्रभाव को उसने खंडित ही किया। फिर भी, हमारे आलोचकों ने इसे महत्वपूर्ण स्थान न देकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा। लगभग चार दशकों तक यह थियेटर बराबर अपने प्रदर्शन करता रहा और 1930 ई० के बाद मृत्युप्रायः सा हो गया, इसकी कुछ कम्पनियाँ ही जीवित रहीं।

(ख) पथ्वी थियेटर

'इष्टा' के दो वर्ष बाद 'पथ्वी थियेटर' का जन्म हुआ। इसकी स्थापना 15 जनवरी 1944 को बम्बई में पथ्वीराज कपूर ने की। रंगमंच के उत्थान के लिए सोलह वर्षों तक 130 स्थानों पर घूम-घूमकर यह संस्था राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना जगाने का काम करती रही। पारसी रंगमंच की इतिश्री के बाद पथ्वीराज कपूर ने हिन्दी रंगमंच को इस संस्था के द्वारा व्यवसायिक रूप देने का प्रयास किया था। इस थियेटर काल में उन्होंने 2662 बार अभिनय किया और लोगों को कला के प्रति जागृत किया।

पारसी रंगमंच का प्रभाव होने पर भी इस संस्था के पास अपना बहुत कुछ था। जनता को सात्विक मनोरंजन प्रदान कर लोगों के मन में नाट्यकला के प्रति रुचि बढ़ाने एवं व्यवसाय के साथ-साथ, पारसी रंगशैली से थोड़ा परे हटकर समाज के आदर्श और यथार्थ की मांग को महत्त्व दिया।

यह रंगमंच हिन्दू और मुसलमानों को आपसी सद्भाव एवं भाईचारे की प्रेरणा देता रहा। राष्ट्रीय भावनाएं उस समय उद्वेलित कर रही थीं और माहौल भी इसी तरह का था। जिसे देखते हुए 'पठान', 'दीवार', 'आहुति', 'कलाकार', 'पैसा और किसान', 'गद्दार' आदि नाटकों का सफल प्रदर्शन इस संस्था की देन है।

पथ्वीराज कपूर ने हिन्दू मुस्लिम एकता को दृढ़ सकने में सहायक तथ्यों को उजागर करने वाले भाव मंच पर पैदा किये। 'दीवार' में देश-विभाजन की कहानी है जिसे विभाजन से पूर्व ही मानो अपनी दिव्य दृष्टि से उसे उन्होंने जान लिया था। 'गद्दार' और 'आहुति' में पाकिस्तान

बन जाने के बाद की कहानी है। यह कहानी साम्प्रदायिक सौहार्द और भाई-चारे की भावना को दृढ़ बनाने की मरहम है। 'पठान' में मुसलमान खान और हिन्दू दीवान की दोस्ती को दर्शाया है तो 'आहुति' में हिन्दू युवती को मुसलमान युवक द्वारा बचाये जाने की दास्तान है।

पथ्वीराज सभी नाटकों का निर्देशन स्वयं करते थे। उसके द्वारा प्रशिक्षित बहुत से कलाकार उसके अभिनय और बोलने के ढंग की नकल करे थे। इन सबों पर उसकी अपनी शैली की छाप थी। उसने कई छोटे-छोटे पथ्वीराज गढ़ दिये जो उसकी भाँति ही तेजी से चलते और अभिनय करते थे। यहाँ से सीख-सीखकर बहुत से कलाकार फिल्मों में चले गये। पथ्वीराज को शांत माहौल पसन्द था। प्रस्तुति के समय पंखों की आवाज तक से उसे चिढ़ थी। बिना अवसर अगर कोई दर्शक गम्भीर दृश्य को हँसकर या खौंसकर भंग करता तो वह उसे डांटने के लिए स्वयं मंच से बाहर आ जाता।

यह थियेटर बम्बई के ऑपेरा हाऊस में अपने नाटकों की प्रस्तुति करता था। मार्च सन् 1945 में इसने 'शकुन्तला' नाटक का प्रदर्शन किया। पथ्वीराज ने दुष्यन्त और शशिकपूर ने भरत का अभिनय किया। इस नाटक के कुल 212 प्रयोग किये गये।

'दीवार' का मंचन अक्टूबर में हुआ। नाटक की कथा तत्कालीन वातावरण से सम्बन्धित होने से, प्रदर्शन काफी सराहा गया। इसे 712 बार प्रदर्शित किया गया। 17 अप्रैल सन् 1947 में 'पठान' की प्रस्तुति नागपुर के 'मिनर्वा थियेटर' में की गई। पूर्व नाटकों से भी अधिक सफलता इस प्रदर्शन में थी। शेरखान की भूमिका स्वयं पथ्वीराज ने की थी। इस नाटक के 558 शो हुये। 15 जुलाई को 'गद्दार' बम्बई के 'रायल ऑपेरा हाऊस' में खेला गया जिसमें पथ्वीराज ने अशरफ के रूप में अपनी अपूर्व अभिनय कला को प्रस्तुत किया। इसी प्रकार 'आहुति', 'कलाकार', 'पैसा और किसान' आदि नाटकों का मंचन भी सफलतापूर्वक इस संख्या द्वारा होता रहा। ये नाटक आज भी दर्शकों को स्मरणीय हैं।

यह थियेटर अच्छे कलाकारों और बेशुमार सीन-सीनरियां लेकर दूर-दूर के कस्बों और मण्डियों में गया और उसने अपने नाटकों का भव्य प्रदर्शन किया। पथ्वीराज के बाद यह थियेटर मत्स्यप्रायः सा हो गया।

स्वातंत्र्योत्तर 'इष्टा' और 'पथ्वी थियेटर' के अलावा अन्य शहरों में भी नाटक होते थे। लोगों में नाटक देखने और नाटक खेलने की जागरूकता भी थी। जगह-जगह नाट्य और रंगमंचीय गतिविधि को नया मोड़ दिल्ली केन्द्र ने दिया। 'दिल्ली का रंगमंच स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच की रीढ़ है। 'संगीत नाट्य अकादमी' की स्थापना और थियेटर मंचों को सरकारी प्रोत्साहन, जिससे हिन्दी रंगमंच की एक स्वच्छ दिशा प्राप्त हुई। इन संस्थाओं द्वारा हिन्दी में अनेक प्रस्तुतियां हुईं। 'दिल्ली आर्ट थियेटर' द्वारा विष्णु प्रभाकर के 'हीरो', 'देवी' और शत्रु के 'बोडसी', रवीन्द्र के 'डाकघर' और मोलियर के 'कंजूस' की प्रस्तुतियां बेहद सफल रहीं।

(ग) नुक्कड़ नाटक

शाब्दिक व्याख्या - अंग्रेजी में प्रचलित 'स्ट्रीट प्ले' या ब्रेख्त के 'स्ट्रीट कॉर्नर थियेटर' के लिए हिन्दी में 'मंचयुक्त', 'चौराहा', 'सड़क', 'नुक्कड़' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है। चंद्र प्रेक्षागृह से बाहर रंगकर्म के लिए आमतौर पर तथा व्यवस्था-विरोधी तेवर के लिए खासतौर पर इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

'मंच-मुक्त' शब्द प्रत्येक उस नाटक के लिए प्रयोग किया जाता है जो खुले स्थान पर खेला जाता है। स्थान की दृष्टि से 'सड़क' और 'चौराहा' शब्द जन-सामान्य के बीच में होने का

अहसास कराने के कारण इस प्रतिबद्ध रंगकर्म की मूल संघर्षशील प्रकृति के अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं, परन्तु 'बीचोंबीच' की अपेक्षा 'मोड़' या 'छोर' सुरक्षित स्थान होता है। किसी शान्त और निरापद स्थान पर ही रंग-प्रस्तुति सम्भव है। यही स्थिति 'नुक्कड़' शब्द की है। 'नुक्कड़' शब्द की अन्य अर्थ-ध्वनियों पर सूक्ष्मता से विचारने पर हम पायेंगे कि 'नुक्कड़' का अर्थ 'नाका' भी होता है और 'नाका' का अर्थ है-किसी नगर, बस्ती या दुर्ग इत्यादि में धुसने का प्रमुख द्वार। अतः आम आदमी के प्रति होने वाले अत्याचार तथा दुःख-दर्द के लिए जिम्मेवार राजनीतिक-सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी समताप्रिय किन्तु जन-विरोधी ताकतों के घिनौने चेहरों से उसके सिद्धान्तवादी खूबसूरत नकाब नॉचकर सच्चाई से हमारा सामना कराने के लिए प्रतिबद्ध यह नाट्यरूप एक और व्यवस्था के अभेद्य दुर्ग को तोड़ने और दूसरी ओर आम आदमी की मामूली दुनिया में जाने का प्रवेश द्वार होने के कारण 'नुक्कड़ नाटक' कहलाने का अधिकारी है।

'नुक्कड़' शब्द नाटक के कथ्य और रूप दोनों की दृष्टि में उचित ठहरता है। नुक्कड़ नाटकों में मुख्य रूप से आम लोगों के जीवन की तस्वीर मिलती है जो चौराहों तथा नुक्कड़ों पर देखी जा सकती है। अपने कथ्य के अनुरूप ही नाटक ने रूप ग्रहण किया है। बिना किसी ताम-झाम तथा बाह्याडम्बर के दर्शकों से सीधा संवाद करता है। अतः कथ्य एवं रूप दोनों की दृष्टि से 'नुक्कड़' शब्द सार्थक है। इस शब्द से इस नाट्यकर्म की सम्पूर्ण चेतना और प्रकृति, इसका रंग-रूप, आकार-प्रकार और इरादा सब एक साथ अभिव्यक्त हो उठते हैं। अतः इस नाट्य-विधा को 'नुक्कड़ नाटक' नाम देना ही उचित ठहरता है।

परिभाषाएं - नुक्कड़ नाटक पर यद्यपि बहुत कम विचार हुआ है परन्तु कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। नुक्कड़ नाटक का जन्म राजनीतिक जरूरत के तहत हुआ है। नुक्कड़ नाटक पर विचार करते हुए हबीब तनवीर ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है "सड़कों, मैदानों में खेले जाने वाले वर्तमान के राजनैतिक थियेटर को ही हम नुक्कड़ नाटक कहेंगे।" इस तरह हबीब तनवीर ने नुक्कड़ नाटक की मूल चेतना को पकड़ने का प्रयास किया है।

डॉ० ब्रजराज किशोर ने नुक्कड़ नाटक को आम आदमी की चेतना को जागृत करने के कारगर साधन के रूप में देखा है। उनके अनुसार, "नुक्कड़ नाटक एक ऐसा प्रयोग है जो सांप्रतिक जनसंघर्ष में आम आदमी की पक्षधरता के साथ ऐन्द्रिय संवेदना और सोच को जगाता हुआ एक स्वस्थ परम्परा बनने की सामर्थ्य में समन्वित है।" इस तरह डॉ० ब्रजराज किशोर ने नुक्कड़ नाटक को नाट्य-प्रयोग माना है जो आम आदमी की पक्षधरता के साथ उसकी चेतना को जगाने की सामर्थ्य रखता है।

चन्द्रेश ने नुक्कड़ नाटक को इस रूप में परिभाषित किया है-"नुक्कड़ नाटक सिर्फ नाटक नहीं, संघर्षशील समसामयिक जन-जीवन का जीवन्त दस्तावेज है।"

जयदेव तनेजा ने नुक्कड़ नाटक पर विचार करते हुए लिखा है-"वे तमाम नाटक जो अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध आम आदमी को जागरूक बनाने के उद्देश्य से गली, नुक्कड़, चौराहे, पार्क या स्कूल, दफ्तर, कालोनी, मिल अथवा कारखाने के खुले स्थान पर सामान्य जन के बीच जन-सामान्य की ही भाषा में प्रस्तुत किए जाते हैं, नुक्कड़ नाटक कहे जाते हैं।" जयदेव तनेजा की परिभाषा अधिक तर्कसंगत है। अतः नुक्कड़ नाटक आम आदमी की समस्या का विश्लेषण एवं मूल्यांकन, आम आदमी की भाषा में आम आदमी के बीच प्रस्तुत करते हैं।

नाटकीय तत्त्व - साहित्य की किसी विधा का मूल्य-निर्धारण के लिए कुछ मानदण्डों का आधार लेना आवश्यक होता है। इन्हीं का आधार लेकर उसका स्वरूप निर्धारण और यथार्थ का बोध

हो पाता है। नाटक सहित्य की प्रमुख विधा है। भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-चिन्तकों ने नाट्य-तत्त्वों पर पर्याप्त विचार किया है। सामाजिक संरचना के अनुसार ही नाटक तथा रंगमंच रूप ग्रहण करते हैं। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ नाटक के लेखन तथा प्रस्तुतीकरण में अन्तर आ जाता है जिससे नाट्य-तत्त्वों पर प्रभाव पड़ता है। किसी तत्त्व का अधिक महत्ता मिलती है तथा किसी को अपेक्षाकृत कम जिससे नाट्य-विधाओं की खोज हुई।

भारतीय नाट्य-चिन्तकों के नाट्य-तत्त्वों पर विचार करते हुए वस्तु, नेता तथा रस को नाटक के तत्त्व माना है। पाश्चात्य नाट्य-चिन्तकों ने वस्तु, पात्र, संवाद, देश-काल, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य को नाट्य-तत्त्वों में स्थान दिया है। पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य-तत्त्वों को मिलाकर नाटक के सात तत्त्व स्वीकार किये हैं :-

- | | |
|--------------|-----------------------|
| 1. कथावस्तु | 2. पात्र-योजना |
| 2. संवाद | 4. देश-काल और वातावरण |
| 5. भाषा-शैली | 5. उद्देश्य |
| 7. रंगमंच | |

अन सात तत्त्वों को समाहित करने वाली रचना नाटक कहलाने की अधिकारी है। उनमें से किसी तत्त्व की कमी या अधिकता के कारण नई-नई नाट्य-विधाएं प्रकाश में आई हैं। नुक्कड़ नाटक नई नाट्य-विधा है जो नाटक के मूलभूत तत्त्वों को अपने में समाहित करते हुए भी पथक् विधा की पहचान बनाता है।

1. **कथावस्तु** - कथावस्तु उस आधारभूत वस्तु को कहा जाता है जिस पर समूची रचना का ढाँचा खड़ा होता है। कथावस्तु नाटक का मूलाधार है। कथानक के द्वारा ही नाटककार अपने भावों तथा विचारों को दर्शकों तक सम्प्रेषित करता है। भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-चिन्तकों ने कथावस्तु को नाटक का प्रमुख तत्त्व माना है। भारतय आचार्यों के अनुसार नाटक के विषय-इतिहास, कल्पना तथा इतिहास व कल्पना से मिश्रित हैं।

प्राचीन काल में इन सिद्धान्तों को आधार बनाकर नाटक की रचना होती रही। ऐतिहासिक व्यक्तियों वा काल्पनिक चरित्रों को लेकर कथानक गढ़े जाते रहे, परन्तु आधुनिक युग में साहित्य तथा नाटक में जन-साधारण को तथा उसकी वर्तमान समस्याओं को स्थान दिया जाने लगा। समसामयिक यथार्थ को आधार बनाकर नाटक के कथानक लिखे जाने लगे।

नुक्कड़ नाटक अपनी प्रतिबद्धता शोषित वर्ग से स्वीकार करता है। अतः शोषित वर्ग की रोजमर्रा की समस्याओं का तथा सामयिक समाज की घटनाओं को आधार बनाकर नाटक की रचना की जाती है। अलीगढ़ के दंगों की सरकारी रिपोर्ट को आधार बनाकर 'हत्यारे', पंजाब के परिवेश को आधार बनाकर 'वीर जाग ज़रा', धर्म को राजनीतिक स्वार्थों के लिए प्रयोग करने की समस्या को लेकर 'सबसे सस्ता गोश्ता' नाटक की रचना की गई। वर्तमान समाज की समस्याओं - गरीबी, महंगाई, भ्रष्टाचार आदि को आधार बनाकर नुक्कड़ नाटकों की रचना की जाती है।

नाटक के कथा-विकास के लिए भारतीय विद्वानों ने कार्य-अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों, सन्धियों की कल्पना की है। समस्या पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालने के लिए अधिकारिक कथा तथा प्रासंगिक कथा आदि भेद किये हैं। नुक्कड़ नाटक में आधिकारिक या प्रासंगिक कथाएँ नहीं होतीं। नुक्कड़ नाटका का कथा-विकास परम्परागत परिपाटी के अनुसार नहीं होता। नुक्कड़

नाटक का कथा-विकास घटनाओं के माध्यम से होता है। किसी एक समस्या पर प्रकाश डालने के लिए, उस समस्या के कारणों को जानने के लिए भिन्न-भिन्न घटनाओं की संयोजना की जाती है। 'जन नाट्य मंच' का नाटक 'औरत' का मुख्य उद्देश्य औरत की हालत को दर्शाना है। उसके शोषण को समग्र रूप से दर्शाने के लिए कॉलेज की घटना, मजदूर औरत की फैक्ट्री की घटना, ऑफिस आदि की घटनाओं को जोड़ दिया जाता है, जिससे औरत की हालत सामने आ जाती है। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी घटनाओं के द्वारा कथा-विकास होता है व मुख्य समस्या उभरकर सामने आती है। नुक्कड़ नाटक के उद्देश्य को भिन्नता तथा रंगमंचीय सीमाओं के कारण नुक्कड़ नाटक के कथानक का इस तरह का स्वरूप निर्मित हुआ है।

2. **पात्र-योजना** - पात्र-योजना नाटक का अभिन्न तथा अनिवार्य तत्त्व है। पात्रों के माध्यम से ही रंगमंच पर नाटक का प्रस्तुतीकरण सम्भव है। नाटकीय कथा की क्रियात्मकता प्रदान करने का एकमात्र साधन पात्र हैं। अपने कथ्य को दर्शकों तक सम्प्रेषित करने के लिए नाटककार कथानक का निर्माण करता है तथा इस कर्म के लिए पात्रों का सहारा लेता है। यदि कथानक नाटककार के उद्देश्य-सम्प्रेषण का साधन है तो पात्र कथानक-सम्प्रेषण के साधन हैं। अतः नाटक में पात्रों का प्रमुख स्थान है।

संस्कृत आचार्यों ने पात्र-तत्त्व का नामकरण प्रमुख पात्र (नायक) के आधार पर 'नेता' किया। नाट्याचार्यों ने 'नेता को सात्त्विक गुणों के आधार पर धीरोदात्त, धीर-ललित, धीर-प्रशान्त, धीरोद्भूत आदि वर्गों में विभक्त किया है। इसी प्रकार नायिका के भेदोपभेद किए हैं। पाश्चात्य-चिन्तकों ने भी पात्रों को नाटकों में दूसरे प्रमुख तत्त्व माना है।

नुक्कड़ नाटक उद्देश्य-प्रधान नाटक है। कथानक की तरह नुक्कड़ नाटकों की पात्र-योजना भी उद्देश्य से परिचालित होती है। नुक्कड़ नाटक का उद्देश्य किसी समस्या के कारणों का विश्लेषण करके दर्शकों को सचेत करना है। इसी उद्देश्य के लिए पात्रों की योजना की गई है। नुक्कड़ नाटक के पात्र किसी आदर्श की स्थापना करते नजर नहीं आते। नुक्कड़ नाटक में नायकों की कल्पना नहीं होती। इसमें नायक पात्र नहीं होता। नुक्कड़ नाटक में वैयक्तिक पात्र नायकों या पात्रों या व्यक्तियों की मुख्यता रही थी। ठीक इसके विपरीत, नुक्कड़ नाटकों में 'समूह' उभरता उमड़ता नजर आता है, जिसमें व्यक्ति गौण है। शोषक तथा शोषित वर्ग के पात्रों को आमने-सामने रखकर इनके द्वारा शोषण दर्शाया जाता है। नुक्कड़ नाटक में पात्रों की संख्या सीमित होती है। एक ही पात्र को कई चरित्रों की भूमिका अदा करनी पड़ती है। जन नाट्यमंच के नाटक 'औरत' में एकही स्त्री-पात्र की लड़की, कॉलेज की लड़ी, मजदूर-औरत का अभिनय करती है। नुक्कड़ नाटक की सफलता जहां उसके कथ्य पर निर्भर करती है, वहीं पात्रों की कुशलता पर भी निर्भर करती है।

3. **संवाद** - नाटक में कथानक प्रस्तुतीकरण के लिए संवाद अनिवार्य हैं। कथा को गति प्रदान करने में संवाद का प्रमुख योगदान है। संस्कृत आचार्यों ने संवाद-योजना की चर्चा 'वस्तु' तत्त्व के अन्तर्गत की है। नुक्कड़ नाटक में संवादों के माध्यम से ही कथानक विकास पाता है। अपने चुस्त, प्रभावोत्पादक और विचारोत्तेजक संवादों के द्वारा ही दर्शकों को बांध कर रखता है। नुक्कड़ नाटक के संवाद लम्बे और बोझिल न होकर चुस्त तथा संक्षिप्त होते हैं।

नुक्कड़ नाटक में संवाद का प्रयोग 'कोरस' के रूप में किया जाता है।

नुक्कड़ नाटक में कथागति-प्रेरक, स्वगत तथा सूचक-तीनों प्रकार के संवादों का प्रयोग किया जाता है। संवादों के द्वारा ही कथा विकास करती है तथा संवादों के द्वारा ही वातावरण बनाया

जाता है। इसके संवादों के प्रवाह में प्रखर तेजी होती है। संवाद धारदार होते हैं। संवादों की सम्प्रेषणीयता सरल और बोधगम्य होती है।

4. **भाषा-शैली** - भाषा भावाभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है। संवादों का माध्यम भाषा है। नाटक की भाषा दर्शकों के स्तर, लेखक के दृष्टिकोण तथा नाटक के कथ्य पर निर्भर करती है। नुक्कड़ नाटक की भाषा आम बोलचाल की भाषा है। पात्रों के व्यक्तित्व के अनुसार भाषा का प्रयोग किया जाता है। जैसे गाँव के किसान से ग्रामीण भाषा, शिक्षक से संस्कृतगर्भित हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि का प्रयोग किया जाता है। सिपाही के मुँह से गाली के रूप में वर्जित शब्दों का भी प्रयोग होता है परन्तु वर्जित शब्दों का प्रयोग कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह विनोद के लिए नहीं बल्कि सटीक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग किए जाते हैं। नुक्कड़ नाटक में आम बोलचाल की भाषा पात्रों की स्थिति के अनुसार की गई है।

शैली - नाटक के प्रस्तुत करने के ढंग की शैली कहते हैं। नाटककार अपने कथ्य को सम्प्रेषित करने के लिए शैली की खोज करता है। कथ्य के अनुरूप ही शैली का निर्माण होता है। नुक्कड़ नाटक उद्देश्य-प्रधान नाटक हैं। अपने कथ्य को दर्शकों तक सम्प्रेषित करने के लिए कई प्रकार की शैली अपनाते हैं।

नुक्कड़कर्मी अपने कथ्य को बोधगम्य बनाने के लिए लोक-शैलियों, जैसे-स्वांग, नौटंकी, जात्रा आदि का प्रयोग करते हैं। क्षेत्र के अनुसार नाटक की शैली में परिवर्तन किया जा सकता है। शैली का लचीलापन नुक्कड़ नाटक की प्रमुख विशेषता है। नुक्कड़ कर्मियों ने कई शैलियों को अपनाया है। प्रेमचन्द की कहानी 'हिंसा परमो धर्मः' के नाट्य रूपान्तर नट-नटी शैली, रमेश बक्षी कृत 'रामबाण' मजमा शैली, 'जननाट्य मंच' का "समरथ को नहीं दोष गुसांई" तथा सफदर कृत 'अपहरण भाईचारे का' मदारी तथा जमूरा शैली, गुरुशरण सिंह कृत 'जंगीराम की हवेली' तथा 'इंकलाब-जिंदाबाद' प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत हैं।

5. **देश-काल और वातावरण** - नाटक का सम्बन्ध किसी न किसी देश-काल और वातावरण से अवश्य होता है। देश का अभिप्राय है - वह स्थान जहाँ कथावस्तु की घटना घटित होती है, काल का अर्थ समय से है तथा वातावरण का अर्थ है - स्थान एवं समय के अनुसार परिस्थितियों का निर्माण। इसी सन्दर्भ में पश्चिम में संकलन-त्रय की स्थापना की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार नाटक में सम्पूर्ण अभिनय किसी एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान पर घटित होना चाहिए तथा एक ही दिना में सम्पन्न होना चाहिए।

नुक्कड़ नाटक के कथानक में किसी समस्या के मूलभूत कारणों पर प्रकाश डालने के लिए घटनाओं को संयोजित किया जाता है जिसमें काल, स्थान एवं कार्य-व्यापार की एकता विद्यमान नहीं रहती। इसमें यदि एकता रहती है तो विचारों की, दृष्टिकोण की। जन नाट्यमंच कृत 'औरत' नाटक नारी शोषण के विभिन्न पहलुओं को दर्शाता है। औरत के शोषण को विभिन्न क्षेत्रों में दर्शाने के लिए घर की घटना, कॉलेज की घटना, ऑफिस की घटना संयोजित है, जिसमें काल, स्थान तथा कार्य की एकता नहीं रहती।

6. **उद्देश्य** - प्रत्येक सजनात्मक साहित्य-कृति के मूल में कोई न कोई उद्देश्य निहित रहता है। रचनाकार अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका निर्माण करता है। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ नाटक एवं रंगमंच के सरोकार भी बदलते रहे हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-चिन्तकों ने साहित्य के साथ नाटक के उद्देश्य को भी रेखांकित किया है। भारतीय मान्यता के अनुसार नाटक का चरम लक्ष्य है-रस-सिद्धि। हिन्दी नाटकों का उद्देश्य कभी राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करना रहा है तो कभी भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के गौरवमय पक्षों को

दर्शाना। पारसी नाटक मण्डलियों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन करना रहा। स्वतन्त्रता के बाद नाटकों में जहाँ जन-सामान्य की समस्याओं का चित्रण हुआ है वहाँ व्यवस्था की भ्रष्ट-मूल्यहीन राजनीति आदि पर व्यंग्य करना भी रहा है।

नुक्कड़ नाटक उद्देश्य प्रधान नाटक हैं। अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए ही रंगकर्मियों ने रंगमंच को नुक्कड़ तक पहुंचाया है। नुक्कड़ नाटकों का उद्देश्य जन-सामान्य की समस्याओं का एक दृष्टि से विश्लेषण करना है। डॉ० ब्रजराज किशोर के अनुसार, “फुर्सत के क्षणों में जनता तक पहुँचकर उन्हीं की भाषा में स्वस्थ मनोरंजन के माध्यम से अन्याय, उत्पीड़न, जुल्म, शोषण और अत्याचार के प्रति उनकी सुषुप्त चेतना को जगाना इन नाटकों का प्रमुख ध्येय कहा जा सकता है।” शोषण, अन्याय, अत्याचार के कारणों पर प्रकाश डालकर इनके विरुद्ध संघर्ष के लिए आम जनता को संगठित करना इनका उद्देश्य है। शोषण-आधारित पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को उजागर करके इस व्यवस्था के पोषक पूँजीपति, जमींदार तथा राजनेता के गठबन्धन का पर्दाफाश करके इनके चेहरों पर लगे नकाब उतारकर इनका असली रूप दिखाना सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक समस्याओं की जटिलता का विश्लेषण करके आम जनता को उससे परिचित कराना तथा इन समस्याओं के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने का संदेश देना इनका उद्देश्य है।

7. **रंगमंच** - रंगमंच नाटक के सम्प्रेषण का माध्यम है। रंगमंच ही नाटक को अन्य विधाओं से पृथक् कर दृश्य-विधा में स्थान दिलाता है। नाटक की सफलता उसकी रंग-प्रस्तुति पर निर्भर करती है। रंगमंच नाटक का अनिवार्य तथा प्रमुख तत्त्व है।

रंगमंच अंग्रेजी के ‘थियेटर’ शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। रंगमंच को सीमित अर्थ में केवल ‘मंच’ लिया जाता है तथा विस्तृत अर्थ में इसको नाटक, रंगभूमि, अभिनय, रंग-शिल्प, अंग-रचना, रूप-सज्जा, गीत-संगीत, प्रेक्षक वर्ग आदि से लिया जाता है। रंगमंच को विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

नुक्कड़ नाटक का मंचीय नाटकों में मूलभूत अन्तर रंगमंच के कारण है। नुक्कड़ नाटक की प्रस्तुति बिना किसी ताम-झाम के खुले स्थान पर होती है।

नुक्कड़कर्मियों ने अपने रंगमंच को समृद्ध करने के लिए देश तथा विदेश से, अपनी परम्परा तथा वर्तमान परिवेश से बहुत कुछ ग्रहण किया। जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककार तथा रंगकर्मी ब्रेख्त (Street Corner Theatre) से इन्होंने प्रेरणा ग्रहण की तथा अपने रंगमंच का स्वरूप निर्धारित किया। विदेशी स्रोतों की अपेक्षा हिन्दी की यथार्थवादी नाटक परम्परा से तथा लोक रंगमंच नौटंकी, तमाशा, भंवई, जात्रा, स्वाँग आदि से तत्त्व ग्रहण करके अपने प्रस्तुतीकरण पक्ष को प्रभावशाली बनाया।

इसके अलावा राजनीतिक पैंफलेट राजनीतिक भाषणबाजी, चुनाव प्रचार के दौरान किए जा रहे साधनों से इन्होंने प्रेरणा ग्रहण की। नुक्कड़कर्मियों की प्रेरणा का स्रोत सड़क पर मजमा लगाकर मनोरंजन करने वाले तमाशाबीन तथा मदारी, बसों में चूर्ण बेचने वालों से भी बहुत कुछ ग्रहण किया। नुक्कड़ नाटक नाटकीय तत्त्व इस तरह ग्रहण करता है कि नुक्कड़ नाटक अन्य नाट्य-विधाओं-प्रहसन, एकांकी आदि से अलग विधा का रूप ग्रहण करता है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ - नुक्कड़ नाटकों के अध्ययन के उपरान्त कुछ सामान्य विशेषताएँ निकल कर आती हैं जो लगभग प्रत्येक नुक्कड़ नाटक में मिलती हैं। ये सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **व्यवस्था-विरोध** - नुक्कड़ नाटक मूलतः व्यवस्था-विरोध का नाटक है। पूँजीवादी व्यवस्था बुराईयों, शोषण तथा अमानवीय कृत्यों को लोगों के सामने प्रस्तुत करके इस शोषण पर आधारित व्यवस्था का विरोध करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध के लिए समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा नैतिक समस्याओं का एक विशेष दृष्टि से विश्लेषण करके लोगों के सामने रखते हैं। पूँजीवादी समाज की कुरीतियों को प्रस्तुत करते नुक्कड़ नाटक प्रत्येक समस्या का समाधान व्यवस्था-परिवर्तन में ही खोजते हैं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्विरोध इतने बढ़ गये हैं कि आमूलचूल परिवर्तन करके ही उनको दूर किया जा सकता है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध इस नाट्य-विधा का प्रमुख स्वर है। इसी उद्देश्य से परिचालित होने के कारण नुक्कड़ नाटकों में समस्या अलग-अलग होते हुए भी उनका समाधान एक ही दिखाई देता है - व्यवस्था परिवर्तन। उद्देश्य की समानता के कारण एक ही नाटक में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके देश के विभिन्न क्षेत्रों में उसके प्रदर्शन किये जा सकते हैं।

2. **प्रतिबद्धता** - नुक्कड़ नाटक प्रतिबद्ध लेखन का परिणाम है। वर्ग-विभक्त समाज में नुक्कड़कर्मी (लेखक, अभिनेता, निर्देशक) तटस्थता का ढोंग न करके शोषित वर्ग से प्रतिबद्धता स्वीकार करते हैं। शोषित वर्ग को रोजमर्रा की समस्याओं का विश्लेषण करके इन समस्याओं के जिम्मेवार शोषक वर्ग का विरोध करता है। नुक्कड़कर्मी शोषक वर्ग की विचारधारा का विरोध करते हुए, शोषितवर्ग को विचारधारा में उनकी समस्याओं का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करते हैं। इस तरह नुक्कड़कर्मी अपनी प्रतिबद्धता शोषित वर्ग की विचारधारा एवं मूल्यांकन करते हैं। शोषित वर्ग की विचारधारागत प्रतिबद्धता के अतिरिक्त नुक्कड़कर्मीयों की प्रतिबद्धता राजनीतिक दलों से भी है। विभिन्न राजनीतिक दलों की विचारधारा के अनुसार समस्या का विश्लेषण करते हैं तथा अपने दल का प्रचार भी करते हैं।

3. **व्यंग्य** - व्यंग्य इस विधा का प्रमुख अस्त्र कहा जा सकता है। इन नाटकों में समाज में व्याप्त विकृतियों, विदूषों, विसंगतियों, विडम्बनाओं आदि पर तीखे व्यंग्य मिलते हैं। व्यवस्था-विरोध के लिए नुक्कड़कर्मी वर्तमान व्यवस्था की कुरीतियों पर करारा व्यंग्य करते हैं। नुक्कड़ नाटक राजनीतिक व्यंग्य का नाटक है। जन-सेवक होने का दम्भ भरने वाले पाखण्डी तथा ढोंगी नेताओं के नकाब उतारता हुआ नाटक उन पर व्यंग्य करता है। समाज की समस्याओं पर व्यंग्यात्मक प्रहार नुक्कड़ की विशेषता है।

4. **विचारधारा** - नुक्कड़ नाटकों में समस्याओं का विश्लेषण एवं मूल्यांकन मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार वर्ग-संघर्ष से ही समाज के अन्तर्विरोधों को समाप्त किया जा सकता है। नुक्कड़ नाटककार वर्ग-संघर्ष को तीव्र करके पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को समाप्त करके उसके स्थान पर एक नई व्यवस्था की स्थापना का आह्वान करते हैं।

5. **लोक-तत्त्वों का प्रयोग** - नुक्कड़ का रंग-शिल्प लोक नाटकों के निकट है। नुक्कड़ नाटककारों ने नुक्कड़ नाट्य-विधा को समृद्ध करने के लिए लोक नाटकों के तत्त्वों को अपने अन्दर समाहित किया। लोक-प्रचलित गीतों का प्रयोग नुक्कड़ नाटकों में भारी संख्या में होता है। लोक वाद्य-यन्त्रों - जैसे ढोलक, डफली, खड़ताल आदि का प्रयोग, लोक-प्रचलित धुनों का इस्तेमाल भरपूर मात्रा में किया जाता है। अपने नाटकों के कथ्य को बोधगम्य बनाने तथा उसमें जीवंतता लाने के लिए लोक-शैली का प्रयोग किया गया है।

6. **लचीला एवं कम खर्चीला** - नुक्कड़ नाटक का शिल्प पक्ष लचीला है। समय तथा स्थान के अनुसार इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। क्षेत्र की भिन्नता के कारण शैली तथा भाषा का परिवर्तन करके नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन किया जा सकता है। मंच की व्यवस्था के अनुसार

नाटक में परिवर्तन करके प्रस्तुत किया जा सकता है तथा सुविधा के अनुसार मंच-सज्जा की जा सकती है जिससे नुक्कड़ नाटक के मूल कथ्य पर कोई प्रभाव न पड़े। रंगमंच तो नुक्कड़ नाटक के कथ्य को सम्प्रेषित करने का साधन है, अतः रंगमंच में किसी भी तरह का परिवर्तन किया जा सकता है, बशर्ते नाटक का मूल कथ्य नष्ट न हो।

नुक्कड़ नाटक में अधिक सामान की आवश्यकता नहीं होती। इसमें उसी सामान का प्रयोग किया जाता है जो सस्ते दर पर आसानी से उपलब्ध हो तथा जिसके स्थानान्तरण में आसानी हो। अतः नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन कम खर्चीला होता है। बिना किसी पूर्व-सूचना के नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन होता है। इसमें किसी प्रकार की टिकट आदि की व्यवस्था नहीं होती।

8. **शीर्षक** - नुक्कड़ नाटकों के 'शीर्षक' चौंकाने वाले होते हैं। आम आदमी को संदेश देने के लिये शीर्षकों का प्रयोग किया जाता है। शीर्षक उस कथ्य का सार होता है। शीर्षक पूरे नाटक के सन्देश पर आधारित होते हैं। नाटक के शीर्षक उत्तेजक तथा सनसनी पैदा करने वाले होते हैं। शीर्षक दर्शकों के लिए, आम जनता के लिए एक सवाल होते हैं, या उस सारी समस्या का, जो नाटक में प्रदर्शित हैं, उसका जवाब होते हैं। शीर्षक दर्शकों को आकर्षित करने वाले होते हैं। नुक्कड़ नाटकों में भरपूर मात्रा में मनोरंजन का पुट रहता है। भोंडा मनोरंजन का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि दर्शकों की रुचि के अनुसार स्वस्थ मनोरंजन करता है।

9. **दर्शक पक्ष** - नाटक के चार प्रमुख घटकों-लेखक, निर्देशक, अभिनेता तथा दर्शक में से चौथे घटक की भूमिका सर्वोपरि है। पहले तीनों परीक्षार्थी हैं तो दर्शक परीक्षक हैं। दर्शक के लिए ही नाटक की रचना की जाती है। दर्शक के बिना नाटक का कोई अर्थ नहीं है। यद्यपि दर्शक नाट्यकला में रचना का अनिवार्य तत्व नहीं है, परन्तु दर्शक के बिना कोई रंग-प्रस्तुति सम्भव नहीं है। नाटक का पहला और अन्तिम उत्तरदायित्व दर्शक के प्रति है। अतः नाटक को दर्शक से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। नाटक तथा दर्शक का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। जहाँ नाटक का निर्माण करता है, वहाँ दर्शक भी रंगमंच का संस्कार करता है।

मंचीय नाटक तथा नुक्कड़ नाटक की दर्शक के प्रति अवधारणा से पर्याप्त भिन्नता है। मंचीय नाटक के पास दर्शक स्वयं जाता है तथा नुक्कड़ नाटक में रंगमंच ही दर्शक तक जाता है। नुक्कड़ नाटक ने दर्शक को सम्मान दिया है। नुक्कड़ नाटक में दर्शक की सक्रिय भूमिका है। अभिनेता तथा दर्शक की दूरी बहुत कम है। दर्शकों से ही अभिनेता डटकर रंगभूमि तक जाते हैं तथा अपनी भूमिका अदा करके दर्शकों में ही आ बैठते हैं। इस तरह दर्शक तथा अभिनेता की दूरी बहुत कम रह जाती है। नुक्कड़ नाटक में दर्शक उपभोक्ता ही नहीं सहभोक्ता भी है। यह तत्त्वतः एक धार्मिक अनुष्ठान की तरह है जिसमें पंडित, दुल्हा-दुल्हन या कुछ और लोग अपनी थोड़ी-बहुत विशिष्ट वेशभूषा या सामयिक स्थिति के कारण कुछ अलग दिखने के बावजूद सब शामिल ही होते हैं। ठीक उसी तरह यह भी एक सामूहिक क्रिया-कलाप है, एक सांझी यात्रा है जिसमें कर्ता और द्रष्टा को अलग-अलग मगर निश्चित और सक्रिय भूमिका है। इस तरह नुक्कड़ नाटक में दर्शकों के बीच रंगमंच को ले जाकर दर्शकों तथा नाटक के बीच गहराती खाई को पाटने का प्रयास किया है।

नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन चौराहों, गली-कूचों, फैक्ट्री गेट, आहातों, बाजारों, पार्क, स्कूल-कॉलेजों के मैदान, गाँव की चौपाल आदि में बिना किसी मेक-अप के ताम-झाम के, सैट और प्रकाश के बेहद सरल और साधारण वेशभूषा में अपने आंगिक तथा वाचिक अभिनय द्वारा प्रस्तुत करते हैं। डफली, खड़ताल, ढोलक आदि दूर तक आवाज पहुँचाने वाले वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि तथा संगीत के साथ राह-चलते लोगों का ध्यान आकृष्ट करके दर्शकों को एकत्रित किया जाता

है। अतः नुक्कड़ नाटक का रंग-शिल्प मंचीय नाटकों की अपेक्षा लोक नाटकों के अधिक निकट पड़ता है। नुक्कड़ नाटकों में अभिनेता तथा दर्शकों की दूरी बहुत कम होती है। अभिनेता दर्शकों के बीच से उठकर रंगभूमि पर अभिनय करने आते हैं तथा उन्हीं के बीच आ बैठते हैं। दर्शकों की सक्रिय हिस्सेदारी नुक्कड़ नाटक की खास विशेषता है।

नुक्कड़ नाटक का विकास - साहित्य मानव-समाज के भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति प्रदान करता है। समाज स्वयं परिवर्तनशील है। सामाजिक परिवर्तन के साथ मानव के भावों तथा विचारों में परिवर्तन आता है। इस परिवर्तित समाज के भावों तथा विचारों को साहित्य के परम्परागत रूप जब अभिव्यक्ति देने में असमर्थता महसूस करते हैं तो साहित्यकार इन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए साहित्य के नये रूपों की खोज करते हैं। साहित्य के इतिहास में अनेक साहित्य रूपों की खोज इसी अभिव्यक्ति प्रदान करने की इच्छा का परिणाम है। विशेष परिस्थिति में किसी साहित्यिक विधा का जन्म होता है तथा अनुकूल परिवेश पाकर इसका विकास होता है।

नुक्कड़ नाटक-विधा का जन्म भी इसी का परिणाम है। जब परम्परागत नाट्य-रूप आभिजात्य वर्ग तक सीमित रह गए, सामान्य जनता से रंगमंच के द्वारा सम्पर्क स्थापित करने के लिए अनेक देशों में नुक्कड़ नाटक का जन्म हुआ तथा अनुकूल परिस्थितियां पाकर विकसित हुआ। विश्व के अनेक देशों में अपने-अपने देश की समस्याओं के अनुसार तथा अपनी परम्परा के अनुसार नुक्कड़ नाटक में पथक विधा का रूप धारण किया। अतः नुक्कड़ नाटक के विकास का विश्व के सन्दर्भ में तथा भारतीय सन्दर्भ में विभक्त करके अध्ययन किया जा सकता है।

1. विश्व सन्दर्भ,
2. भारतीय सन्दर्भ

1. **विश्व सन्दर्भ** - विश्व में नुक्कड़ नाटक का जन्म सबसे पहले रूप में हुआ। “अक्टूबर क्रांति की पहली जयन्ती पर ब्लोदोवोद मार्चेहोल्द ने टेंट शो के तत्वों और क्रान्तिकारी कविता को मिलाकर मायेकोव्स्की के ‘मिस्ट्री-वूर्फ’ को नाट्यरूप दिया और उसे कई हजार दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में ‘रंगमंच’ का प्रयोग किया। रंगमंच में नवीन प्रयोग करके रंगमंच दर्शकों से सीधा संवाद कर सके तथा समस्याओं को दर्शकों तक सम्प्रेषित कर सकें-इसी प्रयास में नुक्कड़ नाटक का जन्म हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध में नुक्कड़ नाटक का प्रयोग फासीवाद तथा नाजीवाद के विरुद्ध सेना को तैयार करने के लिए किया गया। सोवियत रंगमंच ने मोर्चे पर खाइयों में, लारियों पर, जंगलों में ध्वस्त इमारतों की बीच, युद्ध-पोतों पर, अस्तबलों में और ऐसी ही तमाम जगहों पर दिमाग को झकझोर देने वाली पाँच लाख प्रस्तुतियाँ कीं।

रूस में नुक्कड़ नाटक का उद्भव समाजवादी क्रांति के बाद हुआ। चीन में क्रान्ति के लिए किसानों को प्रेरित करने के लिए तीसरे दशक में किया गया। इस तरह विश्व के अनेक देशों में उनके इतिहास की नाजुक घड़ियों तमें नुक्कड़ नाटक का जन्म हुआ। स्पेन में ग-ह-युद्ध के दौरान, वियतनाम में जापानी, फ्रांसीसी और अमेरिकी हमलावरों के विरुद्ध 45 वर्षों के लम्बे युद्ध के दौरान, क्यूबा में क्रान्ति के तत्काल बाद और पूरे लेटिन अमेरिका अफ्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के दौरान अमेरिका में वह मैक्सिको, खेत मजदूरों और नीग्रे के बीच संघर्ष और संगठन के साधन के रूप में लोकप्रिय हुआ। नुक्कड़ नाटक का उद्भव विश्व के अनेक देशों में उनकी सामाजिक परिस्थितियों तथा समस्याओं के अनुसार हुआ है।

2. **भारतीय सन्दर्भ** - भारत में नुक्कड़ नाटक का आविर्भाव उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष में जनगण को खींच लाने के ‘इप्टा’ के अभियान के माध्यम के रूप में हुआ। आजादी के फौरन

बाद वह उन जनवादी शक्तियों के साथ जुड़ गया जो जनता के आर्थिक और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष जारी रख रही थी। अतः भारत में नुक्कड़ नाटक के विकास को दो भागों में अध्ययन किया जा सकता है :-

(i) स्वतन्त्रता-पूर्व, (ii) स्वतन्त्रोत्तर।

(i) **स्वतन्त्रता-पूर्व** - स्वतन्त्रता-पूर्व का हिन्दी रंगमंच भारतेन्दु परम्परा को त्यागकर मात्र मनोरंजन का साधन रह गया था। वह अभिजात वर्ग तक सीमित था। साहित्य की अन्य विधाओं - उपन्यास, कहानी आदि के क्षेत्र में जनता की सक्रिय सांझेदारी थी। नाटक के क्षेत्र में भी स्वतन्त्र-आन्दोलन में जनता की सक्रिय भागीदारी के लिए रंगकर्मियों ने रंगमंच में नवीन प्रयोग किए तथा रंगमंच को एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया जिसके माध्यम से जनता से सीधा संवाद स्थापित करके उसे संघर्ष के लिए प्रेरित किया जा सके। इस माध्यम की तलाश में नुक्कड़ नाटक विधा का जन्म हुआ। इप्टा (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन) के इस अभियान में नुक्कड़ नाटक का विकास हुआ। स्वतन्त्रता संग्राम के प्रमुख केन्द्र बम्बई तथा कलकत्ता जैसे नगरों में "इप्टा" की शाखाएं स्थापित हो गई हैं। बलराज साहनी, राजेन्द्र सिंह बेदी, ख्वाजा अहमद अब्बास, कैफी आजमी, बी०एम०शाह जैसे रंगकर्मियों ने इसके विकास में योगदान दिया, परन्तु नुक्कड़ नाटक का क्षेत्र सीमित ही रहा। नुक्कड़ नाटक का विस्तार केवल बड़े नगरों तक ही हो पाया। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में नुक्कड़ नाटक देश के छोटे-बड़े शहर तथा गाँव, चौक-चौक, पर गली-गली तक पहुँचा। नुक्कड़ का विकास स्वतंत्रता के बाद ही सम्भव हुआ।

(ii) **स्वातंत्र्योत्तर** - स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान जनता जिन मूल्यों तथा आदर्शों को लेकर संघर्ष में उतरी थी, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उन मूल्यों तथा आदर्शों का खात्मा हो गया। विकास का जो पूँजीवादी रास्ता अपनाया गया, उससे वर्ग-विषमता की खाई गहराती चली गई। बेरोजगारी, महंगाई, भ्रष्टाचार आदि समस्याओं में निरन्तर वृद्धि होगी रही। धर्म-निरपेक्षता की आड़ में साम्प्रदायिक संगठन पनपने लगे तथा राजनीतिक स्वार्थ के लिए नेताओं ने इनको बढ़ावा दिया। साम्राज्यवादी शक्तियों का शिकंजा भारत पर सकता ही चला गया। अलगाव, क्षेत्रवाद, जातिवाद आदि की समस्याएँ सर उठाने लगीं, जिससे मेहनतकश की एकता में दरार पड़ने लगी। परन्तु इन समस्याओं के विरुद्ध मजदूर, किसान, छात्र तथा कर्मचारियों के संघर्ष होने लगे। नुक्कड़ नाटक इन संघर्षों को तीव्र करने के लिए प्रयोग किया गया, परन्तु आठवें दशक में हालात विस्फोटक रूप धारण कर गये। इसी के विरोध में नुक्कड़ नाटक ने भी आन्दोलनात्मक रुख अपनाया। नुक्कड़ नाटक के आन्दोलन का संगठित रूप से तीव्र करने के लिए देश में सामूहिक रूप से तथा व्यक्तिगत स्तर पर प्रयास होने लगे। नुक्कड़ नाटक के विकास में सामूहिक तथा व्यक्तिगत स्तर पर योगदान दिया। अतः स्वतन्त्रता के बाद नुक्कड़ नाटक के विकास का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है :-

(क) सामूहिक रूप से, (ख) व्यक्तिगत रूप से

(क) **सामूहिक रूप से** - नुक्कड़ नाटक के विकास में देश के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत नाट्य-संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये संस्थाएँ अपने क्षेत्र की सामाजिक घटनाओं तथा समस्याओं पर नाट्यालेख लिखकर प्रदर्शन करती हैं। देश के छोटे-बड़े शहरों तथा कस्बों में अनेक नाट्य-संस्थाएँ नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत करती हैं। इन नाट्य-संस्थाओं द्वारा सामूहिक रूप में नाटक का लेखन तथा मंचन किया जाता है। प्रमुख नाट्य संस्थाएँ इस प्रकार हैं :-

1. **जन नाट्य मंच, दिल्ली** :- "जन नाट्य मंच" दिल्ली का नुक्कड़ नाटक के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान है। लेखन तथा प्रदर्शन दोनों क्षेत्रों में सामूहिक रूप से मंच ने नुक्कड़ नाटक

को सम दृष्ट किया है। “जन नाट्य मंच” की छोटे-छोटे शहरों में अनेक शाखाएँ हैं। “जन नाट्य मंच” सामूहिक रूप से जनता की समस्याओं, पीड़ाओं और संघर्षों पर आधारित नाटक सामूहिक रूप से लिखती एवं प्रदर्शन करती है।

जन नाट्य मंच के कलाकार न केवल अपने समाज में फैली बुराइयों को हू-ब-हू प्रस्तुत करते हैं बल्कि उन पर अपना मत भी प्रकट करते हैं। वास्तव में यह मत ही “जन नाट्य मंच” के नाटकों का कथ्य है, यही उसकी विषय-वस्तु का सन्देश है।

जन नाट्य मंच के नाटकों में शोषण के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने का आह्वान किया गया है। जब नाट्य मंच की यह समझ है कि-“समाज का कोई भी शोषित तबका केवल अपनी समस्याओं को लेकर अलग-अलग संघर्ष कर सफल नहीं हो सता। जनता के सभी शोषित तबकों को एक साथ मिलकर संगठित होकर, बढ़ते हुए जुल्मों-सितम का मुकाबला करना होगा। गरीब औरतों, मर्दों, किसानों, छात्रों, कर्मचारियों को भाईचारे की भावना के साथ मिलकर लड़ना होगा। जनवाद और प्रजातन्त्र की जड़ें मजबूत करनी होंगी। अतः जन नाट्य मंच जनता को संगठित करने के लिए लेखन तथा प्रदर्शन करता है।

जन नाट्य मंच के प्रमुख नाटक “औरत”, “समर्थ को नहीं दोष गुसाई”, “मिल के चलो”, “आया चुनाव”, “जब चोर बने कोतवाल”, “पुलिस चरित्रम”, “हत्यारे” आदि हैं। ये नाटक तथा अन्य नाटक “चौक चौक या गली गली में” नामक पुस्तक दो भागों में संकलित है।

2. दिशा : जन सांस्कृतिक मंच - “दिशा” : जन सांस्कृतिक मंच” का नुक्कड़ नाटक में योगदान सराहनीय है। इसने बिहार के क्षेत्र में नुक्कड़ नाटक के लिए जमीन तैयार की है। व्यक्तिगत स्तर पर कलाकारों द्वारा लेखन करके तथा अन्य नाट्य-संस्थाओं द्वारा लिखित नाटकों का प्रदर्शन करके नुक्कड़ नाटक के विकास में योगदान दिया है। सांस्कृतिक-साहित्यिक हलचलों को लेकर “दिशा : जन सांस्कृतिक मंच” नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में कार्यरत हैं। ये नाटक के चयन में पूरी सतर्कता बरतते हैं कि नाटक आम लोगों की रुचि का हो और उसमें उनके जीवन की समस्याओं को समाधान का संकेत देते हुए प्रस्तुत किया जाए।

इस मंच ने अपने नाटकों के माध्यम से इस तथ्य की स्थापना की है कि नुक्कड़ नाटक के द्वारा लोगों का राजनीतिक प्रशिक्षण करके उन्हें जागरुक बनाया जा सकता है तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार किया जा सकता है।

“दिशा : जन सांस्कृतिक मंच” ने प्रेमचन्द की कहानियों के नाट्य-रूपान्तरों को अधिक मात्रा में प्रस्तुत किया है, जैसे “सवा सेर गेहूँ”, ‘कफन’ आदि। अन्य नाटक “जनता पागल हो गई है”, “गिरगिट”, “हम एक हैं” आदि नाटकों के सैंकड़ों प्रदर्शन किये हैं। नुक्कड़ नाटक को संगठित आन्दोलन का रूप देने में “दिशा : जन सांस्कृतिक मंच” की प्रमुख भूमिका है।

3. निशान्त नाट्य मंच - निशान्त नाट्य मंच के नाटक “अब न सहेंगे जोर किसी का” नामक पुस्तक में संकलित हैं। निशान्त नाट्य मंच के नाटक व्यवस्था-विरोध के नाटक हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रों में निशान्त नाट्य मंच के कलाकारों ने घूम-घूम कर नाट्य-प्रदर्शन किए हैं। इनके नाटकों को देश की अन्य छोटी-छोटी नाट्य-संस्थाएँ भी प्रदर्शित करती हैं। नुक्कड़ नाटक के लेखन तथा टेक्नीक दोनों क्षेत्रों में इस मंच का कार्य अविस्मरणीय है।

इन नाट्य-संस्थाओं के अलावा देश के छोटे-बड़े शहरों तथा कस्बों में अनेक नाट्य संस्थाएँ नुक्कड़ नाटक के विकास में योगदान दे रही हैं। चण्डीगढ़ में ‘जनवादी रंगमंच’ बीकानेर में ‘रंग-भारती’, आगरा में ‘रंगकर्मी’, रायपुर में ‘हस्ताक्षर’, ‘अवंतिका’, ‘रचना’, सिलसिला’, जबलपुर

में 'विवेचना' पटना में 'जन नाट्य संघ', 'अनागत', 'सर्जना', 'जनवादी कला एवं विचार मंच' तथा 'कला संगम', रांची में 'रंगमंच' आदि व अन्य छोटे-बड़े शहरों में अनेक नाट्य संस्थाएँ नुक्कड़ नाटक के विकास में योगदान दे रही हैं। इन नाट्य-संस्थाओं के प्रयास से ही नुक्कड़ नाटक आज चौक-चौक पर गली-गली में पहुँच रहा है।

(ख) व्यक्तिगत स्तर पर - नुक्कड़ नाटक के विकास में सामूहिक रूप से प्रयासरत संस्थाओं के अलावा कलाकारों ने व्यक्तिगत रूप से भी इसके विकास में योगदान दिया है।

1. **सफदर हाशमी** - सफदर हाशमी नुक्कड़ नाटक को समर्पित कलाकार थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा शहादत ने नुक्कड़ नाटक को शिखर पर पहुँचा दिया। लेखक, निर्देशक तथा अभिनेत्री तीनों स्तरों पर कार्य करके, कथ्य तथा टैक्नीक की दृष्टि से नुक्कड़ नाटक को समृद्ध किया।

सफदर हाशमी "जन नाट्य मंच" के कलाकार थे। जब नाट्य मंच के अनुसार-"समाज का कोई भी शोषित तबका केवल अपनी समस्याओं को लेकर अलग-अलग संघर्ष कर सफल नहीं हो सकता। जनता के सभी शोषित तबकों को एक साथ मिलकर, संगठित होकर बढ़ते हुए जुल्मों-सितम का मुकाबला करना होगा।" हाशमी ने इसी को अपने नाटकों का कथ्य बनाया है। मजदूरों को उनकी कम मजदूरी का अहसास करवाते हुए एक झण्डे तले आकर संघर्ष करने का आह्वान 'हल्ला बोल' में तथा विभिन्न वर्गों - मजदूरों, किसानों, छात्रों, कर्मचारियों को एकजुट होकर शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान 'गाँव से शहर तम' नाटक में किया गया है।

सफदर के नुक्कड़ नाटक "राजा का बाजा", "मशीन", "हल्ला बोल", "अपहरण भाईचारे का" तथा "गाँव से शहर तक", "सफदर" नामक पुस्तक में संकलित हैं। इस प्रकार सफदर हाशमी का योगदान अविस्मरणीय है।

2. **गुरुशरण सिंह** - गुरुशरण सिंह नुक्कड़ नाटक को समर्पित मूलतः पंजाबी के कलाकार हैं। सफदर हाशमी की तरह इन्होंने भी लेखक, निर्देशक तथा अभिनेता के रूप में नुक्कड़ नाटक को समृद्ध किया। गुरुशरण सिंह नाटक प्रतीकात्मक शैली में लिखे नाटक पूँजीवादी समाज व्यवस्था की बुराइयों को दर्शाते हुए इस व्यवस्था का विरोध करते हैं। इनके नाटकों में सभी समस्याओं का समाधान व्यवस्था-परिवर्तन में निहित है। इनके प्रमुख नाटकों में 'जंगीराम की हवेली', 'इंकलाब जिन्दाबाद', 'तमाशा', 'कपर्तू', 'एक मोर्चा' तथा 'हर एक को जीने का हक चाहिए' आदि हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रों में इनके नाटकों का प्रदर्शन हो चुका है।

3. **राजेश कुमार** - राजेश कुमार ने "दिशा : जन सांस्कृतिक मंच" भागलपुर के अन्तर्गत लेखक, निर्देश तथा अभिनेता के रूप में कार्य करके नुक्कड़ नाटक को समृद्ध किया है। गुरुशरण की तरह इनके नाटक भी व्यवस्था का विरोध के नाटक हैं। राजनीतिक नेताओं पर व्यंग्य करते इनके नाटक जनतन्त्र की पोल खोलते हैं। इनके प्रमुख नाटकों में "जनतंत्र के मुर्गे", 'क्रेन', 'रोशनी', 'सुजता मायने पैसा' तथा 'हमें बोलने दो' आदि हैं।

4. **असगर वजाहत** - अजगर वजाहत ने कथा साहित्य के अलावा नुक्कड़ नाटक लिखे हैं। साम्प्रदायिक सद्भाव इनके नाटकों का सन्देश है। साम्प्रदायिकता ने मानव-मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। साम्प्रदायिक वैमनस्य को समाप्त करके मेहनतकश को एक रहने का सन्देश इनके नाटकों के विषय हैं। इनके नाटकों 'सबसे सस्ता गौरव', 'हम से मतलब', 'वह जुलूस कब आयेगा' आदि हैं। कथ्य के स्तर पर नुक्कड़ को समृद्ध किया है।

5. **शिवराम** - नुक्कड़ नाटक के लेखक के रूप में शिवराम का नाम उल्लेखनीय है। शिवराम के नाटकों का प्रदर्शन देश के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न नाट्य-संस्थाओं ने किया। इनके प्रमुख नाटकों में 'जनता पागल हो गई है', 'विकल्प', 'आन्दोलन', 'आगे बढ़ो', 'कुक्कड़ कूँ' तथा 'रजिस्टर्ड मजमेबाज' क्रमशः आपातकालीन तानाशाही और बीस सूत्री कार्यक्रम के खोखलेपन को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। नुक्कड़ नाटक लेखन में शिवराम ने विविध आयामों को स्थान दिया है।

6. **रमेश उपाध्याय** - रमेश उपाध्याय ने मूल रूप से 'हरिजन-दहन' जैसा नाटक लिखकर लेखक के रूप में प्रसिद्धि पाई तथा अंटोन चेखव की 'गिरगिट' कहानी का हिन्दी नाट्य रूपान्तर करके नुक्कड़ को समृद्ध किया है।

इनके अलावा अनेक छोटे-बड़े लेखकों ने नुक्कड़ नाटक पर लेखनी चलाकर विधा को समृद्ध किया है। रमेश बक्षी ने 'रामबाण', हरीश भवानी ने 'रोटी नाम सत है', सतीश दूबे ने 'जागो, जागो, जागो', स्वयं प्रकाश ने 'नयी बिरादरी' तथा 'सबका दुश्मन' आदि आलेख लिखकर नुक्कड़ नाटक को समृद्ध किया है।

इस तरह रंगकर्मियों के सामूहिक तथा व्यक्तिगत स्तर पर किए गए प्रयासों से नुक्कड़ नाटक ने अपनी विकास यात्रा तय की है। नुक्कड़ नाटक अभी विकासमान विधा है।

(घ) इण्डियन पीपुल्स थियेटर (इप्टा)

पारसी थियेटर की मृत्यु के बाद सन् 1942 में बम्बई में 'इप्टा' का जन्म हुआ। मनोरंजन भट्टाचार्य इसके प्रथम प्रधान थे। सहयोगियों में शंभु मित्र, विष्णु डे, जार्ज विश्वास और विनायकदास प्रमुख थे। इसके संस्थापक श्री पी०सी० जोशी कम्युनिस्ट पार्टी में थे जिसके कारण लोग इसे कम्युनिष्ट संस्था मानते थे। किन्तु प्रसिद्ध अभिनेता निर्देशक 'बहुरूपी' (कलकत्ता) के फाउंडर मेम्बर अमर गांगुली का कथन इसके विपरीत है। उनका कहना है कि-"इप्टा, कम्युनिष्ट संस्था नहीं थी। यह एक संयोग मात्र ही था कि पी०सी० जोशी कम्युनिष्ट पार्टी में थे और संगीत, नृत्य एवं नाटक में उनकी रुचि थी।" यह संस्था इतिहास की मांग थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में भारतीय सिपाहियों को यह आभास होने लगा था कि वह अपने लिए नहीं लड़ रहे हैं। यह लड़ाई उसकी अपनी नहीं है। बंगाल का भयंकर अकाल, जिसे अंग्रेज अगर चाहते तो टाल सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अभिनेता, चित्रकार, कवि और अध्यापक सभी यह चाहते थे कि जन-जन को बता पायें कि यह अकाल प्रकृति का प्रकोप नहीं - मानव षड्यन्त्र है। और यह भी कह सकें कि फिरंगी के लिए लड़ाई लड़ने पर युद्ध में करने से क्या लाभ।

आजादी से पहले और बाद - हिन्दू मुसलमानों के आपसी दंगों ने परिस्थितियों को खतरनाक बना दिया था। अमीर-गरीब की समस्याएं, नारी शोषण और अनेक दूसरी तरह की समस्याओं के समाधान के लिए 'इप्टा' ने रास्ता सुझाने का काम किया था।

देश विभाजन के समय जब खून-खराबा हो रहा था, पीपुल्स थियेटर के कलाकारों ने गलियों में आकर नाटक खेले। हिन्दू-मुसलमानों में छुरे चल रहे थे लेकिन ये कलाकार शान्ति और एकता के नाटक पेश कर रहे थे और साम्प्रदायिक घणा के विरुद्ध कला के माध्यम से लड़ रहे थे। थियेटर के माध्यम से ये कलाकार लोगों को जगाने और समझाने का काम कर रहे थे। सफल नाट्य प्रस्तुतियों द्वारा जन-जन की सोच में परिवर्तन लाने का प्रयास कर रहे थे। 'इप्टा' ने अपने रंगमंच पर सम्पूर्ण कला परिवेश के साथ तथ्य प्रस्तुत किये थे।

इस संस्था ने फूहड़ नाटक प्रस्तुत किये अपितु रंगशैलियों के नवीन प्रयोग द्वारा सही व सच्चे कथानक की अभिव्यक्ति दी थी। इस संबंध में कहानी लेखक भीष्म साहनी का कथन है-"यह

संस्था जिन्दगी की समस्याओं से नजदीक से जुड़ने की कोशिश था।" अर्थात् लोक कलाओं के साथ-साथ एक इलाके से दूसरे इलाके का परिचय इसकी विशेषता थीं

कुछ ऐसे नवयुवक इससे जुड़े थे जिन्हें देश में होते हुए विदेशी राज के अत्याचारों ने उद्विग्न कर दिया था। महाकाल की भूख ने जिन्हें झिंझोड़ दिया था। उनमें उत्साह था और वे कुछ करना चाहते थे। उन्होंने मंच की प्रचलित रीतियों को तोड़कर अपना ही एक स्वाभाविक और सरल नाट्य-रूप ढूँढ लिया था।

'इप्टा' रंगकर्मियों ने लोकनाट्यों के रूप को भी पुनर्जीवित किया और उनमें नये विषय अवतरित किये। इन्होंने दर्शक और रंगमंच को विभाजित करने वाली रेखा को मिटाने के लिए तथा दर्शकों को प्रयोग में हिस्सेदार बनाने के उद्देश्य से लोगों ने अनुकरण किया था। लोक नाट्यों की काल बाह्य परम्पराओं में समकालीन नाटक को बंद दरवाजे से चौराहे पर ला खड़ा किया था।

मूवमेंट बन गई थी यह संस्था, जो गाँव-गाँव जाकर नाटक करते, मजदूरों में कार्यक्रम दिखाते जैसे जन मानस का अंग बन गये हों। ऐस प्रभाव पड़ा कि देश भर में इसकी शाखाएँ खुलने लगी और जाने-माने कलाकार के रंगकर्मी जुड़ने लगे।

प्रसिद्ध रंगकर्मी हबीब तरवीर नटरंग से एक भेंटवार्ता में कहते हैं- 'और बाद का जमाना 'इप्टा' का ही जमाना था, बल्कि यूँ कहिए कि 'इप्टा' के ऊपर उसके तपन का जमाना था। इसी जमाने में गोर्की, चेखव, स्तानिस्लाबर्क बनाई शॉ और जंग के दिनों में युनिटी थियेटर का नाम सुना गया था। ओडेटस का 'वेरिंग फार ले फट्टी' इप्टा द्वारा मंचित हुआ। चीन के इंकलाब को सुनी और वहाँ के सियासी नाटकों का परिचय हासिल हुआ। 'इप्टा' के स्पिरिट ऑफ इंडिया' और 'अमर भारत' शान्तिवर्धन की सरपरस्ती में साम्य विजन भट्टाचार्य और ख्वाजा अहमद अब्बास की फिल्म 'धरती के लाल' में लोगों के दिलो-दिमाग को हिला देने वाला अभिनय देखा। तुलसी लहिड़ी के 'छेद त पति मित्र का शहर' में गाँव की लड़की का अभिनय और अहमदाबाद के नट शरतचन्द्र के उपन्यास पर आधारित 'विराज बहू' में लगभग इसी जमाने के कवि टैगोर के नाटक 'रक्तकरबी' में शुभ मित्र के अभिनय का भरपूर उरुज देखा।

'इप्टा' साम्यवादी दल की राजनीति से प्रेरित रंगमंच था। आम जनता के निकट होने और लोकरंग को उपस्थित कर सकने के कारण इसने हिन्दी की बहुत सेवा की। अपार दर्शकों के सम्मुख समाज को बदल डालने एवं शोषण के विरुद्ध एकजुट हो जाने की अपील की इस मंच ने सफलतापूर्वक सम्प्रेषित किया। इसका पहला प्रदर्शन बम्बई की मजदूर बस्ती के अंतस्तल पेरल के दामोदर-हाल में किए प्रदर्शन ने नगर में तूफान मचा दिया सरवालकर का 'दादा' और सरदार का 'यह किसका खून है' जनसाधारण के ये दो नाटक उस दौर के प्रकाश स्तम्भ थे। अपने उद्देश्य को सामने रखते हुए, नये रंगविधान के साथ जन चेतना जगाने का महत्वपूर्ण कार्य इस मंच ने शुरू किया था। कला सर्जन की तरफ इसके कलाकारों की दृष्टि तीव्रगति से आकृष्ट हुई थी। लोकमंच को अपनाने का तात्पर्य आखिरी आदमी तक अपनी बात पहुंचाना था।

अनेक वर्षों तक रंगकर्म के प्रति समर्पित रहने के बाद यह संस्था आपसी फूट के कारण बिखर गई। बलराज साहनी ने 'जुहू आर्ट थियेटर' की स्थापना की और शीला भाटिया ने 'दिल्ली आर्ट थियेटर' को जन्म दिया। कलकत्ता में 'बहुरंगी' की स्थापना हुई। सभी कलाकार 'इप्टा' से दूर होने लगे थे। इसका मूल कारण यह भी था कि यह मजदूरों और शोषितों की संस्था थी, और रेल हड़ताल में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा मजदूरों का साथ न दिये जाने के कारण दरार गहराने लगी थी।

प्रसिद्ध रंगकर्मी एम०एस० सैथ्यू का मानना है कि 'इप्टा' आज भी जीवित है और अच्छे नाटक प्रस्तुत कर रहा है। आजादी के बाद से अब तक उसने बहुत सारी सफल प्रस्तुतियाँ की हैं। आज भी बम्बई और अन्य शहरों में नाटक प्रस्तुत कर रहा है। आजादी के बाद 'इप्टा' के बिखरने की बात पर मिस्टर सैथ्यू कहते हैं, 'कुछ लोग 'इप्टा' से निकल गये थे तो दूसरों ने उसे संभाल लिया था। 'इप्टा' टूटा नहीं था, वह आज भी वैसा ही है।' एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने स्पष्ट किया- "इस समय बम्बई 'इप्टा' की सबसे ज्यादा गतिविधियाँ हैं। हम लोग वहाँ कम से कम सात-आठ नाटक हमेशा खेलते रहते हैं। सो एक सौ बीस तक शो सालाना होते हैं। 'बकरी', 'शतरंज के मोहरे', 'आखिरी शाम', 'गोदान', 'अपनत्व ऐसी', 'सफेद कुण्डली', 'मोटेराम का सत्याग्रह', सभी के सफल प्रदर्शन सौ से अधिक पहुँच गये हैं।" 'इप्टा' से जुड़े अंजन श्रीवास्तव भी एक भेंटवार्ता में यह कहते हैं कि 'जो सार्थकता रंगमंच को 'इप्टा' प्रदान कर रहा है वह किसी और जगह मुझे देखने को नहीं मिली है।" अतएव रंगकर्म के क्षेत्र में यह संस्था आज भी महत्वपूर्ण काम कर रही है जिसके पीछे इसके रंगकर्मियों एवं कलाकारों की भूमिका विशेष है।

(ड) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एन०एस०डी०)

विश्व को भारतीय रंगमंच की सही पहचान कराने के उद्देश्य को लेकर 'संगीत नाट्य अकादमी', 'सांग एण्ड ड्रामा डिवीजन' और 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना की गई।

'संगीत नाट्य अकादमी' सेमीनारों, उत्सवों एवं समारोहों आदि के आयोजन से न केवल प्रादेशिक रंगकारों को ही समीप लाती है अपितु दुनियाँ के अन्य विकसित रंगमंचों से सम्पर्क भी स्थापित करती है। राष्ट्रीय नाट्य महोत्सवों में रंगकर्मी एक दूसरे के निकट भी आते हैं और अपार प्रोत्साहन भी प्राप्त करते हैं। अकादमी द्वारा घोषित पुरस्कार योजनाओं से रंगकार्य में उत्साहजनक वृद्धि होती है।

'सांग एण्ड ड्रामा डिवीजन' एक सरकारी प्रचार संस्था है जिसकी अपनी वेतनभोगी टीम है। यह टीम गीत, संगीत और नाटकों के माध्यम से देश के कोने-कोने में जाती है और प्रचार करती है। साहित्यिक स्तर अधिक न होने पर भी प्रसार कार्य के कारण इसका महत्त्व है। सीमा पर स्थित सैनिकों के मनोरंजन का प्रश्न हो अथवा गाँव में जाकर परिवार नियोजन का महत्त्व समझाना हो या युद्ध के दिनों में उत्साह जागृत करना हो। यह संस्था बराबर सक्रिय रहती है।

वर्तमान रंग-सक्रियता का बहुत ज्यादा श्रेय 'एन०एस०डी०' को है, जिसकी स्थापना सन् 1959 को दिल्ली में हुई। आज देश भर में इस संस्था से प्रशिक्षित रंगकर्मी फैलते जा रहे हैं। नागरिक मंच विकास के लिए यह भी संस्था 'प्रशिक्षित निर्देशक' की शर्त भी पूरा कर रही है।

विख्यात रंगशिल्पी निर्देशक इब्राहिम अल्काजी इस संस्था के प्रथम निर्देशक बने। लोगों का कहना है कि अल्काजी व्यक्ति नहीं संस्था थे, जिन्होंने पन्द्रह वर्ष की अनवरत साधना से 'एन०एस०डी०' का वह शक्ति और दृष्टि प्रदान की, जिसके आधार पर यह राष्ट्रीय मान्यता और महत्ता हासिल कर सका।

संस्था का इतिहास यह सिद्ध करता है कि इसके नाम से जुड़ा 'राष्ट्रीय' शब्द कितना अर्थवान रहा है। संस्था को व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने में अल्काजी की दृष्टि उदार एवं ग्रहणशील रही है, इसी से 'एन०एस०डी०' ने देश के सम्पूर्ण रंगजगत को नई भंगिमाएँ दी हैं। स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक इसकी विशिष्टता का प्रभावी असर दिखाई पड़ रहा है। देशव्यापी

स्तर पर इसने अपने कार्यक्रम को फैलाया है। ओम शिवपुरी, नसीरुद्दीन शाह, राज बब्बर, ओमपुरी, कारन्त, विनायक प्रसन्ना, पंकज कपून, रंजीत कपूर जैसी अनेक प्रतिभाएँ यहाँ से प्रशिक्षित होकर बाहर आई हैं और अपना निरन्तर सहयोग संस्था को दे रही हैं।

इसकी प्रस्तुतियों में एक कलात्मक विशिष्टता है जिसे साधारण उपलब्धि नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी और अंग्रेजी, प्रायः दोनों भाषाओं में इसका कामकाज चलता है किन्तु नाटकों का प्रदर्शन अधिकतर हिंदी में ही किया जाता है। अल्काजी ने सभी प्रस्तुतियाँ हिन्दी में ही की हैं।

रंगमंच को लेकर इस संस्था में जिस काम की शुरुआत हुई वह एक ऐसी तकनीकी क्रांति थी जिसने पहली बार नाटक को अखिल भारतीय स्तर पर विकसित और जीवन्त रंगमंच का व्यापक सन्दर्भ दिया। भारतीय कलाओं के इतिहास में शायद पहली बार (रंग) मंच पर देश की विभिन्न भाषाओं, प्रांतों, साहित्यों, अभिनेताओं, निर्देशकों, लेखकों और रंगकर्मियों की प्रतिभाएँ एकजुट हुईं। उस दौरान अल्काजी के सहयोग से हिन्दी के 'अंधायुग', 'आधे-अधूरे', 'आषाढ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नामक नाटकों की सफल प्रस्तुतियाँ हुईं और चर्चा का विषय बनी रही। कुछ सफल रूपांतरों का प्रदर्शन भी हुआ जिसमें मुद्राराक्षस का 'आला अफसर' रंजीत कपूर का 'बेगम का तकिया' और 'मुख्यमंत्री', हबीब तनवीर का 'आगरा बाजार' आदि प्रमुख हैं।

रंगमंच वास्तव में क्या है, इसके कितने पक्ष और आयाम हैं, इसका स्तरीय विवेचन करने में 'एन०एस०डी०' का विशेष योगदान रहा है। भारत जैसे बहुभाषा-भाषी देश में रंगमंच - जैसे भाषा पर आधारित कला-रूप का केन्द्रीय संगठन बड़ा जोखिम का ही काम है। सबसे पहला प्रश्न तो प्रशिक्षण और उसके लिए आवश्यक-नाट्य-प्रदर्शन की भाषा का ही है। जाहिर है, किसी एक केन्द्रीय संस्था में ही देश की प्रत्येक भाषा में यह कार्य करना असम्भव है।

भारतीय रंगमंच की तलाश और विशेषकर हिन्दी रंगमंच को एक महत्वपूर्ण ऊंचाई पर पहुँचाने का कार्य इस संस्थान ने किया है। अभारतीय नाटकों में अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, चीनी, जापानी आदि विविध भाषाओं के अनूदित नाटकों को उन्हीं की रंगशैलियों में प्रस्तुत करने के अलावा हिन्दी, संस्कृत, कन्नड, मराठी, गुजराती, बंगाली, तेलगु आदि के नाटकीय अनुवादों को अनेक रंगशैलियों में प्रस्तुत करने का सफल श्रेय 'एन०एस०डी०' को है। अर्थात् रंगमंच को बहुरंगी स्वरूप प्रदान करने का कार्य इसने किया है। पश्चिम के प्रसिद्ध नाटकों और वहाँ की प्रस्तुतिकरण की नई युक्तियों और शैलियों के प्रति भी हम आकृष्ट हुये हैं। परम्परागत शैलियों और प्रदर्शन पद्धतियों को भी संस्था ने निष्ठा से देखा और परखा है तथा उसमें अमूल परिवर्तन कर उसे तराशा है।

प्रसिद्ध रंगशिल्पी ब०ब० कारन्त के आने पर 'विद्या सुन्दर', 'अंधेर नगरी' और 'मुद्राराक्षस' को नया जीवन मिला और छोटे सैयद बड़े सैयद में नये प्रयोग हुये, जिसमें हमें कारन्त की प्रतिभा और क्षमता का परिचय प्राप्त हुआ।

सन् 1976-77 वर्ष के दौरान एन०एस०डी० ने दो नाट्य समारोहों का सफल आयोजन किया जिसमें देश विदेश के अच्छे नाटकों की प्रस्तुतियों की गईं। सभी प्रस्तुतियों में नये आयामों की अच्छी शुरुआत हुई जिससे हिन्दी रंगमंच को बहुत कुछ प्राप्त हुआ। अतएव कहना होगा कि देशी-विदेशी रंग पद्धतियों का सामयिक लाभ उठाते हुये संस्था हमें अच्छा और अर्थवान थियेटर प्रदान कर रही है।

प्रशिक्षणार्थी यहाँ रंगमंच के ऐसे तत्वों का प्रशिक्षण भी लेते हैं जिनकी प्रायः उपेक्षा होती रही

थी, जैसे मंचीय प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि व्यवस्था, वस्त्र विन्यास आदि। यहाँ से निकले स्नातक इन सब तकनीकों का सार्थक प्रयोग भारत भर के रंगमंच पर कर रहे हैं। संस्कृत रंगमंच से लेकर आज तक का भारतीय रंगमंच एवं विदेश के डायोनिस्सिस थियेटर से लेकर एब्सर्ड रंगमंच तक के सभी पक्षों का ज्ञान यहीं दिया जाता है। लोकमंच की परम्परा भी सुरक्षित रखी गई है एवं संगीत और नृत्य पक्ष को भी अपेक्षित समझा गया है। संस्था के पास अपना 'ओपन एयर थियेटर' है जहाँ नाटकों का अभिनय प्रदर्शन होता रहता है।

'एन०एस०डी०' में विद्यार्थी को तीन वर्ष की नाटक सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है जिसमें पाश्चात्य एवं पौराणिक नाट्य साहित्य के अध्ययन के साथ एक्टिंग, सिनिक डिजाइन, कस्ट्यूम डिजाइन, लाइटिंग, मेकअप, थियेटर आर्किटेक्चर आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इसके अलावा निर्देशन, स्टेज क्राफ्ट और स्कूल ड्रामेटिक्स का भी विशेष रूप से अध्ययन कराया जाता है।

स्थापना के बाद से अब तक इस संस्था ने बहुत से नाटकों का मंचन किया है जिनमें कुछ महत्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ हैं - 'भगवद्रजुकष (बोद्यायन), पापा और प्रकाश (तॉलस्टॉय), शारदीया (जगदीश चन्द्र माथुर), आषाढ का एक दिन (मोहन राकेश), अंधा युग (धर्मवीर भारती), सुनो जनमेजय (आद्य रंगाचार्य), प्रेत (इव्सन) लहरों के राजहंस (मोहन राकेश), मध्यमण्यायोग (भास), गुड़िया का घर), एंटिगनी (ज्या आनुई), बिच्छू और कंजूस (मोलियर), इंडियस (सौफोक्लीज), सपने (काव्यू), फादर (स्टिग्वर्ग), किंग लियर (शेक्सपियर), मुहम्मद तुगलक (गिरीश करनाड), टॉय की औरतें (यूरीपिडीज), सूर्यमुखी (लक्ष्मीनारायण लाल), हानुश (भीष्म साहनी), आदमी बराबर आदमी (ब्रेख्त) खडिया का घेरा, मदर करेज (ब्रेख्त), 'खडिया का घेरा' की प्रस्तुति सन् 1960 में की गई, निर्देशक थे कार्ल बेबर। इसके बाद संस्था ने ब्रेख्त के सहयोगी और उसकी मंचकला के विषयज्ञ फ्रिट्ज वैनैवित्ज को सन् 1970 में आमंत्रित किया और 'श्री पैनी आपेरा' की प्रस्तुति की। ब्रेख्त के नाटकों की प्रस्तुतियों से प्रभावित होकर सन् 1979 में फ्रिट्ज वैनैवित्ज को पुनः आमंत्रित किया गया और 'ब्रेख्त ऑन ट्रायल' के अंतर्गत ब्रेख्त के 'आर्तुरोउई', 'गैलिलियो-', 'गुड वुमन ऑफ सेत्जुआन', 'श्री पैनी आपेरा' 'खडिया का घेरा' तथा 'मदर करेज', छः मुख्य नाटकों के अंशों का प्रशिक्षण प्रदर्शन कराया। सभी प्रदर्शन बेहद सफल रहे और विद्यार्थियों को दिशाबोध कराने के उद्देश्य से इनकी महत्ता को स्वीकार किया गया। इस प्रकार फ्रिट्ज वैनैवित्ज ने निर्देशक के रूप में, छात्रों को ब्रेख्त का प्रामाणिक और प्रत्यक्ष अनुभव दिया।

संस्था के सम्बन्ध में लोगों की अलग-अलग राय है। 'ब्रेख्टेरियन मिरर' के अतिमाभ दास गुप्त का कथन है- 'विद्यालय का वातावरण इण्डियन है, भारतीय नहीं। नाटकों के चुनाव, प्रस्तुतीकरण, रिहर्सल तथा सम्पूर्ण व्यवहार में विदेशी प्रस्तुतियों की नकल मिलती है। उनका तर्क है कि अधिकांश अध्यापक मध्यम वर्ग से आये हैं, उनमें एम्बीशन है इसीलिये वे पैटी बुर्जुआ का व्यवहार करने लगते हैं। अपनी झूठी गरिमा बनाये रखने के लिये वे विदेशी वातावरण तथा अंग्रेजी व्यवहार का पोषण करते हैं। मिस्टर गुप्त ब०ब० कारन्त के समय को 'भारतीय वातावरण का समय' मानते हैं। उनका कहना है कि 'निदेशक कारन्त के आने से स्कूल में भारतीय वातावरण आया था, जो एक सुखद बदलाव से मंडित था।' फिर भी 'एन०एस०डी०' का अपना अलग महत्व है जिससे हिन्दी रंगमंच की नहीं भारतीय रंगमंच भी बहुत कुछ ग्रहण कर रहा है।

आजादी के बाद 'एन०एस०डी०' के अलावा अण्डयार का 'कलाक्षेत्र' और अहमदाबाद की 'दर्पण' जैसी संस्थाओं में भी नृत्य और नाटक का प्रशिक्षण दिया जाने लगा और कलकत्ता के 'हिन्दी नाट्य परिषद्' का योगदान भी सराहनीय है। यह नाट्य परिषद् रंगमंचीय क्रिया कलापों के प्रति जागृति देने के साथ-साथ एक भाषा का नाटक दूसरी भाषा में प्रस्तुत करने कार्य भी सुचारु रूप से निभा रही है।

इन सभी प्रयासों से रंगमंच की निखरी प्रवृत्तियों की तरफ हकारा ध्यान जाने लगा है और हमारे अभिनय ने लोकमंच एवं दूसरे रूपों के प्रति हमें जागरूक भी किया है। हिन्दी की लोक विधिवक्ता 'रामलीला' व 'रासलीला' शिक्षित और सभ्य समाज में प्रचलित होने लगी हैं। हमारी परम्परा में न त्य नाटक और नौटंकी पहले ही मौजूद थे, उन्हें हमने आधुनिक सन्दर्भ में विकसित करना शुरू कर दिया है। अर्थात् प्रदर्शनों में 'दर्शक मोहय्या' रूप में हमने लोकनाट्य को अपना लिया है।

(च) थियेटर यूनिट (बम्बई)

बम्बई की थियेटर यूनिट के अन्तर्गत सत्यदेव दूबे, अमरीश पुरी, अमोल पालेकर, सुलमा देशपाण्डे आदि ने उल्लेखनीय रंगकर्म किया है जो चलचित्र तक भी पहुँचा है। रंगकर्म के ये गम्भीर कर्मी चलचित्र जगत में भी अपनी पहचान अलग से बना रहे हैं। 'आधे-अधूरे' और 'शुतुरमुर्ग' नाटकों का सफल प्रदर्शन इस संस्था द्वारा स्मरणीय रहेंगे।

बम्बई रंगकर्म की एक और संस्था 'मजमा' जिसमें ओमपुरी और नसीरुद्दीनशाह प्रमुख हैं, भी उल्लेखनीय है।

जयपुर का 'रवीन्द्र ठाकुर रंगकर्म' (शुतुरमुर्ग), कानपुर की संस्था 'दर्पण' (मिस्टर अभिमन्यु), इलाहाबाद का 'प्रयाग रंगमंच' (पहला राजा), वाराणसी की 'नागरी नाट्य मण्डली' (राजा अमरसिंह, मगरमच्छ, जलती चिताएँ, सही रास्ते), 'श्री नाट्यम' (अकेला शहर) एवं कलकत्ता की 'अनामिका' जिसमें श्यामानन्द जालान, बट्टी प्रसाद तिवारी, शिवकुमार जोशी और विष्णुकांत शास्त्री प्रमुख हैं - भी उल्लेखनीय हैं।

इलाहाबाद में डॉ० लक्ष्मीनारायण द्वारा स्थापित नाट्य केन्द्र 'स्कूल ड्रेमेटिक आर्ट्स' ने भी रंगमंच के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। डॉ० लाल के अतिरिक्त सत्यव्रत सिन्हा जैसे रंगकर्मियों के सहयोग से हिन्दी रंगमंच विकासशील रहा है। डॉ० लाल ने दिल्ली जाकर 'संवाद' की स्थापना की जिसमें दिनेश ठाकुर, दयाप्रकाश सिन्हा, वीरेन्द्र नारायण और गोपाल माथुर जैसे अभिनेता निर्देशक हुए। दिनेश ठाकुर ने आगे चलकर बम्बई में 'अंक की स्थापना की। प्रो० सत्यमूर्ति ने कानपुर में 'एम्बेसडर' और 'दर्पण' की नींव रखी। इसके अलावा और भी अनेक संस्थाओं द्वारा दिल्ली रंगमंच को भारतीय रंगमंच से जोड़ने की कोशिशें बराबर होती रही हैं और हो रही हैं।

'पारसी रंगमंच की लोकप्रियता और 'प थ्वी थियेटर' एवं 'इप्टा' का स्वस्थ योगदान व जनमानस में जागृति का संचार, 'हिन्दुस्तानी थियेटर' व अनेक छोटी-बड़ी नाट्य संस्थाओं के सहयोग के बावजूद भी हिन्दी रंगमंच अपनी स्वस्थ और अलग पहचान बना पाने में उतना समर्थ नहीं हुआ जितना 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना के बाद उसे सफलता मिली।

एन०एस०डी० की स्थापना से हिन्दी में नई रंग-चेतना का उदय हुआ। विदेशी नाटकों के अनुवाद या रूपान्तरों को भारतीय परिवेश में ढालकर प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य इस विद्यालय ने किया है। द श्यबंध, ध्वनि प्रभाव एवं प्रकाश व गीत योजना में अनोखा निखार एन०एस०डी० द्वारा हिन्दी रंगमंच को प्राप्त हुआ है। इस संस्था ने जीवन की परिस्थितियों और अनुभवों एवं समाधान को नये ढंग और तरीकों के साथ प्रस्तुत किया है।